

॥ श्रीः ॥

वैयाकरणशिरोमणिश्रीभट्टिमहाकविप्रणीतं

रामचरितम् ।

(भट्टिकाव्यम्)

श्रीजयमङ्गलविरचितया जयमङ्गलया
व्याख्यया समवेतम् ।

पण्डितप्रवरश्रीदेवीसहायचरणोपासनया-
ऽधीतविद्येन शिवदत्तकविरत्नेन कृतया
टिप्पण्या परिष्कृतम् ।

तदेव

शोधनकार्याधिकृतैः शाल्मिप्रवरैः संशोध्य

श्रीक्षेमराज-श्रीकृष्णदासेन

मुम्बापुर्यां

स्वीये "श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम-मुद्रणयन्त्रालये

सम्मुद्रय प्रकाशितम् ।

वेक्रमाब्दाः १९८४,

ख्रिस्ताब्दाः १९२८.

क्षिद्धत्वे 'हुङ्गलभ्यो हेर्धिः । ६ । ४ । १०१ ।' कार्यमाह । गत्वा प्रवद राघवं
समादेशाद् ब्रूहि ॥ ६ ॥

किं मया वक्तव्यमिति चेत्तदाह—

दिदक्षुर्मैथिली राम पश्यतु त्वाऽविलम्बितम् ।

तथेति स प्रतिज्ञाय गत्वा राघवमुक्तवान् ॥ ७ ॥

दिदक्षुरित्यादि—हे राम ! द्रष्टुमिच्छुर्मैथिली सीता अविलम्बितं द्रुते
त्वा त्वां पश्यतु । सर्वत्र प्रार्थनायां लोट् । स पवनात्मजो हनुमान्
प्रतिज्ञाय यथाज्ञापयसीति तथेति स्वीकृत्य गत्वा राघवमुक्तवान् ॥ ७ ॥

किमित्याह—

उत्सुकाऽऽनीयतां देवी काकुत्स्थकुलनन्दन ।

क्ष्मां लिखित्वा विनिश्चस्य स्वरा लोक्य विभीषणम् ॥ ८ ॥

उत्सुकेत्यादि—हे काकुत्स्थकुलनन्दन ! उत्सुका देवी आनीयतामिति ।
प्रार्थनायां कर्मणि लोट् । एवमुक्ते रावणवधे महति प्रयासे कृतेऽपि जनवाद-
भयात् न तया सह मया वासः कार्य इत्याभिप्रायेण । राघवः क्ष्मां गुह्येन
लिखित्वा विनिश्चस्य स्वरा लोक्य आकाशं दृष्ट्वा । स्वरित्यव्ययम् । विभी-
षणमुक्तवानिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ॥ ८ ॥

उक्तवान् राघवः सीतामानयालङ्कृतामिति ।

गत्वा प्रणम्य तेनोक्ता मैथिली मधुरं वचः ॥ ९ ॥

उक्तवानित्यादि—सीतामलङ्कृतामानयेति राघवो राम उक्तवान् । विभो
लोट् । इत्येवं रामेणाज्ञायां दत्तायां तेन विभीषेणन गत्वा सीतासमीपं
प्राप्यं प्रणम्य तां मैथिलीं पुनः प्रणिपत्य च मैथिल्युक्ता मधुरं वचः ॥ ९ ॥

जहीहि शोकं वैदेहि प्रीतये धेहि मानसम् ।

रावणे जहिहि द्वेषं जहाहि प्रमदावनम् ॥ १० ॥

जहीहीत्यादि—शोकं पतिवियोगजं जहीहि परित्यज । जहातेश्च । ६।४।
११६। इत्यन्यतरस्यामित्त्वमीत्वं च 'आ च हौ । ६।४।११७।' इत्याकार इति
रूपत्रयम् । प्रीतये प्रीत्यर्थं शरीरप्रसाधनद्वारा स्वप्रसादनायेत्यर्थः । पुनर्मानसं
चित्तम् धेहि घटयस्व 'ध्वसारेद्भावभ्यासलोश्च । ६।४।११९।' रावणे
रावणविषये द्वेषं जहीहि तस्य विनष्टत्वात् 'मरणान्तानि वैराणि' इति हि

स्थितिः, प्रमदावनम् अशोकवनिकां जहाहि । पत्युरन्तिकं याहीत्यर्थः ।
सर्वत्र विधौ लोट् ॥ १० ॥

अथ युग्मकम् ।

स्नाह्यनुलिम्प धूपाय निवस्स्वाविध्य च स्रजम् ।

रत्नान्यामुञ्च संदीप्ते हरिर्जुहुधि पावके ॥ ११ ॥

आद्धि त्वं पञ्चगव्यं च छिन्धि संरोधजं तमः ।

आरोह शिविकां हैमीं द्विपां जहि मनोरथान् ॥ १२ ॥

स्नाहीत्यादि—स्नाहि स्नानं कुरु । ततः कायशुद्धयर्थं सद्गुणहृतं पञ्च-
गव्यमद्धि भक्षय । 'दृष्टलभ्यो हेधिः । ६।१।१०।१।' गोरेतानि गव्यानि ।
सर्वत्र गोरजादिप्रत्ययप्रसङ्गे यत् । पञ्च गव्यानि समाहृतानीति पात्रादि-
दर्शनात् ङीप् । ततः पवित्रीकृतकाया, सन्दीप्ते पावकेऽग्नौ हविर्घृतं
जुहुधि । ततः स्वामिनं रामं गन्तुमनुष्ठितदेवकार्यो सती त्वमालिम्प चन्दना-
दिना शरीरं समालभस्व । ततो निवस्स्व आच्छादय । 'वस आच्छादने'
भद्रादित्वाच्छपो लुक् । धातुसकारस्य परगमनम् । ततो धूपाय धूपि-
तमात्मानं कुरु । धूपेण्यप्रत्ययः । आविध्य च स्रजं मालां शिरस्याक्षिप ।
'व्यध ताडने' श्यानि 'प्रहिज्यावायिव्यधिवष्टिर्विचतिवृश्चतिष्टृच्छति-
भृज्जतानां डिति च । ६।१।१६।' इति सम्प्रसारणम् । रत्नान्यामुञ्च विन्यस्ये-
त्ययमर्थवशान् क्रियाकर्मो द्रष्टव्यः । यथा देवदत्तं भोजय म्नापय उद्धर्त-
येति । किं च संरोधजम् अस्यतन्त्रीकरणजं तमः शोकं छिन्धि अपनय ।
हैमीं शिविकां सौवर्णयानमारोह अधितिष्ठ । सर्वत्र भर्तुर्नियोगकरणे लोट् ।
तामारूढा द्विपां मनोरथान् एदये न्यितानभिप्रायान् जहि नाशय । ही-
परतो 'हन्तेर्जः । ६।१।२६' ॥ ११ ॥ १२ ॥

तृणेदु त्वद्वियोगोत्थां राजन्यानां पतिः शुचम् ।

भवतादधियुक्ता त्वमत ऊर्ध्वं स्ववेम्भनि ॥ १३ ॥

तृणेदित्यादि—गतायां त्वयि राजन्यानां द्विवियायां पती रानः शुचं
शोकं त्वद्वियोगोत्थां त्वद्वियोगप्रभवाम् । 'मुनि म्भः । ३।२।१।' इति कः ।
'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य । ८।१।६।' इति पूर्वसर्वर्गः । तृणेदु द्विनम्बु । अतः

रामचरित (भट्टिकाव्य)

श्लोकालुक्रमणिका ।

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|---------------------------|-------------|-------------------------|-------------|
| अ. | | | |
| अकम्पनस्ततो ... | ३९२ | अच्छैतां च महाऽऽत्मानौ० | ४२६ |
| अकुप्यदिन्द्रजित् ... | ४५५ | अजिग्रहत्तं ... | ३६ |
| अकूर्दिष्ट व्यकारीच ... | ४१४ | अजिग्रपंस्तथैव० | ४३१ |
| अकृष्टपच्याः ... | १४४ | अजिहदत् सः० | ४३१ |
| अकोकूयिष्ट ... | ४३२ | अजीगणहाश० | ४२ |
| अक्रुधन्नाभ्यधाद् ... | ४०६ | अज्ञवन्नोत्सहेथाः० | ४९२ |
| अक्लेश्यमसिना... | १९९ | अटाटयमानः० | ६८ |
| अक्षारिपुः शराम्भांसि ... | २५१ | अतत्वरश्च तौन् | ४१८ |
| अक्षेमः परिहासोऽयम् ... | १७९ | अतस्तम्भदयम् ... | ४२५ |
| अक्षणोः पतशील० | ३२८ | आताप्यस्योत्तमम् ... | १३५ |
| अखण्डयमानम् ... | ३३६ | अतिकायाद्विना० | ४३६ |
| अगांधत ततो ... | २०९ | अतिकाये हते ... | ४३६ |
| अगोपिष्ठां पुरीम् ... | ४३२ | अतिक्रान्ता त्वया | ५१८ |
| अग्निः प्रमादेन... | ३३८ | अतिप्रियत्वात्० | १६३ |
| अग्निचित्सोम ... | १६८ | अतीते वर्षुके० ... | १७९ |
| अग्निष्टोमादि ... | २७२ | अतुल्यमहसा०... | ९४ |
| अग्नीनवरिवस्यंश्च ... | ४६० | अतुपत्पीठम् ... | ४०२ |
| अग्न्याहितजनप्रहे ... | २८० | अतुष्यन्नमराः सर्वे ... | ४५९ |
| अग्रासेष्ट व्यधाविष्ट० | ४१९ | अवृणोद् शक्रजित् | ४५१ |
| अघानि ताडका ... | ९८ | अतोत्सोद्गदया ... | ४११ |
| अधुरंस्ते महा ... | ४६३ | अथ कृमात् ... | |
| अङ्गदेन समं ... | ४२२ | अथ जगदुरनीचैः | |
| अङ्गदेनाऽहसाताम् ... | ४३३ | अथ तमुपगतम् | |
| अचूर्णयच्च सूपाक्षम् ... | ४६७ | अथ तीक्ष्णायसैः | |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|---------------------------|-------------|---------------------------|-------------|
| अन्वनैषीत्ततो ... | ... १७२ | अंभियाता ... | ... २८६ |
| अन्वयाऽऽदि०... | ... २८५ | अभियाताऽऽवरं ... | ... २९६ |
| अपक्वकुम्भाविष ... | ... ३४४ | आभष्यन्त ... | ... २६९ |
| अपध्यमायतौ ... | ... ४७७ | अभीषयन्त ... | ... २२१ |
| अपप्रथद्गुणान् ... | ... ४२१ | अभून्वृषो ... | ... १ |
| अपमन्युस्ततो० ... | ... ४८८ | अभेदि च शरैः... | ... ४१९ |
| अपरिमित० ... | ... ३१३ | अभपुः कपयो० ... | ... ४१७ |
| अपरीक्षित० ... | ... ३०४ | अमंस्यत भवान् ... | ... ५११ |
| अपलापयमानस्य ... | ... २२१ | अमन्थीच्च परानीकम् ... | ... ४१४ |
| अपहरदिव ... | ... ३१४ | अमर्षितामिव ... | ... २०७ |
| अपिं तत्र रिपुः... | ... ५०७ | अमर्षो मे परः ... | ... ४४० |
| अपि स्तुह्यपिसेधा० ... | ... २३६ | अमलमणि० ... | ... ३६९ |
| अपिस्त्वस्वसामर्थ्यं ... | ... ४२८ | अमर्षितम्पचम् ... | ... १५९ |
| अपूजयंश्चतुर्वक्त्रम् ... | ... ४४८ | अमृडित्वा ... | ... २०४ |
| अपूजयन् कुलज्येष्ठान् ... | ... ४४७ | अम्भांसि रुक्मकुम्भेन ... | ... ४९४ |
| अपूजयन् विष्टर० ... | ... २९ | अयुक्तमिदमित्यन्ये ... | ... ४६० |
| अपूरयन्नभः ... | ... ४६२ | अयं नियोगः पत्युस्ते ... | ... ५०७ |
| अपृष्टो नु त्रवीति ... | ... ४८० | अयं मैथिल्यभिज्ञानम् ... | ... २४५ |
| अपौहद्राणवर्षम् ... | ... ४६८ | अरण्ययाने० ... | ... ६५ |
| अप्रातिस्तब्ध० ... | ... २७४ | अरविन्दरेणु० ... | ... ३६३ |
| अवभाजत्ततः ... | ... ४२४ | अरासिपुः ... | ... २५२ |
| अविभ्रजत्ततः ... | ... ४२७ | अरोदीद्राक्षसानीकम् ... | ... ४५९ |
| अभायत यथा०... | ... २०९ | अर्थेन संभृता ... | ... ४४२ |
| अभावे भवताम्... | ... १९९ | अर्धोत्थिता० ... | ... ३२४ |
| अभिज्ञानं ... | ... १९० | अल्लिगणविलोल० ... | ... ३६३ |
| अभिद्योतिष्यते... | ... २३५ | अलोष्ठिष्ट च ... | ... ४१७ |
| अभिनच्छत्रु० ... | ... ४६४ | अवगाहं गिरिजालम् ... | ... ३६३ |
| अभिन्व्यविक्षथाः ... | ... २२३ | अवग्राहे ... | ... १९० |
| अभिमानफलं जानन् ... | ... २८३ | अवश्यपाठ्यम् ... | ... ४६ |
| अभिमानफलं प्रोक्तम् ... | ... २८४ | | |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|---------------------|-------------|---------------------|-------------|
| अवश्यायकणा० | ... १५२ | अर्सातो रावणः... | ... १२२ |
| अवसन्नरुचिम् ... | ... ३०१ | असुलभहरिसंचारम् | ... ३६१ |
| ... १५० ... | ... १५३ | असृष्ट चो० ... | ... ४९ |
| अवा नगेन्द्रेपु | ... १७२ | असौ दधद् ... | ... २४७ |
| सितं हसितम् | ... २८९ | अस्ताविपुः सुराः | ... ४२१ |
| ... सेय कार्याणि | ... ४९५ | अस्तुवन् देव ... | ... ४६४ |
| अवाक्शिरसम् ... | ... ६८ | अस्तुवन् वन्दिनः | ... ४४९ |
| अवादीत्तिष्ठते० ... | ... २५१ | अस्तृणादधिकम् | ... ४७३ |
| अवादीन्नाम् ... | ... ४०३ | अस्त्रीकोऽसा० ... | ... ७९ |
| अवाद्वायुः ... | ... २२६ | अस्पन्दिष्ठाऽक्षि | ... ४०८ |
| अविवेष्टन्नृपा० | ... ४१८ | अस्माकमुक्तम् ... | ... ६६ |
| अवात्तवृष्णो० ... | ... ३२४ | अस्यन्दन्निन्दु० | ... २२८ |
| अवाचत्कुम्भ० ... | ... ४०४ | अस्यन्नरूप० ... | ... २६७ |
| अव्यग्रमुप० ... | ... २१३ | अस्रस्रचाऽऽहतो० | ... ४२४ |
| अव्यर्णो गिरि ... | ... २५५ | अस्त्राक्षुरसम् ... | ... ५१ |
| अशान्तरयम् ... | ... ३१५ | अहं राम० ... | ... १४१ |
| अशप्त निह्वानो० | ... २३१ | अहं शूर्पणखा ... | ... ८० |
| अशान भरतात् | ... ५०२ | अहं स्वप्नक् ... | ... १८२ |
| अशिश्रवन्नात्यधिकम् | ... ५४ | अहं तु शुश्रुवान् | ... १७१ |
| अशृण्वन्नन्यतः... | ... ४५१ | अहं न्यवधिपम् | ... १२९ |
| अशोभिष्ट ... | ... ४१६ | अहमन्त० ... | ... ११९ |
| अश्रोत्तद्रुधिरम् | ... ४६६ | अहत धने० ... | ... ३०२ |
| अश्रीत्तपिवतीयन्ती | ... ११६ | अहो जागर्ति ... | ... ४७९ |
| अश्वान् वालिमुतो० | ... ४२३ | अहो पीत्कृष्ण०... | ... ४२७ |
| अश्वान् विभीषणो० | ... ४७० | अहिपतां रघु० | ... ६९ |
| अष्टघण्टां महा० | ... ४७० | अहिष्ट तानसमान्य | ... ४०९ |
| असंस्कृत्रिम० ... | ... ८२ | आः कष्टम् ... | ... १२७ |
| असद्वन्धु० ... | ... २८६ | आकक्ष्यामि यज्ञः | ... ४४३ |
| असंप्राप्ते ... | ... २४३ | आख्यन्मुनिस्तरय | ... १४ |
| असितोमर० ... | ... ३५० | | |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|-----------------------|-------------|---------------------------|-------------|
| आख्यतासि हतम् | ... ५१९ | आप्यानस्कन्ध | ... १०३ |
| आघूर्णिष्ठां क्षतौ | ... ४३३ | आघट्टनेत्रा० ... | ... ३२५ |
| आघ्नन् भेरीः ... | ... ४४९ | आघट्टभीम० ... | ... ५७ |
| आचचक्षे च वृत्तान्तम् | ... ३८५ | आघ्नन् कपि० ... | ... ४७६ |
| आचाम्यं सन्ध्ययोः | ... १४६ | आमन्त्रयेत तान् | ... ४९० |
| आचिक्र्याते च भयोऽपि | ... ३८४ | आमिक्षीयं द्रधि० | ... ८९ |
| आचिचाय स तैः | ... ३८३ | आमुञ्चद्वर्म ... | ... ४४८ |
| आच्छादयन् व्यलि० | ... ४४७ | आयान्त्यः स्वफलः | ... ५१५ |
| आजन्नुस्तूर्य० | ... ३९६ | आयाससंभवाऽरुण० | ... ३६१ |
| आज्ञां कारय० | ... २३४ | आयिष्ट मारुतिम् | ... ४३० |
| आज्ञां प्रतीपु ... | ... ६२ | आयोधने स्थायुकम् | ... ५७ |
| आटाट्यताऽवमत्याऽसौ | ... ४६६ | आरामदर्शनात् | ... २३५ |
| आढधङ्करण०... | ... १६४ | आरूढं च सुवेलम् | ... ३६७ |
| आतिथ्यमेभ्यः... | ... ५१ | आरूढवाण० ... | ... ३७० |
| आतिष्ठद्गुः | ... ७२ | आरोक्ष्यामि युगान्त० | ... ४४६ |
| आत्मनः परि० | ... २०१ | आर्चीद्विजातान् | ... ११ |
| आत्मम्भरिस्त्वं | ... ३२ | आर्च्छन् वामम् | ... ४४९ |
| आत्मानमपजानानः | ... २१६ | आलिङ्गितायाः | ... ३२३ |
| आत्रिकूटम् ... | ... २८४ | आलोकयत्स०... | ... ४६७ |
| आददीध्वं महार्हाणि | ... ४९० | आलोचयन्तो ... | ... १८७ |
| आदरेण गमम्... | ... १९२ | आवरीतुमिवा० | ... २५६ |
| आदिक्षदादीप्त० | ... ४५ | आवासे सिक्त० | ... ११५ |
| आदिदेश स ... | ... ३८८ | आशङ्कमानो० ... | ... १२५ |
| आहत्यस्तेन ... | ... १४३ | आशासत ततः... | ... ४४७ |
| आनन्दयिष्यदागभ्य | ... ५१२ | आशितम्भवम् ... | ... १६१ |
| आनन्दितारस्त्वाम् | ... ५१९ | आशीर्भिरभ्यर्च्य | ... ६ |
| आपिङ्गरुक्षो ... | ... ३१ | आशुश्रूषन् ... | ... १ |
| अपीतमधुका ... | ... १०८ | आश्वर्यं यच्च यत्र त्वाम् | |
| आसारौ भवता | ... ५१८ | आश्वर्यं यच्च यत्र स्त्री | |
| | | आश्वसीदिव .. | |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|---------------------------|-------------|-------------------------|-------------|
| आश्वस्याक्षः ... | २५९ | इपुमति रघुसिंहे ... | १९ |
| आश्वासयाञ्चकाराऽथ ... | ३८७ | इह सा व्यलिपत् ... | ” |
| आससञ्ज भयम् ... | ३९८ | इहाजीव इहैव त्वम् ... | ४५६ |
| आसिष्ट नैकत्र ... | ५३ | इहाऽसिष्टा० ... | १३१ |
| आसीद् द्वारेषु ... | ४६२ | ई. | |
| आस्कन्ददृक्षमणम् ... | ४६८ | ईक्षांचक्रेऽथ ... | ३१६ |
| आस्ते स्मरन् ... | १४२ | ईयुर्भरद्वाज० ... | ५१ |
| आस्फायतास्य ... | ४६० | ईर्ष्याविरुग्णाः ... | ३२० |
| आस्यन्मृवङ्गमाः ... | ४५० | ईश्वरस्य ... | २४४ |
| आस्व साकं मया ... | २३ | ईपदाढ्यङ्करो ... | २०१ |
| आहूय रावणो ... | २६२ | उ. | |
| आहोपुरुषिकाम् ... | ९४ | उक्तवन्तौ ततो रामम् ... | ५२१ |
| आहास्त स० ... | १३२ | उक्तवान् राघवः ... | ४९८ |
| आहास्यते विशङ्को ... | ४३८ | उक्षान्प्रचक्रु० ... | ४६ |
| इ. | | उग्रम्पश्याऽऽकुले ... | ७७ |
| इच्छ स्नेहेन ... | २३२ | उग्रम्पश्येन ... | १५९ |
| इच्छन्त्यभीक्ष्णम् ... | ३५५ | उच्चरन्ते नलेनाज्ञौ ... | ३८० |
| इच्छा मे परमानन्देः ... | ४९४ | उच्चरन्तुः पारे० ... | ३६३ |
| इतरो रावणादेपः ... | २४१ | उच्चक्रियरे पुष्प० ... | ६० |
| इति चिन्ता० ... | २४२ | उच्चैरञ्चित० ... | २६१ |
| इति निगादित० ... | ६७ | उच्चैरसौ राघव ... | ४१ |
| इति त्रुवाणो ... | ३५ | उच्चै रारस्यमानाम् ... | ११८ |
| इति वचनमसौ ... | ३५६ | उच्छ्रायवान् ... | १९० |
| इत्थं प्रवादम् ... | ३४ | उज्जुगूरे ततः ... | ३८५ |
| इदं कवचम् ... | १३४ | उत्तराहि ... | २४१ |
| इदं नक्तन्तनम् ... | १२८ | उत्तिष्ठस्व मते ... | ५०१ |
| इदमधिगतम् ... | ५२४ | उत्तीर्णो वा ... | १५८ |
| इन्दुं चपक० ... | २२० | उत्तेरिथ समुद्रम् ... | ३८६ |
| इन्द्रोः त्यन्दिष्यते ... | ४४० | उत्पत्य स्वम् ... | ९४ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|-----------------------------|-------------|------------------------------------|-------------|
| उत्पातजं छिद्रम् ... | ३५२ | उष्णीपं मुमुचे ... | ३९६ |
| उत्पाताः प्राधृतन् ... | ४०८ | उद्येरन् यज्ञपात्राणि ... | ४९० |
| उत्सुकानीयतां... .. | ४९८ | ऊ. | |
| उदक् शत० | १९१ | ऊचे संवरिषीष्ठाः ... | २५७ |
| उदक्षिपन् पट्ट० | ५८ | ऊर्जस्वलं हस्ति० | ६७ |
| उदजीवत् सुमित्राभूर्० ... | ४७१ | ऊर्णुनाव स | ३९८ |
| उदतारिपुः | ४१० | ऊर्ध्वं मुहूर्तादहो... .. | ५०० |
| उदतारीदुदन्वन्तम् | ४०३ | ऊर्ध्वं त्रिये मुहूर्ताद्वि | ४८६ |
| उदपतद्वियत् | २९४ | ऊहिरे मूर्ध्नि | ३९५ |
| उदरे चाऽजरन्नन्ये | ४१५ | ऊ. | |
| उद्यंस्यति हरिर्... .. | ४३७ | ऋग्यजुषम् | ७० |
| उन्नसं दधती | ७४ | ऋणाद्द्वद्ध० | २४० |
| उन्नयानधि० | १८६ | ऋद्धिमान् राक्षसो | ३०३ |
| उन्मीलिष्यति चक्षुर्० ... | ४३७ | ऋपभोऽद्रीन् | ४१४ |
| उन्मुच्य स्रजम्... .. | ४८५ | ऋष्यमूकम् | १६६ |
| उपशाम्यतु ते बुद्धिः | ४९७ | ऋष्यमूके | १४१ |
| उपशूरम् | २३५ | ए. | |
| उपाग्न्यकुरुताम् | १६१ | एकः पदातिः | ३४८ |
| उपारंसीच्च | २२४ | एकहायन० | १५४ |
| उपासांचाकिरे | १२३ | एकेन वहवः | २५३ |
| उपास्थितैवमुक्ते | १३८ | एकेन वाली | ३४३ |
| उपास्थिपत | २७६ | एकेन सन्धिः | ३४२ |
| उपेक्षणीयैव | ३४० | एको द्वाभ्याम् | २८३ |
| उपेक्षिता देव०... .. | ३३० | एता देवानु० | १७७ |
| उपेक्षिते वालि० | ३३६ | एते ते मुनिजन० | ५२२ |
| उभावहृन्तताम् | ४७३ | एतौ स्म मित्रावरुणौ ... | ३६ |
| उभौ मायां व्यपायेताम् ... | ४७४ | एवं युवां मम... .. | |
| उल्का ददृशिरे... .. | ३७७ | एवं विजिग्ये ताम् | |
| उवाच चैनं क्षणदा० | ३५५ | एष पेक्ष्याम्यरीन् | |
| उवाच मारुतिः | १९८ | | |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|--------------------------|-------------|-----------------------------|-------------|
| एष प्रावृषि० ... | १०२ | कन्नाभिरावृतः ... | १८२ |
| एष रावाणिः ... | ४२५ | करपुट ... | ३०१ |
| एष शोकच्छिदो० ... | १८३ | करिष्यमाणम् ... | ८८ |
| एष्टारमेपिता ... | २५८ | करोति वैरम् ... | ३५६ |
| ऐ. | | कर्णेजपैराहित० ... | ४७ |
| ऐक्षिम्माहि ... | १२९ | कर्तास्मि कार्यम् ... | १८४ |
| ऐद्विप्रवदमानैः ... | २१७ | कलहारिकण्ठ० ... | ३६८ |
| ऐन्द्रेण हृदये ... | ४२० | कल्पिष्यते हरे ... | ४३८ |
| ऐ वाचं देहि ... | १३० | का त्वमेकाकिनी ... | १०६ |
| ऐषीः पुनर्जन्म ... | १३ | कान्ता सहमाना ... | २९३ |
| ऐहिष्ट तं कारयितुम् ... | ९ | कान्ति त्वाम् ... | २२३ |
| औ | | कामो जनत्य ... | ४९३ |
| ओजायमाना ... | ११० | कार्यं सारनिभम् ... | १८५ |
| ओषांचकार ... | १२४ | कान्व्यभिदं विहितम् ... | ५२६ |
| औ | | काञ्चिन्नोपानदिष्टास्तौ ... | २१७ |
| औष्ण्यं त्यजेन्मध्य० ... | ३५० | किं दुर्नयैस्त्वय्यु० ... | ३५१ |
| क. | | कुण्डपात्रताम् ... | १४७ |
| कः कृत्वा रावणा० ... | २७९ | कृतोऽधियात्वसि ... | २३६ |
| कः पण्डितायमानः ... | ११० | कुमुदवन ... | ३१६ |
| कथं दुष्टुः ... | १७० | कुम्भकर्णस्ततो ... | ४०७ |
| कथं न्वजीविपुस्ते च ... | ४२२ | कुम्भकर्णस्ततो ... | ४३२ |
| कपयोऽधिसृष्टुः ... | ४६२ | कुम्भकर्णं हते ... | ४४० |
| कपितोयतिधीन् ... | २९९ | कुम्भकर्णो रणे ... | ४४० |
| कपिनाऽऽन्भोधि० ... | २५० | कुरु वृद्धिम् ... | ९० |
| कपिपृष्ठगतौ ... | ३०६ | कुर्याद्योगिनम् ... | १७७ |
| कपिर्जगाद् ... | २८७ | कुर्यात्तथा देन ... | ३३३ |
| कपिश्चङ्क्रमणो ... | १७९ | कुर्वन्ति परिसारिण्यः ... | १७६ |
| कनण्डलुकपालेन ... | १०५ | कुर्वन्तो हवम् ... | १९४ |
| कन्धूनथ समादध्मुः ... | ३७२ | कुलभार्याम् ... | २१४ |
| | | कृतं सर्वं यथोदितम् ... | ४९२ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|-----------------------|-------------|-------------------------|-------------|
| कृताभिपेको० | ... ३४७ | क्रुध्यन् कुलम् ... | ... १६ |
| कृती श्रुती ... | ... ६५ | क्रूराः क्रिया ग्राम्य० | ... ३५१ |
| कृते कानिष्टिनेयस्य | ... ११३ | क्लिष्टाऽऽत्मभृत्यः | ... ३४५ |
| कृते नोपकृतम् | ... २११ | क च ख्यातो रघो० | ... ५०२ |
| कृतेषु पिण्डोदक० | ... ११९ | क ते कटाक्षाः | ... ३२० |
| कृते सौभागिनेयस्य | ... ८१ | क स्त्रीविपह्याः | ... ३४९ |
| कृतेरपि दृढ० ... | ... ३८२ | क्षपं भद्रावतिष्ठस्व | ... २१२ |
| कृत्वा कर्म ... | ... २४७ | क्षतैरसंचेतित० | ... ३२६ |
| कृत्वा लङ्का० ... | ... ९३ | क्षितिकुल० ... | ... ३१२ |
| कृत्वा वालि० ... | ... १६६ | क्षिप्रं ततोऽध्वन्य० | ... ३७ |
| कृशानुवर्षण्यधि० | ... ३३४ | क्षुद्रान्नजक्षुः ... | ... २९ |
| कृपीद्वं भर्तु० ... | ... २७१ | ख | |
| केचित्संचुकटुः | ... ३९८ | खमट घामट ... | ... ५०४ |
| केचिद्वेपथुम् | ... ८४ | खमूयुर्वसुधाम् ... | ... ३९३ |
| केचिन्निन्दुः | ... ४८ | खं पराजयमानो | ... २११ |
| केन सम्भावितम् | ... ४३९ | खरदूपणयोः ... | ... ८१ |
| केन संविद्वते नाऽन्यः | ... ४८४ | खरादिनिधनं ... | ... २८१ |
| केन संविद्वते वायोर् | ... २१४ | ग | |
| केनापि दौक्कुलेयेन | ... २०२ | गच्छन्तु चारु० | ... ३६२ |
| कशानलुञ्चिपुः | ... ४०१ | गच्छन्स वारीणि | ... २९७ |
| कोट्या कोट्या पुर० | ... ३७९ | गजानां प्रददुः | ... ३७५ |
| कोऽन्योऽकर्त्स्यदिह | ... ५१३ | गतमङ्गुलि० ... | ... २७१ |
| कोपात्काञ्चिन् | ... २१८ | गतासु तासु ... | ... २४० |
| कौशल्ययाऽसावि० | ... ११ | गतास्याद्वचिन्वाना | ... १२७ |
| क्रियासमारम्भ० | ... ३५० | गते तस्मिन्नुपा० | ... २६० |
| क्रियेरंश्च दशास्येन | ... ४८९ | गते तस्मिन्गृहीतार्थे | |
| क्रीडन् भुजङ्गन् | ... ३५६ | गते तस्मिन् जल० | |
| क्रुदाननुनयेः | ... ४९४ | गते तस्मिन् समा | |
| क्रुद्धोऽशीपि ... | ... १३५ | गतेऽतिभूमिम् | |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|------------------------|-------------|------------------------|-------------|
| गते त्वयि पथानेन | ... ५२० | वानिष्यते तेन | ... ११ |
| गतो वनं श्वो | ... ४९१ | वोरजलदन्ति० | ... ३५ |
| गत्वाऽथ ते पुरीम् | ... ४९ | वोपेण तेन प्रति० | ... ३४ |
| गदा शक्रजिता | ... ३८१ | व्रन्तं मोपेक्षिषाथाम् | ... ४१ |
| गन्तारः परमां प्रीतिम् | ... ५२० | च. | |
| गन्तुं लङ्कातीरम् | ... ३६१ | चकाराधस | ... २६ |
| गम्भीरवेदिनः | ... ३७५ | चकासाञ्चक्रुः | ... ३७ |
| गम्भीरा प्रावहन् | ... ४६३ | चक्रन्दुरुच्चै० | ... ३९ |
| गरुडानिल० | ... २९८ | चक्राणाऽशङ्कितो | ... ३९ |
| गर्जन् हरिः | ... २२ | चक्षूषि कान्तान्यापि | ... ३२ |
| गाढगुरुपुङ्ख० | ... ३५९ | चञ्चलतरुहारिण० | ... ३५ |
| गाढसमरिण० | ... ३६९ | चञ्चूर्यन्तेऽभितो | ... ४८ |
| गाधितासे नभो | ... ५१६ | चतुष्काष्ठम् | ... २६ |
| गाधेयदिष्टम् | ... ३२ | चन्दनद्रुमसंछन्ना | ... ५१ |
| गान्धर्वेण न्यविध्यत् | ... ४६९ | चत्स्यन्ति बाल० | ... ४४ |
| गिरिपङ्कचारु० | ... ३६६ | चलकिसलय०... | ... ३६ |
| गिरिपारिगत० | ... ३१२ | चलपिङ्गल० | ... २० |
| गिरिमन्वसृपत् | ... १३३ | चापल्ययुक्तस्य | ... ३३ |
| गिरेर्नितम्बे | ... २२ | चारुकलहंस० | ... ३१ |
| गुरुगिरिवर० | ... ३६२ | चारुसमीरणरमणे | ... ३५ |
| गुरुपणववेणु० | ... ३७० | चिकीर्षिते पूर्व० | ... ३१ |
| गुरुर्दधाना | ... ३२३ | चिचेत रामस | ... ३० |
| गुरूरुचञ्चत् | ... ३३० | चितां कुरु च | ... ५ |
| गुहाया निरगात् | ... ११५ | चित्रं चित्रम् | ... २१ |
| गूहमानः | ... २२२ | चिन्तयन्नित्यम् | ... २ |
| गृध्रस्येहा० | ... १३४ | चिन्तावन्तः कथम् | ... १ |
| ग्रहमणिरशनम् | ... ३०७ | चिरं रुदित्वा | ... १ |
| घ. | | चिरकालोषितम् | ... |
| घनगिरीन्द्र० | ... २९३ | चिरं क्लिशित्वा | ... १ |
| घानिषीष्ट त्वया | ... ४९५ | चिरेणाऽनुगुणम् | ... २ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|-----------------------|-------------|--------------------------|-------------|
| चुकोपेन्द्रजित् ... | ३८३ | जिते नृपारौ ... | ४३ |
| चुकुधे तत्र ... | ३९९ | जूतिमिच्छथ ... | १९६ |
| चेतसरत्त्वयि ... | ५०३ | जेता यज्ञ० ... | ७८ |
| छ. | | जेतुं न शक्यो० ... | ३४५ |
| छलेन दधिता ... | १५९ | ज्ञात्वेङ्गितै० ... | ५१ |
| छिन्नानैक्षन्त ... | ४६३ | ज्ञायिष्यन्ते मया ... | ४४६ |
| ज. | | ज्योतिष्कुर्वन् ... | ५६७ |
| जक्षिमोऽनपराधे ... | ८२ | ज्योत्स्नाऽमृतम् ... | २२७ |
| जगन्ति धत्स्व ... | ५०४ | ड. | |
| जगन्त्यमेयाद्भुत० ... | ३३९ | डुडौकिरे पुनर् ... | ३९० |
| जगर्जुर्जह्पुः ... | ३७३ | त. | |
| जगाद वानरान् ... | २०३ | तं यान्तं दुद्बुर् ... | ३९६ |
| जगाहिरेऽम्बुधिम् ... | ३८९ | तं यायजूकाः ... | २६ |
| जग्मुः प्रसादम् ... | ३४ | तं रत्नदायम् ... | ३३५ |
| जग्लौ दधयौ ... | ३८७ | तं विप्रदर्शम् ... | २८ |
| जटायुः पुण्यकृत् ... | २०० | तं सुस्थयन्तः ... | ११८ |
| जनानुरागेण ... | ३४० | तं जागरूकः ... | १८१ |
| जरित्वेव ... | २६१ | ततः कथाभिः ... | ७२२ |
| जलकामदन्ति० ... | ३६९ | ततः कपिसमाहारम् ... | १८५ |
| जलतीरतुङ्ग० ... | ३७१ | ततः कपीनाम् ... | १८४ |
| जलद इव ... | ३३१ | ततः कर्ता ... | १७४ |
| जलनिधिगमत् ... | ३०९ | ततः क्रोधानिल० ... | २८२ |
| जले विक्रम० ... | २१६ | ततः खड्गं समुद्यम्य ... | २३७ |
| जल्पाकीभिः ... | १८० | ततःपरं भगद्वाजो ... | ५५८ |
| जल्पितोत्कुष्ट ... | २१७ | ततः प्रगदिता वाक्यम् ... | ५०३ |
| जहसे च क्षणम् ... | ३९५ | ततः प्रजघटे युद्धम् ... | ३११ |
| जहीहि शोकम् ... | ४९८ | ततः प्रर्णाताः ... | ३६५ |
| जिगमिपया संयुक्ता ... | ३६२ | ततः प्रगदिता ... | ४३६ |
| जिज्ञासोः शक्तिम् ... | १६४ | ततः प्रविशन्ति ... | १८ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|----------------------|-------------|-----------------------|-------------|
| ततः प्राकारम् | ... २२५ | ततो रामो हनूमन्तम् | ... ५१६ |
| ततः प्रामुह्यताम् | ... ४५३ | ततो रौद्रसमायुक्तम् | ... ४५९ |
| ततः प्रास्थिषता० | ... ३०६ | ततो वालिन्दस० | ... १६१ |
| ततः प्रोदसहन् | ... ४७१ | ततो वालिपशौ | ... १६५ |
| ततः शतसहस्रेण | ... ४७२ | ततो वावृत्यमानासौ | ... ७९ |
| ततश्चित्रीयमाणो० | ... १०० | ततो विजघटे ... | ... ३८८ |
| ततः सकोपम् ... | ... ३५५ | ततो विनिद्रम् | ... ३३२ |
| ततः स गतवान् | ... ४९४ | ततोऽशीति० ... | ... २५० |
| ततः समभवद्युद्धम् | ... ४६२ | तत् कर्म वालि० | ... ३८१ |
| ततः समाशङ्कित० | ... ३२१ | तत्र जेतुं गमिष्यामि | ... ४४४ |
| ततः ससंमदास्तत्र | ... १९३ | तत्रेन्द्रजितम् ... | ... ४५५ |
| ततः सुचेतीकृत० | ... ४५ | तत्रेषज्जाम्बवान् | ... ४२९ |
| ततः सौमित्रिर् | ... ४२७ | तथापि वक्तुम् | ... ३५१ |
| ततस्त्रिशिरसम् | ... ४७० | तथाऽऽतोऽपि ... | ... १३२ |
| ततोऽकुष्णादश० | ... ४६७ | तं दृष्ट्वाचिन्तयत् | ... २४१ |
| ततोऽक्रन्दीदृश० | ... ४२७ | तं नो देवा विधेयासुः | ... ४८८ |
| ततोऽचित्रीयता० | ... ४६३ | तमः प्रसुप्तम् ... | ... ३२२ |
| ततो जलधिगम्भीरान् | ... १९६ | तमध्यासिष्ट ... | ... ४२८ |
| ततो दशास्यः | ... ३३६ | तमस्त्राया महानिल० | ... ५१९ |
| ततो दशास्यः स्मर० | ... ३७२ | तमुद्यत० ... | ... ९९ |
| ततोऽद्विषुर्निरालोके | ... ४६२ | तमेवं वादिनम्... | ... ४४४ |
| ततोऽधावन् महा० | ... ४६५ | तं भीतंकारम् ... | ... ९७ |
| ततो नदीष्णान् | ... ३७ | तं मनोहरम् ... | ... १५६ |
| ततो नीलहनूमन्तौ | ... ४२३ | तं सीताघातिनम् | ... १३८ |
| ततोऽभ्यगाद्गाधि० | ... १३ | तयोर्वानर० ... | ... १६७ |
| ततो मातलिना | ... ४७५ | तरङ्गसङ्गात् ... | ... २० |
| ततो मन्दगतः ... | ... १९९ | तर्पणं प्रजनिष्णूनाम् | ... १७५ |
| ततो मायामयान् | ... ४७४ | तवोपशायिका | ... २४६ |
| ततो मायामयीं सीताम् | ... ४५२ | तस्तनुर्ज्वलुर् | ... ३७९ |
| ततो रामेति चक्रन्दुः | ... ३८४ | तस्मात्कुरु त्वम् | ... ३५३ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|-----------------------|-------------|------------------------|-------------|
| ते हि जालैर् ... | ... १७१ | दत्तं न किं के | ... ३५१ |
| तैरजेषत सैन्यानि | ... ४२२ | दत्तावधानम् | ... २१ |
| तैर्वृक्णरुग्ण० | ... ८३ | ददाल भूर्नभो | ... ३७७ |
| तौ खड्गमुसल० | ... ८५ | ददशे पर्ण० | ... ७३ |
| तौ चतुर्दश० | ... ८३ | ददैर्दुःखस्य | ... १५२ |
| तौ बालिप्रणिधी | ... १५४ | ददौ स दयिताम् | ... १७३ |
| तौ हनूमन्तमानेतुम् | ... ४३० | दधाना बलिभम् | ... ७३ |
| त्रस्यन्तीं ताम् | ... ११७ | दधावाऽङ्घ्रिः | ... ३८४ |
| त्रिवर्गपारीणम् | ... ३९ | दध्वान मेघवत् | ... २५० |
| त्रिंशत्तमम् ... | ... २०२ | दन्तच्छले प्रज्वलिता | ... ३२८ |
| त्वं ससर्जिथ ... | ... २६३ | दमितारिः | ... २५५ |
| त्वं स्म वेत्थ ... | ... ४८१ | दमित्वाप्यरि० | ... २६१ |
| त्वक्त्रैः संविव्ययुः | ... ३९० | दर्शनीयतमाः | ... २४४ |
| त्वं च भीरु ... | ... ९९ | दर्शयांचक्रिरे रामम् | ... ३८५ |
| त्वन्मित्रनाशो | ... ३४६ | दशग्रीवोऽहम् | ... ४५७ |
| त्वमजानन्निदम् | ... ४८० | दश दन्तिसहस्राणि | ... ४६४ |
| त्वमर्हासि भ्रातुः | ... ४८७ | दहोऽहं मधुनो | ... १५३ |
| त्वं पुनीहि पुनीहीति | ... ५०४ | दातुः स्थातुर्द्विषाम् | ... ४८७ |
| त्वया तु लोके | ... ३४२ | दिकपालैः कदनम् | ... ४५४ |
| त्वयाद्य लंका० | ... ३५५ | दिग्ग्यापिनीर्लोचन० | ... २४ |
| त्वयाऽद्रक्ष्यत किम् | ... ५०८ | दिदक्षमाणः परितः | ... ५६ |
| त्वयापि नाम रहिताः | ... ४८५ | दिदक्षुर्मैथिली राम | ... ४९८ |
| त्वया सन्दर्शितारौ | ... ५१७ | दिद्विषुर्दुधुवुर् | ... ३९७ |
| त्वयि नस्तिश्रुते | ... २१२ | दिशो द्योतयामानाभिर् | ... २२२ |
| द. | | दिशो व्यञ्जुवते | ... ४८३ |
| दग्धशैल इवा० | ... ४०७ | दीक्षिस्व सह रामेण | ... ५०० |
| दण्डकानध्य० | ... ८७ | दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं | ... ५२५ |
| दण्डकादक्षिणेन | ... २४२ | दीप्यमानम् | ... ११२ |
| दण्डेन कोशेन च | ... ३४५ | दुःखायते | ... १०९ |
| दत्तः स्वदोषैर् | ... ३५६ | दुरुत्तरे ... | ... ३२४ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|--------------------------|-------------|--------------------------|-------------|
| दुर्गाऽऽश्रितानाम् | ... ३४७ | द्विष्कुर्वताम् ... | ... २६७ |
| दुष्पानः पुनः | ... २७९ | द्वेष्टि प्रायो गुणेभ्यः | ... ४७८ |
| दूतेमेकम् ... | ... २८० | | |
| दूर संमारुह्य ... | ... ३२० | ध. | |
| दूर गैरन्तगैः ... | ... १६२ | धनानामीशते ... | ... ४८१ |
| दूरात्प्रतीहार० | ... ३३४ | धनुष्पाशभृतः ... | ... २६६ |
| दृष्ट्वा ताम् ... | ... २७४ | धनुष्यारोपयाञ्चक्रुः | ... ३७४ |
| दृष्ट्वा दयितया | ... २२५ | धर्मकृत्यरताम् ... | ... १४५ |
| दृष्ट्वा राघव० | ... २२६ | धर्म प्रत्यर्पयन् ... | ... २८१ |
| दृष्ट्वा सुपुमम् | ... २७२ | धर्मोऽस्ति सत्यम् | ... ३३ |
| दृष्टोर्णुवानान् | ... ६३ | धर्म्यासु कामार्थ० | ... ८ |
| देवान्तकोऽति० | ... ४२२ | धारयैः कुसुमो० | ... १५२ |
| देहं विभ्रक्षुः | ... ३ | धिग्दाशरथिम्... | ... १६७ |
| देहप्रश्चन० | ... १९९ | धिङ्मां त्रिशिरसा | ... ४३८ |
| दैत्यक्षये महा० | ... ५१४ | धुन्वन्सर्व० ... | ... १२० |
| दैत्याभिभूतस्य | ... ३० | धूम्राक्षोऽथ प्रति० | ... ३९० |
| दैवं न विदधे | ... १७२ | धेयास्त्वं सुहृदाम् | ... ४९५ |
| दैवाद्भिभीहि | ... ५०३ | ध्वजानुद्दुधुवुः... | ... ३८५ |
| दोषैररमतैभिस्ते | ... ४५८ | ध्वनीनामुद्गमैः... | ... १५१ |
| दौवारिकाभ्याहृत० | ... ३३४ | न. | |
| द्यामिवाह्यमानम् | ... २१४ | नखैरकर्तिपुः ... | ... ४०१ |
| द्युतित्वा | ... २०८ | न गच्छामि पुरा | ... ४८५ |
| द्रष्टासि प्रीतिमानारात् | ... ५१७ | न गजानगजा ... | ... २९१ |
| द्रष्टास्थस्तत्र तिस्रः | ... ५२० | नगरस्त्रीस्तन० ... | ... ५१९ |
| द्रष्टुं प्रक्रममाणः... | ... २१६ | न च काञ्चन० | ... २८९ |
| द्रुतं संस्वरिपीष्ठाः | ... २५७ | न चोभावप्यलक्ष्येताम् | ... ४७४ |
| द्रुतं द्रुतम् ... | ... २९१ | न जिजीवाऽसुखी | ... |
| द्रुतमत्रास्त | ... ४३४ | न जिहयाञ्चकार | ... |
| द्रुमङ्गध्वनि० ... | ... २४९ | न तज्जलं यत्र ... | ... |
| द्विषन्वने० ... | ... ११८ | न तं पश्यामि ... | ... |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|-------------------------------|-------------|----------------------------|-------------|
| न तानगणयन् ... | ... ४५० | नायास्यसि ... | ... १४८ |
| न तृणेङ्गीति ... | ... १३७ | नारीणामप० ... | ... २९२ |
| न त्वजायत मे... .. | ... ४५७ | नावकल्प्यमिदम् ... | ... ४९२ |
| न त्वं तेनान्व० ... | ... ९६ | नाविविदिषुम् ... | ... २०५ |
| न निश्चितार्थम्... .. | ... ३५० | नावैत्याप्यायितारम् ... | ... १७९ |
| नन्दनानि मुनी० ... | ... १४९ | नासां मातृ० ... | ... २७२ |
| न प्रणाय्यो० ... | ... १४७ | नास्यं पश्यति ... | ... ९१ |
| न प्राणिषि ... | ... २६५ | निकुञ्जे तस्य ... | ... २०६ |
| न प्रावोचमहम् ... | ... ४०३ | निकुम्भो वानरेन्द्रस्य ... | ... ४३४ |
| न विभाय ... | ... ३२१ | निकृत्तमत्त० ... | ... ३३० |
| न भवति महिमा ... | ... ३१३ | निखिलाभवन् ... | ... २८८ |
| न भवाननु०... .. | ... २३५ | निघानिघ० ... | ... १९५ |
| नभस्वान्यस्य वाजेषु ... | ... ४७५ | निजघाना० ... | ... २८३ |
| न योद्धुमशकन्... .. | ... ४१५ | नित्यमुद्यच्छमानाभिः ... | ... २२२ |
| नरकस्यावतारोऽयम् ... | ... २०० | निन्दको रजनि० ... | ... १७८ |
| न वानरैः... .. | ... २९१ | निमित्तशून्यैः ... | ... ३५२ |
| नश्यन्ति ददर्श... .. | ... २९२ | निरचायि यदा... .. | ... ४३० |
| न सर्वरात्र० ... | ... २८० | निरवर्त्यन्न ... | ... २२९ |
| न हि प्रेष्यवधम् ... | ... ४९७ | निराकरिष्णवः... .. | ... १७५ |
| नाकल्पस्यत्सन्निधिम् ... | ... ५११ | निराकरिष्णुः ... | ... २३० |
| नाखेयः सागरः ... | ... १४३ | निराकरिष्णू ... | ... ८५ |
| नागान्नामिदम् ... | ... ३८८ | निराकृत्य यथा... .. | ... ४५६ |
| नाजानन्संद्धानम् ... | ... ४५१ | निरासू राक्षसाः ... | ... ३७८ |
| नानुरोत्स्ये जगत्० ... | ... ४४१ | निर्माणदक्षस्य ... | ... ६८ |
| नाभविष्यदियम् ... | ... ५०७ | निर्यत्स्फुलिङ्गाकुल० ... | ... ३३७ |
| नाभिज्ञा ते महा०... .. | ... ४४४ | निर्लङ्को विमदः ... | ... ११४ |
| नाभिज्ञा ते सयक्षेन्द्रम् ... | ... ४४५ | निर्वर्णं कृतम् ... | ... २७६ |
| नामग्राहं कपिभिः ... | ... १७३ | निलिल्ये मूर्ध्नि ... | ... ३९१ |
| नामोक्ष्याम वयम् ... | ... ५१२ | निवृत्ते भरते ... | ... ६८ |
| नायमुद्विजितुम्... .. | ... २०३ | निशातुषारैः ... | ... २० |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|-----------------------|-------------|---------------------|-------------|
| निष्क्रोपितव्यान् | ... २५८ | पयोधरांश्च | ... ३२६ |
| निष्क्रम्य शिक्षया | ... १९७ | परन्त्रीभोग० | ... २८३ |
| निष्ठां गते ... | ... १० | परिखेदित० | ... २९९ |
| निहतश्च ... | ... १९६ | परिघेणावधिप्राथ | ... ४२३ |
| निहन्ता घ्न० ... | ... १११ | परितः पर्यवाद्यायुः | ... ४६१ |
| नीवारकल० | ... १८९ | परिपर्युद्धे० ... | ... १०८ |
| नृपात्मजा | ... ५७ | परिभावम् | ... १९१ |
| नेत्रपुभिः | ... ३२६ | परिभाषाणि | ... १५० |
| नेत्रातीं शक्र० | ... ४८४ | परिशेषं न | ... २३६ |
| नेत्रन्मते मत्क्रम | ... ११८ | परीक्षितुमुपा० | ... २१५ |
| नेत्रं विरह० | ... ५२१ | परंघञ्यद्य | ... ७२ |
| नेत्रन्द्राणी न | ... ९२ | पर्यशाप्सीत् | ... ८० |
| नोदकण्ठिष्ठप्यता० | ... १०९ | पावितोऽनु ... | ... २६० |
| न्यस्रन्तं शक्र० | ... ४५० | पश्चिमं करत्रामैतत् | ... ४९७ |
| न्यस्रन्तयत्पुभिर्जा० | ... १३७ | पश्यामि रामात् | ... ३४७ |
| न्यस्रन्तिष्ठ ततः | ... ४०२ | पस्पन्दे तस्य ... | ... ३९३ |
| न्यदिक्षत | ... २११ | पापकृन् सुकृताम् | ... १६८ |
| न्यस्रन् शस्त्राणि | ... ४४८ | पार जिगमिपन् | ... २६१ |
| न्यस्रन्तयका० | ... ४६९ | पिप्रायात्रि० ... | ... १९५ |
| न्यस्रन् चदत्र | ... १८७ | पिशाचमुख० ... | ... १२१ |
| | | पिशिताशिनाम् | ... २९० |
| | | पीडाकरमसित्राणाम् | ... ४५२ |
| | | पीताँष्टरागाणि ... | ... ३२५ |
| | | पीने भटस्यो० ... | ... ३२१ |
| | | पुंसा भक्ष्येण ... | ... २८४ |
| | | पुण्यो महात्रह्ण० | ... ५ |
| | | पुत्रीयता तेन ... | ... ८ |
| | | पुरःप्रवेशम् ... | ... २४७ |
| | | पुरुहूताद्विपः ... | ... २६८ |
| | | पुरो रामस्य ... | ... ६९ |

प.

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|-----------------------------|-------------|--------------------------|-------------|
| पूतं शीतैर् ... | ... २०७ | प्रमेदिताः ... | ... २५४ |
| पूर्वस्मादन्य० ... | ... २४१ | प्रययाविन्द्रजित् ... | ... ३७६ |
| पृथङ्ग्नभस्वतः... | ... २४२ | प्रयाणमात्रेण ... | ... ३४१ |
| पृथुगुरुमणि ... | ... ३०९ | प्रयातस्तव यम्यत्वम् ... | ... १४२ |
| पौरा निवर्तध्वम् ... | ... ५० | प्रयास्यतः पुण्य० ... | ... १७ |
| प्रकुर्याम वयं देशे ... | ... ४८९ | प्रलापिनो० ... | ... १७८ |
| प्रगृह्यपदवत् ... | ... १४५ | प्रलुठितभवनौ ... | ... २३ |
| प्रग्राहैरिव ... | ... १८८ | प्रवपाणि वपुर् ... | ... ५०६ |
| प्रचपलमगुरुम् ... | ... ३०८ | प्रवपाणि शिरो... .. | ... २७७ |
| प्रजागराञ्चकार... | ... १२४ | प्रवहन्तं सदा० ... | ... २२४ |
| प्रजागरालाम्र०... | ... ३२५ | प्रविधाय धृतिम् ... | ... ५२४ |
| प्रणमन्तं ततो ... | ... ५१३ | प्रष्टव्यं पृच्छन्तः ... | ... १४० |
| प्रणमन् ब्रह्मणा ... | ... ५१२ | प्रस्कन्दिकाम् ... | ... १९८ |
| प्रणश्यन्नपि ... | ... २८५ | प्रस्थास्यमानौ... .. | ... ४९ |
| प्रणिपत्य ततो... .. | ... ३६० | प्रहस्तमर्थयाञ्चक्रे ... | ... ३९४ |
| प्रणिशाम्य ... | ... २७७ | प्रहस्तस्य पुरो० ... | ... ३९५ |
| प्रण्यगादीत् ... | ... २७७ | प्रहीणजीवितम् ... | ... २७८ |
| प्रतन्व्यः कोमलाः ... | ... ५१७ | प्राकारमात्रावरणः ... | ... ३४३ |
| प्रतीय सा पूर... .. | ... ५२ | प्राधानिषत् ... | ... २७८ |
| प्रतुष्टुवुः कर्म ... | ... ३० | प्राङ्मुहूर्तात् ... | ... ४४३ |
| प्रतष्टुषुः पुनर् ... | ... २६९ | प्राचीं तावद्भिः... .. | ... १९१ |
| प्रतोदा जगलुः... .. | ... ३९७ | प्राचुचूर्णञ्च ... | ... ४११ |
| प्रत्यूचे मारुतिः ... | ... १५९ | प्राच्यमाञ्जिहिषा ... | ... ३७५ |
| प्रत्यूचे राक्षसेन्द्रः ... | ... ९३ | प्राज्ञवाक्यान्यवा० ... | ... ४०४ |
| प्रत्यूचे वालिनम् ... | ... १७१ | प्राज्ञास्तेजस्विनः ... | ... ४७७ |
| प्रददृशुरु० ... | ... ३११ | प्राणयन्तम् ... | ... २७८ |
| प्रबाधमानस्य ... | ... ३३२ | प्राणा दध्वंसिरे... .. | ... ३८६ |
| प्रबोधकालात् ... | ... ३२९ | प्राणिषुर्निहताः ... | ... ४३१ |
| प्रभातवाताहति ... | ... २१ | प्रातस्तरां ... | ... ३२७ |
| प्रमादवांस्त्वम् ... | ... ३४९ | प्रादमयन्त ... | ... २२७ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|-----------------------|-------------|-------------------------|-------------|
| प्रादिदृक्षत ... | ... २१९ | ववाधे च वलम्... | ... ३८३ |
| प्रादुःपन्ति ... | ... २७२ | वभूव याऽधि०... | ... २०४ |
| प्रादुन्वशानुभिः | ... ४५० | वभौ मरुत्वान् ... | ... २९५ |
| प्राप्तचारिच्य० ... | ... ५०२ | वलान्यभि० ... | ... २६९ |
| प्राप्य चन्द्रचूर्य० | ... ७५ | वलिनावमुम् ... | ... १५७ |
| प्रायुक्त राक्षसीर् | ... २३८ | वलिर्ववन्धे ... | ... ३५ |
| प्रायोपासन० ... | ... १९८ | वहुधवलवारि ... | ... ३६९ |
| प्रायोठन्त ... | ... ४५१ | वहुधा भिन्न० ... | ... २७५ |
| प्रायतिप्यन्त चेष्टाः | ... ५१३ | विभ्रत्यस्त्राणि ... | ... ४८२ |
| प्रायर्धत रजो०... | ... ४६२ | विम्वागतैस्तीर० | ... २० |
| प्राशीन्न पालृपत् | ... ४०९ | बुद्धिपूर्वं ध्रुवम्... | ... १६४ |
| प्राग्धापयत्पूग० | ... ४५ | बुभुत्सवो द्रुतम् | ... २०५ |
| प्रियंवदोऽपि० ... | ... १६० | बोद्धव्यं किमिव | ... ३१८ |
| प्रियंभावुकताम्... | ... १६४ | बोभवीति न ... | ... ४८७ |
| प्रीतोऽहं भोज०... | ... २३४ | ब्रह्मर्षिभिर्नूनम्... | ... ३४८ |
| प्रीत्यापि दत्तेक्षण० | ... ३३५ | ब्रह्मादधाद्वधम्... | ... ४५४ |
| प्रेता वरेण शक्रस्य | ... ५१४ | ब्रूहि दूर० ... | ... २८३ |
| प्रेदपाति नभस्तेन | ... ४३० | | |
| प्रेर्णोति शोक० | ... ४८४ | भ. | |
| प्रेर्णावीच्छर्०... | ... ४३४ | भजन्ति विपदस्तूर्णम् | ... ४७७ |
| प्रेर्णुवीत्तेजसा ... | ... ४३४ | भयसंहृष्ट० ... | ... २५५ |
| फ. | | भल्लैश्च विभिदुः | ... ३७८ |
| फलभरमन्थर० | ... ३६९ | भवत्यामुत्सुको० | ... २४४ |
| फलान्यादत्त्व ... | ... २११ | भवन्तं कार्त० ... | ... ९५ |
| फलाशिनो निर्हार० | ... ३४६ | भिन्ननौकः ... | ... ११४ |
| व. | | भुजांसवक्षःस्थल० | ... ३३६ |
| वदो दुर्वल० ... | ... ७८ | भुजौ चकृततुः... | ... १३९ |
| वदो वासर० ... | ... ३५८ | भुवनभर० ... | ... ३१० |
| वन्धूनराङ्घ्रिष्ट ... | ... ५५ | भूर्ति वृणेक्षि ... | ... १३७ |
| | | भूमिष्ठस्यासमम् | ... ४७२ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|----------------------|-------------|------------------------|-------------|
| भूमौ शेते दश० | ... ४७७ | मरिष्यामि विजेष्ये | ... ४३९ |
| भूयस्तं धिप्सुम् ... | ... २५९ | महाकुलीन० ... | ... ११० |
| भृङ्गाली कोकिल० | ... १५० | महीच्यमाना ... | ... ३४ |
| भृत्तनिखिल० ... | ... ३११ | मांसं हतानामिव | ... ३५२ |
| भेष्यते मुनिभिः | ... ४४५ | मांसविक्रयिणः... | ... १६९ |
| भ्रमरकुलाकुलो० | ... ५१४ | मांसान्यौष्ठा० ... | ... ९० |
| भ्रमी कदम्ब० | ... १७६ | मांसेनास्याश्चताम् | ... ४०९ |
| भ्रातरि न्यस्य ... | ... ११२ | मांसोपभोग० | ... २५३ |
| भ्रूभङ्गमाधाय ... | ... ३५४ | मातामहा० ... | ... ४४ |
| भ्रेजिरेऽक्षत० ... | ... ३८९ | मा न सावीर् ... | ... २६३ |
| भ्रेमुः शिलो० ... | ... १९२ | मानुषानभि० ... | ... ७६ |
| भ्रेमुर्ववल्गुः ... | ... ३६६ | मानुषो नाम ... | ... ४४२ |
| म. | | मानेन तल्पेषु ... | ... ३२० |
| मण्डलान्यटताम् | ... ४६८ | मां दुष्ट ज्वलित० | ... ५०६ |
| मत्तेनामारि ... | ... ४२४. | मापराध्नोदियम् | ... ४५२ |
| मत्वा सहिष्णून् | ... ३४१ | सामुपास्त ... | ... ९३ |
| मत्पराक्रम० ... | ... ११४ | मायानामाश्वराः | ... २५२ |
| मधुकरैर्विरुतै० ... | ... ३०७ | मायाभिः सुचिरम् | ... २६० |
| मधुसाद्भूत० ... | ... २७४ | मायाविभिन्नास्त० | ... ३३१ |
| मध्वपाययत ... | ... २२१ | मारयिष्यामि ... | ... ४४१ |
| मन्तूयिष्यति ... | ... ४४३ | मार्गं गतो गोत्र० | ... ३५२ |
| मन्त्रे जातु वदन्ति | ... ४८० | मावमस्थाः ... | ... २३३ |
| मन्दायमान० ... | ... २२८ | मा शोचिष्ट रघु० | ... ४२९ |
| मन्नियोगात् ... | ... २८३ | मा स्म तिष्ठत ... | ... ४५४ |
| मन्युं वध्या भट० | ... ४९५ | मा स्म द्राक्षार् | ... १३० |
| मन्युं शेकुर्न ते | ... ३८४ | मा स्म भूयार्हिणी | ... ११७ |
| मन्युर्मन्ये ... | ... १३४ | मितमवदत् ... | ... २९४ |
| मन्ये किंजमहम् | ... १७० | मित्रत्रस्य प्रचुक्षोद | ... ३८० |
| मम रावण० ... | ... ८१ | मिथ्या मास्म ... | ... ४५७ |
| मया त्वमाप्थाः | ... १५ | मिथ्यैव श्रीः ... | ... १०८ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|----------------------------|-------------|-------------------------|-------------|
| मिमेद रक्तम् ... | ... ३९७ | यत्रं प्रोर्णवितुम् ... | ... २०३ |
| मुञ्जेनाकाश० ... | ... ४९० | यत्र यक्षामरिप्यत् ... | ... ५१० |
| मुदा मयुद्धि ... | ... ५०० | यत्त्वधर्मम् ... | ... २८५ |
| मुक्तिवा धनदम् ... | ... २०४ | यथास्वं संगिरन्ते ... | ... २१८ |
| मुप्यन्तमिव ... | ... २७५ | यथेष्टं चर वैदेहि ... | ... ५०३ |
| मुप्यन्त्वामच० ... | ... ४०४ | यदताप्सीच्छनैर् ... | ... २५० |
| मुप्यंजान् गम ... | ... ४८६ | यदा न फेलुः ... | ... ४०० |
| मुप्रां दिवमिवा० ... | ... ४०७ | यदा विगृह्णन् ... | ... ३४० |
| मुप्युमिव ... | ... ८४ | यद्गृहे नर्दिनम् ... | ... ९८ |
| मृगाः प्रदक्षिणम् ... | ... ३७५ | यद्यकत्प्यत् ... | ... २६१ |
| मृदद्वा धीर० ... | ... ३७३ | यद्यहं नाथ ... | ... ८७ |
| मृदुभिरपि ... | ... ३१४ | यमं युनक्ति ... | ... १३६ |
| मृपाणि त्वम् ... | ... १६८ | यमलोकमिव ... | ... ४६४ |
| मृषोऽयम् ... | ... १०४ | यमायाकम्पनम् ... | ... ३९३ |
| मेषरुग्म् ... | ... १६० | यमास्यदृश्वरी ... | ... ९६ |
| मेषनादः ... | ... २७१ | यथाथ त्वम् ... | ... २६२ |
| मेषाः सविद्युतो ... | ... ४६५ | ययुर्विन्ध्यम् ... | ... १९१ |
| मोज्जिमः सुनीतानि ... | ... ४०६ | यशस्कर० ... | ... ११९ |
| मोदिष्ये करय ... | ... ४४१ | यस्यां वासयते ... | ... २२७ |
| प्रियमाणः ... | ... १७२ | याः सुहृत्सु ... | ... ४४१ |
| प्रियामहे ... | ... २०२ | यां कारिं राज० ... | ... १९८ |
| प्रियेयोर्ध्वं सहृतात् ... | ... ४८९ | यात यूयम् ... | ... १८६ |
| य. | | यानैः समचरन्त ... | ... २१८ |
| यः पयो दोषि ... | ... २३३ | यायास्त्वमिति ... | ... १०४ |
| यधेन्द्रशक्तिम् ... | ... ४१२ | यावज्जीवम् ... | ... ५०९ |
| यद् यत्र भवांस्ति० ... | ... ४९२ | यावन्न संत्रासित० ... | ... ३३३ |
| यदापि यता० ... | ... ३३८ | युद्धाय राज्ञा ... | ... ३३८ |
| यद्वात्राणि गात्रेषु ... | ... ४९१ | युद्धोन्मत्तं च ... | ... ४२२ |
| यत्कृतेऽस्ति ... | ... ४५३ | युयुजुः स्यन्दनान् ... | ... ३९४ |
| | | युवजानिर् ... | ... ८९ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|-----------------------|-------------|--------------------|-------------|
| युष्मानचेतन् ... | ... ३०२ | राघवं पर्ण० | ... ७७ |
| यूय समैप्यथ ... | ... ६९ | राघवस्य ततः | ... १८३ |
| येन पूतकृतोर् | ... ४७९ | राघवस्य मतेनाथ | ... ५०६ |
| ये सूर्यमुप० ... | ... २१२ | राघवस्याभृशायन्त | ... ४७१ |
| यैरघानि खरो० | ... ४२० | राघवस्यामुसः | ... ४०५ |
| योगक्षेमकरम् | ... १०१ | राघवाभ्यां शिवम् | ... २४८ |
| योद्धारोऽविभरुः | ... ४६१ | राघवो न दयाञ्चक्रे | ... ३८२ |
| योद्धुं सांऽप्यरुषत् | ... ४१६ | राजितं गारुडैः | ... ४७५ |
| योऽपचक्रे ... | ... २१४ | राममुच्चैर् | ... १६८ |
| योषिद्वृन्दारिका | ... ९१ | राससंधुषितम् | ... १०२ |
| र. | | रामस्य दयमानः | ... २४५ |
| रक्तपङ्के गजाः ... | ... ३७९ | रामस्य शयितम् | ... २४७ |
| रक्तमश्च्योतिषुः | ... ४१५ | रामादघोत० | ... २३० |
| रक्तं प्रचुक्षतुः ... | ... ३९२ | रामोऽपि दारा० | ... ३४४ |
| रक्तेनाचिह्नितु | ... ४१४ | रामोऽपि हत० | ... १२५ |
| रक्षांसि वेदिम् ... | ... १० | रामोऽत्रोचत् | ... १५८ |
| रक्षणं करोषि ... | ... १९५ | रावणः शुश्रुवान् | ... ३७८ |
| रघुतनयम् ... | ... ३०० | रावणवल० | ... ३७१ |
| रणपण्डितो० ... | ... २८७ | रावणस्य नमन्ति | ... ४८७ |
| रणे चिक्रीड ... | ... ३९२ | रावणस्येह ... | ... २४५ |
| रथेनाविव्यथत् | ... ४२५ | रावणाङ्कपरिश्लेषा | ... ५०२ |
| रविस्तपस्याति ... | ... ४३७ | रावणाय नमस् | ... २३९ |
| रसान् सहर ... | ... ५०५ | रिणत्तिम जलधेः | ... १३६ |
| राक्षसस्य न ... | ... ४१७ | रुचिरोन्नत० | ... ३०१ |
| राक्षसानां मयि | ... २४६ | रुदतोऽशिश्रियत् | ... १३० |
| राक्षसान्वदु० | ... ११३ | रुरुजुभ्रैजिरे | ... ३९१ |
| राक्षसेन्द्रस्ततो० | ... ४०० | रोचमानः ... | ... २३० |
| राक्षसेन्द्रस्य० | ... २४८ | रोदिति स्मेव | ... २६४ |
| राक्षसोऽतर्जयत् | ... ४७३ | रोदिम्यनाथम् | ... ४८४ |
| राक्षस्यः प्रारुदन् | ... ४६५ | रोषभीम० | ... २७९ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|----------------------------|-------------|--------------------|-------------|
| ल. | | वनतापसके | ... ९८ |
| नक्षत्रे द्वे च पद्मतीनाम् | ... ४६४ | वनस्पतीनां सरसाम् | ... १९ |
| नक्षत्राणां मा | ... ७९ | वनानि तोयानि | ... २१ |
| नक्षत्राणांचक्षत्र | ... १३१ | वनान्तप्रेक्षणः | ... २७९ |
| नक्षत्राः पुंगोम | ... ९१ | वनेषु वासतेषु | ... ७० |
| नक्षत्रां नाम्ना ... | ... २०३ | वपुश्चान्दनिकम् | ... ७८ |
| नक्षत्रान्यनुमुक्तं | ... ३६७ | वयमथैव | ... १८३ |
| नक्षत्रानना ... | ... ५०१ | वारवारणं सलिलं | ... ३६० |
| नक्षत्रानुपासनाम् | ... २३ | वरिपीष्ट | ... २५६ |
| नक्षत्रां ततो० | ... ४० | वरेण तु मुनेर् | ... १६२ |
| नक्षत्रां कथं नु | ... १४० | वर्तिष्यमाणम् | ... २२९ |
| नक्षत्राः स्युः | ... ३९५ | वर्धते ते | ... १४८ |
| नक्षत्रजलपन्थं | ... ३७० | वर्धिपीष्टाः | ... ४९४ |
| नक्षत्रगुणमुद्रतम् | ... २५१ | वल्गूयन्तीम् | ... १०९ |
| नक्षत्रगुणलोट्यां | ... ३७८ | वसानस्तन्त्रकं | ... ७१ |
| लेटि भेषजवत् | ... ४७८ | वसानां वल्कले | ... १४४ |
| लोकानशिशिषोः | ... २६४ | वसुन्धरायाम् | ... १६२ |
| लोभाङ्गवाहा | ... ३४६ | वसूनि तोयम् | ... ४ |
| लोलं कूलाभिगमे | ... ३६६ | वसूनि देशांश्च | ... ४६ |
| लोहवन्धेर्धवन्धे नु | ... ३८६ | वस्त्रात्रपानं | ... ६२ |
| व. | | वस्त्रैरनत्युल्वणं | ... ३२७ |
| वक्षः रतनाभ्याम् | ... ३२२ | वाचंयमान् | ... ६१ |
| वक्षसं रक्षसाम् | ... २३४ | वाचंयमो० | ... १६० |
| वक्षसुष्टेर्विशिश्लेष | ... ३८० | वाताहातिं | ... १५४ |
| वक्षसामिषावर्तुर् | ... ३४९ | वादयाश्चक्रिरे | ... ३७२ |
| वाञ्छित्वापि | ... २०७ | वानरः कुलं | ... २६५ |
| वाग्निं प्रमाहं | ... १९० | वानरं प्रोर्णुं | ... २६० |
| वदेन संस्ये | ... ४४ | वानरा मुष्टिभि | ... ३७८ |
| | | वानरेषु कपिः | ... २४३ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|--------------------|-------------|----------------------|-------------|
| वायव्यालोण तम् | ... ४२० | विराघताडका० | ... २८१ |
| वालिनं पतितम् | ... १६७ | विराघं तपसाम् | ... २८५ |
| वासयेत मु० | ... ४९१ | विरुग्णसंकीर्ण० | ... ३५३ |
| विकत्थी याचते | ... १७७ | विरुग्णादेप्र० | ... ९३ |
| विकुर्वे नगरे | ... २१५ | विरूपाक्षस्ततो | ... ४६७ |
| विगाढारम् ... | ... २५८ | विरूपाक्षो जहे | ... ३८१ |
| विग्रहस्तव ... | ... ८७ | विलुलितपुष्पह० | ... २४९ |
| विचित्रमुच्चैः ... | ... २५ | विलोक्य द्योतनम् | ... १७८ |
| विचुक्रुशुर्भूमि० | ... ५३ | विलोक्य रामेण | ... ५२ |
| विटपिसृग० | ... ३०० | विलोक्य सलिल० | ... २०८ |
| विदाङ्कुर्वन्तु | ... ६२५ | विलोचनाम्बु० | ... २७४ |
| विदित्वा शक्तिम् | ... २०४ | विलोलतां चक्षुषि | ... ३२९ |
| विद्यामथैनम् ... | ... २७ | विवृत्तपांश्वम् | ... २५ |
| विद्युत्प्रणाशम् | ... ५० | विशङ्कटो वक्षसि | ... ४१ |
| विद्युन्नाशम् ... | ... १८२ | विशिश्नासयिषाम् | ... ३७५ |
| विद्रुममणि० ... | ... ३११ | विश्वासप्रद० | ... १५६ |
| विधृतानिशित० | ... ३३१ | विषधरनिलये | ... ३०७ |
| विनङ्क्ष्यति | ... ४४२ | विषसादेन्द्र० | ... २७५ |
| विनेष्ये क्रोधम् | ... २१५ | विषह्य राक्षसाः | ... २७० |
| विपाक्रोऽयम् | ... ४७७ | विष्यन्दमान० | ... २७० |
| विप्रकृष्टम् ... | ... २४३ | विस्फुलङ्गिर् | ... २७३ |
| विभवम० | ... ३०३ | वीनामुपसरम् | ... १९३ |
| विभीन्ना जुधुरः | ... ३८२ | वीर्यं मा न ददर्श | ... ४०४ |
| विभीषणस्ततो० | ... ४२९ | वृक्षाद्वृक्षम् | ... २२९ |
| विभीषणोक्तम् | ... ३४८ | वृतस्त्वं पात्रे० | ... ८८ |
| विमलमहामणि० | ... ३६८ | वृद्धिक्षयस्थान० | ... ३३९ |
| वियति व्यस्य० | ... २०९ | वृत्तौ प्रकाशम् ... | ... ३२१ |
| विद्यत्यानध्रतुः | ... ३९९ | वृद्धैरसौ राज्य० | ... ६६ |
| वियोगदुःखा० | ... २४ | वृन्दिष्ठमार्चित्... | ... ३८ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|---------------------|-------------|-------------------------|-------------|
| श्रोत्राक्षिनासा० | ... ५९ | संचेरुः सहसा | ... १९२ |
| श्लाघिष्ये केन | ... ४३६ | संजानानान् ... | ... २१६ |
| श्वःश्रेयसम् ... | ... ८२ | संजुघुक्ष्वः ... | ... २५१ |
| ष. | | संज्वारिणेव ... | ... १७६ |
| षड्वर्गवश्यः ... | ... ३४३ | स तान्नाजीगणत् | ... ४०१ |
| स. | | सतामरुष्करम् | ... १२० |
| संयुयूषुम् ... | ... २५९ | सतामविभ्रमत् | ... ४१६ |
| सवगयांचकार | ... ३९५ | स तामूचे | ... १४६ |
| संवाद्भिः सकुसुम० | ... ५१५ | सत्त्वं समदुघुक्षुच्च | ... ४११ |
| संवित्तः सह ... | ... २९७ | स त्वं हनिष्यन् | ... २६३ |
| संशृणुष्व ... | ... १३ | सत्वमेजय० | ... १५७ |
| संसर्गी परि० ... | ... १७६ | सत्वानजस्रम् | ... १३० |
| संस्मिन्मयिषमाणो | ... २६४ | सदोद्गार० ... | ... १८६ |
| संस्तावमिव ... | ... १८७ | सद्रत्नमुक्ता० ... | ... ५ |
| स एव धारयेत् | ... ४८९ | संदांशितस्नेह० | ... ३४१ |
| स किङ्करैः कल्पितम् | ... ३३५ | संत्रस्तानामपाहारि | ... ४१९ |
| सख्यस्य तव | ... १४९ | संत्रासयांचकार | ... १२१ |
| स गिरिं तरु० | ... २९७ | संदिदर्शयिषुः | ... १०६ |
| संकल्पं नाकरिष्यच्च | ... ५०८ | सदृश्य शरणम् | ... १२७ |
| संक्रुध्यसि ... | ... २३१ | संदुघुक्षे तयोः | ... ३९९ |
| संक्षुण्वानः ... | ... २२० | संधानकारणम् | ... ४०६ |
| संगच्छ पौंस्ति... | ... ११६ | संधानमेवास्तु | ... ३४८ |
| संगच्छ राम० | ... २८० | संधुक्षितं मण्डल० | ... ३४४ |
| संग्रामे ... | ... २७० | संधौ स्थितौ वा | ... ३४१ |
| संघर्षयोगिणः ... | ... २७७ | सन्नत्स्याम्यथवा | ... ४४२ |
| स च विह्वल० | ... ३०५ | सपक्षोऽद्विरिवा० | ... ४०८ |
| स चापि रुधिरैर् | ... ४१९ | स पुण्यकीर्तिः | ... ६ |
| स जलाम्बोद० | ... १८५ | सप्तपष्टिं प्लवङ्गानाम् | ... ४२८ |
| | | स प्रोषिवान् | ... ५५ |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|----------------------|-------------|--------------------|-------------|
| स विभ्रंय प्रचुक्षोद | ... ३९४ | संप्राप्य तीरं ... | ... ६० |
| सभयं परिगृह्णामाणो० | ... ३५९ | संप्राप्य वानरान् | ... २०१ |
| स भवान भ्रातृ० | ... ४९३ | संप्राप्य राक्षस० | ... ८६ |
| स भगवन्नामकार | ... ३९३ | संबभूवः कवन्धानि | ... ३७९ |
| समक्षभ्रन्नुदन्वन्तः | ... ४७४ | संमृष्टसिक्ता० ... | ... ३२८ |
| समक्षगुप्यत यमप्राणि | ... ४६१ | सरसवद्बुधव० | ... ३६७ |
| समगत कपिभ्यन्यम् | ... ४३५ | सरमां सरसाम् | ... २८८ |
| समगात्रम् | ... २०५ | सराधवैः किं वत | ... ३३७ |
| समनां शशि० | ... ३०४ | स राजसूय० ... | ... १४३ |
| समनाः शर्मात्तः | ... ४३२ | सर्वकपयशः ... | ... १६० |
| समपश्यत राजेन्द्र | ... ५०९ | सर्वतश्चाभयम् ... | ... ४६५ |
| समपश्यत् | ... ३०२ | सर्वत्र दयिता०... | ... १५० |
| स महापाणि० | ... ३६८ | सर्वतारीगुणैः ... | ... २७३ |
| समारप्तासुरम् | ... ४६९ | सवस्य जायते ... | ... ४७८ |
| समाविष्टम् | ... १५३ | संवित्त ... | ... ९७ |
| समाः शर्मिणि केनाहम् | ... ४७८ | संयुवृपुः ... | ... २५७ |
| सगिह्नशरणा | ... २९० | सवृक्षमच्छिदत् | ... ४२० |
| सर्गारशांपकाराप | ... ३९९ | स शत्रुलावी ... | ... १५५ |
| सर्गां मर्तुम् ... | ... ३८८ | स शुश्रुवाम् ... | ... १४ |
| समुपहित ... | ... ३१० | संशृणुष्व ... | ... २१३ |
| समुक्षिप्य ततः | ... ५०७ | संसर्गा ... | ... १७६ |
| समुत्तरन्तौ ... | ... १४४ | ससैन्यशलादयन् | ... २६५ |
| समुत्प्रेतुः कशा० | ... ३७४ | संस्तानिमिव ... | ... १८७ |
| समुद्रोपलका ... | ... ११५ | सस्फुरस्योदकर्षच् | ... ४७१ |
| समुपेत्य ततः ... | ... ४९६ | सस्यन्दे शोणितम् | ... ३९६ |
| समूलवापं ... | ... ६४ | ससंसे शर० | ... ३९० |
| संपत्य तस्मिन्दि | ... ९५ | सहभृत्यः सुरा० | ... ४४५ |
| संस्तरांश्च ... | ... ३८९ | सहसा वे तरु० | ... ३६४ |
| संसाविता प्रजरुः | ... ३८० | सहायवन्तः | ... ९० |

| श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः | श्लोकाः | पृष्ठाङ्काः |
|---------------------|-------------|--------------------------|-------------|
| सा जुगुप्सान् | ... ३८७ | सुषार्त्नीःसर्व० | ... २७३ |
| सांराविणम् | ... १८८ | सुषुपुस्ते | ... २६८ |
| सामर्थ्यं चापि | ... ४१० | सुहृदौ राम० | ... २८५ |
| सामर्थ्यसम्पादित० | ... ३०२ | सूतोऽपि गङ्गा | ... ५५ |
| सामोन्मुखेन० | ... ३२३ | स्मररोऽभङ्गुर० | ... १८१ |
| सान्त्रैव लोके | ... ३२७ | सेतुं महेन्द्रम् | ... ५२३ |
| सायन्तनीम् | ... १०६ | सेवितासे प्लवङ्ग० | ... ५१६ |
| सारथिं चालुनात् | ... ४५८ | सेहे कपी रथा० | ... ३९९ |
| सारोऽसाविन्द्रिया० | ... ९२ | सोऽध्यष्टीयत रामेण | ... ४७२ |
| सा स्तम्बन्न० | ... १९४ | सोऽध्यैष्ट वेदान् | ... ३ |
| सितारविन्द० | ... २५ | सोऽष्टच्छत् | ... १२६ |
| सीतां सौमित्रिणा | ... १२६ | सौमित्रिः सर्पवत् | ... ४२६ |
| सीतां जिघांसू | ... १३४ | सौमित्रिराकुलः | ... ४५२ |
| सीतान्तिके | ... २२८ | सौमित्रे माम् | ... ७५ |
| सीतां दिदृक्षुः | ... २२१ | सौमित्रेरिति ... | ... ३१८ |
| सीतारक्षो० | ... १८८ | सौर्याग्नयेये ... | ... ४२६ |
| सुकृतं प्रिय० | ... १०७ | स्त्रीभूषणम् ... | ... २५ |
| सुखं स्वप्स्यन्ति | ... ४४३ | स्थान नः पूर्वजानाम् | ... ५२३ |
| सुखजातः | ... ९७ | स्थायं स्थायम् | ... १०१ |
| सुखावगाहानि | ... ३२८ | स्थितमिव परि | ... ३०६ |
| सुग्रीवान्तिकम् | ... १८४ | स्नानभ्यषिचत | ... १३२ |
| सुग्रीवो मुमुदे | ... ३८१ | स्नानीयैः स्नापयेत | ... ४९१ |
| सुग्रीवोऽस्याभ्रशत् | ... ४१८ | स्नाह्वनुलिम्प | ... ४९९ |
| सुपाद् द्विरद० | ... ७४ | स्पृहयालुम् | ... १८० |
| सुप्तो नभस्तः | ... ५४ | स्फटिकमणिगृहैः | ... ३०८ |
| सुप्रतिष्णात० | ... २७३ | स्फुटपरुषम् | ... २८६ |
| सुप्रातमासादित | ... ४० | स्मरातुरे चेतसि | ... ३२६ |
| सुरापाण० ... | ... २७६ | स्मेप्यन्ते मुनयो | ... ४३९ |
| सुरापैरिव ... | ... १५६ | स्यन्त्वा स्यन्त्वा दिवः | ... ५१८ |

अभूदित्यादि—तस्य हीष्टदेवता सनातनो विष्णुः स चादौ कीर्तितः । तत्प्रतिबन्धनां चयं कथेति प्रबन्धेनैवात्र संकीर्तनं रामायणवत् । तत्र विष्णुना यस्मिन्काले जगत्कार्यवशादवतारः कृतस्तदेव प्रथमं दर्शयति । अभूदिति भूतसामान्ये लुङ् भूत इत्यर्थः; अन्यथा राज्ञश्चिराततित्वात् कवेः परोक्षत्वाच्च लिट् स्यात् 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु २ । ४ । ७७ ।' इति सिचो लुक् । 'भूसुवोस्तिङि । ७ । ३ । ८८ ।' इति गुणप्रतिषेधः ॥ 'नयतेर्डिच्च' इति नयतेरौणादिक ऋन् । नरो मनुष्यास्तान्नुन्पातीति । 'अतोऽनुपसर्गे कः । ३ । २ । ३ ।' 'आतो लोप इटि च । ६ । ४ । ६४ ।' नृपो राजा । अत्यन्तधर्मविजयित्वाद्देवराजस्य मित्रमासीदित्याह—विबुधसख इति । विबुध्यन्त इति विबुधा देवास्तेषामपि प्रधानत्वात् । तत्रेगुपधलक्षणः कः । सामान्यशब्दोऽपि देवेषु वर्तमानोऽप्यर्थवशाच्छक्रे प्रयुक्तस्तस्य सखेति । 'राजाऽहः सखिभ्यष्टच् । ५ । ४ । ९१ ।' विबुधसखः । अनन धर्मविजयित्वं दर्शयति, विबुधसखत्वस्य धर्मकार्यत्वात् । सुरलोकविजयिनश्च ये राजानस्तेषां धर्मविजयो प्रधानम् । परे शत्रवन्निविधाः—उच्छेदनीयोपपीडनीयकर्षणीयाः । तत्र ये उपपीडनीयकर्षणीयास्तान्परांस्तापयतीति परन्तपः । 'द्विषत्परयोस्तापेः । ३ । २ । ३९ ।' इति खच् । 'खचि ह्रस्वः । ६ । ४ । ९४ ।' । 'अरुद्विपदजन्तस्य मुस् । ६ । ३ । ६७ ।' इति मुस् । नृप इत्यनेन स्वमण्डले वृत्तिराख्याता । परन्तप इति परमण्डले । श्रूयन्त इति श्रुतानि वेदादीनि तैरन्वितः सम्बद्धः, ग्रन्थतोऽर्थतश्च गृहीतत्वात् । दशरथ इत्यनेन नाम्नोदाहृतं लोके गीतः । गुण्यन्तेऽभ्यस्यन्त इति गुणाः । 'गुण आमन्नणे ।' इति चौरादिकोऽदन्तः । तस्मात् 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् । ३ । ३ । ११ ।' इति घञ् येषाम् 'एरजण्यन्तानाम्' इति दर्शनम्, येषांतु तन्नाम्नि तेषामेरञ् ; स्वप्रतिविवादो न रूपं प्रति । गुणैरभिरामत्वादिभिर्वरं श्रेष्ठं यं नृपं पितरमुपागमादिति सम्बन्धः । त्रियत इति वरः । 'ग्रहवृष्टनिश्चिगमश्च । ३ । ३ । ५८' इति कर्मण्यप् । केन हेतुनोपगतवान् तं पितरं सनातन इत्यत आह—

१ कवेः । २ स च इष्टदेवो विष्णुश्च । ३ 'अकारो वासुदेवः स्यात्' इत्यकारोपन्यासात् । ४ न च तथा प्रथमं तत्कीर्तनमेव कृतम्, किंतु स सनातनो विष्णुरेव प्रतिबध्यते प्रधानत्वेन प्रस्तूयते, अनया, अत्र वेति तथोक्ता । ५ भट्टिप्रणीतायां रामचरितापरपर्यायभूतायां कथायाम् । ६ न तु भूतविशेषे परोक्षे, तस्यापि ततोऽनतिरिच्यमानत्वात् ।

च्लेः सिञ्चक्तव्यः' इति च्लेः सिचि ' अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः । ६।१५९। ' इत्यमभावपक्षे रूपम् । पितृस्तर्पितवानित्यर्थः । सममंस्त बन्धून् मानु-
पित्रादिज्ञातीन् सम्मतवान्, सदा दानमानादिभिः पूजितवानित्यर्थः । मन्यते-
रनुदात्तत्वात्तद्ध, इट्प्रतिषेधश्च । येषां सिच इकार उच्चारणार्थस्तेषाम् ' हनः-
सिच् । १।२।१४। ' इति कित्करणज्ञापकान्नलोपाभावः । येषां तु इकार इत्ते-
षामिदित्वान्नकारलोपाभावः । आभ्यन्तरं शत्रुमजित्वा कथं परन्तप इत्याह-
व्यजेष्ट षड्वर्गमिति । कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्याणां षण्णां वर्गः षड्वर्गः ।
तमभिभूतवान् । विपूर्वस्य जयतेः ' विपराभ्यां जेः । १।३।१९। ' इति तद्ध
अरंस्त नीतौ सामादिषु सध्यादिषु च रतः, नीतिमानित्यर्थः । समूलघातं न्यव-
धीत् समूलान्निःशेषानरीञ्शत्रून्निहतवान् । उच्छेदनीया ये शत्रवस्तेष्विदं
विधानम् । समूलोपपदाद्धन्तेः 'समूलाकृतजीवेषु हन्कृत्प्रहः । ३।४।३६। ' इति
णमुल् । ' हो हन्तेऽङ्गिणेषु । ७।३।५४। ' इति घत्वत्वं, वृद्धिः । 'हनस्तः
। ७।३।३२। ' इति तत्वम् । ' कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः । ३।४।४६। ' इति
यथाविध्यनुप्रयोगः । अनुप्रयोगे ' लुङि च । २।३।४३। ' इति वधादेशः ।
तस्याकारान्तत्वादुपदेशेऽनेकाच्त्वादिणनषेधो न भवति । अतो लोपे कृते
तस्य स्थानिवद्भावात् ' अतो हलादेर्लघोः । ७।२।७। ' इति विभाषावृद्धिः
भवति ॥ २ ॥

वसूनि तोयं घनवद् व्यकारीत् सहाऽऽसनं गोत्रभिदाऽध्यवात्सीत् ।
न त्र्यम्बकादन्यमुपास्थिताऽसौ यशांसि सर्वेषुभृतां निरास्थत् ॥३॥

वसूनित्यादि—वसूनि द्रव्याणि बन्धुव्यतिरेकेण बालादिभ्यो व्यकारीदत्त-
वान्, विक्षिप्तवानिति वा । किरतेर्लुङि रूपम् । कः किमिवेत्यपेक्षायामाह—
तायं घनवदिति । तोयमुदकम् । घनो मेघः फलनिरपेक्षतया यथा विकीरति
तद्वत् । एवं सम्यक्पालनाद्भिन्द्रेण तुल्यत्वमाह—सहासनं गोत्रभिदाऽध्यवा-
त्सीदिति । गोत्रभिदेन्द्रेण सहासनमध्यवात्सीदध्युपितवान् । अनेनात्यन्तघ-

१। लुब्धान् दानेन, वृद्धान् महतो वा मानेन, दीनान् आश्रयणेन चेति यथायोगं सम्मा-
व्यम् । २ इदमारभ्य प्रायः समाप्त्यन्तामिन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोरुपजातिः, 'स्यादिन्द्रवज्र-
यदि तौ जगौ गः' इति, 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' इति, 'अनन्तरोदीरित-
लक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ।' इति तल्लक्षणात् । ३ मेघवदित्यर्थः । इ-
प्रत्युपकारापेक्षाशून्यत्वं सूचयति । ४ त्र्यम्बकमेवोपास्थितेति भावः । अनेन सनातनस्य
विष्णोराराधनमन्तरैव स्वापेक्षयाऽधिकगुणत्वमपेक्ष्य पितृत्वप्रस्थापनं सूचितम् ।

लोकस्थितये माभूलोकस्य स्थित्यतिक्रम इत्येवमर्थम् । अग्निरपि लोकस्थितये ज्वलति । यथोक्तम् 'अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥' अभिप्रणीत इत्यग्निविशेषणम् आभिमुख्येन प्रणीत इति प्रादिसमासः । 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशश्च । ८।४।१४।' इति णत्वम् । मन्त्रेणाभिमुखीकृत इत्यर्थः । यथाऽध्वरे यागोऽभिप्रणीतो वृह्निर्ज्वलति तथा राजाऽपीत्यर्थः ॥ ४ ॥

यत्रस्थो राज्यं चकार तां राजनगरीं दर्शयन्नाह—

स पुण्यकीर्तिः शतमन्युकल्पो महेन्द्रलोकप्रतिमां समृद्ध्या ।

अध्यास्त सर्वतुसुखामयोध्यामध्यासितां ब्रह्मभिरिद्धबोधैः ॥ ५ ॥

स पुण्येत्यादि—स्वामिगुणपूर्वका हि निवासस्य गुणा भवन्तीति प्रदर्शनार्थं पश्चात्तदभिधानम् । तथा चोक्तम्—'स तु यच्छीलस्तच्छीला अस्य प्रकृतयो भवन्ति ।' इति । स राजा पुण्यकीर्तिः पुण्याः पवित्राः कीर्तयो यस्य सः । शतमन्युकल्प इति प्रभावं दर्शयति । 'ईषदसमाप्तौ कल्पव्देश्यदेशीयरः । ५।३।६७।' इति कल्पम् । शतमन्युरिन्द्रः महेन्द्रलोकप्रतिमामयोध्याभिति योज्यम् । प्रतिमीयते तुल्यत इति प्रतिमा । 'आतश्चोपसर्गे । ३।३।१०६।' इत्यङ् । महेन्द्रलोकेन प्रतिमा तुल्या । 'तृतीया सप्तम्योर्वहुलम् । २।१।३०।' इति 'तृतीया' इति योगविभागात्समासः । अमरावतीमिवेत्यर्थः । कया । समृद्ध्या । सम्यगतिशयेनार्द्धिः समृद्धिः । कुगतिप्रादयः । २ । २ । १८ । १ । इति प्रादिसमासः । अध्यास्ताध्यासितवान् । भूतसामान्ये लङ् । आस्तेरनुदात्तेत्त्वात्तङ् । 'अधिशोड्स्यासां कर्म । १।४।४६ ।' इत्याधिकरणस्य कर्मसञ्ज्ञा । सुखयतीति सुखा, पचाद्यच् । सुखहेतुत्वाद्वा सुखा । सर्वेषु ऋतुषु सुखेति । 'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ । २।१।४०।' इति योगविभागात्समासः । अध्यासितामध्युषिताम् । ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैरिद्धबोधैः । सर्वशास्त्रपरिज्ञानात्पटुबुद्धिभिरित्यर्थः । इन्धेनिष्ठायामनुनासिकलोपः ॥ ५ ॥

निर्माणदक्षस्य समीहितेषु सीमेव पद्माऽऽसनकौशलस्य ।

ऊर्ध्वस्फुरद्भ्रतगभस्तिभिर्या । स्थिताऽवहस्येव पुरं मघोनः ॥ ६ ॥

तामध्यास्त । गृह इति गृहे कः । ३।१।१४४' इति कः तत्र गृहशब्दो वेश्मा
नपुंसकलिङ्गः । तत्स्थायिषु पुँल्लिङ्गो नित्यं बहुवचनान्तः ॥ ७ ॥

अन्तर्निविष्टोज्ज्वलरत्नभासो गवाक्षजालैरभिनिष्पतन्त्यः ।

हिमाऽद्रिटङ्कादिव भान्ति यस्यां गङ्गाऽम्बुपातप्रतिमां गृहेभ्यः ॥ ८

अन्तरित्यादि—अन्तर्गृहमध्ये निविष्टानि निहितान्युज्ज्वलरत्नानि या
तेषां भासो रश्मयो गृहेभ्यो गवाक्षजालैरभिनिष्पतन्त्यो निर्गच्छन्त्यो यस्
भान्ति तामध्यास्तेति योज्यम् । पर्वतस्योन्नतप्रदेशष्टङ्क इत्युच्यते । तस्माद्दि
भवत्पर्वतटङ्कादिव गङ्गाऽम्बुपातप्रतिमाः गंगाजलप्रवाहतुल्याः, स्वच्छत्वार्त्त ॥ ८

धर्म्यासु कामाऽर्थयशस्करीषु मतासु लोकेऽधिगतासु काले ।

विद्यासु विद्वानिव सोऽभिरेमे पत्नीषु राजा तिसृषूत्तमासु ॥ ९

धर्म्यास्वित्यादि—धर्मादनपेतासु । 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते । ४ । ४ । २९
इति यत् । कामार्थयशांसि कर्तुं शीलं यासां तासु । कृत्रो हेतु
ताच्छीलानुलोभ्येषु । ३।२।२०।' इति ताच्छील्ये टः । 'अतः कृकमिकंस
कुम्भपात्रकुशाकर्णोष्वनव्ययस्य । ८।३।४६।' इति विसर्जनियस्य सत्वम्
टित्त्वान्डीप् । मतासु पूजितासु लोके तासां प्रतीतत्वात् । अधिगतासु का
न्निवाहयोग्ये काले परिणीतासु । सोऽभिरेमे स राजाऽभिरतवान् । पत्नी
'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे । ४।१।३३।' इति नकारः । तिसृषु कौसल्याकैकेयीस्
मित्रासूत्तमाष्विति सन्नारीगुणैः श्रेष्ठासु । विद्यास्विति विदन्त्याभिर्धर्मा
र्माविति विद्याः 'सञ्ज्ञायां समजनिषदनिपतमनविदपुञ्जशिद्धृष्विण
। ३।३।९९' इति क्यप् । तिसृषु सामर्ग्यजुराख्यासु । धर्म्यास्वित्यादिकं तुल्यम्
विद्वानिव यथाधिगतविद्य इत्यर्थः । 'विदेः शतुर्वसुः । ७।१।३६। दीर्घः ह
ङ्ख्यादिसंयोगान्तलोपाः ॥ ९ ॥

तस्य राज्ञः पत्नीभिस्ताभिः सह रममाणस्य सुता नैवासन् । ऋष्यशृंगनाम
मुनिः पुत्रीयं ऋतुं जानातीति पुरोधसो त्रिशठादुपश्रुत्य राज्ञा वारविला
सिनीभिरानायितो मुनिरित्येतत्कथयितुमाह—

पुत्रीयता तेन वराऽङ्गनाभिरानायि विद्वान् ऋतुषु क्रियावान् ।

विपक्त्रिमज्ञानगतिर्मनस्वी मान्यो मुनिः स्वां पुरमृष्यशृङ्गः ॥ १०।

१ अत्रोपमाऽलङ्कारः । २ अत्रोत्प्रेक्षा । ३ अत्रोपमा । ४ अत्रोपमा । ५ इदं न केवलं
ऋतुषु तस्य क्रियावत्त्वं, किं तु कर्मान्तरेऽपि तद्विहितं सूचयति ।

वृत्तिपृ इट् सिचो लोपः । भूतगणान् राक्षासादिगणान् । उदेजयानुत्कम्पा-
 तस्मिन्नेव सूत्र उत्पूर्व एजिर्ण्यन्तो निर्दिष्टः । तस्मादुदेजयतीति शः । तान्य
 षेधीदुत्सादितवान् । षिधेः 'नेटि । ७ । २ । ४ । १' इति हलन्तलक्षणाया
 प्रतिषेधः । विद्वान्पौरोहित्यकर्माणि कुशलः । उपानेष्ट च तान् रामादीन्
 तेषामुपनयनादिक्रियां चकार । 'सन्माननोत्सनञ्जाचार्यकरणज्ञानभृति
 विगणनव्ययेषु नियः । १ । ३ । ३६ ।' इत्याचार्यकरणे तङ् । स्वकाल ई
 'गर्भादेकादशे वर्षे जातस्य गर्भैकादशे' इत्यादिना वचनेन उपनयनका
 उक्तः । यमनियमेषु यतत इति यतिः । 'सर्वधातुभ्य इन्' इति इन् । 'अर्हिस्
 सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्मषम्' इति पञ्च यमा येषां सन्तीति यमिनः स्मृताः
 तेषां वरिष्ठ उत्तमः । 'प्रियस्थिरस्फिरोरुवहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाण
 अस्थस्कवर्याहिर्गार्वाषिर्त्रपूद्राघिवृन्दाः । ६ । ४ । १५७ ।' इत्युरुशब्दस्य वर
 देशो महत्पर्यायस्य । वशिष्ठः ॥ १५ ॥

वेदोऽङ्गवांस्तैरखिलोऽध्यगायि शस्त्राण्युपायंसत जित्वराणि ।

ते भिन्न-वृत्तीन्यपि मानसानि समं जनानां गुणिनोऽध्यवात्सुः ॥ १६

वेद इत्यादि—'शिक्षा कल्पो व्याकरणं छन्दोविवृतिर्निरुक्तं ज्योतिषं च' इ
 षडङ्गानि शास्त्राणि तानि विद्यन्ते यस्य वेदस्येत्यङ्गवान् । तैरुपनीतै रामादि
 भिः । अखिलो निश्शेषो वेदोऽध्यगायि । अधीत इत्यर्थः । इडोऽधिपूर्वात्कर्म
 लुङि 'विभाषा लुङ्लडोः । २ । ४ । ५० ।' इति गाढादेशः । चिण् युक् तलु
 शस्त्राणि धनुरादीनि जित्वराणि जयशीलानि । 'इण् नश्चिर्त्तभ्यः करप् । ३ ।
 १६३ ।' इति करप् । तैरुपायंसत स्वीकृतानि । उपपूर्वो यमिः स्वीकर
 वर्तते । तस्मात्कर्माणि लुङ् । 'आत्मनेपदेषु । ७ । १ । ५ । इत्यदादेशः । 'ह
 सिच् । १ । २ । १४ ।' इति ज्ञापकादनुनासिकलोपाभावः । ततस्ते रामाद्य
 गुणिनो मानसानि मनांसि । प्रज्ञादित्वात्स्वार्थे णः । भिन्नवृत्तीनि नानावि
 धप्रवृत्तीनि विषयेषु तानि मानसान्यपि जनानां समं साधारणम् । क्रिया-
 विशेषणम् । अध्यवात्सुरध्युषितवन्तः । अधिपूर्वाद्धिसेः सिचि 'वद्व्रजहल-
 न्तस्या चः । ७ । २ । ३ ।' इति वृद्धिः । 'सः स्याद्धधातुके । ७ । ४ । ४९ ।'
 इति तत्वम् । 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च । ३ । ४ । १०९ । इति जुस् । उपानु-
 ध्याङ्वसः । १ । ४ । ४८ ।' इत्यधिकरणस्य कर्मसंज्ञा ॥ १६ ॥

१ अनेन वशिष्ठस्य पुरो हिताधायित्वं सूचितम् । २ स्वयमभिन्नवृत्तित्वेन सम-
 ष्यवात्सुरिति सूचयितुमप्युपनिवेशः ।

हलन्तस्याचः । ७ । २ । ३ ।' इति वृद्धिः । 'धै चिन्तायाम्' भावे ल्युट्
ध्यानम् ॥ १८ ॥

आख्यन् मुनिस्तस्य शिवं समाधेर्विघ्नन्ति रक्षांसि वने क्रतुंश्च ।
तानि द्विषद्वीर्यानिराकरिष्णुस्तृणेढु रामः सह लक्ष्मणेन ॥ १९ ॥

आख्यदित्यादि—पृष्ठो मुनिस्तस्य समाधेर्ध्यानस्य शिवमनुपद्रवमाख्य
कथितवान् । 'चक्षिडः ख्याल् । २ । ४ । ५४ ।' 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्यो
ऽङ् ३ । १ । ५२ ।' इति च्लेरङ् । आतो लोपः । किन्त्वयं दोषः—विघ्ननि
रक्षांसि वने क्रतून् । 'गमहनजनखनघसां लोपः किडत्यनङि । ६ । ४ । ९८ ।
इत्युपधालोपः । 'हो हन्तेऽङ्गिन्नेषु । ७ । ३ । ५४ ।' इति कुत्वम् । किं क्रियता
मिति चेदाह—तानि रक्षांसि । द्विषतां वीर्यं सामर्थ्यम् । वीरेः स्वार्थिकण्यन्तात्
'अचो यत् । ३ । १ । ९७ ।' इति यत् । तस्य निराकरिष्णुः निराकरण-
शीलः । 'अलंकृच्चनिराकृञ्प्रजनोत्पचोत्पतोन्मदरुच्यपत्रपवृत्वृधुसहचर
इष्णुच् । ३ । २ । १३६ ।' इतीष्णुच् तृणेढु हिनस्तु । तृहोर्विधौ लोट ।
'एरुः । ३ । ४ । ८६ ।' रूधादित्वात् श्रम् । 'तृणह इम् । ७ । ३ । ९२ ।' होढः ।
८ । २ । ३१ ।' ष्टुत्वम् । 'ढो ढे लोपः । ८ । ३ । १३ ।' इति ढलोपः ।
सह लक्ष्मणेन लक्ष्मणेन सह ॥ १९ ॥

स शुश्रुवांस्तद्वचनं भुमोह राजाऽसहिष्णुः सुतविप्रयोगम् ।

अहंयुनाऽथ क्षितिपः शुभंयुरूचे वचस्तापसकुञ्जरेण ॥ २० ॥

स इत्यादि—स राजा तस्य मुनेस्तद्वचनं शुश्रुवान् श्रुतवान् सन् सुतविप्र-
यागमसहिष्णुरसहनशीलो भुमोह मोहमुपगतः । शृणोतिः 'भापायां सद्वसः
श्रुवः । ३ । २ । १०८ ।' इत्यनेन क्रमुः । सुतेन विप्रयोगमिति 'कर्तृकरणे कृता
बहुलम् । २ । १ । ३२ ।' इति समासः । 'न लोकान्ययनिष्ठा— । २ । ३ । ६९ ।' इति
षष्ठ्याः प्रातिपेधः । अथानन्तरम् । अहंयुना अहंकारवता । 'अहंशुभमार्युस्
। ५ । २ । १४० ।' इति र्युस् । तापसकुञ्जरेण 'तपःसहस्राभ्यां विनीनी । ५ । २ । १०२ ।'
इत्यनुवर्तमाने 'अण् च । ४ । २ । १०३ ।' इति मत्वर्थेऽण् । तापसश्च स कुञ्जरश्चेति ।

१ लक्ष्मणेन सह रामस्तृणेढु इत्याख्या, इत्याख्यादित्यन्वयः इत्यध्याहार्यम् । २
तद्वचनश्रवणमात्रेण मूर्धित आसीदित्यत्र हेतुः सुतविप्रयोगसहिष्णुत्वमिति परि-
करोऽत्रालङ्कारः ।

‘मृन्दारकनागकुञ्जरः पूज्यमानम् । २।१।६२।’ इति समासः तेन (तादृशेन)
क्षतिपो राजा । शुभंयुः कल्याणवान् । पूर्ववचुस् । वचो वक्ष्यमाणमूचे उक्तः
कर्मणि लिट् सम्प्रसारणम् । “अहंयुनाथः” इति विसर्गान्तं पाठान्तरम् । तत्र
महंयुनां क्षत्रियाणां नाथ इति योज्यम् ॥ २० ॥

मया त्वमाप्याः शरणं भयेषु वयं त्वयाऽप्याप्समहि धर्मवृद्धयै ।

क्षात्रं द्विजत्वं च परस्पराऽर्थं शङ्कांकृथा मा प्रहिणु स्वसूनुम् ॥ २१ ॥

मयेत्यादि—भयेषु त्वं शरणम् आप्याः प्राप्तोऽसि मया । आपेः कर्मणि
लुङ् । सिञ्जलोपः । त्वयापि धर्मवृद्धयै धर्मोपचयाय वयमाप्समहि प्राप्ताः ।
पूर्ववत्लुङ्गादि । उत्तमवहुवचनम् । सिचो लोपाभावः । मकारस्याञ्जलत्वात्
वदित्यं क्षात्रं द्विजत्वं च धर्मवृद्धयै परस्परार्थम् अन्योन्यप्रयोजनम् । ‘कर्मव्यति-
हारं सर्वनाम्ना द्वे भवतः । ‘समासवच्च बहुलम्’ इति यदा न समासवत्
तदायम् । तस्मान्मा शङ्कां कृथाः माकार्पाः । कथमास्मिन् संकटे पुत्रं नियोज-
यामीति । ‘माङ्ङि लुङ् । १।३।१७५’ अहभावः । ‘उश्च । १।२।१२’ इति
किञ्चाद्गुणाभावः । ‘ह्रस्वादङ्गात् । ८।२।२७’ इति सिचो लोपः प्रहिणु
प्रेषय । स्वं पुत्रम् । हिनांतेः प्रार्थनायां लोट् । श्नुः । अपित्वात् ङित्त्वम् ।
गुणाभावः । ‘उत्तश्च प्रत्ययान् । ६।४।१०४।’ इति हेर्लुक् ‘हिनुमीना
। ८।४।१५।’ इति णत्वम् ॥ २१ ॥

घानिष्यते तेन महान् विपक्षः स्थायिष्यते येन रणे पुरस्तात् ।

मा मां महाऽऽत्मन् परिभूयोग्ये न मद्विधो न्यस्यति भारमद्भ्यम् ॥ २२ ॥

घानीत्यादि—अनागतमर्थं ज्ञानेन समीक्ष्याह—महान्विपक्षो रावणः त्रैलोक्य-
नयपिजयित्वात् । सोऽपि तेन रामेण घानिष्यते किमुतेतरे राक्षसाः । हन्तेः
कर्मणि लट् । ‘ह्रसिच्सीयुट्तासिपु भावकर्मणोरुपदेशोऽञ्जनग्रहदृशां वा
चिष्वादिद् च । ६।४।६२।’ इति चिष्वादिद् उपधावृद्धिः । ‘हो हन्तेः—७।३।५४।’
इति कुत्सन् । पुरस्ताद्भ्रतो यद्गणं युद्धं भावि परशुरामेण सार्धमिति भावः ।

१ अत एव ‘स्तुरत्तरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जराः’ इति सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि
रेष्टार्थगोचराः ।’ इति चामरः सङ्गच्छते । २ एतेन स्वाभाविकमहङ्कारित्वं सूचितम् ।
३ अत एव भगवताऽपि गीतायाम् ‘ परस्परम्भावयन्तः श्रेयः परमवाप्त्यथ ।’
इत्युच्यते । ४ एवमन्त्याने सशोकेन न त्वया भवितव्यमिति सूचयितुम् महाऽऽत्मन्
इत्युक्तम् । न हि महात्मानः सहसा तथा क्षुभ्यन्तीति भावः ।

तत्र येन स्थायिष्यते तेन घानिष्यत इति योज्यम् । अत्र तिष्ठतेर्भावे लट् चिष्वदिङ्वा । 'आतो युक् । ७।३।३३।' इति युक् हे महात्मन् महासत्मा मां परिभूर्मावज्ञासीः । किमेवं वदसीति । परिपूर्वा भवतिर्निराकरणे क्तमद्विध इति विधानं विधा प्रकारः 'आतश्चोपसर्गे । ३।३।१०६।' इत्यङ् विधा भेदः सादृश्यं च । इह सादृश्यं गृह्यते मया विधा सादृश्यं यस्ये मद्विधः । 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च ७ । २ । ९८।' इति मदादेशः । मद्विधो मत्तदृशोऽन्यो न भारमग्र्यम् 'अग्राद्यत् । ४ । ४ । ११६।' अयोग्ये असमन्यस्याति निक्षिपति । किमहं येनानागतं समीक्षितमिति भावः । योगप्रभवति योग्यः 'योगाद्यच्च । ५ । १ । १०२ । ॥ २२ ॥

क्लुध्यन् कुलं धक्षयति विप्रवह्निर्यास्यन् सुतस्तप्स्यति मां समन्युः । इत्थं नृपः पूर्वमवाल्लोचे ततोऽनुजज्ञे गमनं सुतस्यै ॥ २३

क्लुध्यन्नित्यादि—यद्यहं भूतरक्षणेऽधिकृतोऽस्य वचनं न कुर्या तदा क्लुप्त्सन् । दिवादित्वात् श्यन् । विप्रो वह्निरिव । 'उपमितं व्याघ्रादि सामान्याप्रयोगे २।१।५६।' इति समासः । धक्षयति कुलं भस्मसात्कारिष्यति दहेर्लट् 'दादेः-८।२।३२।' इति घः । भषमावः । चर्त्वम् । घकारस्य ककार 'इण्कोः । ८।३।५७।' इति षत्वम् यास्यन्गमिष्यन्सुतो मां समन्युं सशतप्त्यति सन्तापयिष्यति । तपेर्लट् ॥ इत्थमेवंप्रकारं नृपः पूर्वमादाववाल्लोचेऽवल्लोचितवान् । अवाङ्पूर्वाल्लोचेर्लिट् तत उत्तरकालं सुतस्य गममनुजज्ञे । अनुज्ञातं नृपेणेति विभक्तिविपरिणामेन तेनेति योज्यम् । कर्मलिट् । 'ज्ञा अववोधने' इति परस्मैपदित्वात् । नचानुपूर्वादस्मादात्मनेविहितम् ॥ २३ ॥

आशीर्भिरभ्यर्च्य मुनिः क्षितीन्द्रं प्रीतः प्रतस्थे पुनराश्रमाय तं पृष्ठतः प्रष्टमियाय नम्रो हिंस्त्रेपुदीप्ताऽऽधनुः कुमारः ॥ २४ ॥

१ कुलदाहोपेक्षया वियोगतापस्याल्पकष्टदत्वात् । २ रामस्य । लक्ष्मणस्य तु गतद्गमननेवै । अत एव 'सह लक्ष्मणेन' इति निर्दिशता मुनिना तद्गमप्रधान्यं प्रथमत एव सूचितम् । न हि लक्ष्मणो रामेण वियुज्य स्थातुं क्षमत इति निश्चयश्चात्र हेतुः । अत एवं तं 'पृष्ठतः' इत्यादि च वक्ष्यति । ३ अत्र बहुवचनं सर्वाभिलषितपूर्त्तं सूचयति । ४ प्रार्थनाभावेऽपि तथाऽऽशिषां प्रयोग एवाभ्यनम् एतेन सुतगमनानुज्ञानस्य सद्यो महाफलत्वं सूचितम् ।

आशीर्भरित्यादि—रामगमनस्यानुज्ञातत्वात् प्रीतो मुनिः क्षितीन्द्रं राजान-
माशीर्भरभ्यर्च्य पूजयित्वा । आङ्गः शासेः किप्युपसंख्यानात् उपधाया इत्वम् ।
प्रत्यये पुनराश्रमाय—आश्रमं पुनः प्रस्थितवान् । तिष्ठतेः । 'समवप्रविभ्यः स्थः
।१।३।२२।' इति लिटि तङ् । प्रष्टम् अत्रयाचिनं तं 'प्रष्टोऽप्रगामिनि ।८।३।९२।' इति
इति पञ्चम् । पृष्टतः पश्चात् इयाय कुमारः । इणो णलि वृद्धिरायादेशः 'द्विर्व-
चनेऽचि ।१।१।५९।' इति स्थानिवद्भावाद् द्विर्वचनमिकारस्य । 'अभ्यासस्याऽ-
सवर्णे ।६।१।७८।' इतीयङ् । नम्रोऽनुकूलः । हिंसनशीला इपवः शराः हिंसे-
पवः । आम्रमविसंवादि यद्धनुस्तन् । हिंसेषु दीप्तमाप्तं धनुर्ग्रस्य कुमारस्येति
विग्रहः । अत्र 'धनुपश्च ।५।१।१३२।' इत्यनङ् न भवति 'समासान्तविधिर-
नित्यः' इति । दीप्रास्त्रधनुरिति पाठान्तरम् । दीप्रमस्त्रं धृष्टतया यस्य धनुष-
स्तदीप्रास्त्रं धनुर्ग्रयेति सः कस्मिन्विषये हिंसेषु नान्येषु । नम्रादयो नमि-
कम्पिरम्वजसकमर्हिसदीपो रः ।३।२।१६७।' इति रप्रत्ययान्ताः ॥ २४ ॥

प्रयास्यतः पुण्यवनाय जिष्णो रामस्य रोचिष्णुमुखस्य धृष्णुः ।

त्रैमातुरः कृत्स्नजिताऽस्त्रशस्त्रः सध्वङ् रतः श्रेयसि लक्ष्मणोऽभूत् २५

प्रयास्यत इत्यादि—प्रयास्यतो गमिष्यतो रामस्य लक्ष्मणः सध्वङ् अभूत्
सहायीभूतः । 'सहाञ्चति इति क्विन् अनुषङ्गलोपः' 'उगिदचां सर्वनामस्थाने
धातोः ।७।१।७०।' इति नुम् । हल्ङ्घादिसंयोगान्तलोपौ 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः ।८।२
६२।' इति कुत्वम् नकारस्य ङकारः । 'सहस्य सध्रिः ।६।३।५।' इति सध्या-
देशः । पुण्यवनाय पुण्यहेतुत्वात्पुण्यं वनम् । गत्यर्थात् कर्मणि चतुर्थी जिष्णोः
जयशीलस्ये 'ग्ल-जि-स्थश्चग्लुः ।३।२।१३९।' इति ग्लुः । रोचिष्णु रोचन-
शीलं मुखं यस्य तस्य रामस्य पितुराज्ञया तुष्टत्वात् । अलंकृन्निराकृन्प्रजनो-
त्पचोत्पतोन्मदरुच्यपत्रपवृत्तुवृधुसहचर इष्णुच् ।३।२।१३६।' इतीष्णुच् । धृष्णुः
शत्रुविध्वंसने प्रगल्भः । 'त्रसिगृविधृषिषिपेः क्तुः ।३।२।१४०।' इति क्तुः ।
त्रैमातुरः तिनृणां मातृणामपत्यमिति तादृशार्थाविषये समासः । पश्चात् 'मातुरुत्स-
स्रयासन्भद्रपूर्वायाः ।४।१।११५।' इत्यण् उत्वं च । 'द्विगोर्लुगनपत्ये ।४।१।८८।' इति लुक् न भवति । स हि पिण्डद्वयप्राशनात्ताभ्यां च जनितः अस्त्रं च शस्त्रं
चेति द्वन्द्वः । कृत्स्नं समग्रं जितमाधिगतमस्त्रशस्त्रं येनेति विग्रहः । रतः

१ 'यः सहाञ्चति सध्वङ् सः' इत्यमरः । २ जेतां जिष्णुश्च जित्वरः' इत्यमरः ।

३ 'विभाट् भाजिष्णुरोचिष्णु' इत्यमरः । ४ 'दृष्टे धृष्णुर्विधातश्च' इत्यमरः ।

५ ज्ञाप्यन्तनामकञ्ज्ञेता इत्याभिप्रायः ।

श्रेयसि कल्याणे । 'प्रकृत्यैकाच् ॥६१॥१६३॥' प्रशस्यस्य श्रः ॥५॥३॥६०॥' इति
श्रः लक्ष्मीरित्यौणादिकः । लक्ष्मेर्मुद् ईप्रत्ययश्च । सा यस्य विद्यत इति लक्ष्मणः ।
लोमादिषु 'लक्ष्म्या अच्च' इति न प्रत्ययः अत्वं च ॥ २५ ॥

इषुमति रघुसिंहे दन्दशूकाच् जिघांसौ
धनुरारिभिरसह्यं मुष्टिपीडं दधाने ।

व्रजति पुरतरुण्यो बद्धचित्राऽङ्गुलित्रे

कथमपि गुरुशोकान् मा रुदन् माङ्गलिक्यः ॥ २६ ॥

इषुमतीत्यादि--रघुसिंहे रामे रघुपु रघुवंशभवेपु सिंह इव शौर्यादि-
योगात् । व्रजति सति । इषुमति सनिषङ्गे । प्रशंसायां मतुप् । तदुक्तं कौमुद्य
'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशयने । संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति म
तुवादयः ।' इति दन्दशूकान् हिंस्रान् । दंशे 'लुपसदचरजपजभदहदशगृभ्यं
भावगर्हायाम् ॥३१॥२४॥' इति यङ् । 'जपजभदहदशभञ्जपशां च' इत्यभ्या-
सस्य नुक् । तदन्तात् 'यजजपदशां यङः ॥३२॥१६६॥' इत्यकः । 'अते
लोपः ॥६१॥४८॥' इत्यतो लोपः 'यस्य हलः । ६ । ४ । ४९॥' । इति यलोपः
जिघांसौ हन्तुमिच्छौ । 'अञ्जन गमां सनि ॥६१॥१६॥' इति दीर्घः । 'अभ्यासाच्च
गमांसनि ॥७३॥५५॥' इति कुत्वम् 'सनाशंस मिक्षडः ॥३२॥१६८॥' इति उः
'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थवृत्ताम् ॥२१॥३६९॥' इति पठिप्रतिषेधात् द्वितीयैव
धनुर्दधाने विभ्राणे अरिभिरसह्यं सोढुमशक्यम् । 'शकिसहोश्च ॥३१॥९९॥'
इति यत् । मुष्टिपीडं मुष्टिना पीडयित्वा । मुष्टिशब्दे तृतीयान्ते उपपदे 'सप्तम्यां
चोपपीडरुधकर्पः ॥३१॥४९॥' इति णमुल् । तत्र चकारेण तृतीयानुर्कर्मणात् ।
वद्धं चित्रमङ्गुलित्रं येन । अङ्गुलिं त्रायत इति कः । पुरे तरुण्यः पुरतरुण्यः ।
'नञ्स्नञ्जीककृख्युंस्तरुणतलुनानामुपसङ्ख्यातम्' इति डीप् । यदि तद्वचोऽ-
र्थवन् । नो चेद्वैरादिपाठात् डीप् । रामो गत इति गुरुः शोको
यासां ताः । कथमपि मा रुदन् न रुदितवत्यः । रुदेः 'इरितो
वा ॥३१॥५७॥' इति च्लेरङ् । यतो माङ्गलिक्यः मंगलप्रयोजनाः ।
तदस्येत्यनुवृत्तौ 'प्रयोजनम् ॥५१॥१०९॥' इति ठञ् 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्दन्नञ्
मात्रच्तयवृठञ्कञ्करपः । ४ । १ । १५ ।' इति डीर्प् ॥ २६ ॥

अथ जगद्गुरनीचैराशिषस्तस्य विप्रा-
स्तुमुलकलनिनादं तूर्यमाजघ्नुरन्ये ।
अभिमतफलशंसी चारु पुस्फोर बाहु-
रतमपु चुकुवुरुच्चैः पक्षिणश्चाऽनुकूलाः ॥ २७ ॥

अधेन्यादि-तस्य रामस्य व्रजतो विप्रा अनीचैर्महता ध्वनिनाऽऽशिष इष्टव-
तानि जगद्गुरादितवन्तः । अन्ये वादकास्तूर्य कांस्यतालपटहादिसमूहमाजघ्नु-
ण्डितवन्तः । 'आडो यमहनः । १ । ३ । २८ ।' इत्यात्मनेपदं न भवति ।
कर्मकौदित्यनुवर्तते । तुमुलो महान्कलो मधुरो निनादो ध्वनिर्यस्येति ।
अभिमतमिष्टं फलं शंसितुं शीलं यस्य बाहोः स चारु पुस्फोर सुतरां स्फुरित-
वत् । अत्र दक्षिणो बाहुः सामर्थ्याद्गम्यते स्वाङ्गत्वात् । अनेन सीताप्राप्तिवी-
पन्यरतम् । स्फुरतेरभ्यासस्य 'शर्पूर्वाः खयः । ७ । ४ । ६१ ।' इति खयः
ः । चत्वंम् । पक्षिणश्च तरुषु स्थिता अनुकूलाः सन्त उच्चैः सुष्ठु चुकुवुः
जतवन्तः । 'कु शब्दे' इत्यस्य लिटः कित्त्वाद्बुवडादेशः । २७ ॥

इति श्री-जयमङ्गलधिरचितया जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्याया समलंकृते
श्री-भट्टिप्रणीते रामचरिते काव्ये प्रथमे प्रकीर्ण-काण्डे लक्षण-रूपे
प्रथमो वर्गः । लक्ष्य-रूपे कथानके श्रीराम-संभवो नाम सर्गश्च ।

द्वितीयः सर्गः ।

इदानीं विजिगीषूणां कण्टकान् समुद्धर्तुं शरत्काले समुद्योग इति तमेव
यज्ञात्—

धनस्पतीनां सरसां नदीनां तेजस्विनां कान्तिभृतां दिशां च ।
निर्याय तस्याः स पुरः समन्ताच्छ्रियं दधानां शरदं ददर्श ॥ १ ॥
धनस्पतीनामित्यादि-स रामः । तस्याः प्रसिद्धायाः प्रकृतायाश्च पुरः अयोध्याया
र्याय निर्गम्य । समन्तात् सर्वतः शरदं ददर्श दृष्टवान् । कालस्याप्रत्यक्षत्वात्
र्याणां दर्शनात्तद्दर्शनमिति मन्यते । श्रियं दधानां धारयन्तीम् । केषां श्रियम्-
स्पतीनाम् । पारस्करादिदर्शनान् सुट् । अत्र लोकप्रतीत्या वृक्षां द्रष्टव्याः । न तु

एवं च शुभान्तरमापि भावीति सूचितम् । २ सर्गेऽस्मिन् प्राय उपजातिश्छन्दः,
सर्गं चोक्तं प्राक् । ३ सर्वे वृक्षा इत्यर्थः । न तु वृक्षविशेषा इत्यभिप्रायः । एतेन
सर्वतः सर्वे वृक्षात् नैरपुःसाद्वनस्त्रयिः । इति पारिभाषिकाणां वृक्षविशेषाणां
उत्पेदः ।

पारिभाषिकाः । तथा सरसां तडागानां नदीनां गङ्गादीनां तेजस्विनां चन्द्रतारा
दीनां क्रान्तिं नैर्मल्यं विभ्रतां दिशां च । तदा हि निर्मला दिशो भवन्ति
वनस्पत्यादीनां श्रियं दधानां शरदं ददर्श ॥ १ ॥

तां रामव्यापारं विना सामान्येन वर्णयन्नाह-

तरङ्गसङ्गाञ्चपलैः पलाशैर्ज्वालाश्रियं साऽतिशयां दधन्ति ।

सधूमदीप्ताऽग्निरुचीनि रेजुस्ताम्रोत्पलान्याकुलषट्पदानि ॥ २ ॥

तरङ्गेत्यादि-तरङ्गसङ्गात् सलिलोर्मिसम्पर्काच्चपलैः चञ्चलैः पलाशैः पत्रैः
ज्वालाश्रियं सातिशयां दधन्ति । सधूमदीप्ताग्निरुचीनि सधूमदीप्ताग्नेरिव रुचि-
र्येषां रक्तोत्पलानां तानि रेजुः दीप्यन्ते स्म । राजर्लेटि 'फणां च सप्तानाम्
६ । ४ । १२५ ।' इति एत्वाभ्यासलोपौ । आकुलाः इतस्ततो यायिनः पट्प-
दा येष्विति । चलितपत्राणामग्निशिखातुल्यत्वात् पट्पदानां च धूमतुल्यत्वात्
सधूमदीप्ताग्निरुचीनीत्युक्तम् ॥ २ ॥

विम्बाऽऽगतैस्तीरवनैः समृद्धिं निजां विलोक्याऽपहतां पयोभिः ।

कूलानि साऽमर्षतयेव तेनुः सरोजलक्ष्मीं स्थलपद्महासैः ॥ ३ ॥

विम्बेत्यादि-विम्बं प्रतिविम्बं तेनागतैर्निपतितैरिति, तृतीयेति योगवि-
भागान् समासः । तीरवनैः कुसुमितैरित्यर्थात् । तैः करणभूतैः । पयोभिः कर्तृ-
भिः समृद्धिं विभूतिं निजाःमात्मीयाम् अपहतां विलोक्य कूलानि कर्तृभूतानि
सामर्षतयेव साक्षमतयेव सरोजलक्ष्मीं कमलशोभां पयःसम्बन्धिनीं तेनुः विस्ता-
रितवान्ति । 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादौर्लेटि ६।४।१२०।' इत्येत्वाभ्यासलोपौ ।
कूले सरोजासम्भव इति चेदाह-स्थलपद्महासैरिति स्थलकमलविकासैरित्यर्थः ॥३॥

निशातुषारैर्नयनाऽम्बुकल्पैः पत्रान्तपर्यागलदच्छविन्दुः ।

उपारुरोदेव नदत्पतङ्गः कुमुद्वतीं तीरतरुर्दिनाऽऽदौ ॥ ४ ॥

निशेत्यादि-निशायां तुषारैः हिमैः । नयनाम्बुकल्पैः अश्रुतुल्यैः । नयना-
नुकारिषु पत्रेषु स्थितन्वान् । तैर्हेतुभूतैः पत्रान्तपर्यागलदच्छविन्दुः । पत्रान्ता-
त्पर्यागलन्तः अच्छास्तुषारविन्दवो यस्य तीरतरोः । स दिनादीं दिनारम्भे
कुमुद्वतीमुपारुरोदेव आक्रन्दितवानिव भाति शशिविद्योगादीदृशी त्वं भूता-
सीति । रोदनक्रियया आक्रन्दनविशिष्टया कुमुद्वत्या ईप्सिततमत्वात् रुदिः सक-
र्मकः । तदाक्रन्दनं योजयन्नाह-नदत्पतंग इति कूजत्पक्षीत्यर्थः । 'पतेरंगच

पश्चिणिः इत्याणादिकः । कुमुद्वती 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मत्तुप् ॥१२॥८७॥' इति
 द्मत्तुप् । 'अयः ॥८२॥१०॥' इति वत्वम् । उगित्वात् डीर्षू ॥ ४ ॥

वनानि तोयानि च नेत्रकल्पैः पुष्पैः सरोजैश्च निलीनभृङ्गैः ।

परस्परां विस्मयवन्ति लक्ष्मीमालोकयाश्चकुरिवाऽऽदरेण ॥ ५ ॥

वनानान्यादि-वनानि पुष्पानिलीनभृङ्गः स्थितभ्रमरैः । लीयतेः 'स्वादय'
 आदिनः ॥२॥८४५॥' इति निष्ठानत्वम् । नेत्रकल्पैः नेत्रतुल्यैः । तोयानि च
 सरोजैः निलीनभृङ्गनेत्रकल्पैः । विस्मयवन्ति जातविस्मयानि । परस्पराभ्यो-
 न्यग्य . लक्ष्मीं शोभाम् आलोकयाश्चकुरिव । आदरेण तात्पर्येण ॥ ५ ॥

प्रभातवाताऽऽहतिकम्पिताऽऽकृतिः कुमुद्वतीरेणुपिशङ्गविग्रहम् ।

निरास भृङ्गं कुपितेव पद्मिनी न मानिनी संसहतेऽन्यसङ्गमम् ॥ ६ ॥

प्रभातेत्यदि-प्रभाते यो वातस्तत्याघातेन कम्पिता चालिता आकृति
 राकारो यस्याः पद्मिन्याः सा भृङ्गं निरास निरस्तवती । कुमुद्वतीरेणुना पिशङ्गः
 कपिधः विग्रहो यस्य भृङ्गस्य । कुपितेव । यथा अन्यया स्त्रिया सहोषितं
 तद्वत्संप्रान्तपरिमलकण्ठमालमात्मदयितं काचित् कुपिता निरस्यति तद्वत् । सा
 किमिति निरस्यति-यतो मानिनी मानवती अन्यसंगमम् अन्यया सह संगमं
 न सहते । आत्मसंगादन्यसंगमं न संसहते न क्षमते ॥ ६ ॥

दत्ताऽवधानं मधुलेहिगीतौ प्रशान्तचेष्टं हरिणं जिघांसुः ।

आकर्णयन्नुत्सुकहंसनादान् लक्ष्ये समार्धिन दधे मृगावित् ॥ ७ ॥

दत्तेत्यादि-मधुलेहिगीताविति मधु लेटुं शीलमेपामिति णिञिः । मधुलेहिगी-
 ताविति पाठान्तरम्, तत्र लिहन्तीति लेहाः पचाद्यच् । मधुनो लेहा इति पष्ठीस-
 मानः । मधु लिहन्तीति वा कर्मण्यण् । दत्तावधानं दत्तमानसं हरिणं प्रशान्त-
 चेष्टं जिघांसुः हन्तुमिच्छुरपि मृगावित् व्याधः । मृगान्विध्यतीति क्विप् । ग्रहि-
 ष्यावधिप्रथिविष्येति चतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिते च ६।१।१६। इति सम्प्र-

१ अत्र पतङ्गानां नाद एवोपारोदनमिति बोध्यम् । दिनादावित्यनेन 'पतङ्गौ
 पक्षिसूर्यौ च' इत्यमरोक्त्या पक्षिसूर्योभयवाचकपतङ्गशब्दन्यासेन च तीरतरौः
 पतङ्गनदनमेवोपारोदनमिव जातमिति तु सूच्यत एव, किं तु सूर्यो दिने कुमुद्व-
 तीमप्राप्य तथा रौदिनि तथा तेन समं तां प्राप्नुमिच्छन्नपि देशभेदेनाप्राप्य रुदि-
 त्तयानिव तथा प्रनीयत इत्यपि ध्वन्यते । २ अत्र सहोक्तिरभिव्यज्यते, समु-
 रस्य इत्येसा चालङ्कारौ । ३ अत्र वंशस्थविलं छन्दः 'वदन्ति वंशस्थविलं जतौ जरी
 इति तरङ्गगात् ।

सारणम् । 'निहृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिपु कौ । ६।३।११६ ।' इति दीर्घः । लक्ष्ये वध्ये समाधिं चित्तैकाग्रतां न दधे न धारितवान् । वित्त्वात्तड् । लिट् कित्त्वे आतो लोपः । उत्सुकानां हंसानां नादानाकर्णयन् शृण्वन् तत्राभिरतचित्कत्वात् । वर्तमानकालो भूतेनाभिसम्बध्यमानः साधुः । 'धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः । ३।४।१।' इति च । आकर्णयन्निति 'प्रातिपदिकाद्भात्वर्थे बहुलम् इति णिच् । 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः । ३।२।१२६।' इति शतप्रत्ययः ॥ ७ ॥

गिरैर्नितम्बे मरुता विभिन्नं तोयाऽवशेषेण हिमाऽऽभमभ्रम् । सरिन्मुखांभ्युच्चयमादधानं शैलाधिपस्यानुचकार लक्ष्मीम् ॥ ८ ॥

गिरेरित्यादि—गिरेः कस्यचित् नितम्बे मध्यभागे स्थितमभ्रं कर्तुं, मरुत विभिन्नं विह्वलीकृतं तोयावशेषेण पयसोऽवशिष्टतया हिमामं हिमसदृशं सरिन्मुखानां गिरिनदीनिर्गमाणामभ्युच्चयं वृद्धिम् आदधानं कुर्वाणं शैलाधिपस हिमवतः लक्ष्मीं शोभामनुचकार अनुकृतवर्तुं ॥ ८ ॥

गर्जन् हरिः साऽम्भसि शैलकुञ्जे प्रतिध्वनीनात्मकृतान् निशम्य ॥

क्रमं ववन्ध क्रमितुं सकोपः प्रतर्कयन्नन्यमृगेन्द्रनादान् ॥ ९ ॥

गर्जन्नित्यादि—हरिः सिंहः गर्जन् शब्दं कुर्वन् । क शैलनिकुञ्जे गिरेर्गहने । साम्भसि ससलिले । एवंविधे प्रदेशे प्रतिध्वनीन् प्रतिशब्दान् आत्मकृतान् निशम्य श्रुत्वा सकोपः सरोपः क्रमं ववन्ध क्रमितुमुत्पतितुं यत् सामर्थ्यं तत्रकारेत्यर्थः । अनेकार्थत्वाद्भातूनां बन्धिरत्र करणे वर्तते किमिति प्रतर्कयन्नन्यमृगेन्द्रनादान् ॥ ९ ॥

इदानीं रामव्यापारेण वर्णयन्नाह—

अदृक्षताम्भांसि नवोत्पलानि रुतानि चाऽश्रोपत पट्पदानाम् ।

आघ्राथि वान् गन्धवहः सुगन्धस्तेनाऽरविन्दव्यतिपद्गवांश्च ॥ १० ॥

अदृक्षतेत्यादि—नवान्युत्पलानि येष्वम्भस्सु जलेषु तानि रामेणादृक्षत दृष्टानि । दृशेः कर्मणि लुङ् । 'शल इगुपधादन्टिक्कसः । ३।१।४५।' इति प्राप्तस्य क्सादेशस्य 'न दृशः । ३।१।४७।' इति प्रतिषेधात् सिजेव भवति लिङ्सिचात्मनेपदेषु । ३।२।११।' इति कित्त्वे गुणाभावः । पट्पदानां रुतानि अश्रोपत

गृध्रकुसुमगदिगुष्णिगञ्जुयुजिकुञ्चां च ।३।२।५९।' इति क्विप् । अनुषंगलोपः । नपुंसकस्य नुम् । भानोरिव तजांसि भुवि संभृतानि पिण्डीकृतानि । गभस्तिभिः; रश्मिभिः धाराभिरिव द्रुतानि गलितानि । धारा प्रपात इति भिदा पाठाद्द्रष्टव्यम् ॥ १२ ॥

दिग्व्यापिनीलोचनलोभनीयामृजाऽन्वयाः स्नेहमिव स्रवन्तीः ।

ऋज्वाऽऽयताः सस्यविशेषपङ्कीस्तुतोष पश्यन्वितृणाऽन्तरालाः ॥ १३ ॥

दिग्व्यापीत्यादि—सस्यविशेषाणां शाल्यादीनां पङ्क्तीः पश्यंस्तुतोष तुष्टवान् । दिग्व्यापिनीः सर्वदिग्व्यापनशीलाः । लोभयन्तीति लोभनीयाः । बहुलवचनात्कर्तर्यनीयः । लोचनानां लोभनीया इति षष्ठीसंज्ञासः । मार्जनं मृजा शुद्धिः । 'पिद्धिदादिभ्योऽङ् । ३ । ३ । १०४ ।' तथा, अन्वयोऽनुगमो यासां शुद्धयनुगता इत्यर्थः । ततः स्नेहमिव स्रवन्तीः । ऋजवश्च ता आयताश्च वितृणान्तरालाः उत्पाटितानि तृणानि अन्तराले मध्यभागे यासां ताः ॥ १३ ॥

वियोगदुःखाऽनुभवाऽनभिज्ञैः काल नृपांशं विहितं ददद्भिः ।

आहार्यशोभारहितैरमायैरैक्षिष्ट पुम्भिः प्रचितान्स गोष्ठान् ॥ १४ ॥

वियोगेत्यादि—पुम्भिः गोपैः प्रचितान् व्याप्तान् गोष्ठान् गावस्तिष्ठन्तिं येष्विति 'सुपि स्थः । ३ । २ । ४ ।' इति कः । 'अम्बाम्ब- । ८ । ३ । ९७ ।' इत्यादिना मूर्धन्यः । तान् सराम ऐक्षिष्ट दृष्टवान् । अनुदात्तेत्वात्तङ् । इट् । वियोगदुःखस्य योऽनुभवः अनुभवनं तस्यानभिज्ञैः तेषां पुत्रदारैः सहैव सर्वत्र गमनात् एतावता कालेन एतावदेयमिति विहितं कृतम् । 'दधातेर्हिः' । नृपांशं करं ददद्भिः । आहार्या कटकादिभिः आहरणीया शोभा दीप्तिः तथा रहितैः । अमायैः ऋजुभिः । आहार्येति, 'ऋहलोर्ण्यत् । ३ । १ । १२४ ।' इति ण्यत् शोभयतीति शोभा पचाद्यच् । 'ण्यास्रन्थो युच् । ३ । ३ । १०७ ।' इति युच् न भवति, तस्य स्त्रीलिङ्गे भावे अकर्तरि च कारके विधानात् । नन्यादिपाठान् ल्युट् भवति, तस्य 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् । ३ । १ । ९४ ।' इति विकल्पितत्वात् । अथवा शोभनं शोभा स्त्रीलिङ्गे भावे घञ् । 'कृत्यल्युटो बहुलम् । ३ । ३ । १३१ ।' इति बहुलवचनादन्येऽपि कृतः प्राप्तमपि स्वाभिधेयं व्यभिचरन्ति ॥ १४ ॥

सितेत्यादि—सितारविन्दानां प्रचयेषु समूहेषु । ‘एरच् ।३।३।५६। इत्य
 ‘सङ्गे चानौत्तरार्धे । ३ । ३ । ४२ ।’ इति घञ्कौ न भवतः प्राणिषु
 सङ्गशब्दस्य रूढत्वात् । लीनाः कलहंसमालाः । तथा संसक्तफेनेषु च सैकते
 पुलिनेषु लीनाः । सिकता येषु विद्यन्ते इति । ‘देशे लुबिलचौ च । ५ । १
 १०५ ।’ इति चकारादण् । कुन्दावदाताः कुन्दाभिवावदाताः शुक्लाः । ‘अ
 नानि सामान्यवचनैः । २ । १ । ५५ ।’ इति समासः । प्रतीचिरे ज्ञाताः
 तेन रामेणेति विभाक्तिविपरिणामेन सम्बन्धः । कर्मणि लिट् । ‘इणो यण्
 ६ । ४ । ८१ ।’ इति यण् । द्विर्वचनेऽचि । १ । १ । ५९ ।’ इति स्थानिवद्भा
 वाद्द्विर्वचनम् । श्रोत्रसुखैर्मधुरैर्निनादैः करणभूतैः । ‘नौ गदनद् ५५वत्
 ३ । ३ । ६४ ।’ इति घञ् ॥ १८ ॥

शरद्वर्णनमुपसंहरन्नाह—

न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद्यदलीनषट्पदम् ।

न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥ १९ ॥

न तज्जलमित्यादि—किम्वहुनोक्तेन सर्वथा न तज्जलं यत् सुचारुपङ्कजं न
 वभूव । पङ्कजमपि यदलीनषट्पदं तदपि न । असौ षट्पदोऽपि त । विषे
 नाभूत् । यः कलं मधुरं न जुगुञ्ज न गुञ्जितवान् । ‘गुञ्जि अव्यये
 शब्दे ।’ ‘इदितो नुम् धातोः । ७ । १ । ५८ ।’ इति नुमि लिटि रूपम्
 गुञ्जितमपि तत् नैवासीत् । यन्मनो न जहार न हतवत् । रामस्य लो
 वा ॥ १९ ॥

तं यायजूकाः सह भिक्षुमुख्यै तपः कृशाः शान्त्युदकुम्भहस्ताः ।

यायावराः पुष्पफलेन चाऽन्ये प्राणचुर्रचर्या जगदर्चनीयम् ॥ २० ॥

तमित्यादि—यायजूकाः, अत्यर्थं यजनशीलाः । ‘यजजपदशां ५६
 ३ । २ । १६६ ।’ इत्यूकः । ‘अतो लोपः । ६ । ४ । ४८ ।’ ‘यस्य ह
 १६ । ४ । ४९ ।’ ते तपोवनस्थितास्तं राममागच्छन्तमानुचुः सुष्ठु पूजित
 वन्तः । अर्चोर्लिटि द्विर्वचनम् । अत आदेः । ७ । ४ । ७० ।’ इति दीर्घत्वम्
 तस्मिन्नुड् द्विहलः । ७ । ४ । ७१ ।’ इति नुट् । सह भिक्षुमुख्यैः । भिक्षुषु

१ अत्र वंशस्थविलं छन्दः तल्लक्षणं चोक्तं प्राक् । एकावत्यलङ्कारश्च ‘स्याप्यते
 ऽपोह्यते वाऽपि यथापूर्वं परं परम् । विशेषणतया वस्तु यत्र सैकावली द्विधा ॥
 इति तल्लक्षणात् । प्रकृते पुनराद्योते विशपः । २ ‘ भिक्षुः परित्राट् कर्ममर्द
 पाराशर्यपि मत्करी ।’ इत्यमरः ।

शीलम् । जयावहत्वान् । ' लषपतपदस्थाभूवृपहनकमगसशृभ्याउव
 १३।२।१५४।' इति उक्त् । आतो यक् । अत एवामोघम् अवन्ध्यम्
 अवृथामोक्षत्वात् । अभ्यर्णो निकटो महाहवो यस्य तस्मै । अभिपूर्वाद्
 निष्ठायाम्, 'अभेश्चाविदूर्ये ७।२।२५।' इतीदृप्रतिषेधः । 'रदाभ्यां निष्ठा
 नः पूर्वस्य च दः ७।२।४२।' इति नत्वम् । अभ्यर्णः । आह्व इति, आहूय
 अस्मिन्युद्धायेति ह्यतेराङ्पूर्वात् 'आङि युद्धे ३।३।७३।' इति सम्प्रसारण
 अप् प्रत्ययः, गुणावादशौ । वधाय क्षणदाचरणामिति, क्षैणदा रात्रिः ।
 चरन्तीति, 'चरेष्टः ३।२।१६।' इति तेषां रक्षसामित्यर्थः । तत्र हि^३ महा-
 रामो राक्षसान् हनिष्यतीति । 'हनश्च वधः ३।३।७६।' इति वधादेश
 कृतप्रयोगे क्षणदाचरणामिति कर्मणि षष्ठी । श्रेयसि जागरूकः तत्कल्य
 सावधानः । जागर्तूरूकैः ॥ २२ ॥

तं विप्रदर्शं कृतघातयत्ना यान्तं वने रात्रिचरी डुढौके ।

जिवांसुवेदं धृतभासुराऽस्त्रस्तां ताडकाऽऽख्यां निजवान रामः॥२ः
 तमित्यादि--विद्यामस्त्रजातं चादाय यज्ञकर्मणि विप्रोपशमनार्थं ।
 यान्तं रामम् रात्रिचरी राक्षसी ताडकाभिधाना डुढौके ढौकते स्म । ढौव
 रात्मनेपदिनो लिटि रूपम् । तां च रामो निजवान निहतवान् । विप्रः
 कृतघातयत्ना विप्रान् ब्राह्मणान् दृष्ट्वा कृतमारणाभियोगा रात्रिचरी । रामो
 जिवांसुवेदं धृतभासुराखः । जिवांसुं विदित्वा धृतं भासुरं भासनशीलम् ७
 येनेति बहुव्रीहिः । विप्रदर्शं जिवांसुवेदमिति 'कर्मणि दृशिचिदोः साक्
 ३।४।२९।' इति णमुल् ॥ २३ ॥

अथाऽऽलुलोके^१ हुतधूमकेतुशिखाऽञ्जनस्निग्धसमृद्धशाखम् ।

तपोवनं प्राध्ययनाऽभिभूतसमुच्चरच्चारुपतत्रिशिञ्जम् ॥ २४ ॥

अथेत्यादि--अथासौ रामो राक्षसीं हत्वा तपोवनम् आलुलोके दृष्ट्वा
 कथम्भूतम् । हुतधूमकेतुशिखाञ्जनस्निग्धसमृद्धशाखम् । हुतश्चासौ धूमके-
 त्तिश्च हुतधूमकेतुः । तस्य शिखाञ्जनेन स्निग्धाः समृद्धाश्च फलादिना शा-
 खस्य तपोवनस्य । प्राध्ययनेन वेदपाठेन अभिभूता तिरस्कृता समुच्चर-
 चार्वी शोभना पतत्रिणां पक्षिणां शिक्षा ध्वनिर्न्यत्र । 'शिजि अव्यक्ते शब्दे

१ 'त्रियामा क्षणदा क्षपा' इत्यमरः । २ यतो विश्वामित्रयज्ञे इत्यर्थः
 ३ जागरणपरा हि सावधानो भवतीति दृष्टचरम् । ४ 'अथालुलोच इति पाठान्तर-

कौशले । ८ । ३ । ८९ । इति षत्वम् । तौ च क्षितिपालपुत्रौ रामलक्ष्मण
सदासनादि प्रत्यग्रहीष्ठां प्रतिगृहीतवन्तौ । प्रतिपूर्वाद् ग्रहेर्लुङ् । तसस्ताम्
‘ग्रहोऽलिति दीर्घः । ७ । २ । ३७ ।’ इति दीर्घः । षत्वण्डुत्वे । मधुपर्कमिश्र
मधुपर्केण सहेत्यर्थः ॥ २६ ॥

दैत्याऽभिभूतस्य युवामवोढं मग्नस्य दोर्भिर्भुवनस्य भारम् ।

हवींषि सम्प्रत्यपि रक्षतं तौ तपोधनैरित्यमभाषिषाताम् ॥ २७ ॥

दैत्येत्यादि—दितरेपत्यानि दैत्याः । ‘दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्यः ।
। ३ । ८५ ।’ इति ण्यः । तैराभिभूतस्य मग्नस्य शरण्यस्य भुवनस्य भारमिति
कर्तव्यतालक्षणं दोर्भिर्भुजैः युवामवोढम् ऊढवन्तौ । नरनारायणौ युवामित्
क्तौ । त्वं च त्वं चेति एकशेषः । अवोढमिति वहेर्लुङ् । थसस्तम् । हलन्त
क्षणा वृद्धिः । सिज्जलोपः । ‘साहिवहोरोदवर्णस्य । ६ । ३ । ११२ ।’ इत्योत्वम् । ढत्वण्डु-
त्वढलोपाः । दोरिति दमेर्दोर्भित्यौणादिको ङोस् । हवींषि होतव्यानि । सम्प्र-
त्यपि रक्षतम् । अचिरुचिद्भुसृपिच्छादिच्छर्दिभ्य इसिरित्यौणादिक इसिः ।
राक्षसैरुपहन्यमानानि रक्षतम् । प्रार्थनायां लोट् । शप् । थसस्तम् । इत्यमि-
ति ‘इदमस्थमुः । ५ । ३ । २४ ।’ अनेनोक्तप्रकारेण । तपोधनैरत एव धनं
केपामिति । अभाषिषाताम् अभिहितौ । भाषतेः कर्मणि लुङ् । सिजिटौ ॥ २७ ॥

तान्प्रत्यवादीदथ राघवोऽपि यथेप्सितं प्रस्तुत कर्म धर्म्यम् ।

तपोमरुद्धिर्भवतां शराऽग्निः संघुक्ष्यतां नोऽरिसमिन्धनेषु ॥ २८ ॥

तानित्यादि—अथैतस्मिन् प्रस्तावे राघवोऽपि रघुसुतः तान्मुनीन् प्रत्यवादीत्
‘वदन्नजहलन्तस्याचः । ७ । २ । ३ ।’ इति वृद्धिः । यथेप्सितं यथाभिमतम् ।
आप्तेः ‘आप्लप्युधामीत् । ७ । ४ । ५५ ।’ इतीत्वम् । अभ्यासलोपश्च । सन्न-
न्तात्कर्मणि निष्ठा । धर्मादनपेतं धर्म्यम् यागादि कर्म । प्रस्तुत प्रारम्भवम् ।
पूर्वः स्तौतिः प्रारम्भे वर्तते । तस्मान्निमन्त्रणे नियोगकरणे लोट् । थस्य तः
शपो लुङ् । तपांसि मरुत इव तपोमरुद्धिः । भवतां तपोमरुद्धिर्नोऽस्माकम् ।
वद्वचनस्य वस्नसौ । ८ । १ । २१ ।’ इति नसादेशः । शराग्निः शरोऽग्नि-
रेव । संघुक्ष्यतां दीप्यताम् । ‘घुक्ष, धिक्ष, सन्दोपनच्छेदनजीवनेषु ।’ तस्मा-
त्कर्मणि लोट् । अरिसमिन्धनेषु अरिकाष्ठेषु । समिन्धते एभिरिति समिन्धना-
त्ते । करणे ल्युट् । अरयः समिन्धनान्निव ॥ २८ ॥

प्रतुण्डुवुः कर्म ततः प्रकल्लस्येते यज्ञियैर्द्रव्यगणैर्यथावत् ।

दक्षिण्यदिष्टं कृतमार्त्विर्जनैस्तद्यातुधानैश्चिचित्तेः प्रसर्पत् ॥ २९ ॥

कौशले । ८ । ३ । ८९ । इति षत्वम् । तौ च क्षितिपालपुत्रौ रामलक्ष्मण
सदासनादि प्रत्यग्रहीष्ठां प्रतिगृहीतवन्तौ । प्रतिपूर्वाद् ग्रहेर्लुङ् । तसस्ताम्
‘ग्रहोऽल्लिटि दीर्घः । ७ । २ । ३७ ।’ इति दीर्घः । षत्वपटुत्वे । मधुपर्कमित्र
मधुपर्केण सहेत्यर्थः ॥ २६ ॥

दैत्याऽभिभूतस्य युवामवोढं मग्नस्य दोर्भिर्भुवनस्य भारम् ।

हवींषि सम्प्रत्यपि रक्षतं तौ तपोधनैरित्थमभाषिषाताम् ॥ २७ ॥

दैत्येत्यादि—दितरेपत्यानि दैत्याः । ‘दित्यादित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्यः ।
। ३ । ८५ ।’ इति ण्यः । तैरभिभूतस्य मग्नस्य शरण्यस्य भुवनस्य भारमि
कर्तव्यतालक्षणं दोर्भिर्भुजैः युवामवोढम् ऋढवन्तौ । नरनारायणौ युवामि
कौ । त्वं च त्वं चेति एकशेषः । अवोढमिति वहेर्लुङ् । थसस्तम् । हलन्त
क्षणा वृद्धिः । सिज्लोपः । ‘साहिवहोरोदवर्णस्य । ६ । ३ । ११२ ।’ इत्योत्वम् । ढत्व
त्वढलोपाः । दोरिति दमेडोसित्यौणादिको डोस् । हवींषि होतव्यानि । स
त्यपि रक्षतम् । अर्चिरुचिहुस्त्वपिच्छादिच्छर्दिभ्य इसिरित्यौणादिक इसि
राक्षसेत्पहन्यमानानि रक्षतम् । प्रार्थनायां लोट् । शप् । थसस्तम् । इत्
ति ‘इदमत्यमुः । ५ । ३ । २४ ।’ अनेनोक्तप्रकारेण । तपोधनैरतप एव
केयामिति । अभाषिषाताम् अभिहितौ । भाषतेः कर्मणि लुङ् । सिजिटौ ॥ २७ ॥

तान्प्रत्यवादीदथ राघवोऽपि यथेप्सितं प्रस्तुत कर्म धर्मम् ।

तपोमरुद्धिर्भवतां शराग्निः संधुक्ष्यतां नोऽरिसमिन्वनेषु ॥ २८ ॥

तानित्यादि—अथैतस्मिन् प्रस्तावे राघवोऽपि रघुमुतः तान्मुनीन् प्रत्यवाद्
‘वदन्नजहलन्तस्याचः । ७ । २ । ३ ।’ इति वृद्धिः । यथेप्सितं यथाभिमत
आप्नोतेः ‘आप्लुप्युधामीत् । ७ । ४ । ५५ ।’ इतीत्वम् । अभ्यासलोपश्च । स
न्तात्कर्मणि निष्ठा । धर्मादनपेतं धर्म्यम् यागादि कर्म । प्रस्तुत प्रारम्भञ्च
प्रपूर्वः स्तौतिः प्रारम्भे वर्तते । तस्मान्निमन्त्रणे नियोगकरणे लोट् । थस्य त
शपो लुक् । तपांसि मरुत इव तपोमरुद्धिः । भवतां तपोमरुद्धिर्नोऽस्माकम्
‘वहुवचनस्य वसूनसौ । ८ । १ । २१ ।’ इति नसादेशः । शराग्निः शरोऽग्नि
रिव । संधुक्ष्यतां दीप्यताम् । ‘धुक्ष, धिक्ष, सन्दोपनछेदनजीवनेषु ।’ तस्म
त्कर्मणि लोट् । अरिसमिन्वनेषु अरिकाष्टेषु । समिन्वने एभिरिति समिन्वन
नि । करणे ल्युट् । अरयः समिन्वनानिव ॥ २८ ॥

प्रतुष्टुवुः कर्म ततः प्रकल्पैस्ते यज्ञियैर्द्रव्यगणैर्यथावत् ।

दक्षिण्यदिष्टं कृतमार्त्विजनैस्तद्यानुधानैश्चिचित्ते प्रसंप्रित् ॥ २९ ॥

प्रतुष्टुवुस्त्यादि—ततो रामवचनादनन्तरं तपोधनाः कर्मयागक्रियां प्रतु-
ष्टुः । यथावत् यथाविधि प्रारब्धवन्तः । यज्ञियैः यज्ञकर्माहैः द्रव्यगणः प्रकल्पः
लितैः । 'कूपो रो लः । ८।२।१८।' दक्षिणामर्हन्तीति दक्षिण्याः महामुनयः ।
कडङ्करदक्षिणाच्छ च । ५ । १ । ६९ । ' इति चकाराद्यत् । तैर्दिष्टमुक्तम् ।
तमार्त्विजनैः । ऋत्विक्कर्माहैरनुष्ठितम् । ऋत्विजश्च ब्रह्मादयः षोडश पठिताः
एव कर्म प्रसर्पत् वृद्धिं गच्छत् । यातुधानै राक्षसैः चिचिते ज्ञातम् । 'चित्ती
ज्ञाने' इत्यस्मात् कर्मणि लिट् । यज्ञियैरार्त्विजनैरिति 'यज्ञैर्विग्भ्यां घखञौ
५ । १ । ७१ ।' इति तत्कर्माहतीति ॥ २९ ॥

आपिङ्गरूक्षोर्ध्वशिरस्यवालैः शिरालजड्धैर्गिरिकूटदग्रैः ॥

ततः क्षपाटैः पृथुपिङ्गलाऽक्षैः खं प्रावृषेण्यैरिव चाऽऽनशेऽब्दैः ॥ ३० ॥

आपिङ्गेत्यादि—ततः कर्मप्रवर्तनादनन्तरम् । क्षपाटैः निशाचरैः । अ-
न्तीत्यटाः पचाद्यच् । क्षपायामटा इति सप्तमीति योगविभागत् समासः ।
ब्रह्माकाशमानशे व्याप्तम् । अश्रोतेः कर्मणि लिट् । 'अश्रोतेश्च । ७।४।७२।'
इति नुट् । शिरसि जाताः शिरस्त्याः । 'शरीरावयवाद्यत् । ५।१।६।'
आपिङ्गा आ समन्तात् पिङ्गा विद्युदिव । रूक्षाः सूक्ष्माः उर्ध्वशिरस्त्या वाला
येषां तैः अन्योऽपि शिरस्यो भवति इति वालग्रहणम् । अमंगलवाला इत्यर्थः ।
शेराः सन्ति यासामिति 'प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् । ५।२।९६।' इति लच् ।
शेराला जङ्घा येषां तैः । गिरिकूटदग्रैर्गिरिकूटप्रमाणैः । 'प्रमाणे द्वयसच्दन्न-
समात्रचः । ५।२।३७।' इति दन्नच् । पृथूनि विस्तीर्णानि पिङ्गलानि चाक्षीणिं येषां
तैः । 'बहुव्रीहौ सक्थक्ष्णोः स्वाङ्गात्यच् । ५।५।१३।' इति पच् । प्रावृषेण्यैरिवेति
प्रावृष एण्यः । ४।३।१७।' अब्दैर्भैः कृष्णसाधर्म्यात् । अपो ददतीति अब्दाः ।
चकारः पादपूरणार्थः ॥ ३० ॥

अधिज्यचापः स्थिरबाहुमुष्टिरुदञ्चितोऽक्षोऽञ्चित दक्षिणोरुः ।

ताँलक्ष्मणः सन्नतवामजङ्घो जघान शुद्धेपुरमन्दकर्षी ॥ ३१ ॥

अधीत्यादि—तान् क्षपाटान् गगनस्थान् लक्ष्मणो जघान हतवान् । की-
दृशः अधिव्यचापः । अध्यारूढा उत्कलिता ज्या गुणो यस्य चापस्य तदधि-
व्यम् । प्रादिभ्यो धातुजस्येति समासः । अधिव्यं चापं यस्य लक्ष्मणस्य ।
स्थिरो निश्चलो बाहुर्मुष्टिश्च यस्य । उदञ्चिते उत्क्षिप्ते अक्षिणी येन स उदञ्चि-
ताक्षः । आकाशस्थापितदृष्टिरित्यर्थः । अञ्चितः सङ्कोचितो दक्षिणोरुर्ध्वेन

सोऽश्वितदक्षिणोरुः । अश्वेः पूजायामितीटोऽनुत्पन्नत्वात् प्यन्तस्य रूप
चात्र पूजा गम्यते, किन्तु गतिविशेष एव । अनुषङ्गलोपोऽपि न भवति ।
लोपस्य स्थानिवद्भावात् । समन्तात् नता वामजङ्घा यस्य स सन्नतवामजङ्घः
शुद्धेषुः निशितवाणः । असन्दमत्यन्त ऋष्टं शीलमस्यासावमन्दकर्षा । कण
न्ताकृष्टचाप इत्यर्थः ॥३१॥

गाधेयदिष्टं विरसं रसन्तं रामोऽपि मायाचणमस्त्रचुञ्चुः ।
स्थास्तुं रणे स्मेरमुखो जगाद् मारीचमुञ्चैर्वचनं महाऽर्थम् ॥ ३२
गाधेयेत्यादि—गाधेरपस्यं गाधेयो विश्वामित्रः । द्वयच इत्य
‘इत्श्चानिञ्चः । ४।१।१२२।’ इति ढक् । तेन दिष्टं कथितं मारीचं नाम राक्ष
रामो जगाद् गदितवान् । रसन्तम् वदन्तम् । विरसमश्राव्यमिति क्रियावि
पणम् । मायाचणं मायया वित्तम् । अस्त्रचुञ्चुः अस्त्रैः प्रतीतो रामः । तेन वि
ञ्चुञ्चुपचणपौ । ५।२।२६।’ इति । स्थास्तुं रणे स्थितिशीलम् । तस्य सेनापा
त्वान् । स्मेरमुखः चित्तस्याक्षोभादीपद्वसनशीलवदनः । ‘नमिकम्पिस्म्यजस
र्हिसदीपो रः । ३।२।१६७।’ इति रः । उच्चैस्तरां जगादेति क्रियाविशेषण
वचनं वक्ष्यमाणं महार्थं प्रधानार्थम् । श्रुविशासत्यत्र श्रुवीत्यर्थग्रहणा
कर्मकता । मारीचं वचनं च ॥३२॥

आत्मम्भरिस्त्वं पिशितैर्नराणां फलेग्रहीन् हंसि वनस्पतीनाम्
शौवस्तिकत्वं विभवा न तेषां व्रजन्ति तेषां दयसे न कस्मात् ३ः
आत्मेत्यादि—नराणां पिशितैर्मसैः आत्मानं विभर्षि पुष्पांसि
नान्यदपि शरीरस्थितिहेतुर्भवतीति भावः । स त्वमात्मम्भरिः आत्मभरण
फलानि गृह्णन्ति ये वनस्पतीनां तान् फलेग्रहीन् फलाशिनो मुनीन् हं
मारयसि । शपो लुक् । ‘फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च । ३।२।२६।’ इति निपातितं
श्वो भवितारः शौवस्तिकाः । ‘श्वसस्तुद् च । १।३।१५।’ इति ठञ् तुडागमश्च
द्वारादित्वादजागमः । शौवस्तिकत्वं तेषां विभवा न व्रजन्ति तेषामश्व
निकवृत्तीनां कस्मान्न दयसे न रक्षसि । ‘अधीगर्थदयेशां कर्मणि । २।३।५ः
इति कर्मणि पठ्यी ॥ ३३ ॥

अन्नो द्विजान् देवयजीन्निहन्मः कुर्मः पुरं प्रेतनराऽधिवासम् ।
धर्मो ह्ययं दाशरथे निजो नो नैवाऽध्यकारिष्महि वेदवृत्ते ॥ ३४

अद्भ्य इत्यादि—राक्षसः प्राह । द्विजान् ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यान् अद्भ्यो भक्षयामः
 वधजीन् देवान् यजन्ति आराधयन्ति ये तान्निहन्मः । ‘अच इः’ इत्यनुवर्तमाने
 णीत्यादिपूह्यमानेष्वौणादिकेषु सूत्रेषु यद्यपि यजिर्न पठितस्तथापि यजेरिः
 कृतेश्च तदूह्यमिति वचनात् । ‘जासिनिप्रहणनाटक्राथपिपां हिंसायाम्
 २।३।५६।’ इत्यत्र सङ्घातविगृहीतविपर्यस्तग्रहणात् पठ्यी प्राप्तापि न भवति ।
 ऋमणः शेषत्वेनाविवक्षितत्वात् । पुरं नगरं प्रेतनराणां मृतनराणाम् । अधिवा-
 मवस्थानं कुर्मः । नित्यहननेन श्मशानतुल्यमित्यर्थः । कस्मादेवमित्यत आह—धर्म
 इति । दशरथस्यापत्यं दाशरथिः । ‘अत इञ् । ४।१।९५।’ इतिञ् । हे दाशरथे ।
 हे यस्मादर्थे वर्तते । यस्मादयं धर्मः आचारः । निजो नित्यः । न इत्य-
 स्माकम् । वेदविरुद्ध इति चेत्—नैवाध्यकारिष्महि वेदवृत्ते । वेदविहितं वृत्त-
 मिति मध्यमपदलोपी समासः । यद् ब्राह्मणानामुक्तमनुष्ठानं तत्र वयं नैवा-
 ध्यक्ता इत्यर्थः । अधिपूर्वात्करोतेः कर्मणि लुङ् । ‘स्यसिञ्सीयुट्तासिपु भावक-
 र्मणोरुपदेशेऽञ्जनग्रहदृशां वा चिष्वादिट् च । ६।४।६२।’ इति चिष्वादिट् ॥३४॥

धर्मोऽस्ति सत्यं तव राक्षसाऽयमन्यो व्यतिस्ते तु ममाऽपि धर्मः ।

ब्रह्माद्विषस्ते प्रणिहन्मि येन राजन्यवृत्तिर्धृतकार्मुकेषु ॥ ३५ ॥

धर्म इत्यादि—रामः प्राह । हे राक्षस । रक्ष एव राक्षसः । प्रज्ञादित्वाद्गुण् ।
 स्वार्थिका अतिवर्तन्त इति पुँल्लिङ्गता । तवायं पूर्वोक्तः पराभिद्रोहलक्षणो धर्मो-
 ऽस्तीति सत्यमेतत् । किन्तु ममापि रामस्य अन्यो धर्मोऽशिष्टनिग्रहलक्षणो
 व्यतिस्ते व्यतिभवते । इदमुक्तं भवति—यद्यप्येवंप्रकारस्त्वद्धर्मो भविष्यति
 तथापीदानीमेव या त्वद्धर्मेण विद्यमानतया निष्पाद्या सा अस्मद्धर्मेणैव निष्पा-
 दकत्वेन व्यतिस्ते । ततश्चान्यसम्बन्धिनीं क्रियामन्यः करोति इतरसम्बन्धिनी-
 मितर इति धर्मव्यतिहारसम्भवात् । अस्तेः ‘कर्तारि कर्मव्यतिहारे । १।३।१४।’
 तङ् । तथा हि यो यदवसरे यां काञ्चित् क्रियां करोति स तत्क्रियाकारीत्युपचा-
 राल्लोक उच्यते । येन धर्मेण हेतुना ब्रह्माद्विषस्ते प्रणिहन्मि मारयामि स व्यति-
 स्ते इति योज्यम् । ‘नेर्गद्वनदपतपदद्युमास्यतिहन्तिर्यातिवातिद्रातिष्साति-
 वपतिब्रह्मिशास्यतिचिनोतिदेग्धिषु च । ८।४।१७।’ इति णत्वम् । ‘जासि-
 निप्रहणनाटक्राथपिपां हिंसायाम्—२ । ३ । ५६ ।’ इति कर्मणि पठ्यी । तथा
 कथं तव धर्म इति चेदाह—राजन्यवृत्तिरिति । क्षत्रियवृत्तिः ततो राज्ञोऽपत्यम् ।
 ‘राजश्वशुराद्यत् । ४।१।१३७।’ इति यत् ‘ये च । ६ । ४ । १६८।’ इति प्रकृति-

भाद्रः । धृतं कार्मुकम् इषवश्च येन सः । यतः अहं राजन्यवृत्तिः ततोऽहं धृत-
कार्मुकेपुरिति । ' धृतकार्मुकेषु ' इति पाठान्तरम् । क राजन्यवृत्तिः
सायुधेष्वित्यर्थः ॥ ३५ ॥

इत्थंप्रवादं युधि संप्रहारं प्रचक्रत् रामनिशाविहारौ ।

तृणाय मत्वा रघुनन्दनोऽथ वाणेन रक्षः प्रधनान्निरास्थत् ॥ ३६ ॥

इत्थमित्यादि—इत्थम् अनेन प्रकारेण प्रवादः अन्योन्याभिवातो यत्र सं-
प्रहारे तं संप्रहारं परस्पराभिभवलक्षणं प्रकृतवन्तौ । युधि रणभूमौ । युध्यन्ते
अस्यामिति सम्पदादित्वादधिकरणे क्विप् । रामनिशाविहारौ । रामो निशा-
विहारो निशाचरो मारीचश्चेत्यर्थः । निशायां विहारो यस्येति समासः । अथा-
नन्तरं रघुनन्दनो रघुवंशस्य नन्दयिता रामो मारीचं वाणेन तत्सम्बन्धिनि
सत्यपि तृणाय मत्वा तृणमिव अवमत्य । 'मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिपु-
२।३।१७।' इति चतुर्थी । तत्र प्रकृष्टकुत्सितप्रहणं कर्तव्यम् । इह मा भूत् ।
तृणं मत्वेति । प्रधनात् संप्रामात् । निरास्थत् अपनीतवान् ॥ ३६ ॥

जग्मुः प्रसादं द्विजमानसानि, यैर्वर्षुका पुष्पचयं वभूव ।

निर्व्याजभिज्या ववृते वचश्च भूयो वभाषे मुनिना कुमारः ॥ ३७ ॥

जग्मुस्त्वित्यादि—यागविघ्नकारिषु निरस्तेषु द्विजानां मानसानि मनांस्येव
मानसानि । 'प्रज्ञादिभ्यश्च ५।४।३८।' इत्यण् । प्रसादम् अव्याकुलत्वं जग्मुः
गतानि । 'गमहनजनखनवसां लोपः कृडित्यनडि । ६।२।९८।' इत्युपधालोपः ।
द्यौः पुष्पचयं वर्षुका वर्षणशीला वभूव भवति स्म । 'लपपतपदस्थाभूवृषहन-
कमगमशृभ्य उकञ् ३ । २ । १५४ ।' इति उकञ् । ' न लोकाव्ययनिष्ठा-
स्त्वर्थतृणाम्-२ । ३ । ६९ ।' इति षष्ठीप्रतिषेधः । निर्व्याजं निर्विघ्नम् ।
इज्या यागः । 'व्रजयजोर्भावे क्यप् ३।३।९८।' इति क्यप् । ववृते वृत्तः । लिट् ।
भूयः पुनरपि मुनिना गाधेयेन । कुमारैः । अकृतदारकर्मत्वात् । वचो वक्ष्यमाणं
वभाषे । कर्मणि लिट् । त्रुवीत्यर्थप्रहणान् द्विकर्मकता वचः कुमारश्च ॥ ३७ ॥

महीर्यमाना भवताऽतिमात्रं सुराऽध्वरे घस्मरजित्वरेण ।

दिवोऽपि वज्राऽऽयुधभूषणाया हिणीयते वीरिवती न भूमिः ॥ ३८ ॥

१ ' अत्र विषये सप्तमी । २ 'युद्धसायोधनं जन्यं प्रधनम् प्रविदारणम्' इत्यमरः
३ ' प्रसादस्तु प्रसन्नता' इत्यमरः । ४ ' दशरथस्य ' इति प्रकृतम् । दशरथस्येति
विशिष्यावचनेन च तत्र तस्य वात्सल्यं ध्वन्यते । राम इत्यर्थः ।

महीत्यादि—भवता भूमिः पृथिवी महीय्यमाना पूज्यमाना । अतिमात्रं सुष्ठु सम्यक् पालनादिवोऽपि स्वर्गस्य न द्विणीयते न लज्जते किंतु प्रतिस्पर्धत इति भावः । 'द्विणी, महीङ्' इति कण्ठादिपाठाद्यक् । (डित्वात्तङ् । अवयवे कृतं लिङ्गं समुदायस्य विशेषकं भवतीति ?) महीयशब्दात्कर्मणि लकारः । शानच् । यक् । अतो लोपः । मुक् । महीय्यमानेति रूपम् । सुराध्वरे सुरानु-दिश्य योऽध्वरो यज्ञः क्रियते तत्र । ये धेस्मराः अदनशीला राक्षसा इति यावत् । 'सृषम्यदः क्मरच् ३ । २ । १६० । तेषां जित्वरेण जयशीलेन भवता । 'इणशजिसर्तिभ्यः करप् ३ । २ । १६३ ।' इति करप् । वज्रा-युधभूषणायाः शक्र एवालङ्कारो यस्याः दिवः । वीरवती त्वद्विधो वीरो यस्यां भूमाविति ॥ ३८ ॥

संक्षेपेण स्तुतिमाह—

बलिर्वबन्धे जलधिर्ममन्थे जह्नेऽमृतं दैत्यकुलं विजिग्ये ।

कल्पाऽन्तदुःस्था वसुधा तयोहे येनैष भारोऽतिगुरुर्न तस्य ॥ ३९ ॥

बलिस्त्यादि—येन भवता बलिर्वबन्धे बद्धः । जलधिर्ममन्थे मथितः । मन्दरं दोर्भिर्गृहीत्वा । 'मन्थ विलोडने' इत्यस्य रूपम् । संयोगान्तत्वाद्भिः-टोऽकिच्चेन अनुनासिकलोपो न भवति । जह्नेऽमृतम् । स्त्रीरूपधारिणा । दैत्य-कुलं विजिग्ये विजितमनेकधा । 'सल्लिटोर्जेः ७ । ३ । ५७ ।' इति कुत्वम् । 'परनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ६ । ४ । ८२ ।' इति यणादेशः । तथा कल्पान्ते प्रलये दुःस्था दुःस्थिता वसुधा पृथिवी ऊहे उद्धृता । वराहरूपिणा । मह्यजादित्वात् संप्रसारणम् । तस्य भवत एष भारो मुनिजनरक्षणम् अति-गुरुर्न भवति । सर्वत्र कर्माणि लिट् ॥ ३९ ॥

इति ब्रुवाणो मधुरं हितं च तमाञ्जिह्वन्मैथिलयज्ञभूमिम् ।

रामं मुनिः प्रीतमना मखाऽन्ते यशांसि राज्ञां निजिवृक्षायिष्यन् ॥ ४० ॥

इतीत्यादि—इति यथोक्तप्रकारेण मधुरं श्रोत्रसुखं हितं च ब्रुवाणः अभिद-वानः । 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः ३ । २ । १२६ ।' इति शानच् । मुनिः प्रीतमनाः खान्ते यज्ञावसाने तं रामं मैथिलस्य यज्ञभूमिं आञ्जिह्वन् गामेतवान् । मिथि-शानां राजेति । 'जनपदशब्दात्क्षत्रियादब् ४ । १ । १६८ ।' इत्यत्र तस्य राजन्य-त्यवदित्यतिदेशादब् । 'अहि गतौ' । 'इदितो नुम् धातोः ७ । १ । ५८ ।'

१ 'अनुपयुक्तोऽयं कोष्ठकान्तर्गतः पाठः' । २ 'भक्षको घस्मरोऽकारः' इत्यमरः । ३ 'क्षसपररत्वं तुलक्षणया । ३ 'जता जिष्णुश्च जित्वरः ।' इत्यमरः ।

प्रयोजकव्यापारे णिच् । लुङ् आट् चङि णिलोपः । 'द्विर्वचनेऽचि । १ । १ । ५९ ।' इति स्थानिवद्भावात् 'अजादेर्द्वितीयस्य । ६ । १ । २ ।' इति हिशब्दस्य द्विर्वचनम् । 'नन्द्राः संयोगादयः । ६ । १ । ३ ।' इति नकरास्य प्रतिषेधः । अभ्यासकार्यम् । आञ्जिहदिति रूपम् । राज्ञां यशांसि निजिघृक्षयिष्यन् निप्रहीतुमभिभवितुमेपयिष्यन् । ग्रहेः सन् । 'सनि ग्रहगुहोश्च । ७ । २ । १२ ।' इति इट्प्रतिषेधः । द्विर्वचनादि । 'रुदविदमुपग्रहिस्वपिप्रच्छः संश्च । १ । २ । ८ ।' इति सनः क्त्वम् । 'ग्रहिव्यावयिव्यधिविष्टिविचतिवृश्चतिप्रच्छतिभृजतीनां ङिति च । ६ । १ । १६ ।' इति सम्प्रसारणम् । ढत्वभूपभावौ । गकारस्य घकारः । क्त्वपत्वे । पश्चाणिच् । तदन्ताद्भविष्यत्सामान्याविवक्षायां लट् । तेन भविष्यदनद्यतने लुट् न भवति ॥ ४० ॥

एतौ स्म मित्रावरुणौ किमेतौ किमश्विनौ सोमरसं पिपासू ।

जनं समस्तं जनकाऽऽश्रमस्थं रूपेण तावौजिहतां नृसिंहौ ॥ ४१ ॥

एतावित्यादि—एतौ तत्रागतौ नृसिंहौ नरौ सिंहाविव । जनकाश्रमस्थं जनं रूपेण स्वरूपतया औजिहतां वितर्कं कारितवन्तौ । सिंहाविव । 'अह वितर्के' इत्यसाद्धातोः ष्यन्तात् कर्तुः क्रियाफलाविवक्षायां 'णिचश्च । १ । ३ । ७४ ।' इति तड् न भवति । चङि णिलोपस्य स्थानिवद्भावात् । अजादेर्द्वितीयस्य । ६ । १ । २ ।' इति द्विर्वचनम् । ऊहमाह—मित्रावरुणौ आदित्यवरुणौ । 'देवताद्वन्द्वे च । ६ । ३ । २६ ।' इत्यानङ् । तयोर्महानुभावत्वान् । सोमरसं पिपासू पातुमिच्छू । 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थवृत्ताम् । ३ । ६९ ।' इति षष्ठीप्रतिषेधः । एतावागतौ । आङ्पूर्वस्येणो निष्ठायां रूपम् । किमश्विनौ अश्विनीकुमारौ सोमरसं पिपाम् एताविति । एवं जनम् औजिहताम् । सुशब्दपाठे एतौ सुमित्रेति पाठः । एतौ स्म मित्रेति स्मशब्दो निपातः पादपूरणार्थः ॥ ४१ ॥

अजिग्रहत्तं जनको धनुस्तद् येनाऽर्दिददैत्यपुरं पिनाकी ।

जिज्ञासमानो बलमस्य वाहोर्हसन्नभाङ्क्षीद्रद्युनन्दनस्तत् ॥ ४२ ॥

अजिग्रहदित्यादि—येन धनुषा दैत्यपुरं पिनाकी महादेव आर्दिदत् हिंसितवान् । अर्देः स्वाधिकष्यन्तान् चङि 'अजादेर्द्वितीयस्य । ७ । १ । २ ।' इति दिशब्दो द्विरुच्यते रेफस्य प्रतिषेधः । 'तद्धनुन्तं रामं जनकः अजिग्रहन् वाधितवान् । अनेन धनुषा त्रिपुरं दग्धमिति । ग्रहेर्हेतुमण्यन्ताच्चङि णिलोपः । 'णां च ङ्युपधाया ह्रस्वः । ७ । १ । १ ।' इति ह्रस्वः । सन्वद्भावादित्वम् । ग्रहेश्च

बुद्धयर्थत्वात् । 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्मकर्मकाणामणिकर्ता स णी
।१।४।५२।' इति रामस्य कर्मसंज्ञा । अस्य रामस्य बाहोर्भुजयोर्वलं जिज्ञासमानो
जनकः । एवंभूतं धनुः हसन् स्मयमानो रघुनन्दनो रामः अभांक्षीत् भगवान् ।
मञ्जुलुङ्गि सिचि हलन्तलक्षणा वृद्धिः । तत्र हि हल्प्रहणं समुदायप्रतिपत्त्यर्थ-
मित्युक्तम् ॥ ४२ ॥

ततो नदीष्णान्पथिकान्गिरिज्ञानाहायकान्भूमिपतेरयोध्याम् ।

दित्सुः सुतां योधहरैस्तुरङ्गैर्व्यसर्जयन्मैथिलमर्त्यमुख्यः ॥ ४३ ॥

तत इत्यादि—धनुर्भङ्गादनन्तरं महानयमिति ज्ञात्वा जनकः सुतां दुहितरं
दित्सुः दातुमिच्छुः । दादतेः । 'सनि मीमाधुरभलभशकपतपदामच इष्
।७।४।५४।' इति अच इस् । द्विर्वचनम् । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य ।७।४।५८।'
इत्यभ्यासलोपः । 'सः स्यार्धधातुके ७ । ४ । ७९ ।' इति तत्त्वम् । 'सना-
शंसभिक्षडः ।३।२।१६८।' भूमिपतेर्दशरथस्य आहायकान् आह्वयन्ति आकार-
यन्तीति कर्तरि ण्वुल् । 'आतो युक् चिण्कृतोः ।७।३।३३।' कृत्प्रयोगे भूमिपतेः
कर्मणि षष्ठी । तान् अयोध्यां व्यसर्जयत् विसर्जितवान् । विपूर्वस्य नृजेर्हत्तु-
सण्यन्तस्य लङि रूपम् । गत्यर्थत्वात् द्विकर्मकता । नशां स्नान्तीति
नदीष्णाः । 'सुपि स्थः ।३।२।४।' योगविभागात्कः । 'आतो लोप इटि च
।६।४।६४।' निनदीभ्यां स्नातेः कौशले । ८।३।८९।' इति पत्वम् । नदी
तरांतुं कुशलानित्यर्थः । पथिकान् पथि कुशलान् । 'तत्र कुशलः पथः
।५।२।६३।' इति ठक् । गिरिज्ञान् यथाप्रदेशं गिरिज्ञान् 'इगुपभङ्गाप्रीकिरः
कः ।३।१।१३५।' इति कः । तुरंगैः अश्वैः करणभूतैः । युध्यन्त इति योधाः ।
पचाद्यच् । तानाहर्तुं क्षमैः । 'वयसि च ।३।२।१०।' इत्यच् 'हसिमृषिण्वामिद-
मित्त्वपूर्ध्विभ्यस्तन्' इत्यौणादिकस्तन् । म्रियन्ते प्राणिनोऽस्मिन्निति मर्त्यां
भूर्लोकः तत्र भवा मर्त्या मनुष्याः । दिगादेराकृतिगणत्वात् यत् । आकृति-
गणत्वस्य लिंगं 'देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्य' इति निर्देशः । मुखमेव मुख्यः
प्रधानम् । 'शोखोदिभ्यो यः ।५।३।१०३।' मर्त्येषु मुख्यो मर्त्यमुख्यः ।
मैथिलश्चासौ मर्त्यमुख्यश्चेति विशेषणसमासः । जनक इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

क्षिप्रं ततोऽध्वन्यतुरङ्गाया यविष्ठवद्बृहत्तमोऽपि राजा ।

आख्यायकेभ्यः श्रुतसूनुवृत्तिरग्लानयानो मिथिलामगच्छत् ॥ ४४ ॥

१ अत्र समासपुनरात्तत्वं दोषः । २ अत्र 'मर्त्यानाम्' इति तु न युक्तः पाठः,
'न निर्धारणे २।२।२०' इति षष्ठीनिषेधात् ।

क्षिप्रमित्यादि—आख्यान्ति कथयन्ति ये ते आख्यायकास्तेभ्यः शु-
 सूनुवृत्तिर्येन स राजा दशरथः । सूयत इति सूनुः पुत्रः 'दाभाभ्यां नुः' इ-
 वर्तमाने 'सुवः किञ्च' इत्यौणादिको नुप्रत्ययः । ततोऽनन्तरमेव क्षि-
 शीघ्रम् । 'स्फायितश्चिवाश्चिशकिक्षिपिक्षुदिसृपितृपिद्रीपवन्द्युन्दीर्क्षा-
 वृत्यजिनीपदिमदिमुदिखिदिच्छिदिभिदिमन्दिचन्दिदहिदिसिदिभभवसिवाशिर्श-
 ङ्हसिसिधिगुभिभ्यो रक्।' इति रक् । क्रियाविशेषणं चैतत् । मिथिला-
 गच्छत् । भरतशत्रुघ्नाभ्यां सहेत्वर्थादनुपक्तव्यम् । गमेर्लुङि 'इषुर्गमिष-
 छः । ७।३।१७।' अध्वानम् अलं गामिनो ये तुरंगा अश्वाः ते अध्वन्य-
 अलं गामीत्यास्मिन्नर्थे 'अध्वनो यत्खौ । ५।२।१६।' इति यत् ।
 चाभावकर्मणोः । ६।४।१६८।' इति प्रकृतिभावः । तैः साधु याती-
 साधुकारिणिं णिनिः । अध्वन्यतुरंगयायी । एवं च कृत्वा अग्लानयानः
 विद्यते ग्लानं ग्लानिर्यस्मिन्धाने तत् अग्लानं यानं यस्येति । तादृ-
 तादृशैस्तुरङ्गैः सुखयान इति भावः । ग्लानेति भावे निष्ठा । संयोगादेरा-
 घातोर्यण्वतः । ८।२।४३।' इति नत्वम् । वृद्धतमोऽपि यविष्ठवत् । युवशब्दस्य
 ष्ठनि 'स्थूलदूरयुवह्रस्वाक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरम्पूर्वस्य च गुणः । ६।४।१५६
 इति यणादिपरल.पः पूर्वस्य च गुणः । पश्चात् 'तेन तुल्यं क्रियाचेद्वतिः । ५।
 ११५।' इति वतिः ॥ ४४ ॥

वृन्दिष्टमार्चाद्दसुधाऽधिपानां तं प्रेष्ठमेतं गुरुवद्गरिष्ठम् ।

सदृङ् महान्तं सुकृताऽधिवासं वंहिष्टकीर्तिर्यशसा वरिष्ठम् ॥ ४५

वृन्दिष्टमित्यादि—तं राजानमेतमायान्तं जनक आर्चात् पूजितवान्
 अर्चेलुङि रूपम् । वृन्दिष्टं वृन्दारकतमम् प्रशस्ततममित्यर्थः । केषां वसुधाधि-
 पानां पृथ्वीपतीनाम् । प्रेष्ठं प्रियतमम् । गुरुवत् गुरुणा तुल्यं वर्तमानं गरि-
 ष्ठम् गुरुतमम् । सदृङ् समानान्ययोश्चेत्युपसंख्यानाद् दृशेः क्विप् । रुडिशब्द-
 श्चायम् । नात्र दर्शनक्रिया विद्यते । अभिजनादिभिस्तुल्यो जनक इत्यर्थः
 महान्तं महानुभावं सदृशां मध्ये महान्तम् । सुकृताधिवासं सुकृतानिलयम्
 अधिवसत्यस्मिन्निति अधिकरणे षञ् । वंहिष्टा बहुलतमा कीर्तिर्यस्य स वंहिष्ट-
 कीर्तिः । यशसा वरिष्ठं गुरुतमम् । अत्र वृन्दारकप्रियगुरुवहुलोरुणाभिष्टा-

१ अध्वनि यथेष्टं गमने योग्यैः अध्वन्यैः इत्यर्थः । २ 'साधिष्टद्राधिष्टस्ते-
 षुगीरिष्टहसिष्टवन्दिष्टाः' इत्यमरः । ३ 'प्रेष्ठवरिष्टस्यविष्टवंहिष्टाः' इत्यमरः ।

गासंख्यं प्रियस्थिरस्फिरोरुवहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घिवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर्षहि-
 पित्रवृद्धाविवृन्दाः । ६।४।१५७। इति वृन्दप्रगर्वहवर. इत्येते आदेशा
 वन्ति ॥ ४५ ॥

त्रिवर्गपारीणमसौ भवन्तमध्यासयन्नासनमेकमिन्द्रः ।

विवेकदृश्वत्वमगात्सुराणां तं मैथिलो वाक्यमिदं वभाषे ॥ ४६ ॥
 त्रिवर्गत्यादि—तं दशरथं मैथिलो जनकः वाक्यमिदं वभाषे । त्रिवर्त्यर्थप्र-
 तात् द्विकर्मकता । किं तद्वाक्यमित्याह—असाविन्द्रो भवन्तम् एकासनमध्या-
 यन् आरोपयन् विवेकदृश्वत्वमगादिति संबन्धः । आसनस्य 'अधिशीङ्-
 सां' कर्म । १ । ४ । ४६ ।' इत्यधिकरणे कर्मसंज्ञा । भवन्तमिति 'गतिवृद्धि-
 यवसानार्थशब्दकर्मकर्मकाणामाणि कर्त्ता सणौ । १ । ४ । ५२ ।' इत्यस्ते-
 यन्तावस्थायामकर्मकत्वात् । पारंगामीत्यस्मिन्वाक्ये । 'अवारपारात्यन्तानु-
 मंगामी । ५ । २ । ११ ।' इति पारशब्दात् खः । तत्र विगृहीताविपर्यस्तप्र-
 तात् । त्रिवर्गस्य धर्मार्थकामस्य पारीणमिति पष्ठीसमासः । त्रिवर्गपारीणं
 वन्तम् । सुराणां मध्ये स एवैको विवेकदृश्वत्वं विवेकज्ञतामगात् । 'इणो गा
 डे । २ । ४ । ४५ ।' 'गातिस्थाधुपाभूभ्यः—२ । ४ । ७७ ।' इति सिचो
 ह् । विवेकं दृष्टवानिति दृशेः कनिप् ॥ ४८ ॥

हिरण्मयी साललतेव जङ्गमा च्युता दिवः स्थास्तुरिवाऽचिरप्रभा ।
 शशाङ्कान्तेरधिदेवताऽऽकृतिः सुता ददे तस्य सुताय मैथिली ४७
 हिरण्मयीत्यादि—तस्य दशरथस्य सुताय रामाय । सृत्यत इति सुतः ।
 तु प्रसवैश्वर्ययोः' इत्यस्मात् कर्मणि निष्ठा । सुता मैथिली सीता ददे जनके-
 यथात् । कर्मणि लिट् । मैथिलस्यापत्यं 'अत इञ् । ४ । १ । ९५ ।' तद्-
 तात् 'इतो मनुष्य जातेः । ४ । १ । ६५ ।' इति डीप् । रामस्य व्यष्टन्तात्-
 त्वात् कविना परिणय उक्तः न शेषाणाम् । तेन अन्या अपि तदेव दुहितरां
 ताः । हिरण्मयी सुवर्णनिमित्तेव साललता वृक्षलता । सुवर्णच्छवित्वात् तस्याः
 रण्यविकार इति मयटि' दाण्डिनायनद्वास्तिनायनाथर्वणिकजैह्वाशिनेयवा-
 नायनिध्रौणहत्यधैवत्यसारवैश्वकमैत्रेयहिरण्मयानि । ६ । ४ । १७२ ।'
 ते यलोपनिपातनम् । जङ्गमा संचारिणी नतु स्थावरा । अन्यर्थं गच्छतीति
 डि 'नुगतः ७ । ४ । ८५ ।' इतिः नुक् । यडन्तात्पचाद्याचि यडेऽचि
 । २ । ४ । ७४ ।' इति यडो लुक् च्युता दिवः आकाशात्पतिता । अचि-
 भवेव विद्युदिव तेजस्वित्वात् तन्वात्वाच्च । किन्तु स्थास्तुरचञ्चला । सा तु
 १ 'त्रिवर्गो धर्मकामार्थः' इत्यमरः ।

चञ्चलोति व्यतिरेकः । 'ऊङुतः । ४ । १ । ६६ ।' इति ऊङ् न भवति क्रियाश-
व्दत्वात् । तत्र मनुष्यजातेरिति वर्तते । शशाङ्ककान्तेर्याधिदेवता अधिष्ठात्री
'देवता तस्या आकृतिर्यस्याः । सौम्यात्वात् । आक्रियते अनयेत्याकृतिः संस्थानम्
'अकर्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम् । ३ । ३ । १९ ।' इति स्त्रियां क्तिन् ॥ ४७ ॥

लब्धां ततो विश्वजनीनवृत्तिस्तामात्मनीनामुद्वोढ रामः ।

सद्रत्नमुक्ताफलभर्मशोभां सम्वंहयन्तीं रघुवर्ग्यलक्ष्मीम् ॥ ४८ ॥

लब्धामित्यादि—ततो दानानन्तरम् लब्धां तामात्मनीनाम् आत्मने
हिताम् । ' आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्त्वः । ५ । १ । ९ ।' इति खः । रामः उद-
वोढ । वहेः स्वरितेत्त्वात्वात्कर्तुः क्रियाफलविवक्षया तङ् । विश्वजनीना
विश्वजनाय हिता वृत्तिः प्रवृत्तिर्यस्य रामस्य सः पूर्ववत् खः । सती उत्कृष्टा
रत्नादिशोभा यस्याः । तैरलंकृतत्वात् । तां सद्रत्नमुक्ताफलभर्मशोभाम् । भर्म
स्वर्णम् । सर्वधातुभ्यो मानिन् । 'भर्मभूपाम्' इति पाठान्तरम् । सद्रत्नादि
भूपा अलङ्कारो यस्या इति योज्यम् । 'गुरोश्च हलः । ३ । ३ । १०३ ।'
इत्यकारः । सम्वंहयन्तीं संवहुलामतिस्थिरां कुर्वाणाम् । बहुलशब्दात् 'तत्क-
रोति तदाचष्टे' इति णिचि इष्टवद्भावात् 'प्रियस्थिरत्स्फिरोरुवहुलगुरुवृद्ध-
त्प्रदीर्ववृन्दारकाणां प्रस्यत्स्फर्व्वहिर्गर्वापिन्नवृद्गाधिवृन्दाः । ६ । ४ । १५७ ।'
इति वंहादेशः । पश्चात्तदन्तस्य संपूर्वस्य साधनेन योगः । कामित्याह—रघु-
वर्ग्यलक्ष्मीमिति । रघुवर्गं भवां विभूतिम् । 'वर्गान्ताच्च । ४ । ३ । ६३ ।'
इत्यनुवृत्तौ 'अशब्दे यन्खावन्यतरस्याम् । ४ । ३ । ६४ ।' इति यन् ॥ ४८ ॥

सुप्रातमासादितसंमदं तद् वन्दारुभिः संस्तुतमभ्ययोध्यम् ।

अश्वीयराजन्यकहास्तिकाऽऽद्यमगात् सराजं बलमध्वनीनम् ४९ ॥

सुप्रातेति—विवाहं निर्वर्त्य प्रभाते अयोध्याभिमुखं तद्गलं दशरथस्यागतं
गतवन् । सुप्रातं निरुपद्रवत्वात् । शोभनं प्रातर्दिनमुखं यस्य बलस्य । 'सु-
प्रातसुधसुदिवशारिकुक्षचतुरश्रैणापिदाजपदप्रोष्टपदाः । ५ । ४ । १२० ।'
इति समासान्तष्टिलोपश्च निपात्यते । आसादितसंमदं प्राप्तहर्षम् । 'प्रमद-
सन्मदौ हर्षे । ३ । ३ । ६८ ।' इति निपातनम् । वन्दारुभिः संस्तुतं कृत-
स्तवम् । अभ्ययोध्यम् अयोध्याभिमुखम् । 'लक्षणेनाऽभिप्रती आभिमुख्ये
। २ । १ । १४ ।' इति अव्ययीभावः । अश्वानां समूहो अश्वीयम् । 'केशा-

१ ' भर्म स्यात् काञ्चने भृतां' इति मेदिनी २ आसादितः सम्मदो येन तादृश-
मित्यर्थः । ' प्रमोदानोदसन्मदाः' इत्यमरः । ३ ' वृन्दे त्वश्वीयमाश्ववत्' इत्यमरः ।

भ्यां यञ्छौ— ४ । २ । ४८ ।' इति छः । राजन्यानां क्षत्रियाणां संम-
 राजन्यकम् 'गोत्रोक्षोष्टोरधराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याजाहुञ्छौ ४ । २ । ३९ ।'
 ते बुञ् । 'प्रकृत्याके राजन्यमनुष्ययुवानः' इति प्रकृतिभावादपत्ययकार-
 णो न भवति । हस्तिनां समूहो हास्तिकम् । 'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्
 १ । २ । ४७ ।' इति ठक् । एषां 'सेमाङ्गत्वात् द्वन्द्व एकवद्भावः । तेनाढ्यमुप-
 शतमिति वृत्तीयेति योगविभागात् समासः । सह राज्ञेति विगृह्य साकल्यव-
 ने यौगपद्ये वाच्ययीभावः । 'अव्ययीभावे चाकाले । ६ । ३ । ८१ ।'
 ते सभावः । 'अनश्च' । ५ । ४ । १०८ ।' इति टच् समासान्तः । अँध्वनी-
 मध्वानमलंगासीति तं तादृशम् 'अध्वनो यत्खौ । ५ । २ । १६ ।' 'आत्माध्वानौ
 । ६ । ४ । १६९ ।' इति प्रकृतिभावः ॥ ४९ ॥

विशङ्कटो वक्षसि बाणपाणिः सम्पन्नतालद्वयसः पुरस्तात् ।

भीष्मो धनुष्मानुपजान्वरत्नरैति स्म रामः पथि जामदग्न्यः ॥ ५० ॥

विशङ्कटेत्यादि—एवमस्य गच्छतः पथिः मार्गं । सप्तम्यां 'भस्य टेलोपः
 । १ । ८ । ८ ।' पुरस्तादग्रतः । 'अस्ताति च । ५ । ३ । ४० ।' इति पूर्वस्य पुरादेशः ।
 सो जामदग्न्यः । जमदग्न्येः पत्यं रामोऽयम् । गर्गादिपाठाद्यत् । स ऐति स्म
 गतवान् । आङ्पूर्वादिणो लट् । 'एत्येधत्सु । ६ । १ । ८९ ।' इति वृद्धिः ।
 ससि विशङ्कटो वक्षसि विशालः 'वेः शालच्छङ्कटचौ । ५ । २ । २८ ।' इति
 ङ्कटच् । बाणः पाणावस्येति बाणपाणिः । 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ,
 सप्तम्यन्तस्य परनिपातः । संपन्नो निष्पन्नो यस्तालवृक्षः स प्रमाणं यस्य स
 थोक्तः । 'प्रमाणे द्वयसच्दन्नब्रूमात्रचः ५ । २ । ३७ ।' भीयते अस्मादिति
 षेष्मः । 'भियः पुग्वा' इति औणादिको मक्प्रत्ययः । वा पुगागमश्च ।
 गीमादयोऽपादाने । ३ । ४ । ७४ ।' इत्यपादाने साधुः । धनुष्मान् धनुपा-
 णः । संसर्गो मतुप् । जानुनोः समीपमुपजानु । सामीप्येऽव्ययीभावः ।
 पजानु अरत्निर्यस्य स तथोक्तः प्रलम्बवाहुरित्यर्थः ॥ ५० ॥

उच्चैरसौ राघवमाह्वतेदं धनुः सबाणं कुरु माऽतियासीः ।

पराक्रमज्ञः प्रियसन्ततिस्तं नम्रः क्षितीन्द्रोऽनुनिनीपुरुचे ॥ ५१ ॥

१ 'अथ राजकम् । राजन्यकं च नृपतिक्षत्रियाणां गणे क्रमात् ।' इत्यमरः ।
 २ 'हास्तिकं गंजता वृन्दे' इत्यमरः । ३ 'अध्वनीनोऽध्वगोऽध्वन्यः' इत्यमरः
 ४ 'विशङ्कटं पृथु वृहत्' इत्यमरः । ५ भयङ्कर इत्यर्थः । 'दारुणं भीषणं भीष्म-
 त्यमरः ।

उच्चैरित्यादि—उच्चर्महता ध्वनिना राघवं दशरथिम् एवं वक्ष्य
 आहूतवान् । ‘स्पर्धायामाङः ।१।३।३१’ इत्यात्मनेपदम् । ‘आत्मनेपदे
 स्याम् ।२।४।४४’ इति च्लेरङ् । धनुः सवाणं कुरु । धनुषि वाणमार
 युद्धाय सज्जीभवेत्यर्थः । मातियासीः मातिक्रम्य गमनं कार्षीः । यातेम
 लुङ् । अडभावः । ‘यमरमनमातां सकृच ।७।२।७३’ इति इट् । ‘इट्
 ८।२।२८’ इति सिचा लोपः । अथ क्षितीन्द्रो दशरथः तम्
 ‘त्रुवो वचिः ।२।४।५४’ आदेशस्य स्थानिवद्भावेन कर्तुः क्रियाफलविव
 तङ् न । वचेः परस्मैपदित्वात् । ‘वचिस्वपियजादीनां किति ।६।१।१५’
 सम्प्रसारणम् । पराक्रमज्ञः यतस्तस्य पराक्रमं जानाति राजा । प्रियस-
 प्रिया सन्ततिर्यस्यं सः । रामे व्यापादिते मा भूत्सन्तानविच्छेद इति
 प्रणतो भूत्वा अनुनिनीपुः अनुनेतुमिच्छुः ॥ ५१ ॥

तदनुनयमाह—

अनेकशो निर्जितराजकस्त्वं पितृनताप्सीं नृपरक्ततोयैः ।

सङ्क्षिप्य संरम्भमसद्विपक्षं काऽऽस्थाऽर्भकेऽस्मिस्तव राम रामे

अनकश इत्यादि—संरम्भं क्रोधं संक्षिप्य उपसंहर । क्षिपेः लोटि म
 मैकवचने रूपम् । श्यन् । एकमेकमिति विगृह्य । ‘सङ्क्षिप्यैकवचनाच्च वीप्सा
 ।५।४।४३’ इति शस् । पञ्चान्नञ्समासः । अनेकशोऽनेकप्रकारमिति वि
 विशेषणमेतत् । निर्जितं पराजितं राजकं राज्ञां समूहो येन स निर्
 शत्रुभूतराजमण्डलः । ‘गोवोक्षोऽप्योरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्या
 ।४।२।३९’ इति वुञ् । त्वं पुनः पितृनताप्सीः प्रीणितवानसि । कैः—नृ
 क्ततोयैः । ‘नृप प्रीणने ।’ इत्यस्माल्लुङ् । सिच् । हलन्तलक्षणा वृद्धि
 असद्विपक्षम् असन्नविद्यमानो विपक्षो यस्मिन् संरम्भे । निर्जितराजकत्वा
 रामो विपक्ष इति चेदाह—“काऽऽस्थाऽर्भकेऽस्मिस्तव राम रामे।” इति । हे
 अर्भके वालके रामे तव का आस्था क आदरोऽस्ति । नैवेत्यभिप्रायः ॥ ५१

अजीगणदाशरथं न वाक्यं यदा स दर्पेण तदा कुमारः ।

धनुर्व्यकाक्षीद्गुरुवाणगर्भं लोकानलावीद्विजितांश्च तस्य ॥ ५२

अजीगणदित्यादि—दाशरथं दशरथस्येदं दाशरथम् । ‘तस्ये

४।३।२०।' इत्यण् । वाक्यं वचनम् । यदा दर्पेण मदेन हेतुना स जाम-
न्यः नाजीगणत् न गणितवान् । 'गण संख्याने ।' इत्यस्यादन्तत्वात् वृद्धिः ।
वृद्धिः । ६।१।११।' इति द्विर्वचनम् । 'ई च गणः । ७।४।९७।'
ते अभ्यासस्वेकारः । तदा कुमारो रामो धनुर्व्यकार्क्षान् आकृष्टवान् । 'कृप
त्कार्षणे ।' स्पृशसृशेत्यादिनोपसंख्यानेन सिचि पक्षे रूपम् । हलन्तलक्षणा
द्विः । 'षढोः कः सि । ८।२।४१।' इति कत्वम् । कृतदारकर्मापि
त्रः पितरि जीवति कुमार इति व्यपदिश्यते । गर्भयतीति गर्भः । गुरु-
णो गर्भो यस्य धनुषः । लोकांश्च स्वप्रभावाद्विजितान् । तस्य परशुरामस्य ।
लुनावीत् छिन्नवान् । लुनातेर्लुङि सिचि वृद्धौ रूपम् । समुच्छिद्यन्तामत्या
शोका इति अमोघसखं सुक्तवानित्यर्थः । ततः प्रभृति तस्य सर्वं तेजोऽपहृतम् ॥५३॥

जिते नृपाश्चै सुमनीभवन्ति शब्दायमानान्यशनैरशङ्कम् ।

वृद्धस्य राज्ञोऽनुमते बलानि जगाहिरेऽनेकमुखानि मार्गान् ॥५४॥

जित इत्यादि-जिते नृपाश्चै परशुरामे बलानि सैन्यानि मार्गान् पथः-
गाहिरे अवष्टब्धवन्ति । वृद्धस्य राज्ञो दशरथस्यानुमते सति गच्छतेति । जाम-
न्यसंरम्भादसुमनांसि सुमनांसि सन्ति सुमनीभवन्ति बलानि । 'अरुमेन-
क्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च । ५।४।५१।' इति च्वावन्त्यस्य लोपे 'अत्य
शौ । ७।४।३२।' इतीत्वे रूपम् । शब्दायमानानि । अशनैः सुप्तु शब्दं
सुर्वाणानि । एवं जितस्तथा जितो नृपारिरिति । ' शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेव-
प्रः करणे । ३।१।१७।' इति क्यङ् । अशङ्कं निर्भयं जगाहिर इति क्रिया-
शेषणम् । अनेकमुखानि पृथग्भूतानि पूर्वं भयेन बहुलीभूतत्वादर्नीकानां
हुवचनमिति ॥ ५४ ॥

अथ पुरुजवयोगान्नेदयद्दूरसंस्थं

द्वयदतिरयेण प्राप्तमुर्वीविभागम् ।

कुमरहितमचेतन्नीरजीकारितक्ष्मां

बलमुपहितंशोभां तूर्णमायादयोध्याम् ॥ ५५ ॥

अथेत्यादि-अथेत्यानन्तर्ये । बलं दाशरथम् । तूर्णं शीघ्रम् । 'रूप्यमन्वर-
घुषाऽऽस्वनाम् । ७।२।२८।' इति पक्षे इडभावः । 'ज्वरत्वरस्त्रिव्य-

१ लूज् छेदने । २ नृपा अरयः वध्यत्वेन वधकत्वेन च शत्रवः यन्त्र-
रामो हि पूर्वं नृपान् हतवान् सम्प्रति च स्वयं जित इति तथोक्तत्वम्

विमवामुपधायाश्च । ६ । ४ । २० ।' इति वकारोपधयोरुह । ' रदाभ्याम् । ८ । २ । ४२ । ' इति चत्वरम् । अयोध्यामायात् आगतम् । आ पूर्वाद्यातेल्लङि रूपम् । पुरुर्महान् वेगो जवः तेन योगात् । पूर्यते वर्धते । पुरुः । ' कुर्धश्च' इत्यधिकृत्य 'पृभिदिव्यधिगृधिधृषिभ्यः' इति कुप्रत्ययः दूरसंस्थं दूरे सन्तिष्ठत इति कः । उर्वाविभागम् । नेदयत् अन्तिकं कुर्वन् अन्तिकशब्दात् समीपवाचिनः तत्करोतीति णिच् । इष्टवद्भावात् ' अन्ति वाढयोर्नेदसाधौ । ५ । ३ । ६३ ।' इति नेदादेशः पश्चाल्लट् । शतरि शप् । अदेशः । प्राप्तं विपयीकृतं चोर्वाविभागं भूविभागम् । अतिरयेण अतिवेगे द्रवयत् दूरीकुर्वत् पश्चाद्भागेन । दूरशब्दात् पूर्ववाणिगाचि इष्टवद्भावे च ' दूरयुवहस्वाक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः । ६ । ४ । १५६ । ' यणादिपरलोपः पूर्वस्य च गुणः । पश्चात्तथा एव लडादयः । कृमरहितम् । गतश्रमम् । अचेतत् कियद्दूरमागतोऽहमित्यवुध्यमानम् । ' चिती संज्ञा इत्येतस्य शतरि रूपम् । अनिरजा नीरजाः कारितेति ' अरुर्मनश्चक्षुश्चेतो रजसां लोपश्च । ५ । ४ । ५१ ।' इति च्वावन्यलोपः । ' अस्य च्चौ । ७ । ४ । ७ इतीत्वम् । नीरजाकारिता क्षमा भूमिर्यस्यामयोध्यायां ताम् । सिक्तसंस्पृष्टामित्यर्थः । उपहितशोभाम् लत्रध्वजपताकाभिरारोपितशोभाम् ॥ ५५ ॥

इति श्रीजयमङ्गलसूरिविरचितया जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृतं श्रीभट्टिकाव्ये प्रथमे प्रकीर्णकाण्डे लक्षणरूपे द्वितीयः परिच्छेदः
लक्ष्यरूपे कथानके सीतापरिणयो नाम द्वितीयः सर्गश्च ॥

तृतीयः सर्गः ।

वधेन सङ्ख्ये पिशिताऽज्ञानानां क्षत्राऽन्तकस्याऽभिभवेन चैव आढ्यं भविष्णुर्यशसा कुमारः प्रियं भविष्णुर्न स यस्य नाऽऽसीत् ॥
वधेनेत्यादि-सङ्ख्ये संग्रामे पिशिताज्ञानानां राक्षसानाम् । पिशितं मज्जन्तं चेपामिति । तेषां वधेन हननेन । ' हनश्च वधः । ३ । ३ । ७६ । ' अप्रत्यये वधादेशः । कृतप्रयोगे कर्मणि पठौ । क्षत्रान्तकस्य परशुरामाभिभवेन पराजयेन च ' ऋदोरप् । ३ । ३ । ५७ । ' चैवशब्दो निपातसमुच्चये । तेन हेतुभूतेन । यशसा आढ्यं भविष्णुः । अनाढ्य आढ्यो भू ' कर्तारि भुवः त्रिष्णुच्च्वुक्त्रौ । ३ । ३ । ५७ । ' इति त्रिष्णुच् ' अरुद्विपदजन्तस्य

।दि७] इति सुम् । कुमारो यस्य स प्रियंभविष्णुः । यस्यापि प्राक् प्रियो न
। पश्चादपि तथैव न प्रियो भूतः स नासीत् न बभूव ॥ १ ॥

ततः सुचेतीकृतपौरभृत्यो राज्येऽभिषेक्ष्ये सुतमित्यनीचैः ।

आघोषयन्भूमिपतिः समस्तं भूयोऽपि लोकं सुमनीचकार ॥ २ ॥

तत इत्यादि—ततः प्रियम्भविष्णुताया अनन्तरं भूमिपतिर्दृशरथो लोकं
तीचकार । किमयं सम्यक् पालयिष्यति न वेति असुचेतसः पांरा भृत्याश्च
ताः ते सम्यक्पालनात् सुचेतसः कृता येन स सुचेतीकृतपौरभृत्यः । भूयो-
। पुनरपि लोकं समस्तं सुमनीचकार । कथमित्याह—राज्यं राजक्रमणि
कलक्षणे सुतं रामं अभिषेक्ष्ये तदभिषेकं करिष्यामीति । सिचेन्भयपदित्वा-
। अनीचैर्महता ध्वनिना । आघोषयन् घोषणां कारयन् । सुचेतीसुमनीश-
। 'अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च । ५।४।५१' इति साधू ॥ २ ॥

आदिक्षदादीप्तकृशानुकल्पं सिंहासनं तस्य सपादपीठम् ।

सन्तप्तचामीकरवल्गुवज्रं विभागविन्यस्तमहार्घरत्नम् ॥ ३ ॥

आदिक्षदित्यादि—तस्य रामस्य सिंहासनमादिक्षन् आदिष्टवान् एवंविधं
रयेति । दिशेः स्वरितेतो लुङि 'शल इगुपधादनिटः कसः । १।१।४५' इति
। कसः । अकर्तृगामिक्रियाफलत्वात्तिप् । आदीप्तकृशानुकल्पं ज्वलिता-
तुल्यम् । तस्य कारणमाह—सन्तप्तचामीकरवर्णानि उत्तमसुवर्णवर्णानि वज्राणि
सन् । तथा विभागेषु विन्यस्तानि अतिमहार्घाणि रत्नानि पद्मरागादीनि
। सपादपीठं सह पादपीठेन ॥ ३ ॥

प्रास्थापयत्पूगकृतान्स्वपोषंपुष्टान्प्रयत्नाद्दृढगात्रवन्धान् ।

सभर्मकुम्भान्पुरुषान्समन्तात् पत्कापिणस्तीर्थजलाऽर्थमाशु ॥ ४ ॥

प्रास्थेत्यादि—तीर्थजलार्थं पुरुषान् प्रयत्नात् आदरेण । समन्तात् सर्वासु
क्षु । आशु शीघ्रं प्रास्थापयत् प्राहिणोत् । प्रपूर्वास्तिष्ठतिर्गमने वर्तते । तस्य हेतु-
ण्यन्तस्य लुङि रूपम् । पूगकृतान् अपूगाः पूगाः कृताः इति 'श्रेण्यादिपु
व्यर्थवचनम्' इति समासः । संघीकृतानित्यर्थः । स्वपोषं पुष्टान् । 'स्वे पुषः
१।४।४०' इति णमुल् । 'अमैवाव्ययेन । २।२।२०' इति समासः । यथाविध्यनु-
योगश्च । दृढो गात्रवन्धो येषां तान् । संयतकायान् । महाभारोद्धहनक्षम-

१ प्रसन्नं चकार । २ तत एवाह किमयमित्यादि । ३ आङ्पूर्वकरय 'दिश
प्रतिसर्जने' इत्यत्य लुङि रूपमिदम् ।

त्वात् सभर्मकुम्भान् ससुवर्णकलशान् । पत्काषिणः । पादौ केषितुं
शीलं येषामिति । 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये ।३।१७७।' 'हेः क षिह'
च ।६।३ । ५४ ।' इति पदादेशः । पदातीनित्यर्थः । आश्विति 'कृव षि'
स्वदिसाध्यशूभ्य उण्' इत्युणादिकादुण ॥ ४ ॥

उक्षान्प्रचक्रुर्नगरस्य मार्गान् ध्वजान्बवन्धुर्मुमुचुः खधूपान् ।

दिशश्च पुष्पैश्चकरुर्विचित्रैरथेषु राज्ञा निपुणा नियुक्ताः ॥ ५ ॥

उक्षानित्यादि—ये निपुणा अर्थेषु कार्येषु राज्ञा दशरथेन नियुक्ताः आ
कृतास्ते नगरस्य मार्गान् पथः । उक्षान् सेकवतः प्रचक्रुः । उक्षणमुक्षा । 'गु
श्च हलः ।३।३।१०३।' इत्यकारः । सा विद्यते येषामिति 'अर्शआदिभ्योऽ
५।१।१२७।' 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः ।३।१।३६।' इत्यामप्रत्यये कुरि
नुप्रयोगो न घटते । 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि ।३।१।४०।' इत्यनुशब्दस्य व्यय
तानि वृत्त्यर्थत्वात् । ध्वजान् बवन्धुः उच्छ्रायितवन्तः । मुमुचुः खधूपान्
घटिकादिभिर्धूपान्मुमुचुः प्रमुक्तवन्तः । दिशश्च पुष्पैश्चकरुः छादितवन्त
'कृ विक्षेपे ।' इत्यस्य लिटि 'ऋच्छत्यृताम् ।७।४।११।' इति गुणः । विचि
नानाप्रकारैः ॥ ५ ॥

मातामहाऽऽवासमुपेयिवांसं मोहादपृष्ट्वा भरतं तदानीम् ।

तत्केकयी सोढुमशक्रुवाना ववार रामस्य वनप्रयाणम् ॥ ६ ॥

मातेत्यादि—तत्पूर्वोक्तमभिपेक्षसंविधानं सोढुमशक्रुवाना
केकयी केकयस्य देशविशेषस्य, लक्षणया तदीशस्येति यावन् । इयं
तथोक्ता रामस्य वनप्रयाणं ववार प्रार्थितवती राज्ञ इत्यर्थान् । सहेः शक्रोत्
पदे 'शकधृपज्ञाग्लाघटरभलभक्रमसहार्हास्त्यर्थेषु तुमुन् ।३।४।६५।'
तुमुन् । तत्र नन्वा शक्यर्थस्य प्रतिषेधेऽपि न दोषः प्रतिषेधस्य बाहिरङ्गत्वात्
शक्रोतेः परस्मैपदित्वान् शान्तज्ञ नास्ति । 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु च
नञ् ।३।२।१२९।' इति चानञ् । न्वादित्वान् श्नुः । 'अचि श्नुधातुध्रुवां च
रियहुवडौ ।६।४।७७।' इत्युवङ् । किं कृत्वेत्याह—तदानीं प्रा
नाकाले देशान्तरावस्थितत्वान् किमेवं क्रियते न वेति न
पृष्टवती । देशान्तरावस्थितिं दर्शयन्नाह—मातामहावासमिति

पुः पिता मातामहः । 'पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः । १४।२।३६।' इति
 शतनात् डामहच् । आवासः निलयम् । आवसत्यस्मिन्निति अधिकरणे घञ् ।
 यिवांसम् । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च । ३।२।१०९।' इति निपातितः । मोहाद्वा-
 [। दूतप्रेषणेनापृष्ट्वा । रामस्येति कर्तरि षष्ठी । वनाय प्रयाणं गमनमिति चतुर्थीति
 विभागात् समासः । 'गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि
 ३।१२।' इति चतुर्थी । परत्वात्कृलक्षणया षष्ठ्या भवितव्यमिति चेत् न ।
 ॥ द्वितीयाग्रहणात्परामपि षष्ठीं बाधित्वा द्वितीयैव यथा स्यादिति । यद्येवं
 नैव स्यात् न चतुर्थी । नैष दोषः । द्वितीयाग्रहणस्योपलक्षणाय त्वान् ।

च वृत्तावुभयमुक्तं—ग्रामं गन्ता ग्रामाय गन्तेति ॥ ६ ॥

र्णेजपैराहितराज्यलोभा स्त्रेणेन नीता विकृतिं लघिम्ना ।

रामप्रवासे व्यमृशन्न दोषं जनाऽपवादं सनरेन्द्रमृत्युम् ॥ ७ ॥

र्णइत्यादि—कर्णे जपन्ति कर्णेजपाः सूचकाः मन्थरादयः । 'स्तम्ब-

रे रामजपोः । ३।२।१३।' इत्यच् । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम् । ६।३।१४।'

सप्तम्या अलुक् । तैराहितः आनायितो राज्यलोभो यस्याः सैवम् । स्त्रेणेन

। अयम् । 'स्त्रीपुंसाभ्यां नव्स्नञौ भवनात् । ४।१।८७।' इति नञ् ।

र्णवो लघिमा 'पृथ्वादिभ्य इमानिञ्वा । ५।१।१२२।' इतीमानिच् ।

पः । तेन विकृतिमन्यथात्वं नीता केकयी रामप्रवासे सति दोषं न व्यमृ-

नालोचितवती । 'मृश आमशने ।' इति तौदादिकस्य लङि रूपम् ।

रूपं दोषम् -- जनापवादं लोकैवमुख्यम् । राज्यार्हो ज्येष्ठः पुत्रोऽनया

जेत इति । नरेन्द्रस्य दशरथस्य मृत्युना सह वर्तमानम् ॥ ७ ॥

वसूनि देशांश्च निवर्तयिष्यन् रामं नृपः संगिरमाण एव ।

तयाऽवजज्ञे भरताऽभिषेको विषादशङ्कश्च मतौ निचखे ॥ ८ ॥

वसूनीत्यादि--रामं निवर्तयिष्यन् रामं निवर्तयितुं वसूनि द्रव्याणि देशां-

सङ्गिरमाण एव प्रतिजानान एव दास्यामीति नृपो राजा कैकेय्या तदनङ्गीक-

रवजज्ञे अवज्ञातः । ज्ञा इत्ययं धातुरवपूर्वोऽवज्ञानं वर्तते । तस्मात्कर्मणि

। 'गमहनजनखनघसां लोपः क्लियनङि । ६।४।९८ । इत्युपधा-

ः । तत्र वृतेर्हेतुमण्यन्तात् क्रियार्थोपपदे लट् । सङ्गिरणं च क्रिया ।

स्तौदादिकात् 'अवाद्ग्रः । १।३।५१।' इति अधिकृत्य 'समः प्रतिज्ञाने । १।३।५।'

इति तङ् । शानच् । 'ऋत उत् । ७।१।१००।' 'आने मुक् । ७।२।२८।'

अत्र परिकरः । २ अत्र समासपुनरात्त्वमिति तृतीयचतुर्थपादौ व्यत्ययेन
 तीर्थौ ।

इदं चापरमनुष्ठितं तथाः भरता राज्येऽभिषिच्यतामिति भरताभिषेको म
मनसि निचक्षे निखातः । कर्माणे लिट् । 'गहमनजनखनघसां लोपः क्लित्यन्
। ६ । ४ । ९८। इत्युपधालोपः। तथा विषादः शंकरिव शल्यमिव निचक्षे । ज्ये
त्वात् नायं समभिषिच्यत इति विषादः । संप्रामात्किल परिश्रान्तमागतं द
रथं केकयी परिचचार तेन परितुष्टेनोक्तं किं ते दास्यामीति । सा प्राह यद्
यिष्यते तदा यूयं दास्यथेति सा तदवसरं बुद्ध्वा वरद्वयं प्रार्थितवती । ए
रामस्य वनगमनं द्वितीयो राज्ये भरतोऽभिषिच्यतामिति ॥ ८ ॥

ततः प्रवित्राजयिषुः कुमारमादिक्षदस्याभिगमं वनाय ।

सौमित्रिसीतानुचरस्य राजा सुमन्त्रनेत्रेण रथेन शोचन् ॥ ९ ॥

तत इत्यादि—केकयीप्रार्थनानन्तरं राजा कुमारं रामं प्रवित्राजयिषुः प्रं
न्तमेनं प्रव्राजयितुमिच्छुः ब्रजेहेतुमण्यन्तात्सन् । अस्य कुमारस्य । रथेन व
भिगममभिगमनम् । 'ग्रहवृट्निश्चिगमश्च । ३ । ३ । ५८।' इत्यप् । अ
क्षत् आदिष्टवान् । अत्येति कर्तरि पठ्ठी । वनायेति । 'गत्यर्थकर्मणि द्विती
चतुर्थ्यां चेष्टायामनध्वनि- । २ । ३ । १२ ।' इति चतुर्थी । सौमित्रिसी
नुचरस्य लक्ष्मणसीतासहायस्य । सुमित्राया अपत्यम् । बाह्वादित्वादिञ् । स
रत्वेनाभ्यार्हितत्वात् पूर्वनिपातः । अनु पश्चाच्चरतीति अनुचरः 'भिक्षास्मेन
येषु च । ३ । २ । १७।' इति चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् टः । अनुचर
नुचरी च । 'पुमान् स्त्रिया । १।२।६७।' तावनुचरौ सौमित्रिसीते अनु
सहायौ यत्न । कालापिकास्ततोऽन्यत्रापि पठन्ति अधिकरणोपपदे 'चरेष्टः'
र्थः । नीयतेऽनेनेति नेत्रं लोचनम् । 'दात्रीशसयुयुजन्तुनुज्ञसिसिचमिहपत
नहः करणे । ३ । २ । १८२ ।' इति ष्ट् । सुमन्वनामा रथवाहको नेत्रमिव
रथस्य तद्वशात्तस्य प्रवृत्तेः । शोचन् परिद्वयमानो राजा ॥ ९ ॥

केचिन्निनिन्दुर्नृपमप्रशान्तं विचुक्रुः केचन साऽस्त्रमुच्चैः ।

उचुस्तथाऽन्ये भरतस्य मायां धिक्केकरीमित्यपरो जगाद् ॥ १० ॥

केचिदित्यादि—राज्ञा वनगमने समादिष्टे सति केचिज्जना नृपं निदि
कुत्सितवन्तः । 'शिदि कुत्सायाम् ।' अप्रशान्तं वृद्धभावेऽपि स्त्रीवशम् । के
केचित्तान् सवाप्समुच्चैः सुष्टु विचुक्रुः सुतरामाक्रन्दितवन्तः । तथान्ये
तस्य नायां शाठ्यमृचुः उक्त्वन्तः । तत्कृतोऽयं प्रयोगो येनात्सरक्षगार्थं न
महनिवासे स्थित इति । अपरो धिक्केकरीययैवमनुष्ठितामिति जगाद् गदित्
'विशुपर्यादिषु त्रिषु' इति धिग्योगे द्वितीया ॥ १० ॥

गतो वनं श्वो भवितेति रामः शोकेन देहे जनताऽतिमात्रम् ।

धीरास्तु तत्र च्युतमन्यवोऽन्ये दधुः कुमाराऽनुगमे मनांसि ॥११॥

गत इत्यादि—श्व आगामिनि दिवसे वनं गतो रामो भवितेति तास् ।
नता जनसमूहः । 'ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् ॥४२॥४३॥' इति तल् । देहे दग्धा ।
र्मणि लिट् । 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि ॥६॥४१२०॥' इत्येत्वाभ्यासलोपौ ।
त इति भूतकालः श्वो भवितेति भविष्यत्कालेन सम्बध्यमानः साधुः । 'धातु-
म्बन्धे प्रत्ययाः । ३॥४१॥' इति । ये तु तत्र धीराः ते च्युतमन्यवो विगत-
तेकाः सन्तः कुमारानुगमे कुमारस्य पश्चाद्गमननिमित्तं मनांसि दधुः कृत-
न्तः । राममनुव्रजाम इति । निमित्तात्कर्मसंयोगे सप्तमीति । मनांसीति कर्मणा
ागात् ॥ ११ ॥

प्रस्थास्यमानावुपसेदुषस्तौ शोशुच्यमानानिदमूचतुस्तान् ।

किं शोचतेहाभ्युदये वताऽस्मान् नियोगलाभेन पितुः कृताऽर्थान् १२

प्रस्थेत्यादि—ता रामलक्ष्मणौ प्रस्थास्यमानौ गमिष्यन्तौ । 'समवप्रविभ्यः
थः । १॥३१२२॥' इति तल् । जनान् इदं वक्ष्यमाणमूचतुः उक्तवन्तौ । त्रुवी-
प्रथग्रहणान् वचेद्विकर्मकता । उपसेदुपस्तौ ढौकितवतः जनान् । 'भापायां सद-
सश्रुवः । ३॥२११८०॥' इति कसुः । शोशुच्यमानान् अत्यर्थं शोकं कुर्वतः । भृशार्थे
इड् । किमूचतुरित्याह—किं शोचतेति । हे जनाः ! कस्मादस्मान् शोचत परि-
वेयध्वम् । विधावपूर्वार्थप्रकाशने लोट् । इहाभ्युदये वतशब्दो विस्मये ।
स्मिन् आश्चर्यभूते अभ्युदये वृद्धौ सत्याम् । कुत इत्याह—पितुर्नियोगला-
भेन वनगमनाज्ञालाभेन कृतार्थान् लब्धप्रयोजनान् । कृतार्थत्वादशोच्या वय-
मित्यर्थः ॥ १२ ॥

असृष्ट यो यश्च भयेष्वरक्षीद् यः सर्वदाऽस्मानपुषत्स्वपोपम् ।

महोपकारस्य किमस्ति तस्य तुच्छेन यानेन वनस्य मोक्षः ॥१३॥

असृष्टेत्यादि—असृष्ट जनितवान् । सृजेदँवादिकस्यात्मनेपदित्वात् लुङि
रूपम् । न तौदादिकस्य परस्मैपदित्वात् 'सृजिदृशोर्ल्यमाकिति ॥६॥१५८॥' इत्यम् ।
यश्च भयेषु सत्सु अरक्षीत् पालितवान् । 'रक्ष पालने' इत्यस्य लुङि
रूपम् । यः सर्वदा सर्वकालम् । 'सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा ॥५॥३॥१५॥' इति
द्वाप्रत्ययः । यश्चापुपत् पुष्टवान् । स्वपोषं धनेनास्मानपुपत् । पुपेर्लुङि रूपम् ।
'पुषादिद्युताद्यूलदितः परस्मैपदेषु ३॥१॥५५॥' इत्यड् । 'स्वे पुषः । ३ ॥ ४ ॥ ४० ॥'

१ च्युतशोक्त्वे धीरत्वं हेतुः ।

इति णमुल् । 'अमैवाव्ययेन ।२।२।२०।' इति समासः । 'यथाविध्यनुप्रयोग-
ग-३ । ४।४।' तस्य पितुः सम्बन्धिनो महोपकारस्य किमस्ति मोक्षः प्रत्युप-
कारो नैवेति भावः । केनेत्याह—तुच्छेन असारेण वनस्य यातेन । याते-
र्भावे ल्युट् । वनस्येति-शेषसामान्ये षष्ठी । कृलक्षणायास्तु षष्ठ्या गत्यर्थकर्मणि
चतुर्थ्या वाध्यमानत्वात् ॥ १३ ॥

विद्युत्प्रणाशं स वरं प्रनष्टो यद्बोध्वशोषं तृणवद्विशुष्कः ।

अर्थे दुरापे किमुत प्रवासे न शासनेऽवास्थित यो गुरुणाम् ॥१४॥

विद्युदित्यादि—अर्थे कार्यविशेषे दुरापेऽपि कृच्छ्रप्राप्येऽपि । 'ईपद्दुःसुपु-
३।३।१२६।' इति खल् । गुरुणां यच्छासनमादेशः तस्मिन् यो नावास्थित नाव-
स्थितवान् । अवपूर्वात्तिष्ठतेर्लुङ् । 'समवप्रविभ्यः स्थः ।१।३।२२।' इति त
'स्थाध्वोरिञ् ।१।२।१७।' इति कित्त्वमित्त्वं च । 'ह्रस्वादङ्गान् ।८।२।२७।' इति
सिचो लोपः । स वरं विद्युत्प्रणाशं प्रनष्टः । विद्युदिवोत्पत्त्यनन्तरमेव विना
गतः । 'उपमाने कर्मणि च ।३।४।४५।' इति चकारात् 'कर्त्रोर्जीविपुरुषयो-
-३।४।४३।' इत्यतः कर्तृप्रहणानुवृत्तौ कर्तृवाचिनि विद्युच्छब्द उपपदे णमुल्
'उपसर्गादनमासेऽपि णोपदेशस्याऽ।४।१४।' इति णत्वम् । यद्वेत्यथवा । स ऊर्ध्वं
शापं तृणवद्विशुष्कः । 'ऊर्ध्वं शुपिपूरोः ।३।४।४४।' इति णमुल् । उभयत्रामै-
त्यादिना समासः । 'यथाविध्यनुप्रयोग-३ । ४ । ४ ।' किमु प्रवासे किम्पु-
प्रवासविषये यच्छासनं तत्र तावदनवास्थितस्य मुतरामेव पूर्वोक्तं प्रयुज्यते ॥१४

पौरा निवर्तध्वमिति न्यगादीत् तातस्य शोकाऽपनुदा भवेत् ।

मा दर्शताऽन्यं भरतं च मत्तो निवर्तयेत्याह रथं स्म सूतम् ॥१५॥

पौरा इत्यादि—हे पौराः ! यथागतं निवर्तध्वम् । विद्यो लोट् । इति ता-
न्यगादीन् उक्तवान् रामः । गदेः 'अतो हलादेर्लघोः ।७।२।७।' इति वृद्धिः । 'इ-
ईटि ।८।२।२८।' इति सिचो लोपः । तातस्य पितुः । शोकापनुदाः शोकस्या-
पहर्तारो भवेत् । तुन्दशोकयोरित्यादिना कः । भवतेर्विधां प्रार्थनायां वा लिङ् ।
मध्यमपुरुषबहुवचनम् । भरतं च मत्तो मत्तः सकाशान् । 'अन्मदः
पञ्चम्यास्तसिल् ।५।३।७।' 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च ।७।२।९८।' इति
मदादेशः । अन्यं भरतं मा दर्शत मा द्रष्टारः स्य । अपि तु योऽहं स एव भरत
इति भावः । स च प्रतिष्ठितः राज्यं पालयिष्यतीत्येव न्यगादीन् । द्योर्मादि
लुङ् । 'शिरतो वा ।३।१।५७।' इत्यङ् । 'ऋदृशोऽङि गुणः ।७।४।१६।'

वर्तय रथामिति सूतं च सुमन्त्रमाह स्म । 'लट् स्मे । ३।२।११८।' इति लट् ।
ब्रुवः पञ्चानामादितं आहो ब्रुवः । ३।४।८४।' इत्याहादेशः तिपो णल् ॥ १५ ॥

ज्ञात्वेङ्गितैर्गत्वरतां जनानामेकां शयित्वा रजनीं सपौरैः ।

रक्षन्वनेवासकृताद्भयात्तान् प्रातश्छलेनाऽपजगाम रामः ॥ १६ ॥

ज्ञात्वेत्यादि—निवर्तध्वमित्युक्ते ये तत्रानिवृत्ताः तेषां जनानां रामो गत्व-
तां गमनशीलतां ज्ञात्वा । ' गत्वरश्च । ३।२।१६४।' इति निपातितः । तैरि-
तैरभिप्रायसूचकैश्चेष्टितैः । इङ्गितैर्भावे निष्ठा । वनेवास इति सप्तमीति योग-
भागात् समासः । ' शयवासवासिपु—६ । ३।१८।' इति विभापासप्तम्या
लुक् । तेन कृतात्सिंहादिभयात् रक्षन् पालयन् तान् पौरान् सपौरैः पौरैः
। ह एकां नतु ततोऽधिकां रजनीं शयित्वा । एकरात्रिपर्यन्तमेव तैः सममेकत्र
यूप्येत्यर्थः । 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे २।३।५।' इति द्वितीया । शयित्वेति
न क्त्वा सेट् । १।२।१८।' इति । कित्त्वप्रतिषेधात् गुणो भवति । प्रातः प्रातः-
गले । छलेन सन्ध्यावन्दनादिव्याजेन अपजगाम गतवान् ॥ १६ ॥

अस्त्राक्षुरस्रं करुणं रुवन्तो मुहुर्मुहुर्न्यधसिपुः कवोष्णम् ।

हा राम हा कष्टमिति ब्रुवन्तः पराङ्मुखैस्ते न्यवृत्तन्मनोभिः ॥ १७ ॥

अस्त्राक्षुरित्यादि—ते पौरा राममपश्यन्तः । करुणं रुवन्तो विलपन्तः ।
'रु शब्दे' इत्यस्य शतीर रूपम् । अस्रम् अश्रु । अस्त्राक्षुः मुक्तवन्तः । सृजे-
तौदादिकस्य परस्मैपदिनः सिचि 'सृजिदशोर्ज्ञल्यमकिति । ६।१।६८।' इत्यम् ।
इलन्तलक्षणा वृद्धिः । ' चोः कुः । ८।२।३०।' ' खारि च । ८।४।५५।' इति
वर्त्वम् । मुहुर्मुहुः भूयोभूयः कवोष्णमीपदुष्णमन्तःसन्तापात् । 'कवं चोष्णे
६।३।१०७।' इति कोः कवाददेशः । न्यधसिपुः । श्वसेर्लुङ् । ' ह्यन्तक्षण-
श्वसजागृणिश्वेदिताम् । ७।२।५।' इति श्वसेर्वृद्धिप्रतिषेधः । 'अतो हलादेर्लघोः
। ७।२।७।' इति विकल्पस्य प्राप्तत्वात् । हा राम हा कष्टं कृच्छ्रमिति ब्रुवन्तः ।
पराङ्मुखैः येन गतो रामस्तेन गतैर्मनोभिरित्थंभूतैः । न्यवृत्तन् निवृत्तवन्तः ।
'बुद्ध्यो लुङि । १।३।९१।' इति परस्मैपदीदकल्पात् । धुतादित्वादङ् ॥ १७ ॥

सूतोऽपि गङ्गासलिलैः पवित्वा सहाऽश्वमात्मानमनल्पमन्युः ।

ससीतयो राघवयोरधीयन् श्वसन्कदुष्णं पुरमाविवेश ॥ १८ ॥

सूत इत्यादि—सूतोऽपि सुमन्त्रः सहाश्वमश्वैः सह । अनल्पमन्युः प्रवृ
शोकः । राघवयोः रामलक्ष्मणयोः । ‘ सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ । १।२
६४।’ इत्येकशेषः । सीतयोः सीतासाहितयोः । अधीयन् स्मरन् । ‘
स्मरणे’ इत्यस्य शतरि रूपम् । यणादेशः । ‘ अधीगर्थदयेशां कर्म्मणि
३।५२।’ इति कर्मणि षष्ठी । श्वसन् । कटुष्णं ईषदुष्णम् । ‘ कवं चोष्णे । ६
३।१०७।’ इति चकारात् कदादेशः । गङ्गातटात्प्रतिनिवृत्त्य पुरमयोध्यामाजग
‘आगतवान् । गङ्गासलिलैः आत्मानं बाह्यमाभ्यन्तरं च पवित्रीकृत्य । ‘पूङ्
।७।२।५१।’ इति विकल्पेनेट् । ‘ पूङ्ः क्त्वा च । १।२।२२।’ इति कित्त्वप्रा
पेधात् गुणः ॥ १८ ॥

प्रतीय सा पूर्वदृशे जनेन द्यौर्भानुशीतांशुनिराकृतेव ।

राजन्यनक्षत्रसमन्विताऽपि शोकाऽन्धकारक्षतसर्वचेष्टा ॥ १९ ॥

प्रतीयेत्यादि—जनेन रामानुयायिना प्रतीय प्रतिनिवृत्त्य । पूरयोध्या दृ
दृष्टा । कर्मणि लिट् । प्रतीय इति ईङ् गतावित्यस्य रूपं न पुनारिणः । तस्य
तुकि प्रतीयेति स्यात् । ‘पत्वतुकोरसिद्धः । ६।१।८६।’ इत्येकादेशस्यासिद्धत्वात्
‘प्रतीयुपा सा दृशे’ इति पाठान्तरम् । प्रतिनिवृत्तेन सा पूर्वदृशे दृष्टेत्यर्थ
अस्मिन् पाठे तु ‘ उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च । ३।२।१०९।’ इतीणः क्व
रूपं द्रष्टव्यमत्रोपसर्गस्यातन्त्रत्वात् । शोकोऽन्धकार इव शोकान्धकारः ।
क्षता नीतानुष्टेयकर्मणि चेष्टा परिस्पन्दो यस्यां पुरे सा तथोक्ता । ‘ राज्ञोऽपत्या
‘ राजश्वशुराद्यन् । ४।१।१३७।’ राजन्याः क्षत्रियाः । ‘ ये चाभावकर्मणोः ।
४।१।६८।’ इति प्रकृतिभावः । राजन्याः नक्षत्राणीव तैः समन्वितापि यं
भानुशीतांशुविनाकृतेव द्यौराकाशः यथा नक्षत्रसमन्वितापि रात्रौ भानुचन्द्राभ
विनाकृता रहिता अन्धकारच्युतसर्वचेष्टा तद्द्रत्सापि भानुचन्द्रस्थानीय
राघवयोर्विरहात् ॥ १९ ॥

विलोक्य रामेण विना सुमन्त्रमच्योष्ट सत्वान्नृपतिश्च्युताऽशः ।

मधूनि नैपीद्वचलिपन्न गर्न्वर्भनोरमे न व्यश्मिष्ट वस्त्रे ॥ २० ॥

विलोक्येत्यादि—रामेण विना सुमन्त्रं विलोक्य दृष्ट्वा नृपतिर्दशरथ
सत्वान् स्वभावादच्योष्ट च्युतः । च्यवतेरकर्मकालट्टुङ् । गतोऽपि मद्रचनम
तिक्रम्य आगच्छेद्राम इति अत्य वा आशा सा च्युता यस्य न च्युताशः

सत्वात् च्युतश्च मधूनि पातुं नैषीत् नेष्टवान् । 'नेष्टि । ७ । २ । ४ ।' इति
सिचि वृद्धिप्रतिषेधः । गन्धैश्चन्दनादिभिर्नालिपत् । लिपेः 'लिपिसिचिह्वश्च
। ३ । १ । ५३ ।' इत्यङ् । मनोरमे चेतोहीरणी वस्त्रे न व्यवसिष्ट न परि-
हितवान् । 'वस आच्छादने ।' इत्यस्मात् लुङ् । अनुदात्तेत्वात्तङ् ॥ २० ॥

आसिष्ट नैकत्र शुचा व्यरंसीत् कृताऽकृतेभ्यः क्षितिपालभाग्भ्यः ।

स चन्दनोशीरमृणालदिग्धः शोकाग्निनाऽगाद्द्युनिवासभूयम् ॥ २१ ॥

आसिष्टेत्यादि—एकत्र स्थाने शुचा शोकेन नासिष्ट नोपविष्टः । 'आस
उपवेशने' इत्यत आत्मनेपदिनो लुङ् । कृतानि चाकृतानि चेति । 'क्तेन नन्वि-
शिष्टेनानन् । २ । १ । ६० ।' इति समासः । असमापितेभ्य इत्यर्थः । क्षितिपालं
भजन्ते यानि दूतप्रेषणादीनि तेभ्यः क्षितिपालभाग्भ्यः । व्यरंसीत् विरतः ।
विमुखोऽभूदित्यर्थः । 'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्' इति अपादा-
नसंज्ञा । रमेर्लुङ् । 'व्याङ्परिभ्यो रमः । १ । ३ । ८३ ।' इति तिप् । 'यम-
रमनमातां सकच । ७ । २ । ७३ ।' इति सगिटौ । स एवम्भूतो राजा चन्दनोशीरमृ-
णालैः शोकाग्निप्रतीकारभूतैर्दिग्ध उपलिप्तोऽपि उद्वेगाग्निनैव द्युनिवासभूयं देव-
त्वंमगात् गतवान् । दिहेर्निष्ठायां 'दादेर्धातोर्घः । ८ । २ । ३२ ।' इति घः । 'झपस्तथो-
र्थो घः । ८ । २ । ४० ।' । 'झलां जश् झशि । ८ । ४ । ५३ ।' इति जश्त्वम् ।
इदिविं निवासो येषां ते द्युनिवासाः देवाः तेषां भाव इति 'भुवो भावे
३ । १ । १०७ ।' इति क्यप् ॥ २१ ॥

विचुकुशुर्भूमिपतेर्महिष्यः केशाल्लुलुञ्चुः स्ववपूंषि जघ्नुः ।

विभूषणान्युन्मुमुचुः क्षमायां पेतुर्बभञ्जुर्वलयानि चैव ॥ २२ ॥

विचुकुशुरित्यादि—भूमिपतें राज्ञो महिष्यः पत्न्यैः । 'अविमहोष्टिपच्'
इत्यौणादिकष्टिषच् । विचुकुशुः रुदितवत्य इत्यर्थः । हा स्वामिन्निति । तथा
केशान् लुलुञ्चुः उत्पादितवत्यः । स्ववपूंषि स्वशरीराणि जघ्नुस्ताडितवत्यः ।
विभूषणानि हारादीनि उन्मुमुचुर्मुक्तवत्यः । क्षमायां भुवि पेतुः । वलयानि
अवैधव्यचिह्नानि बभञ्जुः चूर्णितवत्यः । एते लिङन्ताः । पतेरे-
त्वाभ्यासलपौ ॥ २२ ॥

ताः सान्त्वयन्ती भरतप्रतीक्षा तं बन्धुता न्याक्षिपदाशु तैले ।

दूतांश्च राजाऽऽत्मजमानिनीपून् प्रास्थापयन्मन्त्रिमतेन यूनः ॥ २३ ॥

१ अत्र राज्ञो दशरथस्य स्वर्गं प्रति प्रयाणमुक्तम् । २ अत्र बहुवचनेन लोकानुग-
तिकन्यायेन केकय्या अपि तथा प्रवृत्तौ ग्रहणम् । ३ अत्र स्वभावोक्तिस्तुल्ययोगिता
समुच्चयश्च ।

ता इत्यादि—बन्धुता बन्धुसमूहः । 'ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् । ४ । २ । ४३ ।' ता महिपीः सान्त्वयन्ती तूष्णीं स्थापयन्ती । सान्त्वं करोतीं णिच् । तं दशरथं मृतं तैले न्यक्षिपत् निक्षिपवती । आशु शीघ्रम् । मां भूतिरिति । क्षिपेर्लुङ् । 'पुषादिद्युताद्यलदितः परस्मैपदेषु । ३ । १ । ५५ । इत्यङ् । कस्मान्तमक्षिपदित्याह—भरतप्रतीक्षा तेन संस्कारः कर्तव्य इति । भरतं प्रतीक्षते । 'ईक्षिभिमिभ्यां च ।' इत्युपसंख्यानाण्णः । दूतान् प्रास्थापय प्रहितवती । राजात्मजं भरतमानिनीपून् आनेतुमिच्छन् । अन्यथा केकयीं मुख्याङ्गरतेऽपि वैमुख्याहूता अपि नानेतुमिच्छन्ति । तत्रापि मन्त्रिमतेन स्वमतेन । यूनः तेषां गन्तुं समर्थत्वात् ॥ २३ ॥

सुप्तो नभस्तः पतितं निरीक्षाञ्चक्रे विवस्वन्तमधः स्फुरन्तम् ।

आख्यद्वसन्मातृकुले सखिभ्यः पश्यन्प्रमादं भरतोऽपि राज्ञः ॥२४

सुप्त इत्यादि—भरतोऽपि मातृकुले वसन् सखिभ्यो मित्रेभ्यः आख्य कथितवान् । ख्यातेर्लुङ् । 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् । ३ । १ । १२ ।' इत्यङ् क्रियाप्रहणं कर्तव्यमिति संप्रदानसंज्ञायां चतुर्थी । किमाख्यदित्याह—सुप्तः सन् नभस्तो नभस्तलात् आकाशात्पतितं विवस्वन्तमादित्यं स्फुरन्तं निरीक्षाञ्चक्रे निरीक्षितवान् । ईश्वरेः 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः । ३ । १ । ६ ।' इत्याम् । उत्तमविषये सुप्तप्रमत्तावस्थायां चित्तव्याक्षेपान् परोक्षे लिट् । पश्यन् विलोकयन् । राज्ञो दशरथस्य । प्रमादमनिष्टम् ॥ २४ ॥

अशिश्रवन्नात्यायिकं तमेत्य दूता यदाऽर्थं प्रयियासयन्तः ।

आंहिष्ट जाताऽञ्जिहिपस्तदाऽसावुत्कण्ठमानो भरतो गुरुणाम् २५

अशीत्यादि—दूता एत्य आगत्य भरतमातृकुलमित्यर्थः । अङ्पूर्वादिणः क्तप्रत्ययस्य ल्यापि तुकि च रूपम् । यदा तं भरतमर्थं वचनमशिश्रवन् श्रावितवन्त अर्थयतेऽनेनेति णिच् घञ् । शृणोतेर्ण्यन्ताल्लुङि 'चङि । ६ । १ । १ ।' इति द्विवचनम् । 'स्रवतिशृणोतिद्रवतिप्रवतिप्रवतिच्यवतीनां वा । ७ । ४ । ८ ।' इत्यभ्यासस्त्वम् । आत्ययिकम् अत्ययो विनाशः स प्रयोजनमस्येति तदस्य प्रयोजनमिठञ् । पिता ते न्लानस्त्वां द्रष्टुमिच्छतीति आत्ययिकं वचनम् । तामि 'गतिशुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्मकर्मकाणामणि कर्त्ता सणो । १ । ४ । ५ । २ ।' इति कर्मसंज्ञा । शृणोतेः शब्दकर्मत्वान् अर्थमिति 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म । १ । ४ । ४ ।' इत्यनेन कर्म । प्रयियासयन्तः प्रयातुमिच्छन्तं भरतं प्रयोजितवन्तः सन्नन्वण्यक्तोऽयम् । तदा असौ भरतो जाताऽञ्जिहिपः । जाता अञ्जिहि

गमनेच्छा यस्य सः । 'अहि गतौ ।' 'इदितो नुम् धातोः । ७ । १ । ५८ ।' तस्मादंहितुमिच्छतीति सन् । इट् । 'अजादेद्वितीयस्य । ६ । १ । २ ।' इति हिशब्दो द्विरुच्यते । नकारस्य 'न न्द्राः संयोगादयः । ६ । १ । ३ ।' इति प्रतिषेधः । अभ्यासकार्यम् । अनुस्वारपरसवर्णौ । 'अ प्रत्ययात् । ३ । ३ । १०२ ।' इत्यकार-प्रत्ययः । टाप् । आहिष्ट गतवान् । तस्मादेवात्मनेपदिनो लुङ् । उत्कण्ठमानः स्मरन् । 'मिठि कठि शोके ।' इत्यस्मादात्मनेपदिनो रूपम् । अनेकार्थत्वाद्घातूनाम् । गुरूणां पितामहादीनाम् । 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि । २ । ३ । ५२ ।' इति कर्मणि षष्ठी ॥ २५ ॥

बन्धूनशङ्किष्ट समाकुलत्वा-दासेदुषः स्नेहवशादपायम् ।

गोमायुसारङ्गगणाश्च सम्यङ्नाड्यासिषुर्भीममरासिषुश्च ॥ २६ ॥

बन्धूनित्यादि—दुःस्वप्रदर्शनेन अकस्माच्च पितृदूतागमनेन स्नेहवशात् चेतसि समाकुलत्वाद्भरतो बन्धूनशङ्किष्ट शङ्कितवान् उत्प्रेक्षितवानित्यर्थः । शङ्कतेरात्मनेपदिनो लुङि रूपम् । कीदृशान् आसेदुषः अपायं विनाशं गतवतः । 'भाषायां सद्वसश्रुवः । ३ । २ । १०८ ।' इति कसुः । 'अत् एकहल्-मध्येऽनादेशादेर्लिटि । ६ । ४ । १२० ।' इत्येत्वाभ्यासलोपौ । अस्मद्बन्धुः कश्चित् व्यसनमापन्नोऽभूदिति । गच्छतस्तस्य गोमायुसारङ्गगणाः शृगालमृगगणाश्च सम्यगनुकूलं नायासिषुः नागताः । यातेर्लुङि 'यमरमनमातां सक् च । ७ । २ । ७३ ।' इति सगितौ । शृगालाः प्रदक्षिणं गताः मृगाश्च सव्यमित्यर्थः । भीममुद्वेगकरमरासिषुः रसिताः । रसेः परस्मैपदिनो लुङि । 'अतो हलादे-र्लघोः । ७ । २ । ७ ।' इति वृद्धौ रूपम् । न रासेः । तस्यात्मनेपदित्वात् ॥ २६ ॥

स प्रोषिवानेत्य पुरं प्रवेक्ष्यन् शुश्राव घोषं न जनौघजन्यम् ।

आकर्णयामास न वेदनादान् न चोपलेभे वणिजां पणाऽयान् ॥ २७ ॥

स इत्यादि—स भरतः प्रोषिवान् मातामहकुलात् प्रोषितः सन् । 'भाषायां—३ । २ । १०८ ।' इति कसुः । यजादित्वात् सम्प्रसारणं द्विर्वचनम् । 'वस्वेकाजाद्धसाम् । ७ । २ । ६७ ।' इति इट् । पुरमयोध्यामेत्य आगत्य प्रवेक्ष्यन् गृहमित्यर्थात् पुरं प्रविष्टः । घोषं शब्दं न शुश्राव न श्रुतवान् । जनौघजन्यं जनसमू-हेन जन्यमुत्पाद्यम् । 'जनेर्यक्' इति जनेर्यक् । तथा वेदध्वनीत्राकर्णयामास न श्रुतवान् । 'प्रातिपदिकाद्घात्वर्थे' इति णिच् । तदन्तात् लिट्यामि । 'अयामन्ताल्वाय्येत्स्विष्णुषु । ६ । ४ । ५५ ।' इत्ययादेशः । न चोपलेभे नोपलब्धवान् । वणिजां पण्यजीविनाम् । पणायान् पणलाभान् । क्रयविक्र

रूपव्यवहारस्योच्छिन्नत्वात् । पणन्ते इति वणिजः पणेरिजादेश्च व इत्यौणादिकः । पण्यन्त इति पणाः । 'नित्यं पणः परिमाणे ।३।३।६६।' इत्यप्यव्यवहर्तव्याः ईयन्ते प्राप्यन्ते वणिग्भिरित्ययाः लाभाः । 'एरच् ।३।३।५६।' इति इणः कर्मणि अच् । पणानामयाः पणायाः तान् । पणायामि पाठान्तरम् । वणिजां स्तुतिं संव्यवहारविषयां नोपलेभे । संव्यवहारकुशलसाधव इति गुपादिषु स्तुत्यर्थपणिना साहचर्यात् पणेरपि तदर्थोद्देवायप्रत्ययः 'अ प्रत्ययात् ।३।३।१०२।' इत्यकारः । टाप् । 'वणिजां प्रलापान्' इति तृतीयापाठः । वणिकप्रसारकलहानित्यर्थः ॥ २७ ॥

चक्रन्दुरुच्चैर्नृपतिं समेत्य तं मातरोऽभ्यर्णमुपागताऽस्त्राः ।

पुरोहिताऽमात्यमुखाश्च योधा विवृद्धमन्युप्रतिपूर्णमन्याः ॥ २८ ॥

चक्रन्दुरित्यादि—तं भरतं गृहगतमभ्यर्णं समीपीभूतं समेत्य ढौकित्वा मातरः कौशल्याद्याः नृपतिमुच्चैरत्यर्थं चक्रन्दुः क्रन्दितवत्यः । हा स्वामिन् ! हा राजन् ! क गतोऽसीति । उपागतं प्राप्तमस्रमश्रुजलं यासां ताः । एवंविधाः । युध्यन्त इति योधाः पचादित्वाद्च् । ते च तं समेत्य नृपतिं चक्रन्दुः । पुरोधीयत इति पुरोहितः । 'निष्ठा ।३।२।१०२।' 'दधातेर्हिः ।७।४।५२।' अमाशब्दः सहार्थे । सह राज्ञा कार्येषु भवतीत्यमात्यः । 'अमेहकतसित्रेभ्य एव ।' इति नियमान् । पुरोहितामात्यां मुखं प्रधानं येषां योधानां ते पुरोहितामात्यमुखाः अमात्यन्याजाद्यदन्तत्वेऽपि पुरोहितन्याभ्यर्हितत्वान् पूर्वनिपातः । विवृद्धमन्युना शोकेन प्रतिपूर्णे मन्ये गलशिरे येषामिति ॥ २८ ॥

दिदक्षमाणः परितः ससीतं रामं यदा नैक्षत लक्ष्मणं च ।

रोरुद्यमानः स तदाऽभ्यपृच्छद्यथावदारुयन्नथ वृत्तमस्मै ॥ २९ ॥

दिदक्षमाण इत्यादि—स भरतो यदा ससीतं रामं लक्ष्मणं च परितः सर्वतो दिदक्षमाणः द्रष्टुमिच्छन् । 'ज्ञाश्रुस्मृद्देशां सनः ।१।३।५७।' इति तड् । 'हलन्ताच्च ।१।२।१०।' इति सनः कित्त्वे 'मृत्रि दशोः- ।६।१।५८।' इत्यम् न भवति । नैक्षत न दृष्टवान् । तदरोरुद्यमानः अत्यर्थं रुदन् । यडिरूपम् । अभ्यपृच्छन् पृष्टवान् । ऐक्षताभ्यप्रच्छदिति भूतसामान्यविवक्षया लड् । अन्यथा कवेः परोक्षत्वान् छित्त्यान् । अथैतस्मिन् प्रस्तावे यथावन् यादृशं वृत्तं भूतं तथावन् आख्यन् कथितवन्तः पुरोहितामात्यमुखा अग्रे भरताय । ग्यातेः 'अभ्यतिवक्तिग्यातिभ्यांऽ ।३।१।५२।' इति च्छेरड् । जातो लोपः ॥२९॥

आवद्धभीमभ्रुकुटीविभङ्गः शोश्रीयमानाऽरुणरौद्रनेत्रः ।

उच्चैरुपालब्धस केकर्यां च शोके मुहुश्चाविरतं न्यमाङ्क्षीत् ॥३०॥

आवद्धेत्यादि—स भरत उच्चैर्महता ध्वनिना केकर्यां च मुहुर्मुहुर्भूयो भूय गालब्ध उपालब्धवान् । उपाङ्पूर्वो लभिरुपालम्भे वर्तते । तस्मादात्मनेपदिनो लो झलि । ८।२।२६। इति सिज्लोपे धत्वजश्त्वे रूपम् । शोके च मन्यौ विरतमजस्रं न्यमाङ्क्षीत् निमग्नः । मस्जेर्लुङि 'मस्जिनशोर्झलि । ७।१।६०।' ते नुम् । तत्रापि मस्जेरन्त्यादिनियमात् नुम् । संयोगादिलोपः । हलन्तलणा वृद्धिः । हल्प्रहणं समुदायप्रतिप्रत्यर्थमित्युक्तम् । कीदृशः । आवद्धभीम-
कुटीविभङ्गः । भ्रमेश्च डुरित्यौणादिको डुः । 'कुडे स्त्रीलिङ्गे भावे कृशादिभ्यः' तीः । तदन्तात् कृदिकारादिति ङीष् । भ्रुवोः कुटी कौटिल्यं भ्रुकुटी । 'इको स्त्रोऽङ्यो गालवस्य । ६।३।६१।' इति ह्रस्वः । तस्या विभङ्गो विरचनम् । आवद्धः कृतः प्रयत्नेनायासवृत्तेन भीमो भयानको भ्रुकुटीविभङ्गो येन यत्यति । शोश्रीयमाने अत्यर्थं शूयमाने अरुणे लोहिते रौद्रे भयानके नेत्रे यस्य । श्वयतेर्याङि 'विभाषा श्वेः । ६।१।३०।' इति वा सम्प्रसारणम् ॥३०॥
तमुपालम्भमाह—

नृपाऽऽत्मजौ चिह्निशतुः ससीतौ ममार राजा विधवा भवत्यः ।

शोच्या वयं भूरनृपा लघुत्वं केकयुपज्ञं वत बह्वनर्थम् ॥ ३१ ॥

नृपेत्यादि—नृपात्मजौ रामलक्ष्मणौ ससीतौ सीतया सह चिह्निशतुः कृष्टौ । ममार मृतो राजा । 'प्रियतेर्लुङ्लिङोश्च । १।३।६१।' इति नियमात्त-
नेऽभावः । विधवाः धवो भर्ता तेन विना भवत्यो जाताः । शोच्याः शोच-
नीया वयम् अयशोभाजनत्वात् । 'ऋहलोर्ण्यत् ३।१।२४।' 'शङ्क्याः' इति पाठा-
तरम् । शङ्कनीया वयम् । एतत्कृतोऽयं प्रयोग इति । भूश्चानृपा । न विद्यते नृपो
स्यामिति । नवोऽस्त्यर्थनामिति बहुव्रीहिः । लघुत्वं राज्यप्रार्थनालक्षणं
केकयुपज्ञम् । केकय्याः प्रथमतो ज्ञातं नान्यस्य कस्यचित्पूर्वज्ञातम् । उपज्ञायत
त्युपज्ञम् 'आतश्चोपसर्ग । ३।१।३६।' इति स्त्रियामङ् । कृलक्षणा पष्ठी केकय्याः
उपज्ञेति समासः । 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम् । २।४।२१।' इति नपुंस-
कृता । वत कष्टम् । बह्वनर्थं बहुदोषम् । क्लेशमरणाद्यनिष्ठानां सम्भवात् ॥३१॥
भरतकृत एवायं प्रयोग इत्येतत्परिहरन्नाह—

नैतन्मतं मत्कामिति ब्रुवाणः सहस्रशोऽसौ शपथानशप्यत् ।

उद्वाश्यमानः पितरं सरामं लुठयन्सशोको भुवि रोरुदावान् ॥ ३२ ॥

नैतदित्यादि—यदेतत्केकव्यनुष्ठितं मतमभिप्रायः । न मत्कृतं तत् । नह्यस्य ग्रामणीर्न प्रभुरिति । अस्मच्छब्दात् 'स एषां ग्रामणीः । ५॥२७८॥' इति कन् । 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च । ७॥२१९८॥' इति मपर्यन्तस्य मादेशः । नास्मन्मदनुष्ठितमनयेत्यर्थः । इत्येवं ब्रुवाणः सहस्रशो बहुवारानसौ भरतः शपथान् सम्प्रत्ययकारणवचनानि अशप्यत् कृतवान् । अनेकार्थत्वाद्धातूनां शपेदेवादि कस्य उभयपदिनो लङ्ङि रूपम् । उद्वाश्यमानः आह्वयन् । 'वाशृ शब्दे ।' देवादिकः । अनुदात्तेत् । पितरं सरामं हा तात ! हा रामेति । लुठयन् भुवि लुठयन् 'लुठ विलोडने ।' देवादिकः परस्मैपदी । सशोक इति शाठ्यपरिहारार्थम् रोरुदावान् अत्यर्थं रोदन्तं कुर्वन् । यङन्तात् 'अ प्रत्ययात् । ३॥३१०२॥' इत्यकार 'अतो लोपः । ६॥१४४८॥' 'यस्य हलः । ६॥१४४९॥' स्त्रियामतष्टाप् । सा विद्वयस्येति मतुप् ॥ ३२ ॥

तं सुस्थयन्तः सचिवा नरेन्द्रं दिधक्षयन्तः समुदूहुरारात् ।

अन्त्याऽऽहुतिं हावायितुं सविप्राश्चिचीपयन्तोऽध्वरपात्रजातम् ॥ ३३ ॥

तमित्यादि—सचिवा अमात्याः । कार्येषु सचन्ते समवयन्तीति सचेरिन्नेत्यौणादिक इवन् । तं भरतं सुस्थयन्तः सुस्थं कुर्वाणाः । तत्करोत् णिच् । नरेन्द्रं दशरथम् । समुदूहुः उद्वाहितवन्तः । शिविकायामारोप्य । वदिन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र द्रष्टव्यः । यजादित्वात्सम्प्रसारणम् । आरान् नातिदूरे दिधक्षयन्तः । दग्धमिच्छन्तं भरतं प्रयोजितवन्तः । दहेः सानि 'दादेर्धाता । ८॥२३२॥' भप्भावचत्वे । प्रयोजकव्यापारे णिच् । अन्ते विनाशे भवाः आहुतिः । 'दिगादिभ्यो यन् । १४॥२५४॥' इति यन् । तामन्त्याहुतिं हावयि ममौ प्रक्षेपयितुं । सविप्राः ब्राह्मणैः सहिताः सचिवाश्चिचीपयन्तः । चिनिधातुमिच्छन्तः प्रयोजितवन्तः । किं तन् अध्वरपात्रजातं यज्ञोपयोगिपात्रा सुवादीनां समूहम् ॥ ३३ ॥

उदक्षिपन्पट्टदुकूलकेव्णवादयन्वेषुमृदङ्गकांस्यम् ।

कम्बूश्च तारानधमन्समन्तात् तथाऽऽनयन् कुङ्कुमचन्दनानि ॥ ३४ ॥

उदेत्यादि—पट्टदुकूलविरचितान् केव्ण ध्वजानुदक्षिपन् उच्छ्रितवन्तः

।युक्ताः । क्षिपेस्तौदादिकस्य ग्रहणम् । वेणुमृदङ्गकांस्यं वंशमुरजकांस्यतालम-
 दयन् वादितवन्तः । वदेष्यन्तस्यैव प्रयोगः । 'जातिरप्राणिनाम् । २ । ४ ।
 १' इत्येकवद्भावः । न पुनस्तूर्याङ्गत्वात् । तत्र हि प्राणिनां तूर्याङ्गाणां द्वन्द्वै-
 चद्भावः । यथा मार्दङ्गिकपाणविकमिति । 'वृत्वदिहिनिकमिकपिभ्यः
 : । 'इत्यौणादिकः कंसशब्दः । तदर्थाय हितं कंसीयम् । त्रुपुणा दृढद्रव्यम् ।
 कृतविकारभावे छः । तस्य विकार इति । 'कंसीयपरशव्ययोर्यञ्जौ लुक्
 । ४ । ३ । १६८ ।' इति छस्य लुक् यञ् च प्रत्ययः । कम्बून् शङ्खान् ।
 रान् उच्चैस्तरध्वनीन् । अधमन् शब्दितवन्तः । 'पात्राधमास्थाम्रादाण्दृश्यति सार्ति-
 दसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यच्छधौशीयसीदाः । ७ । ३ । ७८ ।'
 ति धमादेशः । तथा कुंकुमचन्दनानि आनयन् आनीतवन्तः । सर्वत्र लङि
 षम् ॥ ३४ ॥

अन्त्येष्टिं दर्शयन्नाह—

श्रोत्राक्षिनासावदनं सरुक्मं कृत्वाऽजिने प्राक्छिरसं निधाय ।

सञ्चित्य पात्राणि यथाविधानमृत्विग्जुहाव ज्वलितंचिताऽग्निम् ॥ ३५ ॥

श्रोत्रेत्यादि—अजिने कृष्णसारचर्मणि प्राक् पूर्वं शिरो मूर्धा यस्येति तं प्राक्-
 शिरसं शवं निधाय स्थापयित्वा पश्चात् श्रोत्राक्षिनासावदनम् । प्राण्यङ्गत्वादे-
 वद्भावः । वृत्वदीत्यादिसूत्रस्यानन्तरं नयतेराचेति प्रकृतेराकारे नासेत्यौणा-
 दिकं रूपम् । सरुक्मं ससुवर्णं कृत्वा । सञ्चित्य विन्यस्य अङ्गप्रत्यङ्गेषु । पात्राणि
 ग्रादीनि । यथाविधानं यादृशं विधानमुक्तं गृह्यशास्त्रे । ऋत्विग्यजकः ।
 इतौ यजतीति । 'ऋत्विग्दधृक्स्त्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिकृञ्चां च । ३ । ३ ।
 ९ ।' इति निपातितः । ज्वलितं चिताग्निम् । ज्वलनं चितं तदर्थमग्निं जुहाव
 जुहोति स्म ॥ ३५ ॥

कृतेषु पिण्डोदकसञ्चयेषु हित्वाऽभिषेकं प्रकृतं प्रजाभिः ।

प्रत्यानिनीषुर्विनयेन रामं प्रायादरण्यं भरतः सपौरैः ॥ ३६ ॥

कृतेष्वित्यादि—पिण्डोदकदानास्थिसञ्चयेष्वनुष्ठितेषु प्रजाभिः प्रकृतं प्रस्तु-
 तमभिषेकमादिकर्मणि क्तः । हित्वा त्यक्त्वा । 'जहातेश्च क्तिव् । ७ । ४ । ४३ ।'
 इति हिरादेशः । रामं प्रत्यानिनीषुः प्रत्यानेतुभिच्छुः । विनयेन प्रसादनया न
 प्रायादरण्यं वनं प्रायात् गतवान् । भरतः सपौरैः सह पौरैः । अयोध्याभैवैर्ज-
 मर्यकेन प्रसाद्यमानः कदाचिन्नागमिष्यतीति मया प्रसाद्यमानोऽपि यदि
 । प्रत्यागच्छेत्तदा लोके तथा मृपाप्रवादो माभूदिति च हेतोः पौरैः सह
 याणम् ॥ ३६ ॥

शीघ्रायमाणैः ककुभोऽश्नुवानैर्जनैरपन्यानमुपेत्य सृष्टैः ।

शोकादभूपैरपि भृशकासाञ्चकार नागेन्द्ररथाऽश्वमिश्रैः ॥३७॥

शीघ्रेत्यादि—जनैर्हेतुभूतैर्भूश्चकासाञ्चकार शोभते स्म । कर्तुः क्रियापयोगेऽपि नात्मनेपदम् । आम्प्रत्ययवदित्यत्र पूर्वग्रहणानुवृत्तेः । चकासेश्च परादित्वादिति विधिनियमौ स्थितौ । शीघ्रायमाणैः अशीघ्रैः शीघ्रैर्भवद्विर्ज्ञिति गच्छद्विरित्यर्थः । 'भृशादिभ्यो भुव्यच्चेर्लोपश्च हलः । ३ । १ । १२ ।' । क्यङ् । ङित्वात्तङ् । ककुभोऽश्नुवानैः दिशो व्याप्नुवद्भिः । अश्रोतेः सौवाकस्य आत्मनेपदिनो रूपम् । अपन्यानमुपेत्य सृष्टैः बहुत्वाद्मार्गमपि गतैः । 'क्वपूरव्यूःपथामानक्षे । ५ । ४ । ७४ ।' इति समासान्तः प्राप्तो षस्तत्पुरुषान् । ५ । ४।७१ ।' इति प्रतिपिद्धः सन् 'पथो विभाषा । ५ । ४।७ इति विकल्पितः । शोकाद्धेतोरभूपैरनलङ्कारैरपि चकासाञ्चकार । भूः भूमिभूपेति 'गुरोश्च हलः । ३ । ३ । १०३ ।' इत्यकारप्रत्ययः । 'चकास्त् दी इत्यस्मात् कास्यनेकाज्ग्रहणं चुलुम्पाद्यर्धमित्याम् । नागेन्द्ररथाश्वमिति ष एकवद्भावः । अल्पाचतरस्य न पूर्वनिपातः । 'बहुप्वनियमः ।' इति वचनात्वेन सेनाङ्गत्वात् कृतकवद्भावेन मिश्रयुक्तैः । 'पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनि मिश्रश्लङ्गः । १२।१।३१।' इति तृतीयासमासः ॥ ३७ ।

उच्चिक्रियरे पुष्पफलं वनानि सस्तुः पितृन्पिप्रियुरापगासु ।

आरेदुरित्वा पुलिनान्यशङ्कं छायां समाश्रित्य विशश्रमुश्च ॥३८

उच्चोत्यादि—ते जनाः गच्छन्तः पुष्पफलं पुष्पाणि फलानि चेति 'जा रप्राणिनाम् । २।४।६।' इत्येकवद्भावः । उच्चिक्रियरे उच्चितवन्तः । वित्वाङ् कर्तुः क्रियाफलयोगान् । 'विभाषा चेः । ७।३।५८।' इति धातोः कृत्य 'एरनेकाचः—६।४।८२।' इति यणादेशः । 'उच्चिक्रियरे इति पाठान्तरं युक्तवचनानीति हेतुत्वेन 'अकथितं चा।१।४।५१।' कर्म । वनानि विषदृयन्तः फलजगृहुरित्यर्थः । ततः सस्तुः स्नातवन्तः । न्नातेर्लिटि 'उस्यपदान्तात् ।' १।९६ ।' इति पररूपम् । पितृन् पिप्रियुः उदकाञ्जलिना तर्पितवन्तः प्रीणातेर्लिटि इयङ्देशः । आपगासु नदीषु । एतन् कृत्वा पुलिनानि सन्तानि इत्वा आरेदुः आरटिताः । आरेसुरिति पाठान्तरम् । शोकापनोदनक्रियन्तमपि कालमारमन्ति न्न । 'व्याङ्परिभ्यो रमः । १ । ३ । ८३ ।' । परस्मैपदम् । अशङ्कं विचक्ष्वम् । छायां समाश्रित्य विशश्रमुः विश्रान्ताः ॥३८

सम्प्राप्य तीरं तमसाऽऽपगाया गङ्गाऽम्बुसम्पर्कविशुद्धिभाजः ।

विगाहितुं यामुनमम्बु पुण्यं ययुर्निरुद्धश्रमवृत्तयस्ते ॥ ३९ ॥

स्म्राप्येत्यादि—तमसापगायाः तमसाख्यायाः आपगायाः नद्याः । 'अत्य-
मितमिनमिरभिलभितपिपतिजनिपणिगहिभ्योऽसच्' । यस्याः स्म-
पापं ताम्यति सा तमसा । 'तरसा' इति पाठान्तरम् । तत्र तरसा
। आपगाया अर्थात्तमसाया नद्या गङ्गाम्बुसम्पर्कात् विशुद्धिं पवित्रतां
ते यां तस्यास्तीरं कूलं सम्प्राप्य गत्वा ते जना निरुद्धश्रमवृत्तयः ययुः
ः । गङ्गेति गन् गम्यद्योरित्यौणादिको गन् । विगाहितुं विगाहिष्यामह
कृत्वा । यामुनमम्बु यमुनाया इदं यमुनासम्बन्धि जलम् । पुण्यं पुण्य-
वात् पुण्ययुक्तत्वाद्वा ॥ ३९ ॥

ईयुर्भरद्वाजमुनेर्निकेतं यस्मिन्विशश्राम समेत्य रामः ।

च्युताऽशनायः फलवद्विभूत्या व्यस्यन्नुदन्यांशिशिरैः पयोभिः ४० ॥

इयुरित्यादि—भरद्वाजमुनेर्निकेतं आश्रममीयुः गताः । 'इणो यण्
। ४ । ८१ ।' इति यत्वम् । अभ्यासस्य 'दीर्घ इणः किति । ७ । ४ ६९ ।'
। दीर्घत्वम् । यस्मिन्निकेते रामो विशश्राम विश्रान्तः । समेत्य मिलित्वा ।

युर्जना इति योज्यम् । फलवद्विभूत्या फलवतां वृक्षाणां समृद्ध्या हेतुभूतया
ताशनायोऽपगतवुभुक्षः । 'अशनायोदन्यवनायावुभुक्षापिपासागर्धेषु । ७ ।

१४ ।' इति निपातितः । व्यस्यन् उदन्यां वारयन् । असेर्देवादिकस्य रूपम् ।
न्यां पिपासां शिशिरैः शीतलैः पयोभिः ॥ ४० ॥

वाचंयमान्स्थण्डिलशायिनश्च युयुक्षमाणाननिशं मुमुक्षुन् ।

अध्यापयन्तं विनयात्प्रणेमुः पद्मा भरद्वाजमुनिं सशिष्यम् ॥ ४१ ॥

वाचमित्यादि—ते भरद्वाजमुनिं सशिष्यं शिष्यैः सह वर्तमानं प्रणेमुः प्रण-
न्त स्म । विनयात् विनयेन । अत एव पद्माः पदातयः पादाभ्यां गच्छन्तीति ।
न्येष्वपि दृश्यते । ३ । २ । १०१ ।' इति डः । 'हिमकाषिहतिपु च । ६ ।

। ५४ ।' इति चकारस्य अनुक्तसमुच्चयार्थत्वात् गमोत्तरपदे पदादेशः । पदिति
गविभागाद्वा । कीदृशम् । अध्यापयन्तं पाठयन्तम् । कान् वाचंयमान् मौनव्र-
न् । 'वाचि यमो व्रते । ३ । २ । ५० ।' इति खच् । 'वाचंयमपुरंदरौ च

६ । ३ । ६९ ।' इति निपातनात् पूर्वपदस्य अमन्तता । स्थण्डिलशायिनः
शायिनः । 'स्थण्डिलाच्छयितारि व्रते । ४ । २ । १५ ।' इति णिनिः । युयु-
माणान् योक्तुमिच्छतः । योगाभ्यासनिष्ठानित्यर्थः । अनिशमविच्छेदेन मुमुक्षु-

भोक्षाभिलाषिण इत्यर्थः । अतएव योगाभ्यासमिच्छन् ॥ ४१ ॥

आतिथ्यमेभ्यः परिनिर्विषयोः कल्पद्रुमा योगबलेन फेडुः ।

धामप्रथिन्नो म्रदिमाऽन्वितानि वासांसि च द्राघिमवन्त्युदूहुः ॥ ४२ ॥

आतिथ्यमित्यादि—अतिथ्यर्थमातिथ्यमन्नपानादि । ' अति ' १
 । ५ । ४ । २६ । ' एभ्यो भरतादिजनेभ्यः इति संप्रदाने चतुर्थी ।
 वप्सोः निर्वप्तुमिच्छोर्दातुमिच्छोरित्यर्थः । निर्वप्यो वपिर्दाने वर्तते । धाम
 प्रथिन्नः । धाम्ना तेजसा प्रथिमा पृथुत्वं यस्य । तेजसो वाहिर्निर्गतत्वात् शर-
 रस्य पृथुत्वं जायते । तस्य भरद्वाजमुनेर्योगवलेन समाधिवलेन । 'युज समाधौ ।
 इत्यस्य रूपम् । कल्पद्रुमाः फेलुः फलिताः । भक्ष्यान्नपानादिकमित्यर्थः ।
 । 'तृफलभजत्रपश्च । ६ । ४ । १२२ ।' इत्येत्वमभ्यासलोपश्च । वासांसि
 वज्राणि उदूहुः उद्वहन्ति स्म । यजादित्वात् संप्रसारणम् । अदिमान्वितानि
 मृदुत्वमुपगतानि । द्राघिमवन्ति दैर्घ्ययुक्तानि । पृथुमृदुदीर्घशब्देभ्यस्तस्य भा
 इत्यर्थे 'पृथ्वादिभ्य इमनिच् वा । ५ । १ । १२२ ।' । पृथुमृदुशब्दयोः 'र क्तो
 हलादेः । ६ । ४ । १६१ ।' इति रादेशः । दीर्घशब्दस्य 'प्रियस्थिरस्फिरोः
 बहुलगुरुवृद्धत्प्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थम्फत्रर्वाहिगर्वपिप्रत्र्द्राघिवृन्दाः । ६ । ४ । १५५ ।
 इति द्राघादेशः पश्चान्मत्तुप् ॥ ४२ ॥

आज्ञां प्रतीपुर्विनयादुपास्थुर्जगुः सरागं ननृतुः सहावम् ।

सविभ्रमं नेमुरुदारमृचुस्तिलोत्तमाऽऽद्या वनिताश्च तस्मिन् ॥ ४३ ॥

आज्ञामिति—तस्मिन्सपोवने तिलोत्तमाद्या वनिता दिव्यस्त्रियः आगत
 आज्ञामादेशं मुनेः प्रतीपुः प्रतीष्टवत्यः । चेटीभवत्य इत्यर्थः । प्रतिपूर्वं इपिर्ग्रहणं
 वर्तते तस्य लिटि रूपम् । विनयादुपास्थुः उपस्थिताः । पादप्रक्षालनादिदानेन
 उपस्थानं कृतवत्यः । उपपूर्वात्तिष्ठतेर्लुङिऽसिच् । 'गातिश्चात्रुपाभूभ्य-ः २ । ४ । ७७ ।
 इति सिचो लुक् । 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च । ३ । ४ । १०९ ।' इति जेजुम् ।
 'उत्थपदान्तात् । ६ । १ । ९६ ।' इति पररूपम् । जगुः सरागं सरक्तं गीत
 वत्यः । ननृतुः सहावं सगृङ्गारचेष्टं नर्तितवत्यः । सविभ्रमं नेमुः सविलानं
 प्रणताः । उदारमृचुः अग्राम्यमुक्तवत्यः ॥ ४३ ॥

वस्त्राऽन्नपानं शयनं च नाना कृत्वाऽवकाशे रुचिसम्प्रकल्पम् ।

तान्प्रीतिमानाह मुनिस्ततः स्मनिवध्वमाध्वं पिवताऽत्त शैर्ध्वम् ॥ ४४ ॥

वस्त्रेत्यादि—ततो वनिनोपस्थानानन्तरमवकाशे प्रदेशे यथाभिमाने वस्त्रा-
 न्नपानम् । सर्वो द्वन्द्वो विभाषिकवद्भवतीत्येकवद्भावः । शयनमित्यधिकरणे
 स्युद् । नाना कृत्वा पृथक् कृत्वा । रुचिसंप्रकल्पम् । यस्य चावदभिरुचितं
 तत्तथैव संपादितम् । 'कृपो रो लः । ८ । २ । १८ ।' । प्रीतिमान्मुनिमान् भरता-

नाह स्म उक्तवान् । किमाह—निवध्वं परिधत्त वस्त्राणि । 'वस आच्छादने'
 यस्य विधौ लोट् । 'इलां जश् इशि । ८।४।५३' इति सकारस्य दकारः ।
 ध्वं उपविशत । आसेः पूर्ववत् दादेशः । अत्त खादत् अन्नादिकम् । 'अद्
 णे ।' इत्यस्मात् लोट् । पानादिकं पिवत् । पिवतेः 'पात्राध्नास्थात्रा-
 गदृश्यतिसर्तिसदसदां पिवजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यच्छधौशीयसीदाः'
 ते सूत्रेण पिवादेशः । शोध्वम् स्वपित् शयने । सर्वत्र विधौ लोट् ॥ ४४ ॥

ते भुक्तवन्तः सुसुखं वसित्वा वासांस्युषित्वा रजनीं प्रभाते ।

द्रुतं समध्वा रथवाजिनागैर्मन्दाकिनीं रम्यवनां समीयुः ॥ ४५ ॥

ते भुक्तेत्यादि—ते भगतादयः सुसुखामिति क्रियाविशेषणम् । भुक्तवन्तः
 त्तो वासांसि वसित्वा परिधाय । रजनीमुषित्वा रजनीं रात्रिं 'वसति-
 धोः—।७।२।५२' इतीट् । 'कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे । २ । ३।५।' इति
 तीया । द्रुतं शीघ्रं प्रभाते मन्दाकिनीं नदीं समीयुः संभूय गताः । समध्वा
 विच्छिन्नाध्वानः । सङ्गता अध्वन इति प्रादिसमासः । 'अपसर्गाद्ध्वनः-
 ।४।८।५।' इति समासान्तष्टच् । रथवाजीति द्वन्द्वैकवद्भावः । तेन सहिता
 गा इति शाकपार्थिवादित्वात् समासः अन्यथा सेनाङ्गत्वात् समुदायस्यैकव-
 ष्वः स्यात् । रम्यवनां रमणीयकाननां रमणीयजलां वा ॥ ४५ ॥

वैखानसेभ्यः श्रुतरामवार्तास्ततो विशिञ्जानपतत्रिसङ्घम् ।

अभ्रंलिहाऽग्रं रविमार्गभङ्गमानंहिरेऽद्रिं प्रति चित्रकूटम् ॥ ४६ ॥

वैखानसेत्यादि—ततो मन्दाकिनीगमनान्तरं वैखानसेभ्यस्तृतीयाश्र-
 ण्यः । चित्रकूटे रामोऽस्तीति श्रुतरामवार्ताः । चित्रकूटनामानमद्रिं पर्वतं प्रति ।
 लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यन्तवः । १।४।९०।' इति कर्मप्रवच-
 नसंज्ञा । 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया । २।३।८।' इति द्वितीया तं लक्ष्यी-
 त्य आनंहिरे जग्मुः । अंहतेर्लिटि द्विवचनम् । 'ह्लादिः शेषः । ७।४।६०।'
 अत आदेः । ७।४।७०।' इति दीर्घः । 'तस्मान्नुड् द्विहलः । ७।४।७१।' इति
 ट् । विशिञ्जानपतत्रिसंघं कूजत्पक्षिगणम् । अभ्रंलिहाग्रं अभ्रस्पृक्शिखरम् ।
 वहाऽग्रे लिहः । ३।२।३२।' इति खश् । 'अरुद्विषदजन्तस्य मुम् । ५।४।५१।'
 ति मुम् । रविमार्गभङ्गम् । उच्चैस्तरत्वात् रवेर्मार्गभङ्गो यस्मि-
 न्द्राविति ॥ ४६ ॥

दृष्टोर्णवानान्ककुभो बलौघान् वितत्य शार्ङ्गं कवचं पिनह्य ।

तस्यौ सिसंग्रामयिषुः शितेषुः सौमित्रिरक्षिभ्रुवमुज्जिहानः ॥ ४७ ॥

धातिध्यमित्यादि—अतिध्यर्थमातिध्यमन्नपानादि । 'येभ्य
। ५ । ४ । २६ ।' एभ्यो भरतादिजनेभ्यः इति संप्रदाने चतुर्थी ।
वप्सोः निर्वप्सुमिच्छोर्दातुमिच्छोरित्यर्थः । निर्वप्सो वपिर्दाने वर्तते । धा
प्रथिन्नः । धान्ना तेजसा प्रथिमा पृथुत्वं यस्य । तेजसो वहिर्निर्गतत्वात् शंते
रस्य पृथुत्वं जायते । तस्य भरद्वाजमुनेर्योगत्रलेन समाधिबलेन । 'युज समाधौ
इत्यस्य रूपम् । कल्पद्रुमाः फेलुः फलिताः । भक्ष्यान्नपानादिकमित्यर्थ
। 'तृफलभजत्रपञ्च । ६ । ४ । १२२ ।' इत्येत्वमभ्यासलोपश्च । वासांसि
वल्गाणि उदूहुः उद्वहन्ति स्म । यजादित्वात् संप्रसारणम् । 'दे नि ॥
मृदुत्वमुपगतानि । द्राघिमवन्ति दैर्घ्ययुक्तानि । पृथुमृदुदीर्घशब्देभ्यस्तस्य भ
इत्यर्थे 'पृथ्वादिभ्य इमनिच् वा । ५ । १ । १२२ ।' पृथुमृदुशब्दयोः 'र ऋ
हलादेः । ६ । ४ । १६१ ।' इति रादेशः । दीर्घशब्दस्य 'प्रियस्थिरत्स्फिरो
वहुलगुरुवृद्धप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रत्यन्कवर्हिगर्वपित्रञ्द्राघिवृन्दाः । ६ । ४ । १५५
इति द्राघादेशः पञ्चान्मत्तुर् ॥ ४२ ॥

आज्ञां प्रतीष्टुर्विनयादुपास्थुर्जगुः सरागं ननृतुः सहावम् ।

सविभ्रमं नेमुरुदारमृचुस्तिलोत्तमाऽऽद्या वनिताश्च तस्मिन् ॥ ४३ ॥

आज्ञापिति—तस्मिन्सपोवने तिलोत्तमाद्या वनिता दिव्यस्त्रियः
आज्ञानादेशं मुनेः प्रतीष्टुः प्रतीष्टवत्यः । चंटीभवत्य इत्यर्थः । प्रतिपूर्वं इतिर्ग्रह
वर्तते तस्य लिटि रूपम् । विनयादुपास्थुः उपस्थिताः । पादप्रक्षालनादिदाने
उपस्थानं कृतवत्यः । उपमूर्वात्तिष्ठतेर्लुङिऽसिच् । 'गातिस्थायुपाभूभ्य—२ । ४ । ७५
इति सिचो लुङ् । 'सिजभ्यस्ताविदिभ्यश्च । ३ । ४ । १०९ ।' इति ज्ञेजुन्
'उत्थपदान्तात् । ६ । १ । ९६ ।' इति पररूपम् । जगुः सरागं सरकं गीत
वत्यः । ननृतुः सहावं सगृङ्गारचेष्टं नर्तितवत्यः । सविभ्रमं नेमुः सविला
प्रणताः । उदारमृचुः अग्रान्यमुक्तवत्यः ॥ ४३ ॥

वस्त्राऽन्नपानं शयनं च नाना कृत्वाऽवकाशे रुचिसम्प्रकल्पम् ।

तान्प्रीतिमानाह मुनिस्ततः स्मनिवस्वमाध्वं पिवताऽत्त शेष्वम् ॥ ४४ ॥

वस्त्रेत्यादि—उतो वनितोपस्थानानन्तरनवकाशे प्रदेशे यथाभिमते वस्त्र
न्नपानम् । सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद्भवतीत्येकवद्भावः । शयनमित्यधिकरणं
ल्युट् । नाना कृत्वा पृथक् कृत्वा । रुचिसंप्रकल्पम् । यस्य चावद्भिर्गर्हितं
तत्तथैव संपादितम् । 'कृपो रो लः । ८ । २ । १८ ।' प्रीतिमान्मुनितान् भरताः

।।ह स्म उक्तवान् । किमाह—निवध्वं परिधत्त वस्त्राणि । 'वस आच्छादने' ।
स्य विधौ लोट् । 'शलां जश् झशि । ८।४।५२।' इति सकारस्य दकारः ।
अन्त उपविशत । आसेः पूर्ववत् दादेशः । अत्त खादत अन्नादिकम् । 'अद्
णि ।' इत्यस्मात् लोट् । पानादिकं पिबत । पिबतेः 'पात्राध्वास्थान्ना-
दृश्यतिर्सर्तिशदसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यच्छधौशीयसीदाः'
। सूत्रेण पिवादेशः । शोध्वम् स्वपित शयने । सर्वत्र विधौ लोट् ॥ ४४ ॥

ते भुक्त्वन्तः सुसुखं वसित्वा वासांस्युषित्वा रजनीं प्रभाते ।

द्रुतं समध्वा रथवाजिनागैर्मन्दाकिनीं रम्यवनां समीयुः ॥ ४५ ॥

ते भुक्तेत्यादि—ते भगतादयः सुसुखामिति क्रियाविशेषणम् । भुक्त्वन्तः
तो वासांसि वसित्वा परिधाय । रजनीमुषित्वा रजनीं रात्रिं 'वसति-
गोः-। ७।२।५२।' इतीट् । 'कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे । २ । ३।५।' इति
तीया । द्रुतं शीघ्रं प्रभाते मन्दाकिनीं नदीं समीयुः संभूय गताः । समध्वा
वेच्छिन्नाध्वानः । सङ्गता अध्वन इति प्रादिसमासः । 'अपसर्गाध्वनः-
४।८५।' इति समासान्तष्टच् । रथवाजीति द्वन्द्वैकवद्भावः । तेन सहिता
गा इति शाकपार्थिवादिवात् समासः अन्यथा सेनाङ्गत्वात् समुदायस्यैकव-
वः स्यात् । रम्यवनां रमणीयकाननां रमणीयजलां वा ॥ ४५ ॥

वैखानसेभ्यः श्रुतरामवार्तास्ततो विशिञ्जानपतत्रिसङ्घम् ।

अभ्रंलिहाऽग्रं रविमार्गभङ्गमानंहिरेऽद्रिं प्रति चित्रकूटम् ॥ ४६ ॥

वैखानसेत्यादि—ततो मन्दाकिनीगमनान्तरं वैखानसेभ्यस्तृतीयाश्र-
भ्यः । चित्रकूटे रामोऽस्तीति श्रुतरामवार्ताः । चित्रकूटनामानमद्रिं पर्वतं प्रति ।
। क्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यन्तवः । १।४।९०।' इति कर्मप्रवच-
यंसंज्ञा । 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया । २।३।८।' इति द्वितीया तं लक्ष्यी-
त्य आनंहिरे जग्मुः । अंहतेर्लिटि द्विवचनम् । 'हलादिः शेषः । ७।४।६०।' ।
त आदेः । ७।४।७०।' इति दीर्घः । 'तस्मान्नुड् द्विहलः । ७।४।७१।' इति
ट् । विशिञ्जानपतत्रिसंघं कूजत्पक्षिगणम् । अभ्रंलिहाग्रं अभ्रस्पृक्शशिखरम् ।
। हाऽभ्रे लिहः । ३।२।३२।' इति खश् । 'अर्हाद्विपदजन्तस्य मुम् । ५।४।५१।' ।
ते मुम् । रविमार्गभङ्गम् । उच्चैस्तरत्वात् रवेर्मार्गभङ्गो यस्मि-
न्नाविति ॥ ४६ ॥

दृष्टोर्णुवानान्ककुभो बलौघान् वितत्य शार्ङ्गं कवचं पिनह्य ।

तस्यौ सिसंग्रामयिषुः शितेषुः सौमित्रिरक्षिभ्रुवमुज्जिहानः ॥ ४७ ॥

दृष्टेत्यादि—बलौघान्दृष्ट्वा सौमित्रिस्तस्थौ स्थितः । अभ्यासस्य ' ३
 खयः । ७।४।६१।' इति खयः शेषः । कीदृशः ककुभो दिश ऊ
 आच्छादयतः । ऊर्णोत्तरदादिकस्योभयपदिनः शानचि उवडादेशे च रूपम्
 शार्ङ्गं शृङ्गस्य विकारं धनुर्वितत्य आरोपितगुणं कृत्वा । 'वा
 । ६।४।३८।' इत्यनुनासिकलोपः । कवचं पिनह्य बद्ध्वा । 'णह वन्धने
 इत्यस्य ल्यापि । अपिशब्दाकारलोपस्तु—'वाष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयो
 धाञ्कृत्वोस्तनिनह्योश्च बहुलत्वेनं शौनकिः ॥' इति । सिसंप्रा
 संप्रामयितुमिच्छुः । 'संप्राम युद्धे ।' इति चौरादिको णिच् । तदन्तस्य
 प्रथमस्यैकाचो द्विवचनम् । शितेपुः तीक्ष्णशरः अक्षिणी च भ्रुवौ च अक्षि
 वम् । 'अचतुरत्रिचतुरसुचतुरस्त्रीपुंसधेन्व ०-।५।४।७७।' इत्यत्र निपातितः
 उज्जिहानः ऊर्ध्वं नयन् । 'ओहाड् गतौ । इत्यस्य जुहोत्यादिकस्य ' ३
 । ७।४।७६।' इतीत्वम् ॥ ४७ ॥

शुक्लोत्तरासङ्गभृतो विशस्त्रान् पादैः शनैरापततः प्रमन्यून ।

औहिष्ट तान्वीतविरुद्धबुद्धीन् विवन्दिपून्दाशरथिः स्ववर्ग्यान् ॥४८

शुक्लेत्यादि—दाशरथिस्तान् स्ववर्ग्यान् स्ववर्गे भवान् । 'अशब्दे य
 -४।३।६४।' इति यत् । आत्मीया अपि कदाचित् दुष्टबुद्धयो भवन्तीत्याह
 वीतविरुद्धबुद्धीन् । औहिष्ट ऊहितवान् । ऊहतेरात्मनेपदिनो लुङि अ
 वृद्धिः । तदेवाविरुद्धबुद्धित्वं दर्शयन्नाह—शुक्लोत्तरासङ्गभृतः शुक्लो य
 सङ्गः उत्तरीयं तं विभ्रतीति क्विप् । विशस्त्रान् निरायुधान् । पादैरापतत
 च्लतो मुक्तवाहनत्वात् । शनर्नं त्वरया । प्रमन्यूनं प्रकृष्टशोकान् आगतश
 वा । विवन्दिपून् वन्दितुमिच्छून् ॥ ४८ ॥

समूलकापं चकपू रुदन्ता रामाऽन्तिकं वृंहितमन्युवेगाः ।

आवेद्यन्तः क्षितिपालमुच्चैःकारं मृतं रामवियोगशोकात् ॥ ४९ ॥

समूलेत्यादि—ते रामान्तिकं रामसमीपं प्राप्ताश्चकपुः पिष्टवन्तः समू
 कापं समूलं कापित्वा भमेरधोभागमुत्वन्य । 'निमूलसमूलयोः कपः । ३ । ४
 । ३४।' इति कपेर्णमुल् । 'कपादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः । ३।४।४।' इति
 रोदनं कुर्वन्तः वृंहितमन्युवेगा विवृद्धशोकवेगाः । 'वृहि वृद्धौ ' इत्य
 रूपम् । रामवियोगशोकान् कारणान् क्षितिपालं दशरथमुच्चैःकारं कृत्वा ।
 निधनं गतम् आवेद्यन्तः । 'अव्यये यथाभिप्रेताख्याने कृञः क्त्वाणमुलौ ।
 ४।५।९।' इति कृञो णमुल् । एतच्चथाभिप्रेताख्यानमिति नीचैराख्यातुमभिप्रे
 त्वात् उच्चैरावेद्यन्ति ॥ ४९ ॥

चिरं रुदित्वा करुणं सशब्दं गोत्राऽभिधायं सरितं समेत्य ।

मध्येजलाद्राघवलक्ष्मणाभ्यां प्रत्तं जलं द्व्यञ्जलमन्तिकेऽपाम् ॥५०॥

चिरमित्यादि—चिरं महान्तं कालं करुणं समन्यु सशब्दं प्रतिकृत्य रुदित्वा रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च १।२।२६। इति कित्त्वे विकल्पिते ‘रुद्विदमुषप्र-इस्वपिप्रच्छः संश्च १।२।८।’ इत्यनेन नित्यं कित्त्वम् । सरितं समेत्य दीं संभूय गत्वा । मध्येजलात् । जलस्य मध्यात् तस्माद्वा स्नात्वोत्थाय त्वतीर्यल्यबलोपे पञ्चमी । ‘पारेमध्ये षष्ठ्या वा २।१।१८।’ इत्यव्ययीभावः । नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः । २।४।८३। इति लुक्प्रतिषेधश्च । षपञ्चम्या इति प्रतिषेधात् अमपि न भवति । राघवलक्ष्मणाभ्याम् । अपामन्तिके स्मीपे जलं प्रत्तं दत्तम् । ‘अच उपसर्गात्तः ७।४।४७।’ गोत्राभिधायं नामाभि-त्तयम् । ‘द्वितीयायां च ७।२।८७।’ इति णमुल् । द्व्यञ्जलमिति । अञ्जलिपरि-च्छेन्नम् । जलमञ्जली द्वौ विगृह्य । तद्वितार्थे समासः ‘द्वित्रिभ्यामञ्जलेः ५।१।१०२।’ इति टच् । ताभ्यां प्रत्येकमञ्जलिप्रदानात् द्वावञ्जली प्रमाणमस्ये-यस्मिन्वाक्ये प्रमाणप्रत्ययस्य ‘प्रमाणे लः । द्विगोर्नित्यम्’ इति लुक् । ततः प्रमासान्तो न प्राप्नोति । अतद्धितलुकीत्याधिकारात् ॥ ५० ॥

अरण्ययाने सुकरे पिता मां प्रायुङ्क्त राज्ये वत दुष्करे त्वाम् ।

मा गाः शुचं वीर ! भरं वहाऽमुमाभाषि रामेण वचः कनीयान् ५१ ॥

अरण्ययान इत्यादि—अरण्याय यानम् अरण्ययानं तस्मिन् सुकरे सुखसाध्ये पिता मां प्रायुङ्क्त नियुक्तवान् । युजेः रौधादिकस्य लङि रूपम् । कर्त्रभिप्राये गोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु १।१।६४। इत्यात्मनेपदम् । राज्ये दुष्करे दुःखसाध्ये मां प्रायुङ्क्त । एवं च सति हे वीर, शुचं शोकं मा गाः । मा कार्षीरित्यर्थः । ॥५१॥ इणो गालुङि २।४।४५। गतिस्थाघुपाभूयः सिचः परस्मैपदेषु २।४।७७। इति लुक् । वत इति खेदे । किन्तु भरमसुं पितुर्नियोगम् । ‘भृञ् भरणे ।’ इत्य-त्तत्वात् ‘ऋदोरप् ३।३।५७।’ वह संपादय । विधौ लोट् । एवं वचः रामेण कनीयान् अनुजो भ्राता भरतः आभाषि भाषितः । कर्मणि लुङ् । व्रू इत्यर्थप्र-त्तनात् द्विकर्मकता । अल्पशब्दादीयसुनि ‘युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम् ५।३।४।’ इति कनादेशः ॥ ५१ ॥

कृती श्रुती वृद्धमतेषु धीमांस्त्वं पैतृकं चेंद्वचनं न कुर्याः ।

विच्छिद्यमानेऽपि कुले परस्य पुंसः कथं स्यादिह पुत्रकाम्या ॥५२॥

कृतीत्यादि—वृद्धानां पण्डितानां मतेषु श्रुतानि कृतानि चानुष्ठितानि येन
 'श्राद्धमनेन मुक्तमिनिठनौ ५ । २ । ८५ ।' इत्यधिकृत्य 'इष्टादि भ्यञ्च ५ । २ । ८८
 इतीतिः । क्तस्ये न्विषयस्ये०--' इत्यादिना 'कर्मणि सप्तमी । स्व
 भावक्तान्तादस्त्यर्थे इन् । स त्वमेवंविधः धीमान् पैतृकं पितुरागतम्
 'पितुर्यच्च । ४ । ३ । ७९ ।' इति चकारादृत्तमि 'इसुसुक्तान्तात्कः ७ । ३ । ५ ।
 चेषादि वचनं न कुर्याः । मध्यमपुरुषैकवचने लिङि रूपम् । त
 विच्छिद्यमाने कुले वंशे परस्यापि, अन्यस्यापि पुंसः । अपिशब्दो भिन्नकर्मः
 कथं म्यादिह लोके पुत्रकाम्या । आत्मनः पुत्रेच्छा नैवेत्यर्थः । पुत्रशब्दात् 'क
 म्यच्च । ३ । १ । ९ ।' इति काम्यच् । तदन्तादप्रत्ययः । टाप् ॥ ५२ ॥

अस्माकमुक्तं बहु मन्यसे चेद् यदीशिषे त्वं न मायि स्थिते च ।

जिह्वेष्यतिष्ठन्यदि तातवाक्ये जहीहि शङ्कां व्रज शाधि पृथ्वीम् ५ ।

अस्माकमित्यादि—अस्माकमुक्तम् अस्मत्सम्बन्धि वचनं चेद् यदि
 मन्यसे आद्रियसे । पितृतुल्यो भ्राता अस्यानुमतः कथमेवं न कुर्यामिति च
 च मयि स्थिते नेशिषेन प्रभुत्वं करोषि । प्रभुस्त्वमहं त्वदाज्ञाकर इति ईशो
 दादिकस्य 'ईशः से । ७ । २ । ७७ ।' इतीडागमः । गुरुवचनमनतिक्रमणं
 विशेषतस्तत्तत्त्वं तस्मिन्नतिष्ठन् वचनमकुर्वाणः यदि जिह्वेष्यति लज्जसे ।
 '६ । १ । १० ।' इति द्विर्वचनम् । एतन्निश्चित्याह—जहीहि शङ्कां त्यज दि
 यम् । व्रज गच्छ अयोध्याम् । शाधि पालय पृथ्वीम् । 'जहातेश्च
 । ६ । ४ । ११६ ।' इति इत्वे विकल्पिते । 'ई हल्यघोः । ६ । ४ । ११३ ।' इतीत्व
 शासेः 'शा हौ । ६ । ४ । ३५ ।' इति शाभावः । तस्याभीयत्वेनासिद्धत्वात्
 झल्भ्यो हेर्विः । ६ । ४ । १०१ ।' ॥ ५३ ॥

वृद्धौरसां राज्यधुरां प्रवोढुं कथं कनीयानहमुत्सहेय ।

मा मां प्रयुक्थाः कुलकीर्तिलोपे प्राह स्म रामं भरतोऽपि धर्म्यम् ॥ ५४ ॥

वृद्धौरसामित्यादि—भरतः प्राह । धूर्वहनशीला । धूर्नयनशीला इत्यं
 अनेकार्थत्वाद्भातृनाम् 'भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपृजुप्रावस्तुवः क्विप् । ३ । २ । १७७
 इति क्विप् 'राहोपः । ६ । ४ । २१ ।' इति बलोपः । राज्यस्य सप्ताङ्गस्य धूर्धात्री । प्रकृतिर्गि
 विगुह्य 'ऋकपूरब्धूः पथामानक्षे । ५ । ४ । ७४ ।' इत्यकारप्रत्ययः । 'परवद्धिङ्गं दृढं
 तत्पुत्पयोः । २ । ४ । २६ ।' इति धूरिति व्रीलिङ्गम् । ततप्राप् । कीदृशीं वृद्धौ
 वृद्धो ज्येष्ठः औरसः पुत्रो यस्याम् । उरसा निर्मित इति छन्दसो 'निर्मितं
 इत्यनुवृत्तां 'उरसोऽण् च । ४ । ४ । ९४ ।' इत्यण् । तां तिष्ठति रामे प्रवोढुं कथं

य । कनीयान् सन् । नैवेत्यर्थः 'शकधृषज्ञागलाघटरभलभक्रमसहा-
त्यर्थेषु तुमुन् । ३।४।६५।' इति वहेः सहावुपपदे तुमुन् । 'गर्हायां लडपि-
वोः' इत्यनुवृत्तौ 'विभाषा कथमि लिङ् च । ३।३।१४३।' इति लिङ् ।
हृत्पूर्वस्य आत्मनेपदित्वात् सीयुट् । इटोऽन् '३।४।१०६।' लिङः स-
टोऽनन्त्यस्य । ७।२।७९।' अतो मा मां प्रयुक्त्याः मा नियोजय 'माङि
। ३।३।१७५।' 'झलो झलि । ८।२।२६।' इति सिचो लोपः । कुलक्री-
शेषे । लोपयतीति लोपः पचाद्यच् । रघुवंशस्य या कीर्तिः तस्या लोप
। समासः । पूर्वैरनाचरितत्वात् । एवं च धर्म्यं धर्मादनपेतं भरतोऽपि
ऽस्म उक्तवान् ॥ ५४ ॥

पुनश्चाह—

ऊर्जस्वलं हस्तितुरङ्गमेतदमूनि रत्नानि च राजभाञ्जि ।

राजन्यकं चैतदहं क्षितीन्द्रस्त्वयि स्थिते स्यामिति शान्तमेतत् ॥ ५५ ॥

ऊर्जत्यादि—एतद्वस्तितुरङ्गं सेनाङ्गत्वादेवकङ्गावः । ऊर्जस्वलं बलवत् ।
निमूर्कं । संपदादित्वात् किप् । सा विद्यते यस्येति । 'ज्योत्स्नातमिस्रा-
ङ्गणोर्जास्विन्नूर्जस्वलगोभिन्मालिनमलीमसाः । ५ । २ । ११४ ।' इति बलच्,
गुणगमश्च । अमूनि चरत्नानि राजभाञ्जि राजगृह्याणि । एतच्च राजन्यकं
त्रयसमूहः । क्षितीन्द्रो राजा अहं त्वयि स्थिते स्यामिति भवामीति शा-
न्तमेतत् । स्यामिति निमन्त्रणे नियोगकरणे लिङ् ॥ ५५ ॥

ति निगदितवन्तं राघवस्तं जगाद् ब्रज भरत! गृहीत्वा पादुके त्वं मदीये।

च्युतनिखिलविशङ्कः पूज्यमानो जनौघैः

कलभुवनराज्यं कारयाऽस्मन्मतेन ॥ ५६ ॥

इतीत्यादि—इति एवं निगदितवन्तं उक्तवन्तं तं भरतं राघवो रामो जगाद्
त्वान् । किमित्याह—हे भरत मदीये पादुके उपानहौ गृहीत्वा त्वं ब्रज गच्छ ।
धौ लोट् । अस्मदस्त्यदादित्वे 'त्यदादीनि चा । १।१।७४।' इति वृद्धसज्ञायां तस्ये-
त्यर्थे 'वृद्धाच्छः । ४।२।११४।' 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च । ७।२।९८।' इति मदादेशः ।
अथ पूज्यमानो जनौघैर्जनसमूहैः । च्युतनिखिलविशङ्कः अपगताशेषविकल्पः
कलभुवनराज्यं सर्वत्र भूमण्डले राज्यं कारय अनुष्ठापय । पादुके इति योज्यम् ।
स्मन्मतेन अस्माकमभिप्रायेण । अत्र मदादेशो न भवति । अस्मदो बहुवच-
न्तस्य विवक्षितत्वात् । तत्र ह्येकवचन इति वर्तते । ननु कथं मदीय इत्यत्र

१ अत्र 'मालिनी' वृत्तं तल्लक्षणं चोक्तं प्राक् ।

सदादेशः बहुवचनान्तत्वादिति विरोधः । पादुके रामस्यैव तर्ह्यस्मन्मतेन इत्यत्रापि एकवचनम् । आवयो रामलक्ष्मणयोर्मतेनेति षष्ठीसमासे न दोषः ॥

इति श्रीजयमङ्गलाऽख्यया व्याख्यया समलङ्कृते श्रीभट्टिकाव्ये
प्रथमे प्रकीर्णकाण्डे लक्षणरूपे तृतीयः परिच्छेदः, लक्ष्यरूपे
कथानके श्रीरामप्रवासो नाम तृतीयः सर्गश्च ।

चतुर्थः सर्गः ।

निवृत्ते भरते धीमान् रामस्तपोवनम् ।

प्रपेदे पूजितस्तस्मिन्दण्डकाऽरण्यमीयिवान् ॥ १ ॥

निवृत्त इत्यादि--धीमान् बुद्धिमान् अत्र स्थिते मयि कदाचिद्भरतः पुनरे-
ष्यतीत्येवं बुद्धिमान् रामः अत्रैर्महर्षेस्तपोवनं प्रपेदे गतः । तस्मिंश्च तपोवने
अर्घ्यपाद्यादिभिः पूजितः । दण्डक्यो नाम भोजो भार्गवकन्यामहरत् । तच्छा-
पात् पांसुवर्षेणाक्रान्तः सवन्धुराष्ट्रविनाशो यस्मिन् स्थाने तत्त्वोपलक्षितम्
अरण्यमभूत् । तदीयिवान् गतवान् । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च ॥३२॥१०९॥'
इत्यत्र उपसर्गस्यातन्त्रत्वात्केवलदपीणः कसुः ॥१॥

अटाटयमानोऽरण्यानीं ससीतः सहलक्ष्मणः ।

बलाद्बुभुक्षुणोत्क्षिप्य जहे भीमेन रक्षसा ॥ २ ॥

अटाटयेत्यादि--महदरण्यमरण्यानी । 'इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्य-
चवयवनमातुलाचार्याणामानुक् ॥४१॥४९॥' इति हिमारण्ययोर्महत्त्वे डीपानुकौ ।
ताम् अटाटयमानः अत्यर्थमटन् रामः । 'सूचिसूत्रिमूत्र्यटयत्यंशूणांतिभ्यो यद्
वाच्यः' इति यङ् । ससीतः सहलक्ष्मणः 'वोपसर्जनस्या' ५३॥८२॥' इति विकल्पेन
सभावः । बलात् बलवत्तया जहे हतः गृहीत इत्यर्थः । कर्मणि लिट् ।
उत्क्षिप्य उत्थाप्य हस्ताभ्यां केनापि रक्षसा । वैश्रवणशापान् तुम्बुरुनाम्ना
गन्धर्वेण राक्षसीभूतेन विराधाख्येन बुभुक्षुणा भोक्तुमिच्छन्ना । भीमेन भयान-
केन । 'भियः पुक्' इत्याणादिकपुगभावपक्षे रूपम् ॥ २ ॥

अवाक्छिरसमुत्पादं कृतान्तेनाऽपि दुर्दमम् ।

भङ्क्त्वा भुजौ विराधाऽऽख्यं तं तौ भुवि निचखतुः ॥ ३ ॥

अवागित्यादि--तं विराधाख्यं राक्षसं कृतान्तेनापि यमेनापि । दुर्दमं
दुःखेन दम्यत इति खलू । तौ रामलक्ष्मणौ भुवि निचखतुर्निखातवन्तौ । कौट

अत्राक्शिरसं अधोमस्तकम् अत्राक् शिरो यस्येति । ऊर्ध्वं पादौ यस्येति ।
 णदम् । मुजौ भङ्क्त्वा मोटयित्वा । 'जान्तनशां विभाषा । ६।४।३२।
 अनुनासिकलोपाभावपक्षे रूपम् ॥ ३ ॥

आंहिपातां रघुव्याघ्रौ शरभङ्गाऽऽश्रमं ततः ।

अध्यासितं श्रिया ब्राह्म्या शरण्यं शरणैषिणाम् ॥ ४ ॥

आंहिपातादि—ततो विराधवधानन्तरं रघुव्याघ्रौ शरभङ्गनाम्नो मुनेराश्रमं
 हिपातां गतवन्तौ । अंहेलुङि रूपम् । अध्यासितं आश्रयीकृतम् । श्रिया
 स्या ब्राह्म्या ब्रह्मसम्बन्धिण्या । ब्रह्मण इयमित्यण् । 'ब्राह्मोऽजातौ । ६।४।
 ३१।' इति निपातनात् टिलोपः । 'ठिङ्ढाणञ्द्वयसज्दम्नञ्मात्रच्त्तय्पठकृठ-
 ऋक्करपः । ४।१।१५।' इति ङीप् । शरणे अवस्थाने साधु अनुकूलं शरण्यम् ।
 त्र साधुः । ४।४।९८।' इति यत् । शरणैषिणां शरणं त्रानमेषितुं शीलं येषाम् ॥ ४ ॥

पुरो रामस्य जुहवाञ्चकार ज्वलने वपुः ।

शरभङ्गः प्रदिश्याऽऽरात्सुतीक्ष्णमुनिकेतनम् ॥ ५ ॥

पुर इत्यादि—शरभङ्गो रामस्य पुरः अग्रतः वपुः शरीरं ज्वलने अग्नौ
 हवाञ्चकार कुष्ठित्वात्तस्य । 'भीहीभृद्भुवां श्लुवच्च । ३।१।३९।' इति आम् ।
 मि श्लुभावे द्विवचनम् । किं कृत्वेत्याह—प्रदिश्य कथयित्वा । किम् आरात्
 गीषे सुतीक्ष्णनाम्नो मुनेः केतनम् आश्रमम् । तत्र वासमुपकल्पयेति ॥ ५ ॥

तव किमत्रावस्थानमिति चेदाह—

यूर्यं समैष्यथेत्यस्मिन्नासिष्महि वयं वने ।

दृष्टाः स्थ स्वस्ति वो यामः स्वपुण्यविजितां गतिम् ॥ ६ ॥

यूरमित्यादि—अपि नाम यूर्यं समैष्यथ आगमिष्यथ । आङ्पूर्वं इण् आग-
 ने वर्तते । 'एत्येधत्यूठ्सु । ६।१।८९।' इति वृद्धिः । इत्यस्मात्कारणात् । अस्मि-
 ने वयमासिष्महि स्थिताः । आसेर्लुङि रूपम् । 'अस्मदो द्वयोश्च । १।२।५९।' इति
 ते चकारस्यानुक्तसमुच्चयत्वादेकत्वे बहुवचनम् । अस्मदागमने किं ते फल-
 गति चेदाह—दृष्टाः स्थ अधुना दृष्टा भवथ । अस्तेर्मध्यमपुरुषबहुवचने 'श्रसो-
 ङोपः । ६।४।११।' इत्यकारलोपः । स्वस्ति कल्याणम् । वः शुष्मभ्यम् । 'नमः
 ऋस्तिस्वाहास्वधाऽलंबपद्भ्योगाच्च । २।३।६।' इति चतुर्थी । 'बहुवचनस्य
 स्नसौ । ८।१।२१।' स्वपुण्येन विजितां लब्धां गतिं जन्म । यामः ब्रजामः ।
 मरूपेण विष्णुरवतीर्णः तं दृष्ट्वा यास्याम इत्यत्र वयं स्थिता इति ॥ ६ ॥

तस्मिन्कृशानुसाद्भूते सुतीक्ष्णमुनिसन्निधौ ।

उवास पर्णशालायां भ्रमन्ननिशमाऽऽश्रमान् ॥ ७ ॥

तस्मिन्नित्यादि—तस्मिन् शरभङ्गे कृशानुसाद्भूते कात्स्न्येनाग्नीभूते
‘विभाषा साति कात्स्न्ये । ५।४।५२।’ इति सातिः । रामः सुतीक्ष्णस्य मु
सन्निधौ समीपे पर्णशालायां पर्णकुट्यामुवास उपितवान् । तत्र कृताधिवास
वृत्तिमाह भ्रमन्ननिशमाश्रमान् पर्यटन् सदा तपोवनानि मुनीन् उपासितुम् ॥

वनेषु वासतेयेषु निवसन्पर्णसंस्तरः ।

शय्योत्थायं मृगान्विध्यन्नातिथेयो विचक्रमे ॥ ८ ॥

वनेष्वित्यादि—वासतेयेषु वसतौ साधुषु । ‘पथ्यतिथिवसतिस्वपते
।४।४।१०४।’ इति ढञ् । निवसन् शयानः । संस्तीर्यत इति संस्तरः । ‘ऋ
ष् ।३।३।६७।’ पर्णानि संस्तरौ यस्येति पर्णसंस्तरः । शय्योत्थायं शय्य
उत्थाय । उत्पूर्वात्तिष्ठतेः ‘अपादाने परीप्सायां ।३।४।५२।’ इति णमुल् । शय्य
अत्यामिति शय्या । ‘संज्ञायाम् ।३।३।९९।’ इति क्यप् । त्वरया मुखवाक्
दीन्यपि न कृत्वा । मृगान्विध्यन् ताडयन् । ‘ग्रहिव्यावयिव्यधिवष्टिविच
वृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च । ६। १ । १६ ।’ इति सम्प्रसारणम् । ‘तः
नात्मार्यं लुब्ध इत्याह आतिथेयः अतिथौ साधुः । पूर्ववत् ढञ् । विचक्रमे ।
रति स्म । ‘वेः पादविहरणे ।१।३।४१।’ इति तड् ॥ ८ ॥

ऋग्यजुषमधीयानान् सामान्यांश्च समर्चयन् ॥

बुभुजे देवसात्कृत्वा शूल्यमुख्यं च होमवान् ॥ ९ ॥

ऋग्यजुषमित्यादि—ऋक् च यजुश्च ऋग्यजुषम् । ‘अचतुरविचतु
चतुरस्त्रीपुंसधेन्वनडुहक्सामवाङ्मनसाक्षिभ्रुवदारगवोर्वष्टीवपदष्टीवनकंदिव
न्दिवाहर्दिवसरजसनिःश्रेयसपुरुपायुपट्टयायुपत्र्यायुपुर्ग्यजुपजातोक्षमहोदष्ट
क्षोपशुनगोष्ठधाः । ५ । ४ । ७७ ।’ इति निपातितम् । ‘द्वन्द्वान्चुदपहाऽ
समाहारे । ५ । ४ । १०६ ।’ इति टच् । ऋग्वेदं यजुर्वेदं च अधीया
पठतः । इङ्गेऽधिपूर्वस्य लटि ज्ञानचि रूपम् । ‘न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थक
।२।३।६९।’ इति पष्ठीप्रतिषेधः । सामान्यांश्च सामसु साधून् द्विजान् ।
साधुः । ४।४।९८।’ इति यन् । ‘ये चाभात्रकर्मणोः । ६।४।१६८।’ इति
तिभावः । समर्चयन् पूजयन् । शूल्यमुख्यं च मांसं बुभुजे भुक्तवान् ।
उखायां च स्थाल्यां संस्कृतम् । ‘शूलोखाद्यन् । ४।२।१७।’ । ‘भुजोऽनवनं ।
३।६६।’ इति तड् । किं कृत्वा—देवसात्कृत्वा देवेभ्यो दत्त्वा । तदर्थानं कृत्

‘देये त्रा च ।५।४।५५।’ इति चकारान् सात्तिश्च । होमवान् होमो विद्यते यस्येति
कृताग्निकार्यं इत्यर्थः ॥ ९ ॥

अथ द्वाभ्यां युग्मकम् ।

वसानस्तन्त्रकनिभे सर्वाङ्गीणे तरुत्वचौ ॥

काण्डीरः खाङ्गिकः शाङ्गी रक्षन् विप्रांस्तनुत्रवान् ॥ १० ॥

वसानं इत्यादि—असौ रामो वनेष्वानभ्र भ्रान्तवानिति वक्ष्यमाणेन श्लो-
केन सम्बन्धः । वसानः परिदधानः । ‘वस आच्छादने ।’ इत्यस्मात् शानच् ।
तरुत्वचौ बलकले प्रत्यये । तन्त्रकः ‘तन्त्रादचिरापहृते । ५।२।७०।’ इति कन् ।
निभे तत्तुल्ये । सर्वाङ्गीणे सर्वाङ्गाणि व्याप्नुवत्यौ । ‘तत्सर्वादेः पथ्यङ्गकर्मप-
त्रपात्रं व्याप्रोति । ५।२।७।’ इति खः । काण्डीरः काण्डोऽस्यास्तीति । ‘काण्डा-
डादीरन्नीरचौ । ५।२।१११।’ खाङ्गिकः खङ्गोऽस्यास्तीति । ‘अत इनिठनौ
५।२।११५।’ ‘खाङ्गिक’ इति पाठान्तरम् । तत्र खङ्गः ‘प्रहरणम् । ४।४।५७।’
इति ठक् । शाङ्गी सधनुः । तनुत्रवान् तनुं शरीरं त्रायत इति तनुत्रम् ।
आतोऽनुपसर्गे कः । ३।२।३। संसर्गे मतुप् । पिनद्धकवच इत्यर्थः । स एवं-
वेधो विप्रान् ब्राह्मणान् रक्षन् ॥

हित्वाऽऽशितङ्गवीनानि फलैर्येष्वशितम्भवम् ॥

तेष्वसौ दन्दशूकाऽरिर्वनेष्वानभ्र निर्भयः ॥ ११ ॥

हित्वेत्यादि—आशितास्तृप्ता गावो येषु भवन्ति तृणप्रायत्वात् । ‘अषडक्षा-
शितङ्गवलङ्कर्मालम्पुरुषाध्युत्तरपदात् खः । ५।४।७।’ इति खः । पूर्वपदस्य च मान्-
तत्वं निपात्यते । तान्यरण्यानि हित्वा येषु वनेषु फलैराशितम्भवमाशितस्य
भवनं तृप्तिर्वर्तते । ‘आशिते भुवः—।३।२।४५।’ इति भावे खच् । तेष्वानभ्र ।
‘अभ्र, वभ्र’ इति गत्यर्थो धातुः । लिटि ‘अत आदेः । ७।४।७०।’ इति दीर्घे
‘तस्मान्नुद्धिहलः । ७।४।७१।’ इति नुट् । दन्दशूकारिः व्यालानां हन्ता ।
‘लुपसदचरजपजभदहृदशगृभ्यो भावगर्हायाम् । ३।१।२४।’ इति दंशोर्यङ् ।
तदन्तात् ‘यजजपदशां यङः । ३।२।१६६।’ इति ऊकः ॥ १०—११ ॥

व्रातीनव्यालदीमाऽन्नः सुत्वनः परिपूजयन् ॥

पर्षद्वलान् महाब्रह्मैराट नैकटिकाऽऽश्रमान् ॥ १२ ॥

व्रातीनेत्यादि—तेषु वनेषु भ्रमन् नैकटिकाश्रमानाट गतवान् । अटेरभ्या-
सस्य ‘अत आदेः । ७।४।७०।’ इति दीर्घत्वम् । ग्रामस्यान्तिके, क्रोशमात्रं

१ ‘द्वाभ्यामेकल सम्बन्धे युग्मकं परिकीर्ष्यते । त्रिभिर्विशेषकं प्रोक्तं कलापकम् ॥ कुन्तकं चाधिकैस्तेभ्यः इति वचनात् । एवं परत्वापि ।

त्यक्त्वा यतयो भिक्षवो ये निवसन्ति ते नैकटिकाः । 'निकटे वसति । ४।४।७३' इति ठक् । तेषामाश्रमांस्तपोवनानि । कीदृशः । ब्रातीनव्यालदीप्राखः । ना नाजातीया अनियतवृत्तयः शरीरमायास्य ये जीवन्ति ते ब्रातास्तेषां यत्कर्म तदापि ब्रातं तेन जीवन्ति इति ब्रातीनाः । 'ब्रातेन जीवति । ५।२।२१' इति खन् । क्त्रां व्याला हिंस्राः उपधातकाः तेषु दीप्राखः ज्वलदायुधः । सप्तमीति योगाविभागात्सः । सुत्वनः सुतवतः परिपूजयन् । सोमपायिन इत्यर्थः । 'सु-जोर्ङ्निप् । ३।२।१०३' तुक् । 'न संयोगाद्मन्तात् ६।४।१३७' इत्यल्लोपो न । पर्षद्वलानिति । 'पर्ष स्मेहने' अस्मात्पर्षते स्निह्यतीति । शृण्णसोदिरित्यत्र पं-र्वाहुलकादौणादिको दिः पर्षत् । तत्र यदि 'रजःकृष्यासुतिपर्षदा वल्लच् । ५।२।११२' इति तदा पर्षत् विद्यते येषां सुत्वनामिति वलच् । अत्र परिषादतीति परिपत् क्विन्नन्तो यथा 'परिपदप्येषा गुणग्राहिणी' तदा परिपद्वलं सहायो येषामिति बहुव्रीहिः । महान्नक्षैर्महद्भिर्नाक्षणैः 'कुमहद्भ्यामन्यतरस्याम् । ५ । ४ । १०५' इति टच् । तैः सहाट् ॥ १२ ॥

युग्मकम् (२)—

परेद्यव्यद्य पूर्वेद्युरन्येद्युश्चचापि चिन्तयन् ॥

वृद्धिक्षयौ मुनीन्द्राणां प्रियम्भावुकतामगात् ॥ १३ ॥

परेद्यवीत्यादि—परेद्यधि परस्मिन् आगामिनि दिवसे इत्यर्थः । अद्यैतस्मिन्नहनि । पूर्वेद्युः पूर्वस्मिन्नहनि अन्येद्युरन्यस्मिन्नहनि चिरातिक्रान्ते चिरगामिनि दिवसे परेद्यवीत्यादिषु दिवसेषु मुनीन्द्राणां वृद्धिक्षयौ उदयापचयौ चिन्तयन् । प्रियम्भावुकतां पूर्वं प्रियाप्रियस्वभावनिर्मुक्तत्वादतथाभूतः सन् । भवतीति प्रियम्भावुकः । आढ्यसुभगेत्यधिकृत्य 'कर्तारि सुवः खुकञौ । ३।२।५७' इति खुकञ् । तद्भावः । तामगात् गतः । अर्था न्मुनीन्द्राणामेव । परेद्यव्यादयः शब्दाः 'सद्यःपरुत्परार्यपमःपरेद्यव्यद्यध्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युरपरेद्युरधरेद्युरुभयेद्युरुत्तरेद्युः । ५ । ३ । २२ । २' निपातिताः ॥ १३ ॥

आतिष्ठद्गु जपन् सन्ध्यां प्रक्रान्तामायतीगवम् ॥

प्रातस्तरां पतत्रिभ्यः प्रबुद्धः प्रणमन् रविम् ॥ १४ ॥

आतीत्यादि—जपन्मन्त्रमिति सामर्थ्यलभ्यम् । सन्ध्याकालोऽधिकरणम् । तेन अत्यन्तसंयोगे 'कालाच्चनोरत्यन्तसंयोगे २ । ३ । ५ । १' इति द्वितीया । सन्ध्याक् ध्याचन्त्यस्यामिति । 'आतश्चोपसर्गे । ३ । ३ । १०६' इत्यङ् । क्रिम-

सन्ध्यामित्याह—प्रक्रान्तामायतीगवम् । आयत्यः आयान्त्यो भवन्ति
 स्मन् काले गावः अस्मिन्नायतीगवम् आरब्धाम् । ‘ तिष्ठदुप्रभृतीनि च
 ॥११७॥’ इत्यव्ययीभावसमासत्वात्साधुः । नाव्ययीभावादतोऽम्—॥२१४॥
 ॥’ इत्यादिना सप्तम्या अम्भावः । आङ्पूर्वादिणेः शतरि ‘ इणो यण् ॥६४॥
 ॥’ इति यणि ङीपि च रूपम् आयतीति । गावोऽपि गोचरात् गोष्ठमायान्ति
 संस्यार्धनाडिकावशेषे सन्ध्यापि तदैव प्रवर्तते । कियन्तमेवं जपन्तित्याह—
 तिष्ठद्गु इति । तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् काले दोहाया गावो हि रात्रिप्रथम-
 रस्य नाडिकायामतीतायां विश्रान्ताः सत्यः उत्थाप्य दुह्यन्ते । आतिष्ठदिति
 ङ् मर्यादाभिविधयोः । २ । १ । १३ ।’ इत्यव्ययीभावः । ‘ तिष्ठदु प्रभृतीनि
 । २ । १ । १७ ।’ इति चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वादव्ययीभाव एव । पुनः
 पासान्तरं न भवति । प्रातस्तरामिति । प्रातरित्यव्ययं प्रभातवाचि । प्रकर्ष-
 रक्षायां तरप् । तदन्तात् ‘ किमेत्तिङ्गव्ययघादाम्बद्रव्यप्रकर्षे । ५ । ४ । ११ ।
 नेन आम् अतिप्रभाते । पतत्रिभ्यः कुक्कुटादिभ्यः प्रथमं प्रबुद्ध उत्थितः ।
 चमी विभक्ते । २ । ३ । ४२ ।’ इति पञ्चमी । रविर्मादित्यं प्रणमन् यदा
 ति तदा प्रियम्भावुकतामगादिति पूर्वेण योज्यम् ॥ १३ ॥ १४ ॥

दृशे पर्णशालायां राक्षस्याऽभीकयाऽथ सः ।

भार्योऽं तमवज्ञाय तस्ये सौमित्रयेऽसकौ ॥ १५ ॥

दृश इत्यादि—पर्णानां शालायां स्थितः स रामः राक्षस्या दृशे दृष्टः ।
 दृश्या । अभीकया कामुक्या । ‘ अनुकाऽभिकाऽभीकः कामिता । ५ ।
 । ७४ ।’ इति निपातितः । दृशेः कर्मणि लिट् । अथ दर्शनानन्तरं भार्योऽं
 भार्यमूढा भार्या यस्येति । आहिताग्न्यादिषु दर्शनात् निष्ठान्तस्य परनिपातः ।
 ज्ञाय अनादृत्य । सद्भार्यत्वात् । असकौ राक्षसी पापासौ । कुत्सायाम्
 व्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः ॥५३॥७१॥ सौमित्रये लक्ष्मणाय । ‘ श्लाघद्भुङ्-
 शपां ज्ञीप्स्यमानः इति ॥ ४ । ३४ ।’ सम्प्रदानसंज्ञा । तस्ये स्वाभिप्रायं
 युनायाविष्कृतवती । ‘ प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च । १ । ३ । २३ ।’ इति
 णशने तङ् ॥ १५ ॥

अथ चतुर्भिः कलापकम् ।

दधाना वलिभं मध्यं 'कर्णजाहविलोचना ।

वाक्त्वचेनाऽतिसर्वेण चन्द्रलेखेव पक्षतौ ॥ १६ ॥

१ पर्णकुट्यामित्यर्थः । २ सुमित्राया अपत्यं पुमानिति सौमित्रिलक्ष्मणः ।
 त इत् १११९५ इतीञ् ।

प्रता नासिका यस्मिन्निति । 'अञ्नासिकायाः संज्ञायां नसं च' इत्यधिकृत्य
 पसंगाच्च । ५ । ४ । ११९ ।' इत्यच् । नासिका च नसादेशमापद्यते । शुद्ध-
 १ शुद्धाः शुद्धा दन्ता यस्मिंस्तच्छुद्धदन् 'अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृपवराहेभ्यश्च
 ५ । ४ । १४५ ।' इति द्वादशः । लोले चञ्चले कुण्डले यस्मिन् तन् लोल-
 ण्डलम् । पश्यतो जनान् शंयून् विद्यमानसुखान् कुर्वाणा शं सुखं तदस्या-
 णिति । 'कंशभ्यां वभयुस्तिवतयसः । ५ । २ । १३८ ।' इति युस् ।
 त्वात्पदसंज्ञा । अनुस्वारः । अपश्यतो वा शंयून् कुर्वाणा पश्यतां तु पीडा-
 री । स्रग्विणी मालावती । 'अस्मायामेधास्रजो विनिः । ५ । २ । १२१ ।'
 ते विनिः । सुहसानना हसनं हसः । 'स्वनहसोर्वा । ३ । ३ । ६२ ।' इत्यप् ।
 भनहसनमाननं यस्याः सा ॥

प्राप्य चञ्चूर्यमाणासौ पतीयन्ती रघूत्तमम् ।

अनुका प्रार्थयाञ्चक्रे प्रियाकर्तुं प्रियंवदा ॥ १९ ॥

प्राप्येत्यादि—प्राप्य ङौकित्वा । चञ्चूर्यमाणा गार्हितमाचरन्ती । प्राणिनो
 त्तव्या इति । चरः 'लुपसदचरजपजभदहृदशगृभ्यो भावगर्हायाम् । ३ । १ ।
 २४ ।' इति भावगर्हायां यङ् । 'चरफलोश्च । ७ । ४ । ८७ ।' इत्यभ्या-
 य नुक् । 'उत्परस्यातः । ७ । ४ । ८८ ।' इत्युत्वम् । 'हलि च । ८ । २ । ७७ ।'
 ते दीर्घत्वम् । पतीयन्ती आत्मनः पतिमिच्छन्ती । 'सुप आत्मनः क्यच्
 ३ । १ । ८ ।' अनुका अभिलापुका । 'अनुकाभिक्राभोकः कभिता । ५ ।
 २ । ७४ ।' इति निपातितः । रघूत्तमं लक्ष्मणं प्रार्थयाञ्चक्रे प्रार्थितवती ।
 याकर्तुमनुलोभयितुम् । पतिर्मे स्या इति । 'सुखप्रियादानुलोभ्ये । ५ । ४ । ६३ ।'
 ते ङच् । प्रियंवदा प्रियवादिनी । 'प्रियवशे वदः खच् । ३ । २ । ३८ ।' ॥ १६-१९ ॥
 तां प्रार्थनामाह- ।

सौमित्रे ! मामुपायंस्थाः कम्प्राभिच्छुर्वशंवदाम् ।

त्वद्भोगीनां सहचरीमशङ्कः पुरुषाऽयुपम् ॥ २० ॥

सौमित्रे इत्यादि—हे सौमित्रे इच्छुरेपणशालः । विन्दुरिच्छुः । ३ । २ ।
 ३९ ।' इत्यादिना निपातितः । अशङ्कः निर्विकल्पः सन् । किं मां वञ्चयिष्य-
 ति । मामुपायंस्थाः परिणय । 'आशंसायां भूतवच्च । ३ । ३ । १३२ ।' इति
 ङ् । 'उपायमः त्वकरणे । १ । ३ । ५६ ।' इति तङ् । 'विभापोपयमने ।
 १ । २ । १६ ।' इत्यकित्त्वपक्षे रूपम् । कम्प्राम् । 'नमिकम्पित्त्वजसकमहिंस-
 पो रः । ३ । २ । १६७ ।' इति रः । वशंवदाम् । अहं ते वश्येति वदन्तीम् । त्वद्भोगीनाम्

त्वच्छरीराय हिताम् । अवैधव्यादिलक्षणयोगात् । 'आत्मन्वि
पदात् खः । ५ । १ । ९ ।' इति खः । सहचरीं सहगामिनीम्
येषु च ३ । २ । १७ ।' इति चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् टप्रत्ययः । कियन्तं
पुरुषायुषं पुरुषस्यायुर्यावत् । 'अचतुरविचतुर०—५ । ४ । ७७ ।' इत्यादौ निपातिः ।
'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे । २ । १ । २९ ।' इति द्वितीया । चरणक्रियायाः
संयोगात् । यथा मासमुषित इति ॥ २० ॥

तामुवाच स गौष्ठीने वने स्त्रीपुंसभीषणे ॥

असूर्यपश्यरूपा त्वं किमभीरुररार्यसे ॥ २१ ॥

तामित्यादि—तां राक्षसीं स लक्ष्मण उवाच उक्तवान् । किमित्याह
वने गोष्ठं भूतपूर्वं यस्मिन्वने । इदानीं नामापि न ज्ञायते । 'गोष्ठात्
भूतपूर्वं । ५ । २ । १७ ।' इति खब् । स्त्रीपुंसभीषणे । स्त्री च पुमां
स्त्रीपुंसौ । 'अचतुरविचतुरमुचतुर०—५ । ४ । ७७ ।' इत्यादौ निपातिः । तयो
भीषण इति षष्ठीसमासः । त्रिभेतेर्णिचि हेतुभये पुक् । तदन्तात् 'कृत
चहुलम् । ३ । ३ । ११३ ।' इति कर्त्तरि ल्युट् । तस्मिन्नभीरुः निर्भया
किमित्यरार्यसे अत्यर्थमटसि । अर्तः 'सूचिसूत्रिमूच्यटयत्यंशूणोतिभ्यो
वाच्यः' इति यङ् । 'यङि च । ७ । ४ । ३० ।' इति गुणः । 'न न्द्राः संयो
। ६ । १ । ३ ।' इति प्रतिषेधस्य प्रतिषेधो यकारपरस्य न द्वित्वनिषेधः ।
रेफो द्विरुच्यते । भयशीला भीरुः । 'भियः कुक्कुलकनौ । ३ । २ । १७४
क्रियाशब्दत्वात् 'ऊङुतः । ४ । १ । ६६ ।' इति ऊङ् न भवति ।
त्वाच्च । तथाहि लक्ष्मणेनामानुषीयमिति ज्ञाता । तथाच भङ्ग्या दर्शयन्नात्
असूर्यम्पश्यरूपा । अतिगोपनीयतया सूर्यमप्यनिषिद्धदर्शनं न पश्यतीति
'असूर्यललाटयोर्दृशितपोः । ३ । २ । ३६ ।' इति खश् । 'पात्राध्मास्थान्नादाण
श्यातिसर्तिसदसदां पिवजिब्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यर्लधौशीयसीदाः । ७ । ३ । ७७
इति पश्यादेशः । असूर्यम्पश्यं रूपं यस्यां इति समासः । सा न पश्यती
रूपमपि न पश्यतीत्युक्तम् ॥ २१ ॥

मानुषानभिलष्यन्ती रोचिष्णुर्दिव्यधर्मिणी ॥

त्वमप्सरायमाणेह स्वतन्त्रा कथमश्वासि ॥ २२ ॥

मानुषानित्यादि—मनोरपत्यानि मानुषाः । 'मनोर्जातावच्यतौ पुक्
। ४ । १ । १६१ ।' तानभिलष्यन्ती कामयन्ती रन्तुमिच्छन्ती । 'वा भ्रात
भ्लाशभ्रमुकमुकुमुत्रसिन्नुटिलषः । ३ । १ । ७० ।' इति श्यन् । रोचिष्णुः रोच
स्वभावा । 'अलङ्कृन्तिराकृन्प्रजनोत्पचोत्पतोन्मदरुच्यपत्रपवृत्तुधुसइच

वृ । ३ । २ । १३६ ।' इति इण्णुच् । अत एव दिव्यधर्मिणी । दिवि
दिव्याः देवा राक्षसा अपि देवयोनित्वात् । तेषां धर्मः स्वभावः सोऽस्या
गति । 'धर्मशीलवर्णान्ताच्च । ५ । २ । १३२ ।' इति इनिः । अप्सरायमाणा
परा इवाचरन्ती । राक्षसभावं गोप्तुमिति भावः । 'उपमानादाचारे' इत्य-
पारे 'कर्तुःक्यङ् सलोपश्च । ३ । १ । ११ ।' 'ओर्जिसोऽप्सरसो नित्यम्' इति वच-
[। इह वने स्वतन्त्रा कथमञ्चसि भ्रमसि, स्व आत्मा तन्त्रः प्रधानं यस्याः ।
राधीनत्वात् । अनयोक्त्या राक्षसीत्वं दर्शयति ॥ २२ ॥

उग्रम्पश्याऽऽकुलेऽरण्ये शालीनत्वं विवर्जिता ।

कामुकप्रार्थनापट्वी पतिवती कथं नवा ॥ २३ ॥

उग्रमित्यादि—उग्रम्पश्यन्तीत्युग्रम्पश्याः । पापाशयत्वात् । शबरादयः ।
म्पश्येरम्मदपाणिन्धमाश्च । ३ । २ । ३७ ।' इति खश् निपात्यते । तैरा-
ऽव्याप्ते अरण्ये । पतिवती जीवत्पतिः कथं केन प्रकारेण न वा नैवं भव-
त्यर्थः । 'अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक् । ४ । १ । ३२ ।' इत्यत्र पतिर्विद्यते अस्या
मत्तुप् सिद्धः । जीवत्पत्यां मत्तुपो वत्वं निपात्यते । नुक् सूत्रेणैव विधी-
तः । डीप्रत्ययस्तूगित्वादेव सिद्धः । शालीनत्वविवर्जिता । अधृष्टतया वर्जिता ।
प्रवेशमर्हतीति 'शालीनकौपीने अधृष्टकार्ययोः । ५ । २ । २० ।' इति
निपात्यते । अधृष्टेऽभिधेये प्रवेशशब्दस्य लोपः । तस्य भावः शाली-
नम् । कामुकः कामशीलः । 'लपपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशभ्य उक्ञ्
। २ । १५४ ।' इत्युक्ञ् । तस्य प्रार्थनायां पट्वी चतुरा । 'वोतो गुणव-
त्त्वात् । ४ । १ । ४४ ।' इति डीप् ॥ २३ ॥

राघवं पर्णशालायामिच्छाऽनुरहसं पतिम् ।

यः स्वामी मम कान्तावानौपकर्णिकलोचनः ॥ २४ ॥

राघवमित्यादि—रामं पर्णशालायामवस्थितं पतिमिच्छ । अनुरहसं विवेक-
प्रमनुगतो रह इति विगृह्य 'अन्ववतप्ताद्रहसः । ५ । ४ । ८१ ।' इत्यच् । यो
धवो ममापि स्वामी प्रभुः । 'स्वामिन्नैश्वर्ये । ५ । २ । १२६ ।' इति निपातितम्
न्तावान् सभार्यः । प्रवृत्तसम्भोगोऽसौ नाहमिति दर्शयति । तमेव रूप-
तीर्याभ्यां वर्णयन्नाह—औपकर्णिकलोचनः । कर्णयोः समीपमुपकर्णम् ।
समीपार्ये अव्ययीभावः । तत्र प्रायभव इति । 'उपजानूपकर्णोपनिविष्टक्
३ । १४० ।' शेषमपि शब्दद्वयं प्रयोक्ष्यते । औपकर्णिके लोचने यस्य कर्णा-
न्तायतलोचन इत्यर्थः ॥ २४ ॥

वपुश्चान्दनिकं यस्य कार्णवेष्टकिकं मुखम् ।

सङ्ग्रामे सर्वकर्मीणौ पाणी यस्यौपजानुकौ ॥ २५ ॥

वपुरित्यादि—यस्य राववस्य वपुः शरीरं चान्दनिकं चन्दनेन सम्प्राप्तशोभं भवति । मुखं च कार्णवेष्टकिकम् । कर्णवेष्टकाभ्यां कर्णालङ्कारां कार्णवेष्टकिकम् । तत्रोभयत्र 'सम्पादिनि १५११९९१' इति ठक् । पाणी संग्रामे युद्धे सर्वकर्मीणौ धनुःखङ्गादिव्यापारकर्मणि व्याप्नुतः । 'तत्सर्वः पव्यङ्गकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति १५१२७१' इति खः । औपजानुकौ आजानुकौ आजानुलम्बावित्यर्थः । अत्र ठक् । 'इसुसुक्तान्तात्कः ७३१५१' २५ ॥

बद्धो दुर्बलरक्षार्थमसिर्येनौपनीविकः ।

यश्चापमाश्मनप्रख्य सेषु धत्तेऽन्यदुर्वहम् ॥ २६ ॥

बद्ध इत्यादि—येन असिः खङ्गः औपनीविकः । नीविसर्मापे प्रायेण भवतीति स हि नीवीं प्राप्य वर्तमानः पार्श्वयोश्चोर्ध्वं निबद्धः । किमर्थं—दुर्बलरक्षार्थं दुर्बलरक्षायै इदमित्यस्मिन्नर्थे 'चतुर्थी तदर्थार्थं ०-२११३६१' इत्यादिना सः । तत्रार्थेन नित्यः समासः सर्वलिङ्गता च । यश्चापं धनुर्धत्ते धारयाति । आश्मनप्रख्यम् अश्मनो विकार इत्यण् । 'अन् ६१४१६७१' इति प्रकृतिभावे प्राप्ते 'अश्म विकारे ०--' इति टिलोपः पाक्षिकः । विभाषजोरित्यतो मण्डूकप्लुतवेभाषाग्रहणानुवृत्तेर्विकारे वाच्ये । अन्यत्राश्मन एव भवति । आश्मख्या सादृश्यमस्य तदाश्मनप्रख्यमुपलघटितमिव । सेषु संशरम् । अदुःखेनोद्यत इति खल् । रामादन्येन दुर्वहमित्यर्थः ॥ २६ ॥

जेता यज्ञद्रुहां संख्ये धर्मसन्तानसूर्वने ॥

प्राप्य दारगवानां यं मुनीनामभयं सदा ॥ २७ ॥

जेतेत्यादि—यज्ञाय द्रुह्यन्तीति यज्ञद्रुहो राक्षसाः । 'सत्सूद्विपद्रुहदुहयुः वेदभिदच्छिदाजिनाराजामनुपसर्गेऽपि क्तिप् १३२१६१' इति क्तिप् । तेषां सङ्ग्रामे जेता । वृजन्तोऽयम् । ततश्च कृत्प्रयोगे कर्मणि पष्ठी । धर्मसन्तानसूः पूर्ववत् क्तेप् । धर्मरत इत्यर्थः । वने वर्तमानानां मुनीनां वानप्रस्थादीनामित्यर्थः । तेषां भार्याभिपरिग्रहात् यानि दारगवानि । दाराश्च गावश्चेति दारगवानिति अचतुरविचतुर-५१४१७७१' इत्यादिना निपातितानि । दारयन्तीति दाराः । दारजारौ कर्तारि णिलुक् च' इति घञ् । तेषां च येनाभयं सदा दत्तमिति चोऽयम् । येषामेव प्राप्तिक्रिया तेषामेवाभयमिति समानकर्तृकत्वम् ॥ २७ ॥

ततो वावृत्यमानाऽसौ रामशालां न्यविक्षत ॥

मामुपायंस्त रामेति वदन्तो साऽऽदरं वचः ॥ २८ ॥

तत इत्यादि---ततो लक्ष्मणवचनानन्तरमसौ राक्षसी वावृत्यमाना रामं
दिवाना । 'वृत्तु वरणे' । इति दैवादिकः आत्मनेपदी । रामशालां रामस्य
शालां पर्णकुटीरं ताम् न्यविक्षत प्रविष्टा । विशेषः 'शल इगुपधादनिटः क्सः
॥ १ । ४५ ।' 'नेर्विशः । १ । ३ । १७ ।' इति तड् । मामुपायंस्त रामेति
राम अहं प्रार्थये भवान् मामुपायंस्त परिणयत्विति वाक्यभेदेन योज्यम् ।
प्रशंसायां भूतवच्च । ३ । ३ । १३२ ।' इति लुङ् । 'उपाद्यमः स्वकरणे । १ । ३ । ५६ ।'
इति तड् । 'विभाषोपयमने । १ । २ । १६ ।' । इत्यकित्वपक्षे रूपम् । इत्येवं वचः
दरं वदन्ती ॥ २८ ॥

अस्त्रीकोऽसावहं स्त्रीमान् स पुष्यतितरां तव ॥

पतिरित्यब्रवीद् रामस्तमेव ब्रज मा मुचः ॥ २९ ॥

अस्त्रीत्यादि---असौ लक्ष्मणोऽस्त्रीकः । न विद्यते अस्य स्त्रीति । 'नदृत्तश्च
। ४ । १५३ ।' इति कप् । 'न कपि । ७ । ४ । १४ ।' इति ह्रस्वप्रतिषेधः । अहं
ः स्त्रीमान् सभार्यः । प्रशंसायां मतुप् । स एव लक्ष्मणः । पुष्यतितराम्
पुष्यति लक्ष्मणस्तव पतिः । 'तिडश्च । ५ । ३ । ५६ ।' इति तरप् । 'किमेत्ति-
ययधादास्वद्रव्यप्रकर्षे । ५ । ४ । ११ ।' इत्याम् । तस्मात्तमेव लक्ष्मणं ब्रज
छ । मा मुचः मा त्याक्षीः मुचेर्लङ् । लदित्त्वादङ् । इति एकमब्रवीद्रासः
दिवान् । आदादिकस्य व्रुवो लङि 'व्रुव ईद् । ७ । ३ । ९३ ।' इति
टं रूपम् ॥ २९ ॥

लक्ष्मणं सा वृषस्यन्ती महोक्षं गौरिवाऽगमत् ।

मन्मथाऽऽयुधसम्पातव्यथ्यमानमतिः पुनः ॥ ३० ॥

लक्ष्मणमित्यादि---लक्ष्मणं पुनर्भूयोऽगमत् । लक्ष्मणं प्रति गता । यथा
गौरिवृषस्यन्ती मैथुनेच्छावती महोक्षं महावृषम् । वृषस्यन्तीत्युपमानविशेषणमे-
तत् । तेन वृषं लब्धुमिच्छतीति क्यच् । 'अश्वक्षीरवृषपलवणानामात्मप्रीतौ
स्यचि । ७ । १ । ५१ ।' इति असुक् । तद्व्यथ्यवृषयोर्भैथुनेच्छायामिति ।
तद्वदागमत् । महोक्षमिति 'अचतुरविचतुरसुचतुर- । ५ । ४ । ७७ ।' इत्यादिसूत्रेण
नेपतितम् । मन्मथत्यायुधानि शराः । आयुध्यन्ते एभिरित्यायुधानि ।
व्यथं कविधानमिति कः । तेषां सम्पातः । संश्लेषः । तस्मात् व्यथ्यमाना
पीड्यमाना मतिर्मनो यस्याः ॥ ३० ॥

तस्याः सासद्यमानाया लोलूयावान् रघूत्तमः ।

असिं कौक्षेयमुद्यम्य चकाराऽपनसं मुखम् ॥ ३१ ॥

तस्या इत्यादि—सासद्यमानायाः समीपे गार्हितं सीदन्त्याः प्राविशन्त्याः
‘लुपसद्चरजपजभद्दहदशगृभ्यो भावगर्हायाम् । ३ । १ । २४ ।’ इति यद्
रघूत्तमो लक्ष्मणः । मुखमपनसमपगतनासिकं चकार । ‘उपसर्गाच्च । ५।४
११९।’ इत्यच् । नासिका च नसादेशमापद्यते । तत्र संज्ञायामिति नानुवर्तते
किं कृत्वा कौक्षेयमसिमुद्यम्य उत्क्षिप्य । कुक्षौ भव इति ‘दृतिकुक्षि
वस्त्यस्त्यहेढब् । ४।३।५६।’ इति ढब् । कौक्षेयः । लोलूयावान् अत्यर्थं लवण
क्रियायुक्तः । लुनातीति लोलूया । यङन्ताद् ‘अप्रत्ययात् । ३।३।१०२।’ इत्य
कारः । सा विद्यते यस्येति मतुपू ॥ ३१ ॥

अहं शूर्पणखा नाम्ना नूनं नाऽज्ञायिषि त्वया ।

दण्डोऽयं क्षेत्रियो येन मय्यपातीति साऽब्रवीत् ॥ ३२ ॥

अहमित्यादि—सा राक्षसीत्यब्रवीत् । अहं शूर्पणखेति नाम्ना नूनमवश्यं त्वया
ज्ञायिषि न ज्ञातास्मि । ज्ञा इत्यस्मात्कर्माणि लुङ् । ‘स्यसि—६।४।६२। इत्यादिन
जन्तत्वात् चिण्वदिट् । ‘आतो युक् चिणूकृतोः । ७।३।३३।’ इति युक् । ‘स्वाज्ञा
चोपसर्जनात्—४।१।५५।’ इति ङीषि प्राप्ते ‘नखमुखात् संज्ञायाम् । ४।१।५०।
इति प्रतिषेधः । ‘पूर्वपदात्संज्ञायामगः । ८।४।३।’ इति णत्वम् । अज्ञाने क
माह—येनायं दण्डो नासाच्छेदनलक्षणो मय्यपाति पातितः । पातेः कर्माणि लुङ्
चिणादेशः ‘अत उपधायाः । ७ । २ । ११६ ।’ इति वृद्धिः । ‘चिणो लुक् । ६।४
१०४।’ क्षेत्रियः परक्षेत्रे चिकित्स्यः परक्षेत्रे जन्मान्तरशरीरे यदि शक्यश्चि
कित्सितुं तदा नासिकायाः सम्भवात् । ‘क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः । ५ । १
९२।’ इति निपातनम् ॥ ३२ ॥

पर्यशाप्सीद्दिविष्टाऽसौ संदर्श्य भयदं वपुः ।

आपिस्फवच्च बन्धूनां निनङ्क्षुर्विक्रमं मुहुः ॥ ३३ ॥

पर्यशाप्सीदित्यादि—असौ राक्षसी पर्यशाप्सीत् आक्रुष्टवती । शपेरनिदः
साचि हलन्तलक्षणा वृद्धिः । शप उपालम्भन इति तङ् न भवति उपालम्भनं हि
वाचा शरीरस्पर्शनम् । दिविष्टा नभसि वर्तमाना । ‘तत्पुरुषे कृति वङ्गलम् ६ ।
३ । १४ ।’ इति सप्तम्या अलुक् । ‘अम्बाम्बगोभूमिसव्यापद्वित्रिकुशेकुशङ्
क्वङ्गुमञ्जिपुञ्जिपरमेवार्हदिव्यग्निभ्यः स्थः । ८।३।९७।’ इति पत्वम् । भयदं रं

शरीरं संदर्श्य दर्शयित्वा बन्धूनां विक्रमं शौर्यं मुहुः पुनः पुनः ।
स्फवत् स्फीतीचकार । 'अर्तिह्रीवलीरीकनूयीक्ष्माय्यातां पुङ्णौ । ७।३।३६।'
णावित्यनुवृत्तौ 'स्फायो वः । ७।३।४१ ।' इति वकारः । स्फाय-
ङि णिलोपः । ह्रस्वद्विर्वचनादि । अभ्यासस्य खयः शेषः । चर्त्वमित्वं च
द्वावे । निनङ्क्षुः नष्टुमिच्छुरित्यर्थः । नशेः सति 'मस्जिनशोझलि । ७ ।
०।' इति नुम् ॥ ३३ ॥

खरदूपणयोर्भ्रात्रोः पर्यदेविष्ट सा पुरः ।

विजिग्राहयिषू रामं दण्डकाऽरण्यवासिनोः ॥ ३४ ॥

खरेत्यादि—खरदूपणयोर्भ्रात्रोर्दण्डकारण्यवासिनोः पुरः अग्रतः पर्यदेविष्ट
देवनं कृतवतीति । 'देवृ देवने ।' इत्यस्यादात्मनेपादिनः सेटो लुङि रूपम् ।
देवने कारणमाह—विजिग्राहयिषुः रामं विग्राहयितुं योषयितुमिच्छुः ।
पर्यन्तस्य सन्नन्तस्य रूपम् । 'रोरे । ८।३।१४।' इति रेफलोपः । 'दू-
पे पूर्वस्य दीर्घोऽणः । ६।३।१११।' इति दीर्घत्वम् ॥ ३४ ॥

किं पर्यदेविष्ट इत्याह—

कृते सौभागिनेयस्य भरतस्य विवासितौ ।

पित्रा दौर्भागिनेयौ यौ पश्यतं चेष्टितं तयोः ॥ ३५ ॥

कृतेइत्यादि—भरतस्य कृते कार्यनिमित्तं राज्ये अभिषेक्तव्यमिति । सुभगा
रथी तस्या अपत्यं सौभागिनेयः 'स्त्रीभ्यो ढक्। ४।१।१२०।' 'कल्याण्यादीना-
र्वाङ् । ४।१।१२६।' तत्र सुभगा दुर्भगा चेति पठ्यते। 'ह्रद्गसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य
क्। ३।१९।' इत्युभयपदवृद्धिः । पित्रा यौ विवासितौ निष्कासितौ दौर्भागिनेयौ
। सत्या सुमित्रा च दुर्भगे तयोरपत्ये रामलक्ष्मणौ तयोश्चेष्टितं नासाच्छेदनं
यतम् । विधौ प्रार्थनायां वा लोट् । थसस्तम् ॥ ५ ॥

मम रावणायाया भगिन्या युवयोः पुनः ।

अयं तापसकाद् ध्वंसः क्षमध्वं यदि वः क्षमम् ॥ ३६ ॥

क्षममेत्यादि—रावणो नाथः प्रभुर्यस्याः मम विशेषणम् । युवयोर्भगिन्या अयं
क्षमसकान् कुतापसान् । कुत्सायां कन् । ध्वंसो नासिकाविनाशः यदि वः
क्षमाकं गुरुणां क्षमं युक्तम् क्षन्तुमित्यर्थात् । युष्मदि गुरावेकेषामिति बहु-
वचनं तयोर्ज्येष्ठत्वान् । तर्हि क्षमध्वम् उपेक्षध्वम् । रावण एव ज्ञास्यतीति
। वः ॥ ३६ ॥

पुनरप्येजयितुमाह—

असंस्कृत्रिमसंव्यानावनुप्त्रिमफलाशिनौ ।

अभृत्रिमपरीवारौ पर्यभूतां तथापि माम् ॥ ३७ ॥

असमित्यादि—संस्कारेण वापेन भरणेन च निर्वृत्तः संस्कृत्रिमम् । उ
भृत्रिमं च । ‘ द्वितः क्लः १३।३।८८।’ ‘क्त्रेर्मम् नित्यम् ४।२।२०।’ ‘सपर्युपे
६। १ । १३७ ।’ इति सुट् । सम्पूर्वस्य क्वचिद्भूपणेऽपीष्यते । सं
न विद्यते येषामिति नञ्समासः । असंस्कृत्रिमाणि संव्यानानि परिध
उत्तरीयाणि ययोः । वल्कलवाससावित्यर्थः । अनुप्त्रिमाणि फलानि अशन
हारो ययोः तौ वन्यफलाहारौ न तु शालिभोजनौ । परिव्रियतेऽनेनेति ष
‘उपसर्गस्य षञ्ज्यमनुष्ये बहुलम् । ६।३।१२२।’ इति दीर्घः । मृगाणामम
त्वात् । अभृत्रिमः परीवारोऽनुजीविलोको ययोस्तौ मृगपरीवारौ । तथा
मां पर्यभूतां परिभूतवन्तौ । लुङि रूपम् ॥ ३७ ॥

श्वःश्रेयसमवाप्तासि भ्रातृभ्यां प्रत्यभाणि सा ।

प्राणिवस्तव मानार्थं ब्रजाऽऽश्वसिहि मा रुदः ॥ ३८ ॥

श्वःश्रेयसमित्यादि—श्वःशब्दः प्रशंसासाह । शोभनं श्रेय इति वा
‘श्वसो वसीयः श्रयसः । ५।४।८०।’ इत्यच् । मयूरव्यंसकादित्वात् समासः ।
श्रेयसं कल्याणमवाप्तासि प्राप्स्यसि । भविष्यदनद्यतने लुट् । मारयाव
त्युक्तं भवति । ताभ्यां भ्रातृभ्यां प्रत्यभाणि प्रतिभणिता सा । कर्मणि
प्राणिवस्तव मानार्थम् । तव मानखण्डनं मा भूदिति जीवावः । ‘श्वस
अन च’ । ‘रुदादिभ्यः सार्वधातुके । ७।२।७६।’ इति इट् । ‘अनितेः । ८।४।
इति णत्वम् । तस्माद् ब्रज । यथास्थानं गच्छ । आश्वसिहि । उद्वेगं त्य
विधौ प्रार्थनायां वा लोट् । मा रुदः । ‘माङि लुङ् । ३।३।१७५ ।’ ‘इरितो
। ३।१।५७।’ इत्यङ् । यदा नास्ति तदा मा रोदीरिति ॥ ३८ ॥

जक्षिमोऽनपराधेऽपि नरान् नक्तं दिवं वयम् ।

कुतस्त्यं भीरु ! यत्तेभ्यो द्रुह्यञ्ज्योऽपि क्षमामहे ॥ ३९ ॥

जक्षिम इत्यादि—वयम् अनपराधेऽपि । नक्तं च दिवा च नक्तन्दिव
‘अचतुरविचतुरसुचतुर--। ५।४।७७।’ इत्यादौ निपातितम् । नरान्
भक्षयामः । ‘जक्ष भक्षहसनयोः ।’ इति भक्षार्थस्य । ‘रुद्रादिभ्यः स
धातुके । ७।२।७६।’ इतीट् । ‘अस्मदो द्वयोश्च । १।२।५९।’ इति द्वित्वे वर्या
बहुवचनम् । यत एवं हे भीरु ! संयुद्धौ गुणो न भवति ‘संज्ञापूर्वको वि

।' इति । कुतस्स्यम् कुत एतदागतम् । 'अव्ययात् त्यप् । १४।२।१०४।' हृकृतसित्रेभ्य एव' इति त्यप् । तेभ्यो, नरेभ्यो द्रुह्यङ्गयोऽपि द्रोहं कुर्वाणेभ्योऽपि महे । नैवेत्यर्थः । 'क्रुधद्रुहेर्ष्याऽसूयाऽर्थानां यं प्रति कोपः । १।४।३७।' इति । दानत्वम् । क्षमेर्गम्यमानो नवर्थस्तस्यासूयार्थत्वात् 'क्षमध्वं यदि वः क्षम-
द्रस्यम्य प्रतिवचनम् ॥ ३९ ॥

तौ चतुर्दशसाहस्रचलौ निर्ययतुस्ततः ।

पारश्वधिकधानुष्कशाक्तीकप्रासिकाऽन्वितौ ॥ ४० ॥

तावित्यादि—ततो निगदनादुत्तरकालं निर्ययतुर्निर्गतवन्तौ । चतुर्दशसह-
णे परिमाणं यस्य बलस्य । तदस्य परिमाणमित्यस्मिन्विषये 'शत-
विंशतिकसहस्रवसनादण् ५।१।२७।' प्राग्वतेः 'सङ्ख्यायाः संवत्सरसङ्ख्यस्य
७।३।१५।' इत्युत्तरपदवृद्धिः । चतुर्दशसाहस्रं बलं ययोः तौ । तथा 'पारश्वधि-
ानुष्कशाक्तीकप्रासिकान्वितौ । परश्वधः प्रहरणमेवाम्' इति 'परश्वधात्
ष । १।४।१।५।८।' तथा धनुः प्रहरणमेपां शक्तिः प्रहरणमेपामिति 'शक्तिचष्ट्यो-
क् । १।४।१।५।९।' प्रासः कुन्तः प्रहरणमित्यौत्सर्गिकष्टक् । तत्र धनुषष्टक् ।
सुचान्तात्कः । ७।३।५।१।' ततः सेनाङ्गत्वात्कृतैकवद्भावः । तेनान्विता-
पतौ ॥ ४० ॥

अथ सम्पततो भीमान् विशिखै रामलक्ष्मणौ ।

बहुमूर्ध्नो द्विमूर्द्धाश्च त्रिमूर्द्धाश्चाऽहतां मृधे ॥ ४१ ॥

अथेत्यादि—अथ एतस्मिन् प्रस्तावे रामलक्ष्मणौ मृधे संप्राप्ते विशिखैः शरै-
। एतवन्तौ । हन्तिः परस्मैपदी तस्माद्भङ्गि तसस्ताम् । तस्य ङित्त्वे 'अनु-
। १।५।३।७।' इति ।
नासिकलोपः । कान् राक्षसान् । विशेषणोपादानात् विशेष्यप्रतिपत्तिः । प्रकृ-
गद्वा । सम्पततोऽभिपततः । बहुमूर्ध्नो बहुशिरसः । तथा द्विमूर्ध्नाश्चि
। 'द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः । ५।४।१।५।' इति समासान्तः षः । अत
भीमान् भवानकान् । त्रिमूर्ध्नाश्चेत्यत्र 'नश्छव्यप्रशान् । ८।३।७।' इति सः ।
न्य त्वनुनासिकः । 'विर्सजनीयस्य सः । ८।३।३।४।' इति सत्वम् ॥ ४१ ॥

तैर्वृक्णरुगणसम्भुग्लुण्णाभिन्नाविपन्नकैः ।

निमग्नोद्विग्नसंहीणैः पप्रे दीनैश्च मेदिनी ॥ ४२ ॥

तैस्त्वित्यादि—तैः राक्षसैर्मेदिनी पप्रे पूरिता । 'प्रा पूरणे ।' इत्यस्मात्क-
ने लिट् । वृष्णैः छिन्नैः । रुग्णैः भग्नहस्तपादैः । सम्भुग्लैः वक्त्रीकृतदेहैः ।

क्षुण्णैः सम्पिष्टशरीरैः । भिन्नैः विदारितैः । विपन्नकैः नष्टैः ।
 न्पायां कन् । ५।३।७६।' निमग्नैः परिभूतैः । उद्विग्नैर्भूतैः ।
 जितैः । वयमपीदृशीं दशां प्राप्ता इति । दीनैः 'हा मातः हा भ्रात
 भाषमाणैः । तत्र वृश्चिरुनिभुजिमास्जिवाजभ्योः निष्ठायाम् 'ओदित
 २।४५।' इति नत्वम् । 'चोः कुः । ८।२।३०।' इति कुः । क्षुदिभि
 निष्ठायां 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः । ८।२।४२।' इति दस्य
 संह्रीण इति 'नुदविदोन्दत्नाघ्राहीभ्योऽन्यतरस्याम् । ८।२।५६।' इ
 'दीङ् क्षये ।' इत्यस्य 'स्वादय ओदितः' इति 'ओदितश्च । ८।२
 इति नत्वम् ॥ ४२ ॥

केचिद् वेपथुमासेदुरन्ये दवथुमुत्तमम् ।

सरक्तं वमथुं केचिद् भ्राजथुं न च केचन ॥ ४३ ॥

केचिदित्यादि—तेषां मध्ये केचित् वेपथुं कम्पम् । 'दुवेष्ट
 आसेदुः प्राप्ताः । अन्ये दवथुमुपतापम् उत्तमं महान्तम् । 'दु
 तापे ।' केचिद्वमथुं छर्दनं सरक्तं सशोणितम् । दुवम् उद्विरेणे ।
 शोभां नैव केचन न केचिदपि आसेदुरिति पूर्वोणान्वयः । 'दुभ्राजृ दीप्तै
 र्वत्र 'द्वितोऽथुच् । ३ । ३ । ८९ ।' इत्यथुच् ४३ ॥

मृगयुमिव मृगोऽथ दक्षिणेर्मा दिशमिव दाहवतीं मराबुदन्य
 रघुतनयमुपाययौ त्रिमूर्धो विषभृदिवोग्रमुखं पतत्रिराजम् ॥

मृगयुमित्यादि—अथैतरिमन् राक्षसविध्वंसनप्रस्तावे त्रिमूर्धः त्रिदि
 राक्षसः रघुतनयमुपाययौ उपागतः । मृगयुमिव लुब्धकमिव । मृगान्
 मृगयुः 'मृगखादयश्च' इत्यौणादिककुप्रत्ययान्तः । दक्षिणेर्मा दक्षिणे
 यस्येति । 'दक्षिणेर्मा लुब्धयोगे । ५ । ४ । १२६।' इत्यनिच् । यथा मृगो
 अप्रित्तदक्षिणाङ्गः तमेव मरणायोपयाति । दिशमिव दाहवतीं य
 दावाभ्रियुतां मरौ निर्जले देशे मृग उदन्यन् उदकपानाभिलाप उपयाति
 कमिच्छति । 'सुप आत्मनः क्यच् । ३ । १ । ८।' इति क्यच् । उदक
 भावः । 'अशनायोदन्यधनाया बुभुक्षापिपासागर्धेषु । ७ । ४ । ३४
 निपातितः । तदन्ताल्लट् शत्रुप्रत्ययः । विषभृदिव यथा विषधरः सर्प
 भीषणमुखं पतत्रिराजं गरुडमुपयाति तद्वत्तमिति । ' राजाऽ
 भ्यष्टच् । ५ । ४ । ९१ ।' ॥ ४४ ॥

१ अत्र 'पुष्पिताग्रा' छन्दः । 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजी
 पुष्पिताग्रा' इति तल्लक्षणात् ।

शेतविशितानिकृत्कृत्स्नवक्रः

क्षितिभृदिव क्षितिकम्पकीर्णशृङ्गः ।

भयमुपनिदधे स राक्षसाना-

माखिलकुलक्षयपूर्वलिङ्गतुल्यः ॥ ४५ ॥

शेतत्यादि—त्रिमूर्धो राक्षसानां भयमुपनिदधे उपनिहितवान् । कीदृशः

विशिख्येस्तीक्ष्णविशिखैः निकृत्तानि छिन्नानि कृत्स्तानि सर्वाणि वक्राणि

नि यस्य सः । क्षितिभृदिव भूधर इव । कीदृशः क्षितिकम्पकीर्णशृङ्गः

भूमौः कम्पेन कीर्णानि क्षिप्तानि शृङ्गाणि यस्य क्षितिभृतः । अखिलस्य

स्य कुलस्य क्षये त्रिनाशे यन् पूर्वलिङ्गं तेन तुल्यः असावप्यखिलराक्षस-

स्य पूर्वलिङ्गतुल्यः ॥ ४५ ॥

इति श्रीजयमङ्गलक्ष्मीरिवरचितया जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया

समलंकृते श्रीमद्दिकान्ये प्रथमे प्रकीर्णकाण्डे लक्षणान्तरे चतुर्थः

परिच्छेदः । तथा लक्ष्यरूपे ऋषानन्दे श्रीरामप्रवासो

नाम चतुर्थः सर्गः ।

पञ्चमः सर्गः ।

निराकारिणू वर्तिणू वर्धिणू परितो रणम् ।

उत्पतिणू सहिणू च चेरनुः खरदूपणौ ॥ १ ॥

निरेत्यादि—खरदूपणौ रणं परितः समन्तान् । 'अधितःपरितःसमया-

पाहाप्रतियोगेऽपि' इति द्वितीया । चेरनुः भ्रान्तौ । निराकारिणू अकृ-

राकरणशीलौ । वर्तिणू अभिमुखं वर्तनशीलौ, न तु पठायनशीलौ । वर्धिणू

पथा महाप्राणोद्भावनशीलौ । उत्पतिणू जम उत्पन्नशीलौ । सहिणू

प्रप्रहारसहनशीलौ । सर्वत्र 'अलंङ्घ्यनिगच्छप्रजननान्वाचान्वात्मनदन्त्यर-

घृतुवृधुसहचर इण्यन् । ३ । २ । १३६ ।' इति इण्यन् ॥ १ ॥

तौ खड्गमुसलप्रासचक्रवाणगदाक्रौ ।

अकार्षामायुवच्छायं रजःसन्तममे रणे ॥ २ ॥

तावित्यादि—रणे रणभूमौ रजःसन्तममे । सङ्घर्षे नमः सन्तमसम् । अत्र-

हान्त्येभ्यस्तमसः । ५ । ४ । ७९ ।' इत्यच् । रजसा सन्तमसम् श्रीम्यन् इति

जःसन्तमसं तस्मिन् रजसा कृतान्यकारे नो न्वरदूपणौ आयुवच्छायमायुवचा-

१ अत्रापि तदेव छन्दः । इयमाऽयद्वारः ।

हृत्यमकार्ष्टाम् कृतवन्तौ । आयुधानां छायेति 'छाया बाहुल्ये । २ । ४ । २
इति नपुंसकत्वे ह्रस्वत्वम् । खङ्गादीनां बाणान्तानां द्वन्द्वैकवद्भावं कृत्वा
सहितां गदेति शाकपार्थिवादित्वात् समासः । अन्यथा 'समुदायस्य जा
प्राणिनाम् । २ । ४ । ६ ।' इत्येकवद्भावेन नपुंसकलिङ्गता स्यात् ५ । ५ । ५
खङ्गमुसलप्रासचक्रवाणगदाः करे येषामिति समासे 'प्रहरणार्थेभ्य' इत्य
करशब्दस्य परनिपातः ॥ २ ॥

अथ तीक्ष्णाऽऽयसैर्वाणैरधिमर्म रघूत्तमौ ।

व्याधं व्याधममूढौ तौ यमसाच्चक्रतुर्द्विषौ ॥ ३ ॥

अथेत्यादि—अथैतस्मिन् सङ्गमे रघूत्तमौ रामलक्ष्मणौ कर्तृभूतौ ।
द्विषाविति । 'सत्सुद्विषद्रुहयुजविदभिदच्छिदजिनीराजामनुपसर्गेऽपि
। ३ । २ । ६ । १ ।' इति क्विप् । यमसाच्चक्रतुः यमाधीनौ कृतवन्तौ ।
धीनवचने । ५ । ४ । ५ । ४ ।' इति सातिः । तीक्ष्णायसैर्वाणैः । तीक्ष्णमायसं
येषामिति । व्याधं व्याधं विद्धा विद्धा । 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च । ३ । ४ ।
तत्र 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले । ३ । ४ । २ । १ ।' इति अनुवर्तते । 'आभीक्ष्ण्यं
भवतः' इति द्विर्वचनम् । अधिमर्मेति विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । अमूढौ
धानौ रामलक्ष्मणौ ॥ ३ ॥

मर्मवेधमेवाह—

हतवन्धुर्जगामाऽसौ ततः शूर्पणखा वनात् ।

पारेसमुद्रं लङ्कायां वसन्तं रावणं पतिम् ॥ ४ ॥

हतेत्यादि—असौ शूर्पणखा हतवन्धुः व्यापादितभ्रातृद्वया ततो वन-
कारण्यात् रावणं पतिं प्रभुं शरणं जगाम गतवती । पारेसमुद्रम् । समुद्रस्य
इति 'पारे मध्ये पृथया वा । २ । १ । १ । ८ ।' इत्यव्ययीभावः ।
पूर्वपदस्यैकारान्तत्वम् । पश्चात्सप्तमी । 'नाव्ययीभावात् २ । ४ । ८ । ३ ।' इत्यम्भ
समुद्रस्य पारे स्थितायां लङ्कायां वसन्तं रावणमिति ॥ ४ ॥

सम्प्राप्य राक्षससभं चक्रन्द क्रोधविह्वला ॥

नामग्राहमरोदत्सा भ्रातरौ रावणाऽन्तिके ॥ ५ ॥

सम्प्राप्येत्यादि—सा शूर्पणखा राक्षससभं सम्प्राप्य दौकित्वा ।
सभेति 'सभा राजामनुप्यपूर्वा । २ । ४ । २ । ३ ।' इति नपुंसकता । चक्रन्द
कृतवती । क्रोधविह्वला क्रोधविवेशा । भ्रातरौ खरदूपणावरोदत् सदितव
नामग्राहं नाम गृहीत्वा । भ्रातरौ खरदूपणाविति । 'नाम्न्यादिशिग्रहांः । ३ ।

इति णमुल् । अत्र नामग्रहणविशिष्टाया रोदनाक्रियाया व्याप्तुमिष्ट-
दिः सकर्मकः । रावणान्तिके रावणसमीपे । सप्तम्यधिकरणे चार।३।३६।
चकाराद्गुरान्तिकार्थेभ्य इति सप्तमो ॥

योः किं जातमिति रावणेन पृष्टह-

दण्डकानध्यवात्तां यौ वीर ! रक्षःप्रकाण्डकौ

नृभ्यां सङ्ख्येऽकृपातां तौ सभृत्यौ भूमिवर्धनौ ॥ ६ ॥

दण्डकानित्यादि—हे वीर दण्डकान् दण्डकारण्यसन्निवेशान् अध्यवात्ताम्
पितवन्तां । 'वस निवासे ।' इत्यस्माल्लुङ् । हलन्तलक्षणा वृद्धिः ।
ग्यार्धधातुके।७।४।४९।' इति धातुसकारस्य तत्त्वम् 'झलो झलि।८।२।२६।'
सिचो लोपः।रक्षःप्रकाण्डकौ प्रशस्तां राक्षसौ । 'प्रशंसावचनैश्च।२।१।६६'
समासः । ततः स्वार्थे कन् 'स्वार्थिकाश्च प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते'
नपुंसको न भवति । अन्यथा रूढिशब्दाः प्रशंसावचना आविष्टलिङ्गत्वा-
लिङ्गेऽपि जातिशब्दे म्वलिङ्गोपादानादेव समानाधिकरणाः स्युः । यथा गोप्र-
दमिति । तौ नृभ्यां मनुष्याभ्यां सङ्ख्ये युद्धे भूमिवर्धनावकृपाताम् कृतौ ।
णि लुङ् । अचिप्त्रद्वावे रूपम् । वर्धते इति वर्धनौ । 'कृत्यल्युटो बहुलम्
३।१।१३।' इति कर्तरि ल्युट् । भूमेर्वर्धनाविति स० । भस्मीकृतशरीरस्य
लीयमानत्वान् । सभृत्यौ नैकाकिनौ ॥ ५ ॥

विग्रहस्तव शक्रेण वृहस्पतिपुरोधसा ।

सार्धं कुमारसेनान्या शून्यश्चाऽसीति को नयः ॥ ७ ॥

विग्रह इत्यादि—वृहस्पतिः पुरोधा मन्त्री यस्य शक्रस्य तेनाकार्येषु पुरो-
धत इति पुरोधाः । पुरःपूर्वाद्वाजः सर्वधातुभ्य असुन् । तथा कुमारः कार्ति-
ः सेनानीर्यस्य । सेनां नयतीति 'सत्सूद्विपद्रुहयुजविदभिदलिदजिनीरा-
ननुपसर्गेऽपि ।३।२।६१।' इति क्विप् । तेन शक्रेण सार्धं सह तव विग्रहं
सन् । इदानीं कार्यनिपुणाभावान् शून्यश्चासि । 'तासस्त्योलोपः ।७।४।५०।'
। सकारलोपः । तस्मात्को नयः । नय एव न भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥

तदेव दर्शयन्त्याह—

यद्यहं नाथ ! नाऽयास्यं विनासा हतवान्धवा ।

नाऽज्ञास्यस्त्वमिदं सर्वं प्रमाद्यंश्चारदुर्वलः ॥ ८ ॥

यदीत्यादि—विनासा विगता नासा यस्याः। नासैव नासिकेति 'केऽणः ।७।४।
३।' इति ह्रस्वत्वे रूपं, तस्या नसादेशस्य विधीयमानत्वाद्वा सम्भव एव ना ।

विनसेति पाठान्तरम् । तत्र विगता चासौ नासिका च विनाः
 तत इत्थम्भूलतक्षणायां तृतीयायां 'पद्मोमासहृन्निशसन्वूपन्दोपन्यकः
 कन्नुद्नासबल्लस्रभृतिषु । ६ । १ । ६३ ।' इति नसादेशः । विगतया नासि
 कयोपलक्षितेत्यर्थः । विगता नासिका अस्या इति बहुव्रीहिणा व्याख्याने 'अ
 नासिका-' इत्यादिना अच् नसादेशश्च प्राप्नुतः । तस्य संज्ञाविपयत्वात् 'उपसर्गा
 उत्यसंज्ञायां विधीयमानो न भवति 'विप्रो वक्तव्यः' इति प्रादेशो बाधकः । हे
 यद्यहं विनासा हतबान्धवा नायास्यं न याताऽभविष्यम्, तदा तदिदं
 भ्रात्रोर्विधं नासाच्छेदं च नाज्ञास्यः न ज्ञातोऽभविष्यः । क्रियातिपत्तौ ल
 अज्ञाने कारणमाह—प्रमाद्यन् विषयेषु प्रमादं गच्छन् । चारदुर्बलः चारही
 चारा हि चक्षू राज्ञां कार्याकार्यज्ञानाय लोके । चरतीति चरः पचाद्यच् ।
 एव चारः 'प्रज्ञादिषभ्यश्च । ५।४।३८।' इत्यण् ॥ ९ ॥

करिष्यमाणं विज्ञेयं कार्यं किं नु कृतं परैः ।

अपकारे कृतेऽप्यज्ञो विजिगीषुर्न वा भवान् ॥ ९ ॥

करिष्यमाणमित्यादि—परैः शत्रुभिरपचयचिकीर्षया करिष्यमाणं
 विज्ञेयम् । किं नु कृतमेव यत्तदवश्यमेव विज्ञेयमित्यर्थः । त्वं पुनः परैरपक्व
 ऽपि अज्ञोऽविदितस्वरूपः । अतो विजिगीषुर्न वा भवान् । अतो न
 संभावयतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

वृत्तस्त्वं पात्रेसमितैः खट्वाऽऽरूढः प्रमादवान् ।

पानशौण्डः श्रियं नेता नाऽत्यन्तीनत्वमुन्मनाः ॥ १० ॥

वृत्त इत्यादि—अत्यन्तं गामिनीति 'अवारपारात्यन्तानुकामंगामी । ५
 । ११ ।' इति खः । तस्य भावोऽत्यन्तीनत्वम् । नैवात्यन्तीनामत्यन्तग
 नीं श्रियं नेता न प्रापणशीलः । 'वृन् । ३।२।१३५।' इति ताच्छीलिकस्तुन्
 लोकाव्ययनिष्ठाखलऽर्थतृनाम् । २।३।६९।' इति पट्टीप्रतिषेधः । यद्यपि मह
 राज्यं प्राप्तवानसि तथापि न चिरकालमित्यर्थः । यत्तत्त्वमुन्मनाः भ्रान्तचित्तः ।
 पानशौण्डः पाने प्रसक्तः । 'सप्तमी शौण्डैः । २।१।४०' इति स० । अत
 प्रमादवान् । अतोऽपि खट्वारूढः उत्पथप्रस्थितः । 'खट्वा क्षेपे । २।१।२६ ।'
 द्वितीया स० । तत एव पात्रेसमितैः भोजन एव सन्निहितैः अनुजीविभिर्भृ
 'पात्रेसमितादयश्च । २।१।४८।' इति क्षेपे स० ॥ १० ॥

अध्वरेष्वग्निचित्वत्सु सोमशुत्वत आश्रमान् ।

अत्तुं महेन्द्रियं भागमेति दुश्च्यवनोऽधुना ॥ ११ ॥

अध्वरोष्वित्यादि—स्वय्यवन्मूतेऽधुना दुश्चयवन् इन्द्रः आश्रमानैति अग-
 प्रति । आङ्पूर्वस्येणः 'ग्ल्यधत्पूर्वसु । ६।१।८९।' इति वृद्धिः । सोमसुत्वतः
 'सं मुनोतीति 'सोमे मुञ्चः । १।१।९०।' इति क्विप् । सोमसुतः सन्ति
 व्याश्रमेष्विति मनुप् । 'तसो मत्वर्थे । १।१।९१।' इति भत्वे तकारस्य जश्त्वं
 भवति । 'घ्नयः । ८।१।९०।' इति मतोर्वत्वम् । किमर्थमैतीत्याह—अतुं
 क्षयितुं महेन्द्रियं भागम् । महेन्द्रो देवता अस्येति । 'महेन्द्राद्वाणौ च
 १।१।९१।' इति घः । क अध्वरेषु यज्ञेषु । अग्निचित्वत्सु । अग्निं चितव-
 षीऽग्निचिनः आहिताग्नयः । 'अग्नौ चः । १।१।९१।' इति क्विप् । ते सन्ति
 ष्विति प्रथ्वन्मनुप् ॥ ११ ॥

आमिक्षीयं दधिक्षीरं पुरोडाशयं तथौषधम् ।

दधिर्हयङ्गवीनं च नाऽप्युपव्रन्ति राक्षसाः ॥ १२ ॥

धामीत्यादि—इन्द्रा सहितं घृतं पय आमिक्षा । तस्मै हितमामिक्षीयम् ।
 विभाषा एविरपूपादिभ्यः । ५।१।१।' इति छयतौ । दधि च क्षीरं चेति ।
 विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुकुन्यश्वबडवपूर्वापराधरोत्तराणाम् ।
 १।१।१२।' इति व्यञ्जनत्वादेकवद्भावः । पुरोडाशाय हितमौषधं नीवारत-
 टुलादि पुरोडाशयम् । अपूपादित्वाद्यत् । ओषधिरौषधम् । 'ओषधेरजातौ
 १।१।३७।' इत्यण् । तण्डुलानामजातित्वात् । 'स्वार्थिकाश्च प्रकृतितो लिङ्ग-
 चनान्यतिवर्तन्ते' इति नपुंसकलिङ्गता । हविः हूयत इति हविः । 'अर्चि-
 ष्विहृगृषिष्ठदिष्टादिभ्यः' इत्यैणादिक इत् । हयङ्गवीनं घृतम् ।
 'गोदादस्य विकार इत्यर्थे 'हयङ्गवीनं संज्ञायाम् । ५।१।२३।' इति
 नपातनान् खञ्, हियङ्गवादेशश्च । तानि नाप्युपव्रन्ति राक्षसाः
 वप्युदासीने सति ॥ १२ ॥

इदानीं कार्यप्रदर्शनेन श्रोत्साहायितुमाह---

युवजानिर्धनुष्पाणिभूमिष्ठः खभिचारिणः ।

रामो यज्ञद्रुहो हन्ति कालकल्पशिलीमुखः ॥ १३ ॥

मुञ्चेत्यादि—युवतिः यौवनवती जाया यस्य युवजानिः । 'जायाया निङ्
 ६।१।७६।' बलि लोपः । 'स्त्रियाः पुंनङ्गापितपुंस्कादनुङ् समानाधिकरणे
 स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु । ६।३।३१।' इति पुंनङ्गावात् स्त्रीप्रत्ययो निवर्तते ।
 'रनुष्पाणिः पाणौ धनुर्यस्य । प्रहरणेत्यादिना परनिपातः । भूमिष्ठः भूमौ
 तिष्ठतीति भूमिष्ठः । नाकाशचरः । 'सुपि स्थः । ३।१।१।' इति कः ।
 'अन्वान्द्रगोभूमिसव्यापद्वित्रिकुशेकुशङ्कङ्गुमाञ्जिपुञ्जिपरमेवार्हादिव्याग्निभ्यः ।

स्थः । ८।३।९७।' इति पत्वम् । कालकल्पशिलीमुखः मृत्युतुल्यशरः । रा
यज्ञद्रुहो राक्षसान् हन्ति । खविचारिणः आकाशचरणशीलान् । 'सुप्य
णिनिस्ताच्छील्ये । ३।२।७८।' इति णिनिः ॥ १३ ॥

मांसान्योष्ठाऽवलोप्यानि साधनीयानि देवताः ।

अश्रन्ति रामाद् रक्षांसि विभ्यत्यश्नुवते दिशः ॥ १४ ॥

मांसेत्यादि--ओष्ठावलोप्यानि ओष्ठाभ्यां छेदार्हाणि शक्यानि वा
अर्हार्थे शक्यार्थे वा कृत्यः । 'कृत्यैरधिकार्थवचने । २।१।३२।' इति समासः
साधनीयानि यज्ञस्य साधनाय हितानि । 'तस्मै हितम् । ५।१।५।' इति छः
सावनीयानीति पाठान्तरम् । तत्र सवनं स्नानं तद्योगात्स्नातकोऽपि तथे
तत्र भवः सावनो यज्ञः । 'तस्मै हितम् । ५।१।५।' इति छः । तानि मांसा
देवता अश्रन्ति भुञ्जते न राक्षसा रक्षांसि किन्तु रामाद्विभ्यति
'वा नपुंसकस्य । ७।१।७९।' इति शतुर्नुमभावपक्षे रूपम् । दिशोऽ
व्याप्नुवन्ति ॥ १४ ॥

कुरु बुद्धिं कुशाऽग्रीयामनुकामीनतां त्यज ।

लक्ष्मीं परम्परीणां त्वं पुत्रपौत्रीणतां नय ॥ १५ ॥

कुर्वित्यादि--कुशाग्रीयां कुशाग्रमिव सूक्ष्माम् । 'कुशाग्राच्छः । ५।३।१०।
इति इवार्थे छः । स्थूलबुद्धिर्मा भूरित्यर्थः । अनुकामीनतां त्यज ये
मितां त्यज । 'अवारपारात्यन्तानुकामं गामी । ५।२।११।' इति खः
परम्परीणां परांश्च परतरांश्च अनुभवतीत्यर्थे परशब्दात् 'परोवरपरम्पर
पौत्रमनुभवाति । ५।२।१०।' इति खः परंपरदिशेश्च । तां लक्ष्मीं क्रमायातां
पुत्रपौत्रीणतां नय पुत्रांश्च पौत्रांश्चानुभवतीति खः । तस्य भावः । पुत्रपौत्र
गामिनीं कुर्वित्यर्थः ॥ १५ ॥

सहायवन्त उद्युक्ता बहवो निपुणाश्च याम् ।

श्रियमाशासते लोलां तां हस्तेकृत्य मा श्वसीः ॥ १६ ॥

सहेत्यादि--यां च श्रियं त्वदीयां शौर्योपात्तां सहायवन्तः स
उद्युक्ता उत्साहवन्तो निपुणाः कुशला आशासते इच्छन्ति । 'आडः श
इच्छायाम्' इत्यादादिकस्यात्मनेपादिनो रूपम् । 'आत्मनेपदेष्वनतः । ७।१।५।
इत्यदादेशः । तां हस्तेकृत्य स्वीकृत्य । मा श्वसीः आश्वासं मा कार्पाः
चञ्चलत्वात् । यदाह लोलामिति । 'हयन्तक्षणश्चसजाग्निणश्व्येदिताम् । ७।२।५।
इति वृद्धिप्रतिषेधः । 'इट ईटि । ८।२।२८।' इति सिचो लोपः ।
'नित्यं हस्तेपाणावुपयमने । १ । ४ । ७७ ।' इति गतिसंज्ञायां समास
त्यवादेशः ॥ १६ ॥

वां लोलतां दर्शयन्त्याह—

लक्ष्मीः पुंयोगमाशंसुः कुलटेव कुतूहलात् ।

अन्तिकंऽपि स्थिता पत्युश्छलेनाऽन्यं निरीक्षते ॥ १७ ॥

लक्ष्मीरित्यादि—त्वयैवं न मन्तव्यम् अन्यैः प्रार्थ्यमानापि न मां परि-
यजतीति । यतः छलेन व्याजेन अन्यं निरीक्षते । किमर्थं—पुंयोगमाशंसुः ।
भिल्लपन्ती । 'सनाशंसभिक्ष उः । ३ । २ । १६८ ।' कुतूहलात् कोऽस्य
शेष इति । स्नेहादन्तिके अदूरेऽपि स्थिता पत्युः । 'दूराऽन्तिकाऽर्थैः षष्ठ्य-
यतरस्याम् । २ । ३ । ३४ ।' इति पठ्ठी । कुलटेव बन्धकीव । शकन्ध्वा-
शु दर्शनात्पररूपम् ॥ १७ ॥

युवजानिरिन्युक्तं तद्योपित्प्रलोभनायाह—

योपिद्वृन्दारिका तस्य दयिता हंसगामिनी ।

दूर्वाकाण्डमिव श्यामा न्यग्रोधपरिमण्डला ॥ १८ ॥

योपित्यादि—योपिच्चासौ वृन्दारिका चेति 'वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्य-
मानम् । २ । १ । ६२ ।' इति समासः । रूपेण प्रियेत्याह—दयिता प्रिया । प्रश-
तत्वे कारणमाह—हंस इव गन्तुं शीलं यस्याः । 'कर्तुर्युपमाने । ३ । २ । ८९ ।' इति
णेनिः । दूर्वाकाण्डमिव श्यामा दूर्वास्तम्बं तदिव श्यामा । न्यग्रोधपरिमण्डला ।
'उपमानानि सामान्यवचनैः । २ । १ । ५५ ।' इति समासः ॥ १८ ॥

नाऽऽस्यं पश्यति यस्तस्या निस्ते दन्तच्छदं न वा ।

संशृणोति न चोक्तानि मिथ्यासौ विहितेन्द्रियः ॥ १९ ॥

नास्यऽऽमित्यादि—तस्या आस्यं मुखं यो न पश्यति । दन्तच्छदं ओष्ठम् ।
उपयते अनेनेति घः । 'छादेषेऽद्युपसर्गस्य । ६ । ४ । ९६ ।' इति ह्रस्वः । दन्तानां
उदं न वा निस्ते न चुम्बति । 'णिसि चुम्बने ।' इत्यादादिक आत्मनेपदी ।
'शदितो नुम् धातोः । ७ । १ । ५८ ।' उक्तानि उदितानि न संशृणोति ।
'समो गन्धृच्छिभ्याम् । १ । ३ । २९ ।' इति तद्ध् न भवति । अकर्मका
दित्यधिकारान् । मिथ्यासौ विहितेन्द्रियः । वृथैव तस्य वेधसा विहितानि
शुन्द्रियाणि चक्षुरादीनि ॥ १९ ॥

१ धनोपमा, दुष्टा च, द्वयोल्लिङ्गभेदात् । न्यग्रोधपरिमण्डला नाम 'स्तनौ तु
शक्तिनौ पर्या नितम्बे च विशालता । मध्ये तु सुकृशा या सा न्यग्रोधपरिमण्डला ॥'
इत्युक्ता नादिका ।

सारोऽसाविन्द्रियाऽर्थानां यस्याऽसौ तस्य नन्दथुः ।

तल्पे कान्ताऽन्तरैः सार्धं मन्येऽहं धिङ् निमज्जथुम् ॥ २० ॥

सार इत्यादि—इन्द्रियार्थानां मध्ये सारोऽसौ दयिता इन्द्रियार्थः । रूप-
घतिशययोगात् । यस्यासौ संपद्यते तस्य नन्दथुः आनन्दश्चेतसः । तल्पे शय-
नीये यस्य कान्तान्तरैरन्यस्त्रीभिः सार्धं निमज्जथुं शयनम् । सर्वत्र 'दितोऽथु-
च् । ३ । ३ । ८९ ।' तस्य धिक् कुत्सितमहं मन्ये । 'उभसर्वतसोः--' इत्या-
दिना धिग्योगे द्वितीया । तथा सार्धं शोभनमित्यर्थाद्भुक्तं भवति ॥ २० ॥

न तं पश्यामि यस्याऽसौ भवेन्नोदेजया मतेः ।

त्रैलोक्येनाऽपि विन्दस्त्वं तां क्रीत्वा सुकृती भव ॥ २१ ॥

न तमित्यादि—सर्वथा न तं पश्यामि जानामि जगति यस्य सम्बन्धिन्या
मतेश्चेतसः उदेजया उत्कम्पिकासौ न भवेत् । चित्तक्षोभजनिकेत्यर्थः । उद्वे-
जयतीति ' अनुपसर्गांल्लिम्पविन्दधारिपारिवेद्युदेजिचेतिसातिसाहिभ्यश्च । ३ ।
१ । १३८ ।' इति कर्तरि शः । कृद्योगे कर्माणि षष्ठी । तस्मात् त्रैलोक्येनापि । त्रयश्च ते
ल्लोकाश्च त्रिलोकाः । त एव त्रैलोक्यम् । चातुर्वर्ण्यादित्वात् स्वार्थे ष्यञ् । 'स्वार्थिका
अतिवर्तन्ते' इति नेपुंसकत्वम् । तेनापि तां क्रीत्वा लब्ध्वा विन्दस्त्वं सुकृती
भव पण्डितो भव । आह्वयो वा भव । पाण्डित्यस्य त्रैलोक्यमात्रेणापि
स्त्रीरत्नं क्रीत्वा लब्धमिति । विन्दतीति तेनैव सूत्रेण शः ॥ २१ ॥

अन्या अपि स्त्रियः सन्तीति चेदाह—

नैवेन्द्राणी न रुद्राणी न मानवी न रोहिणी ।

वरुणानी न नाऽग्नायी तस्याः सीमन्तिनी समा ॥ २२ ॥

नैवेत्यादि—तस्यास्तु सीतायाः । 'तुल्याथैरतुलोपमाभ्याम् । २ । ३ । ७२ ।' इति
षष्ठी । न काचित् सीमन्तिनी स्त्री समा तुल्या । 'सीमन्तः केशवेशे' इति पर-
रूपत्वम् । अन्यत्र सीमन्तः स विद्यते यस्या इति, इनिः । इन्द्राणी इन्द्र-
भार्या । न सम्यक् किं पुनरन्या । तथा रुद्राणी रुद्रभार्या । वरुणानी वरुण-
भार्या । ' इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक्
। ४ । १ । ४९ ।' इत्यानुक् । मानवी मनुभार्या । 'मनोरौ वा । ४ । १ । ३८ ।' इत्यौकारः ।
अग्नायी अग्निभार्या । 'वृषाकप्यभिकुसितकुसिदानामनुदात्तः । ४ । १ । ३७ ।'
इति ऐरिति सर्वत्र 'पुंयोगादाख्यायाम् । ४ । १ । ४८ ।' इति ङीप् । रोहिणी
चन्द्रभार्या । रोहितशब्दात् 'वर्णादनुदात्तात्तोपघात्तो नः । ४ । १ । ३९ ।' इति
ङीप् नकारश्च । वरुणानी न नाग्नायीत्यत्र प्रतिषेधः एकः पूर्वेण योज्यः
द्वितीयः परेणेति । चाग्नायीति पाठान्तरम् ॥ २२ ॥

प्रत्यूचे राक्षसेन्द्रस्तामाश्वसिहि विभेषि किम् ।

त्यज नक्तञ्चरि ! क्षोभं वाचाटे ! रावणो ह्यहम् ॥ २३ ॥

प्रत्यूच इत्यादि—राक्षसेन्द्रो रावणः । राक्षसीं प्रत्यूचे । प्रतिवचनमुक्त-
ान् । आश्वसिहि न्वेदं त्यज । ' रुदादिभ्यः सार्वधातुके । ७ । २ । ७६ ।'
नाद । विभेषि किमर्थं तापसकात् । हे नक्तञ्चरि मद्द्विषये क्षोभं रोपं त्यज ।
ताचाटे बहुभाषिणि । ' आलजाटचो बहुभाषिणि । ५ । २ । १२५ ।' यस्मा-
द्वाचणोऽहम् । अनेनात्मोत्कर्षमावेदयति ॥ २३ ॥

तमेव गृह्यन्नाह—

मामुपास्त दिदृक्षावान् याष्टीकव्याहतो हरिः ।

आज्ञालाभेन्मुखो दृगत् काऽक्षेणाऽनादरेक्षितः ॥ २४ ॥

मामित्यादि—मामुपास्त मेधितवान् । हरिरिन्द्रः । दिदृक्षावान् द्रष्टुमिच्छा-
वान् । आत्मदर्शनेच्छायामित्यर्थः । दूरादेव याष्टीकैः वेत्रप्राहिभिर्व्याहतोऽ-
पमारितः । ' कर्तृकरणे कृता बहुलम् । २ । १ । ३२ ।' इति स० । याष्टिः
प्रादरुणमेपासिति ' शक्तिप्रयत्नोरीकम् । ४ । ४ । ५९ ।' आज्ञालाभे किमाभि-
धायन्तीत्युक्त उन्मुखः तत्परः । समसीति योगविभागात् स० । अनादरेक्षितः
अवशापिलोकितः । काक्षेण कुदृष्ट्या । ' का पथ्यक्षयोः । ६ । ३ । १०४ ।'
इति कुशब्दस्य कादेशः । यादे तत्पुरुष इत्यनुवर्तते तदा कुत्सितमक्षमिति
विग्रहः । अक्षशब्दस्येन्द्रियसामान्याभिधायित्वेऽपि इक्षितशब्दोपपदत्वाच्च-
क्षुपि वर्तते । अथ तत्पुरुष इति नानुवर्तते सामान्येनादेशस्तदा कुत्सितमक्ष
यस्येति । ' बहुव्रीहौ सकथ्यक्षयोः स्वाङ्गान् पच् । ५ । ४ । ११३ ।' इति
सु । काक्षेण मयेत्यर्थः ॥ २४ ॥

विरुणोद्ग्रधाराऽग्रः कुलिशो मम वक्षसि ।

अभिन्नं शतधाऽऽत्मानं मन्यते वलिनं वली ॥ २५ ॥

विरुणोत्पादि—विरुणानि अवसन्नानि कृणितानि उद्ग्राणि महान्ति
धाराणि यस्य स कुलिशो वज्रः मम वक्षसि पवितः सन् वली । अस्मान्-
मभित्तं शतधा शतप्रकारम् । ' सङ्ख्याया द्विचार्थे वा । ५ । ३ । ४२ ।'
वलिनं मन्यते । अहो वलवानहं न येन शतधा भद्र इति । तस्य देवतारूपत्वान्
कलमन्वेद । आत्मानं वलिनं मन्यते इवेत्युपेक्षा ॥ २५ ॥

कृत्वा लङ्गुद्रुमाऽऽत्मानमहमेवावतं गजम् ।

बन्धनेऽनुपयोगित्वान् नतं वृगवदत्यजम् ॥ २६ ॥

कृत्वेत्यादि—एण्वालीयत इत्यालानम् । अधिकरणे ल्युट् । 'विभा
लीयतेः । ६ । १ । ५१ ।' इत्यात्वम् । लङ्काट्टुसा आलानानि यस्यैरा
ख्यस्य गजस्य तं कृत्वा । नतं नम्रमुखम् । तृणमिव मत्वा । सोऽहम
त्यक्तवान् । बन्धनेऽनुपयोगित्वात् प्रयोजनाभावात् ॥ २६ ॥

आहोपुरुषिकां पश्य मम सद्रत्नकान्तिभिः ।

ध्वस्तान्धकारेऽपि पुरे पूर्णेन्दोः सन्निधिः सदा ॥ २७ ॥

आहो इत्यादि—अहोपुरुषस्य भावः । मनोज्ञादित्वाद्बुञ् । आहोपुरुषी
कार्यसिद्धावपि तत्साधने वृत्तिः । तां मम शूर्पणखे पश्य । सद्रत्नकान्ति
ध्वस्तान्धकारेऽपि पुरे पूर्णेन्दोः पूर्णचन्द्रस्य सन्निधिः सदा सन्निधानम
पुनस्तेन कृत्यं रत्नप्रभाभिरेव तत्कृत्यस्य कृतत्वात् ॥ २७ ॥

हतरत्नश्च्युतोद्योगो रक्षोभ्यः करदो दिवि ।

पूतक्रतायीमभ्येति सत्रपः किं न गोत्रभित् ॥ २८ ॥

हतेत्यादि—हृतोच्चैः श्रवआदिरत्नो गोत्रभिदिन्द्रः । अत एव च्युतोद्योगो
दिवि वर्तमानोऽपि रक्षोभ्यः कस्दः । राजग्राह्यं वित्तं प्रयच्छन् । पूतक्रत
शर्ची 'पूतक्रतोरै च । ४ । १ । ३६ ।' इति ङीष् । पुंयोगादाख्यायार्मि
सत्रपः सत्रीडः । किं नाभ्येति न ढौकते ॥ २७ ॥

अतुल्यमहसा सार्धं रामेण मम विग्रहः ।

त्रपाकरस्तथाप्येष यतिष्ये तद्विनिग्रहे ॥ २९ ॥

अतुल्येत्यादि—तदेवंविधस्य मम अतुल्यमहसा अतुल्यतेजसा रामेण
विग्रहह्रपाकरः । 'कृवो हेतुताच्छीलानुलोम्येषु । ३ । २ । २०
इति टः । तथापि त्वत्प्रार्थनया । एष च यतिष्ये तद्विनिग्रहे विविधनिग्रह
तस्य यतिष्ये यत्नं करिष्यामि । 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा । ३ । ३ । २
इति विकल्पेन लटो विधानात् लृडुदाहृतः ॥ २८ ॥

उत्पत्य खं दशग्रीवो मनोयाथी शिताऽस्त्रभृत् ।

समुद्रसविधाऽऽवासं मारीचं प्रति चक्रमे ॥ ३० ॥

उत्पत्येत्यादि—उक्त्वैवं खमाकाशमुत्पत्य मारीचं प्रति चक्रमे । यत्र मा
चो राक्षसस्तत्र गत इत्यर्थः । 'अनुपसर्गाद्वा । १ । ३ । ४३ ।' इति क्रमेस्त
मनोवदाशु यातुं शीलमस्येति । 'कर्तुर्युपमाने । ३ । २ । ७९ ।' इति णिनि
शितास्त्रभृत् गृहीततीक्ष्णचन्द्रहासः । समुद्रस्य सविधे समीपे आवासो य
मारीचस्य । सह विधेन सविधमिति व्युत्पत्तिमात्रं शब्दस्तत्समीपवाची ॥ ३० ॥

यमाऽऽस्यदृश्वरी तस्य ताडका वेत्ति विक्रमम् ।

शूरम्मन्यो रणाञ्चाऽहं निरस्तः सिंहनर्दिना ॥ ३४ ॥

यमेत्यादि—तस्य रामस्य विक्रमं ताडका वेत्ति ज्ञातवती । 'वर्तम
'शीप्ये वर्त्तमानवद्वा । ३।३।१३१।' इति भूते लट् । कीदृशी यमास्वदृश्वरी
तच्छरताडिता यममुखं दृष्टवती मृतेत्यर्थः । 'दृशेः कनिष् । ३।२।९४।' ।
र च । ४।१।७।' इति डीत्रेकौ । अहमपि शूरम्मन्यः शूरमात्मानं मन्यमान
'आत्ममाने खश्च । ३।२।८३।' सिंहनर्दिना रामेण सिंह इव नर्दतीति 'कर्तुं
पमाने । ३।२।७९।' इति णिनिः । रणात्रिरस्तः बहिष्कृत इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

न त्वं तेनाऽन्वभाविष्ठा नाऽन्वभावि त्वयाऽप्यसौ ।

अनुभूतो मया चाऽसौ तेन चाऽन्वभाविष्यहम् ॥ ३५ ॥

न त्वमित्यादि—तेन रामेण त्वं नान्वभाविष्ठाः । त्वमनेन नानुभूतः
कर्मणि लुङ् । थासि 'स्यसिचूसीयुत्तासिपुःभावकर्मणोरुपदेशेऽङ्जनप्रहदृशां
चिण्वदिट् च । ६।४।६२।' इति चिण्वदिट् घृत्वम् । नान्वभावि त्वयाऽप्यहं
नानुभूतः । येनैवमुच्यते । अत्र 'चिणूभावकर्मणोः । ३ । १ । ६६।' इति
चिण् । अनुभूतो मया चासौ । चशब्दः पुनरित्यर्थे । मया पुनरसावनुभूत
न शक्यो जेतुमिति । तेन रामेण चान्वभविष्यहमनुभूतोऽहम् । तेन सह यो
द्रुमक्षम इति । अत्र चिण्वद्भावो न कृतः किन्तु लुङि उत्तमपुरुषैकवचने वल
दिलक्षणे इट् । तेन वृद्धयभावात् गुण एवेति ॥ ३५ ॥

अध्यङ् शस्त्रभृतां रामो न्यञ्चस्तं प्राप्य मद्विधाः ।

स कन्याशुल्कमभनङ् मिथिलायां मखे धनुः ॥ ३६ ॥

अध्यङ्ङित्यादि—शस्त्रभृतां मध्ये रामोऽध्यङ् अधिकः । अध्यञ्चत्याधि
न वर्तत इति, 'ऋत्विग्दधृक्स्त्रिगुण्णिगञ्चुयुजिकृञ्चां च । ३।२।५९।' इति
किन् तस्मिन् लुप्ते अनुनासिकलोपे 'उगीदृचां सर्वनामस्थाने धातोः । ७ । १ ।
७०।' इति नुम् । तस्यानुस्वारपरसवर्णत्वे कृते च हलङ्ङ्यादिसंयोगान्तलोपः ।
नकारस्य 'किन्प्रत्ययस्य कुः । ८ । २ । ६२।' इति कुत्वेन ङकारः । तं तादृशं
प्राप्य मद्विधा न्यञ्चो हीनाः । निशब्दोऽत्राधोभावे वर्तते । न्यञ्च इति पूर्ववत् ।
किन् । अनुनासिकलोपः । नुम् । अङ्गोपो नास्ति अहलङ्ङ्यात् कुत्वं च नास्ति
अपदसंज्ञत्वात् । यो मिथिलायां महद्वनुरभनक् भग्नवान् सोऽस्मादपि कार
णात् शस्त्रभृतामध्यङ् । भञ्जेल्लङि 'शान्तलोपः । ६।४।२३।' हलङ्ङ्यादिलोपः ।
कुत्वं च । कन्याशुल्कं कन्यामूल्यम् । तद्वि यो रात्रं धनुरारोपितगुणं करोति
अस्मै कन्या दीयत इति मूल्याकृत्य स्थापितम् ॥ ३६ ॥

अघानि ताडका तेन लज्जाभयविभूषणा ।

स्त्रीजने यदि तच्छ्लाघ्यं धिग् लोके क्षुद्रमानसम् ॥ ४० ॥

घानीत्यादि—तेन रामेण ताडका अघानि व्यापादिता । हन्तेः व
लुङ् । लज्जा च भयं च विभूषणं यस्याः । स्त्रीत्वान्न शौर्यम् । एवं
अनेन रामेण यदि गर्ह्यमापि हननं स्त्रीजने श्लाघ्यं श्लाघनीयम् । 'कृत्यानां
वा ।२।३।७१।' इति तृतीया । तं धिक् लोके क्षुद्रमानसं हीनमानसम् ॥

यद् गहेनोर्दिनमसौ शरैर्भरिमभाययत् ।

कुब्रह्मयज्ञके रामो भवन्तं पौरुषं न तत् ॥ ४१ ॥

यद्गहे इत्यादि—असौ रामो यद्भवन्तं भीरुं शरैर्भाययत् भायित
पुगात्मनेपदे न भवतः भयहेतोरभावात् । अत्र हि शरेभ्यो भयम्; नतु रा
तत् किम् । पौरुषकारः किमसौ । युवादित्वाद्गण् । गहेनोर्दिनं गेह एव
म् । 'पात्रेसमितादयश्च ।२।१।४८।' इति समासः कुब्रह्मयज्ञके । कु
ब्रह्माणः कुब्रह्माः । 'कुगतिप्रादयः ।२।२।१८।' इति समासः । 'कुमहद्ब्रह्माण
स्याम् ।५।४।१०५।' इति समासान्तष्टच् । तेषां कुत्सितो यज्ञः । तस्मिन्
) कुत्साशं कन् । तेन शूरम्मन्योऽहं रणात्तेन निरस्तः इत्यपुष्कलमुक्तम् ॥

चिरकालोषितं जीर्णं कीटनिष्कृषितं धनुः ।

किं चित्रं यदि रामेण भग्नं क्षत्रियकाऽन्तिके ॥ ४२ ॥

चिरेत्यादि—यदि रामेण क्षत्रियकान्तिके । कुत्सितक्षत्रियसमीपे ।
धनुः किं तच्चित्रमाश्चर्यम् । क्षत्रिया जनकादयः तस्य कुत्सायां कन् । क्ष
स्यान्तिके । दूरान्तिकार्थयोगे षष्ठीसमासं विधाय पश्चात् 'सप्तम्यदि
चां ।२।३।३६।' इति चकारादूरान्तिकार्थेभ्यश्चेति सप्तमी । किमिति न
मित्याह—चिरकालमुषितमिति । 'कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे ।२।३।५।' इति
द्वितीयां विधाय 'अत्यन्तसंयोगे च ।२।१।२९।' इति द्वितीयासम
जीर्णं चिरकालोषितत्वात् । 'जृप् वयोहानौ' । निष्ठा । 'ऋत
।७।१।१००।' इकः 'हलि च ।८।२।७७।' इति दीर्घः । 'रु
निष्ठातोः पूर्वस्य च दः ।८।२।४२।' इति निष्ठाभत्वम् । कीटैर्घुणैर्निष्
खादितम् । 'निरः कुषः' इत्यनुवर्तमाने 'इणनिष्ठायाम् ।७।२।४७।' इतीद् ॥

वनतापसके वीरौ विपक्षे गलिताऽऽदरौ ।

किं चित्रं यदि सावज्ञौ मन्त्रतुः स्वरदूषणौ ॥ ४३ ॥

त्राभिमुखं गच्छामीत्यर्थः । अनुनयन् अनुकूलयन् । किमर्थं जिजीविषुः जीवि-
तुमिच्छुः ॥ ४६ ॥

हरामि रामसौमित्री मृगो भूत्वा मृगद्युवौ ।

उद्योगमभ्यमित्रीणो यथेष्टं त्वं च संतनु ॥ ४७ ॥

हरेत्यादि-अहं मृगो भूत्वा रामसौमित्री हरामि । देशान्तरं प्रापयामि ।
आखेटकाभिरतत्वात् । यदाह मृगद्युवौ मृगैर्दीव्यत इति किप् । 'च्छोः शूडनु-
नासिके च । ६।४।१९।' इति चकारात् कौ च ऊट् । यणादेशः । उवङ् ।
मृगद्युताविति पाठान्तरम् । तत्र 'द्यु अभिगमने' मृगान् द्यौति अभिगच्छतीति
किप् । त्वं च यथेष्टं यथारुचि । तमुद्योगं संतनु विस्तारं कुर्वित्यर्थः । तनोते-
लोटि 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् । ६।४।१०६।' इति हेर्लुक् । अभ्यमित्रीणः
अमित्राभिमुखमलंगामी । 'अभ्यमित्राच्छ च । ५।२।१७।' इति चकाराद्यत्वात्
चेति खः ॥ ४७ ॥

ततश्चित्रीयमाणोऽसौ हेमरत्नमयो मृगः ॥

यथामुखीनः सीतायाः पुल्लुवे बहु लोभयन् ॥ ४८ ॥

तत इत्यादि-उक्तानन्तरमसौ मारीचो मायामृगीभूतः सन् हेमरत्नमयः
इति च हेम चेति विगृह्य । 'मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्यच्छादनयोः । ४।३।१४३।
इति विकारे मयट् । निर्मलत्वात् । सीताया अप्रतो यथामुखीनः प्रतिबिम्बाश्र-
य इव भूत्वा पुल्लुवे भ्रमति स्म । इवशब्दलोपो द्रष्टव्यः । 'यथामुखसंमुखस्य
दर्शनः खः । ५ । २ । ६ ।' बहु लोभयन् सुष्ठु स्पृहां जनयन् । यतश्चित्रीयं-
माणः आश्चर्यं भवन् । हेमरत्नमयत्वात् । 'नमोवरिवश्चित्रङ्ः क्यच् । ३।१।१९।'
इति क्यच् । 'चित्रङ् आश्चर्ये' । ङकारस्यात्मनेपदार्थत्वात् शानच् ।
अवयवकृतं लिङ्गं समुदायस्य भवतीति ॥ ४८ ॥

तेनाऽदुद्यूषयद्रामं मृगेण मृगलोचना ॥

मैथिली विपुलोरस्कं प्राबुधुषुर्मृगाऽजिनम् ॥ ४९ ॥

तेनेत्यादि-तेन मृगेण मैथिली सीता राममदुद्यूषयन् क्रीडितुमिच्छन्तं प्रयु-
क्तवती गृह्यतामयमिति । इवन्तस्य दिवेः 'सनीवन्तर्धभ्रस्जदम्भुश्रिस्वयुंर्णुभरङ्-
पिसनाम् । ७ । २ । ४९ ।' इति यदा नेट् तदा 'च्योः शूडनुनासिके च । ६ ।
। ४।१९।' द्विर्वचनम् । तस्मात् सन्नन्तण्यन्तान् लङि रूपम् । मृगलोचना मृगस्य
लोचनेऽइव लोचने यस्याः । मध्यमपदलोपी समासः । विपुलोरस्कं विस्तीर्णवक्षस्य-
लम् । 'वरः प्रभृतिभ्यः कप् । ५।४।१५१।' । किमर्थमदुद्यूषयन् मृगाजिनं मृगचर्म

कलहाभ्रकप्वमेघेभ्यः करणे ।३।१।१७। इति क्यङ् । भयदं निशात्
शब्दविशेषणं वा ॥ ५२ ॥

श्रुत्वा विस्फूर्जथुप्रख्यं निनादं परिदेविनी ।

मत्वा कष्टश्रितं रामं सौमित्रिं गन्तुमैजिहत् ॥ ५३ ॥

श्रुत्वेत्यादि—विस्फूर्जथुप्रख्यं वज्रनिर्घोषतुल्यम् । 'दुओस्फूर्जा
निर्घोषे' । 'द्वितोऽथुच् ।३।३।८९।' निनादं शब्दम् । 'नौ गदनदप
।३।३।६४।' इति विकल्पनात् पक्षे घञ् । 'श्रुत्वा मैथिली च
कृच्छ्रप्राप्तं रामम् । 'द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः ।३।
इति समासः।मत्वा बुद्ध्वा। कृच्छ्रप्राप्तेन रामेण मृतमिति परिदेविनी पा
शिला शङ्कमाना । 'संपृचानुरुधा—।३।२।१४२।' इत्यादिना धिनुण् ।
गन्तुमैजिहत् । ईहां कारितवती । ईहेर्ण्यन्तात् लुङि द्विर्वचनं
स्थानिवद्भावादजादेर्द्वितीयस्येति हिशब्दस्य द्विर्वचनम् । अभ्यासकार्यं च

एष प्रावृषिजाऽम्भोदनादी भ्राता विरौति ते ।

ज्ञातेयं कुरु सौमित्रे ! भयात् त्रायस्व राघवम् ॥ ५४ ॥

नियोगे वा लिङ् । पूर्ववदात्मनेपदम् । तस्मान्मा स्म भैपीः मा भूर्भीताः स्मोत्
 लङ् च । ३।३।१७६।' इति चकारात् लुङ् । सिचि वृद्धिः । त्वया
 कृतार्थः पूर्णमनोरथः पतिर्द्रक्ष्यते । दृशेः कर्मणि लृट् ॥ ५८ ॥

यायास्त्वमिति कामो मे गन्तुमुत्सहसे न च ।

इच्छुः कामयितुं त्वं मामित्यसौ जगदे तथा ॥ ५९ ॥

याया इत्यादि--तदन्वेषणाय 'यायास्त्वमिति कामोऽभिलाषः । 'कामप्रे-
 दनेऽकच्चिति । ३।३।१५३।' इत्यकच्चित्युपपदे लिङ् । न च गन्तुमुत्सहसे
 'शकधृपज्ञागलाघटरभलभक्रमसहार्हास्त्यर्थेषु तुमुन् । ३।४।६५।' इति तुमुन्
 तस्मान्नुनं मां कामयितुमिच्छुः एषणशीलः 'समानकर्तृकेषु तुमुन् । ३।३।१५५।
 'विन्दुरिच्छुः । ३।३।१६९।' इति निपातनात्साधुः । इत्येवमसौ लक्ष्मणो ज-
 गदित्तया सीतया ॥ ५९ ॥

मृषोद्यं प्रवदन्तीं तां सत्यवद्यो रघूत्तमः ।

निरगात् शत्रुहस्तं त्वं यास्यसीति शपन्वशी ॥ ६० ॥

मृषोद्यमित्यादि--मां कामयितुमिच्छुरित्येतन्मृषोद्यम् मृषावादम्
 'राजसूर्यसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्यान्यथ्याः । ३।१।११४।' इत्यनेन
 क्यप् । यजादित्वात् सम्प्रसारणम् । प्रवदन्तीं तां सीताम् । रघूत्तमो लक्ष्-
 मणः शत्रुहस्तं त्वं यास्यसीति शपं प्रयच्छन् भौवादिकोऽत्र शपिनं देवा-
 कः । निरगात् निर्गतः । तस्माद्दुटजादित्यर्थात् । कथं मृषोद्यमित्याह--
 वशनं वशः इन्द्रियसंयमनम् । 'वाशिरण्योरुपसंख्यानम्' इत्यप् । स-
 स वशी जितेन्द्रियः । अत एव सत्यवद्यः । अवितथवादी । शत्रुहस्तं यास्यसी-
 सत्यं वदतीति 'कृत्यल्युटो बहुलम् । ३।३।११३।' इति कर्तरि यत् । 'क-
 सुपि क्यप् च । ३।१।१०६।' इति चकाराद्यन् । भावे वा यत् विधायात्
 अशआदित्वात् ॥ ६० ॥

अथ चतुर्भिः कलापकम् ।

गते तस्मिञ्जलशुचिः शुद्धदन् रावणः शिखी ।

जञ्जपूकोऽक्षमालावान् धारयो मृदलावुनः ॥ ६१ ॥

गत इत्यादि--तस्मिन् लक्ष्मणे गते सति रावणः सीतामूच इति वक्ष्यमाणे
 सम्बन्धः । कीदृशः जलशुचिः स्नात इत्यर्थः । शुद्धदन् निर्मलदशनः शुद्धा दन्ता-
 यत्य 'अप्रान्तशुद्धशुभवृषवराहेभ्यश्च । ५।४।१४५।' इत्यनेन दन्त्य-

संदिदर्शयिषुः साम निजुहूषुः क्षपाटताम् ।

चङ्क्रमावान् समागत्य सीतामूचे 'सुखाभव' ॥ ६४ ॥

संदीत्यदि—इहा भयं मा भूदिति साम सान्त्वं संदिदर्शयिषुः तुमिच्छुः । वदन् बह्वङ्गुलिस्फोटमिति योज्यम् । दृशेर्ष्यन्तसन्नन्तत्वे क्षपाटतां राक्षसत्वं निजुहूषुर्निहोतुमिच्छुः । धारयन्मस्करिव्रतमिति होतेः 'अञ्जनगमां सनि । ६।४।१६।' इति दीर्घः । कुटिलं क्रमणं क्रमेः 'नित्यं कौटिल्ये गतौ । ३।१।२३।' इति यङ् । 'नुगतो न्तस्य । ७।४।८५।' इत्यभ्यासस्य नुकू । 'अ प्रत्ययात् । ३।३।१०२।' कारः । 'अतो लोपः । ६।४।४८।' । 'यस्य हलः । ६।४।४९।' दाप् यस्यास्ति स चंक्रमावान् । कुटिलगतिर्भौनित्यर्थः । समागत्य ढौकित् सीतामूचे । किमित्याह—सुखाभवेति अनुकूला भवेत्यर्थः । यदहं प्रार्थं प्रतिकूला न भवेति भावः । 'सुखप्रियादानुलोम्ये । ५।४।६३।' इति स्तियोगे डाच् ॥ ६४ ॥

अथ द्वाभ्यां युग्मम्—

सायन्तनीं तिथिप्रणयः पङ्कजानां दिवातनीम् ।

कान्ति कान्त्या सदातन्या ह्येपयन्ती शुचिस्मिता ॥ ६५ ॥

सायमित्यादि—का त्वमिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । सायं तत्र भवां कान्तिम् । यदा षोऽन्तकर्मणीत्येतस्मान् वक्ष्यप्रत्ययान्तः तदा चिरंप्राहेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुद् च । ४।३।२३।' इति न्तत्वं च निपात्यते । यदा सायंशब्दो मकारान्तः तदाप्यव्ययत्वादेव यागमौ स्याताम् । कस्येत्यपेक्षायां तिथिप्रणयः चन्द्रमसः पञ्चदश तासां वृद्धिहासाभ्यां पञ्चदश तिथीः प्रणयति प्रवर्तयति । 'सत्सु दुहयुजविदभिदच्छिदजिर्नीराजामुपसगैऽपि क्विप् । ३।२।६१।' इति 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य । ८।४।१४।' इति णत्वम् । ' । ६।४।८२।' इत्यादिना यणादेशः । पङ्कजानां च कान्ति कौटुर्शी दिवातनी भवाम् । कान्त्या त्वदीयया सदातन्या सदाभवया ह्येपयन्ती लज्जय दिवातन्याः सायन्तन्याश्च सदाभवत्वात् । जिह्वेतेः 'अर्तिर्हीर्त्स्वीर् क्षमाय्यातां पुङ्णौ- । ७।३।३५।' इति णौ पुङ् । शुचिस्मिता शुभ्रहासा ॥ का त्वमेकाकिनी भीरु ! निरन्वयजने वने ।

क्षुध्यन्तोऽप्यघसन् व्यालास्त्वामपालां कथं न वा ॥ ६६ ॥

‘नपुसंके भावे क्तः ।१।३।११४।’ । ‘अनुदात्तोपदेशवर्तितेनोत्यादीना
सिकलोपो झलि ङिकति ।६।४।३७।’ इत्यनुनासिकलोपः । अनेतोम
राख्याता ॥ ६८ ॥

परिपर्युद्धे रूपमाद्युलोकाच्च दुर्लभम् ।

भावत्कं दृष्टवत्स्वेतदस्मास्वधि सुजीवितम् ॥ ६९ ॥

परोत्यादि—एतद्रूपं भावत्कं भवत्या इदमिति ‘भवतष्ठकूलसौ ।
११४।’ इति ठकूलसौ । ‘ठकूलसोश्चोपसंख्यानम्’ इति पुंवद्भावः । ‘इष्ट
न्तात्कः ।७।३।५१।’ दुर्लभं परिपर्युद्धेः ‘अपपरी वर्जने ।१।४।८८।
कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां द्वितीयायां प्राप्तायां ‘पञ्चम्यपाङ्परिभिः ।२।
इति पञ्चमी । ‘अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या ।२।१।१२।’ इति विभ
मासश्च । असमासपक्षे ‘परेर्वर्जने ।८।१।५।’ इति द्विर्वचनम् । उदधि
यित्वा चतुरुदधिमेललायां भुवि दुर्लभमाद्युलोकाच्च स्वर्गलोकान्तं च
दुर्लभमत्रापि पूर्ववत्पञ्चमी । तादृशं दृष्टवत्स्वस्मासु अधिसुजीवित
द्विपये आधिक्येन सुजीवितम् । अहो वा सुजीवितमिति अहो
अधिशब्दो वर्तते ॥ ६९ ॥

आपीतमधुका भृङ्गैः सुदिवेवाऽरविन्दिनी ।

सत्परिमललक्ष्मीका नाऽपुंस्काऽसीति मे मतिः ॥ ७० ॥

आपीतेत्यादि—परि सर्वतो मार्जनमिति परिमलः । कलत्रपञ्चैर्त्या
‘मृजेष्टिलोपश्च’ इति कलप्रत्यय औणादिकः । इह सुरतोपभोगविमर्दः परि
भिप्रेतः । तस्य लक्ष्मीः । तत्कृतत्वात् । सती विद्यमाना परिमलशोभा ।
‘उरःप्रभृतिभ्यः कप् ।५।४।१५१।’ सा त्वमपुंस्का अविद्यमानमर्तुक
सीति मे मतिः । पूर्ववत्कप् । किमिव सुदिवेवारविन्दिनी पद्मिनी ।
दिवा नीहाराद्यभावाद्दिवा दिवसं यस्याः । ‘सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुक्ष
श्रेणीपदाजपदप्रोष्ठपदाः ।५।४।१२०।’ इत्यञ् । आपीतमधुका भृङ्गैः
मधु यस्याः । ‘शेषाद्धिभाषा ।५।४।१५४।’ इति कप् । यथेयं सत्परि
लक्ष्मीका तथा त्वमपीति ॥७०॥

मिथ्यैव श्रीः श्रियम्मन्या श्रीमन्मन्यो मृषा हरिः ।

साक्षात्कृत्याऽभिमन्येऽहं त्वां हरन्तीं श्रियं श्रियः ॥ ७१ ॥

मिथ्यैवेत्यादि—श्रियः श्रियं रूपसम्पदं हरन्तीमभिभवन्तीं त्वां स
कृत्य प्रत्यक्षीकृत्य । विभाषा कृत्वित्यनुवर्तमाने ‘साक्षात्प्रभृतीनि च

‘नपुसंके भावे क्तः ।३।३।११४।’ । ‘अनुदात्तोपदेशवर्तितेनोत्यादी
सिकलोपो झलि ङिकति ।६।४।३७।’ इत्यनुनासिकलोपः । अनेनो
राख्याता ॥ ६८ ॥

परिपर्युद्धे रूपमाद्युलोकाच्च दुर्लभम् ।

भावत्कं दृष्टवत्स्वेतदस्मास्वधि सुजीवितम् ॥ ६९ ॥

परोत्यादि—एतद्रूपं भावत्कं भवत्या इदमिति ‘भवतष्ठक्छसौ
११४।’ इति ठक्छसौ । ‘ठक्छसोश्चोपसंख्यानम्’ इति पुंवद्भावः । इ
न्तात्कः । ७।३।५१।’ दुर्लभं परिपर्युद्धेः ‘अपपरी वर्जने ११।४।८।
कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां द्वितीयायां प्राप्तायां ‘पञ्चम्यपाङ्परिभिः । १२
इति पञ्चमी । ‘अपपरिवहिरञ्चवः पञ्चम्या १२।१।१२।’ इति वि
मासञ्च । असमासपक्षे ‘परेर्वर्जने । ८।१।५।’ इति द्विर्वचनम् । उदा
यित्वा चतुरुद्धिमेषलायां भुवि दुर्लभमाद्युलोकाच्च स्वर्गलोकान्तं च
दुर्लभमत्रापि पूर्ववत्पञ्चमी । तादृशं दृष्टवत्स्वस्मासु अधिसुजीवि
द्विषये आधिक्येन सुजीवितम् । अहो वा सुजीवितमिति अहो
अधिशब्दो वर्तते ॥ ६९ ॥

आपीतमधुका भृङ्गैः सुदिवेवाऽरविन्दिनी ।

सत्परिमललक्ष्मीका नाऽपुंस्काऽसीति मे मतिः ॥ ७० ॥

आपीतेत्यादि—परि सर्वतो मार्जनमिति परिमलः । कलत्रपञ्चेत
‘मृजेष्टिलोपञ्च’ इति कलप्रत्यय औणादिकः । इह सुरतोपभोगविमर्दः परि
भिप्रेतः । तस्य लक्ष्मीः । तत्कृतत्वात् । सती विद्यमाना परिमलशोभा
‘उरःप्रभृतिभ्यः कप् । ५।४।१५१।’ सा त्वमपुंस्का अविद्यमानभर्तुः
सीति मे मतिः । पूर्ववत्कप् । किमिव सुदिवेवारविन्दिनी पद्मिनी ।
दिवा नीहाराद्यभावाद्दिवा दिवसं यस्याः । ‘सुप्रातसुधसुदिवशारिकुरु
श्रैणीपदाजपदप्रोष्ठपदाः । ५।४।१२०।’ इत्यञ् । आपीतमधुका भृङ्गैः
मधु यस्याः । ‘शेषाद्विभाषा । ५।४।१५१।’ इति कप् । यथेयं सत्प
लक्ष्मीका तथा त्वमपीति ॥ ७० ॥

मिथ्यैव श्रीः श्रियम्मन्या श्रीमन्मन्यो मृषा हरिः ।

साक्षात्कृत्याऽभिमन्येऽहं त्वां हरन्तीं श्रियं श्रियः ॥ ७१ ॥

मिथ्यैवेत्यादि—श्रियः श्रियं रूपसन्पदं हरन्तीमभिमन्ती त्वां
कृत्य प्रत्यक्षीकृत्य । विभाषा कृवीत्यनुवर्तमाने ‘साक्षात्प्रभृतीनि ३

— इति गतिमासः । गतिसमासे ल्यवादेशः । अहमभिमन्ये किं मिथ्या
 यमन्या अहमेव श्रीर्नान्येति मन्यमाना श्रीर्मिथ्या नैव श्रीः किन्तु
 ते । 'आत्ममाने स्वश् १३२।८३' । 'दिवादिभ्यः श्यन् १३।१।६९।
 काचोऽम्प्रत्ययवच्च । ६।३।६८' इत्यम्भावः । तस्यामः प्रत्ययत्वान्म-
 षवः । 'न विभक्तौ तुस्माः । १।३।४।' इति वचनान् । अचीतीयडा-
 क्त्रन्ता धातुत्वं न जहतीति किञ्चचीत्यादिना श्रयतेरौणादिकः
 हरिश्चात्मानं श्रीमन्तं मन्यमानो मृषा न श्रीमानित्यहमभिमन्ये ॥७१॥

दकाण्ठ्यताऽत्यर्थं त्वामैक्षिष्यत चेत् स्मरः ।

लायन्ननिशं नापि सजूःकृत्य रतिं वसेत् ॥ ७२ ॥

इत्यादि—स्मरभार्या रतिः सापि रूपेण निकृष्टेति दर्शयति । चेत्
 स्मरः त्वामैक्षिष्यत दृष्टवानभविष्यत् तदा अत्यर्थं नोदकण्ठ्यत रतिं
 शमुत्कण्ठितो नाभविष्यत् । 'ईक्ष दर्शने' इति, 'कठि शोके' इति
 इकात् क्रियातिपत्तौ लृङ् । नापि रतिं स्वभार्या सजूःकृत्य सहायीकृत्य
 अपि तु परित्यजेत् । अत्र क्रियातिपत्तिर्न त्रिवक्षिता किन्तु हेतुहेतु-
 ः । नापि रतिं सजूःकृत्य वसेत् यदि त्वामीक्षेतेति हेतुपदमभ्यूह्य
 त्वदर्शनात् । ऊर्यादिषु 'सजूः सहायः' इति वचनात् गतिसंज्ञा । खेला-
 निशं क्रीडन् सर्वदा । खेलाशब्दात् कण्ठादित्वात् यक् ॥७२॥

गूयन्तीं विलोक्य त्वां स्त्री न मन्तूयतीह का ।

न्ति नाऽभिमनायेत को वा स्याणुसमोऽपि ते ॥ ७३ ॥

इत्यादि—त्वां वलगूयन्तीं शोभमानां विलोक्य न मन्तूयति स्त्रीह
 ह जगति का स्त्री न मन्तूयेत् कुप्येत् । सर्वदा कुप्यत्येव ईर्ष्यायु-
 त् स्त्रीणाम् । असम्भावेने लृङ् । वलगुमन्तुशब्दाभ्यां कण्ठादि-
 ष । को वा को नाम स्याणुसमोऽपि काष्ठतुल्योऽपि गुणद्रोषानभिज्ञत्वा-
 त् कान्ति विलोक्य नाभिमनायेत् पूर्वमदृष्टत्वादनभिमनाः सन् अभि-
 सचेता न भवेत् । पूर्ववल्लिङ् । अभिमनसो भृशादित्वात्क्यङ् सलो-
 महादेवतुल्यो वा आस्तामन्यः सोऽपि तां वदभिमनायेत ॥ ७३ ॥

स्वायते जनः सर्वः स एवैकः सुखायते ।

स्योत्सुकायमाना त्वं न प्रतीपायसेऽन्तिके ॥ ७४ ॥

इत्यादि—स एवैको जनः सुखायते सुखं वेदयते । यस्यान्तिके समीपे
 प्रतीपायसे न प्रतिकूलवर्तिनी भवसि । उत्सुकायमाना सती । यस्य

पुनरन्तिके उत्सुकायमाना प्रतोपायसे स सर्वो जनः दुःखायते दुःखं वे
यते । सुखदुःखशब्दाभ्यां 'सुखादिभ्यः कर्तृवेदनायाम् । ३।१।१८।' इ
क्यङ् उत्सुकप्रतीपशब्दाभ्यां भृशादित्वात् ॥ ७४ ॥

कः पण्डितायमानस्त्वामादायाऽऽमिषसन्निभाम् ।

त्रस्यन् वैरायमाणेभ्यः शून्यमन्ववसद्गनम् ॥ ७५ ॥

क इत्यादि—पण्डितायमानः अपण्डितः कथमपि पण्डितो भवन् । भृशा-
दित्वात् क्यङ् । त्वामामिषसन्निभां सर्वजनप्रार्थनीयत्वात् । आदाय गृहीत्वा
कः शून्यं वनमन्ववसत् । शून्ये वने अवसदित्यर्थः । 'उपान्वध्याङ् वसः
१।१।४।४।८।' इति कर्मसंज्ञा । कीदृशः । त्रस्यन् विभ्यत् । वैरायमाणेभ्यः
वैरं कुर्वाणेभ्यः । 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्वभेवेभ्यः करणे । ३।१।१७।' इति
क्यङ् । 'भीत्रार्थानां भयहेतुः । १।१।२।५।' इत्यपादानसंज्ञा ॥ ७५ ॥

ओजायमाना तस्याऽर्घ्यं प्रणीय जनकाऽऽत्मजा ।

उवाच दशमूर्धानं साऽऽदरा गद्गदं वचः ॥ ७६ ॥

ओजेत्यादि—एवमुक्तवति रावणे जनकसुता दशमूर्धानमुवाच । दश
मूर्धानः शिरांसि यस्य तस्यार्घ्यं प्रणीय दत्त्वा अतिथिरयमिति । सम्प्रदानत्
शेषत्वेन विवक्षितत्वात् पठ्यी । 'ओजायमाना ओज इवाचरन्ती 'कर्तुः
क्यङ् सलोपश्च । ३।१।११।' 'ओजसोऽप्सरसो नित्यम्' इति वचनात् । मां
माभिभूदित्यतितेजस्विनी भवन्तीत्यर्थः । किमुवाच वचो वक्ष्यमाणम् ।
सादरा सती । पारिव्राजक इति । गद्गदमनभिव्यक्तमसंस्कृतत्वात् ॥ ७६ ॥

अथ चतुर्भिः कलापकम् ।

महाकुलीन ऐक्ष्वाके वंशे दाशरथिर्मम ।

पितुः प्रियं करो भर्ता क्षेमकारस्तपस्विनाम् ॥ ७७ ॥

महेत्यादि—यदुक्तं तेन कं रहस्युपतिष्ठस इति । अस्य प्रतिवचनं मम भर्ता
महाकुलीनः महाकुलस्यापत्यमिति । 'महाकुलादञ् खञ्चौ । ४।१।१।४।१।'
इति खञ् । किमादेत्यवंशसंभवः । किं सोमवंशसंभवो वा महाकुलस्यापत्य-
मित्याह । ऐक्ष्वाके वंशे इक्ष्वाकूणामयमैक्ष्वाकः । 'दाण्डिनायनहास्तिनाय-
नाथर्वाणिकजैह्वाशिनेयवाशिनायनिध्रौणहत्यधैवत्यसारवैक्ष्वाकमैत्रेयाहिरण्यया-
नि । ६।४।१।७।४।' इति टिलोपनिपातनम् । अन्ये तत्र सन्तीत्याह दाशरथिः
दशरथस्यापत्यं यः स मम भर्ता । महाकुलीनः । कीदृशः । पितुः प्रियं करः
अनुकूलकारी । तपस्विनां च क्षेमकारः । 'क्षेमप्रियमद्रंऽग् च । ३।२।४।४।' इति
चकारात् खञ् ॥ ७७ ॥

निहन्ता वैरकाराणां सतां बहुकरः सदा ।

पारश्वधिकरामस्य शक्तेरन्तकरो रणे ॥ ७८ ॥

नेहन्तेत्यादि—वैरकाराणां शत्रूणाम् । वैरपूर्वात् कृत्वः 'न शब्दश्लोक-
१।२३।' इत्यादिना टे प्रतिपिद्धे अणेव भवति। निहन्तेति तृजन्तस्य प्रयोगः ।
कर्मणि पष्ठी । सतां धमे स्थितानां बहुकरः बहुकार्यं करोतीति । 'द्विवा-
-।३।२।२१।' इत्यादिना टः । स्त्रीविवक्षायां तु 'कियत्तद्बहुपु' इत्यादिनां
तेरच् । आङ्परयोः 'स्वनिशृभ्यां ङिञ्' इत्यौणादिकः कुः । परशुशब्दः ।
र्याय एवान्युत्पन्नः परश्वधशब्दः । स प्रहरणं यस्य 'परश्वधाट्टञ्च ।४।४।
' तस्य परशुरामस्य सम्बन्धिन्वाः शक्तेः सामर्थ्यस्यान्तकरो विनाश-
। अन्तं करोतीति पूर्ववद्दृः । रणे संग्रामे ॥ ७८ ॥

अध्वरेष्विष्टिनां पाता पूर्ती कर्मसु सर्वदा ।

पितुर्नियोगाद्राजत्वं हित्वा योऽभ्यागमद्गनम् ॥ ७९ ॥

अध्वरेष्वित्यादि—इष्टिमेभिरिति इष्टिनां यञ्चानः । 'इष्टादिभ्यश्च ।५।२।
।' इतीतिः । किमिष्टवताम्—अध्वरान् कर्माणि तत्र 'कृत्येन्विपयस्य
र्मण्युपसंख्यानम्' इति कर्मणि सप्तमी । अध्वरेष्विष्टिनामिति कर्मणि पष्ठी
गोणे । पाता रक्षिता । पूर्ती कर्मसु सर्वदा । षृणोतेनिष्ठायां 'उद्योष्यपूर्वस्य
।१।१०२।' इत्युत्वम् । 'न ध्याख्यापृमृच्छिमदाम् ।८।२।५७।' इति निष्ठा-
वप्रतिषेधः । पूर्वमनेनेति पूर्ववदिनिः । किं पूर्वमिति सर्वदाः आदादिकर्मणि ।
वत्सप्तमी । स राजत्वं राज्यम् । हित्वा त्यक्त्वा । वनमभ्यागमनं । आभि-
त्येन आगतवान् । लुङ् । छ्लेरङि रूपम् । पितुर्नियोगान् । नायोग्यत्वान् ।
मे भर्तेति योज्यम् ॥ ७९ ॥

पतत्रिक्रोष्टुजुष्टानि रक्षांसि भयदे वने ।

यस्य वाणानिकृत्तानि श्रेणीभूतानि शेरते ॥ ८० ॥

पतत्रीत्यादि—यस्य वाणानिकृत्तानि छिन्नानि रक्षांसि भयदे भयवर्धके
ने दीर्घनिद्रया शेरते स्वपन्ति स मम भर्तेति योज्यम् । शेरत इति 'शीङो
इ।७।१।६।' । कीदृशानि । अश्रेणयः श्रेणयो भूतानि । 'ऊर्यादि-
ष्वडाचश्च ।१।४।६।' इति च्यन्तानां 'कुगतिप्रादयः ।२।२।१८।
ति समासः । 'चौ च ।७।४।२६।' इति दीर्घः । च्यर्थानां तु 'श्रेण्या-

१ शेरते दीर्घनिद्रालीढाभवन्तीत्यर्थः । म्रियन्ते न पश्यन्तिपश्यन् कश्चिदपि न ।

दयः कृतादिभिः । २ । १ । ५९ ।' इत्ययं विषयः । पतत्रिभिः क्रोष्टुभिः
जुष्टानि परिवृतानि ॥ ८० ॥

दीव्यमानं शितांन् बाणानस्यमानं महागदाः ।

निघ्नानं शात्रवान् रामं कथं त्वं नाऽवगच्छसि ॥ ८१ ॥

दीव्येत्यादि—शितांस्तीक्ष्णान् बाणान् । दीव्यमानं क्षेप्तुं शक्तं तच्छीलं
वा । अनेकार्थत्वाद्भातूनां दिवेः 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश् । ३
। २ । १२९।' इति चानश् । 'दिवादिभ्यः श्यन् । ३ । १ । ६९।' इति श्यन् । यद्
शत्रूणामिमे समूहास्तानिति भावः । 'तस्येदम् । ५ । ३ । १२०।' इत्यण् । महा
गदाः अस्यमानं क्षेप्तुं शक्तं तच्छीलं वा । पूर्ववच्चानश् । शात्रवान् शत्रून्
'प्रज्ञादिभ्यश्च । ५ । ४ । ३८ ।' इत्यण् । निघ्नानं हन्तुं शक्तं तच्छीलं वा
पूर्ववत् प्रत्ययः । हन्तेः 'गमहन- । ६ । ४ । ९८ ।' इत्यादिनोपधालोपः । 'हो
हन्तेर्णिग्नेषु । ७ । ३ । ५४ ।' इति कुत्वम् । एवंविधं रामं कथं नावगच्छसि ।
तेन कर्मणा सर्वलोकविदितत्वादिति भावः ॥ ८१ ॥

भ्रातरि न्यस्य यातो मां मृगाविन् मृगयामसौ ।

एषितुं प्रेषितो यातो मया तस्याऽनुजो वनम् ॥ ८२ ॥

भ्रातरीत्यादि—यद्येवं कासावित्याह । असौ रामो मां भ्रातरि न्यस्य अर्प-
यित्वा मृगयामाखेटकं यातः । मृगेः स्वार्थिको णिच् । अदन्तत्वाच्च गुणो
न भवति । तदन्तात् 'कृवः श च । ३ । ३ । १०० ।' इत्यधिकृत्य 'परि-
चर्यापरिसर्यामृगयाटाटयानामुपसंख्यानम्' इति भावे शप्रत्ययः, यक्, अल्लो-
पाभावश्च । ततः परम् 'अजाद्यतष्टाप् । ४ । १ । ४० ।' इति टाप् । मृगान्वि-
ध्यतीति मृगावित् । 'नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु कौ । ९ । ३ । ११९।' इति दीर्घः । कासौ भ्रातेति चेदाह । तस्यानुजः कनिष्ठो मया प्रेषितः सन्
यातो वनम् । अनु पश्चाज्जायत इति । 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते । ३ । ३ । १३० ।'
इति जनेर्डः । अनौ कर्मण्युक्तमकर्मण्यपि भवति । किमर्थम्प्रेषितुम् । तमेव
ज्ञातुम् । 'इष गतौ' इत्यस्य तुमुनि पर इदं रूपम् । ज्ञानार्थत्वात् । प्रेषित
इति तस्यैव रूपम् ॥ ८२ ॥

अथाऽऽस्यस्यन् कपायाऽक्षः स्यन्नस्वेदकणोल्लङ्घः ।

संदाशिताऽऽन्तराऽऽकूतस्तामवादीद्दिशाननः ॥ ८३ ॥

अथेत्यादि—अथैवमुक्तो जानक्या दशाननस्तामवादीत् उक्तवान् । आय-
स्यन् क्रोधाग्निष्टत्वात् शरीरं खेदयन् । 'यसु प्रयत्ने' इति दैवादिकः पर-

१ शृगालैरित्यर्थः । 'शृगालवञ्चक्रोष्टुफेरुफेरवजम्बुकाः ।' इत्यमरः । २ मृगा-
वित्त्याधः । ३ सर्वेषां गत्यर्थानां ज्ञानार्थकताङ्गीकारान् ।

स्मैपदी । क्रोधादेव कपायार्क्षः । 'बहुव्रीहौ सकथ्यक्षणोःस्वाङ्गात्पच् । ५ । ४ । ११३ ।' इति पच् । स्यन्नैः सृतैः स्वेदकणैरुत्त्रणः उद्भटः व्याप्त इत्यर्थः । स्यन्देर्निष्ठायां रूपम् । संदर्शितमान्तरमन्तर्गतमाकृतमभिप्रायो येन स एवंविधः ॥ ८३ ॥

कृते कानिष्ठिनेयस्य ज्यौष्ठिनेयं विवासितम् ।

को नम्रमुपितप्रख्यं बहु मन्येत राघवम् ॥ ८४ ॥

कृत इत्यादि—कनिष्ठाया अपत्यं ज्येष्ठाया अपत्यमिति 'स्त्रीभ्यो ढक् । ४ । १ । १२० ।' 'कल्याण्यादीनामिड् । ४ । १ । १२६ ।' तयोः कल्याण्यादियु पठितत्वात् । कनिष्ठासुतस्य भरतस्य कृते निमित्ते । ज्येष्ठायाः सुतः निरूपयोगितया विवासितः विसर्जितः । विपूर्वम्य वसतेर्हेतुमण्यन्तस्य निष्ठायां रूपम् । ते नम्रमुपितप्रख्यं यथा कश्चिन्मुपितो नम्रो भवति उद्भटः भूतम् । 'पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन । २ । १ । ४९ ।' इति समासः । तयोः पूर्वापरकालत्वान् । 'राजदन्तादिषु परम् । २ । २ । ३१ ।' इति परनिपातः । ईदृशं राघवं को बहु मन्येत, श्लाघिते नैवं इत्यर्थः ॥ ८४ ॥

राक्षसान् वटुयज्ञेषु पिण्डीशूरान् निरस्तवान् ।

यद्यसौ कूपमाण्डूकि ! तवैतावति कः स्मयः ॥ ८५ ॥

राक्षसानित्यादि—अध्वरेष्विष्टिनामित्यस्योत्तरमाह । यद्यसौ राक्षसान् पेण्डीशूरान् पिण्डयामेव शूरान् । भोजने एव शूरान् । 'पात्रेभगितादयश्च । १ । १ । ४८ ।' इति समासः । वटुयज्ञेषु कुत्रालगयोः । निरस्तवान् तिर-कृतवान् । 'निष्पूर्वादसुक्षणे क्तवतुः । हे कूपमाण्डूकि क्वे माण्डूकीव पूर्ववत् पात्रेसमितादयश्च । २ । १ । ४ ।' इत्यनेन समानः । 'ढक् ष मण्डूकान् । ३ । १ । ११९ ।' इति चकारादण् । 'तस्यापत्यम् । ४ । १ । ९२ ।' इत्यपत्ये-ज्यैवाऽण् । एतावति स्वल्पे वस्तुनि तव कः स्मयः विस्मयः ? अपि तु न जया विस्मयः कर्तुं युक्त इत्यर्थः ॥ ८५ ॥

मत्पराक्रमे तु त्वया स्मयः कर्तुं युक्तः । तत्रापि न मया युक्तम्
इति वक्तुमित्याह—

१ क्रोधे हि नेत्ररक्तिमा जायते तदतिशये पुनः कपायखण्डम् । गाढो रक्तिम- कपाय इति प्रोच्यते । 'निर्यासेऽपि कपायः' इत्यमरः । चन्द्राऽय कपशब्दः शोणयापक एव 'कपायो रसभेदेऽपि निर्यासेऽपि विलेपने । शङ्कराणे च न स्त्री स्यात्, सुरभौ क्रोधि- त्रिषु ।' इति मेदिनी ।

मत्पराक्रमसंक्षिप्तराज्यभोगपरिच्छदः ।

युक्तं ममैव किं वक्तुं दरिद्राति यथा हरिः ॥ ८६ ॥

मत्परेत्यादि—राज्यभोग एव परिच्छदो हस्त्यश्वादिरूपराजार्हमुपकर-
णम् स मत्पराक्रमेण सङ्क्षिप्तोऽपहृतो यस्य हरेरिन्द्रस्य स यथा दरि-
द्रातिं निरर्थको भवति तन्ममैव किं वक्तुं युक्तमात्मगुण्यवादस्य
लज्जाकरत्वात् दरिद्रातेरादादिकत्वाच्छपो लुक् ॥ ८६ ॥

निर्लङ्को विमदः स्वामी धनानां हतपुष्पकः ।

संगच्छ पौंस्त्रि खैणं मां युवानं तरुणी शुभे ! ॥

अध्यास्तेऽन्तर्गिरं यस्मात् कस्तन्नावैति कारणम् ॥ ८७ ॥

निर्लङ्क इत्यादि—यस्मात्कारणात् धनानां स्वामी धनदः । अन्तर्गिरं-
व्यंस्त्रि अध्यासितवान् । गिरेः कैलासस्यान्तर्मध्ये । विभक्त्यर्थे 'अव्ययं
विभक्तिप्रमाण-२ । १ । ६ । इत्यादिनाऽव्ययोभावः । 'गिरेश्च सेनकस्य ।
५।१।११२।' इति टच् । 'अधि शीङ्स्थाऽऽसां कर्म । १ । ४ । ४६।' इति
कर्मसंज्ञा । तेन 'वृतीयासप्तम्योर्वहुलम् । २ । ४ । ८४।' इत्य-
म्भावो न भवति । 'नाव्ययीभावादतोऽम् । २।४।८३।' इत्यमेव भवति ।
तत्कारणं मम पराक्रमं मां वा को नावैति न जानाति । कीदृशः ।
निर्लङ्कः लङ्कातो निष्क्रान्तः । 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इति समासः ।
'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते । १ । २ । ४४।' इत्युपसर्जनसंज्ञायां ह्रस्वत्वम् ।
हतपुष्पकः हतम् आच्छिन्नं पुष्पकारुख्यं विमानं यस्य । अत एव विमदोऽ-
येतदर्पः । लङ्का पुष्पकं च धनदस्यासीत् तदाच्छित्त्वा अनेन गृहीत-
मिति ॥ ८७ ॥

भिन्ननौक इव ध्यायन् मत्तो विभ्यद् यमः स्वयम् ।

कृष्णिमानं दधानेन मुखेनाऽऽस्ते निरुद्यतिः ॥ ८८ ॥

भिन्नेत्यादि—स्वयं साक्षान्मत्तो विभ्यन् त्रस्यन् यमो वैलक्षण्यात् मुखेन
कृष्णिमानं कृष्णवर्णत्वम् । 'वर्णहृत्तादिभ्यश्च । ५।१।१२३।' इति चकारादिमातृचा
दधानेन धारयता । 'इत्थम्भूतलक्षणे २।३।२१' इति वृतीया । निरुद्यतिः निरुद्यमः
आस्ते । उत्पूर्वाद्यनेः 'द्वियां क्तिन् । ३।३।९४।' इति भावं क्तिन् अनु गति क्लोपः ।

कीदृशः। ध्यायन् चिन्तयन् । किं समापतितं यद्दहमनेन दृतसर्वस्वः' इति । भिन्न-
नौक इव विपन्नपोतवर्णौगिव । 'उरःप्रभृतिभ्यः कप । ५।४।१५१' इति कप । ८८ ।

एवं स्वपौरुषं प्रदर्श्य स्वीकर्तुमाह—

समुद्रोपत्यका हैमी पर्वताऽधित्यका पुरी ।

रत्नपारायणं नाम्ना लङ्केति मम मैथिलि ! ॥ ८९ ॥

समुद्रेत्यादि—हे मैथिलि लङ्केति नाम्ना प्रसिद्धा मम पुरी । कीदृशी ।
समुद्र एवोपत्यका आसम्ना भूमिः यस्याः सा समुद्रोपत्यका समुद्रस्य
पर्वतोपत्यकात्वात् समुद्रोपत्यकेति समासे साधुत्वं न भवति । यतः
संज्ञाधिकारात् पर्वतस्यासन्ने अधिरूढे उपाधिभ्यां त्यकन्प्रत्ययान्तरयोरुप-
त्यकाशब्दयोः साधुत्वमुक्तम् । 'प्रतिषेधे त्यकन उपसंख्यानम्' इति 'प्र-
त्ययस्थान् क्वात् पूर्वस्यात् इडाप्यसुरः । ७।३।४४' इतीकारो न भवति ।
हैमी हेमविकारा । 'प्राणिरजतादेभ्यांऽञ् । ४।३।१५४' । पर्वताधित्यका ।
त्रिकूटपर्वतस्योपरि स्थिता । रत्नपारायणं यत्र रत्नानां पारमवसानमयन्ते
इत्यन्ते तत्परीक्षकाः । सर्वरत्नस्थानामित्यर्थः ॥ ८९ ॥

दुर्गावस्थित्यानभिभवनीयतां रत्नोपचयात्समुद्रतां कथयन् प्रलोभयति—

आवासे सिक्तसंमृष्टे गन्धैस्त्वं लिप्तवासिता ।

अर्पितोरुसुगन्धिस्रक् तस्यां वस मया सह ॥ ९० ॥

आवास इत्यादि—उत्थां पुर्याम् आवासे गृहे । आवसत्यास्मिन्निति अ-
धिकरणे वञ् । मया सह त्वं वस । प्रार्थनायां लोट् । सिक्तसंमृष्टे
पूर्वं सिक्ते पश्चात्संमृष्टे । गन्धैर्लिप्तवाभिन्ता मती पूर्वं लिप्ता चन्दनादि-
भिर्गन्धैः पश्चाद्वासिता धूपिता । संमृष्टादिभिः पूर्वकालिकतरंगरत्नपुरा-
णत्वकेवलाः समानाधिकरणेन । २।१।४५' इति समासः । अर्पिता
न्यस्ता उर्वी महती सुगन्धिस्रक् सुरभिमाला यस्यां सा त्वम् ॥ ९० ॥

किमिति त्वया सह वसामीति चेदाह—

१ वणिग् हि प्रायो नावि वस्तूनि मिधाय देशान्तरं यिकेतुं प्रयाति, इति तस्य सर्व-
स्वभूताया नावो नाशे यादृशी चिन्ता तादृशीचिन्तामाधिगच्छश्चित्तयुपमा । २ श्रीगि
कूटानि शिखराणि यस्येति ध्रुकूटनाम्ना प्रसिद्धा । एतेनास्य दुर्गमात्वमायतत्यमुक्तत्वं च
व्याख्यातम् । 'शृङ्गे खीराङ्गे कूटमस्त्रिप्राम्' इत्यमरः । ३ रत्नानां पारायणं साकल्यमुत्त-
दिप्रस्थानभूमिश्चादिति भावः । रत्नानां पारायणमिति विग्रहः । 'साकल्यपासद्भवचने'
'पारायणपरायणे ।' इत्यमरः । यथांके व्याख्यानानि तु क्षीणत्वं दुःखस्मरणम् ।

संगच्छ पौंस्त्रि ! स्वैणं मां युवानं तरुणी शुभे !

राघवः प्रोष्यपापीयान् जहीहि तम किञ्चनम् ॥ ९१ ॥

संगच्छेत्यादि-हे पौंस्त्रि पुमांसमर्हति ताद्धिता वा । अर्हार्थे । वा 'स्त्रीपुंसाभ्यां नव्यस्त्वौ भवनात् । ५।१।८७।' स्त्रीप्रत्यये 'नव्य कक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम्' इति । मां युवानं तरुणं सं अङ्गीकुरु । गमेः प्रार्थनायां लोट् । 'इषुगमियमां छः । ७।३। इति छत्वम् । 'समो गम्यच्छिभ्याम् । १।३।२९।' इति तड् नः । सकर्मकत्वात् । विशेषतः स्वैणं स्त्रियै हितमर्हन्तं वा । पूर्ववत्प्रत्यय तरुणी युवती सती शुभे कल्याणि शोभत इति 'इगुपधज्ञाप्रतीकरः ३।१।१३५।' इति इगुपधलक्षणः कः । ममापि तादृशो भर्तास्तीति दाह राघवः प्रोष्यपापीयानिति । पापशब्दात् 'विन्मतोर्लुक् । ५।३। इति ईयसुन् लुक्च मतुपः । प्रोष्यपापीयानिति 'मयूरव्यंसकादयश्च । ७२।' इति समासः । देशान्तरं यात्वा पापवत्तरः । स्वदेशत्याग दुष्कृतपारिपाकभोक्तृत्वमिति यथोक्तम् । अत एव तमकिञ्चनं दुरि न विद्यते किञ्चन यस्येति । 'सर्वनामाव्ययसंज्ञाया उपसर्जनप्रति इति वचनान्नाव्ययसंज्ञा । तेन न विभक्तिलोपः । जहीहि त्यज । त्य 'जहातेश्च । ६।४।११६।' इति वा वचनाद्विकल्पः ॥ ९१ ॥

अश्रीतपिवतीयन्ती प्रसिता स्मरकर्माणि ।

वशेकृत्य दशग्रीवं मोदस्व वरमन्दिरे ॥ ९२ ॥

अश्रीतेत्यादि-अश्रीतपिवतेति 'मयूरव्यंसकादयश्च । २।१।७२।' व्यंसकादित्वात् समासः । तत्र हि 'आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये' इति पठ सततमश्रीत पिवतेत्येवं भृत्यजनानादेष्टुमिच्छतीति 'सुप आत्मनः क ३।१।८।' अश्रीतपिवतीयन्ती । प्रसिता स्मरकर्माणि सुरतव्यापारे धिक्वयेन प्रवृत्ता कामव्यापारेऽनुरतेत्यर्थः 'प्रसितोत्सुकाभ्यां वृतीया च ३।४।४।' इति चकाराम् सप्तमी । वशेकृत्यानुवर्तिनं दशग्रीवं कृत्वा 'साक्षात्प्रभृतीनि च । १।४।७४।' इति गतिसंज्ञा । मोदस्व हर्षः । वरमन्दिरे श्रेष्ठगृहे सुरतोचितसर्वोपकरणसम्पन्ने इत्यर्थः । श्रितं ॥ ९

१ एतेन पुरुषसम्बन्धमन्तरा तस्या अवस्थानायोग्यत्वं सूचितम् । २ स्वात्मनः स्त्रीभोगक्षमत्वं सम्भावितम् । ३ इदं परलोकदृष्ट्या रामस्य त्याग सूचयितुम् । ४ इदमेतल्लोकदृष्ट्या रामस्य त्याग्यत्वं सस्मावयितुम् । ५ अत्र करोऽलङ्कारः स्पष्टः, 'अलङ्कारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे' इत्यभियुक्तोक्तं । ६ न्यवेत्यर्थ इति भावः, मोदस्वकर्मकत्वात् । यद्वाऽन्तर्भावितगिजन्तत्वात्तथावचनं चत्रापि परिकरोऽलङ्कारः ।

मा स्म भूर्ग्राहिणी भीरु गन्तुमुत्साहिनी भव ।

उद्भासिनी च भूत्वा मे वक्षःसंमर्दिनी भव ॥ ९३ ॥

मा स्मेत्यादि—हे भीरु मा स्म भूर्ग्राहिणी प्रतिकूला मा भूः । न याम्ना-
नीत्यमुमर्थे गृह्णामीति कृत्वा । 'स्मोत्तरे लङ् च । ३ । ३ । १०६ ।'
इति चकारान् लुङ् । गन्तुमुत्साहिनी उद्युक्ता भव । 'अकथृपञ्जापट-
भलभकमसहार्हास्त्यर्थेषु तुमुन् । ३ । ४ । ६५ ।' इति तुमुन् । उद्भासिनी-
ते सहोपपदत्वान् । ततश्चालंकृतशरीरत्वादुद्भासिनी शोभमाना भूत्वा मे-
वस्माकं वक्षःसंमर्दिनी स्तनाभ्यामुरःस्थलस्य पीडिका भव । प्रहोत्स्य-
दोद्भाससंमर्दानां प्रहादिषु पठितत्वान् कर्त्तरि णिनिः । 'स्त्रेभ्यो हीर्
'४।१।५।' ॥ ९३ ॥

नां प्रातिकूलिकीं मत्वा जिहीषुर्भीमविग्रहः ।

बाहूपपीडमाश्लिष्य जगाहे द्यां निशाचरः ॥ ९४ ॥

तामित्यादि—यदैवमभिधीयमाना न प्रतिपन्ना तदा नां प्रातिकूलिकीं
प्रतिकूलवर्तिनीं मत्वा ज्ञात्वा । 'ओजःसहोम्भसा वर्तते' इत्याधिकृत्य प्रति-
कूलं वर्तत इत्यास्मिन्नर्थे 'तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलम् । ४।४।२८।' इति ट् ।
जिहीषुः हर्तुमिच्छुः । भीमविग्रहः भीषणशरीरः । दृष्टराक्षसशरीररूपः ।
मुखेन द्वियत इति बाहूपपीडमाश्लिष्य बाहुभिरुपपीडय । 'सप्तम्यां चोप-
पीडरुधकर्मः । ३।४।४९' इति चकारान् तृतीयान्त उपपदे णमुत् । जगाहे
रथेनोत्पत्य द्यामाकाशं निशाचरो गाहते स्म । दिवशब्दसमानार्थो द्योशब्द
औणादिकः । 'गमेर्दोः' इत्याणादिकं 'उणादयां बहुलम् । ३।३।१' इति बहु-
लग्रहणाद् धुतेरपि ङोः' इति वचनात् ङोः । 'औतोऽमशसोः । ३।१।९३।'
इत्यात्वम् । कालापिनस्तु दिवशब्दादेव व्युत्पादयितुं मूत्रमधीयते नाम्येति ।
दिवः अग्नि विकल्पेनाकारादेश इति ॥ ९४ ॥

त्रस्यन्तीं तां समादाय यातो रात्रिचराऽऽलयम् ।

वृष्णीभूय भयादासांचक्रिरे मृगपाक्षिणः ॥ ९५ ॥

१ 'सुन्दरि' इत्यर्थः । 'विशेषास्त्वङ्गना भीरुः कामिनी वामलोचनाः । २ अस्मि-
धीयमाना । उच्यमानेत्यर्थः । ३ न प्रतिपन्ना नानुकूलतां प्राप्तेत्यर्थः । ४ आकाशमेव
पन्थानमकरोदिति भावः ।

त्रस्यन्तीमित्यादि—त्रस्यन्तीं च तां तद्रूपदर्शनात् समादाव गृहीत्वा यातो गच्छतो रावणात् । यातेः शतरि पञ्चम्या रूपम् । किं यातो रात्रिश्चरालयं लङ्काम् । रात्री चरतीति 'चरेष्टः १३।२।१६।' । 'रात्रेः कृति विभाषा १६।३।७२।' इति सुम् । तस्माद्वावणाद्यद्भयं ततो भयात् तूष्णीम्भूय । 'तूष्णीमि भुवः १३।४।६३।' इति 'क्त्वा च १२।२।२२।' इति समासे ल्यवादेशः । आसांचक्रिरे आसिताः । 'द्वयायासश्च १३।१।३७।' इत्याम् । मृगपक्षिणः मृगाश्च पक्षिणश्च । समानजातीयानामिति वचनादेकवद्भावोऽत्र न भवति ॥ ९५ ॥

उच्चैरारस्यमानां तां कृपणां रामलक्ष्मणौ ।

जटायुः प्राप पक्षीन्द्रः परुषं रावणं वदन् ॥ ९६ ॥

(इति प्रकीर्णकाण्डं प्रथमम्)

उच्चैरित्यादि—तां सीतां जटायुः पक्षीन्द्रः । रावणं परुषं तिष्ठुरं वदन् प्राप प्राप्तवान् । कीदृशीम् । उच्चैरारस्यमानाम् । 'हा राम, हा लक्ष्मण' इति शब्दौ (द्वौ) उच्चैर्महता ध्वनिनी पुनः पुनः रसन्तीमित्यर्थः । रसेः शब्दकर्मकत्वात् धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् ३।१।२२' इति क्रियासमभिहारे यङ्, ततः शानच् । कृपणां दीनाम् ॥ ९६ ॥

(इति प्रकीर्णकाण्डम्)

अतः परमधिकारकाण्डम् ।

तत्र प्रथमं टाधिकारः—

इतः परमधिकारकाण्डमुच्यते । यत्र प्राधान्येनैकैकमधिकृत्य लक्षणं प्रद-
क्षितं तदधिकारकाण्डम् । शेषलक्षणेपु प्रकीर्णकमेव द्रष्टव्यम् । एवं च
कृत्वा अन्तरान्तरा तत्सूचनार्थं प्रकीर्णकश्लोकाभिधानम् । अत्र च काण्डे
निर्दिष्टसंज्ञकाश्रित्वारः परिच्छेदाः । तत्र प्रथमे आद्यं टप्रत्ययमधिकृतो-
च्यते, सर्गार्थस्य विवक्षितस्यापारिसमाप्तत्वात्, तमेवाभिसन्वायाह—

द्विषन् वने चराऽऽयाणां त्वमादाय चरो वने ।

अयेसरो जघन्यानां मा भूः पूर्वसरो मम ॥ ९७ ॥

द्विषन्नित्यादि—एवञ्च कृत्वा मिश्रक उच्यते द्वयोरप्यत्र प्राधान्येन विव-
क्षितत्वात् । परुषं वदन् । कीदृशम् । हे द्विषन् मा भूः पूर्वसरो ममेति ।

१ अत्यन्तं विद्वपन्तीन् । 'रस शब्दे' इत्यस्येदं रूपम् । २ रात्रौ इत्यर्थः । 'रिपौ
वैरिसपत्नारिद्विषद्वेषगुहृद्दः ।' इत्यमरः ।

आप्रतो भूत्वा मा गा इत्यर्थः । पूर्वं सरतीति 'पूर्वं कर्तार । ३ । २ । २' इति टः । यत्स्त्वमप्रेचरो जर्धन्मानाम् । अप्रेसरतीति 'पुरोऽप्रतोऽप्युत्कर्षे । ३ । २ । १८' इति टः । जषन्त्य इति 'शाखादिभ्यो यः । १ । ३ । १०३' तीवार्थे यः । पारानां प्रथमस्त्वम् । कुतः आदायचरो वने । आदाय रतीति 'भिक्षासेनादायेषु च । ३ । २ । १७' वने चरन्तीति वनेचराः । अभि-रणे चरेष्टः । तेषामग्र्याः प्रधाना ऋषयः । तानादाय चरमि भक्षयमि । मणि पृष्ठी ॥ ९७ ॥

यशस्करसमाचारं ख्यातं भुवि दयाकरम् ।

पितुर्वाक्यकरं रामं विकृत्वां दुन्वन्तमत्रपम् ॥ ९८ ॥

यशस्करेत्यादि—रामं दुन्वन्तमुपतापयन्तमत्रपं निर्लज्जं विकृत्वात् । ई । 'दुद्दु षपतापे' इत्यस्य सौवाधिकस्य शतरि 'दुद्दुवोः सार्वभानुके । ६ । ४ । ८७' इति यगादेशे रूपम् । कीदृशं रामम् । यशस्करगमाना- । समाचरणं समाचारः चरितं भावे घञ् । यशस्करोतीति यशस्करः । ज्यो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु । ३ । २ । २०' इति टः । 'त्रिसर्जनीयस्व सः । ३ । ३४' । यशस्करणहेतुभूतः समाचारो यस्य । ख्यातं भुवि प्रसिद्धं याकरं करुणाकरणशीलम् । ताच्छील्ये टः । पितुर्वाक्यकरं पितुर्वचना-शाने अनुकूलम् । आनुलोम्ये टः ॥ ९८ ॥

अहमन्तकरो नूनं ध्वान्तस्येव दिवाकरः ।

तव राक्षस रामस्य नेयः कर्मकरोपमः ॥ ९९ ॥

अहमित्यादि—हे राक्षस, अहं तव नूनमवश्यमन्तकरोः विनाशयिता । दशः—रामस्य नेयो वरुणः । 'अचो यत् । ३ । १ । ९७' कर्मकरो- । भृतकतुल्यः । 'कर्मणि भृतां । ३ । २ । २२' इति टः । ध्वान्तस्येव वाकरः । यथान्धकारस्यान्तकरो दिवाकरः सूर्यः तथा । अन्तकरदिवाकरो । इवाविमानिशाप्रभाभास्करान्तानन्तादिवहुनान्दीकिलिपिलिधिवलिभक्तिकर्तृ-त्रक्षेत्रसङ्ख्याजम्बाबाह्वहयत्तद्धनुररुण्यु । ३ । २ । २१' इति टप्रत्य-न्तौ । एवमुक्त्वा खं गगनं पपातेति सम्बन्धः ॥ ९९ ॥

१ पामराणामित्यर्थः । 'जघन्योऽन्त्योऽधमेऽपि च ।' इत्यमरः । २ पारानां कारिणामित्यर्थः । अत्राशांशान्दित्वाच्च । ३ 'प्रभाकरदिवाकराः' इत्यमरः

सतामरुष्करं पक्षी वैरकारं नराऽशिनम् ।

हन्तुं कलहकारोऽसौ शब्दकारः पपात खम् ॥ १०० ॥

सतामित्यादि-एवमुक्त्वा असौ जटायुः पक्षी खमाकाशं पपात पतितः ।

किमर्थं नराशिनं नरान् मनुष्यान्नाति भक्षयतीत्येवंशीलम्, राक्षसमित्यर्थः ।

‘सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये । ३ । २ । ७८ ।’ इति णिनिः । हन्तुं हनिष्या-

सीति । कीदृशं राक्षसं सतामरुष्करम् । धर्मे स्थितानां पीडाकरम् । अरुः-

शब्दः पीडोपलक्षणपरः । ‘दिवाविभानिशाप्रभाभास्करान्तानन्तादिवहुना-

न्दीकिलिपिलिविलिभक्तिकर्तृचित्रक्षेत्रसङ्ख्याजङ्घाबाह्वह्यत्तद्वनुररुणु । ३ ।

२ । २१ ।’ इति टः । वैरकारं वैरकरणशीलम् कलहकारः पक्षी

कलहयितुमनुकूलः । अनयोः ‘न शब्दश्लोककलहगाथावैरचाटुसूत्रमन्त्र-

पदेषु । ३ । २ । २३ ।’ इति टे प्रतिषिद्धेऽप्येव भवति । कर्मण्यणः प्राप्तिर-

स्तीति टाधिकार उदाहृतः । कियत्त्वं पपात । यावति दूरे शब्दपातस्ता-

वत्सैमिति ॥ १०० ॥

॥ टाधिकारः समाप्तः ॥

इतः पर पुनः प्रकीर्णकश्लोकानाह--

धुन्वन् सर्वपथीनं खे वितानं पक्षयोरसौ ।

मांसशोणितसंदर्शं तुण्डघातमयुध्यत ॥ १०१ ॥

धुन्वन्नित्यादि-असौ जटायुः पक्षी अयुध्यत युध्यते स्म । युधेर्देवा-

देकस्य लडि रूपम् । तुण्डघातमिति क्रियाविशेषणम् । तुण्डेन चञ्चवा

यातो हननं यस्मिन् युद्ध इति । ‘करणे हनः । ३ । ४ । ३७ । इति न णमुच्,

कपादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः । ३ । ४ । ४६ ।’ इति वचनात् अहिसार्थ-

वाञ्च तदारम्भस्य यथा पादघातं भूमिं हन्तीति । ‘हिसार्थानां च समानकर्म-

गणाम् । ३ । ४ । ४८ ।’ इत्यनेनापि न भवति समानकर्मकताभावान् ।

‘कर्मकत्वाद्युधेः । तेन भावे वञ् । धुन्वन् कम्पयन् खे आकाशे पक्षयो-

र्वेतानम् । सर्वपथीनं ‘सर्वः पन्था इति’ ‘पूर्वकालेकसर्वजरत्पुराणनव-

ज्वलाः समानाधिकरणेन । २ । १ । ४९ ।’ इति समासः । ‘ऋक्पूरुषूः पथामानशे

५ । ४ । ७४ ।’ इति समासान्तोऽकारः । सर्वपथान् व्याप्नोतीति ‘नन्तवादि-

१ (पीडाकरो व्रणकरोऽरुष्करो मर्मघातकः ।) इति गोपालः । २ ‘अनन्तं सुग्व मे
वम् इत्यमरः । ३ नत्र परिकरः ।

शुभ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति । ५ । २ । ७ । इति, स्वः । मांसगोणितसन्दर्भे
 कास्त्येन मांसं शोणितं च दृष्ट्वा । 'कर्मणि दृशिविदोः साकस्ये । ३ । १ । २९ ।'
 ति णसुल् । 'अमैवाव्ययेन । २ । २ । २० ।' इति समाप्तेः ॥ १०१ ॥

न विभाय न जिहाय न चक्लाम न विव्यये ।

आघ्नानो विध्यमानो वा रणाच्चिववृते न च ॥ १०२ ॥

नेत्यादि-पक्षी जटायुरिति प्रकृतम् । आघ्नानः आहत इति प्रहरन्तित्यर्थः ।
 आढो यमहन्तः । १ । ३ । २० ।' इति तद् । अतएव शान्तः । न विभाय न भोतः ।
 त्मान्न जिहाय न लज्जितः । सम्यङ् मया न हत इति न चक्लाम न क्लान्तः ।
 विव्यये । 'व्यथो लिति । ७ । ४ । ६८ ।' इति सम्प्रसारणम् । जिनभ्रम-
 ज्वात् । विध्यमानो वा । वाशब्दश्चार्थे । परेण हन्यमानश्च न विव्यये न पीडां
 ज्ञे । सत्त्वाधिकत्वात् । रणाच्च न निववृते न निवृत्तः, अभयोत्साह-
 वात् ॥ १०२ ॥

पिशाचमुखधौरेयं सच्छत्रकवचं रथम् ।

युधि कद्रथवद्भीमं वभञ्ज ध्वजशालिनम् ॥ १०३ ॥

पिशाचेत्यादि-युधि सङ्ग्रामे पक्षी रथं वभञ्ज भगवान् । तस्य पुष्पका-
 इत्यत्वात् । तथा हि कद्रथवत् कुत्सितरथमिव । 'रथवदयोक्ष । ६ । ३ । १०२ ।'
 इति कदादेशः । धुरं वहन्ति धौरेया अध्वाः । 'धुरो यद्दृक्कौ । ४ । ४ । ७७ ।'
 इति ढक् । पिशाचस्येव मुखं येषां ते धौरेया यत्र रथे तं पिशाचमुखधौरेयम् ।
 सच्छोभनं छत्रं कवचं च यस्मिन् । तं भीमं भयानकं तथा धुर्यत्वात् । ध्वज-
 शालिनं ध्वजवन्तम् । शालिनशब्दः किन्प्रत्ययान्तस्तद्वन्तमाह । अन्यस्त्वाह ।
 ध्वजेन शालितुं श्लाघयितुं शालिमस्येति णिनिः । अनेकार्थत्वाद्वातूनामिति ॥
 एते प्रकीर्णकाः ॥ १०३ ॥

अतः परं आमधिकारः ।

इतः प्रभृत्याममधिकृत्याह--

संत्रासयाश्चकाराऽरिं सुरान् पिप्राय पश्यतः ।

स त्याजयाश्चकाराऽथ सीतां विंशतिवाहुना ॥ १०४ ॥

१ अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः । २ अत्र दीपकम् । ३ 'धुर्वहे धुर्यधौरेयधुराणाः
 सधुरन्धराः ।' इत्यमरः । ४ अत्र व्यधिकरणो बहुव्रीहिः । ५ भीमं भयङ्क-
 र्मित्यर्थः । 'घोरं भीमं भयानकम्' इत्यमरः । ६ शालयितुमिति वाच्यम् ।

सन्त्रासयामित्यादि-अथैतस्मिन् युद्धप्रस्तावे स पक्षी सीतां विंशति-
 बोहुना रावणेन त्याज्यांचकार त्याजितवान् । गत्यादिषु त्यजेरसंग्रहात् वृत्ति-
 यैव भवति । कस्मान्त्याजितवानित्याह । सन्त्रासयाञ्चकारारिं यस्मादरिं शत्रु-
 रावणं त्रासितवान् । अकर्मकत्वात् त्रासेर्ण्यन्तावस्थायामरेः कर्मत्वम् । आभ्यां
 हेतुमण्यन्ताभ्याम् 'कास्प्रत्ययादामन्त्रणे लिटि । ३ । १ । ३५ ।' इत्याम् ।
 आमोऽमित्वमदन्तत्वात् । 'आमः । २ । ४ । ८१ ।' इति लुक् । 'अयामन्ताल्वा-
 ग्येत्स्विष्णुषु ६ । ४ । ५५ ।' इत्ययादेशः । आमकारान्तस्य कृतसंज्ञायां प्रातिप-
 कत्वे प्रथमैकवचनम् । तस्य 'अव्ययादाप्सुपः । २ । ४ । ८२ ।' इति लुक् ।
 स्वरादिषु 'अम् भाम्' इति पठितत्वादव्ययत्वम् । आमन्तस्यानभिग्यक्तपदार्थ-
 त्वात् 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि ३ । १ । ४० ।' इति लिट्परस्य कृञोऽनुप्रयोगः । 'कर्त्र-
 मिप्रायाभावाभावेऽनुप्रयोगे तद् न भवति । सुरांश्च पश्यतो युद्धं जटा-
 युः पिप्राय प्रीणितवान् । शत्रुत्रासनं सीतात्याजनं च देवानां प्रीतेः
 कारणम् ॥ १०४ ॥

असीतो रावणः कासांचक्रे शस्त्रैर्निराकुलः ।

भूयस्तं वेभिदाञ्चक्रे नखतुण्डाऽऽयुधः खगः ॥ १०५ ॥

असीत इत्यादि-असीतः परित्यक्तसीतो रावणः आकाशस्थः कासा-
 ञ्चक्रे कुत्सितमभिहितवान् । एषेहीति विहगाधिपेति । 'कास् कुत्सायाम्'
 इत्यनुदात्तेत् । 'कास् प्रत्ययादामन्त्रणे लिटि । ३ । १ । ३५ ।'
 इत्याम् । शस्त्रैः इत्थम्भूते वृत्तिया । निराकुलः पूर्वं बाहुभिः सीताप्र-
 ग्रहणे व्याकुलत्वात् । भूयः पुनरपि । खगः पक्षी । ढप्रकरणे 'अन्य-
 प्वपि दृश्यते । ३ । २ । १०१ ।' इति वचनात् गमेर्ऽः । तं निशाचरं
 रावणं राक्षसमित्यर्थः । वेभिदाञ्चक्रे । अत्यर्थं भिन्नवान् । वेभिद्यतेर्यङ-
 न्तादाम् । नखतुण्डान्येवायुधानि यस्य ॥ १०५ ॥

हन्तुं क्रोधवशादीहाञ्चक्राते तौ परस्परम् ।

न वा पलायाञ्चक्रे विर्दयाञ्चक्रे न राक्षसः ॥ १०६ ॥

हन्तुमित्यादि-तौ पक्षिरावणौ जटायू रावणश्चेत्यर्थः । क्रोधवशान्
 क्रोधावीनतया उद्विक्तक्रोधतयेत्यर्थः 'परस्परमन्योन्यं हन्तुमीहाञ्चक्राते चेष्टां
 कृतवन्तौ । 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः । ३ । १ । ३६ ।' इत्याम् । विः पक्षी ।

निघसिभ्यामित्याधिकृत्य 'वेवो ङि' इत्याणादिक इक् । न वा नेव ।
शब्द एवार्थे । पलायाञ्चक्रे पलायितः । 'उपसर्गस्याचतौ । ८।२।१९।'
ते लत्वम् । राक्षसश्च न दयांचक्रे न दयते स्म । पक्षिणं खल्वहं कथं
। पादयामीत्यर्थः । किंतु निष्ठुरतयाऽऽहन्तुमुद्यत एवाभूदिति भावः ।
नयत्रापि 'दयांचासश्च । ३।१।३७।' इत्याम् ॥ १०६ ॥

उपासांचक्रिरे द्रष्टुं देवगन्धर्वकिन्नराः ।

छलेन पक्षौ लोलूयाञ्चक्रे ऋव्यात् पतत्रिणः ॥ १०७ ॥

उपेत्यादि-देवगन्धर्वकिन्नरा द्रष्टुं 'युङ्ङं द्रक्ष्याम' इति उपासाञ्चक्रिरे उपग-
। पूर्ववदाम् । ऋव्यात् रावणः । ऋव्यं मांसमर्त्तीति ऋव्यात् ।
दोऽनत्रे । ३।२।६८।' इति विद् । पतत्रिणः पक्षिणः पक्षौ लोलूया-
के अत्यर्थं लूनवान् । यङ्प्रत्ययान्तत्वादात् । छलेन मायया प्रसवा
। न शक्यत इति । भलेनेति पाठान्तरम् ॥ १०७ ॥

प्रलुठितमवनौ विलोक्य कृतं दशवदनः खचरोत्तमं प्रहृष्यन् ।

रथवरमधिरुह्य भीमधुर्यं स्वपुरमगात् पारिगृह्य रामकान्ताम् ॥ १०८ ॥

प्रलुठितमित्यादि-खचराः पक्षिणः । खे चरन्तीति अधिकरणे 'चरष्टः
२।५६।' तेषामुत्तमं जटायुं कृतं छिन्नं लूनपक्षत्वात् । अवनौ भुवि
ठितं विलोक्य प्रहृष्यन् हर्षं प्राप्नुवन् निवृत्तौ विघ्नकारीति दशाननो
वरं स्मरणात् प्राप्तं पुष्पकाख्यमारुह्य भीमधुर्यं रामकान्तां सीतां तथैव
गृह्य स्वपुरमगात् गतवान् ॥ १०८ ॥

इति श्रीजयमङ्गलसूरिविरचितया जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया

समलंकृते श्रीभट्टिकाव्ये द्वितीयेऽधिकारकाण्डे लक्षणरूपे

पञ्चमः परिच्छेदः लक्ष्यरूपे कथानके सीताहरणः श्रीराम-

प्रवासो नाम पञ्चमः सर्गश्च ।

१ 'राक्षसः कौणपः ऋव्यात् ऋव्यादोऽस्यप आशरः ।' इत्यमरः । २ लुच्
ने इत्यतो लिटि 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् ३।१।२२।' इति
र्थे यङ् । ३ तेपूत्तममिति वाच्यम् 'न निर्धारणे २।२।१।' इति निर्धारणार्थायाः
याः समासानिषेधात् । ४ 'कृतं दातं दितं छितं वृक्वणम्' इत्यमरः । ५ 'क्ष्माऽवनि-
नी मही' इत्यमरः । ६ लङ्कापुरीमित्यर्थः ।

षष्ठः सर्गः ।

अत्राधिकारस्यापरिसमाप्तत्वात्तमेवाममधिकृत्याह--

ओषांचकार कामाग्निर्दशं वक्रमहर्निशम् ।

विदांचकार वैदेही रामादन्यनिरुत्सुकाम् ॥ १ ॥

ओषांचकारेत्यादि--अथशब्दो वक्ष्यमाणतृतीयश्लोके यः सोऽत्र ब्र
व्यः । अथ तस्मिन् सीतापरिग्रहे जाते कामाग्निः कामोऽग्निरिव दश
वक्रं दशाननमोषांचकार ददाह । 'उष दाहे' । 'उषावेदजागृभ्योऽन
तरस्याम् । ३।१।३८।' इत्याम् । अहर्निशं अहश्च निशा च । 'सर्वो द्वं
विभाषैकवद्भवति' इत्येकवद्भावात् । 'कालाध्वनोरस्यन्तसंयोगे । २।३।
इत्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया । अहो नकारस्य 'शोऽसुप्ति । ८ । २ । ६९ ।' इ
रत्वम् । कस्माद्ददाह इत्याह । रावणो वैदेहीमन्यनिरुत्सुकां रामादन
स्मिन् सर्वत्र निरभिलाषां विदांचकार अगुणत्वं विदेस्तथेति विदेरका
न्तनिपातनात् गुणाभावः ॥ १ ॥

प्रजागरांचकारेरीहासुर्निशमादरात् ।

प्रविभयांचकाराऽसौ काकुत्स्थाद्भिशाङ्कितः ॥ २ ॥

प्रजागरांचकारेत्यादि--भरे रामस्य ईहासु चेष्टासु । 'गुरोश्च हलः । ३।
३।१०३।' इत्यकारः । आदरादादरेण प्रजागरांचकार जागरितवान् । शक्तिं
कीर्षितज्ञानपरो वभूवेत्यर्थः । पूर्ववदाम् । अनिशम् अविच्छेदेन । अनि
मिति निशाक्रियाविच्छेदो नान्ति यस्मिन् प्रजागरण इति । निशेति क्रिया
विच्छेदोपलक्षणम् । प्रायेण हि निशायां क्रियाणामप्रवर्तनम् । किंमिति
जागरितवानित्याह । काकुत्स्थादसौ प्रविभयांचकार प्रभीतवान् । 'म
ह्नीभृद्भुवां श्लुवच्च । ३।१।३९।' इत्याम् । श्लुवन्कारिं धातोर्गुणायदेशौ । अभि
शाङ्कितः किमयं करिष्यतीति ॥ २ ॥

न जिह्याञ्चकाराऽथ सीतामभ्यर्थ्य तर्जितः ।

नाप्यूर्जा विभरामात् वैदेह्यां प्रसितो भृशम् ॥ ३ ॥

न जिह्याञ्चकारेत्यादि--सीतामभ्यर्थ्य याचिन्वा न जिह्याञ्चकार न
लज्जितः । तर्जितः भर्त्सितोऽपि तर्कव्यर्थान् । नाप्यूर्जा बलं विभरामात्

धारितवान् । ' कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि ।३।१।४०' इति प्रत्याहारप्रहणादन्तेर-
यनुप्रयोगः । द्वीधातोर्गुणायदेशौ । ' डुभृञ् धारणपोषणयोः' उभयत्रा-
ने पूर्ववदाम् श्लुवच्च । कथं न धारितवान् इत्याह । वैदेहां प्रसिनेः
सक्तः । भृशमत्यर्थम् ॥ ३ ॥

विदांकुर्वन्तु रामस्य वृत्तमित्यवदत् स्वकान् ।

रक्षांसि राक्षितुं सीतामाशिपञ्च प्रयत्नवान् ॥ ४ ॥

विदांकुर्वन्त्वित्यादि—स्वकानात्मीयान् शुकसारणादीन् अवदद्युक्तवान् ।
केमित्याह—रामस्य वृत्तमनुष्ठितं किं तस्येहागन्तुमुद्यमोऽस्ति न वेति विदां-
कुर्वन्तु । 'विदांकुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम् ।३।१।४१' इति निपातितम् । सीतां
राक्षितुं रक्षांसि आशिपदादिष्टवान् । शासः 'सर्तिशास्तर्यतिभ्यश्च ।३।१।
४६' इत्यङ् । 'शास इदङ्हलोः ।६।१।३१' इति शासेरुपधाया इत्वं 'शा-
सिवासिघसीनां च ।८।३।६०' इति पत्वम् । प्रयत्नवान् प्रयत्नपरः ।
आमधिकारो गतः ॥ ४ ॥

अथ प्रकीर्णश्लोकानाह—

रामोऽपि हतमारीचौ निवत्स्यन् खरनादिनः ।

क्रोष्टून् समशृणोत् क्रूरान् रसतोऽशुभशंसिनः ॥ ५ ॥

राम इत्यादि—हतमारीचो रामोऽपि निवत्स्यन् प्रत्यागमिष्यन् । तला-
दिलक्षण इति प्राप्ते 'न वृद्धयश्चतुर्भ्यः ।७।२।५९' इतीप्तिपेधः । क्रोष्टून्
शृणालान् । रसतः शब्दायमानान् । समशृणोत् संश्रुतवान् । सकर्मकत्वान्
'अर्तिश्रुद्दशिभ्यश्चेतिवक्तव्यम् ।' इत्यात्मनेपदं न भवति । लङि रूपम् ।
क्रूरान् भीषणान् । यतः खरनादिनः खरवन्नदन्ति । 'कर्तव्युपमाने ।३।२।-
७९' इति णिनिः । अशुभशंसिनः अनिष्टसूचनशीलान् ॥ ५ ॥

आशङ्कमानो वैदेहीं खादितां निहतां मृताम् ।

स शत्रुघ्नस्य सोदर्यं दूरादायान्तमैक्षत ॥ ६ ॥

आशङ्कमान इत्यादि—तथाविधाशुभश्रवणादाशङ्कमानो पितर्कथन् वैदेहीं
किं खादितां निशाचरादिना । ततः निहतां त्यक्तप्राणाम् । अहो स्वयमेवा-

१ 'तत्परे प्रसितासक्तौ' इत्यमरः । २ राक्षसानिति शपः । ३ विदाङ्कुर्वन्तु जानन्तु
शुस्रतया ज्ञात्वा मां बोधयन्तु चेति भावः । ४ कथञ्चिद्भ्रामचारैश्चोरिता न स्यादिति
मयि च यथाऽनुरक्ता स्यादिति समाहिततयोद्यम्य चेष्टितुमिति भावः ।

युःश्रयान्मृतां वा । स रामः शत्रुघ्नस्य सोदर्य भ्रातरम् । 'सोदराद्यः । ११ । २०९ ।' आयान्तमागच्छन्तमारादैक्षत दृष्टवान् । ईक्षेर्लङि रूपम् ॥ ६ ॥

सीतां सौमित्रिणा त्यक्तां सघ्नीर्चां त्रस्तुमेकिकाम् ।

विज्ञायाऽमंस्त काकुत्स्थः क्षये क्षेमं सुदुर्लभम् ॥ ७ ॥

सीतामित्यादि—सौमित्रेरेकाकिनो दृष्टवान्नियतमनेन त्यक्तेति तां विज्ञा-
ज्ञात्वा काकुत्स्थो रामः । क्षये गृहे । क्षीयतेऽस्मिन्निति अधिकरणेऽ-
क्षेमं कल्याणम् । सुदुर्लभं सुदुःखेन लभ्यत इति । 'ईषद्दुःसुषु कृच्छाकृच्छ-
त्रेषु खल । ३।३।१२६।' इति खल् । अमंस्त ज्ञातवान् । कथं क्षये क्षे-
सुदुर्लभमिति आह—सघ्नीर्चां सहचारिणीं न कचिदेकाकिनीं तिष्ठन्तीम्
सहाञ्चतीति 'ऋत्विग्दधृकृस्त्रगूदिगुण्णिगञ्चुयुजिकृच्चां च ३ । २ । ५९ ।
इति किन् । 'सहस्य सघ्निः । ६।३।९५।' इत्यञ्चतौ वप्रत्य-
सहस्य सघ्न्यादेशः । 'अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्' इति डीप् । 'अ-
६।४।१३८।' इत्यकारलोपः । 'चौ । ६।३।१३८।' इति दीर्घः । कुतः
त्रस्तुं त्रसनशीलाम् । क्रियाशब्दत्वाद्दूङ् न भवति । एकादिनेकाकिनीम्
'असहायामित्यर्थः । लक्ष्मणेनापि त्यक्त्वात् । 'एकादिनिष्ठासहा-
। ५।३।५२।' इति चकारात्कन् । 'प्रत्ययस्थान् कात्पूर्वस्यैत इदाप्यसु-
३।३।४४।' इतीत्वम् ॥ ७ ॥

(एते प्रकीर्णकाः)

अतः परं दुहादिः,

इतो द्विकर्माधिकारः—

गोऽपृच्छलक्ष्मणं सीतां याचमानः शिवं सुरान् ।

रामं ययास्यितं सर्वं भ्राता ब्रूते स्म विह्वलः ॥ ८ ॥

तोऽपृच्छदित्यादि—'अकथितं च । १।४।५१।' इत्यत्र दुहियार्चीत्या-
दिश्लोकस्थान् घातून प्रयुङ्क्ते कविः । तत्र रामोऽपृच्छत् सीतामिति प्रकृतं
कर्म लक्ष्मणमित्यकथितं कर्म । याचमानः प्रार्थयमानः । शिवं कल्याणम् ।

१ लक्ष्मणमित्यर्थः 'समानोदर्यसोदर्यसगर्भसद्व्राः समाः ।' इत्यमरः । २
'निलयापचौ क्षयौ ।' इत्यमरः । ३ 'दुह्याच्चरुदण्डकथिप्रच्छिन्नविद्रुशामुद्रिमयमु-
न् । कर्मयुक्तं गदकथितं तथा न्यासीदकृष्वहाम् ॥' इत्युक्त्वामित्यर्थः । ४ 'अ-
श्रयमं निवं भद्रम्' इत्यमरः ।

धातुं सीतायाः शिवं प्रधानं कर्म सुरान् दवान् इत्यकथितं कर्म । भ्राता
क्षमणः सर्वं यथावत् स्थितं ब्रूते स्म उक्तवान् । सर्वमिति प्रधानं कर्म
समित्यकथितम् ॥ ८ ॥

संदृश्य शरणं शून्यं भिक्षमाणो वनं प्रियाम् ।

प्राणान् दुहन्निवऽऽत्मानं शोकं चित्तमवारुषत् ॥ ९ ॥

सदृश्येत्यादि—रामः शरणं गृहं शून्यं संदृश्य दृष्ट्वा । शोकं चित्तम-
वारुषत् चित्तं शोकं प्रावेशयत् । अन्तः शोकाकुलोऽभूदित्यर्थः । कीदृशः
येयां जानकी वनं भिक्षमाणः 'यदि अश्वत्थ त्वया सीता दृष्टा तर्हि बोधय'
इति गोपिता तर्हि देहि, इत्येवं प्रतिवृक्षं याचमान इत्यर्थः । प्राणान्
दुहन्निव त्यजन्निव । प्राणानिति प्रधानं कर्म आत्मानमित्यकथितम् ।
शांत्मनः प्राणान् त्यजन्निव ॥ ९ ॥

गता स्यादवचिन्वाना कुसुमान्याश्रमद्रुमान् ।

आ यत्र तापसान् धर्मं सुतीक्ष्णः शास्ति तत्र सा ॥ १० ॥

गतेत्यादि—यत्र यस्मिंस्तपोवने सुतीक्ष्णो नाम ऋषिः धर्मं शास्ति शिक्ष-
वति । धर्ममिति प्रधानं कर्म, तापसानित्यकथितम् । तत्र तपोवने गता
स्यात् । सम्भावने छिद् । 'आ' इति आकारो निपातः स्मरणे । किं
कुर्वती कुसुमान्यवचिन्वाना । कुसुमानीति प्रधानं कर्म आश्रमद्रुमानि-
त्यकथितम् । अवचिन्वानोति चिनोतेः कर्त्रभिप्राये तद् । दुष्ट्यादि-
दृण्डको गतः ॥ १० ॥

इति दुहादिर्द्विकर्मकः ।

प्रकीर्णकानाह—

आः कष्टं वत ही-चित्रं हूं मातर्देवतानि धिक् ।

हापितः ! काऽसि हे सुभ्रु ! बह्वेवं विललाप सः ॥ ११ ॥

आः कष्टमित्यादि—शोकेनाक्रान्तमना विलपन्नाह—आः पीडायाम् । पितृ-
वियोगपीडितः आः इत्याह । अस्मद्वियोगेन पिता प्राणांस्त्यक्त्वानित्याभिप्रायः ।
कष्टमित्याह । कष्टं कृच्छ्रम् । भर्तृमरणादस्मद्वियोगाच्च मानुः कावत्थेत्याभिप्राये-

१ 'शरणं गृहरक्षिणोः' इत्यमरः । २ जनकनन्दिन्या रहितमिति भावः । ३ लाक्ष-
णिकोऽयमर्थः । ४ अत्र सर्वत्रेवेतिपदमुख्येक्षायाम् । ५ सुतीक्ष्णाक्षम् इति ऋज्यम् ।
६ 'आस्तु स्यात्कोपपीडयोः' इत्यमरौकैः ।

गाह वत इति । वतशब्दः खेदे^१ । सौमित्रिरपि तथा सीतया अन्यादृशः सम्भ
 वित इति विस्मितो हीत्याह । हीशब्दो विस्मये । यदि नाम स्त्रिया मूर्खता
 तथाभीहंत सौमित्रिणा विदुषा कथं तादृशः शापो दत्त इत्यभिप्राये
 गाह चित्रमिति । चित्रमाश्चर्ये । यदेवंविधोऽपि स्वलतीति । सर्वमेव दुर्जा
 कैकेयीप्रभवमिति क्लुध्यन् हूं मातारित्याह । हूंशब्दः क्रोधे^२ । अथवा सं
 मेतत् दैवतचेष्टितं न ममानुष्ठितमित्यभिप्रायेणाह धिग्दैवतानीति । वि
 कुत्सायाम् । प्राणांस्त्यक्तवन्तमपि पितरं पुनरहं द्रष्टास्मीत्यभिप्रायेणाह
 हा पितः क द्रष्टव्योऽसीति । हा शोके । हे सुभ्रु सुभ्रूः (सीते) क गतासीति
 भ्रूशब्दात् 'अप्राणिजातेश्चरज्ज्वादीनामुपसंख्यानम्' इत्युङ् । उवर्णान्त
 मात्रस्य विधानाद्बहुव्रीहिः । उपसर्जनत्वं च । पुनः स्त्रियामूङ् । 'अन्त
 दिवच्च । ६।१।८।५।' इति पूर्वं प्रत्यन्तवत्त्वात् प्रातिपदिकत्वम् । अतः सम्बुद्ध
 हत्वत्वम् । विललाष स एवं कृत्वा वहनेकप्रकारं विलापं कृतवान् ॥ ११

इहाऽऽसिष्टाऽशयिष्टेह सा सखेलमितोऽगमत् ।

अग्लासीत् संस्मरन्नित्यं मैथिल्या भरताऽग्रजः ॥ १२ ॥

इहत्यादि-इह आस्मिन् प्रदेशे आसिष्ट उपविष्टा । 'इदमो हः । ५।३
 ११।' । 'इदम इश् । ५।३।३।' इह । अशयिष्ट शयितवती । आसेः शीव
 अ लुङ् । सखेलं सलीलम् । इतः प्रदेशादगमत् गतवती । इत्यमेवंप्रका
 रम् । मैथिल्याः स्मरन् । 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि । २।३।५२।' इति
 कर्मणि षष्ठी । भरताग्रजो रामोऽग्लासीत् ग्लानिं गतः । ग्लायतेलुङ्
 'यमरमनमातां सक् च । ७।२।७३।' इति सगिटौ ॥ १२ ॥

इदं नक्तंतनं दाम पौष्पमेतद्विवातनम् ।

शुचेवोद्ब्रध्य शाखायां प्रग्लायति तथाविना ॥ १३ ॥

इदमित्यादि-नक्तंतनं निशाभवं इदं दाम, पुष्पमालां पुनाद्विवात
 दिवसभवम् । 'सायंचिरंप्राहेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च । ४। ३।२३।
 इति ट्युट्युलौ तुट् च । पौष्पं पुष्पाणामिति तस्येदमित्यण् । शुचे
 शोकेनेव । 'सम्पदादिभ्यः क्विप्' इति क्विप् । शाखायां वस्त्रादिनोद्ब्रध्य

१ 'वेदानुकम्पासन्तोपविस्मयामन्त्रणे वत' इत्यमरः । २ सौमित्रिः लक्ष्मणः

३ 'जहो ही च विस्मये ।' इत्यमरेक्तेः । ४ हूं हुंनाहस्त्वेटिकं द्यः यः द्विप्रयोगदर्शनात्

५ 'दशरथेत्यर्थः । ६ 'आस उपवेगने' लुङ् । ७ 'परिहाररूपत्वेनापूर्वनिर्णयः'

इदंक्रिया विशेषणम् ।

आत्मानमित्यर्थात् । प्रग्लायति प्रकर्षेण ग्लानिं गच्छति । ग्लायतेः
शित्यायादेशः । शाखायां प्रलम्बमानं ग्लानिं गच्छन्तं वीक्ष्येदमुत्प्रेक्षे-
त् । कुतः शोकात्तया विना सीताविच्छेदेन ॥ १३ ॥

ऐक्षिष्महि मुहुः सुप्तां यां मृताऽऽशङ्कया वयम् ।

अकाले दुर्मरणमहो यज्जीवामस्तया विना ॥ १४ ॥

ऐक्षिष्महीत्यादि—यां वयमैक्षिष्महि ईक्षितवन्तः । ईक्षेः सेटो लुङ् ।
मुहुः सुप्तां अविच्छिन्ननिद्रत्वात् । मृताशङ्कयेति अनिष्टशंसित्वान् प्रिय-
जनहृदयस्य । इदानीं तया सीतया विना अहो वयं यज्जीवामस्तद-
काले दुर्मरणमिति विललाप । जीवितस्यापूर्णकाले । दुःखेन मरणमि-
ति भावे खल ॥ १४ ॥

अक्षेमः परिहासोऽयं परीक्षां मा कृथा मम ।

मत्तो मा ऽन्तर्हिथाः सीते! मा रंस्था जीवितेन नः ॥ १५ ॥

अक्षेम इत्यादि—परिहसन्तं परिहासः क्रीडा । अयमक्षेमो न कल्याण-
करः । मम परीक्षां किं मामपश्यन् दुःखित आस्ते न वेति मा कृथाः
मा कार्पाः । अपि तु दर्शयात्मानम् मा निलीयस्व । ‘उश्च । १।२।१२।’
इति कित्वाद्गुणाभावः । ‘ह्रस्वादङ्गान् । ८।२।२७।’ इति सिचो लोपः ।
तस्माद्धेतोः सीते मान्तर्हिथाः । अन्तर्हिता मा भूः । ‘अन्तर्घौ येना-
दर्शनमिच्छति । १।४।२८।’ इत्यपादानसंज्ञायां ‘पञ्चम्यास्तसिः’ । ‘प्रत्य-
योत्तरपदयोश्च । ७।२।९८ ।’ इति मदादेशः । लुङि ‘स्थाध्वो-
रिच्च । १ । २ । १७ ।’ इति सिचः कित्त्वमित्त्वं च । ‘ह्रस्वादङ्गान् । ८ ।
२ । २७ ।’ इति सिचो लोपः । नोऽस्माकं जीवितेन मा रंस्थाः क्रीडां मा
कार्पाः । रमेरात्मनेपदित्वात्तच् ॥ एते प्रकीर्णकाः श्लोकाः ॥ १५ ॥

अतः परं सिजधिकारः ।

सिचं सापत्रादमाधिकृत्याह—

अहं न्यवधिपं भीमं राक्षसं क्रूरविक्रमम् ।

मा घुक्षः पत्युरात्मानं मा न श्लिषः प्रियं प्रिये ॥ १६ ॥

अहमित्यादि—यतोऽहं राक्षसं मारीचं क्रूरविक्रमं भीमं भयानकं न्यवधिषं
निहतवानस्मि । हन्तेः, ‘लुङि च । २ । ४ । ४३ ।’ इति वधादेशः । अदन्त-
त्वाद्ब्रूद्धपभावः । तस्मान्मा घुक्षः न गोपय पत्युरात्मानम् । ‘अन्तर्घौ येनादर्श-

नामिच्छति १ । ४ । २८ । इत्यपादानत्वम् । 'ख्यत्यात्परस्य । ६ । १ । ११२
इत्युत्वम् । गुहेः 'शल इगुपधादनिटः क्सः । ३ । १ । ४५ ।' । 'हो टः
८ । २ । ३१ ।' भणभावकत्वपत्वानि । सिपश्च विसर्जनीयः । मा न श्लि
मा न परिरब्धाः अपि तु श्लिष्य भ्रियं माम् । हे भ्रिये । 'श्लिष्य आलिङ्गने
३ । १ । ४६ ।' इति क्सः ॥ १६ ॥

मा स्म द्राक्षीर्भृषा दोषं भक्तं मां मातिचिक्लिशः ।

शैलं न्वशिश्रियद्वामा नदीं नु प्रत्यदुद्रुवत् ॥ १७ ॥

मा स्मेत्यादि—मृषा दोषं व्यलीकं दोषं मा द्राक्षीः । मयीत्यर्थात् 'स्मोत्
लङ् च । ३ । ३ । १७६ ।' इति चकाराल्लुङ् । 'शल इगुपधादनिटः क्स
३ । १ । ४५ ।' इति क्सस्य ' न दृशः । ३ । २ । ४७ ।' इति निषेधः
'इरितो वा । ३ । १ । ५७ ।' इत्यङ्भावे सिच् । 'सृजितशोईत्य
मकिति । ६ । १ । ५८ ।' इत्यम् । हलन्तलक्षणा वृद्धिः । 'ब्रश्चभ्रस्जसृज
मृजयजराजभ्राजच्छशां पः । ८ । २ । ३६ ।' इति पत्वम् । यतोऽ
भक्तस्ततो मां भक्तं मातिचिक्लिशः नातिक्लेशयः । क्लिशेर्ण्यन्तान् सिपि
'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्त्तरि चङ् । ३ । १ । ४८ ।' इति चङ् । णिलोपह्रस्वद्विव
नानि । पुनर्विकल्पयन्नाह । मायि दोषदर्शनाद्वामा मत्प्रतिकूलवर्तिनी सती शै
नु पर्वतं कमप्यशिश्रियदाश्रिता उत नदीं प्रत्यदुद्रुवत् प्रातिगतेत्यर्थः । नुशब्दं
वितर्कं । पूर्ववच्चङ् ॥ १७ ॥

ए वाचं देहि धैर्यं नस्तव हेतोरसुस्रुवत् ।

त्वं नो मतिमिवाऽधासीर्नष्टा प्राणानिवाऽदधः ॥ १८ ॥

ए वाचमित्यादि—ऐशब्दो निपातोऽभिमुखीकरणे वर्तते । वाचं देहि ।
प्रार्थनायां लोट् । 'व्वसोरेद्वावभ्यासलोपश्च । ६ । ४ । ११९ ।' इत्येत्वम् ।
किमिति चेद्वाह । धैर्यं नोऽस्माकं धरिता तव हेतोरसुस्रुवन् गलितम् । नष्टा
अदर्शनं गता सती त्वं नोऽस्माकं मतिं बुद्धिमधासीरिव पीतवतीव । बुद्धेः
पगमान् । 'विभाषा घेट् व्योः । ३ । १ । ४९ ।' इति यदा न चङ् नः
'यमरमनमातां सकृ च । ७ । २ । ७३ ।' इति सगिटौ । प्राणानदधः पीत
वती । कायस्याचेष्टत्वात् । चङि रूपम् । 'आतो लोपः । ६ । ४ । ६४ ।' ॥ १८ ॥

रुदतोऽशिश्वयञ्चक्षुरास्यं हेतोस्तवाश्वयीत् ।

त्रियेऽहं मां निरास्थश्चेन्मा न वोचश्चिकीर्षितम् ॥ १९ ॥

रुदत इत्यादि—तवार्यं त्वां पश्यामीति रुदतो मम चक्षुरशिश्वयन् उच्छ्र-
म् । अस्यं मुखं चाश्वयीत् । 'विभाषा घेट्श्च्योः । ३ । १ । ४९ ।' इति
वङ्सिचौ । चङीयङ् । 'हयन्तक्षणश्चसजागृणिश्च्येदिताम् । ७ । २ । ५ ।'
इति न वृद्धिः । 'इट् इटि । ८ । २ । २८ ।' इति सिचो लोपः । गुणाचादेशी ।
मां निरास्थश्चेद्यदि मम दर्शनं निरस्तवती त्वं तदा त्रियेऽहम् । 'त्रियतेर्लुङ्-
लेङोश्च । १ । ३ । ६१ ।' इति चकाराच्छित्यात्मनेपदम् 'रिङ्शयारिङ्क्षु
। ४ । २८ ।' इति रिङ् । अतो यत्त्वया चिकीर्षितं कर्तुमिष्टं तन्मा
वोचः मा न भाषिष्ठाः अपि तु ब्रूहि । 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् । ३ ।
५२ ।' इत्यङ् । 'वच उम् । ७ । ४ । २०' ॥ १९ ॥

लक्ष्मणाऽऽक्ष्व यद्याख्यत् सा किञ्चित् कोपकारणम् ।

दोषे प्रतिसमाधानमज्ञाते क्रियतां कथम् ॥ २० ॥

लक्ष्मणत्यादि--हे लक्ष्मण यदि सा किञ्चित्कोपकारणमाख्यदुक्तवती ।
[तेनाप्रियमाचरितम् । पूर्ववदङ् । तदाचक्ष्व कथय । अज्ञाते दोषे अनिर्धा-
ते प्रतिसमाधानं कथं क्रियताम् । अनुष्ठीयतां नैवंति भावः । कर्मणि लोट् ।
रिङ्शयङ्लिङ्क्षु । ७ । ४ । २८ ।' इति रिङ् ॥ २० ॥

इह सा व्यलिपद्गन्धैः स्नान्तीहाऽभ्यपिचज्जलैः ।

इहाऽहं द्रष्टुमाह्वं तां स्मरन्नेवं मुमोह सः ॥ २१ ॥

इहेत्यादि—इह प्रदेशे सा सीता गन्धैर्व्यलिपत् समालिप्तवती ।
। मात्मानं चत्यर्थात् । इह स्नान्ती क्रीडापूर्वकमभ्यपिचत् । हस्तयन्त्रमुक्तस-
ञ्जलेन मार्मभिमुखं सिक्तवतीत्यर्थः । 'प्राक्सिताङ्गव्यवायेऽपि । ८ । ३ । ६३ ।'
ति पत्वम् । इह द्रष्टुं तामाह्वम् आहूतवान् । 'लिपि सिचि ह्रश्च । ३ । १ । ५३ ।'
ति च्लेरङ् । एवं स्मरन् मुमोह मोहं गतवान् ॥ २१ ॥

तस्यालिपत शोकाऽग्निः स्वान्तं काष्ठमिव ज्वलन् ।

अलिप्तेवानिलः शीतो वने तं न त्वजिह्वदत् ॥ २२ ॥

१ 'वक्रास्ये वदने तुण्डे' इत्यमरः । २ मां शमामिति भावः । ३ सीतामित्यर्थः ।

तस्येत्यादि—तस्य रामस्य स्वान्तं मनः । 'क्षुब्धस्वान्तध्वान्तल
म्लिष्टविरिब्धफाण्टवाढानि मन्थमनस्तमःसक्ता विस्पष्टस्वरानायासभृः
। ७ । २ । १८ ।' इति निपातितम् । शोकाग्निः शोको ऽग्निरिव । अलि
दीपितवान् । परस्मैपदेषु 'लिपि सिचिह्वश्च । ३ । १ । ५३ ।' इति नि
प्राप्ते 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् । ३ । १ । ५४ ।' इति विकल्पेना
'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले । १ । ३ । ७२ ।' इति क्रि
कलविवक्षायामात्मनेपदम् । काष्ठामिव स्वान्तं ज्वलन् अभिवर्धमानः
अनिलो वायुः शीतोऽपि सन् वने तं राममलिप्रेव दीपितवानिव । अडभ
वपक्षे 'झलो झलि । ८ । २ । २६ ।' इति सिचो लोपः । नतु नैवा
हदत् ह्रादितवान् । शोकाग्नेरुद्बुद्धत्वात् । ह्रादेष्यन्तात् । 'णिश्रिदुसुभ
कर्त्तरि चङ् । ३ । १ । ४८ ।' इति चङ् ॥ २२ ॥

ज्ञानभ्यषिचताम्भोऽसौ रुदन्दयितया विना ।

तथाभ्यपिक्त वारीणि पितृभ्यः शोकमूर्च्छितः ॥ २३ ॥

ज्ञानित्यादि—असौ रामो दयितया सीतया विना । शोकमूर्च्छितः
शोकेन मोहं नीतः । स्नातुमारब्धः । मूर्च्छेर्हेतुमण्यन्तस्य रूपम् । 'ष्णा शी
शतृप्रत्ययः । रुदन् अश्रु विमुञ्चन् । अम्भः सलिलं अभ्यपिक्त क्षिप्तवान्
शिरस्यञ्जलिना । तथा स्नातः पितृभ्यो वारीणि अभ्यपिक्त दत्तवान्
सिचेः पूर्ववद्विभाषाऽङ् । सिचिरत्रोत्सर्गो वर्तते । ततश्चार्थान्तरवृत्ति
जलस्य कर्मत्वम् । अभ्युक्षणे तु करणत्वं यथा जलेन सिञ्चतीति ॥ २३ ॥

तथातोऽपि क्रियां धर्म्यां स काले नामुचत्कचित् ।

महतां हि क्रियां नित्या छिद्रे नैवावसीदति ॥ २४ ॥

तथेत्यादि—स रामस्तेन प्रकारेणातोऽपि क्वचिदपि धर्म्यां क्रियां क
नामुचन् न त्यक्तवान् । यतो महतां सत्यपि छिद्रे व्यसने नित्या क्रि
नावसीदति नापयति । आङ्पूर्वादत्तेः क्रणोतेर्वा निष्ठायां ऋति धातो वृद्धिः
मुचेः लृदनुबन्धत्वादङ् । 'कृञः श च । ३ । ३ । १०० ।' रिडिड्यर्त्त ॥ २४ ॥

आहास्त स मुहुः शूरान् मुहुराहत राक्षसान् ।

एत सीताद्रुहः संख्ये, प्रत्यथयत राघवम् ॥ २५ ॥

१ 'स्वान्तं हन्मानसं मनः ।' इत्यमरः । २ शोक एवाग्निरिति वा । ३ सन्त
रासनादिह्यामित्यर्थः । ४ अत्रार्थान्तरन्यासः सामान्येन त्रिंशत्पयमर्थनाम्ना ।

सीतां जिघांसू सौमित्रे ! राक्षसावारतां ध्रुवम् ।

इदं शोणितमभ्यग्रं सर्पहारेऽच्युततयोः ॥ २८ ॥

सीतामित्यादि—इत्थेवं लक्ष्मणायाशिषदिति श्लोकचतुष्टयं यावत्सम्-
 ष्यते । हे सौमित्रे सीतां हन्तुमिच्छन्तौ राक्षसावारतामागताविति ध्रुवं निश्चि-
 तम् । अर्तेराङ्पूर्वात्पूर्ववद्ङ् । ‘ऋदृशोऽङि गुणः । ७ । ४ । १६ ।’ इति
 गुणः । कीदृशौ सीतां जिघांसू हन्तुमिच्छू । हन्तेः सन्ति ‘अञ्जनगमां सन्ति
 । ६ । ४ । १६ ।’ इति दीर्घः । ‘अभ्यासाच्च । ७ । ३ । ५५ ।’ इति कुत्वम् । तथै-
 हि-तयोः सीताद्वेषानुनयाभ्यां संप्रहारे युद्धे इदं शोणितम् अच्युत-
 गलितम् । ‘च्युतिर्क्षरणे’ । अकर्मकोऽत्र । ‘इरितो वा । ३ । १ । ५७ ।’ इत्-
 ङ् । अभ्यग्रं प्रत्यग्रम् ॥ २८ ॥

इदं कवचमच्योतीत् साऽश्वोऽयं चूर्णितो रथः ।

एह्यमुं गिरिमन्वेष्टुमवगाहावहे द्रुतम् ॥ २९ ॥

इदमित्यादि—इदं कवचमच्योतीत् भ्रष्टम् । अङ्भावे सिजेव भवति ।
 अयं रथः सौश्वश्चूर्णित आस्ते । यतश्चैवं तस्मादेहि आगच्छ द्रुतम् । किं पश्चा-
 द्विलम्बसे । अमुं गिरिमवगाहावहे विलोडयावः । अन्वेपावहै इत्यर्थः ।
 किमर्थम् अन्वेष्टुम् । सीतामित्यर्थात् । एतत्सर्वं पर्वतसमीपे कथ्यते ॥ २९ ॥

मन्युर्मन्ये ममाऽस्तम्भीद् विपादोऽस्तभदुद्यतिम् ।

अजारीदिव च प्रज्ञा बलं शोकात् तथाजरत् ॥ ३० ॥

मन्युरित्यादि—मन्युः शोकः । मन्ये सम्भावये मम क्रन्दतो रामम्
 उच्छृतेनेत्रे इति शेषः । अस्तम्भीन् स्तब्धवान् । तथा विपाद उद्यतिम् उद्यम-
 मित्यर्थः । अस्तभत् । अत्र पक्षे अनुनासिकलोपः । प्रज्ञा च तत्त्वविवेकिनी
 बुद्धिः अजारीत् विवेकवैकल्यात् । जीर्णव । तथाशब्दः समुच्चये । बलं
 शोकादजरत् जीर्णम्, स्वकार्याकरणात् । ‘ऋदृशोऽङि गुणः । ७ । ४ । १६ ।’ इति
 गुणः । ‘जृस्तम्भुञ्चुम्बुचुयुचुगुलुचुगुलुश्चिभ्यश्च । ३ । १ । ५८ ।’ इति सिजङौ ॥ ३० ॥

गृध्रस्येहाश्वतां पक्षौ कृत्तौ वीक्षस्व लक्ष्मण ।

जिघत्सोर्नृनमापादि ध्वंसोऽयं तां निशाचरात् ॥ ३१ ॥

१ यद्यपि रथस्यैव चूर्णितत्वम्, न तु तदीयानाम् अश्वानाम्, अथापि प्राधान्यादि-
 दमुक्तम् । एवं च रथश्चूर्णितोऽश्वा हताश्वेति वक्तव्यम् ।

गृध्रत्येत्यादि—हे लक्ष्मण । इह प्रदेशे गृध्रस्य पक्षौ कृत्तौ छिन्नौ । अश्वतां
 णौ । पूर्ववदङ्गि 'श्रयतेरः । ७।४।१८।' इति । वीक्षस्व नूनमवश्यं सीतां
 वत्सोरत्तुमिच्छोगृध्रस्य । अदेः 'लुङ् सनोर्घस्त्व । २।४।३७।' निशाचरादयं
 सः पक्षच्छेद आपादि उत्पन्नः । कर्तरि लुङ् । 'चिण् ते पदः । ३।१।६०।'
 । च्लेञ्चिणादेशः । तश्चदस्य 'चिणो लुक् । ६।४।१०४।' ॥ ३१ ॥

क्रुद्धोऽदीपि रघुव्याघ्रो रक्तनेत्रोऽजनि क्षणात् ।

अवोधि दुःस्थं त्रैलोक्यं दीप्तैरापूरि भानुवत् ॥ ३२ ॥

क्रुद्ध इत्यादि—तदेवं रघुव्याघ्रो रामः क्रुद्धोऽदीपि दीप्तवान् । क्षणाच्च
 क्तनेत्रोऽजनि जातः । 'जनिवध्योश्च । ७।३।३५।' इति न वृद्धिः । त्रैलोक्यं
 रहन्मि यस्मिन् हन्यमाने सीताद्रुहोऽपि नश्यन्ति इत्यभिप्रायेण दुःस्थम-
 वोधि बुध्यते स्म । किंवा रामस्य दारा हियन्ते तदान्येषु का कथा, इति
 स्थं त्रैलोक्यमवोधि । दीप्तैस्तेजोभिर्हेतुभिरापूरि वर्धते स्म । भानुवदादित्य-
 त् । दीप्तरिति भावे निष्ठा । सर्वत्र कर्तरि लुङ् । 'दीपजनबुधपूरितायि-
 यायिभ्योऽन्यतरस्याम् । ३।१।६१।' इति चिण् ॥ ३२ ॥

अताय्यस्योत्तमं सत्त्वमप्यायि कृतकृत्यवत् ।

उपाचायिष्ट सामर्थ्यं तस्य संरम्भिणो महत् ॥ ३३ ॥

अतायीत्यादि—अस्य रामस्य उत्तमं सत्त्वमभिप्रायः शोकव्यसनयोरविका-
 त्वात् अतायि सन्ततं नान्तरा विच्छिद्यते स्येत्यर्थः । अप्यायि वृंहितम् ।
 कृतकृत्यवत् समाप्तक्रियवत् । हस्ततलस्थं शत्रुबधं मन्यमानस्यास्य रामस्ये-
 यर्थः । उभयत्रापि पूर्ववाच्चिण् । तस्य रामस्य संरम्भिणोः शत्रुविषये क्षुभि-
 चित्तस्य सामर्थ्यं बलं महदुपाचायिष्ट स्वयमेवोपचीयते स्म । वर्धते स्येत्यर्थः ।
 वनोतेः 'अचः कर्मकर्तरि । ३।१।६२।' इति वा चिण् । पक्षे चिण्वादिट् ॥ ३३ ॥

अदोहीव विषादोऽस्य समरुद्धेव विक्रमः ।

समभावि च कोपेन न्यश्वसोच्चाऽऽयतं मुहुः ॥ ३४ ॥

अदोहीत्यादि—अस्य रामस्य विषादः प्रागुत्पन्नोऽदोहीव स्वयं क्षरित
 व । अथवा अदोहीव प्रपूर्यते स्मेव । 'दुहश्च । ३।१।६३।' इति णिच् ।
 विक्रमः पुरुषकारः समरुद्धेव स्वयं संरुध्यते स्म इव । 'कर्मवत् कर्मणा तुल्य-

१ रघुश्रेष्ठ इत्यर्थः । 'स्युश्चरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जराः । सिंहशार्दूलनागाद्याः
 षिः श्रेष्ठार्थनोचराः ॥' इत्यमरः । २ 'आवेशारोपसंरम्भाः' इति त्रिकाण्डशेषः
 । 'विक्रमस्त्वतिशक्तिता ।' इत्यमरः ।

क्रियः । ३१।८७।' इति कर्मवद्भावेन प्राप्तस्य चिणः 'न रुधः । ३१।६४।' इति निषेधः । तेन सिजेव भवति । 'झलो झलि । ८।२।२६।' इति सिचं लोपः । 'झपस्तथोर्धोऽधः । ८।२।४०।' । झलां जझ झशि । ८।४।५३।' इति धत्वजश्त्वे । कोपेन च समभावि सम्भूतम् । 'चिण् भावकर्मणो । ३।१।६६।' इति भावे चिण् । त्रैलोक्यदौःस्थ्यावबोधाज्जातखेदः सन् आवत् दीर्घं न्यश्चसीत् निःश्चसितवान् । 'ह्यन्तक्षणश्चसजागृणिश्चेदिताम् । ७।२।१।' इति वृद्धिर्न भवति । मुहुरिति सर्वत्र योज्यम् ॥ ३४ ॥ इति सिजधिकारः ॥

अयाऽऽलम्ब्य धनू रामो जगर्ज गजविक्रमः ।

रुणधिम सवितुर्मार्गं भिनद्धि कुलपर्वतान् ॥ ३५ ॥

इतः प्रभृति श्रम्प्रकरणमधिकृत्याह—

अथेत्यादि—अथानन्तरं गजस्य विक्रम इव विक्रमो यस्य तादृशो रामो धनुरालम्ब्य गृहीत्वा जगर्ज विस्फूर्जितवान् । धनू राम इति 'द्वलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽपि । ६।३।१११।' इति दीर्घः । 'गर्ज गर्जने' । किं जगर्ज । सवितुः सूर्यस्य मार्गं पन्थानं रुणधिम आवृणोमि । शरैरित्यर्थान् । 'रुधादिभ्यः श्रम् । ३।१।७८।' तथा भिनद्धि विदारयामि कुलपर्वतान् ॥ ३५ ॥

रिणच्चिम जलधेस्तोयं विविनच्चिम दिवः सुरान् ।

क्षुणद्धि सर्पान् पाताले छिनद्धि क्षणदाचरान् ॥ ३६ ॥

रिणच्चिमोत्यादि—जलधेस्तोयं रिणच्चिम रिक्तीकरोमि । रिचिर् विरेचने । दिवः स्वर्गान् सुरान् विविनच्चिम पृथक्करोमि । विचिर् पृथग्भावे । 'क्षुणद्धि चूर्णयामि सर्पान् पाताले । 'क्षुदिर् पेपणे ।' अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि । ८ । ४ । २ ।' इति णत्वम् । छिनद्धि क्षणदाचरान् राक्षसान् द्विधा करोमि । 'छिदिर् द्वैधीकरणे' ॥ ३६ ॥

यमं युनज्जिम कालेन समिन्धानोऽस्त्रकौशलम् ।

शुष्कपेपं पिनप्पयुर्वीमखिन्दानः स्वतेजसा ॥ ३७ ॥

यममित्यादि—यममपि कालेन तदधीनेन मृत्युना युनज्जिम सम्बन्धामि । अस्त्रकौशलं समिन्धानः संवर्धयन् । विन्धी दीप्ता । 'आत्मनेपदिनो लटः

१ महेन्द्रादीन् पर्वतानित्यर्थः । 'महेन्द्रो मलयः सद्यः शक्तिमानृक्षपर्वतः ।

विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः ॥' इत्युक्तेः । २ क्षणदायां राक्षः

घरन्तीति तान् ।

१ । श्रान्नलोपः । ६ । ४ । २३ । 'असोरल्लोपः । ६ । ४ । १११ ।' उर्वी
 मे शुष्कां कृत्वा चूर्णयामि । पिण्ड् संचूर्णने । शुष्कचूर्णरक्षेपु पिपः
 । ५ । ३५ ।' इति णमुल् । अखिन्दानः स्वतेजसा स्वपराक्रमेण दैन्यम-
 अपरिश्राम्यन् । 'खिद दैन्ये ।' पूर्ववल्लोपः ॥ ३७ ॥

भूतिं तृणञ्चि यक्षाणां हिनस्मीन्द्रस्य विक्रमम् ।
 भनञ्चि सर्वमर्यादास्तनच्चि व्योम विस्तृतम् ॥ ३८ ॥

भूतिमित्यादि—यक्षाणां भूतिं सम्पदं तृणञ्चि उत्सादयामि । 'उत्तुदिर्
 ऽनादरयोः ।' इन्द्रस्य विक्रमं हिनस्मि अपनयामि । 'हिसि हिंसा-
 ।' इदितो नुम् धातोः । ७ । १ । ५८ ।' तस्य श्रान्नलोपः । सर्व-
 षाश्च व्यवस्थाः सर्वेषां भनञ्चि मर्दयामि । 'भञ्जो आमर्दने ।' 'शना-
 पः । ६ । ४ । २३ ।' तनच्चि व्योम विस्तृतं सङ्कोचयामि । 'स्तृञ् आच्छा-
 सौवादिकस्य रूपं न 'स्तृञ् आच्छादने' इति क्रैयादिकस्य । तञ्च
 चने ।' 'श्रान्नलोपः । ६ । ४ । २३ ।' ॥ ३८ ॥

स्मादेवं प्रवृत्तस्त्वमिति चेदाह—

न तृणेह्यीति लोकोऽयं मां विन्ते निष्पराक्रमम् ।

एवं वदन् दाशरथिरपृणग् धनुषा शरम् ॥ ३९ ॥

न तृणेह्यीत्यादि—न तृणेह्यि न मारयामि इति कृत्वा । 'तृह हिंसि
 णायाम् ।' शनम् । 'तृणह इम् । ७ । ३ । ९२ ।' अयं लोको मां नि-
 ष्पराक्रमं निर्वीर्यं विन्ते विचारयति । 'विद् विचारणे' इत्यस्मादात्मनेप-
 ः । शनम् । अल्लोपः । एवमुक्तेन प्रकारेण वदन् दाशरथिः धनुषा शरम् ।
 णक् पृणक्ति स्म । संयोजयामासेत्यर्थः । 'पृ वी संपर्के ।' लङ्ङि शनम् हल्ङ्घा-
 शेषः कुत्वम् ॥ इति शनम् विकरणनिदर्शनम् ॥ ३९ ॥

इतः प्रकीर्णकश्लोकानाह—

न्यवर्तयत् सुमित्राभूस्तं चिकीर्षुं जगत्क्षयम् ।

ऐक्षेतामाश्रमादाराद् गिरिकल्पं पतत्रिणम् ॥ ४० ॥

न्यवर्तयदित्यादि—तं रामं जगत्क्षयं चिकीर्षुं कर्तुमिच्छुम् । सुमित्राभू-
 ः णो न्यवर्तयत् निवर्तितवान् । 'भ्रातः अलं कोपेन, त्वया सार्धं कः

१ दसुधोर्वी व सुन्धरा ।' इत्यमरः । २ 'तेजः प्रभावे दीप्तौ च वले शुक्ले'
 यमरः । ३ 'विभूतिर्भूतिरैश्वर्यम्' । इत्यमरः । ४ व्योम आकाशमित्यर्थः ।
 योम् पुष्करमम्बरम् ।' इत्यमरः ।

संग्रामे युद्धं दातु समर्थः ? अपि तु न कोऽपीत्थर्थः यदत्र युक्तं तत्प्रतिभि
धीयताम्' इति । भवनं भूः । ' सम्पदादिभ्यश्च' इति क्तिप् । सुमित्राय
भूर्यस्य । ऐक्षेतां रामलक्ष्मणौ दृष्टवन्तौ । ' ईश दर्शनाङ्कनयोः' इत्य
लङि रूपम् । पक्षिणं गिरिकल्पं महाप्रमाणत्वात् । आश्रमादारार्त् समीपे
'दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् । २ । ३ । ३४ ।' इति पञ्चमी ॥ ४० ॥

तं सीताघातिनं मत्वा हन्तुं रामोऽभ्यधावत ।

मा वधिष्ठा जटायुं मां सीतां रामाऽहमैक्षिषि ॥ ४१ ॥

तमित्यादि-—तं सीताघातिनं सीता हताऽनेनेति मत्वा रामो हनिष्यामी-
त्यभ्यधावत । 'धावु गति-शुद्धयोः ।' इत्यस्माल्लङि स्वरितेत्त्वादात्मनेपदम् । तं
हन्तुमुद्यतं रामं जटायुराह मा वधिष्ठा इति । 'हे राम मां जटायुं मां वधि-
ष्ठा मा वधीः ।' 'वध बन्धने' इत्यस्मादनेकार्थत्वादात्मनेपदिनः सेटो लुङि
रूपं, न हन्तेः तस्य परस्मैपदित्वात् । सस्यप्याङि 'आङो यमह्नः । १ । ३ । २८'
इत्यात्मनेपदं न भवति, तत्राकर्मकादित्यनुवृत्तेः । स्वनामपरिकीर्तनं तव पितु-
रहं सखेति ख्यापनार्थम् । सीतामैक्षिषि दृष्टवानहम् । लुङुत्तमैकवचने रूपम् ।
अतो मां मा वधिष्ठाः ॥ ४१ ॥

अथ साधेनान्वयः-

उपास्थितैवमुक्ते तं सखायं राघवः पितुः ।

पप्रच्छ जानकीवार्ता संग्रामं च पतात्रिणम् ।

ततो रावणमारुयाय द्विपन्तं पततां वरः ॥ ४२ ॥

उपास्थितेत्यादि—पक्षिणवमुक्ते सति राघवस्तं व्रणभङ्गाद्यनुष्ठानेन उपा-
स्थित परिचरितवान् । सङ्गतकरणे आत्मनेपदम् । स्थाव्वोरिच्च । १ । २ ।
१७ ।' इतीत्वम् । 'ह्रस्वादङ्गात् । ८ । २ । २७ ।' इति सिचो लोपः । पितुः
सखायमिति सखिशब्दस्य द्वितीयैकवचने रूपम् । 'सख्युरसम्बुद्धौ । ७ । १ । १९'
इति णित्वाद् वृद्धिरायादेशः । पप्रच्छ षृष्टवान् तं पक्षिणं जटायुम् । द्वि
जानकीवार्ता संग्रामं च । तत उपस्थानानन्तरं रावणं द्विपन्तं शत्रुम् 'द्वियो-

त्रे । १३२ । १३१ ।' इति शतृप्रत्ययः । आख्याय सीता रावणेन हृतेति कययि-
। पततीं पक्षिणां वरो जटायुर्ममारेति परेणान्वयः ॥ ४२ ॥

व्रणवेदनया ग्लायन्ममार गिरिकन्दरे ।

तस्याश्रयम्बुक्रियां कृत्वा प्रतस्थाते पुनर्धनम् ॥ ४३ ॥

व्रणेत्यादि—व्रणकृता वेदना पीडा । मध्यमपदलोपी समासः । तथा ग्ला-
र ग्लानिं गच्छन् । शतर्यायादेशः । ममार मृतः । क गिरिकन्दरे यं गिरि-
वस्तृपत् तस्य निम्नप्रदेशे । कन्दं रातीति । कं दारयतीति वा व्युत्पत्तिमात्रम् ।
य जटायोरन्यम्बुक्रियां दाहमुदकदानं च कृत्वा पुनर्भूयो वनमरण्यं प्रतस्था-
प्रस्थितौ । 'समवप्रविभ्यः स्थः । १ । ३ । २२ ।' इत्यात्मनेपदम् ॥ ४३ ॥

सत्त्वानजस्रं घोरेण बलाऽपकर्षमश्रता ।

क्षुध्यता जगृहाते तौ रक्षसा दीर्घबाहुना ॥ ४४ ॥

सत्त्वानित्यादि—तौ रामलक्ष्मणौ रक्षसा राक्षसेन जगृहाते गृहीतौ । कर्मणि
ष्ट् । किनाम्ना दीर्घबाहुना । अन्वर्था चेयं सञ्ज्ञा । एक एकेन बाहुना द्वितीयो
तीयेनेति । क्षुध्यता बुभुक्षमाणेन घोरेण भीमेन । सत्त्वान् प्राणिनः अजस्रं
दा । नन्पूर्वाजसः 'नमिकम्पिस्म्यजसकहिंसदीपोरः । ३ । २ । १६७ ।' इति रः ।
श्रता मुञ्जानेन । किं कृत्वा बलापकर्षं बल । दाकृष्येव पाकादिकमनपेक्ष्या
मपादाने परीप्सायाम् । ३ । ४ । ५२ ।' इति णमुल्ल ॥ ४४ ॥

भुजौ चकृततुस्तस्य निस्त्रिंशाम्भ्यां रघूत्तमौ ।

स छिन्नबाहुरपतद्विह्वलो ह्वलयन्भुवम् ॥ ४५ ॥

(इत्येते प्रकीर्णकाः श्लोकाः) ।

भुजावित्यादि—रघूत्तमौ रामलक्ष्मणौ तस्य योजनबाहोः बाहू यथास्थान-
गतौ चकृततुः छिन्नवन्तौ । 'कृती छेदने' । इत्यस्य रूपम् । काम्भ्यां निस्त्रिं
म्भ्यां खङ्गाभ्याम् । निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्य इति वाक्ये 'ङ्च्प्रकरणे सं-
यायास्तत्पुरुषस्योपसङ्ख्यानम्' इति त्रिंशच्छब्दाङ्गुलिभ्यः । 'निरादयः क्रान्ता
यथै पञ्चम्या' इति समासः । टिलोपः । स छिन्नबाहुः कृतभुजः सन् अपतत्

१ पतत्रिपत्रिपतगपतत्प त्ररथाण्डजाः ।' इत्यमरः । २ शाकपार्थिवादेत्वा-
दिति शेषः । ३ अजस्रं निरन्तरमित्यर्थः । 'अजस्रानारताश्रान्तः' इत्यमरः ।
४ 'खङ्गे तु निस्त्रिंशच्चन्द्रहासासिरिष्टयः ।' इत्यमरः ।

पतितः पतेर्लाङि रूपम् । विह्वलो व्याकुलः भुवं भूमिं ह्वलयन् । 'ह्वल चलने'
'घटादित्वे ह्रस्वत्वम् ॥ ४५ ॥ इति प्रकीर्णकाः ॥

इतः परं कृत्याधिकारः--

प्रष्टव्यं पृच्छतस्तस्य कथनीयमविवचत् ।

आत्मानं वनवासं च जेयं चाऽरिं रघूत्तमः ॥ ४६ ॥

प्रष्टव्यमित्यादि—स योजनवाहुः निहतो रामं पप्रच्छ 'को भवान्' कस्य पुत्रः, कथं तव वनवासः, कस्माच्चोद्धिन्नः सन् भ्रमसि' इति । प्रष्टव्यं प्रश्नार्थं पृच्छतस्तस्य । 'तव्यत्तव्यानीयरः ३।१।९६।' इति तव्यत् । 'ब्रश्चभ्रस्जसृजमृजयज- राजभ्राजच्छशां षः । ८।२।३६।' इति षत्वम् । षुत्वं च । रघूत्तमस्तदानीम् । कथनीयं कथनार्थं प्रश्नानुरूपम् । 'तव्यत्तव्यानीयरः ३।१।९६।' इत्यनीयर् । अवी- वचद्वक्ति स्म । वच भाषणे । 'चौरादिकः । स्वार्थिको णिच् लुङ् चङ् । णि लोपः ह्रस्वः । द्विर्वचनसन्वद्भावेत्वदीर्घत्वानि । किं तदित्याह—आत्मानम् अहं रामो दाशरथिरिति । वनवासं पितुरादेशात् वनवासः इति । जेयं जेतव्यं चारिं यः कनकमृगच्छलेन सुवर्णकारस्य मृगरूपधारिणो मारिचस्य व्याजे नेत्यर्थः । रावणः सीतामपहृतवानिति ॥ ४६ ॥

लभ्या कथं नु वैदेही, शक्यो द्रष्टुं कथं रिपुः ।

सह्यः कथं वियोगश्च गद्यमेतत्त्वया मम ॥ ४७ ॥

लभ्येत्यादि—कथं केन प्रकारेण उपायेन लभ्या वैदेही प्राप्या लब्धुं शक्ये- त्यर्थः । 'पोरदुपधान् ३।१।९८।' इति यत् । रिपुः शत्रुः कथं केन प्रकारेण द्र- शक्यः 'शकधृपज्ञाग्लानटरभलभक्रमसहार्हास्त्यर्थेषु तुमुन् ३।४।६५।' इति तुमु- वियोगश्चायं सीतायाः कथं केन प्रकारेण सह्यः सोढव्यः 'शकिसहोश्वा ३।१।९९' इति यत् । गद्यमेतन् कथनीयमेतन् । 'गद्यमदचरयमश्चानु ३।१।१००' इति यत् । ममेतिविवक्षायां पठ्ठी ॥ ४७ ॥

त्वं पुनः कः इति पृष्ट आह--

अहं राम ! श्रियः पुत्रो मद्यपीत इव भ्रमन् ।

पापचर्यो मुनेः शापाज्जात इत्यवदत्स तम् ॥ ४८ ॥

अहमित्यादि—हे राम अहं श्रियः पुत्रः मद्यपीत इव । 'वाहितान्यापि- षु । २।२।३५।' इति निष्ठान्तस्य परनिपातः । कार्याकार्यविवेकाभावान्पा-

१ चालयद्वित्यर्थः । २ योजनावतभुज इति भावः । ३ आत्मानं स्वमित्यर्थः
४ पीतं मद्यं येनानि नशोकः ।

र्यो राक्षसः मुनेः स्थूलशिरसः शापाज्ञात् उत्पन्नः । माद्यन्नेनैवेति कथं च
रितव्यमिति चर्यमेतौ पूर्ववद्यत्प्रत्ययान्तौ । पापं चर्य यन्नेनैव कथं च
हुः तं रामम् । वाक्यार्थोऽत्र कर्म ॥ ४८ ॥

प्रयातस्तव यम्यत्वं शस्त्रपूतो ब्रवीमि ते ।

रावणेन हता सीता लङ्कां नीता सुरारिणा ॥ ४९ ॥

प्रयात इत्यादि—इदानीं तव यम्यत्वं वशत्वं प्रयातः।यमेः पूर्ववत् क्व । त्वत्त्वं ।
तस्तव शस्त्रेण पावितः सन् ब्रवीमि ते तुभ्यं कथयामि । मुमुक्षुः इत्येत-
त्त्वचनस्य 'तेमयावेकवचनस्य । ८।१।२२।' इति ते आदेशः। 'क्रियाऽप्रीति-
।दस्य च कर्मणि स्थानिनः २।६।१४।' क्रियायोगे चतुर्थी । कथनीयत्वमात्र-
।वणेन सुरारिणा देवशत्रुणा हतासीता लङ्कां नीता प्रापिता ॥ ४९ ॥
इदेही प्राच्या कथमिति यमुपायं पृष्टवान् तं कथयन्नाह—

ऋष्यमूकेऽनवद्योऽस्ति पण्यभ्रातृवधः कपिः ।

सुग्रीवो नाम वर्योऽसौ भवता चारुविक्रमः ॥ ५० ॥

ऋष्यकमूक इत्यादि—ऋष्यमूके पर्वते सुग्रीवो नाम कपिः चारुविक्रमो
महापराक्रमोऽस्ति । चारुः शोभनः प्रशंसनीय इत्यर्थः । विक्रमः महत्त्वेन यन्त्य-
सः असौ भवता वर्यो वरणीयः प्रार्थनीयः 'वर ईप्सायाम्' इति चौरादिकात्त्वा-
र्थिकण्यन्तात् 'अचो यत् । ३।१।९७।' इतियत् । यद्वा 'अवद्यपण्यवर्या गलपणि-
त्व्यानिरोधेषु । ३ । १ । १०१ ।' इत्यत्र वृद्धो वर्येति स्त्रियामनिरोधे अप्रति-
बन्धे निपानितत्वात् । सततप्रवर्तिनी आनिरोध्या वर्या प्रीतिर्यस्येति 'अर्शादि-
भ्योऽच् ५।२।११७।' इत्यच् स च भवता सह वर्यः प्रीतिमान् समानव्यसनत्वान्
यतः पण्यभ्रातृवधः सः पण्यो विक्रेतव्यो भ्रातुर्वालिनो वधो येन । यदि सीताम-
न्वेक्ष्यसि तदा वालिनमहं हनिष्यामीति, वालिनं यदि हनिष्यसि तदा सीता-
न्वेक्ष्यामीति वाचा विहिताभिसन्धिः । यद्येवं तदा कथं मया पापीयान् वर्य
इत्यत आह—अनवद्यः अगर्हणीयः । दारापहारत्वेन आतापिनो भ्रातुर्वधेन
निर्दोषत्वादिति भावः ॥ ५० ॥

१ पापचर्यः पापकारी । २ स्थूलं शिरो यस्येति, तत् एव तथा ख्यातस्य ।
३ नावद्यं-गर्हा, दोषो वा, यस्य तादृशं ह्यतदिमुक्तम् । 'कुप्यकुप्सितावद्यखेद-
गर्हाणकाः समाः ।' इत्यमरः ।

तेन बह्येन हन्तासि त्वमर्थं पुरुषाऽशिनाम् ।

राक्षसं क्रूरकर्माणं शक्राऽरिं दूरवासिनम् ॥ ५१ ॥

तेनेत्यादि—तेन सुग्रीवेण त्वं राक्षसं हन्तासि निहनिष्यसि । बह्येन वा
त्यभिप्रेतमनेनेति, 'बह्यं करणम् । ३ । १ । १०२ ।' इति यत् । कीदृशं
स्वामिनम् । पुरुषाशिनां राक्षसानाम् । 'अर्थः स्वामिवैश्ययोः । ३ । १ ।
१०३ ।' इति यन्निपात्यते । क्रूरकर्माणं पापाचारं शक्रारिं रावणम् । यद्येव
हमेव हन्तुं समर्थ इत्यभिप्रायेणाह—दूरवासिनं समुद्रान्तरितवासित्वात् एक
किना हन्तुं न शक्यत इति भावः ॥ ५१ ॥

यद्यनवद्यस्तदा कथमस्य पण्यो भ्रातृवध इत्याह—

आस्ते स्मरन् स कान्ताया हृताया वालिना कपिः ।

वृषो यथोपसर्याया गोष्ठे गोर्दण्डताडितः ॥ ५२ ॥

आस्ते इत्यादि—वालिना हृतायाः कान्तायाः स्मरन्नास्ते कोऽन्यः सम्भ-
वेत् यस्तं हत्त्वा त्वया मां योक्ष्यते, 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि । २ । ३।५२।'
इति कर्मणि पठ्यते । कस्येव वृषो यथा उपसर्याया आसन्नगर्भकालायाः गोः स्मर-
गोष्ठ आस्ते । 'उपसर्या काल्या प्रजने । ३ । १ । १०४ ।' इति निपातितम् ।
दण्डताडितः सन् दण्डस्थानीयोऽत्र वाली ॥ ५२ ॥

तेन सङ्गतमार्येण रामाऽजर्यं कुरु द्रुतम् ।

लङ्कां प्राप्य ततः पापं देशग्रीवं हनिष्यसि ॥ ५३ ॥

तेनेत्यादि—हे राम तेन वानरेण हनुमतेत्यर्थः संगतं सख्यं अजयम् अनपा-
पम् । न जर्यित् इत्यास्मिन् वाक्ये 'अजर्यं संगतम् । ३।१।१०५।' इति निपातितम् ।
आदौ विशेष्यत्वेनोपात्तं संगतं तद्विशेषणमजर्यं कुरु द्रुतं यावत्तस्यानेन युष्म-
द्विधेन संगतं न भवति । आर्येण सदाचारेण।पापप्रधानत्वान् 'ऋहलोर्ण्यत् । ३।१।
१२४।' ततः सङ्गतान् लङ्कां प्राप्य गत्वा पापं पापीयांसं रावणं हनिष्यसि ॥ ५३ ॥
ननु यावत्कार्यं न सिध्यति तावत्संगतं गच्छति कृतकृत्यस्तु नैवेत्यत आह—

अनृतोद्यं न तत्रास्ति सत्यवद्यं ब्रवीम्यहम् ।

मित्रभूयं गतस्तस्य रिपुहत्यां करिष्यसि ॥ ५४ ॥

१ अतएव 'त्यादर्थः स्वामिवैश्ययोः ।' इत्यमरः सङ्गच्छते । २ क्रूरं प्रयत्नं
कर्म यस्य तम्, निदयेत्वं हि पापमूलमिति तथोक्तम् । ३ रामानाम्न्या इति शेषः ।

नृतोद्यमित्यादि—सत्यमुद्यत इति कर्मणि यन् । अहं सत्यं वचो ब्रवी-
र्थः, अनृतोद्यं तत्र सुग्रीवे नास्ति अनृतमसत्यं उद्यं वचनं अनृतोद्यम् ।
क्यप् । यजादित्वात्संप्रसारणम् । उभयत्रापि 'वदः सुपि क्यप् च । ३।१
' इति चकाराद्यत् । यस्मादेवं तस्मान्मित्रभूयं मित्रभावं गतः । ' भुवो
।३।१।१०७। इति क्यप् । रिपुहत्यां शत्रुवधमित्यर्थः। करिष्यसि, 'हनस्त च
।१।१०८।' इति क्यप् तकारश्चान्तादेशः ॥ ५४ ॥

आदृत्यस्तेन वृत्येन स्तुत्यो जुष्येण संगतः ।

इत्यः शिष्येण गरुवद् गृध्यमर्थमवाप्स्यसि ॥ ५५ ॥

आदृत्य इत्यादि—तेन सङ्गतः सन् गृध्यमभिलषणीयमवाप्स्यसि ।
दुपधाच्चाक्लृपि चृतेः । ३।१। ११०। इति क्यप् । कीदृशः कीदृशेनेत्याह-
त्यः आदरणीयः । वृत्येन वरणीयेन । स्तुत्यः स्तवार्हः । जुष्येण सेव्येन
प्रीतिसेवनयोः हनूमत्प्रभृतीनाम् । क इव शिष्येण गुरुरिव यथोपाध्यायः
येण शासनीयेन इत्यः अनुगम्यस्तद्वदिति । एतिस्तुशास्वृदजुपः क्यप् । ३।
१०९।' इति क्यप् । 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ६।१।७१।' इति ॥ ५५ ॥

नाखेयः सागरोऽप्यन्यस्तस्य सद्भृत्यशालिनः ।

मन्युस्तस्य त्वया मार्ग्यो मृज्यः शोकश्च तेन ते ॥ ५६ ॥

नाखेय इत्यादि—तस्य सुग्रीवस्य सद्भृत्यशालिनः हनूमदादिभृत्ययुक्तस्य।
जोऽसंज्ञायाम् । ३।१। ११२।' इति क्यप् । अन्यो द्वितीयः सागरो
न नाखेयो न खननीयः अपि तु खननीय एव । अपिशब्दः सम्भावनीयाम्।
य कारणं सद्भृत्यशालित्वम् । 'ईच खनः । ३।१।१११।' इति क्यवीकारौ ।
य मन्युस्त्वया मार्ग्योऽपनेयः । ते तव तेन च शोको मृज्यः 'मृजेर्विभापा
।१।११३।' इति यद्विकल्पे ष्यत् ॥ ५६ ॥

स राजसूययाजीव तेजसा सूर्यसन्निभः ।

अमृषोद्यं वदन् रुच्यो जगाहे द्यां निशाचरः ॥ ५७ ॥

स इत्यादि—स निशाचरो द्यामाकाशं जगाहे गतः राजसूययाजीव ।
ज्ञा सृयते राजा वा अनेन सूत इति राजसूयः क्रतुः । तेनेष्टवान् स राज-
ययाजी । 'करणे यजः । ३।२।८५।' इति णिनिः । तद्वदित्यर्थः । रुच्यः

प्रियो जातो रामस्येत्यर्थात् । 'राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याव्य । ३।१।११४।' इति क्यवन्ता राजसूयादयः ॥ ५७ ॥

अकृष्टपच्याः पश्यन्तौ ततो दाशरथी लताः ।

रत्नाऽन्नपानकुप्यानामाटतुर्नष्टसंस्मृती ॥ ५८ ॥

अकृष्टपच्या इत्यादि—ततो निशाचरगमनानन्तरं दाशरथी रामलक्ष्म वाटतुर्गतवन्तौ । कीदृशौ । नष्टा संस्मृतिः ययोः । केपां संस्मृतिः रत्नान्नप कुप्यानाम् । रत्नान्नपानानि प्रसिद्धानि । कुप्यं स्वर्णरजताभ्यामन्यत् । तत् 'स्यान् कोशश्च हिरण्यं च हेमरूपे कृताकृते । ताभ्यां यदन्यत् कुप्यम् ।' इत्यमरः संज्ञायां क्यप् । गुपेरादेः गकारस्य ककारः । कर्माणि लताः पश्यन्तौ । कृष्टे पच्यन्ते इति कृष्टपच्याः । पूर्ववत् क्यप् । पश्चात्तन् मासः । स्वयमेव पच्यन्ते यास्ता इत्यर्थः ॥ ५८ ॥

समुत्तरन्तावव्यथ्यौ नदान् भिद्योद्धयसन्निभान् ।

सिध्यतारामिव ख्यातां शवरीमापतुर्वने ॥ ५९ ॥

समुत्तरन्तावित्यादि—तौ तरिमन् वने शवरीमापतुः शवरीनाम्नीमित्यर्थं प्राप्तवन्तौ । अव्यथ्यौ न व्यथेते इति पूर्ववत् क्यप् । पारिश्रमवर्जितावित्यर्थः नदान् समुत्तरन्तौ । कीदृशान् भिद्योद्धयसन्निभान् । भिद्योद्धयौ नदविशेषौ 'भिद्योद्धयौ । ३।१।१५।' इति पूर्ववत् निपातितम् । भिनन्ति कलमिति भिद्य उज्झत्युदकमिति उद्धयः । 'उज्झ उत्सेर्गे' । दकारात्परस्य धकारो निपात्येते तत्सदृशान् नदान् । सिध्यतारामिव ख्याताम् । सिध्यन्त्यस्मिन्निति सिध्यः 'पुष्यसिध्यौ नक्षेत्रे । ३।१।१६।' इति निपातनान् । पुष्याद्यैः तागदि ख्यातां शवरीम् ॥ ५९ ॥

वसानां वल्कले शुद्धे विपूयैः कृतमेखलाम् ।

क्षामामञ्जनपिण्डाऽऽभां दण्डिनीमजिनाऽऽस्तराम् ॥ ६० ॥

वसानामित्यादि—वसानां परिद्वानां वल्कले त्वचौ । विपूयैर्मुञ्जैः कृतमेखलां कृतकदिसूत्राम् । यद्यपि विपूयस्य पवतेः । 'विपूयत्रिणीयजियानुय कल्कहलिपु । ३।१।१७।' इति मुञ्जे निपातितं, तथापि मुञ्जानामनुपहृतत्वात् ज्ञापयितुं विपूयरिति विशेषणं, पवित्ररित्यर्थः । मुञ्जशब्दमन्तव्यं मामान्यमाह । विपूयरित्युक्ते मुञ्जरित्युपादानमनर्थकम् । एवं कृत्वा पाठः

स तामूचेऽथ कच्चित् त्वममावास्यासमन्वये ।

पितृणां कुरुषे कार्यमपाक्यैः स्वादुभिः फलैः ॥ ६३ ॥

स इत्यादि—अथानन्तरं त्यक्तश्रमः स रामः तां शबरीमूचे उक्तवान् कच्चित्त्वं किं त्वं पितृणां कुरुषे कार्यम् । क्यबभावपक्षे 'ऋहलोपे ॥३१११२४॥' कदा अमावास्यासमन्वये अमावास्यायाः सम्प्राप्तौ अमावास्यामित्यर्थः । 'अमावस्यदन्यतरस्याम् ॥३१११२२॥' इति निपातनम् । हि अमाशब्दे उपपदे वसेर्धातोरमा सह वसतो यस्मिन्काले सूर्याचन्द्रम इति कालेऽधिकरणे ण्यत् । तस्मिन्नन्यतरस्यां वृद्ध्यभावः । कैः फलैस्वादुभिः मिष्टैः । अपचनीयैः अनुपहतत्वात् 'ऋहलोर्ण्यत् ॥३१११२४॥ ॥६३॥

अवश्यपाव्यं पवसे कच्चित् त्वं देवभाग्वाविः ।

आसाव्यमध्वरे सोमं द्विजैः कच्चिन्नमस्यासि ॥ ६४ ॥

अवश्यपाव्यमित्यादि—देवभाक् देवान् भजत इति 'भजो ऋ ॥३१२१६२॥' तद्धविः कच्चित् किं पवसे पवित्रीकरोपि मन्त्रादिना । 'श्रयो हऽन्यतरस्याम् ॥८१४१६२॥' इति हकारस्य पूर्वसवणः । 'पूङ् पवने' इति भौवादिकः । कीदृशमवश्यपाव्यमवश्यम्भोवेन पावयितव्यमित्यर्थः । 'ओरावश्यके ॥३१११२५॥' इति ण्यत् । 'मयूरव्यंसकादयश्च २११७२॥' इति समासः 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः । सोममोपाधिः शेषम् । आसाव्यमभिपवार्हम् । आङ्पूर्वात्सुनांतेः 'आसुयुवपिरपित्रापिचम ॥३१११२६॥' इति ण्यत् । अध्वरे यज्ञे द्विजैः सह कच्चित्त्वं नमस्त्यो नमस्करोपि ॥ ६४ ॥

आचाम्यं सन्ध्ययोः कच्चित् सम्यक् ते न प्रहीयते ।

कच्चिदग्निमिवानार्यं काले सम्मन्यसेऽतिथिम् ॥ ६५ ॥

आचाम्यमित्यादि—प्रभोतऽपराहे च सन्ध्योर्यदाचाम्यमुपस्पर्शनम् पूर्ववत् ण्यत् । कच्चित्सम्यक् यथावत्तत्र तत्र न प्रहीयते न तस्य हतिर्भवति

१ 'कच्चित्कामप्रवेदने ।' इत्यमरोक्तयऽमिमतार्थप्रदनाथकमिदमव्ययम्

२ अत्रामावस्येतिपदं श्राद्धार्थकालोपलक्षणम् । ३ यथाविधि कच्चिद्वननी कुरुषे इति भावः । ४ आवश्यकत्वं तापसाश्रमाहत्वात् । ५ 'इयं कारिका 'तृपो दरादीनि ययोपदिष्टम् ६ । ३ । १०९' इति व्याख्यायां दृश्यते । 'यज्ञः सर्वोऽध्वरो यागः' इत्यमरः । ६ 'ब्राह्मणैरित्यर्थः । 'दन्तविषाण्डजा द्विजाः' इत्यमरः । ७ अत्र 'नमोवरिविश्वरुदः क्यच् ३ । १ । १९' इति क्यच् । ८ 'ओरावश्यके ३ । १ । १२५' इत्यनेनैवेत्यर्थः ।

ले आतिथ्योचिते कालेः कच्चित् अतिथिं संमन्यसे पूजयसि । अग्निमि-
नाय्यम् यथा अग्निम् आनाय्यम् । दक्षिणाग्निं मन्यसे तद्वत् । 'आनाय्यो
त्ये ।३।१।१२७।' इति नयतेराङ्पूर्वस्य ष्यदायादेशौ निपात्येते ॥ ६५ ॥

न प्रणाय्यो जनः कच्चिन् निकाय्यं तेऽधितिष्ठति ।

देवकार्यविघाताय धर्मद्रोही महोदये ! ॥ ६६ ॥

न प्रणाय्य इत्यादि—महानुदयः स्वर्गापवर्गाणां यस्याः सा तथा हे महो-
ये देवकार्यविघाताय देवकार्यं विहनिष्यामीति । 'भाववचनाच्च ।३।३।११।' इति भविष्यति षन् । 'तुमर्थाच्च भाववचनात् २।३।१५।' इति चतुर्थी ।
गाय्योऽसंमतो जनः । 'प्रणाय्योऽसंमतौ ।३।१।१२८।' इति निपातितम् ।
चिच्चत् निकाय्यं गृहं ते तव नाधितिष्ठति नाधिवसति । 'पाय्यसान्नाय्य-
काय्यधाय्या मानहविर्निवाससामिधेनीषु ३।१।१२९।' इति निवासे चिनोते-
पूर्वात् ष्यदायादेशौ आदेः कुत्वं च । 'अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म ।१।४।४६।' इति कर्मसंज्ञा । धर्मद्रोही धर्मद्रोहशीलः ॥ ६६ ॥

कुण्डपाय्यवतां कच्चिदग्निचित्यावतां तथा ।

कथाभी रमसे नित्यमुपचाय्यवतां शुभे ! ॥ ६७ ॥

कुण्डपाय्यवतामित्यादि—कुण्डेन पीयते ऽत्र क्रतौ कुण्डपाय्यः क्रतुः ।
क्रतौ कुण्डपाय्यसंचाय्यौ ।३।१।१३०।' इति निपातितम् । कच्चित्कथाभी
रमसे । 'द्वलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ६।३।१११।' इति दीर्घः । तथाग्निचित्यावताम्
आहिताग्निकानां कथाभी रमसे । 'चित्याग्निचित्ये च ।३।१।१३२।' इति
निपात्यते । अग्निचयनमाग्निचित्या । भावे क्यप् तुक् च । तद्वतां तथोपचाय्यवतां
पीयते इत्युपचाय्यो ऽग्निः । 'अग्नौ परिचाय्युपचाय्यसमूह्याः ।३।१।१३१।' इति
निपातितः । उपपूर्वाच्चिनोतेर्ष्यदायादेशौ । तद्वतां कथाभी रमसे शुभे
किल्योणि ॥ ६७ ॥

इति कृत्याधिकारः ॥

१ 'यो गार्हपत्यदानीय दक्षिणाग्निः प्रणीयते । तस्मिन्नानाय्यः' इत्यमरः ।
२ आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ६ । ३ । ४६' इत्याकरान्तादेशः । ३ 'गृहाः
धुसि च भूम्येव निकाय्यनिलयालयाः ।' इत्यमरः । ४ पिठरेणेत्यर्थः । 'पिठरः
स्थाल्युखा कुण्डम्' इत्यमरः । ५ तपस्विनीति भावः ।

अतः परं प्रकीर्णकाः—

वर्धते ते तपो भीरु ! व्यजेष्ठा विघ्ननायकान् ।

अजैषीः कामसम्मोहौ संप्राप्त्या विनयेन वा ॥ ६८ ॥

वर्धत इत्यादि—हे भीरु कातरचित्ते तव तपो वर्धते तस्य च ये स्तेपां ये नायकाः प्रणेतारस्तान् व्यजेष्ठाः जितवत्यसि । लुङि 'विप जेः । १।३।१९।' इत्यात्मनेपदम् । कामसंमोहौ कच्चिदजैषीः जितवत् 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु । ७।२।१।' विनयेन वा संप्राप्त्याः संप्राप्त कर्मणि लुङ् । 'झलो झलि । ८।२।२६।' इति सिचो लोपः । अत्रानु कच्चिदिति पदमर्थाद्योज्यम् ॥ ६८ ॥

नायास्यसि तपस्यन्ती गुरुन् सम्यगत्तुषः ।

यमान्नोदविजिष्ठास्त्वं निजाय तपसेऽतुषः ॥ ६९ ॥

नायस्यस्तीत्यादि—तपस्यन्ती तपश्चरन्ती कच्चिन्नायास्यासि न विघ्नसं श्रणशीलीभूतेत्यर्थः । 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वार्तिचरोः । ३।१। इति क्यङ् । 'तपसः परस्मैपदं च ।' इति वार्तिकेननात्मनेप गुह्रन् आचार्यादीन् सम्यक् यथावदनुवृत्त्याऽतूतुषः तोषितवत्या तुषेर्ष्यन्तस्य लुङि रूपम् । चङि णिलोपादि । यमान्मृत्योर्नादाविर्नाभैषीः । पुण्यकृतां न मृत्युभयमित्यर्थः । ओविजेरात्मनेपदम् । सिच इट् । 'विज इट् । १।२।२।' इति सिचो ङित्वे न गुणः । जायात्मीयाय तपसे । अतुषः तुष्टवत्यसि । 'पुपादिद्युताद्युत्तदितः प पदेषु । ३।१।५५। इत्यङ् ॥ ६९ ॥

अथार्घ्यं मधुपर्काद्यमुपनीयादरादसौ ।

अर्चयित्वा फलैरर्च्यो सर्वत्रारुख्यदनामयम् ॥ ७० ॥

अथेत्यादि—अथानन्तरमसौ श्वरी अर्घ्यमर्वायम् । 'पादायान् १।५।३।२५।' इति यन् । मधुपर्काद्यम् । दधिमधुमिश्रमुदकं मधुपर्कः यं आदौ भवमाद्यं तदुपनीयादरान् फलैरर्चयित्वा । अर्च्यो अर्च

१ अत्र कातरचित्त्वं पापादेवेति बोध्यम् । तथा च पापकर्मत इन्द्रिन्द्र कर्मणि निरत इति भावः । २ कानक्रोधादयः द्ववि भावः । ३ उक्तमेवार्थं स्पष्टं तत्प्रश्नारम्भः । ४ क्रोधे तु नाकार्पांरिति तात्पर्यम् । ५ 'गुरुर्गोप्यतिरिति यनराद्युक्तेरिति शेषः । ६ 'अहं कृत्यन्वृचञ्च । २ । ३ । १६९' इति मूर्च्छेति

१ । रामलक्ष्मणौ सर्वत्रोक्तेषु अनामयं कल्याणं आख्यत्कथितवती ।
स्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् । ३।१।५२।' इत्यङ् ॥ ७० ॥

इति प्रकीर्णकाः ।

अथ कृदधिकारमाह—कृत्यानां कृदन्तर्भावेऽपि भावकर्मणोः कृत्या-
ने विशेषप्रतिपादनार्थः पृथगधिकारः । शेपास्तु कृतः कर्तरि भवन्ति तत्रो-
दं सप्तमीस्थम् । ३।१।९२।' । इत्येतदधिकृतम् । यत्रैतन्नावतिष्ठते तान्
ते दर्शयन्नाह—

सख्यस्य तव सुग्रीवः कारकः कपिनन्दनः ।

द्रुतं द्रष्टासि मैथिल्याः सैवमुक्त्वा तिरोऽभवत् ॥ ७१ ॥

सख्यस्येत्यादि—सा शवरी तिरोऽभवदन्तर्भूता । एवमुक्त्वा । किं
देत्याह—तव सख्यस्य सखित्वस्य । 'सख्युर्यः । ५।१।१२६।' इति
ः । कर्मणि षष्ठी । कारकः सुग्रीवः । 'पुल्लृचौ । ३।१।१३३।' इति
श्रुत् । 'युवोरनाकौ । ७।१।१।' इत्यकादेशः । त्वया सह मैत्रीं करिष्य-
। । कपिनन्दनः कपीनां नन्दयिता । 'नन्दिग्रहि० । ३।१।१३४।' इत्यादिना
युः । अनादेशस्तु 'युवोरनाकौ । ७ । १ । १ ।' इत्यनेनैव । कृद्योगे षष्ठी ।
तो द्रुतं द्रष्टासि मैथिल्याः । पूर्ववत्कर्तरि वृच् कर्मणि षष्ठी । असीति
तेमाने लट् ॥ ७१ ॥

नन्दनानि मुनीन्द्राणां रमणानि वनौकसाम् ।

वनानि भेजतुवीरौ ततः पाम्पानि राघवौ ॥ ७२ ॥

नन्दनानीत्यादि—तत उक्तादनन्तरं वीरौ राघवौ रामलक्ष्मणौ वना-
ने भेजतुः सेवितवन्तौ । एत्वाभ्यासलोपौ 'तुफलभजत्रपश्च । ६।४।११२।'
ति । पाम्पानीनि । पम्पाया अदूरम् । 'अदूरभवश्च । ४।२।७०।'
त्यण् । मुनीन्द्राणां नन्दनानि प्रमोदकारीणि । वनौकसां वनेचरणाम् । 'उच्च
रमवाये ।' अस्मादौणादिकोऽसुम् । पृपोदरादित्वाद्धर्णविपर्ययः । वनमोको येषां
षां रमणानि रतिजनकानि । 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । ३ । १ ।
१३४।' इति ल्युः । कर्मणि षष्ठी ॥ १२१ ॥

१ 'अनामयं स्यादारोग्यम्' इत्यमरः । २ शीघ्रमित्यर्थः । 'लघुक्षिप्रमरं
दुतम् ।' इत्यमरः । ३ अन्यानि वनानि गाहेते. स्मेत्यर्थः । ४ ओकः स्थानमित्यर्थः ।
'ओकः सद्गाश्रयश्रौकाः' इत्यमरः ।

भृङ्गालीकोकिलकुङ्भिर्वाशनैः पश्य लक्ष्मण ।

रोचनैर्भूषितां पम्पामस्माकं हृदयाविद्यम् ॥ ७३ ॥

भृङ्गालीत्यादि--हे लक्ष्मण पम्पां पश्य । अस्माकं हृदयावि
चेतःपीडयन्तीम् । हृदयं विध्यतीति किप् । 'ग्रहिज्यावयि
वष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च । ६ । १ । १११६१' इति स
रणम् । 'नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितानिषु कौ । ६ । ३ । ११६१' इति
पदस्य दीर्घः । भूषितां काभिः भृङ्गालीभिः भ्रमरपङ्क्तिभिः । को
कुङ्भिः क्रौञ्चैः । वाशनैः कूजङ्गिः । रोचनैः शोभनैः । कुङ्
'कृत्विग्दधृक्स्त्रिगिदगुष्णिगञ्चुयुजिकृश्वां च । ३ । २ । ५९१' इति किन् ।
तनसामर्थ्यादनुनासिकलोपाभावः । 'संयोगान्तस्य लोपः । ८ । २ । १
'किन्प्रत्ययस्य कुः । ८ । २ । ६२१' इति कुत्वम् ॥ १७ ॥

परिभावीणि ताराणां पश्य मन्थीनि चेतसाम् ।

उद्गासीनि जलेजानि दुन्वन्त्यदयितं जनम् ॥ ७४ ॥

परिभावीणीत्यादि--जलेजानि पद्मानि पश्य । 'तत्पुरूपे कृतिवृ
। ६ । ३ । १४ ।' इत्यलुक् सप्तम्याः । उद्गासीनि भासमानानि ।
एव ताराणां परिभावीणि तिरस्कर्तृणि । ततश्चेतसां मन्थीनि पीडा
णि । अतो जनमदयितं दुन्वन्ति । 'दुदु उपतापे' सौवादिकः । म
ङ्गलासपरिभूभ्यो ग्रहादित्वाणिर्निः ॥ १४ ॥

सर्वत्र दयिताधीनं सुव्यक्तं रामणीयकम् ॥

येन जातं प्रियापाये क्वददं हंसकोकिलम् ॥ ७५ ॥

सर्वत्रत्यादि--हे लक्ष्मण सर्वत्र यत्किञ्चिद्रामणीयकं रमणीयस्य भा
'योपधाद् गुणपोत्तमाद्बुञ् । ५ । १ । १३२१' इति बुञ् । तत्सर्वं दयिता
तं दयितायत्तम् । 'अपडक्षाशितङ्ग्वलङ्कर्मालंपुरुपाध्युत्तरपदात्त्वः । ५ ।
७ ।' इत्यध्युत्तरपदात्त्वः । सुव्यक्तं स्पष्टम् । कुतः येन प्रियाया अभ
सति हंसकोकिलं हंसाश्च कोकिलाश्चेति शकुनित्वान् द्वन्द्वकत्वम् । क
कुत्सितप्रलपितं वदतीति पचादित्वादच् । कुत्सितं वदतीति

१ पीडयन्ति मन्मथोत्तेजकत्वादेति भावः । २ 'नन्दिग्रहिपचादि'
त्युगिन्धचः ३ १ । १३४' इत्यनेनेति शेषः । ३ गृहे वने चेत्यभिप्रायः । ४ प्रिय
मात्राधीनमित्यर्थः । प्रियामङ्ग पम्पां रमणीयत्वम्, प्रियामङ्गलादे तु र
मणीयानामनि भीषणत्वमिति वक्तव्यम् ।

धारयैः कुसुमोर्मीणां पारयैर्वाधितुं जनान् ।

शाखिभिर्हा हता भूयो हृदयानामुदेज्यैः ॥ ७८ ॥

धारयैरित्यादि—हा कष्टं शाखिभिर्द्रुमभूयोऽत्यर्थं वयं हताः । कीदृशं हृदयानामुदेज्यैः चेतसामुत्कम्पकैः । धारयैः कुसुमोर्मीणां कुसुमनिवृत्त्यान् धारयद्भिः । जनान् मद्विधान् वाधितुं पीडयितुं पारयद्भिः समर्थैः । 'धृञ् धारणे' 'पृ पालनपूरणयोः' 'एज कम्पने च ।' एभ्यो णिजन्तेभ्यः अनुपसर्गाल्लिम्पविन्दधारिपरिवेद्युदेजिचेतिसातिसाहिभ्यश्च । ३ । १ । १३८ । इति शः ॥ ७८ ॥

ददैर्दुःखस्य माहृग्भ्यो धायैरामोदमुत्तमम् ।

लिम्पैरिव तनोर्वातैश्चेतयः स्याज्ज्वलो न कः ॥ ७९ ॥

ददरित्यादि—वातैर्दुःखस्य ददः दुःखं ददद्भिः । केभ्यो माहृग्भ्यः । अस्मादृशेभ्यो विरहिभ्यः । 'त्यदादिपु दृशो ऽनालोचने कञ्च । ३ । २ । ६० । इति क्तिन् । 'दृग्दृशवतुपु । ६ । ३ । ८९ ।' इत्याकारः । धायैरामोदमुत्तमं आमोदं प्रियासङ्गमेन हृषं यावद्विरहिभ्यो दत्तस्य दुःखस्य धायैः पोषकै रित्यर्थः । उत्तममिति क्रियाविशेषणम् । उत्तममामोदं धायैः कुसुमान् परिमलं धारयद्भिरिति व्याख्याने अनित्यत्वात् कृतप्रयोगे कर्मपष्ठ्यभावः लिम्पैरिव तनोः शरीरं लिम्पद्भिरिव । वातैर्हेतुभिः । को नाम विरहाग्निर्यश्चेतयमानः ज्वलन्नग्निरिव न स्यात् । किन्तु भवेदेवेति भावः । ददैर्दुःखस्य धायैरिति 'श्याद्वयधाम्नुसंस्वतीणवसावहलिहस्त्रिपधसश्च । ३ । १ । १४१ । इत्याकारान्तलक्षणे शे प्राप्ते 'ददातिदधात्योर्विभाषा । ३ । १ । १३९ । इति शाणौ भवतः । श आतो लोपः । णे चातो युक् । लिम्पश्चेतय इति 'अनुपसर्गाल्लिम्पविन्दधारिपरिवेद्युदेजिचेतिसातिसाहिभ्यश्च । ३ । १ । १३८ । इति शः, ज्वल इति 'ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः । ३ । १ । १४० ।' इति णस्य विकल्पनात्पचाद्यच् ॥ ७९ ॥

अवश्यायकणास्त्रावाश्चारुमुक्ताफलत्विपः ।

कुर्वन्ति चित्तसंन्यासं चलत्पर्णाग्रसम्भृताः ॥ ८० ॥

अवश्यायेत्यादि—अवश्यायत इत्यवश्यायैः तस्य कणा विन्दवः । ३

न्तीत्यासावाः क्षरन्तः । 'श्याद्वयधासुसंख्वतीणवसावहलिहश्लिपश्वसश्च । १ । १४१ ।' इति णः कर्तरि । तयोर्विशेषणसमासे राजदन्तादित्वा-
निपातः । ते कुर्वन्ति चित्तसंस्त्रावम् । संस्त्रवतीति संस्त्रावः । पूर्ववत्
चित्तं संस्त्रावं चलत्कुर्वन्ति इत्यर्थः । पूर्ववत् समासपरनिपातौ ।
दृशाश्चलत्पर्णाप्रसंभृताः संगलिताः । अत एव चारुमुक्ताफलत्विर्षः दर्शनी-
मुक्ताफलानुकारिणः । सीताहारस्थमक्ताफलानि स्मारयन्तीत्यर्थः ॥ ८० ॥

अवसायो भविष्यामि दुःखस्याऽस्य कदाऽन्वहम् ।

न जीवस्यावहारो मां करोति सुखिनं यमः ॥ ८१ ॥

अवसाय इत्यादि—कदा नु कस्मिन्ननु काले अहं दुःखस्यानुभूयमानस्य सन्ता-
स्य अवसायोऽन्तकरो भविष्यामि येन जीवस्यावहारोऽवहर्ता यमो मां
खिनं न करोति मारयतीत्यर्थः । अवस्यति इति अवसायः । पोऽन्तकर्मणि ।
वहरतीत्यवहारः । 'श्याद्वयधासुसंख्वतीणवसावहलिहश्लिपश्वसश्च । ३ ।
। १४२ ।' इति सर्वत्र णः । युक् ॥ ८१ ॥

दह्ये ऽहं मधुनो लेहैर्दवैरुग्रैर्यथा गिरिः ।

नायः कोऽत्र स येन स्यां बताऽहं विगतज्वरः ॥ ८२ ॥

दह्य इत्यादि—मधुनो लेहैर्भृङ्गैः अहं दह्ये । 'श्याद्वयधासुसंख्वतीणवसा-
हलिहश्लिपश्वसश्च ३।१।१४१।' इति णः । दवैर्वनाग्निभिरुग्रैः प्रचण्डैर्यथा
गिरिर्दहते तद्वत् । अत्र को नायः नयतीति नायः उपायः ईप्सितप्रापकः ।
भयत्र 'दुन्योरनुपसर्गं । ३।१।१४२।' इति णः । येन नायेन विगतज्वरः
वेगतपीडः स्यामिति । आशंसायां लिङ् । वत खेदे ॥ ८२ ॥

समाविष्टं ग्रहेणेव ग्राहेणेवाऽऽत्तमर्णवे ।

दृष्ट्वा गृहान् स्मरस्येव वनान्तान् मम मानसम् ॥ ८३ ॥

समाविष्टमित्यादि—वनान्तान् वनपर्यन्तान् । स्मरस्य कामस्य गृहमिवा-
न्मादकत्वात् । 'गेहे कः । ३।१।१४४।' इति ग्रहेः कः । अर्धर्चादिपाठात्
लिङ्गता । दृष्ट्वा मम स्थितस्येत्यर्थात् योज्यम् । अन्यथा कथं समानकर्तृकत्वम् ।
।।नसं चेतः ग्रहेणाङ्गारकादिना । समाविष्टमिव निगृहीतमिव । 'विभाषा
हः । ३।१।१४३।' इति णप्रत्ययः । अचोऽपवादः । तत्र व्यवस्थितविभाषा-
वेज्ञानात् जलचरे ग्राहः ज्योतिषि ग्रह इति जलचरे वाच्येऽचोपवादो

धारयैः कुसुमोर्मीणां पारयैर्वाधितुं जनान् ।

शाखिभिर्हा हता भूयो हृदयानामुदेजयैः ॥ ७८ ॥

धारयैरित्यादि—हा कष्टं शाखिभिर्द्रुमभूयोऽत्यर्थं वयं हताः । कीदृशेऽहृदयानामुदेजयैः चेतसामुत्कम्पकैः । धारयैः कुसुमोर्मीणां कुसुमनिवयान् धारयद्भिः । जनान् मद्धिधान् वाधितुं पीडयितुं पारयद्भिः समर्थैः । 'धृव् धारणे' 'पृ पालनपूरणयोः' 'एज कम्पने च ।' एभ्यो णिजन्तेभ्यः अनुपसर्गालिम्पविन्दधारिपारिवेद्युदेजिचेतिसातिसाहिभ्यश्च । ३ । १ । १३८ । इति शः ॥ ७८ ॥

ददुर्दुःखस्य माहृग्भ्यो धायैरामोदमुत्तमम् ।

लिम्पैरिव तनोर्वातैश्चेतयः स्याज्ज्वलो न कः ॥ ७९ ॥

ददरित्यादि—वातैर्दुःखस्य ददुः दुःखं ददद्भिः । केभ्यो माहृग्भ्यः । अस्मादृशेभ्यो विरहिभ्यः । 'त्यदादिषु दृशो ऽनालोचने कञ्च । ३ । २ । ६० । इति किन् । 'दृग्दृशवतुषु । ६ । ३ । ८९ ।' इत्याकारः । धायैरामोदमुत्तमम आमोदं प्रियासङ्गमेन हर्षं यावद्विरहिभ्यो दत्तस्य दुःखस्य धायैः पोषकैरित्यर्थः । उत्तममिति क्रियाविशेषणम् । उत्तममामोदं धायैः कुसुमानां परिमलं धारयद्भिरिति व्याख्याने अनित्यत्वात् कृतप्रयोगे कर्मपष्ठ्यभावः । लिम्पैरिव तनोः शरीरं लिम्पद्भिरिव । वातैर्हेतुभिः । क्रो नाम विरहाग्निप्रयश्चेतयमानः ज्वलन्नग्निरिव न स्यात् । किन्तु भवेदेवेति भावः । ददुर्दुःखो यैरिति 'श्याद्वयधास्रुसंरुवतीणवसावहलिहश्लिषश्च । ३ । १ । १४१ । इत्याकारान्तलक्षणे शे प्राप्ते 'ददातिदधात्योर्विभाषा । ३ । १ । १३९ । इति शाणौ भवतः । श आतो लोपः । णे चातो युक् । लिम्पश्चेतय इति 'अनुपसर्गालिम्पविन्दधारिपारिवेद्युदेजिचेतिसातिसाहिभ्यश्च । ३ । १ । १३८ । इति शः, ज्वल इति 'ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः । ३ । १ । १४० ।' इति णस्य विकल्पनात्पचाद्यच् ॥ ७९ ॥

अवश्यायकणास्त्रावाश्वारुमुक्ताफलत्विषः ।

कुर्वन्ति चित्तसंस्त्रावं चलत्पर्णाग्रिसम्भृताः ॥ ८० ॥

अवश्यायेत्यादि—अवश्यायत इत्यवश्यायैः तस्य कणा विन्दवः । अ-

न्तीत्यास्तावाः क्षरन्तः । 'श्याद्व्यधासुसंरुवतीणवसावह्लिहश्लिपश्वसश्च । ३ । १४१ ।' इति णः कर्तरि । तयोर्विशेषणसमासे राजदन्तादित्वा-
निपातः । ते कुर्वन्ति चित्तसंस्त्रावम् । संस्त्रवतीति संस्त्रावः । पूर्ववत्
चित्तं संस्त्रावं चलत्कुर्वन्ति इत्यर्थः । पूर्ववत् समासपरनिपातौ ।
दशाश्चलत्पर्णाप्रसंभृताः संगलिताः । अत एव चारुमुक्ताफलत्विष्वः दर्शनी-
क्ताफलानुकारिणः । सीताहारस्थमक्ताफलानि स्मारयन्तीत्यर्थः ॥ ८० ॥

अवसायो भविष्यामि दुःखस्याऽस्य कदाऽन्वहम् ।

न जीवस्यावहारो मां करोति सुखिनं यमः ॥ ८१ ॥

अवसाय इत्यादि—कदा नु कस्मिन्ननु काले अहं दुःखस्यानुभूयमानस्य सन्ता-
य अवसायोऽन्तकरो भविष्यामि येन जीवस्यावहारोऽवहर्ता यमो मां
खिनं न करोति मारयतीत्यर्थः । अवस्यति इति अवसायः । षोऽन्तकर्मणि ।
वहर्तीत्यवहारः । 'श्याद्व्यधासुसंरुवतीणवसावह्लिहश्लिपश्वसश्च । ३ ।
। १४२ ।' इति सर्वत्र णः । युक् ॥ ८१ ॥

दह्ये ऽहं मधुनो लेहैर्दौवैरुग्रैर्यथा गिरिः ।

नायः कोऽत्र स येन स्यां बत्ताऽहं विगतज्वरः ॥ ८२ ॥

दह्य इत्यादि—मधुनो लेहैर्भृङ्गैः अहं दह्ये । 'श्याद्व्यधासुसंरुवतीणवसा-
ह्लिहश्लिपश्वसश्च ३।१।१४१।' इति णः । दौवैर्वनाग्निभिरुग्रैः प्रचण्डैर्यथा
गिरिर्दह्यते तद्वत् । अत्र को नायः नयतीति नायः उपायः ईप्सितप्रापकः ।
भयत्र 'दुन्योरनुपसर्गे । ३।१।१४२।' इति णः । येन नायेन विगतज्वरः
वेगतपीडः स्यामिति । आशंसायां लिङ् । वत खेदे ॥ ८२ ॥

समाविष्टं ग्रहेणेव ग्राहेणेवाऽऽत्तमर्णवे ।

दृष्ट्वा गृहान् स्मरस्येव वनान्तान् मम मानसम् ॥ ८३ ॥

समाविष्टमित्यादि—वनान्तान् वनपर्यन्तान् । स्मरस्य कामस्य गृहमिवा
उन्मादकत्वात् । 'गेहे कः । ३।१।१४४।' इति ग्रहेः कः । अर्धर्चादिपाठात्
दुलिङ्गता । दृष्ट्वा मम स्थितस्येत्यर्थात् योज्यम् । अन्यथा कथं समानकर्तृकत्वम् ।
मानसं चेतः ग्रहेणाङ्गारकादिना । समाविष्टमिव निगृहीतमिव । 'विभाषा
महः । ३।१।१४३।' इति णप्रत्ययः । अचोऽपवादः । तत्र व्यवस्थितविभाषा-
वेज्ञानात् जलचरे ग्राहः ज्योतिषि ग्रह इति जलचरे वाच्येऽचोपवादो

णप्रत्ययः, ज्योतिषि वाच्येऽच् प्रत्ययः । ग्राहेणेवात्तमर्णवे । अर्णः पातं
यत्रास्तीति । 'केशाद्वोऽन्यतरस्याम् । ५।२।१०९ ।' इत्यत्र 'अर्णसो लोप
इति भूम्नि नित्ययोगेऽतिशायने वा वः सलोपश्च । अर्णवे समुद्रे वर्तमा
ग्राहेन नक्रादिना आत्तं गृहीतम् । आङ्पूर्वस्य दावः 'अच उपसर्गात्
७।४।४७।' इति तादेशः ॥ ८३ ॥

वाताऽऽहतिचलच्छाखा नर्तका इव शाखिनः ।

दुःसहा ही परिक्षिप्ताः कणद्भिरलिगाथकैः ॥ ८४ ॥

वातेत्यादि—ही कष्टम् एते शाखिनः नर्तका इव । 'शिल्पिनि
।३।१।१४५।' दुःसहा दुःखेन सहन्त इति 'ईषदुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु
।३।३।१२६।' इति खल् । नर्तकैः साधर्म्यमाह । वाताहतिचलच्छ
वाताहतिभिः चलन्त्यः शाखा बाहुलता इव येषां ते । अल्लयो भ्र
कणन्तः गाथका गायना इव । 'गस्थकन् ।३।१।१४६।' इति कन् ।
परिक्षिप्ता परिवेष्टिता इति ॥ ८४ ॥

एकहायनसारङ्गती रघुकुलोत्तमौ ।

लवकौ शत्रुशक्तीनामृष्यमूकमगच्छताम् ॥ ८५ ॥

एकहायनत्यादि—रघुकुलोत्तमौ रामलक्ष्मणौ । ऋष्यमूकमगच्छतां
न्तौ । लडि रूपम् । हायनः संवत्सरः स एको यस्य सारङ्गस्य स
स्यैव गतिर्ययोः शीघ्रगामित्वात् । 'हश्च व्रीहिकालयोः ।३।१।१४८।'
धातोर्णुट् । आतो युक् । तौ शत्रुशक्तीनां लवकौ अपनेतारौ । 'पु
मभिहारे वुन् ।३।१।१४९।' इति वुन् । तत्र समभिहारग्रहणं सा
त्वोपलक्षणार्थम् ॥ ८५ ॥

तौ धालिप्रणिधी मत्वा सुग्रीवो ऽचिन्तयत्कपिः ।

वन्धुना विगृहीतोऽहं भयासं जीवकः कथम् ॥ ८६ ॥

१ 'भूमनिन्द्राप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।' इति मत्वर्थीनः २ 'ही वि
प्रनोदे च' इति त्रिकाण्डशेषव्याख्यायां चकारेण खेदे च इत्युक्तत्वात्, 'ही कान्
गमनम्' इत्युदाहृतत्वाच्च । ३ 'द्विरेफपुष्पलिङ्मृद्गपद्भ्रमरालयः ।' इत्यम
४ 'हायनोऽस्त्री शरत् समाः इत्यमरः । ५ 'चातके हरिणे पुंसि सारङ्गे शबले त्रि
इत्यमरः ।

तावित्यादि—तौ रामलक्ष्मणौ वालिनः प्रणिधी चरौ मत्वा सुग्रीवः
 रंचिन्तयत् चिन्तितवान् । प्रणिधीयते नियुज्यते कार्येषु प्रणिधिः ।
 त्सर्गे घोः किः । १३११२१' इति किः । बन्धुना भ्रात्रा विगृहीतो विरोधितः
 [कथं जीवको भूयासमिति । आशंसायां लिङ् । जीवेः 'आशिषि च
 १११५०' इति वुन् ॥ ८६ ॥

इति निरुपपदकृदधिकारः ।

इतः प्रभृति 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् १३११२१' इति अस्योपस्थापनेन
 ते दर्शयन्नाह—

स शत्रुलावौ मन्वानो राघवौ मलयं गिरिम् ।

जगाम सपरीवारो व्योममायामिवोत्थितम् ॥ ८७ ॥

स इत्यादि—स सुग्रीवः सपरीवारः सपरिकरः । 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये
 लम् १६३१२२१' इति दीर्घः । कपीनाममनुष्यत्वात् । मलयं गिरि
 ताम् । राघवौ शत्रुलावौ शत्रून् लुनीत इति 'कर्मण्यण् १३२११' शत्रूणामु-
 लकाविति मन्वानोऽवगच्छन् । 'मनु अवबोधने' इत्यस्मादात्मनेपदिनः
 नादिकृञ्भ्य उः १३११७९१' व्योममायामिवोत्थितं व्योम आकाशं
 मीत इति 'ह्लावामश्च १३२१२१' इत्यण् । नभः परिच्छेतुमिवोत्थितं
 यत्प्रमाणमस्येति ॥ ८७ ॥

शर्मदं मारुतिं दूतं विषमस्थः कपिद्विषम् ।

शोकाऽपनुदमव्यग्र प्रायुङ्क्त कपिकुञ्जरः ॥ ८८ ॥

शर्मदमित्यादि—कपिकुञ्जरः सुग्रीवः हनुमन्तं दूतं प्रायुङ्क्त प्रस्थापितवान् ।
 न्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम् १२११६२१' इति कर्मधारयः समासः ।
 ज्ञान्तं ज्ञानुमित्यर्थ्यात् । प्रायुङ्क्त इति 'प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु ११३१६४१'
 यात्मनेपदम् । 'रुधादिभ्यः श्नम् १३११७८१' कपिकुञ्जरः । किम्भूतः विषमे
 र्गमपर्वते तिष्ठतीति विषमस्थः । 'सुपि स्थः १३२१४१' इति कः । मारुतिं
 रुतनन्दनं हनुमन्तमित्यर्थः । कीदृशं शर्मं कल्याणं ददातीति शर्मदः । 'आतो-
 उपसर्गे कः १३२१३१' इति कः । श्रेष्ठत्वमाह कपिद्विषं कपिश्रेष्ठम् । द्वाभ्यांपिबतीति
 पः कपिरयं द्विष इव । 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे १' २११५६१

१ 'यथाऽर्हवर्णः प्रणिधिरपसर्पश्चरः स्पशः । चारश्च गूढपुरूपः' इत्यमरः ।
 'शर्मशातसुखानि च, इत्यमरः । ३ द्विपो हस्ती । 'द्विरदोऽनेकपो द्विपः' इत्यमरः ।

इति कर्मधारयः । पुनः कीदृशं शोकापनुदं शोकमपनुदति । 'तुन्दशोके
परिमृजापनुदोः । ३ । २ । ५ ।' इति कः । अव्यग्रं सुचित्तमित्यर्थः ॥ ८८ ॥

विश्वासप्रदवेषोऽसौ पथिप्रज्ञः समाहितः ।

चित्तसंख्यो जिगीषूणामुत्पपात नभस्तलम् ॥ ८९ ॥

विश्वासेत्यादि--असौ मारुतिर्नभस्तलमुत्पपात । विश्वासं प्रददातीति
विश्वासप्रदः । 'प्रे दाज्ञः । ३ । २ । ६ ।' इति कः । विश्वासप्रदो वेषो यः
भिक्षुवेष इत्यर्थः । वेष्यते आत्माऽनेनेति, 'अकर्तरि क्विं कारके संज्ञायाम् । ३ ।
१९ ।' इति घञ् । 'विष्ल व्याप्तौ' इत्यस्य रूपम् । पन्थानं प्रजानातीति पथिप्रज्ञ
समाहितः अभ्रान्तचित्तः 'इदमादिष्टम्, इदं च मया तत्र वक्तव्यम्' इति
जिगीषूणां जेतुमिच्छताम् । चित्तसंख्यः चित्तं संख्याति परिच्छिनत्तीति, 'सं
ख्यः । ३ । २ । ७ ।' इति कः ॥ ८९ ॥

सुरापैरिव घूर्णद्भिः शाखिभिः पवनाऽऽहृतैः ।

ऋष्यमूकमगाद् भृङ्गैः प्रगीतं सामगैरिव ॥ ९० ॥

सुरापैरित्यादि--मारुतिर्ऋष्यमूकमगात् । शाखिभिरुपलक्षितम् । घूर्णद्भिः
कम्पमानैः पवनाहतत्वात् । अत एव सुरापैरिव मत्तैरिव । 'गापोष्ट्क् । ३ ।
८ ।' इत्यत्र 'पिवतेः सुराशीध्वोरिति वाच्यम्' इति टक् । प्रगीतं प्रगीयतेऽत्रेति
अधिकरणे क्तः । कैरिव भृङ्गः सामगैरिव सामवेदपाठकैरिव । साम गायन्तीति
'गापोष्ट्क् । ३ । २ । ८ ।' इति टक् ॥ ९० ॥

तं मनोहरमागत्य गिरिं वर्महरौ कपिः ।

वीरौ सुखाऽऽहरोऽवोचद्भिक्षुर्भिक्षार्हविग्रहः ॥ ९१ ॥

तमित्यादि--तमृष्यमूकं गिरिमागत्य कपिर्वीरौ रामलक्ष्मणौ अत्र
चत् उक्तवान् । कीदृशं मनोहरं रम्यत्वात् । मनो हरतीति, हरतेरनुद्यमनं
३ । २ । ९ ।' इत्यच् । वर्महरौ कवचं हर्तुं क्षमौ । संभाव्यमानवयसावित्यर्थ
वयसि च । ३ । २ । १० ।' इत्यच् । सुखाहरः सुखाहरणशीलः, 'आ
ताच्छील्ये । ३ । २ । ११ ।' इत्यच् । भिक्षुः परिव्राड्वेषः न कपिरूपः यतो विश्व
सप्रदवेष इत्युक्तम् । भिक्षार्हविग्रहः भिक्षायोत्पशरीरः कृशत्वादित्यर्थः
भिक्षामर्हतीति, 'अर्हः । ३ । २ । १२ ।' इत्यच् ॥ ९१ ॥

बलिनावमुमद्रीन्द्रं युवां स्तम्बैरमाविव ।

आचक्ष्वाथामिथः कस्माच्छङ्करेणापि दुर्गमम् ॥ ९२ ॥

बलिनावित्यादि—युवाम् अमुम् अद्रीन्द्रम् । कस्मात् कारणादिथः प्राप्तौ । 'गतौ' इत्यस्मात् 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा । ३ । ३ । १३१ ।' इति रूपम् । भूते लट् थस् । एतदाचक्ष्वाथां कथयतम् । लोटि रूपम् । ऊनौ बलवन्तौ । यतः शङ्करेणापि महादेवेनापि दुर्गमम् दुःखेन गम्यते । विव स्तम्बैरमाविव यथा मत्तद्विषौ प्राप्नुतस्तद्वत् । 'स्तम्बकर्णयो मेजपोः । ३ । २ । १३ ।' इत्यच् कर्तरि हस्तिन्यभिधेये 'हस्तिचक्रयोः' इति वचनात् । शंकर इति 'शमि धातोः संज्ञायाम् । ३ । २ । ४ ।' इत्यच् ॥ ९२ ॥

दुर्गमत्वदर्शनायाह—

व्याप्तं गुहाशयैः क्रूरैः क्रव्याद्भिः सनिशाचरैः ।

तुङ्गशैलतरुच्छन्नं मानुषाणामगोचरम् ॥ ९३ ॥

व्याप्तमित्यादि—कीदृशमद्रीन्द्रं क्रव्यमपकमांसं भक्षयद्भिः । क्रव्योपपदाददेः 'क्रव्ये च । ३ । २ । ६९ ।' इति विट् । क्रूरैः हिंसकैः सिंहादिभिः सनिशाचरैः राक्षससहितैर्व्याप्तम् । गुहाशयैः गुहायां शरेते इति शीङः 'अधिकरणे शेतेः । ३ । २ । १५ ।' इत्यच् । तुङ्गाः उच्चाः शैलाः शिलायां भवा ये तरवस्तैश्छन्नं व्याप्तम् । अतः एव मानुषाणामगोचरम् अगम्यम् । 'गोचरसञ्चरवह्व्रजव्यजापणनिगमाश्च । ३ । ३ । ११९ ।' इति निपातितः ॥ ९३ ॥ इति प्रागुक्तप्राधिकारः । इत ऊर्ध्वं खशादिप्रत्ययानाह—

सत्त्वमेजयसिंहाढ्यान् स्तनंधयसमत्विषौ ।

कथं नाडिन्धमान्मार्गानागतौ विषमोपलान् ॥ ९४ ॥

सत्त्वमित्यादि—युवामिमाम् मार्गान् कथमागतौ । सत्त्वमेजयसिंहाढ्यान् सत्त्वमेजयन्ति ये सिंहाः, 'एजेः खश् । ३ । २ । २८ ।' 'अरुद्धिषदजन्तस्य मुम् । ६ । ३ । ६७ ।' इति मुम् । तैराढ्यान् व्याप्तान् । सिंहग्रहणं तद्वद्विस्त्रोपलक्षणार्थम् । हिनस्तीति सिंहः । पृषोदरादित्वाद्वर्णविपर्ययः । नाडिन्धमानिति । उच्चनीचाधिरोहणात् दुर्मुहुर्निःश्वासैर्नाडिं धमन्तीति 'नाडीमुपृथोश्च ।

१ 'इभः स्तम्बैरमः पत्नी' इत्यमरः । २ 'पिशितं तरसं मांसं पल्लं क्रव्यमक्षियाम् ।' इत्यमरः ।

३।२।३ ।' इति खश् । 'खित्यनव्ययस्य । ६ । ६६ ।' इति ह्रस्वः । विपमो
लान् उन्नतपाषाणयुक्तान् । स्तनन्धयसमत्विषौ बालवन्सुकुमारौ । सामर्थ्यं पु
र्युवयोरचिन्त्यम् । स्तनं धयतः पिबतः । 'नासिकास्तनयोर्धर्माधेदोः । ३।२।३
इति खश् । 'अर्हद्विषदजन्तस्य मुम् । ६ । ३ । ६७ ।' इति मुम् ॥ ९४ ॥

उत्तीर्णौ वा कथं भीमाः सरितः कूलमुद्गहाः ।

आसादितौ कथं ब्रूतं न गजैः कूलमुद्गुजैः ॥ ९५ ॥

उत्तीर्णावित्यादि—कथं वा केनोपायेन युवां सरितो नदीरुत्तीर्णौ । भी
मासकरीः । यतः कूलमुद्गहाः कूलमापर्यु वहन्त्यः । 'उदि कूले रुजिव
। ३।२। ३१ ।' इति खश् । गजैः कूलमुद्गुजैः कूलं भिन्दाद्भिः कथं नासादितौ न
व्यापादितौ इति ब्रूतं कथयतम् ॥ ९५ ॥

रामोऽवोचद्धनुमन्तमावामभ्रंलिहं गिरिम् ।

एव विद्वन् पितुः कामात्पान्तावलपंचान्मुनीन् ॥ ९६ ॥

राम इत्यादि—हनुर्वदनैकदेशः स निन्दितोऽस्यास्तीति निन्दायां मत्तु ।
'अन्येषामपि दृश्यते । ६।३।१३७' इति दीर्घः । 'हनुमान् हनुमानौ'
इति विश्वदर्शनात् । तस्य किल जातमात्रस्य आदित्यरथं गृह्यतो हनुद्वयं मम
मिति श्रूयते । तं रामोऽवोचत् उक्तवान् । तत् किमित्याह—हे विद्वन् यदं
गिरिमावामैव आगता तत् पितुः कामादभिप्रायात् । आङ्पूर्वादिणो ली
रूपम् । अभ्रंलिहमुच्चैस्तरम् । अभ्रं लेडीति, 'वहाभ्रे लिहः । ३।२।३२।' इति
खश् । किं कुर्वाणौ पान्तौ रक्षन्तौ । मुनीन् अल्पम्पचान् अल्पसन्तुष्टान्
अल्पं पचन्तीति 'मितनखे च । ३।२।३४।' इति मितेत्यर्थग्रहणात् खश्
चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाद्वा ॥ ८६ ॥

कः पुनः पिता यदादेशादागतावित्यत आह—

अमितंपचमीशानं सर्वभोगिणमुत्तमम् ।

आवयोः पितरं विद्धि ख्यातं दशरथं भुवि ॥ ९७ ॥

अमितम्पचमित्यादि—आवयोः पितरं दशरथनामानं भुवि ख्यातं विधि
जानीहि । 'हुञ्जल्भ्यो हेर्धिः । ६।४।१०१।' अमितम्पचं महासत्रिणं पूर्वव

१ स्तनन्धयाभ्यां बालाभ्यां समा त्विद् ययोस्तौ । २ आदित्यस्य सूर्यस्य
रथमित्यर्थः । 'सूरसूर्यार्यमादित्यद्वादशत्मदिवाकराः ।' इत्यमरः । ३ 'इच्छामनो
भवौ कामौ' इत्यमरः ।

मुम् च। ततो नञ्समासः। ईशानमीशनशीलं स्वामिनमित्यर्थः। 'ताच्छीत्य-
प्रचनशक्तिषु चानश् ॥३१॥३२९॥' इति चानश् । सर्वभोगीणं सर्वसत्त्व-
य हितम् । 'आत्मन्विश्वाजनभोगोत्तरपदात्त्वः । ५।१।९ ।' इति खः । भोग-
ोऽत्र शरीरवाची । 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि । ८।४।२' इति
म् ॥ ९७ ॥

।दि पितुरादेशादागतौ किमत्रामनेनान्वेषयथ इत्याह—

छलेन दयिताऽरण्याद्रक्षसाऽरुन्तुदेन नः ।

असूर्यपश्यया मूर्त्या हता तां मृगयावहे ॥ ९८ ॥

छलेनेत्यादि—नोऽस्माकं दयिता अरण्याद्रक्षसा हता । क्रीदशेन अरु-
न मर्मस्पृशा । 'विध्वरूपोस्तुदः । ३।२।३५।' इति खश् । ततो मुम् ।
म्पश्यया आदित्यगोप्यया मूर्त्या शरीरेणोपलक्षिता । 'असूर्यललाटयो-
त्तपोः । ३।२।३६।' इति खश् । तां हतां मृगयावहे गवेपयावः । 'मृग
पणे' स्वार्थिकण्यन्तः । युवयाः पौरुषान्वितत्वान् कथं हतेत्याह—छलेन
ता ॥ ९८ ॥

वं पुनः कस्य वेत्यत आह—

प्रत्यूचे मारुती राममस्ति वालीति वानरः ।

शमयेदपि संग्रामे यो ललाटंतपं रविम् ॥ ९९ ॥

प्रत्यूच इत्यादि—रामं मारुतिः प्रत्यूचे प्रत्युक्तवान् । अस्ति वालीति नाम्ना
धरः यः संग्रामे युद्धे ललाटन्तपं सर्वेषामुपरि वर्तमानं रविं पूर्ववत्
र्यललाटयोर्द्विशितपोः । ३।२।३६। इति खश् । शमयेत् पराजयेदिति
।वने लिङ् । वालिशब्दो नान्तः, इदन्तश्च । तथा च 'वाली वालिश्च कथ्यते'
शब्दभेदः ॥ ९९ ॥

उग्रम्पश्येन सुग्रीवस्तेन भ्राता निराकृतः ।

तस्य मित्रीयतो दूतः सम्प्राप्तोऽस्मि वशंवदः ॥ १०० ॥

।ग्रम्पश्येनेत्यादि—तेन भ्राता उग्रम्पश्येन पापं विजानता । 'उग्रम्पश्य-
पाणिन्धमाश्च । ३।२।३७।' इति निपातितम् । यश्च सुग्रीवो निराकृतोऽभिभू-
स्तस्य हि दूतः प्राप्तोऽस्मि । वशंवदः । वशमनुकूलं वदतीति वशंवदः । 'प्रिय-
शे वदः खच् । ३।२।३८।' क्रीदशस्य मित्रीयता मित्रमिच्छतः । 'सुप आत्मनः
यच् । ३।१।८।' इति क्यच् ॥ १०१ ॥

किं तेन सख्योति चेदाह—

प्रियंवदोऽपि नैवाऽहं ब्रुवे मिथ्या परन्तप ।

सख्या तेन दशग्रीवं निहन्तासि द्विषन्तपम् ॥ १०१ ॥

प्रियवद इत्यादि—प्रियंवदतया लोको मिथ्या वदति अहं प्रियंव
नैव मिथ्या ब्रुवे वदामि । पूर्ववत् खच् । परन्तप शत्रूणामुपतापयितः । द्वि
त्परयोस्तपिः । ३।२।३९। इति खच् । तेन सुग्रीवोण सख्या मित्रेण दश
निहन्तासि हनिष्यासि । हन्तेर्लुटि रूपम् । कीदृशं द्विषन्तपम् शत्रूणां
तापयितारम् । पूर्ववत् खच् ॥ १०१ ॥

वाचंयमोऽहमनृते सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ।

एहि सर्वसहं मित्रं सुग्रीवं कुरु वानरम् ॥ १०२ ॥

वाचयम इत्यादि—वाचंयमैः मनिरित्यर्थः । 'वाचंयमपुरन्दरौ चा६।३।६१'
इति मुमागमो निपात्यते । तस्मात् सत्यमेतत् पूर्वोक्तम् । ब्रवीमि ते तुभ्यम् ।
तादर्थ्ये चतुर्थी । यत् एवं तस्मादेहि आगच्छ । सुग्रीवं वानरं मित्रं कुरु । कीदृशं
सर्वसहं सर्व सहत इति 'पूःसर्वयोर्दारिसहोः । ३।२।४१।' इति खच् ॥ १०२ ॥
सर्वङ्कपयशःशाखं रामकल्पतरुं कपिः ।

आदायाऽभ्रङ्कपं प्रायान्मलयं फलशालिनम् ॥ १०३ ॥

सर्वङ्कपेत्यादि—रामः कल्पतरुरिव यस्तमादाय गृहीत्वा कपिः प्राय
गतः । कीदृशं रामम् सर्वङ्कपयशःशाखं सर्व कपन्ति व्याप्नुवन्ति क
यशांसि । 'सर्वकूलाभ्रकरीरेपु कपः । ३।२।४२।' इति खच् । तान्येव शा
यस्य । फलशालिनमभिमतफलसम्पादनात् । अभ्रङ्कपमुच्चैस्तरं मलयम् । पू
वन् खच् ॥ १०३ ॥

मेघङ्करमिवायान्तमृदुं रामं क्लृमान्वितः ।

दृष्ट्वा मेने न सुग्रीवो वालिभानुं भयंकरम् ॥ १०४ ॥

मेघङ्करमित्यादि—राममायान्तं दृष्ट्वा । सुग्रीवो वालिनं भानुमिव भयं
करं भीतिजनकं न मेने न बुद्धवान् । मेघर्तिभयेषु कृच्छ्रः ३।१।४८। इति ग्

१ मधुरभाषणकर्तृत्वयेत्यर्थः । 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् ब्रूयात्स्वन्यमप्रियम् । मित्रं
च नानृतं ब्रूयादेप धर्मः सनातनः ॥' इति मनुवचनंस्मरतेदमुक्तम् । २ 'तपस्य
तापसः पारिकाट्की वाचंयमो मुनिः ।' इत्यमरः । ३ सर्वसहम् अतिधीरमित्यर्थः
अविचलस्त्वभावमिति भावः । ४ लाक्षणिकोयमर्थः ।

कुमान्वितो ग्लानो वालिभानुना पीडितत्वात् । कीदृशं रामं मेघङ्करमृतुमिव
प्रावृट्कालमिव । 'मेघर्तिभयेषु कृञ्ः ।३।२।४३।' इति खच् ॥ १०४ ॥

उपाग्न्यकुरुतां सख्यमन्योन्यस्य प्रियङ्करौ ।

क्षेमङ्कराणि कार्याणि पर्यालोचयतां ततः ॥ १०५ ॥

उपाग्नीत्यादि—उपाग्नि अग्निसमीपे 'अन्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिवृद्धय-
र्भावात्पय्यासम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथाऽनुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसम्पत्ति- ।
साकल्यान्तवचनेषु २।१।६।' इति समासः । (रामसुग्रीवौ) सख्यमकुरुताम् ।
'इतः प्रभृत्यावयोः सख्यम्' इति । अन्योन्यस्य प्रियङ्करौ । 'क्षेमप्रियमद्रे-
ऽण् च ।३।२।४४।' इति चकारात् खच् । ततः सख्यकरणानन्तरं क्षेमङ्क-
राणि हितजनकानि । यथास्वं कार्याणि प्रत्यालोचयतां निरूपितवन्तावि-
त्यर्थः । पटपुटेत्यत्र चुरादिकाण्डे धातौ 'लोचू' पठ्यते तस्य लङि रूपम् ॥ १०५ ॥

आशितम्भवमुत्कृष्टं वलिगतं शयितं स्थितम् ।

वह्नमन्यत काकुत्स्थः कपीनां स्वेच्छया कृतम् ॥ १०६ ॥

आशितम्भवमित्यादि—आशितम्भवमशनम् । 'आशिते भुवः करणभा-
वयोः ।३।२।४५।' इति खच् । उत्कृष्टं किलकिलायितम् । वलिगतं धावन्-
नम् । तथा शयितं स्थितं च । कपीनां स्वेच्छया कृतम् एतत्काकुत्स्थो वह्नम-
न्यत श्लाघितवान् । पुण्यभाज इमे यदेपां स्वेच्छाविहारिणां चेष्टितम् । अस्माकं
तु शोकसन्तप्तानां न किञ्चिदस्तीति । सर्वत्र 'नपुंसके भावे क्तः ।३।३।११४।' इति सूत्रेण भावे निष्ठा ॥ १०६ ॥

ततो बलिंदमप्रख्यं कपिविश्वम्भराऽधिपम् ।

सुग्रीवः प्राब्रवीद्रामं वालिनो युधि विक्रमम् ॥ १०७ ॥

तत इत्यादि—ततः कार्यालोचनानन्तरं सुग्रीवः प्राब्रवीत् । लङि 'ब्रुव
इट् । ७।३।९३।' इतीट् किमुक्तवान्—वालिनो युधि विक्रमं शौर्यमिति प्रधानं कर्म
राममित्यकथितम् । कीदृशं रामम् बलिंदमप्रख्यं विष्णुतुल्यम् । बलिंदमयतीति
'संज्ञायां भृतृवृजिधारिसाहितपिदमः ।३।२।४६।' इति खच् । अमन्तस्य मित्व-
ह्रस्वत्वे । तथा विश्वं विभर्तीति विश्वम्भरा तस्या अधिपम् अधिपातीत्यधिप-
स्तम् 'आतश्चोपसर्गे कः ।३।१।१३६।' इति कः ॥ १०७ ॥

वसुन्धरायां कृत्स्नायां नाऽस्ति वालिसमो बली ।

हृदयङ्गममेतत्त्वां ब्रवीमि न पराभवम् ॥ १०८ ॥

वसुन्धरायामित्यादि—वसुन्धरायां पूर्ववत् खच् । वालिना समोऽन्यो बली बलपुक्तो नास्तीति हृदयङ्गमं सम । स्वानुभवं हि वस्तु हृदयङ्गममित्युच्यते । तेन संज्ञायामित्याधिकृत्य 'गमश्च ।३।२।४७।' इति खच् । न पुनस्त्वां पराभवमभिभवं ब्रवीमि ॥ १०८ ॥

इति खजधिकारः ।

एवंपराक्रमोऽसौ तत्र किं त्वं करिष्यसीत्याह—

दूरगैरन्तगैर्बाणैर्भवानत्यन्तगः श्रियः ।

अपि संक्रन्दनस्य स्यात् क्रुद्धः किमुत वालिनः ॥ १०९ ॥

दूरगैरित्यादि—यतो भवान् क्रुद्धः सन् सङ्क्रन्दनस्यापि शकस्यापि । 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः ३।१।१३४।' इति ल्युः । बाणैः करणभूतैः । दूरगैः दूरं गच्छन्तीति । अन्तगैः कार्यसमापकैः । 'अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः ।३।२।४८।' इति डः । श्रियो लक्ष्म्याः अत्यन्तगः विनाशयिता स्यात् । अत्यन्तं पर्यवसानं गच्छतीति । किं पुनर्वालिनो राजलक्ष्म्या अत्यन्तगो भवान्विनाशयितेति ॥ १०९ ॥

वरेण तु मुनेर्वाली संजातो दस्युहो रणे ।

अवार्यप्रसरः प्रातश्चन्निव तमोऽपहः ॥ ११० ॥

वरेणेत्यादि—मुनेस्तु वरेण दस्युहः दस्यून् शत्रून् वध्यादिति । 'आशिषिहनः ।३।२।४९।' डः । अतो रणे अवार्यप्रसरोऽनभिभवनीयगतिः सञ्जातः । क इव तमोऽपह इव । तमोऽपहः आदित्यैः । तमोऽपहन्तीति । 'अपे वृद्धतमसोः ।३।२।५९।' इति डः । प्रातः प्रभाते उद्यन् उद्वृच्छन् । उत्पूर्वादिभ्यः शतरि 'इणो यण्' । अवार्यप्रसरस्तद्वदसावपि । 'सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति' इति न्यायेन प्रातरप्युद्यन्नवार्यप्रसर एवेति भावः । तेन सर्वकाले अस्यावार्यप्रसरस्य सिद्धं, न तु प्रातरेवोद्यन्नवार्यप्रसर इति बोध्यम् ॥ ११० ॥

१ 'सङ्क्रन्दनो दुश्चयवनस्तुपाराणमेववाहनः ।' इत्यमरः । २ कार्यसाधकैरिति भावः । ३ 'द्विद्विषपक्षाहितामिन्द्रस्युशात्रवशत्रवः ।' इत्यमरः । ४ सूर्य इति यावत् । ५ न वार्यः वारयितुं (निवारयितुं) शक्यः प्रसरः प्रभावाधिकारो यस्य स इति ।

अतिप्रियत्वात् नहि मे कातरं प्रतिपद्यते ।

चेतो वालिवधं राम ! क्लेशापहमुपस्थितम् ॥ १११ ॥

अतीत्यादि—हे राम ! मदीयं चेतो वालिवधं कर्मीभूतमुपस्थितं प्राप्तं नहि प्रतिपद्यते नैव प्रत्येति निश्चिनोति इत्यर्थः । यस्मात् कातरं व्याकुलम्, वालिनोऽतिबलयुक्तत्वात् । कीदृशं वधं क्लेशापहं दुःखस्योन्मूलकम् । पूर्ववद्भूः । अतिप्रियत्वाद्वालिवधस्य । यस्य हि यत्प्रियं तत्सिद्धमेपि असौ न प्रत्येति ॥ १११ ॥

इति डाधिकारः ।

उपस्थितोऽस्य वध इति कथं ज्ञायत इत्याह—

शीर्षघातिनमायातमरीणां त्वां विलोकयन् ।

पतिघ्नीलक्षणोपेतां मन्येऽहं वालिनः श्रियम् ॥ ११२ ॥

शीर्षेत्यादि—अरीणां शत्रूणां शीर्षघातिनं मस्तकच्छेत्तारमित्यर्थः । 'कुमारशीर्षयोर्णितिः । ३ । २ । ५१ ।' इति निपातनात् शिरसः शीर्ष-भावः । आयातं विलोकयन् वालिनः श्रियं पतिघ्नीलक्षणोपेतामहं मन्ये । पतिं हन्ति यलक्षणं तेनोपेतामिवेतीवार्थोऽत्र द्रष्टव्यः । 'अमनुष्यकर्तृके च । ३ । २ । ५३ ।' इति टक् । 'गमहनजनखनघसां लोपः क्लिडित्यनङि ६ । ४ । ९८ ।' इत्युपधालोपः । 'हो हन्तेर्णिग्नेपु । ७ । ३ । ५४ ।' इति कुत्वम् ॥ ११२ ॥

शत्रुघ्नान्युधि हस्तिघ्नो गिरीन्क्षिप्यन्नकृत्रिमान् ।

शिल्पिभिः पाणिघैः क्रुद्धस्त्वया जय्योऽभ्युपायवान् ॥ ११३ ॥

शत्रुघ्नानित्यादि—किञ्च युधि संग्रामे वाली त्वया जय्यः जेतुं शक्यो यदि युष्मदस्त्राणां शक्तिर्दृष्टा तां च द्रष्टुमिच्छामीति वक्ष्यमाणाभिप्रायः । 'क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे । ६ । १ । ८१ ।' इत्ययादेशनिपातनम् । कीदृशः अभ्युपायवान् युद्धोपाययुक्तः । किं कुर्वन् क्रुद्धः क्षिप्यन् गिरीन् । 'दिवादिभ्यः श्यन् । ३ । १ । ६९ ।' इति श्यन् । अकृत्रिमान् देवनिर्मितान् । शत्रुघ्नान् शत्रून् हन्तीति

१ 'चित्तं तु चेतो हृदयम्' इत्यमरः । २ आहादकमिति भावः । ३ 'अपे क्लेशतमसोः । ३ । २ । ५०' इति शाखेणोति शेषः । ४ 'संयत्समित्वाजिसामिद्युधः' इत्यमरः । ५ पर्वतानित्यर्थः । 'अग्निगोत्रगिरिप्रावाचलशैलशिलोच्चयाः ।' इत्यमरः ।

‘अमनुष्यकर्तृके च । ३ । २ । ५३ ।’ इति टक् । हस्तिन्न इव हस्तिन्नः हन्तुं शक्
‘शक्तौ हस्तिकप्राटयोः । ३ । २ । ५४ ।’ इति सूत्रस्व मनुष्यकर्तृकार्थारम्भकत्वा
वाली चामनुष्यः । शिल्पिभिर्युद्धकुशलैः वानरैः सह क्षिप्यन् । सहार्थ
गम्यमानत्वात् सहयोगे वृत्तीया । पाणिधैः पाणिवादकैः । ते हि हस्तियुद्धेऽन्व
वाद्यस्यासंभवात् हस्तिमुखमेव वादयित्वा गिरीन् प्रहरणान् क्षिप्यन्ति
‘पाणिघताडधौ शिल्पिनि । ३ । २ । ५५ ।’ इति कर्तरि निपातनम् ॥ ११३

आढ्यङ्करणविक्रान्तो माहिषस्य सुरद्विषः ।

प्रियङ्करणमिन्द्रस्य दुष्करं कृतवान्वधम् ॥ ११४ ॥

आढ्यमित्यादि—अनाढ्यमाढ्यं करोत्यनेनेति । ‘आढ्यसु
स्थूलपलितनम्रान्धप्रियेषु च्यवर्थेष्वचवौ कृञः करणे ख्युन् । ३ । २ । ५६
इति करणे ख्युन् । आढ्यङ्करणं विक्रान्तं यस्य वालिनः । अनाढ्यः ।
विक्रान्तेनाढयो भूत इत्यर्थः । माहिषस्य सुरद्विषो दुन्दुर्भेवधं मरणं
कृतवान् दुष्करं कृच्छ्रसाध्यं प्रियंकरणमिन्द्रस्य तुष्टिकरम् । अप्रियं ।
करोत्यनेनेति पूर्ववत् ख्युन् ॥ ११४ ॥

प्रियम्भावुकतां यातस्तं क्षिपन्योजनम्मृतम् ।

स्वर्गे प्रियम्भविष्णुश्च कृत्स्नं शक्तोऽप्यवाधयन् ॥ ११५ ॥

प्रियमित्यादि—तमेवं सुरद्विषं मृतं पादाङ्गुष्ठेन योजनमञ्चानं क्षि
प्रेरयन् । क्षिपेस्तौदादिकस्योभयपदिनो रूपम् । प्रियम्भावुकतां यातन्
स्वर्गे प्रियम्भविष्णुंश्चासीत् । ‘कर्तरि भुवः खिष्णुञ्चखुकवौ । ३ । २ । ५७
इत्यनेनाढ्यादिपूपपदेषु खिष्णुञ्चखुकवौ । शक्तोऽपि समर्थोऽपि कृत्स्नं लो
मित्यर्थात् । अवाधयन् अपीडयन् । ‘वध संयमे’ इति चौरादिकः तस्य म
रूपम् । स ईदृशस्त्वया शक्यो जेतुं यदि त्वदस्त्राणां सामर्थ्यं दृष्टमित्यं
प्रायेणाप्रवीत् सुग्रीवः ॥ ११५ ॥

रामोऽपि तद्भिप्रायं विदन् यत् कृतवान् तदाह—

जिज्ञासोः शक्तिमस्त्राणां रामो न्यूनधियः कपेः ।

अभिनत्यतिपत्त्यर्थं सप्त व्योमस्पृशस्तस्वन् ॥ ११६ ॥

जिज्ञासोरित्यादि—अस्त्राणां शस्त्राणां शराणामिति यावत् । ‘आयुधं तु
 षरणं शस्त्रमस्त्रम्’ इत्यमरः । शक्तिं जिज्ञासोः ज्ञातुमिच्छोः कपेः सुग्रीवस्य
 नधियः स्वल्पबुद्धेः । यतः प्रमाणान्तरेणापरिज्ञानात् प्रत्यक्षेण ज्ञातुमिच्छतीति
 तेषन्त्यर्थं सम्प्रत्ययार्थं रामः सप्त तरून् तालान् पङ्क्त्या स्थितान् एकेन
 णामिनन् । व्योमस्पृशः । ‘स्पृशोऽनुदंकं किन् । ३।२।५८।’ ॥ ११६ ॥

ततो वालिपशौ वधये रामात्विग्जितसाध्वसः ।

अभ्यभून्निलयं भ्रातुः सुग्रीवो निनदन्दधृक् ॥ ११७ ॥

तत इत्यादि—ततस्तरुभेदनादनन्तरं सुग्रीवो भ्रातुर्निलयं किष्किन्धां
 मभ्यभूत् अभिभूतवान् । कीदृशः दधृक् धृष्टः । ‘ऋत्विग् दधृक्लृगूदि-
 ष्णिगञ्चुयुजिकृञ्चां च । ३।२।५९।’ इति निपातितम् । धृषेः
 ञ् । द्विर्वचनम् । ‘किन्प्रत्ययस्य कुः । ८।२।६२।’ इति कुत्वं
 कारः चर्त्वं ककारः । यस्माद्वालानि पशाविव वधये वधाहं । रामेण
 त्विजा याजकेन जितसाध्वसः अपनीतसाध्वसः । तस्माद्दधृक् । ऋतौ
 जति ऋतुं वा यजति ऋतुप्रयुक्तो वा यजतीति ऋतुपूर्वाघञः किन् ।
 जादित्वात् सम्प्रसारणम् ! इदमृत्विक्शब्दनिर्वचनम् । रूढितस्तु याजयि-
 पु ब्राह्मणेषु किन्प्रत्ययस्य कुः । निनदन् किलकिलाशब्दं कुर्वन् ॥ ११७ ॥

गुहाया निरगाद्वाली सिंहो मृगमिव द्युवन् ।

भ्रातरं युङ् भियः सङ्घे घोषेणाऽऽपूरयन्दिशः ॥ ११८ ॥

गुहाया इत्यादि—तस्य शब्दमाकर्ण्य गुहाया निरगाद्वाली निर्गतः । ‘इणो
 ॥ लुङि । २।४।४५।’ गतिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु । २।४।७७।’ इति
 सेचो लुक् । भ्रातरं द्युवन् अभिगच्छन् । ‘द्यु अभिगमने’ अस्यादादि-
 त्स्य वर्तमानसामीप्ये लटः शतरि उवडादेशो रूपम् । सङ्घे युद्धे ।
 भयो युङ् भीतेर्योक्ता । कर्मणि पष्ठी । भीतिं युञ्जन्नित्यर्थः । युजेः
 पूर्ववत् किन् । ‘युजेरसमासे । ७।१ । ७१।’ इति नुम् । संयोगान्तलोपः ।
 किन्प्रत्ययस्य कुः । ८।२।६२।’ इति ङकारः । कः कमिव । सिंहो मृगमिव
 द्युवन् । घोषेण दिशः आपूरयन् । दिशन्ति इति दिशः । पूर्ववत् किन् ॥ ११८ ॥

१ अत्र ‘ न लोकाव्ययनिष्ठास्त्रलर्थवृत्ताम् २ । ३ । ६९’ इति पष्ठीनिषेधात्
 कर्मविवक्षया द्वितीया । २ तालवृक्षान् । ३ एकपङ्क्तिरूपेण स्थितानित्यर्थः ।
 ४ अत्युच्चानित्यभिप्रायः । ५ अत्रोपमारूपकयोः सन्देहसङ्करः । ६ ‘मृधत्तस्त्वं
 संस्यं समिकं साम्पराधिकम् ।’ इत्यमरः ।

व्यायच्छमानयोर्भूढो भेदे सदृशयोस्तयोः ।

भाणमुद्यतमायंसीदिक्ष्वाकु कुलनन्दनः ॥ ११९ ॥

व्यायच्छेत्यादि-तयोर्वालिसुग्रीवयोर्व्यायच्छमानयोः कलहायमानत्वं सदृशयोः समानयोः भेदे पृथक्त्वे मूढो भ्रान्तः सन् इक्ष्वाकुकुलनन्दनो रामो भाणमुद्यतं सज्जीकृतमायंसीत् उपसंहृतवान् । 'समुदाहृत्य यमो ग्रन्थे । १।३।७५।' इति तद्ध न भवति । अकर्त्रभिप्रायत्वात् । 'कर्त्रभिप्राये' इति वर्तते । 'आडो यमहनः । १३।२८।' इत्यनेनापि स्यात् सकर्मकत्वात् । तत्र 'अकर्मकात्' इति वर्तते । समानपूर्वदृशोः 'समानान्ययोश्च' इत्युपसंख्यानात् 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कश्चिद् ३।२।६०।' इति कञ् । 'दृग्दृश्वतुषु । ६।३।८९।' इति समानसंभावः ॥ ११९ ॥

ऋष्यमूकमगात्क्लान्तः कपिमृगसदृग् द्रुतम् ।

किष्किन्धाऽद्रिसदाऽत्यर्थं निष्पिष्टः कोष्णमुच्छ्वसन् ॥ १२० ॥

ऋष्यमूकमित्यादि-कपिः सुग्रीवः किष्किन्धाद्रिसदा किष्किन्धाद्रिति वासिना वालिना किं किं दधातीति किष्किन्धाऽद्रिविशेषस्य गुहा । 'आतोऽनुपसर्गे कः । ३।२।३।' इति कः । 'पारस्करप्रभृतीनि च सञ्ज्ञायाम् ६।१।१५७।' इति पूर्वस्य सुडागमो मलोपः पत्वं च निपात्यते । तदुपलक्षितोऽद्रिः किष्किन्धाद्रिः । तत्र सिदतीति 'सत्सूद्विपद्रुहदुहयुजविदभिः च्छिदजिनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप् । ३।२।६१।' इति क्विप् । तेनात्यर्थं निष्पिष्टः पीडितः । निष्पिष्टत्वात् क्लान्तः सन् ऋष्यमूकं मृगसदृक् द्रुतमगात् । समानोपपदात् दृशोः पूर्ववत् किन् । कोष्णमीपदुष्णमुच्छ्वसन् । 'कोष्णो चोष्णे । ६।३।१०७।' इति चकारात् कोः कादेशः ॥ १२० ॥

कृत्वा वालिद्रुहं रामो मालया संविशेषणम् ।

अङ्गदंस्वं पुनर्हन्तुं कपिनाऽऽहाययद्रणे ॥ १२१ ॥

कृत्वेत्यादि-वालिद्रुहं सुग्रीवम् । वालिने द्रुह्यतीति 'सत्सूद्विपद्रुहदुहयुजविदभिश्चिदजिनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप् । ३।२।६१।' इति क्विप् । मालया संविशेषणं सचिह्नं कृत्वा भेदपरिज्ञानार्थं रामः अङ्गदंस्वं कृत्वा हन्तुम् । अङ्गदं सूत इति पूर्ववत् किन् । 'ओः सुपि । ३।४।८३।' इति

यणादेशः । तं रणे हन्तुं कपिना सुग्रीवेणाह्वययत् अभिभवं कारितवान् ।
ह्यतेर्हेतुमणिचि 'शाच्छासाह्वयवेपां युक् । ७।३।३७' इति युक् ॥ १२१ ॥

तयोर्वानरसेनान्योः सम्प्रहारे तनुच्छिदम् ।

वालिनो दूरभाग्रामो बाणं प्राणा दमत्यजत् ॥ १२२ ॥

तयोरित्यादि—वानरसेनान्योः वानरस्वामिनोः वालिसुग्रीवयोरित्यर्थः ।
एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य । ६।४।८२' इति यण् । सम्प्रहारे युद्धे प्रवृत्ते रामो
णमत्यजत् । वालिनस्तनुच्छिदं तनुं शरारं छिनत्तीति पूर्ववत् किप् । 'छे
। ६।१।७३' इति तुक् । प्राणादं प्राणापहारिणम् । प्राणानत्तीति
णादम् । 'अदोऽनन्ने । ३।२।६८' इति विट् । दूरभाक् दूरमवस्थिते
मो दूरं भजत इति 'भजो णिवः । १।२।६२' इति णिवः ॥ १२२ ॥

वालिनं पतितं दृष्ट्वा वानरा रिपुघातिनम् ।

बान्धवाऽऽक्रोशिनो भेजुरनाथाः ककुभो दश ॥ १२३ ॥

वालिनमित्यादि—रिपुघातिनं रिपून् हन्तुं शीलमस्येति 'सुप्यजातौ
गनिस्ताच्छील्ये । ३।२।७८ ।' । तं वालिनं पतितं दृष्ट्वा वानरा दश
कुभो दश दिशो भेजुः । अनाथाः सन्तः स्वामिनो हतत्वात् ।
बान्धवाक्रोशिनो बान्धवा इव आक्रोशन्तीति 'कर्तुर्युपमाने । ३।२।७९'
इति णिनिः ॥ १२३ ॥

धिग्दाशरथिमित्यूचुर्मुनयो वनवार्तिनः ।

उपेयुर्मधुपायिन्यः क्रोशन्त्यस्तं कपिल्लियः ॥ १२४ ॥

धिगित्यादि—येषां सत्यन्यस्थाने वृत्तौ च वन एव वार्तितुं शास्त्रतो
नेयमः ते वनवार्तिनो वानप्रस्थाश्रमधर्मपालनपरा मुनयः । 'व्रते
३।२।८०' इति णिनिः । धिगिमं दाशरथिमित्यूचुः उक्तवन्तः । दशर-
स्यापत्यं पुमानिति तादृशं राममित्यर्थः । 'अत इन् ४।१।९५' इति इन् ।
येनानपराधेऽपि वालिनीदृशं कृतमिति । कपिल्लियश्च वालिनमुपेयुः ।
मधुपायिन्यः आभीक्ष्ण्येन मधु पिवन्त्यः । 'बहुलमाभीक्ष्ण्ये । ३।२।८१'
इति णिनिः । क्रोशन्त्यः 'हा नाथ !' इति रुदन्त्यः ॥ १२४ ॥

१ वानराणां सेनापत्योरित्यर्थः । 'सेनानीर्वाहिनीपतिः ।' इत्यमरः । लक्षणयः
पुनर्वानराधीशयोरित्यभिप्रायः । २ युद्धभूमावित्यर्थः । 'सम्प्रहाराभिसम्पातकलि-
संस्फोटसंयुगाः ।' इत्यमरः ।

राममुच्चैरुपालब्ध शूरमानी कपिप्रभुः ।

ब्रणवेदनया ग्लायन्साधुमन्यमसाधुवत् ॥ १२५ ॥

राममित्यादि—कपिप्रभुर्वाली राममुच्चैर्हता शब्देनोपालब्ध उपालब्धवान् । लभिरात्मनेपदानिद् । तस्य लुङि 'झलो झलि । ८।२।२६।' इति सिचोः लोपः । 'झषस्तथोर्धोऽवः । ८।२।४०।' । झलां जश् झः । ८।४।५३।' शूरमानी शूरमात्मानं मन्यमानः 'आत्ममाने खश्च । ३।२।८३।' इति चकाराणिनिः । ब्रणवेदनया ग्लायन् । ग्लानिमुपगच्छन् साधुमन्यं साधुमात्मानं मन्यमानं रामम् । तेनैव खश् । तस्मिन् सार्धधातुके परतो दिवादित्वात् श्यन् । पूर्वपदस्य मुम् । असाधुवत्साधुमिव । असाधुना तुल्यं वर्तते इति वक्तिः ॥ १२५ ॥

मृषाऽसि त्वं हविर्याजी राघव ! च्छद्मतापसः ।

अन्यव्यासक्त्यातित्वाद्ब्रह्मघ्नां पापसंमितः ॥ १२६ ॥

मृषेत्यादि—हे राघव त्वं छद्मना तापसः । सः त्वं मृषैव मिथ्यैव हविर्याजी हविषा करणेनेष्टवानसि न परलोकप्राप्तये इत्यभिप्रायः । 'करणयजः । ३।२।८५।' इति भूते णिनिः । अस्मात्सूत्रादारभ्य 'भूते' इत्यधिकारात् । यतो ब्रह्मघ्नां पापसंमितः ब्रह्म हन्तवन्त इति । 'ब्रह्मभूणवृत्रेषु क्विप् । २।३।८७।' इति क्विप् । तेषां पापेन तुल्यः । कुतः अन्यव्यासक्त्यातित्वान् अन्यस्मिन् सुग्रीवे व्यासक्तं मां हतवान् । 'कर्मणि हनः । ३।२।८६।' इति णिनिः । तत्र 'कुत्सितप्रहणं कर्तव्यम्' इत्युक्तम् । यदि सुग्रीवेण सम विरोधः किं तवायातमिति कुत्सितहननम् ॥ १२६ ॥

तदेव दर्शयन्नाह—

पापकृतसुकृतां मध्ये राज्ञः पुण्यकृतः सुतः ।

मामपापं दुराचार ! किं निहत्याऽभिधास्यसि ॥ १२७ ॥

पापकृतित्यादि—हे दुराचार ! मामपापं निहत्य पापकृन् कृतकित्त्वियः राज्ञो दशरथस्य पुण्यकृतः सुतः सुकृतां मध्ये किमभिधास्यसि वक्ष्यसि । किं क्षेपे । न किञ्चिद्भिधातव्यमस्तीति भावः । सर्वत्र 'सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृत्वः । ३।२।८९।' इति क्विप् ॥ १२७ ॥

अग्निचित्सोमसुद्राजा रथचक्रचिदाऽऽदिषु ।

अनलोष्विष्टवान्कस्मान्न त्वयाऽपेक्षितः पिता ॥ १२८ ॥

अग्निचिदित्यादि--कस्मात्त्वया पिता नापेक्षितः नानुवृत्तः । येनैवं
 जानसीति । कीदृशः अग्निचित् आहिताग्निः । अग्निं चितवानिति
 चैः । ३ । २ । ९१ । इति क्विप् । सोमसुन् सोमं सुतवान् सोमयार्जी
 ने सुञः । ३ । २ । ९० । इति क्विप् । अनलेपु अग्निपु इष्टवान् । रथच-
 दादिपु रथचक्रवर्चीयत इति 'कर्मण्यग्न्याख्यायाम् । ३ । २ । ९२ ।
 क्विप् । आदिशब्दाच्छयेनचिदादिग्रहणम् । अग्नयथा हि तदाकार इष्ट-
 य इत्युच्यते तद्द्वारेणाग्निरपि ॥ १२८ ॥

मांसविक्रयिणः कर्म व्याधस्थापि विगर्हितम् ।

मां घ्नता भद्रताऽकारि निःशङ्कं पापदृश्वना ॥ १२९ ॥

मांसेत्यादि--मांसविक्रयिणः कुत्सितकर्मकारिणो व्याधस्यापि विगर्हितं
 दत्तम् । 'कर्मणीनिर्विक्रियः । ३ । २ । ९३ । इति इनिः । तत्र 'कुत्सित-
 गं कर्तव्यम्' इत्युक्तम् । निकृष्टकर्मकरणेनेति यद्भवता पापदृश्वना पापं
 ता । 'दृशेः क्विप् । ३ । २ । ९४ । 'न संयोगाद्गमन्तात् । ६ । ४ । १३७ ।

अहोपप्रतिषेधः । कर्म अकारि कृतम् । कर्मणि लुङ् । निःशङ्कं शङ्कां
 त्वा । किं कुर्वता मां घ्नता मारयता । हन्तेः शतरि 'गमहनजनखनघसां
 ङिः क्विन्त्यनङि । ६ । ४ । ९८ । इत्युपधालोपः । 'हो हन्तेर्ङिणत्रेषु
 । ३ । ५४ । इति कुत्वम् ॥ १२९ ॥

बुद्धिपूर्वं ध्रुवन्न त्वा राजकृत्वा पिता खलम् ।

सहयुध्वानमन्येन योऽहिनो मामनागसम् ॥ १३० ॥

बुद्धिपूर्वमित्यादि--त्वत्पिता त्वां खलम् असाधुचारितं ध्रुवन् गच्छन्
 गतिस्थैर्ययोः' इति तुदादौ पठ्यते । तस्य गतौ ज्ञानार्थं वर्तमानस्य
 त्वात्त्वरूपम् । यन्न राजकृत्वा । 'राजन्ति युधि कृञः । ३ । २ । ९५ । इति
 तेषु । तत्तस्य बुद्धिपूर्वम् । ध्रुवमवश्यं तस्येति व्याख्याने कृतप्रयोगे
 णि पष्ठया भवितव्यम् । यस्त्वं मां वालिनं वानरमनागिसमपापमन्येन सह-
 वानम् अन्येन सुग्रीवेण सह योद्धुं प्रवृत्तम् । 'सहे च । ३ । २ । ९६ । इति
 तेषु । अहिनः हिंसितवान् । हिंसेर्लङि मध्यमपुरुषैकवचने श्रामि शनान्न-
 पे हल्ङ्यादिलोपे स्त्वे च रूपम् ॥ १३० ॥

मांसार्थं हत इति चेदाह--

पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ये प्रोक्ताः कृतजैर्द्विजैः ।

कौशल्याज ! शशाऽऽदीनां तेषां नैकोऽप्यहं कपिः ॥ १३१ ॥

पञ्च पञ्चेत्यादि—हे कौशल्याज कौशल्याजात, । कौशल्यायां ज इति तत्सम्बुद्धौ 'सप्तम्यां जनेर्डः । ३ । २ । ९७ ।' इति डः।ये पञ्च पञ्चत् 'शशकः शलकी गोधा खड्गी कूर्मश्च पञ्चमः' इति । कृतजैः कृतयुगजातैः पूर्ववत् डः । द्विजैर्द्विजैः । 'अन्येष्वपि दृश्यते । ३ । २ । १०१ ।' इति । सप्तम्यामित्युपलक्षणम् । असप्तम्यामपि डो दृश्यते इत्यर्थः । भक्ष्याः भक्ष्याः प्रोक्ताः । तेषाम्पञ्चनखानां भक्ष्याणाम्मध्य इत्यर्थः । अहमेकोऽपि भविता । अहं कपिः । तत्किमिति हतोऽहं त्वयेति भावः ॥ १३१ ॥

कथं दुष्टुः स्वयं धर्मे प्रजास्त्वं पालयिष्यसि ।

आत्माऽनुजस्य जिहेषि सौमित्रेस्त्वं कथं न वा ॥ १३२ ॥

कथमित्यादि—स्वयमात्मना धर्मे दुष्टुः दुःस्थः सन् । 'अपदुःसुपु । इत्यौणादिकः कुप्रत्ययः । कथं प्रजाः पालयिष्यसि नैव पालयितुं क्षमोप्यसीत्यर्थः । प्रजापालनं हि धर्मवार्तिनैव कर्तुं शक्यं नतु त्वादृशेति भावः । 'सर्गे च संज्ञायाम् । ३ । २ । ९९ ।' इति जनेर्डः । कथं वा सौमित्रेभ्रातुरात्माजस्य स्वकनीयसो भ्रातुर्लक्ष्मणस्येत्यर्थः । आत्मानमनुजात इति 'अनौ कर्म ३ । २ । १०० ।' इति डः । न जिहेषि न लज्जसे ॥ १३२ ॥

मन्ये किञ्जमहं घ्नन्तं त्वामक्षत्रियजे रणे ।

लक्ष्मणाऽधिज ! दुर्वृत्त ! प्रयुक्तमनुजेन नः ॥ १३३ ॥

मन्य इत्यादि—त्वामहं किञ्जं कुतोऽपि जातं न राजजातं मन्ये । 'म्यामजातौ । ३ । २ । ९८ ।' इति डः । घ्नन्तं मारयन्तम् । अक्षत्रियजे रणे यादजाते । हे लक्ष्मणाधिज लक्ष्मणाप्रज दुर्वृत्तं नोऽस्माकमनुजेन प्रयुक्तं प्रेरितम् । तत्र 'पञ्चम्यामजातौ' इत्युक्तं जातावपि दृश्यते । 'त्रियज इति । 'उपसर्गे च संज्ञायाम्' । ३ । २ । ९९ ।' इत्युक्तम् असंज्ञायाम् दृश्यते । लक्ष्मणाधिज इति । 'अनौ कर्मणि । ३ । २ । १०० ।' इत्युक्तम् । अकर्मणि दृश्यते । अनुज इति । सर्वत्र 'अन्येष्वपि दृश्यते । ३ । २ । १०१ ।' इति डः ॥ १३३ ॥

इत्युपपदाधिकारः ।

१ 'स्वयमात्मना' इत्यमरोऽपि । २ 'ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेन विधि । सर्वस्यास्य ययान्यायं फलं च परिरक्षणम् ॥' इति मनुस्मृति ३ दुष्टं वृत्तं चरितं यस्य तत्सम्बुद्धौ तथोक्त ।

प्रत्यूचे वालिनं रामो नाऽकृतं कृतवानहम् ।

पज्यभिः सुत्वभिः पूर्वैर्जराद्भिश्च कपीश्वर ! ॥ १३४ ॥

प्रत्यूच इत्यादि—रामोऽपि वालिनं प्रत्यूचे प्रत्युक्तवान् । किमित्याह । हे श्वर ! पूर्वैर्जराद्भिर्वृद्धैः । 'जीर्यतेरत्नम् । ३।२।१०४।' यज्वभिः याज्ञिकैः भिः सोमयाजिभिः सोमयज्ञं कृत्वा देवांस्तर्पितवद्भिरिति भावः । 'सुयंजोर्द्ध्व- । ३।१।१०३।' । नाकृतं कृतवानहम् अपि तु कृतमेव कृतवानहम् । 'निष्ठा । ३।६।' इति भूते क्तवत् ॥ १३४ ॥

ते हि जालैर्गले पाशैस्तिरश्चामुपसेदुषाम् ।

ऊषुयां परदारैश्च सार्धं निधनमैषिषुः ॥ १३५ ॥

त इत्यादि—यस्मात्ते पूर्ववृद्धाः जालैर्गले पाशैश्च तिरश्चां मृगपक्षिसरीसृपा- तिरोऽञ्चतीति 'ऋत्विगूदधृक्स्त्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिकृञ्चां च । ३।२।५९।' । किन् । आमि 'अचः । ६।४।१३८।' इत्यल्लोपः । 'तेषां निधनं विनाशमै- षुः इष्टवन्तः । इषेर्लुङि रूपम् । कीदृशाम् उपसेदुषां समीपमुपगतवतां । समीपवर्तिनामुपद्रवकारित्वात् । 'भापायां सदवसश्रुवः । ३।२।१०८।' । कसुः । परदारैश्च सार्धंमूपुषाम् उपितवताम् । पूर्ववत्कसुः । वसेर्यजा- वात्संप्रसारणम् ॥ १३५ ॥

अहं तु शुश्रुवान्भ्रात्रा स्त्रियं भुक्तां कनीयसा ।

उपेयिवाननूचानैर्निन्दितस्त्वं लतामृग ! ॥ १३६ ॥

अहमित्यादि—हे लतामृग हे शाखामृग ! वालिन् इत्यर्थः । अहं पुनः श्रुवान् श्रुतवान् । 'भापायां सदवसश्रुवः । ३।२।१०८।' इति कसुः । यदुत्तं त्रा कनीयसा भुक्तां स्त्रियं त्वमुपेयिवान् सन् अनूचानैर्वेदविद्भिर्निन्दित-

१ 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमरः । २ 'यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्डये- त्निन्दतः । श्ले मत्स्यानिवापक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः ॥' इति मन्वाद्युक्त्या दारादिदूषकस्य त्वादृशस्य हनन एव मादृशां सुकृतित्वं स्यात्, न त्वन्यथे- भिप्रायेणेदं वचनम् । पुरस्ताच्चायम्भावः स्फुटो भाव्येव । ३ यदुतेति यत्पुन- त्यर्थः । ४ कनीयसेति कनिष्ठेन भ्रात्रा सुग्रीवेणेत्यर्थः । 'कनीयांस्तु युवा लयोः ।' इत्यमरः ।

(१७२) भट्टिकाव्ये जयमङ्गलासमेते—

स्ततो मे मम राज्ञो रामचन्द्रस्येत्यर्थः । नैव दोषः । 'उपेयिवाननाश्र्वाननूचान्
१३।२।१०९।' इति उपेयिवाननूचानशब्दौ निपातितौ ॥ १३६ ॥

अन्वनैषीत्ततो वाली त्रपावानिव राघवम् ।

न्यक्षिपन्नाऽङ्गदं यत्रात्काकुत्स्थे तनयं प्रियम् ॥ १३७ ॥

अन्वित्यादि—ततो रामवचनादनन्तरं वाली राघवमन्वनैषीत् अनुनी-
वान् । 'देवं क्षम्यतां यदजानता मयोक्तम्' इति । नयतेः 'लुङ् १३।२।११०'
इत्यनेन भूतसामान्ये लुङ् । त्रपावानिव यथा लज्जावान् कश्चिदनुनयं
तद्वत् । अङ्गदं च प्रियं तनयं काकुत्स्थे रामे न्यक्षिपत् न्यस्तवान् । यत्रा-
दरान् । क्षिपेरनद्यतने लङ् ॥ १३७ ॥

त्रियमाणः स सुग्रीवं प्रोचे सद्भावमागतः ।

सम्भविष्याव एकस्यामभिजानासि मातरि ॥ १३८ ॥

त्रियमाण इत्यादि—स वाली त्रियमाणः सन् सद्भावं शोभनभावमागतः
सन् सुग्रीवं प्रोचे । किमित्याह । अभिजानासि स्मरसि । एकस्यां मातरि
सम्भविष्यावः । सम्भवाव इत्यस्मिन्नर्थे 'अभिज्ञावचने लट् १३।२।१११'
इत्यनद्यतने लट् । अभिजानासीत्यभिज्ञावचनस्योपपदत्वात् ॥ १३८ ॥

अवसाव नगेन्द्रेषु यत्पास्यावो मधूनि च ।

अभिजानीहि तत्सर्वं बन्धूनां समयो ह्ययम् ॥ १३९ ॥

अवसावेत्यादि—अभिजानीहि स्मर । यन्नगेन्द्रेषु अवसाव उपितवन्तौ ।
अत्राभिज्ञावचनस्य यच्छब्दसहितत्वान् 'न यदि १३।२।११३' इत्यनेन
लटि प्रतिषिद्धे लडेव भवति । अत्र वासमात्रं स्मर्यते । मधूनि च यत्पा-
स्यावः तत्र पीतवन्तौ । तत्सर्वमभिजानीहि । अत्र 'विभाषा साकाङ्क्षे
१३।२।११४' इति पक्षे लट् । साकाङ्क्षता च त्रयोक्तृलक्ष्यलक्षणयोः
सम्बन्धे । तत्र वासो लक्षणं पानं च लक्ष्यमिति । कस्माद्बन्धूनामयमेव
समयः कालः ॥ १३९ ॥

देवं न विदधे नूनं युगपत्सुखमावयोः ।

शश्वद्भूव तद्दुःस्थं यतो न इतिहाऽकरोत् ॥ १४० ॥

दैवमित्यादि--नूनमवश्यं देवमावयोः सुखं युगपदेककालं न विदधे नहि हितवन् । 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' परोक्षे लिट् । वित्वात्तड् । आतो लोपः । तौ यस्मात्तत् देवं शश्वत् नित्यं दुःस्थमननुकूलं नोऽस्माकं वभूव तस्मादिति ह मकरोत् इत्येवं कृतवान् । यद्युगपदावयोः सुखाविधानं तद्दुःस्थं शश्वद्भूव । करोदिति भूतानद्यतनपरोक्षे लिटि प्राप्ते 'हशश्वतोर्लङ् च ३ । २ । ११६ ।' इति लृ । चकारान् लिट् । तत्र शश्वच्छब्दे उपपदे लिडेवोदाहृतः न लङ् । हशब्दे ङेव न लिडपीति बोध्यम् ॥ १४० ॥

ददौ स दयितां भ्रात्रे मालां चाऽग्र्यां हिरण्मयीम् ।

राज्यं संदिश्य भोगांश्च ममार व्रणपीडितः ॥ १४१ ॥

ददावित्यादि--स वाली दयितां ताराख्यां भ्रात्रे सुग्रीवाय ददौ, मालां चाग्र्यां श्रेष्ठां हिरण्मयीं सुवर्णघटितां ददौ । राज्यं सामात्यादिद्रव्यप्रकृतिम् । संदिश्य दत्त्वा । भोगांश्च राज्याङ्गानि संदिश्य । ममार प्राणास्त्यक्तवान् । व्रणपीडितः । अत्रापि परोक्षे लिट् ॥ १४१ ॥

तस्य निर्वर्त्य कर्तव्यं सुग्रीवो राघवाऽऽज्ञया ।

किष्किन्धाऽद्रिगुहां गन्तुं मनः प्रणिदधे द्रुतम् ॥ १४२ ॥

तस्येत्यादि--तस्य मृतस्य कर्तव्यं पिण्डोदकादिकरणीयं कृत्वा सुग्रीवो राघवाज्ञया 'गच्छ वर्षासमयमतस्य शरद्यागमिष्यसि' इति आज्ञया किष्किन्धा-द्रिगुहां गन्तुं मनः प्रणिदधे कृतवान् । अत्रापि परोक्षे लिट् ॥ १४२ ॥

नामग्राहं कपिभिरशनैः स्तूयमानः समन्ता-

दन्वग्भावं रघुवृषभयोर्वानरेन्द्रो विराजन् ।

अभ्यर्णेऽम्भःपतनसमये पर्णालीभूतसानुं

किष्किन्धाद्रिं न्यविशत मधुक्षीचगुञ्जद्विरेफम् ॥ १४३ ॥

नामेत्यादि--वानरेन्द्रः सुग्रीवः किष्किन्धाद्रिं न्यविशत निविष्टवान् । 'निर्विशः । १ । ३ । १७ ।' इति तड् । अशनैः सुष्ठु कपिभिः स्तूयमानः । वर्तमाने लट् । तस्य कर्मणि विहितत्वात् 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः । ३ । १ । २ । १२६ ।' इति शानच् । नामग्राहं नाम गृहीत्वा । 'नाम्न्यादिशिग्रहोः

१ शश्वन्निरन्तरमित्यर्थः । 'अभीक्ष्णं शश्वदनारते ।' इत्यमरः । २ राम-चन्द्रत्याज्ञया । यद्यप्यसौ वानरः, तथाऽपि तस्य देवांशत्वाद् देवप्रभावत्वाच्च राजान्तरवदन्तिमः संस्कारः साम्प्रतमेवाज्ञप्तं रामेण । अन्यथाऽनुजप-
दोपाभिधानस्यपार्धमेवाभाविष्युदिति तत्रम् ।

। ३ । ४ । ५८ ।' इति णमुल् । समन्तात्सर्वतः विराजन् शोभमानः । परस्मैपदसंज्ञकः शतृप्रत्ययः । किं कृत्वा रघुवृषभयो रामलक्ष्मणयोरिति रघुषु रघुवंशेषु वृषभौ श्रेष्ठौ तयोः । अन्वगभावं अनुकूलो भूत्वा । ३ कपूर्वाद्भवतेः 'अन्वच्यानुलोम्ये । ३ । ४ । ६४ ।' इति णमुल् । तदनुकृतिं त्वाद्द्विराजन् । कदा न्यविशंत । अभ्यर्णे निकटे । अम्भःपतनसमये प्रात्यर्थः । पर्णलीभूतसानुं पर्णानि सन्ति येषामिति 'सिध्मादिभ्यश्च । ५ । १ । ९७ ।' इति लच् । तदन्ताद्भूततद्भावे च्विः । पर्णलीभूताः सानव एक्यस्याद्रेः । मधुक्षीवा मधुमत्ता गुञ्जन्तो द्विरेफा यत्र । क्षीव इति 'अनुपस फुलक्षीवकृशोलाघाः । ८ । २ । ५५ ।' इति निपातितः । 'क्षीवृ म इत्यस्मात् क्तप्रत्ययस्य लोप इडभावश्च निपात्यते । गुञ्जेर्लट् । क प्रथमासमानाधिकरणेऽपि शतृप्रत्ययैः ॥ १४३ ॥

इति सोपपदकृतः ।

इति श्रीजयमङ्गलसूरिविरचितया जयमङ्गलाख्यया व्याख्यया समलंकृते श्रीभट्टिप्रणीते रामचरितकाव्ये द्वितीयेऽधिकारकाण्डे लक्षणरूपे प्रथमः परिच्छेदः, लक्ष्यरूपे कथानके सुग्रीवाऽभिषेको नाम पद्यः सर्गश्च ।

सप्तमः सर्गः ।

इतस्ताच्छीलिकं कृतमधिकृत्योच्यते । ताच्छीलिकमित्युपलक्षणवद्धर्मतत्साधुकारिष्वपि द्रष्टव्यम् । यतः 'आक्रेस्तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुक ३ । २ । १३४।' इति तत्राधिक्रियते—

ततः कर्ता वनाऽऽकम्पं ववौ वर्षाप्रभञ्जनः ।

नभःपूरयितारश्च समुन्नेमुः पयोधराः ॥ १ ॥

तत इत्यादि—ततः प्रवेशानन्तरं वर्षाप्रभञ्जनः प्रावृद्धातो ववौ वाति 'वा गतिगन्धनयोः' इति । कर्ता वनाकम्पं साधु कुर्वन् । 'तृन् । ३ । २ । १३४ ।' इति तृन् । 'न लोकान्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् । २ । ३ । ६९ ।' इति षष्ठीप्रतिपयोधरा मेवाश्च समुन्नेमुः समुन्नताः । कीदृशा नभःपूरयितारः । तृन् ॥

१ अत्र मन्दाक्रान्ता छन्दः, 'मन्दाक्रान्ता जलधिपदसम्भो वनौ तादृचेत्' इति तल्लक्षणात् ।

र्षणं प्रजनिष्णूनां सस्यानाममलं पयः ।

रोचिष्णवः सविस्फूर्जा मुमुचुर्भिन्नवद्धनाः ॥ २ ॥

रणमित्यादि—घनो अमलं पयो मुमुचुः । भिन्नवत् भिन्ना इव । कीदृशं । तर्षणं सस्यानां तर्षणं तर्पयतीति 'कृत्यल्युटो बहुलम् । ३।२।११३।' कर्तार ल्युट् । प्रजनिष्णूनां खाद्यु प्रादुर्भवताम् । रोचिष्णवः साधु यमानाः । सविस्फूर्जाः सवज्रनिस्त्रनाः । 'अलंकृञ्चिनिराकृञ्प्रजनो-
तोन्मदरुच्यपत्रपवृतुवृधुसहचर इष्णुचू । ३ । २ । १३६ । इतीष्णुचू ॥ २ ॥

निराकरिष्णवो भानुं दिवं वर्तिष्णवोऽभितः ।

अलंकारिष्णवो भान्तस्तडित्वन्तश्चरिष्णवः ॥ ३ ॥

निरेत्यादि—भानुं निराकरिष्णवो निराकरणशीला घनाः पयो मुमुचु-
ति योव्यम् । दिवंमभितो वर्तिष्णव आकाशमभितो वर्तनस्वभावाः । पूर्व-
श्चमयोर्वर्तनहेतुत्वात् । पर्यभिभ्यां सर्वोभयार्थे तसिः । 'अभितःपरितः-
मयानिकपाहाप्रतियोगेऽपि' । इति द्वितीया । तडित्वन्तः सविद्युतः ।
त एव भान्तो दीप्यमानाः । एवं च कृत्वा अलंकारिष्णवोऽलंकरणशीला
व । दिशश्चरिष्णवः इतस्ततो गमनशीलाः । पूर्ववदिष्णुचू ॥ ३ ॥

तान्विलोक्याऽसहिष्णुः सन् विललापोन्मदिष्णुवत् ।

वसन्माल्यवति ग्लासू रामो जिष्णुरधृष्णुवत् ॥ ४ ॥

तानित्यादि—तान् घनान्विलोक्य असहिष्णुरसहनशीलो रामः माल्य-
वति एतदाख्ये पर्वते वसन्विललापे । उन्मदिष्णुवत् उन्मदनशीलः उन्मद-
स्तद्वत् । पूर्ववदिष्णुचू । ग्लास्तुः ग्लानशीलः । जिष्णुर्जयशीलः । अधृष्णु-
प्रगल्भ इव । शोकाभिभूतत्वात् । 'ग्लानिस्थश्च ग्लुः । ३।२।१३९।' धृष्णुर्नि-
'त्रसिगृधिधृषिषेः क्तुः ३।२।१४०।' इति क्तुः ॥ ४ ॥

१ घना मेघाः । 'घनजीमूतमुदिरजलसुग्धमयोनयः । इत्यन्

२ फलोन्मुखानां धान्यादीनामित्यर्थः । अद्वा—फलानामित्येवार्थः । 'अन्त-
फलं सत्यम्' इत्यमरोक्तेः । ३ 'विभ्राद्भ्राजिष्णुरोचिष्णू' इत्यमरः । ४ 'नि-
करिष्णुः क्षिप्नुः स्यात्' इत्यमरः । ५ दिवं स्वर्गमित्यर्थः । ६ 'अन्त-
सन्तौ' इत्यमरः । ७ मेघा इति शेषः । 'तडित्वान् कारिष्णुवत्' इत्य-
८ 'चरिष्णु जङ्गमचरम्' इत्यमरः । ९ मेघदर्शनादेर्मदनोद्देशवत्त्वत्त्वात् । १०
वक्ष्यणाक्षम इत्यर्थः । 'सहिष्णुः सहनः क्षन्ता' इत्यमरः । ११ 'हृष्णुर्नि-
रुत्यादि परिदेवित्वान् । १२ 'सोन्मादस्तुन्मदिष्णुः' इत्यमरः । १३ 'वि-
जिष्णुश्च जिष्वरः ।' इत्यमरः । १४ 'धृष्णुर्निष्णुदधृष्णुः' इति श्रुतिः ।

(१७६) भट्टिकाव्ये जयमङ्गलासमेते-

किं तद्विलपनमित्याह---

भ्रमी कदम्बसम्पन्नः पवनः शमिनामपि ।

क्लमित्वं कुरुतेऽत्यर्थं मेघशीकरशीतलः ॥ ५ ॥

भ्रमीत्यादि---भ्रमी भ्रमणशीलः । कदम्बसंभिन्नः कदम्बगन्धसंश्लि
शमिनामपि शमनशीलानामपि क्लमित्वं कुरुते अत्यर्थं ग्लानिं कुरु
'शमित्यष्टाभ्यो धिनुण् ।३।२।१४१।' । 'नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यान्तः
।७।३।३४।' इत्युपधावृद्धिप्रतिषेधः । मेघानां शीकरां जलकणात्तः शी
शीतलत्वं कुर्वाणः । ॥ ५ ॥

संज्वारिणेव मनसा ध्वान्तमायासिना मया ।

द्रोहि खद्योतसम्पर्किं नयनाऽमोषि दुःसहम् ॥ ६ ॥

संज्वारिणेत्यादि---मयैतत् ध्वान्तं तमो दुःसहं दुःखेन सह्यत इति
'ईपद्दुःसुपु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् ।३।३।१२६' इति खल् । मनसा
णभूतेन कीदृशेन । संज्वारिणेव रोगशीलेनेव । आयासिना आयासशीले
मयेति । द्रोहि अपकारशीलम् । ध्वान्तं खद्योतसम्पर्किं ज्योतिरिङ्गणसंसा
शीलम् । नयनामोषि चक्षुर्मोषणशीलम् । 'संपृचानुरुधाड्यमाड्यसपरिसृसंमृ
परिदेविसंज्वरपरिक्षिपपरिरटपरिवदपरिदहपरिमुहदुपद्विपदुहदुहयुजाक्रीडवि
चत्यजरजभयातिचरापचरामुपाभ्याहनश्चा।३।२।१४२।' इति सर्वे धिनुणन्ताः ।

कुर्वन्ति परिसारिण्यो विद्युतः परिदेविनम् ।

अभ्याघातिभिरामिश्राश्चातकैः परिराटिभिः ॥ ७ ॥

कुर्वन्तीत्यादि---एता विद्युतः परिदेविनं परिदेवनशीलं कुर्वन्ति । मान्
त्यर्थान् । कीदृशः । परिसारिण्यः परिसरणशीलाः । चातकैः पक्षिविभो
परिराटिभिः परिरटनशीलैः । एवं चाभ्याघातिभिः अभिहननशीलैः । दृः
त्पादनान् । आमिश्रा युक्ता विद्युतः । पूर्ववद्धिनुण् ॥ ७ ॥

संसर्गो परिदाहीव शीतोऽप्याभाति शीकरः ।

सोढुमाक्रीडिनोऽशक्याः शिखिनः परिवादिनः ॥ ८ ॥

१ क्लमोऽस्यास्तीति तस्य भावस्तत्त्वश्च तत् । 'क्लमथः क्लमं' इत्यमरः ।
२ 'शीकरोऽम्बुकणाः स्मृताः ।' इत्यमरः । ३ 'खद्योतो ज्योतिरिङ्गणः ।' इत्यमरः ।
४ विलापकरिणमित्यर्थः । 'विलापः परिदेवनम् ।' इत्यमरः ।

संसर्गात्त्यादि—संसर्गां संसर्जनशीलः । शीतोऽपि शीकरो विन्दुः । परिव्रं परिदहनशील इवाभाति । शिखिनश्च मयूराः सोढुमशक्या । आक्री-
णो नर्तनशीलाः । परिवादिनः परिवदनशीला इव । इवशब्दश्चात्रार्थो
व्यः । पूर्ववत् 'संपृचा-१३।२।१४२।' इत्यादिना विनुण् ॥ ८ ॥

एता देवानुरोधिन्यो द्वेषिण्य इव रागिणम् ।

पीडयन्ति जनं धाराः पतन्त्योऽनपकारिणम् ॥ ९ ॥

एता इत्यादि—एता धाराः पतन्त्यो द्वेषिण्य इव द्वेषणशीला इव जनं
गिणं रागशीलम् । अनपकारिणमनपराधशीलं पीडयन्ति । देवानुरोधिन्यः
मनुकन्धन्ति इति शेषः, भाग्यानुरोधात् प्रवर्तनशीलेभ्यः । पूर्ववत् विनुण् ।
नुणि च 'रञ्जैरुपसंख्यानम्' इत्यनुनासिकलोपः । कृताननुनासिकनिर्देशाद्वा
पनिपातनम् ॥ ९ ॥

कुर्याद्योगिनमप्येष स्फूर्जावान्परिमोहिनम् ।

त्यागिनं सुखदुःखस्य परिक्षेप्यम्भसामृतुः ॥ १० ॥

कुर्यादित्यादि—एष ऋतुरम्भसां जलानां परिक्षेपी परित्यजनशीलः ।
र्मणि सम्बन्धसामान्यविवक्षया षष्ठी । योगिनमपि योगशीलमपि ।
सुखदुःखस्य त्यागिनं त्यागशीलम् । कर्मणि षष्ठी । परिमोहिनं परिमोहन-
शीलम् । कुर्यात् । कीदृशः स्फूर्जावान् वज्रनिर्घोषयुक्तः । पूर्ववद्
विनुण् ॥ १० ॥

विकत्थी याचते प्रत्तमविश्रम्भी मुहुर्जलम् ।

पर्जन्यं चातकः पक्षी निकृन्तन्निव मानसम् ॥ ११ ॥

विकत्थीत्यादि—चातको मानसं निकृन्तन्निव खण्डयन्निव । प्रत्तं प्रदत्तम् ।
'अच उपसर्गात्तः । ७।४।४७।' जलं याचते इति प्रधानं कर्म । पर्जन्य-
मित्यकथितम् । विकत्थी विकत्थनशील इव पर्जन्योऽपि मह्यं जलं ददाति ।
इवशब्दो गम्यो—(लुपो)ऽत्र द्रष्टव्यः । अविश्रम्भो अविश्वासशीलः । मान-
सरण्डनान् । 'वो कपलसकत्थस्त्रम्भः । ३।२।१४३।' इति विनुण् ॥ ११ ॥

१ अत्रोपेक्षा, न तूपमा । २ 'शिखावलः शिखी केकी' इत्यमरः । ३ अर्थः
प्रकरणासुसन्धानबलादर्थावगम्यः । ४ 'अम्भोऽर्गस्तोयपानीय-' इत्यमरः । ५ इदं
तु 'अवदत्तं विदत्तं च प्रदत्तं चादिकर्मणि । सुदत्तमनुदत्तं च निदत्तमिति
व्युत्पद्यते ॥' इत्युक्तदिशाऽऽदिकर्मणि विहितप्रत्ययान्तरत्व एव साधु
विज्ञेयमिति पर्यायान्तरं वाच्यम् । ६ विकत्थनं बहुगर्जनम् ।

प्रलापिनो भविष्यन्ति कदा न्वेतेऽपलापिणः ।

प्रमाथिनो वियुक्तानां हिंसकाः षापददुराः ॥ १२ ॥

प्रलापिन इत्यादि—एते पापददुराः पापाश्च ते ददुराश्चेत्याक्रोशाभिधानं ददुरा मण्डूकाः कदा नु अपलापिणो भविष्यन्ति । अपलषणशीलाः व्यपकामा इत्यर्थः । 'लष कान्तौ ।' 'अपे च लषः । ३।२।१४४।' इति धिनु प्रलापिनः प्रलपनशीलाः । प्रमाथिनः प्रमथनशीलाः । चेतसामित्यर्थात् । 'प्रे सृद्रुमथः । ३ । २ । १४५ ।' इति धिनुष् । अत एव वियुक्तानां मां हिंसकाः हिंसनशीलाः । इत्येवं विललाप । 'निन्दहिंसक्लिशखादविनाशाक्षिपपरिरटपरिवादिव्याभापासूत्रो वुञ् । ३ । २ । १४६ ।' इति वुञ् ॥ १२ ॥

निन्दको रजनिम्मन्यं दिवसं क्लेशको निशाम् ।

प्रावृष्यनैषीत्काकुत्स्थः कथंचित्परिदेवकः ॥ १३ ॥

निन्दक इत्यादि—काकुत्स्थो दिवसं रजनिम्मन्यं रजनीमात्मानं मन्यमानान्वकारित्वान् । 'आत्ममाने खश्च । ३ । २ । ८३ ।' 'खित्यनव्यया ६ । ३ । ३६ ।' इति ह्रस्वत्वम् । निशां प्रावृषि कथमप्यनैषीत् नीतत्रा निन्दकः निन्दनशीलः । नक्तंदिनस्येत्यर्थात् । क्लेशकः क्लेशनशीलः । परिदेव परिदेवनशीलः । आत्मन इत्यर्थात् ॥ १३ ॥

अथोपशरदेऽपश्यत्क्रौञ्चानां चेष्टनैः कुलैः ।

उत्कण्ठावर्धनैः शुभ्रं रवणैरम्बरं ततम् ॥ १४ ॥

अथेत्यादि—अथानन्तरमुपशरदे शरत्समीपे इति 'अव्ययीभावेः त्प्रभृतिभ्यः । ५। ४ । १०७ ।' 'इति समासान्तष्टच् ।' तृतीयासप्तम्योर्वहुल २ । ४ । ८४ ।' इत्यमभावः । क्रौञ्चानां कुलैस्ततं व्याप्तमम्बरं शुभ्रं इमपश्यन् दृष्टवान् । चेष्टनैः व्यापारशीलैः । रवणैः शब्दनशीलैः । अनयोश्च नशब्दार्थत्वात् 'चलनशब्दार्थादिकर्मकाद्युच् । ३ । २ । १४८ ।' इति युः उत्कण्ठावर्धनैः उत्कण्ठावर्धनशीलैः उत्कण्ठा वर्धयन्तीति तैः, मदनोदीपकजनकनन्दिन्याः स्मारकरित्यर्थः । 'अनुदात्ततश्च हलादेः । ३।२।१४९ ।' इति युच् । क्रौञ्च इति किनप्रत्यायान्तत्वान् प्रज्ञादिन्वाद्गु ॥ १४ ॥

विलोक्य द्योतनं चन्द्रं लक्ष्मणं शोचनोऽवदत् ।

पश्य दन्द्रमणान्हंमानरविन्दसमुत्सुकान् ॥ १५ ॥

विलोक्येयादि—चन्द्रं विलोक्य द्योतनं साधु द्योतमानम् । ‘अनुदात्तेतश्च
हलादेः । ३।२ । १४९ ।’ इति युच् शोचनः शोचनशीलः । ‘जुचङ्गम्यदन्द्रम्य-
ङ्गुविञ्चलशुचलपपतपदः । ३।२। १५० ।’ इति युच् । रामो लक्ष्मणमवदत् ।
अथ हंसान् दन्द्रमणान् शनैर्द्रमणशीलान् । द्रमेर्नित्यं कौटिल्य एव भवति
तु क्रियाममभिहार इत्युक्तम् । तदन्ताद्युच् । ‘अतो लोपः । ६ । ४ । ४८ ।’
त्यतो लोपः । ‘यस्य हलः । ६।४।४९।’ इति यस्य लोपः । अरविन्दसमुत्सुकान्
प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च । २।३।४४।’ इति सप्तमीं विधाय ‘सप्तमी शौण्डैः
। १।४०।’ इत्यत्र ‘सप्तमी’ इति योगविभागात् समासः ॥ १५ ॥

कपिश्चङ्कमणोऽद्यापि नासौ भवति गर्धनः ।

कुर्वन्ति कोपनं तारा मण्डना गगनस्य माम् ॥ १६ ॥

कपिस्तियादि—नासौ कपिः सुग्रीवोऽद्यापि चङ्कमणः शनैर्गमनशीलो न
भवति । यतो गर्धनोऽभिलाषशीलः स्त्रीष्वित्यर्थात् । पूर्ववद्युच् । ताराश्च मां
कोपनं कोपनशीलं तद्विषय एव कुर्वन्ति । कीदृश्यः गगनस्य मण्डना भूषणाः ।
कृयमण्डार्थेभ्यश्च । ३।२।१५१।’ इति युच् ॥ १६ ॥

नावैत्याप्यायितारं किं कमलानि रविं कपिः ।

दीपितारं दिनारम्भे निरस्तध्वान्तसञ्चयम् ॥ १७ ॥

नावैतीत्यादि—किमसौ कपिः रविं नावैति नावगच्छति । कमलान्याप्या-
यितारं साधु वर्धयन्तम् । ‘अनुदात्तेतश्च हलादेः । ३ । २ । १२९।’ इति प्राप्ते ।
नयः । ३।२।१५२।’ इति प्रतिपिद्धे तृन्नेव भवति । ततश्च ‘न लोकाव्ययनिष्ठा-
यलर्थतृनाम् । २।३।६९।’ इति पृष्ठीप्रतिषेधः । दिनारम्भे प्रातः काल इत्यर्थः ।
दीपितारं साधु दीप्यमानम् । पूर्ववद्युचि प्राप्ते सृददीपदीक्षश्च । ३।२।१५३।’
इति प्रतिषेधः । निरस्तध्वान्तसञ्चयम् अपनीतान्धकारसंहतिकं किमसौ शस्त्स-
मयं नावैतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

अतीते वर्षुके काले प्रमत्तः स्थायुको गृहे ।

गायुको भ्रुवमध्वानं सुग्रीवो वालिना गतम् ॥ १८ ॥

अतीत इत्यादि—वर्षुके वर्षणशीले काले अतीतेऽपि गृहे स्थायुकः स्थिति-
शीलः शरदि नागतत्वात् प्रमत्तः सन् सुग्रीवो वालिना गतम् अध्वानं प्राप्त्-

मार्गं ध्रुवमवश्यं गामुकः साधु गन्ता । 'लषपतपदस्थाभ्रुवषहनकमगमंशृभ्य
उकञ् । ३ । २ । १५४ ।' इत्युकञ् । 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थवृत्ताम् । २ ।
। ६९ ।' इति षष्ठीप्रतिषेधः ॥ १८ ॥

जलपाकीभिः सहासीनः स्त्रीभिः प्रजविना त्वया ।

गत्वा लक्ष्मण वक्तव्यो जयिना निष्ठुरं वचः ॥ १९ ॥

जलपाकीभिरित्यादि—हे लक्ष्मण ! त्वया प्रजविना प्रकृष्टगमनशीलेन ।
'प्रजोरिनिः । ३ । २ । १५६ ।' इतीनिः । जयिना अभिभवनशीलेन । 'जिह्वक्षिविश्रीण-
मन्व्यथाभ्यपरिभूप्रसूभ्यश्च । ३ । २ । १५७ ।' इतीनिः । सुग्रीवो निष्ठुरं
वचो वक्तव्योऽभिधातव्यः । जलपाकीभिः जल्पनशलाभिः स्त्रीभिः सहासीनः ।
'जल्पभिक्षुकुट्टलुण्ठवृडः पाकन् । ३ । २ । १५५ ।' इति षाकन् । पित्वात्
द्वीप् । तन्मध्ये हि परुपमाभिधीयमानः परिभवं मन्यत इति भावः ॥ १९ ॥

शैले विश्रयिणं क्षिप्रमनादरिणमभ्यमी ।

न्याय्यं परिभवी ब्रूहि पापमव्ययिनं कपिम् ॥ २० ॥

शैले इत्यादि—कपिं क्षिप्रं गत्वा ब्रूहि इत्यकथितं कर्म । न्याय्यं वच
इति प्रधानं कर्म । अस्य चातिस्पष्टार्थत्वादिदं तदिति संदिष्टम् । अनादरिण-
मनादरशीलं कपिं कालातिक्रमणान् । आङ्पूर्वो दृङ् । अत एव पापं दुराचारम् ।
अव्ययिनं निर्भयशीलम् । नन्पूर्वो व्याधिः । शैले विश्रयिणं तत्र स्थितिशीलम् ।
विपूर्वः श्रयतिः । त्वं चाभ्यमी अभिमुखगमनशीलः । अभिपूर्वोऽम गत्यादिषु ।
परिभवी साधु परिभवं जनयन् । परिपूर्वो भवतिः । अत्र सर्वत्र 'जिह्वक्षिविश्री-
ण्वमान्यथाभ्यमपरिभूप्रसूभ्यश्च । ३ । २ । १५७ । इतीनिः ॥ २० ॥

स्पृहयालुं कपिं स्त्रीभ्यो निद्रालुमदयालुवत् ।

श्रद्धालुं भ्रामरं धारुं सद्रुमद्रौ वद द्रुतम् ॥ २१ ॥

स्पृहयालुमित्यादि—स्त्रीभ्यः स्पृहयालुं कपिं साधु स्पृहयन्तम् । मृष्टिः
स्वार्थिकण्यन्तोऽदन्तश्च । 'अयामन्ताल्वाय्येतिन्वप्युपु । ६ । ४ । ५५ ।' इत्यादेशः ।
'स्पृहेरीप्सितः । १ । ४ । ३६ ।' इति सम्प्रदानसंज्ञा । द्रुतं वद ब्रूहि ।
अदयालुवन् अदयनशीलं इव । निद्रालुं निद्राशीलम् अस्मत्कार्यञ्च-

१ यथा मन शराहतो वाली परलोकं प्राप्तस्तथैवायमपि प्रैष्यतीति वक्तव्यम् ।

२ 'स्यान्नल्पाकस्तु वाचालः, इत्यमरः । ३ आसीन इषाविष्टः । ४ 'स्पृही कार्मी मार्गि
नाषः स्पृहयालुश्च स्पृहः ।' इति गोपालः । ५ 'स्वप्नकं शयालुनिद्रालुः' इत्यमरः ।

वधानत्वान् शयनीय एव सर्वदा स्थितत्वान् स्रोभिः सह
 रद्भालं साध्वभिलपन्तम् । किम् । भ्रामरं भ्रमरैः कृतम् । 'क्षुद्राभ्र-
 मरवटरपादपादन् । ४ । ३ । ११९ ।' इत्यन् । सध्वित्यर्थात् ।
 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतनाम् । २ । ३ । ६९ ।' इति पृष्ठीप्रतिषेधः । 'स्पृहि-
 गृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच् । ३ । २ । २५८ ।' इत्यालुच् ।
 श्रद्धालुत्वादेव धारं साधु पिवन्तं भ्रामरमेव । सङ्घं साधु सीदन्तम् क अद्ग्री ।
 'गधेदसिशदसदो रुः । ३ । २ । १५९ ।' इति रुः ॥ २१ ॥

सूमरो भङ्गुरप्रज्ञो गृहीत्वा भासुरं धनुः ।

विदुरो जित्वरः प्राप लक्ष्मणो गत्वरान्कपीन् ॥ २२ ॥

सूमर इत्यादि—लक्ष्मणः कपीन् प्राप । कीदृशः—सूमरः साधु गन्ता ।
 'सृयस्यदः क्मरच् । ३ । २ । ६० ।' भङ्गुरा ये स्वयमेव भज्यन्ते । 'भञ्ज-
 भासमिदो घुरच् । ३ । २ । १६१ ।' इति घुरच् । तान् प्रजानातीति भङ्-
 गुरप्रज्ञः 'प्रे द्राङ् । ३ । २ । ६ ।' इति कः । विदुरैः साधुवेदी । 'विदिभि-
 दिच्छिदेः कुरच् । ३ । २ । १६२ ।' जित्वरः साधु जयशीलः । 'इण्णश्-
 जिसर्तिभ्यः करप् । ३ । २ । १६३ ।' इति करप् । गृहीत्वा धनुर्भासुरं भासन-
 शीलम् । गत्वरान् गमनशीलान् कपीन् अस्थिरप्रकृतीनित्यर्थः । 'गत्वरश्च'
 ३ । २ । १६४ ।' इति निपातितम् । गमेः करप्यनुनासिकलोपः ॥ २२ ॥

तं जागरूकः कार्येषु दन्दशूकरिपुं कपिः ।

अकम्प्रं मारुतिर्दीपं नम्रः प्रावेशयद्गुहाम् ॥ २३ ॥

तमित्यादि—तं लक्ष्मणं कपिमारुतिः गुहां प्रावेशयत् । विशेषेणुमण्य-
 न्तात् लङि रूपम् । कार्येषु कृत्येषु जागरूकः सावधानः । 'जागरूकः
 । ३ । २ । १६५ ।' इति जागर्तेरूकः । दन्दशूकरिपुं हिंसारिम् । 'यजजप-
 दशां यङ् । ३ । २ । १६६ ।' इति दंशोर्यङन्तादूकः । 'लुपसदचरजपजभदहदृ-
 गृभ्यो भावगर्हायाम् । ३ । १ । २४ ।' इति यङ् । दीपं साधु दीप्यमानम् ।

१ 'धद्दालुः धद्वया युके' इत्यमरः । २ प्रातराज्यादित्वात्, निहतशत्रुत्वाच्च
 निभ्रंयं निरद्वेगं च विराजमानमिति भावः । ३ 'ज्ञाता तु विदुरो विन्दुः' इत्यमरः ।
 ४ 'जेता जिप्सुश्च जित्वरः' इत्यमरः । ५ 'जागरूको जागरिता' इत्यमरः । ६ 'दन्दशूक-
 बिलेरायः ।' इत्यमरोक्त्या दन्दशूकाः सर्पाः, लक्ष्मण्या तद्वत्प्रमाणानां भयावहा च
 एव हिंयास्तेषां रिपुनित्याभिप्रायः ।

अकम्प्रम् अकम्पनशीलम् अभीरुमित्यर्थः । नम्रः साधु प्रह्वीभूतः । २
'नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः । ३ । २ । १६७ ।' इति रः ॥ २३ ॥

कम्प्राभिरावृतः स्त्रीभिराशंसुः क्षेममात्मनः ।

इच्छुः प्रसादं प्रणमन्सुग्रीवः प्रावदन् नृपम् ॥ २४ ॥

कम्प्राभिरित्यादि—सुग्रीवः प्रावदत् नृपं लक्ष्मणम् । स्त्रीभिरावृतः ।
वृतः सन् प्रणमन् । ताभिः सहेत्यर्थः । कम्प्राभिः कमनशीलाभिः । पूर्वव
आत्मनः क्षेमं कल्याणमाशंसुः प्रार्थयमानः । 'सनाशंसभिक्ष उः । ३ । २ । १६
इत्युः । 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् । २ । ३ । ६९ ।' इति षष्ठीप्रतिषेधः । इन्
प्रसादं प्रसादयिषणशीलः । 'अपि मे स्वामी प्रसन्नः स्यात्' इति । 'वि
रिच्छुः । ३ । २ । १६९ ।' इति निपातनम् ॥ २४ ॥

अहं स्वप्नकप्रसादेन तव वन्दारुभिः सह ।

अभीरुरवसं स्त्रीभिर्भासुराभिरिहेश्वरः ॥ २५ ॥

अहमित्यादि—अहं तव प्रसादेन इह गुहायां स्वप्रक् निद्रालुः शशित
नस्मीत्यर्थः । चिन्ताभावान् । 'स्वपितृपोर्नजिङ् । ३ । २ । १७२ ।' इति नजि
वन्दारुभिर्वन्दनशीलाभिः सह । 'शूवन्द्यारारुः । ३ । २ । १७३ ।' इत्या
अभीरुः अभयशीलः । 'भियः कृक्लुकनौ । ३ । २ । १७४ ।' इति कृः । भासुरा
भासनशीलाभिः । ईश्वरः ईशनशीलः । 'स्थेशभासपिसकसो वरच् ३ । २ । १७
इति वरच् ॥ २५ ॥

विद्युन्नाशं रवेर्भासं विभ्राजं शशलाञ्छनम् ।

रामप्रत्तेषु भोगेषु नाहमज्ञासिपं रतः ॥ २६ ॥

विद्युदित्यादि—रामप्रत्तेषु रामेण दत्तेषु भोगेषु रतः सक्तः । नाहमज्ञा
नाहं ज्ञातवानस्मि । लुङि 'यमरमजमातां सक् च । ७ । २ । ७३ ।' इति सगिर्
विद्युन्नासं द्योतनशीला विद्युतः तासां नाशम् । रवेर्भाः भासनशीला दीपि
ताम् । विभ्राजं साधु दीप्यमानं शशलाञ्छनं चन्द्रम् । प्रावृडतिक्रान्ता शरदा
तोति नाज्ञासिपमित्यर्थः । सर्वत्र 'भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपृजुगावन्तुवः ।
। ३ । २ । १७७ ।' इति क्प् ॥ २६ ॥

१ 'कन्नः कामयिताऽभीमः कमनः कामनोऽभिकः ।' इत्यमर
२ 'आशंसुराशंसितरि ।' इत्यमरः । ३ प्रसन्नतयेत्यर्थः । 'प्रमादन्तु प्रमन्नता
इत्यमरः । ४ 'वन्दारुभिवादके ।' इत्यमरः । ५ भीरोर्विन्दोऽभीरुः । 'क
कातररुत्ते भीरुभीरुर्भीलुकाः ।' इत्यमरः । ६ वज्जलाभिरित्यर्थः । ७ रा
पन् । लब्धेऽपित्यर्थः ।

एष शोकच्छिदो वीरान्प्रभो सम्प्रति वानरान् ।

धराशैलसमुद्राणामन्तगान् प्रहिणोम्यहम् ॥ २७ ॥

एष इत्यादि—हे प्रभो ! एषोऽहं सम्प्रति वानरान् प्रहिणोमि प्रस्थापयामि । कीदृशान् शोकच्छिदः शोकापनोदनशीलान् । ‘अन्येभ्योऽपि दृश्यते’ इति क्विप् । वीरान् शूरान् । धराशैलसमुद्राणाम् अन्तं गच्छन्ति ये नानन्तगान् । ‘अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः । ३।२।४८।’ इति डः । धरा पृथ्वी । ‘धरासमुद्रशैलनाम्’ इति पाठान्तरम् । अत्र ‘बहुष्वानेयमः । इति पूर्वनिपातः । यथा वीणाशङ्खदुन्दुभयः ॥ २७ ॥ इति ताच्छीलिककृतः ॥ इत्तां विशेषाधिकाराभावात् निर्विशेषकृतो दशयत्राह—

राघवस्य ततः कार्यं कारुर्वानरपुङ्गवः ।

सर्ववानरसेनानामावागमनमादिशत् ॥ २८ ॥

राघवस्येत्यादि—ततोऽभिधानानन्तरं वानरपुङ्गवः सुग्रीवः सर्ववानरसेनानामाशु शीघ्रमागमनमादिशत् आदिष्टवान् । पुमांश्चासौ गौश्चेति । ‘गौरतद्वितलुकि । ५।४।९२।’ इति समासान्तष्टच् । व्युत्पत्तिमात्रमेतत् । पुङ्गवशब्दस्तु प्रधानमाचष्टे । कानः करोतीति ‘उणादयो बहुलम् । ३।३।१।’ इत्युणादिकः । ‘कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्’ इत्युण् । एवमाशु । कस्य कर्तेत्याह—राघवस्य कार्यम् ॥ २८ ॥

वयमद्यैव गच्छामो रामं द्रष्टुं त्वराऽन्विताः ।

कारका मित्रकार्याणि सीतालाभाय सोऽब्रवीत् ॥ २९ ॥

वयमित्यादि—आगमनमादिश्य सुग्रीवोऽब्रवीत् उक्तवान् । वयमद्यैव गच्छाम इति । रामं द्रष्टुं रामं द्रक्ष्याम इति । त्वरान्विताः त्वरिता इत्यर्थः । फटिश वयम् । सीतालाभाय सीतां प्राप्स्याम इति । कारकाः कर्तारः मित्रकार्याणि रावणवधादेः कार्यस्य । भविष्याम इति शेषः । गच्छाम इति क्रिया । तस्यां क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे तुमुन्प्लुलौ भविष्यति काले स्याताम् । मित्रकार्याणीति । ‘अक्रेनोर्भविष्यदाद्यमर्णयोः । २।३।७०।’ इति षष्ठीप्रतिषेधे द्वितीयैव स्यात् । सीतालाभायेति ‘भाववचनाच्च । ३।३।११।’ इति क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे भविष्यति यन् । ‘तुमर्थाच्च भाववचनान् । २।३।१५।’ इति चतुर्थी ॥ २९ ॥

१ वानरेषु पुङ्गवः श्रेष्ठ इत्यर्थः । २ आज्ञापितवानिति भावः ।

३ रामस्य सीताहर्तृत्वात्तान्त्वेऽयत्त्वम् ।

ततः कपीनां सङ्घाता हर्षाद्राघवभूतये ।

पूरयन्तः समाजग्मुर्भयदाया दिशो दश ॥ ३० ॥

तत इत्यादि—तत आदेशादनन्तरं कपीनां संघाताः समाजग्मुः । हर्षेण । आदेशदानमेव हर्षहेतुः । राघवभूतये रामचन्द्रस्य कार्यसम्पत्त्यर्थमित्त्वात् कापि नाम राघवस्य संपत्त्यादिति समाजग्मुरित्यस्यां क्रियायां क्रियार्थाः पपदे 'भाववचनाच्च । ३ । ३ । ११ ।' इति भविष्यति क्तिन् । चतुर्थं पूर्ववत् । पूरयन्तो व्याप्नुवन्तः । दश दिशः । भयदायाः भयं दाया इत्यस्यां क्रियायामुपपदे 'अण् कर्मणि च । ३ । ३ । १२ ।' इत्यण् । 'आतो चिण्कृतोः । ७ । ३ । ३३ ।' इति युक् ॥ ३० ॥

सुग्रीवाऽन्तिकमासेदुः सादयिष्याम इत्यरिम् ।

करिष्यन्त इवाकस्माद्भुवन निर्देशाननम् ॥ ३१ ॥

सुग्रीवेत्यादि—अरिं शत्रुं सादयिष्यामो व्यापादयिष्याम इति सुन्तिकमासेदुः आगताः । 'लृट् शेषे च । ३ । ३ । १३ ।' इति चव क्रियार्थायामुपपदे भविष्यति लृट् । आसेदुरिति क्रिया क्रियार्था । अकस्मादाभुवनं भुवनत्रयं निर्देशाननं रावणरहितं करिष्यन्त इव तथाविधमहासदृशनादुत्प्रेक्ष्यते 'लृट् शेषे च । ३ । ३ । १३ ।' इति लृट् । अत्र क्रियार्थाया अन्यः शुद्धो भविष्यत्कालः शेषः ॥ ३१ ॥

कर्ताऽस्मि कार्यमायातैरेभिरित्यवगम्य सः ।

काकुत्स्थपादपच्छायां शीतस्पर्शामुपागमत् ॥ ३२ ॥

कर्तास्मीत्यादि—एभिरायातैर्वा नरैः कार्यं सीतान्वेषणादि कर्तास्मिष्यामीति अवगम्य । अनद्यतने भविष्यति लृट् । सुग्रीवः काकुत्स्थपादपच्छामुपागमत् । पद्यन्त इति पादाः । 'पदरुजविशस्पृशो घञ् । ३ । १६ ।' इति कर्तारि घञ् । तत्र भविष्यतीति निवृत्तम् । पादैः पिपादपो वृक्षः । 'आतोऽनुपसर्गे कः । ३ । २ । ३ ।' काकुत्स्थः इव समाश्रयणीयत्वान् । तस्य छायां शीतस्पर्शाम् अनुद्वेजनकराम् । इति स्पर्शस्तन्मात्र उच्यते । 'अकर्तारि च कारके सञ्ज्ञायाम् । ३ । ३ ।

१ 'स्तोमौवनिकरत्रातवारसङ्घातसञ्ज्ञयाः ।' इत्यमरः । २ जा प्रायेणैकवचनमिति सम्भाव्योक्तम्भुवनत्रयमिति । ३ आयातैः प्राप्तेरित्य
४ 'विट्पः पादपस्तरुः' इत्यमरः । ५ काकुत्स्थस्य वंशमवत्वात्पाम इ

। ३ । ४ । ७१ ।' इति कर्त्तरि क्तः । कृतप्रयोगे कर्मणि पठ्या 'न
निष्ठाव्यलर्थवृत्ताम् । २ । ३ । ६९ ।' इति निषिद्धाऽतः क्षेपे
उत्कारेषु च राशिषु धान्यानाम् । 'कृ विक्षेपे' इत्यस्मादुत्पूर्वात् 'कृ
३ । ३ । ३० ।' इति कर्मणि घञ् । अनभीष्टपरिग्रहाः अनभिला-
यर्थः ॥ ३८ ॥

वमिव शृण्वन्तश्छन्दागानां महाध्वरे ।

इतं मधुलेहानां पुष्पप्रस्तारशायिनाम् ॥ ३९ ॥

रमित्यादि—मधुलेहानां भ्रमराणां पुष्पप्रस्तारशायिनाम् । 'श्रेणो
। ३ । ३२ ।' इति घञ् । शिञ्जितं शृण्वन्तः श्रुत्वात् । छन्दो-
ध्वरे संस्तावमिव सम्भूय स्तवनमिव पाठध्वनिविशेषमिव वा
स्तुवः । ३ । ३ । ३१ ।' इति घञ् ॥ ३९ ॥

च्यन्तो विस्तारमम्भसां दक्षिणोदधेः ।

पन्तः फलरसं मुष्टिसंग्राहपीडितम् ॥ ४० ॥

प्यन्त इत्यादि—दक्षिणोदधेर्दक्षिणदिगुपलक्षकस्य समुद्रस्येत्यर्थः ।
विस्तारं विस्तीर्णताम् । विपूर्वान् स्तृणातः 'प्रथने वावशब्दे । ३ ।
इति घञ् । आलोच्यन्तो निरूपयन्तः । इयानन्य विन्तार
'गममाद्याहयन्त' । मष्टिसंग्राहपीडितम् । मष्टेः संग्राहेषु लभन्ते

अङ्गदसहितम् । तथा जाम्बवम् ऋक्षाधिपतिं नीलसहितमत्रवीत्। जास्व
ऽकारान्तो द्रष्टव्यः चारुसन्द्रावं चारुगतिम् 'सामि युद्बुदुवः । ३ । ३ ।
इति घञ् ॥ ३५ ॥

अथ पञ्चभिः कुलकम् ।

यात यूयं यमश्रायं दिशं नायेन दाक्षिणाम् ।

विक्षावैस्तोयविश्रावं तर्जयन्तो महोदधेः ॥ ३६ ॥

यातेत्यादि—यूयं यात गच्छत । यमश्रायं यमस्थानम् । श्रयते
'श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे । ३ । ३ । २४ ।' इति घञ् कर्मणि । काम्
दिशम् । सामान्याभिधानाद्विशेषाभिधानम् । नायेन नीत्या सामादिना
तेऽनेनेति पूर्ववत्करणे घञ् । महोदधेस्तोयविश्रावं तोयध्वानि तर्जयन्तो न्य
गाः । कैः विक्षौवैः स्वैः शब्दैः । उभयत्रापि 'वौ क्षुश्रुवः । ३ । ३ । २५
कर्मणि घञ् ॥ ३६ ॥

उन्नायानधिगच्छन्तः प्रद्रावैर्वसुधाभृताम् ।

वनाऽभिलावान्कुर्वन्तः स्वेच्छया चारुविक्रमाः ॥ ३७ ॥

उन्नायानित्यादि—वसुधाभृतां पर्वतानाम् । वसुधां विभ्रति-धार
तेषाम् । उन्नायानुच्चयानुच्चत्वान्यधिगच्छन्तः जानन्तः । 'अवो
। ३ । ३ । २६ ।' इति भावे घञ् । कैः प्रद्रावैः प्रकृष्टगतिभिः । 'प्रे द्रुस्तुः
३ । २७ ।' इति घञ् । वनाभिलावान् वनविध्वंसान् । निरभ्योः पूर्वोः
२८ ।' इति भावे घञ् । स्वेच्छया कुर्वन्तः । चारुविक्रमाः अस
पराक्रमाः । यात यूयमिति संबन्धः ॥ ३७ ॥

सदोद्गारसुगन्धीनां फलानामलमाशिताः ।

उत्कारेषु च धान्यानामनभीष्टपरिग्रहाः ॥ ३८ ॥

सदेत्यादि—सदा सर्वदा उद्गारे भक्षणानन्तरं श्वसनपूर्वके श्व
यानि सुगन्धीनि तेषामलं पर्याप्तमाशिताः । 'गृ शब्दे' इत्यस्माद्
'उन्न्योर्प्रः । ३ । ३ । २९ ।' इति घञ् । आङ्पूर्वादश्रोतेः 'आदिकर्मो

१ जाम्बव इति जाम्बवत एव सञ्ज्ञान्तरम् । २ सुन्दरगमनकारिणम्
'सुन्दरं स्विचं चारु' इति 'प्रद्रावोद्गारसन्द्रावसन्द्रावा विद्रवो द्रवः ।' इति
३ 'श्रायः श्रयणे' इत्यमरः । ४ 'निकारोद्गारविश्रावोद्गारहास्तु गरणादिषु ।' इ
५ 'उन्नाय उन्नये' इत्यमरः । ६ 'प्रद्रावोद्गारवमन्द्रावसन्द्रावाः' इत्य
७ 'लवोऽभिलावा लवने' इत्यमरः ।

ईन्द्रियादि—पात्राणां भिक्षाभाजनानां प्रग्राहेरिव न तु समृद्धैरिवे-
 तः । कृतरन्वप्या मैथिली । भिक्षुकवेपैरिव युष्माभिरित्यर्थः । प्रहेः
 प्रसायाम् । ३।३।४६। इति भावे घञ् । कर्मणि पठ्यी । इङ्गितैर्धर्म्यैः
 संपेतैः । चेष्टितैः कुलाङ्गनोचितैः धर्मादनपेतानीति धर्म्याणि तैः ।
 'अर्थन्यायादनपेते । १।१।९२।' इति यत् । ज्ञातव्या सा ध्यायन्ती
 मम् । कुलाङ्गना हि प्रोषितमर्तुका सर्वदा भर्तुरागमनं
 वे ॥ ४४ ॥

देवत्सपरिग्राहा यज्ञियैः संस्कृता द्विजैः ।

प्या माममतादहः प्रागनिन्दितवेशभृत् ॥ ४५ ॥

इयदित्यादि—वेदिवाङ्गिः सपरिग्राहाः यथा यज्ञियैर्यज्ञकर्माहोर्द्विजैः
 : । वेदिः यज्ञमथली । सपरिग्राहो परिगृहीता संस्कृता तथा सा-
 भनिपंपित्रत्वात् । प्रहेः 'परां यत्ते । ३।३।४७।' इति यज्ञविषये
 । मासतमादहः प्राग्दृश्या दर्शनाहोः । मासस्य पूरणं यदहः ।
 शतादिमाससंमाससंवत्सराच्च ५ । २ । ५७ ।' इति तमडागमः ।
 इय निपातनात् मासस्यासंख्यावाचित्वे टट् । मासतमेऽर्द्धीति
 दर्शयन्नाह । तस्याः पूतत्वात्तद्वदनिन्दितवेशभृत् मैथिली मङ्गलमात्रा-
 दर्शनाहो । तां द्रष्टुं भवतां न चिरकालो भवतीति मासावधिना
 : ॥ ४५ ॥

निवारफलमूलाशानृपीनप्यतिशेरेते ।

स्या गुणा निरुद्धावास्तां द्रुतं यात पश्यत ॥ ४६ ॥

वारित्यादि—यस्या गुणा ब्रह्मचर्यादयः ऋषीनप्यतिशेरेते न्यक्त्वन्ते तां
 यात पश्यत । तत्र निवारः अकृष्टपच्यधान्यम् । 'नो वृ धान्ये । ३।
 ८।' इति घञ् । 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बह्वलम् । ६।३।२२।' इति
 ङम् । फले मौषादि । मूलं शालकादि । एतान्यश्रन्ति ये ऋषयः ।
 ॥ गुणाः । निरुद्धावाः स्थिराः । 'उदि अयतिर्यातिद्रुवः । ३ । ३ ।
 इति घञ् ॥ ४६ ॥

'वेदिः परिष्कृता भूमिः सने त्पण्डितलक्षणे ।' इत्यमरः । २ ममातः परिग्राहः
 पे येषां ते सपरिग्राहाः परिग्राहो वेपादिः । ३ 'नृपयन्त्यानि नैवराः' इत्यमरः ।
 दुषस्त्वनविदक्षितम् 'अमरा निर्जता देवाः' इत्यादिभिर ।

उच्छ्रायवान्वनाऽऽरावो वानरं जलदाऽऽखम् ।

दूराऽऽप्लावं हनूमन्तं रामः प्रोचे गजाऽऽप्लवः ॥ ४७ ॥

उच्छ्रायवानित्यादि-रामो हनूमन्तं प्रोचे । कीदृशः । उच्छ्रायवानित्युक्तः । पूर्ववद् घञ् । घनस्येवारावो यस्य । 'विभाषाऽऽरावोः । ३।३।५०।' इति भावे घञ् । गजाप्लवः गजगमनः । पक्षे पूर्ववद् घञ् । दूराप्लावं दूरमाप्लाव उद्गमनं यस्य । पूर्ववत् घञ् ॥ ४७ ॥

अवग्राहे यथावृष्टिं प्रार्थयन्ते कृषीवलाः ।

प्रार्थयध्वं तथा सीतां यात सुग्रीवशासनात् ॥ ४८ ॥

अवग्राह इत्यादि-अवग्राहो वर्षप्रतिबन्धः । 'अवे ग्रहो वर्षप्र ३।३।५१।' इति पक्षे अप् । यथा अवग्राहे कृषीवला वृष्टिं प्रा तथा सीतां यूयं प्रार्थयध्वम् । तस्या दुर्लभत्वादत्यन्तादरणीयत्वाच्च सुग्रीवशासनात् ॥ ४८ ॥

वणिक्प्रग्राहवान्यद्दत्काले चरति सिद्धये ।

देशापेक्षास्तथा यूयं याताऽऽदायाङ्गुलीयकम् ॥ ४९ ॥

वणिगित्यादि-तुला प्रगृह्यते येन सूत्रेण स प्रग्राहः । 'प्रे वणिजाम् । ३।५२।' इति करणे घञ् । स तुलासंबन्धी विद्यते यस्य वणि संसर्गं मनुप् । यथा तुलाप्रग्राहवान् तदुपलक्षितो वणिक् काले क्रयसिद्धये चरति तथा यूयं अङ्गुलीयकं तुलासूत्रस्थानीयं चिह्नं देशापेक्षाः तत्तद्देशस्थितास्तत्र हि चिह्नेन रामदृता इति लक्ष्यन्ते ॥

अभिज्ञानं गृहीत्वा ते समुत्पेतुर्नभस्तलम् ।

वाजिनः स्यन्दने भानोर्विमुक्तप्रग्रहा इव ॥ ५० ॥

अभिज्ञानमित्यादि-ते वानरा नभस्तलमुत्पेतुः । वाजिन इव वि प्रग्रहोः । विमुक्तः प्रग्रहो नियमरज्जुयंपामिति । 'रश्मौ च । ३।३। इति विभाषाप्रहणमनुवर्तते । वयभावपक्षे 'ग्रहवृद्धनिश्चिगमश्च । ३।३। इत्यप् । स्यन्दने रथे भानोरादित्यन्य । किं कृत्वा । अभिज्ञानं गृ चिह्नमङ्गुलीयकमादाय ॥ ५० ॥

भ्रेमुः शिलोच्चयांस्तुङ्गानुत्तेरुरत्तरान्नदान् ।

आशंसवो लवं शत्रोः सीतायाश्च विनिश्चयम् ॥ ५५ ॥

भ्रेमुरित्यादि—उत्पूर्वाच्चिनोते: 'एरच् । ३ । ३ । ५६ ।' इत्यच् । वि
भिरुच्चयो येषां तान् शिलोच्चयान् । भ्रेमुः भ्रमणक्रियाया व्याप्य
स्रकर्मकता । नदान् अतरान् तरितुमशक्यान् उत्तेरुः उत्तीर्णवन्तः ।
लवमुच्छेदनम् । सीतायाश्च विनिश्चयं विनिर्णयम् । आशंसवः 'आशंसनशीत
'सनाशंसभिक्ष उः । ३ । २ । १६८ ।' इत्युः । तरलवौ 'ऋदोरप् । ३ । ३ । ५७ ।'
अप्प्रत्ययान्तौ । विनिश्चयमिति ग्रहेत्यप् ॥ ५५ ॥

आदरेण गमं चक्रुर्विषमेष्वप्यसङ्घसाः ।

व्याप्नुवन्तो दिशोऽन्यादान्कुर्वन्तः सव्यधान्हरीन् ॥ ५६ ॥

आदरेणेत्यादि—विषमेष्वपि प्रदेशेषु गमं गमनं चक्रुः । आदरेणान्न
गमम् 'ग्रहवृष्टनिश्चिगमश्च । ३ । ३ । ५८ ।' इत्यप् । असंघसाः त्यक्ताहार
'उपसर्गोऽदः । ३ । ३ । ५९ ।' इत्यपि 'घञपोश्च । २ । ४ । ३८ ।' इति अदर्घस्लादे
हरीन् सिंहान् । सव्यधान् सप्रहारान् । 'व्यधजपोरनुपसर्गो । ३ । ३ । ६० ।'
इत्यप् । सप्रहारत्वादन्यादान् परित्यक्ताहारान् कुर्वन्तः । 'नौ ण च । ३ । ३ ।
इति निपूर्वाद्दोऽण् प्रत्ययः । तस्मिन्नदेर्न वस्लादेशः । चकारादादि
निघसः । दिशो व्याप्नुवन्तः सर्वव्यापिनः ॥ ५६ ॥

सञ्चेरुः सहसाः केचिदस्वनाः केचिदाटिपुः ।

संयामवन्तो यतिवन्निगदानपरेऽमुचन् ॥ ५७ ॥

सञ्चेरुरित्यादि—सहसाः सहासाः । अस्वर्नास्तृष्णीकाः । 'स्वनह
। ३ । ३ । ६२ ।' इत्यप् । यतिवन् संयामवन्तः नियमवन्तः 'यमः समुर्पा
च । ३ । ३ । ६३ ।' इति घञ् । आटिपुः अटितवन्तः । अटेलुङि रूप
अपरे निगदान् कलकलरवानमुचन् । 'नी गद् नदपठस्वनः । ३ । ३ । ६४ ।'
विकल्पेनापो विधानान् घञ् ॥ ५७ ॥

अथ कुम्भादनिःकाणा नराः क्षीणपणा इव ।

अमदाः सेदुरेकस्मिन्नितम्बे निखिला गिरः ॥ ५८ ॥

१ पर्वतानिति यावन् । २ अपीति शेषः । ३ इदं स्वेषां ग्रहप्रस्तरं धोतयि
४ इदन्मूकत्वं धोतयितुम् । ५ 'यनः मन्यामस्यमौ' इत्यमरः । ६ इदं विद्वत्वं सग
बितुम् । 'निगादो निगादे' इत्यमरः ।

भ्रेमुः शिलोच्चयांस्तुङ्गानुत्तेरुतरान्नदान् ।

आशंसवो लवं शत्रोः सीतायाश्च विनिश्चयम् ॥ ५५ ॥

भ्रेमुरित्यादि—उत्पूर्वाच्चिनोते: 'एरच् । ३ । ३ । ५६ ।' इत्यच् । ति
भिरुच्चयो येषां तान् शिलोच्चयान् । भ्रेमुः भ्रमणक्रियाया व्याप्य
सकर्मकता । नदान् अतरान् तरितुमशक्यान् उत्तेरुः उत्तीर्णवन्तः । ३
लवमुच्छेदनम् । सीतायाश्च विनिश्चयं विनिर्णयम् । आशंसवः आशंसनशीत
'सनाशंसभिक्ष उः । ३ । २ । १६८ ।' इत्युः । तरलवौ 'ऋदोरप् । ३ । ३ । ५७ ।'
अप्प्रत्ययान्तौ । विनिश्चयमिति ग्रहेत्यप् ॥ ५५ ॥

आदरेण गमं चक्रुर्विषमेष्वप्यसङ्घसाः ।

व्याप्नुवन्तो दिशोऽन्यादान्कुर्वन्तः सव्यधान्हरीन् ॥ ५६ ॥

आदरेणेत्यादि—विषमेष्वपि प्रदेशेषु गमं गमनं चक्रुः । आदरेणानव
गमम् 'ग्रहवृद्धनिश्चिगमश्च । ३ । ३ । ५८ ।' इत्यप् । असंघसाः त्यक्काहारा
'उपसर्गेऽदः । ३ । ३ । ५९ ।' इत्यपि 'घव्वपोश्च । २ । ४ । ३८ ।' इति अदेर्घस्लादेशे
हरीन् सिंहान् । सव्यधान् सप्रहारान् । 'व्यधजपोरनुपसर्गे । ३ । ३ । ६
इत्यप् । सप्रहारत्वादन्यादान् परित्यक्काहारान् कुर्वन्तः । 'नौ ण च । ३ । ३ । ६
इति निपूर्वादोऽण् प्रत्ययः । तस्मिन्नदेर्न घस्लादेशः । चकारादपि
निघसः । दिशो व्याप्नुवन्तः सर्वव्यापिनः ॥ ५६ ॥

सञ्चरुः सहसाः केचिदस्वनाः केचिदाटिपुः ।

संयामवन्तो यतिदन्निगदानपरेऽमुचन् ॥ ५७ ॥

सञ्चरुरित्यादि—सहसाः सहासाः । अस्वनास्तूष्णीकाः । 'स्वनहस
। ३ । ३ । ६२ ।' इत्यप् । यतिवत् संयामवन्तः नियमवन्तः 'यमः समुपनि
च । ३ । ३ । ६३ ।' इति घव् । आटिपुः अटितवन्तः । अटेलुङ्कि रूपम्
अपरे निगदान् कलकलरवानमुचन् । 'नौ गद नदपठस्वनः । ३ । ३ । ६४ ।'
विकल्पेनापो विधानात् घव् ॥ ५७ ॥

अथ क्लुमादनिःकाणा नराः क्षीणपणा इव ।

अमदाः सेदुरेकस्मिन्नितम्बे निखिला गिरेः ॥ ५८ ॥

१ पर्वतानिति यावत् । २ अपीति शेषः । ३ इदं स्वेषां ग्रहग्रस्तत्वं धोतयितुम्
४ इदम्भूकत्वं धोतयितुम् । ५ 'यमः सन्यामसंयमौ' इत्यमरः । ६ इदं विद्वत्त्वं सम्य
यितुम् । 'निगादो निगदे' इत्यमरः ।

अथेत्यादि—अथ परिभ्रमणादनन्तरं कुमेन परिश्रमेण अमदाः गतप्रमादाः दोऽनुपसर्गे । ३।३।६७। इत्यप् । निःकौणाः निःशब्दाः मूकीभूता इति वः । 'कणो वीणायां च । ३।३।६५।' इत्यपो विकल्पेन घञ् । वीणादिविषयत् । कणेर्निपूर्वादानुपसर्गाद्वीणादिविषयाच्च विकल्पेनाप्प्रत्यय इत्युक्तम् । तस्मिन् गिरेर्नितम्बे सेदुः निपण्णाः । निखिलाः समस्ता वानराः । क्षीण-
ता इव अर्थरहिता नरा इव । पण्यन्त इति पणाः । व्यवहाराय कृते पणे
वस्थाप्यन्ते । 'नित्यं पणः परिमाणे । ३।३।६६।' इत्यप् ॥ ५८ ॥

ततः ससम्मदास्तत्र निरैक्षन्त पतत्रिणः ।

गुहाद्वारेण निर्यातः समजेन पशूनिव ॥ ५९ ॥

तत इत्यादि—ततो विश्रामानन्तरं ते तत्र तस्मिन् पर्वते पतत्रिणः पक्षिणो
रैक्षन्त ईक्षितवन्तः । ईक्षेर्लङि रूपम् । कीदृशान् गुहाद्वारेण निर्यातः निर्ग-
तः । निपूर्वाद्यातेः शत्रन्तस्य शक्ति रूपम् । ससम्मदाः सहर्षाः । 'प्रमदसंमदौ
र् । ३।३।६८।' इति निपातितम् । समजेन वृन्देन पशूनिव निर्यातः ।
मुदोरजः पशुषु । ३।३।६९।' इत्यप् ॥ ५९ ॥

वीनामुपसरं दृष्ट्वा तेऽन्योन्योपहवा गुहाम् ।

प्राविशन्नाहवप्रज्ञा आहावमुपालिप्सवः ॥ ६० ॥

वीनामित्यादि—वीनां पक्षिणामुपसरं नैरन्तर्येण निर्गमनं दृष्ट्वा । उप-
र इव उपसरः नैरन्तर्यमात्रेणोपलक्षितत्वात् । उपसरो हि स्त्रीगवीषु
ह्वानामभिगमनमुच्यते । स च नैरन्तर्येण भवति । 'प्रजने सतैः । ३।
।७१।' इत्यप् । ते वानरा अन्योन्योपहवाः परस्परमाह्वानं येषाम् आ-
च्छतागच्छत प्रविशाम इति । 'ह्वः सम्प्रसारणम् । ६।१।३२।'
त्यप् संप्रसारणं च । गुहां प्राविशन् प्रविष्टवन्तः । आहवप्रज्ञाः
द्धप्रज्ञाः । आहूयते युद्धाय स्पर्धतेऽत्र । 'आडि युद्धे । ३।३।७३।'
त्यप् संप्रसारणं च । आहवमुपालिप्सवः उदकाधारमुपलब्धुमिच्छवः ।
निपानमाहावः । ३।३।७४।' इति घञि सम्प्रसारणं निपात्यते । वृद्धि-
स्त्येव । अप्प्रत्यये त्ववृद्धिः ॥ ६० ॥

१ गतहर्षा इति पाठान्तरं तु न प्रकृते युक्तम् । २ 'निकणो निकणः काणः'
त्यमरः । ३ अत्र जात्याभिप्रायेणैकवचनं, तेन नितम्बेष्वित्यर्थः । 'कटकोऽस्त्री नितम्बोऽद्रेः'
त्यमरः । ४ 'पशूनां समजोऽन्येषां समाजः' इत्यमरः । ५ 'प्रजनः स्यादुपसरः' इत्यमरः ।
६ सप्रामाभिलाषिणः । 'अभ्यामर्दसमाघातसङ्घामाभ्यागमाहवाः ।' इत्यमरः
७ जलपानस्थलम् । 'आहावस्तु निपानं स्यादुपकूपजलाशये' इत्यमरः ।

कुर्वन्तो हवमाप्तानां पिपासावधकाङ्क्षिणः ।

द्वारं तमोघनप्रख्यं गुहायाः प्राविशन्द्रुतम् ॥ ६१ ॥

कुर्वन्त इत्यादि—गुहां प्रविश्य तस्याः द्वारमपरं प्राविशन् । आप्तानां स्निग्धानां हवमाप्तानां कुर्वन्तः । 'भावेऽनुपसर्गस्य ॥ ३ । ३ । ७५ ।' इत्य् संप्रसारणं च । पिपासा पातुमिच्छा तस्या वधोऽपनयनम् । 'हनश्च वः ॥ ३ । ३ । ७६ ।' इत्यप् वधादेशश्च । तं काङ्क्षितुं शीलं येषामिति । 'काङ्क्षि माक्षि काङ्क्षायाम्' इत्यस्मात् 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये । ३ । २ । ७८ ।' 'इदितो नुम् धातोः । ७ । १ । ५८ ।' साधुकारिणि वा । कीदृशं द्वारं तमोघनप्रख्यं तमसो घनः मूर्तिः काठिन्यं तेन सदृशम् । 'मूर्तौ घनः ३।३।७७।' इति हन्तेरप्प्रत्ययो घनादेशश्च निपात्यते । मूर्तिमत्तम इव द्वारमित्यर्थः ॥ ६१ ॥

तास्मिन्नन्तर्घणेऽपश्यन्प्रघाणे सौधसन्नः ।

लौहोद्घनघनस्कन्धा ललिताऽपघनां स्त्रियम् ॥ ६२ ॥

तास्मिन्नित्यादि—द्वारमतिक्रम्य यः सावकाशप्रदेशः सोऽन्तर्घण इत्युच्यते । तथाह्यन्तर्हन्यते क्रोडीभवत्यस्मिन्निति अनुगतार्थत्वम् । 'अन्तर्घनो दे ॥ ३ । ३ । ७८ ।' इत्यन्तःपूर्वाद्धन्तेरप् घनादेशः । घणादेशो वा ये णका पठन्ति । यत्रु संज्ञीभूतो वाहीकेषु देशविशेष इत्युक्तं तत् संज्ञाशब्दमाश्रित्य तस्मिन्नन्तरे यत्र सौधसन्न धवलगृहं तस्य प्रघाणे एकदेशे । 'प्रघण प्रघाणश्च । ३।३।७९ ।' इति निपातितम् । स्त्रियं ललितापघनां ललिताङ्गीभ्यश्च । 'अपघनोऽङ्गम् । ३ । ३ । ८१ ।' इति निपातनम् । लौहोद्घनघनस्कन्धाः । लौहो लोहमयो य उद्घनः यस्मिन् स्थापयित्वा काष्ठादीनि संस्क्रियन्ते तद्वद् घनः स्कन्धो येषामिति । च्छनोऽत्याधानम् । ३।३।८०। इति निपातनम् ॥ ६२ ॥

सा स्तम्बघ्नपदन्यासान्विविधनेन्दुसमद्युतिः ।

पारिघोरुभुजानाह हसन्ती स्वागतं कपीन् ॥ ६३ ॥

१ 'प्रघाणप्रवणालिन्दा चहिद्वारप्रकोष्ठके ।' इत्यमरः । २ ललिताः सुन्दरा अघना अङ्गानि यस्यास्ताम् । 'अङ्गं प्रतीकोऽवयवोऽपघनः ।' इत्यमरः । ३ 'निघाय तस्कां यत्र काष्ठे काष्ठं स उद्घनः ।' इत्यमरः । लौहेतिविशेषाभिधानेन तस्य काष्ठप्रभृत्कानि निरस्तम् ।

सेत्यादि—सा स्त्री हसन्ती कपीन् स्वागतं वच आह । कीदृशी वि-
 प्रेन्दुसमद्युतिः विहन्यते अभिभूयते अन्या द्युतिर्येन स विघनः 'करणेऽयोविद्रुषु
 ३ । ३ । ८२ ।' इत्यप् घनादेशश्च । स चेन्दुश्चेति सः । तत्समा द्युतिर्य-
 याः । स्तम्बो हन्यते येन पादन्यासेन स स्तम्बघ्नः । तृणकाष्ठादिः । 'स्तम्बे
 ष च । ३ । ३ । ८३ ।' इति करणे कः । 'गमहनजनखनघसां लोपः क्लृप्त्य-
 षि । ६ । ४ । ९८ ।' इत्युपघालोपः । तादृशः पादन्यासो येषां कपीनामिति ।
 विहन्यते येन । 'परौ घः । ३ । ३ । ८४ ।' इत्यप् घादेशश्च । परिघोऽर्गलः
 । अनुकारिणो विपुला बाहवो येषामिति ॥ ६३ ॥

पिप्रायाद्विगुहोपपन्नानुद्धान्सङ्घसमागतान् ।

फलैर्नानारसैश्चित्रैः स्वादुशीतैश्च वारिभिः ॥ ६४ ॥

पिप्रायेत्यादि—तान्निविधैः फलैर्वारिभिश्च पिप्राय तर्पितवती । अद्विगुहो-
 पपन्नान् । अद्विगुहैव उपघ्न आश्रयो येषां कपीनाम् । 'उपघ्न आश्रये । ३ । ३ । ८५ ।
 त्वप् उपघालोपश्च निपात्यते । संघसमागतान्समूहेनागतान् । उद्धान्
 शस्तान् । 'संघोद्धौ गणप्रशंसयोः । ३ । ३ । ८६ ।' इति समुदोरुपपदयोः
 अन्तेरपि षिलोपश्च निपात्यते ॥ ६४ ॥

निघानिघतरुच्छन्ने तस्मिंस्ते लब्धिमैः फलैः ।

तृप्तास्तां भ्राजथुमतीं पप्रच्छुः कस्य पूरियम् ॥ ६५ ॥

निघेत्यादि—तस्मिन्प्रघणे निघानिघानिभितानिमितैस्तहाभिश्छन्ने । 'निघो
 नेमितम् । ३ । ३ । ८७ ।' इति निपूर्वाद्धन्तेरपि षिलोपे निपात्यते । समारोह-परि-
 ग्राहार्थां निमितमित्युच्यते । ते कपयः । लब्धिमैर्लाभनिर्वृत्तैः । 'द्विवतः
 क्तः । ३ । ३ । ८८ ।' इति क्तः । 'स्त्रेर्भिन्नित्यम् । ४ । ४ । ३० ।' इति मप् ।
 फलैस्तृप्ताः सन्तस्तां स्त्रियं भ्राजथुमतीं शोभावतीम् । पप्रच्छुः
 प्रवन्तः कस्येयं पूरिति । 'द्वितोऽथुच् । ३ । ३ । ८९ ।' तदन्तान्मनुप् ॥ ६५ ॥

रक्षणं करोषि कस्मात् त्वं यत्नेनाऽऽख्यायतां शुभे ।

स्वप्ने निधिवदाभाति तव संदर्शनं हि नः ॥ ६६ ॥

१ 'स्तम्बघ्नस्तु-स्तम्बघनः स्तम्बो येन विहन्यते ।' इत्यमरः । २ 'स्यादुपघ्नो-
 ऽन्तिकाम्रये ।' इत्यमरः । ३ 'मतल्लिकामर्चिकाम्रकाण्डमुद्रतल्लनौ । प्रशस्तवाचका-
 'यमूनि' इत्यमरः ।

रक्षणमित्यादि—हे शुभे ! कल्याणि कस्माद्वा रक्षणं रक्षां करोषि । एतद्
त्वेनादरेण नोऽस्माकमाख्यायताम् । उभयत्रापि 'यजवाचयतविच्छप्रच्छरक्षो ना
।३।३।९०।' इति नङ् । यस्मात्स्वप्ने निधिवत् निधिरिव तव संदर्शनमाभाति
नोऽस्माकमतिदुर्लभत्वात् । स्वप्न इति 'स्वप्नो नन् ३।३।९१।' निधिति
'उपसर्गे घोः क्तिः ।३।६।९२।' इति क्तिः ॥ ६६ ॥

ततो जलधिगम्भीरान् वानरान् प्रत्युवाच सा ।

इयं दानवराजस्य पूः सृष्टिर्बिंश्वकर्मणः ॥ ६७ ॥

तत इत्यादि—ततस्तस्मादनन्तरं सा प्रत्युवाच । जलं धीयते अस्मिन्निति
'कर्मण्यधिकरणेच ।३।३।९३।' इत्यधिकरणेऽर्थे क्तिः जलधिः समुद्रः । तद्वद्-
म्भीरानक्षोभ्यत्वात् । इयं पूः दानवराजस्य विश्वकर्मणः सृष्टिः । सृज्यते
इति सृष्टिः । कर्मणि 'स्त्रियां क्तिन् ।३।३।९४।' इति क्तिन् ॥ ६७ ॥
इतः परं स्त्रीलिङ्गमाधिकृत्योच्यते—

निहतश्च स्थितिं भिन्दन्दानवोऽसौ बलद्विषा ।

दुहिता मेरुसावर्णेरहं नाम्ना स्वयम्प्रभा ॥ ६८ ॥

निहत इत्यादि—असौ दानवः दैत्यराजः स्थितिं मर्यादां भिन्
'स्थागापापचो भावे ।३।३।९५।' इति क्तिन् । बलद्विषा इन्द्रेण निहतः ।
चाहं दुहिता । स पिता । नाम्ना मेरुसावर्णिः अहं च नाम्ना स्वयंप्रभेति ॥६८॥

जूतिमिच्छत चेत्तूर्णं कीर्तिं वा पातुमात्मनः ।

करोमि वो वहिर्यूतीन्पिधध्वं पाणिभिर्दशः ॥ ६९ ॥

जूतिमित्यादि—यदि तूर्णं शीघ्रं जूतिं गमनमिच्छथ । कीर्तिं वा आत्म
पातुं रक्षितुम् 'पारक्षणे' तुमुन् । वः युष्मान् वहिर्यूतीन् वहिर्भूतान् । 'ऊ
यूतिजूतिसातिहेतिकीर्त्तयश्च ।३।३।९७।' इत्यादिना निपातितः । तत्र यां
ज्वतेश्च क्तिन् दीर्घत्वं च निपात्येते । कीर्तिरपि 'कृत संशब्दने' स्वार्थिको णि
'उपधायाश्च ।७।१।१०१।' इतीत्वं तस्मात् क्तिन् । अतः पाणिभिः दश
दृष्टीः पिधध्वं आच्छादयध्वम् । अपिपूर्वाद्वाञ् लोटि द्विर्वचने 'दधस्तपो
।८।१।३८।' इति अभ्यासस्य भष्मावे 'आभ्यस्तयोरातः ।६।४।११२।' इत्यादि
रलोपे 'श्लानं जश् इशि । ८।४।५३।' इति धातोर्दकारे 'वष्टि भागुरिरङ्गो
मवाप्योरुपसर्गयोः । इत्युपसर्गाकारलोपे च रूपम् ॥ ६९ ॥

ब्रज्यावती निरुद्धाऽक्षान् विद्येवाऽनुष्ठितक्रियान् ।

निरचिक्रमदिच्छातो वानरांश्चङ्क्रमावतः ॥ ७० ॥

ब्रज्येत्यादि—सा ब्रज्यावती प्रशस्तगमनवती । 'ब्रजयजोर्भावे क्यप् ३।१८।' प्रशंभायां मनुप् । वानरान्निरुद्धाक्षान् निरचिक्रमत् निष्कासितानि । क्रमेण्यन्तस्य लुङि 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनगलोपे । ७।४।९३।' इति सन्वल्लघुत्वात् 'सन्वतः । ७।४।७९।' इतीत्वम् । 'दीर्घो लघोः । ७।४।९४।' इति दीर्घत्वं संयोगपरस्य गुरुत्वात् । अनुष्ठितक्रियानाचरिततदुपादिष्टव्यापारान् । अः श च । ३।३।१०० ।' इति शः । 'सार्वधातुके यक् । ३।१।६७ ।' रिङादेव । चङ्क्रमावतः कुटिलगतिमतः । 'अः प्रत्ययान् । ३।३।१०२।' इत्यकारः । छात इति वानराणामिच्छायाः । 'इच्छा । ३।३।१०१।' इति निपातितम् । शप् प्रत्ययः छभावश्च निपात्यते । विद्या । 'संज्ञायाम् । ३।३।९९।' इति ष् । यथा विद्या अनुष्ठितक्रियान् कृतपुरश्चरणान् पुरुषानिच्छातोऽभीष्टं सम्पादति तद्वत्सेति ॥ ७० ॥

निष्क्रम्य शिक्षया तस्यास्त्रपावन्तो रसातलात् ।

ज्ञात्वा मासमतिक्रान्तं व्यथामवललम्बिरे ॥ ७१ ॥

निष्क्रम्येत्यादि—तस्याः शिक्षया उपदेशेन 'गुरोश्च हलः । ३।३।१०३।' यकारः । तस्माद्रसातलान्निष्क्रम्य निर्गम्य त्रपावन्तः लज्जिता इति भावः । भ्रिये उपदेशेन निष्क्रान्ता वयमिति त्रपेति । 'पिङ्गिदादिभ्योऽङ् । ३।३।१०४।' मासतेक्रान्तं ज्ञात्वा वहिर्निर्गताः सन्तः व्यथां पीडां, लक्षणया भयमित्यर्थः । पिङ्गिदादिभ्योऽङ् । ३।३।१०४ इत्यङ् । अवललम्बिरे वयं मासावधिना प्रेषिताः च मासो विनैव कार्येणातिक्रान्त इति स्वामिनो भयम् ॥ ७१ ॥

चिन्तावन्तः कथां चक्रुरुपधाभेदभीरवः ।

अकृत्वा नृपतेः कार्यं पूजां लप्स्यामहे कथम् ॥ ७२ ॥

चिन्तेत्यादि—उपधानमुपधा पराक्षा । 'आतश्चोपसर्गे । ३।३।१०६।' इत्यङ् । परिशुद्धो हि भृत्यः कार्येषु नियुज्यते । तदकरणादुपधाया भेदोऽभावः तस्मात्परावः । चिन्तावन्त इतिकर्तव्यतामूढाः कथां चक्रुः कृतवन्तः । कौटुशीमित्या । अकृत्वा नृपतेः कार्यं पूजां लप्स्यामहे कथमिति नैवेत्यर्थः । चिन्तादयः । वन्तिपूजिकथिकुम्बिचर्चश्च । ३।३।१०५।' इति अङ्गन्ताः ॥ ७२ ॥

१ 'भेदोपज्ञातम्बुरथा धर्मार्थैर्यत्परीक्षणम् ।' इत्यनरः । २ कार्येषु नृत्यानि-
श्रान्तित्यर्थः ।

प्रायोपासनया शान्तिं मन्वानो वालिसम्भवः ।

युक्त्वा योगं स्थितः शैले विवृण्वंश्चित्तवेदनाम् ॥ ७३ ॥

प्रायेत्यादि--उपासनेति । 'प्यासश्रन्थो युच् । ३ । ३ । १०७
प्रोयण अविच्छेदेन उपवासेनोपासना अनशनेनासनमित्यर्थः । तथा शान्ति-
कल्याणं मन्वानोऽवगच्छन् उपयान्तराभावात् । वालिसम्भवोऽङ्गदः
'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।' इत्युक्तस्तं युक्त्वा सम्बध्यः शैले स्थितः । चित्त-
वेदनां चित्तपीडां विवृण्वन् । 'घट्टिविदिवन्दिभ्यो युज् वक्तव्यः' इ-
वार्तिकेन युच् ॥ ७३ ॥

प्रस्कन्दिकामिव प्राप्तो ध्यात्वा ब्रूते स्म जाम्बवान् ।

धिक् शालभञ्जिकाप्रख्यान् विषयान् कल्पनारुचीन् ॥ ७४ ॥

प्रस्कन्दिकामित्यादि--त्वया का क्रिया कर्तव्येत्यन्यः पृष्ठः सन् जाम्ब-
वान् ध्यात्वा विचिन्त्य ब्रूते स्म । प्रस्कन्दिकामिव रोगविशेषमिव प्राप्तो यतः
उत्साहाभावात् । 'रोगाख्यांयां ण्वुल् बहुलम् । ३ । ३ । १०८ ।' शालभञ्जिका
क्रीडाविशेषः । 'सञ्ज्ञायाम् । ३ । ३ । १०९ ।' इति ण्वुल् । 'नित्यं क्रीडा-
जीविकयोः । २ । २ । १७ ।' इति समासः । तत्प्रख्या विषया रूपादयः आदि-
तुच्छत्वात् । अतस्तान् धिक् । किम्भूता कल्पनारुचीन् कल्पनीयान् ॥ ७४ ॥

यां कारिं राजपुत्रोऽयमनुतिष्ठति तां क्रियाम् ।

अहमप्यनुतिष्ठामि सोऽप्युक्त्वैवमुपाविशत् ॥ ७५ ॥

यामित्यादि--अयं राजपुत्रोऽङ्गदो यां कारिं क्रियामनुतिष्ठति तां
क्रियाम् अहमप्यनुतिष्ठामि । 'विभाषाऽऽख्यानपरिप्रश्नयोरिन् च । ३ । ३ । ११० ।'
इति करोतेरिन् । पक्षे 'कृञः श च । ३ । ३ । १०८ ।' इति शः । सोऽयं-
वमुक्त्वा उपाविशत् अनशनेन स्थितः ॥ ७५ ॥

उवाच मारुतिवृद्धे संन्यासिन्यत्र वानरान् ।

अहं पर्यायसम्प्राप्तां कुर्वे प्रायोपवेशिकाम् ॥ ७६ ॥

उवाचत्यादि--मारुतिः पवननन्दनो हनुमानित्यर्थः नरानुवाच वृद्धे
जाम्बवाति संन्यासिनि अनशनं वति अहमप्यत्र शैले पर्यायेण परिपाट्या
संप्राप्तां प्रायोपवेशिकाम् अनशनं कुर्वे । 'पर्यायाईणोत्पात्तिषु ण्वुल् च । ३ । ३ । १११ ।'
इति ण्वुच् ॥ ७६ ॥

अभावे भवतां योऽस्मिञ्जीवेत्तस्याऽस्त्वजीवनिः ।

इत्युक्त्वा सर्व एवास्थुर्वद्धा योगासनानि ते ॥ ७७ ॥

अभाव इत्यादि—अभावे विनाशे भवतां योऽस्मिन् लोके जीवेत् तस्या-
जीवनिः धिग्जीवितम् । 'आक्रोशे नञ्यनिः । ३।३।११२।' एवमुक्त्वा

एव अस्थुः स्थिताः । तिष्ठतेः 'गात्रिस्थाघुपाभूभ्यः परस्मैपदेषु । २।४।७७।'
सिचो लुक् । योगासनानि पद्मासनादीनि बद्ध्वा विरचय्य ॥ ७७ ॥

इतः परं स्त्रीलिङ्गभावं निवर्त्य कृदुदाह्रियते—

अक्लेश्यमंसिनाशयन्तं कवन्धवधमभ्यधुः ।

धिङ् नः प्रपतनं घोरं क्लेदान्तत्वमनाथवत् ॥ ७८ ॥

अक्लेश्यमित्यादि—कवन्धस्य योजनवाहोर्वधमभ्यधुः अभिहितवन्तः ।

पूर्वो धाञ्भिधाने वर्तते । कीदृशम् अक्लेश्यं प्रयासरहितम् । कस्मात्
ना सुखमरणात् तं चाभ्यन्तम् अन्ते तस्याग्निरभूत् । अस्माकं धिङ्-
नं विनाशम् । दुःखेन घोरत्वात् । क्लेदान्तत्वम् अन्ते पूतीभावं

॥स्ति । अर्श आदित्वादच् । अनाथानामिव । अक्लेश्यप्रपतनशब्दौ भावसा-
। 'कृत्यल्युटो बहुलम् । ३।३।११३।' इति ल्युट् ॥ ७८ ॥

ततो मन्दगतः पक्षी तेषां प्रायोपवेशनम् ।

अशनीयमिवाशंसुर्महानायादशोभनः ॥ ७९ ॥

त इत्यादि—ततोऽभिधानादन्तरं महान् पक्षी सम्पातिनामा जटायु-
ः । आयात् आगतवान् । मन्दगतो मन्दगमनः । 'नपुंसके भावे क्तः
। १।१।४।' आहिताग्नित्वात् परनिपातः । तेषां दत्प्रायोपवेशनं तदशनीय-
भोजनीयमिव । 'कृत्यल्युटो बहुलम् । ३।३।११३।' इति कृत्यः । आशंसुः

सनशीलः । अशोभनः शोभारहितः । दावाग्निना प्लुष्टशरीरत्वात् ।
इ च । ३।३।११५।' इति भावे ल्युट् । 'कर्मणि च येन संस्पर्शात् कर्तुः
रसुखम् । ३।३।११६ ।, इत्येतत्परिहृत्योदाहृतत्वात् ॥ ७९ ॥

देहव्रश्चनतुण्डाग्रं तं विलोक्याशुभाकरम् ।

पापगोचरमात्मानमशोचन् वानरा मुहुः ॥ ८० ॥

इत्यादि—वृश्चयते येन तुण्डाग्रेण । 'करणाधिकरणयोश्च । ३।३।११७।'
करणे ल्युट् । देहस्य ब्रश्चनमिति कृद्योगे पठौ । देहव्रश्चनं तुण्डाग्रं यस्य

तं विलोक्य । वानरा अंशुभाकरं पापस्योत्पत्तिस्थानम् । आकर इवाकरः
 'पुंसि संज्ञयां घः प्रायेण ।३।३।११८।' तत्र हि करणाधिकरणयोरिति वर्तते
 एवम् उत्तरत्रापि चात्मानं पापगोचरं पापविषयं पापविषये पतिता वयसि
 सुहुरशोचन् शोचितवन्तः । 'गोचरसञ्चरवह्न्रजव्यजापणनिंगमाश्च । ३ । ३
 ११९।' इत्यधिकरणे निपातितः ॥ ८० ॥

जटायुः पुण्यकृत्पक्षी दण्डकाऽरण्यसञ्चरः ।

कृत्वा राघवकार्यं यः स्वराऽऽरूढोऽग्निः संस्कृतः ॥ ८१ ॥

जटायुस्तियादि—राघवकार्यकृत्वा । अग्निः संस्कृतः अग्निना कृतसंस्कारः ।
 कृतान्त्यसंस्कार इत्यर्थः । स्वैः स्वर्गमारूढः । जटायुः पुण्यकृत्पक्षी । संचरत्य-
 स्मिन्निति संचरः । पूर्ववत् निपातितः । दण्डकारण्यं संचरोऽवस्थानं यस्येति ॥ ८१ ॥

नरकस्यावतारोऽग्रं प्रत्यक्षोऽस्माकमागतः ।

अचेष्टा यदिहान्यायादनेनात्स्यामहे वयम् ॥ ८२ ॥

नरकस्येत्यादि—अवतीर्यते येन कर्मणेति । 'अवे तृस्त्रोर्घञ् । ३।३।
 १२०।' इति घञ् । स एवायं नरकस्यावतारः प्रत्यक्षोऽस्माकमागतः । यद्यस्माद्-
 यमचेष्टाः निश्चलाः अनेन पक्षिणा अन्यायादयुक्त्या । नीयते अनेनेति
 निपूर्वादिणः 'अध्यायन्यायोद्यावसंहाराश्च । ३ । ३ । १२२ ।' इति निपातनात्
 घञ् । अत्स्यामहे भक्षयिष्यामहे । कर्मणि लट् ॥ ८२ ॥

हृदयोदङ्कसंस्थानं कृतान्ताऽऽनायसन्निभम् ।

शरीराऽऽखनतुण्डाऽग्रं प्राप्याऽमुं शर्म दुर्लभम् ॥ ८३ ॥

हृदयेत्यादि—अमुं सम्पातिनं पक्षिणं प्राप्य । कीदृशं हृदयोदङ्कसंस्था-
 नम् उदञ्चयते आकृष्यते अनेनेति उत्पूर्वादञ्चतेः 'उदङ्कोऽनुदके । ३।३।
 १२३।' इति घञ् निपात्यते । हृदयस्योदङ्कः संदंशः तत् संस्थानं तन्म-
 दशम् । कृतान्तानायसन्निभं यमजालतुल्यम् । तत्प्रविष्टस्य दुःखेन निर्गमत्वान् ।
 'जालमानायः । ३।३।१२४।' इति नयतेराङ्पूर्वात्करणे घञ् निपात्यते । आत्स्यन्ते
 येन तुण्डाग्रेण । 'खनो घ च । ३ । ३ । १२५ ।' इति घः । शरीरस्याग्रं
 तादृक् तुण्डाग्रं यस्येति । प्राप्य शर्म सुखं दुर्लभं कृच्छ्रलभ्यम् । 'इ-
 द्दुःसुपु कृच्छ्राकृच्छ्राद्येषु खल् । ३ । ३ । १२६ ।' इति खल् । अत्र करमादि-
 करणयोश्चेति निवृत्तम् 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः । ३।४।७०।' इति

यम् । 'उपसर्गात् खल्घञोः । ७ । १ । ६७ ।' इति प्राप्तस्य नुमः 'न
र्भ्यां केवलाभ्याम् । ७ । १ । ६८ ।' इति प्रतिषेधः ॥ ८३ ॥

ईपदाढ्यङ्करोऽप्येष न परत्राऽशुभक्रियः ।

अस्मान्तुमितोऽभ्येति परिग्लानो बुभुक्षया ॥ ८४ ॥

ईपदित्यादि—य एष अस्मान्तुमितः प्रदेशादभ्येति आगच्छति । स परत्र
लोके ईपदाढ्यङ्करोऽपि अनाढ्यैरीषदाढ्योऽपि न कृतः । अशुभेन
णेत्यर्थात् । 'कर्तृकर्मणोश्च भूकृञोः । ३ । ३ । १२७ ।' इति च्यर्थे कर्मो-
दात्करोतेः खल् । यतः परिग्लानो बुभुक्षया । यो हि कर्मणा शुभेन
दाढ्यङ्करोऽपि न कृतः स कथं न बुभुक्षया पीडयते । परिग्लायतीति कर्तारि-
लवचनात् ल्युट् । निष्ठान्तो वा । 'सयोगादेरातो घातोर्थेष्वतः । ८ । २ । ४३ ।
ते निष्ठानत्वम् । अशुभक्रियः सत्त्वद्रोहाभिरतत्वात् ॥ ८४ ॥

सम्प्राप्य वानरान्पक्षी जगाद मधुरं वचः ।

के यूयं दुरुपस्थाने मनसाऽप्यद्रिमूर्धनि ॥ ८५ ॥

इति कृदधिकारः ।

संप्राप्येत्यादि—वानरान् संप्राप्य पक्षी जगाद गदितवान् । के यूयं अद्रि-
र्धनि पर्वतशिरसि दुरुपस्थाने : खेनेपस्थातुं शक्ये मनसापि किं पुनः शरी-
ण । आतो युच् । ३ । ३ । १२८ ।' इति युच् । तत्रापि ईपदादयोऽनुवर्तन्ते ।
र्तृकर्मणोरिति न स्मर्यते ॥ ८५ ॥

इति कृदधिकारः ॥

इतः परं प्रकीर्णकश्लोकानाह—

आत्मनः परिदेवध्वे कुर्वन्तो रामसंकथाम् ।

समानोदर्यमस्माकं जटायुं च स्तुयाऽऽदरात् ॥ ८६ ॥

आत्मन इत्यादि—आत्मनः परिदेवध्वे शोचथ 'देवृ देवने' इति भौवादिकः
सि 'न संयोगाद्दमन्तात् । ६ । ४ । १३७ ।' इत्यल्लोपो न भवति । जटायुं
समानोदर्यं भ्रातरमस्माकम् । 'समानोदरे शयित ओ चोदात्तः । १ । १ । १०८ ।'
ति चन् । आदरात् प्रस्तुथ प्रस्तुतिं कुरुथ । जटायुः पुण्यकृदित्यादिना
मसत्कथां च कुर्वन्तः अतः के यूयमिति ॥ ८६ ॥

शङ्काधवित्रवचनं प्रत्यूचुर्वा नरा खगम् ।

वयं शत्रुलवित्रेषोर्दूता रामस्य भूपतेः ॥ ८७ ॥

शङ्केत्यादि—धुनोत्यपनयत्यन्नेनेति धवित्रम् । ‘अर्तिल्लधूसूखनसहचर इत्रः । १३।२।१८४। इति करणे इत्रः । किमयं करिष्यतीति शङ्काधवित्रं वचनं यस्य ते खगं वानराः प्रत्यूचुः । शत्रुलवित्रा इषवो वाणा यस्य तस्य रामस्य भूपतेः वयं दूताः । पूर्ववदित्रं कृत्वा समासाः ॥ ८७ ॥

केनाऽपि दौष्कुलेयेन कुल्यां माहाकुलीं प्रियाम् ।

हृतां माहाकुलीनस्य तस्य लिप्सामहे वयम् ॥ ८८ ॥

केनेत्यादि—तस्य रामस्य प्रियां केनापि दौष्कुलेयेन हृताम् । दुष्कुलस्यापत्यमिति ‘दुष्कुलाड्डक् । ४ । १ । १४२ ।’ इति ढक् । कुल्यां कुले साध्वीम् ‘त्र साधुः । ४ । ४ । ८९ । इति यत् । माहाकुलीं माहाकुलीनस्येति माहाकुलस्यापत्यमिति ‘माहाकुलाद्व्खनौ । ४ । १ । १४१ ।’ इति अव्व्खनौ । लिप्सामहे वयं लब्धुमिच्छामः ॥ ८८ ॥

त्रिंशत्तममहर्थात् मत्वा प्रत्यागमाऽवधिम् ।

अकृताऽर्था विपीदन्तः परलोकमुपास्महे ॥ ८९ ॥

त्रिंशदित्यादि—त्रिंशतः पूरणम् । ‘विंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्याम् । ३ । २ । ५६ ।’ इति तमट् । त्रिंशत्तमं यदहः तत् प्रत्यागमावधिं प्रत्यागमनसावधिं यातं अतीतं मत्वा अकृतार्था अनिष्पादितप्रयोजना विपीदन्तो विपादं गच्छन्तो व्याकुलीभवन्त इत्यर्थः । वयं परलोकमुपास्महे प्रायोपवेशनेन म्रियामहे ॥ ८९ ॥

म्रियामहे न गच्छामः कौशल्यायनिवल्लभाम् ।

उपलम्भ्यामपश्यन्तः कौमारीपतेम् ॥ ९० ॥

म्रियामहे इत्यादि—हे पततां पतिवत्त्वरं म्रियामहे प्राणान्त्यजाम् । न गच्छामः न प्राप्नुमः । किमिति कौमारीम् अकृतपूर्वदारपतिं लब्धवतीम् । ‘कौमारापूर्ववचने । ४ । २ । १३ ।’ इति साधुः । कौशल्यायनिवल्लभाम् । कौशल्याया अपत्यं कौशल्यायनी रामः ‘कौशल्यकौमार्याभ्यां च । ४ ।

१ यद्यपि रावणवंशप्रवर्त्तकः पुलस्त्यो न स्वयं दुष्टः, किंतु तस्य दुष्टत्वं पुलस्त्यस्यापि दुष्टत्वमिति यथोक्तम् । २ सम्प्रातित्रित्यर्थः ।

१।१।५५।' इति फिन् । फस्यायनादेशः । तस्य वल्लभाम् इष्टामुपलभ्यां प्रश-
स्ताम् । 'पोरदुपधात् । ३।१।९८।' इति यत् । 'उपात्प्रशंसायाम् । ७।१।६६।'
इति यत्प्रत्यये नुम् । 'अपश्यन्तोऽनुपलभमानाः ॥ ९० ॥ एते प्रकीर्णकाः ॥

इतः क्लृप्तिशेषमधिकृत्याह—

जगाद वानरान् पक्षी नाध्यगीढं ध्रुवं स्मृतिम् ।

यूयं सद्भ्रुकुटितुं यस्मात् कालेऽस्मिन्नध्यवस्यथ ॥ ९१ ॥

जगादेत्यादि-ध्रुवम् अवश्यं स्मृतिं स्मृतिशास्त्रं नाध्यगीढं नाधीतवन्त इति पक्षी
वानरान् जगाद् 'विभाषा लुङ्लडोः । २।४।५०।' इति विभाषा गाङादेशः ।
'गाङ्कुटादिभ्यः ङिण्डित् । १।२।२।' इति सिचो ङित्त्वम् । 'धुमास्था-
गापाजहातिसां हलि । ६।४।६६।' इतीत्वम् 'धि च । ८।२।२५।' इति सिचो
लोपः । 'इणः पीध्वम् । ८।३।७८।' इत्यादिना मूर्धन्यः । यस्माद्युयमस्मिन् काले
संकुटितुम् अवसातुमध्यवस्यथ अभिप्रायं कुरुथ । कुटादित्वात् ङित्त्वम् ॥ ९१ ॥

अयमेवावसातुं काल इति चेदाह—

नाद्भ्रमुद्विजितुं कालः स्वामिकार्याद् भवादृशाम् ।

हतभार्ये च्युते राज्याद्रामे पर्युत्सुके भृशम् ॥ ९२ ॥

नायमित्यादि—भवादृशां युष्मद्विधानां स्वामिकार्यादुद्विजितुं नायं कालः ।
'विज इद् । १।२।२।' इति ङित्त्वम् । किमिति न भवतीति चेदाह राज्याच्च्युते
एते रामे निर्वासितत्वात् । तत्रापि हतभार्ये भृशमत्यर्थः पर्युत्सुके सीतायाम् ॥ ९२ ॥

यत्नं प्रोर्णवितुं तूर्णं दिशं कुरुत दक्षिणाम् ।

प्रोर्णवित्रीं दिवस्तत्र पुरीं द्रक्ष्यथ काञ्चनीम् ॥ ९३ ॥

यत्नमित्यादि—दक्षिणां दिशं प्रोर्णवितुम् आच्छादयितुं छादयिष्याम इति
सुन् । तूर्णं शब्धिं यत्नं कुरुत । तस्यां दिशि पुरीं द्रक्ष्यथ । काञ्चनीं सुवर्ण-
म्यन्धिनीमित्यर्थः । 'प्राणिरजतादिभ्योऽब् । ४।३।१५४।' प्रोर्णवित्रीम् अभिन्या-
पेनीम् । तृचि रूपम् दिव आकाशस्य । कर्मणि षष्ठी । 'विभाषोर्णोः । १।२।३।'
इति ङित्त्वपक्षे उवङ् । अङित्त्वपक्षे च गुणः । कुरुतेति 'सार्धधातुकमपित्
१।२।४।' इति ङित्त्वे विकरणस्य गुणो न भवति । तस्य चार्धधातुकत्वात्
अङित्त्वे धातोर्गुणः 'अत उत्सार्धधातुके । ६।४।११०।' इति उत् ॥ ९३ ॥

त्रिभिः कालापकम् ।

लङ्कां माम्ना गिरेर्मूर्ध्नि राक्षसेन्द्रेण पालिताम् ।

निर्जित्य शक्रमानीता ददृशुर्या सुरस्त्रियः ॥ ९४ ॥

लङ्कामित्यादि—यां पुरीं नाम्ना लङ्कां सुरस्त्रियो ददृशुः दृष्टवत्यः । 'असं-
योगाल्लिट् कित् । १।२।५।' इति कित्त्वम् । तां यातेति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ।
मिरेः सुबेलनाम्नः पर्वतस्य मूर्ध्नि शिखरे स्थितां राक्षसेन्द्रेण पालितामिति
दुर्गमत्वमाख्यातम् । शक्रं निर्जित्य सुरस्त्रिय आनीता इति च रावणस्य
माहात्म्यम् ॥ ९४ ॥

बभूव याऽधिशैलेन्द्रं मृदित्वेवेन्द्रगोचरम् ।

कुषित्वा जगतां सारं सैका शङ्के कृता भुवि ॥ ९५ ॥

बभूवेत्यादि—अधिशैलेन्द्रं शैलेन्द्रस्य सुमेरोरुपरि । 'अव्ययं विभक्तिसमीप-
२।१।६।' इत्यादिना सप्तम्यर्थेऽव्ययीभावः । इन्द्रगोचरमिन्द्रनिलयममरावसाख्यं
मृदित्वेव तिरस्कृत्येव बभूव । 'इन्धिभवतिभ्यां च । १।२।६।' इति कित्त्वम् ।
जगतां सारं कुषित्वा निष्कृष्य । सैका भुवि कृता निर्मितेत्यहं शङ्के । तां
यात । मृदित्वा कुषित्वंति 'न क्त्वा सेट् । १।२।१८।' इति कित्त्वप्रतिषेधे प्राप्ते
'मृदमृदगुधकुषक्लिशवदवसः क्त्वा । १।२।७।' इति कित्त्वम् ॥ ९५ ॥

अमृडित्वा सहस्राक्षं क्लिशित्वा कौशलैर्निजैः ।

उदित्वालं चिरं यत्नात्सैका धात्रा विनिर्मिता ॥ ९६ ॥

अमृडित्वेत्यादि—सहस्राक्षमिन्द्रममृडित्वा असुखिनं कृत्वा । निजः
आत्मीयैः कौशलैश्चातुर्यैः चिरं क्लिशित्वा प्रयत्नं कृत्वा । उदित्वा अभिघायात्
पर्याप्तमेवं करिष्यामीति । यत्नात् महता प्रयासेन । सैका धात्रा विनिर्मिता ।
पूर्ववत्कित्त्वम् ॥ ९६ ॥

मुपित्वा धनदं पापो यां गृहीत्वावसद्विपन् ।

तां रुदित्वेव शक्रेण यात लङ्कामुपेक्षिताम् ॥ ९७ ॥

मुपित्वेत्यादि—मुपित्वा धनदं वैश्रवणं तस्मात्पुरं पुष्पकं च विमानमपहतम् ।
पापः पापाचरणात् यां पुरीं गृहीत्वा अवसत् उपितः । द्विपन् शत्रुः । शक्रेण
रुदित्वेवोपेक्षितामवचीरिताम् । 'रुद्विदमुपग्रहिस्वपिग्रच्छः संश्च । १।२।२।'
इति कित्त्वम् । तत्र चकारेण क्त्वेत्यनुवर्तते ॥ ९७ ॥

विदित्वा शक्तिमात्मीयां रावणं विजिगृक्षवः ।

उक्तं पिपृच्छिषूणां वो मा स्म भूत सुपुप्सवः ॥ ९८ ॥

विदित्वेत्यादि—आत्मीयां स्वसम्बन्धिनीं शक्तिं सामर्थ्यं विदित्वा ।
पूर्ववत्किञ्चम् । रावणं विजिघृक्ष्वः विप्रहीतुमिच्छवः । सुपुप्सवः
शयितुमिच्छवो मां स्म भूत । न प्रमत्ता भवतेत्यर्थः । रावणस्य बलीयस्त्वा-
दिदमुक्तं मया वो युष्माकं पिपृच्छिपूर्णां प्रष्टुमिच्छूनाम् । अत्र 'रुद्विद-
मुपग्रहिस्वपिप्रच्छः संश्र ११२।८।' इति सनः कित्त्वे सम्प्रसारणम् । प्रच्छेः
'किरश्च पञ्चम्यः । ७।२।७५।' इतीडागमः ॥ ९८ ॥

नाऽविविदिपुमभ्येति सम्पद्रुरुदिपुं नरम् ।

किं मुमुपिपुवद्यात द्विपो नाऽपचिकीर्षया ॥ ९९ ॥

नेत्यादि—वेदितुं ज्ञातुमिच्छुर्यो न भवति तं नरमविविदिपुं रुद्विपुं
रोदितुमेपणस्वभावं सम्पद्रिभूतिर्नाभ्येति नागच्छतीति वो मयोक्तमिति
योग्यम् । किं न यात न गच्छत । मुमुपिपुवत् चौरवदित्यर्थः । पूर्ववत्किञ्चम् ।
द्विपः शत्रोः । 'द्विद्विपक्षाहितामित्रदस्युशात्रवशत्रवः ।' इत्यमरः । अप-
चिकीर्षया अपकर्तुमिच्छया । 'इको झल् ११२।९।' इति कित्त्वे गुणो
न भवतीति 'अञ्जनगमां सनि १३।४।१६।' इति दीर्घः । 'ऋत इद्धातोः
। ७।४।१००।' ॥ ९९ ॥

बुभुत्सवो द्रुतं सीतां भुत्सीध्वं प्रब्रवीमि वः ।

मा च भुद्धं मृषोक्तं नः कृपीद्वं स्वामिने हितम् ॥ १०० ॥

बुभुत्सव इत्यादि—बुभुत्सवो ज्ञातुमिच्छवः यदि सीताम् । बुधैः सन्न-
न्तात् 'हलन्ताच्च ११२।१०।' इति कित्त्वम् । 'एकाचो वशो भप्लपन्तस्य
स्वोः । ८।२।३७।' इति भप्भावः । तदा द्रुतं तां भुत्सीध्वं जानीतेति वो
युष्मान् ब्रवीमि । 'लिङ् सिचावात्मनेपदेषु ११२।११।' इति कित्त्वम् ।
मृषोक्तं मिथ्योक्तं नोऽस्माकं मा च भुद्धं न जानीत, अपि तु सत्यम् ।
'झलो झलि । ८।२।२६।' इति सिचो लोपः । 'झलं जश् झशि । ८।४।५३।' इति
जस्त्वम् । कित्त्वं पूर्ववत् । अतो यूयं स्वामिने रामाय हितं कृपीद्वं कुरुत । 'उश्च
११२।१२।' इति कित्त्वम् । 'इणः पीध्वंलुङ्लिट्ठां धोऽङ्गात् । ८।३।७८।'
इति मूर्धन्यः ॥ १०० ॥

समगध्वं पुरः शत्रोर्माँदयध्वं रघूत्तमम् ।

नोपायध्वं भयं सीतां नोपायंस्त दशाननः ॥ १०१ ॥

बुधेः 'बुध जवगमने' इत्यस्माद्धातोः ।

समगध्वमित्यादि—इदमहमाशंसे यदुत शत्रोः रावणस्य पुरः अप्रतः
समगध्वं संगता भवत । 'आशंसायां भूतवच्च । ३।३।१३२।' इति लुङ् ।
'समो गम्यच्छिभ्याम् । १।२।३।' इति तङ् । 'वा गमः । १।३।२९।'
इति सिचः कित्त्वे 'अनुदात्तोपदेशवन्तितनोत्यादीनामनुनासिक-
लोपो झलि क्किति । ६ । ४ । ३७ ।' इत्यनुनासिकलोपः ।
'ह्रस्वादङ्गात् । ८।२।२७।' इति सिचो लोपः । मोदयध्वं रघूत्तमं हर्षयत ।
तत्कार्यकरणात् । मा च भयमुपायध्वं सूचयत भयं मा काष्ठेत्यर्थः । 'आङो
यमहनः । १।३।२८।' इति तङ् । 'यमो गन्धने । १।३।१५।' इति तङ् । यमो
गन्धन इति सिचः कित्त्वे अनुनासिकलोपः । गन्धनं सूचनम् । अन्या
युष्मासु गन्धितनयेषु नियतमसौ दशाननः सीतामुपायंस्त स्वीकृतवान्
स्यात् । तस्यै दुर्वृत्तत्वात् । 'आशंसायां भतवच्च । ३।३।१३२।' इत्यनिशान-
सायां लुङ् । 'उपायमः स्वकरणे । १ । ३ । ५६ ।' इति तङ् । स्वकरणे
चात्र विवाहनमुक्तम् । 'विभाषोपयमने । १ । २ । १६।' इति अकित्त्वपक्षे
रूपम् ॥ १०१ ॥

ततः प्रास्थिषताऽद्रीन्द्रं महेन्द्रं वानरा द्रुतम् ।

सर्वे किलकिलायन्तो धैर्यं चाऽऽधिषताऽधिकम् ॥ १०२ ॥

तत इत्यादि—ततः तदनन्तरम् संपातिवच्चनानन्तरं सर्वे वानरा
महेन्द्रं पर्वतं प्रास्थिषत प्रस्थितवन्तः । धैर्यं चाधिकमाधियत
आहितवन्त आत्मनि । तिष्ठतेर्द्धातेश्च 'स्थाच्चेरिच्च । १।२।१७।'
इति कित्त्वमित्त्वं च । तिष्ठतेः 'सप्तवप्रविभ्यः स्थः । १।३।२३।'
इति तङ् । किलकिलायन्तः किलकिलाध्वनिं कुर्वाणाः । 'अव्यक्तानुकरण-
स्यात् इतौ । ६।१।९८।' इतिडाच् तदन्तात् 'लोहितादिडाब्भ्यः क्यप् । ३।१।१३।'
'वा क्यवः । १।३।९०।' इति परस्मैपदम् ॥ १०२ ॥

अथ पञ्चभिः कुलकम् ।

निकुञ्जे तस्य वर्तित्वा रम्ये प्रक्ष्वेदिताः परम् ।

मणिरत्नाधिशयितं प्रत्युदैक्षन्त तोयधिम् ॥ १०३ ॥

निकुञ्ज इत्यादि—तस्य पर्वतस्य निकुञ्जे लतादिपिहितस्थाने वर्तित्वा स्थित्वा
'न क्त्वा सेट् । १।२।१८।' इति कित्त्वप्रतिषेधः । परं प्रक्ष्वेदिता उच्चरन्त्यङ्-

१ तस्य रावणस्य । २ 'निकुञ्जकुञ्जौ वा ङीबि लताऽऽदिपिहितोदरे'
इत्यमरोक्तेः ।

स्रष्टुं कुर्वाणाः । 'निष्ठा शीङ्स्विदिभिदिश्चिदिभृपः । १।२।१९।' इति कित्त्वप्रतिषेधः ।
 शीर्षाधि प्रत्युदैक्षन्त दृष्टवन्तः । लङि रूपम् । क्रीदृशं मणिरत्नाधिशयितम् । 'क्लो-
 षधिकरणे च । ३।४।७६।' इति कः । पूर्ववात्कित्त्वप्रतिषेधः । मणिर्यद्भवमिति स्त्रीर-
 तादावपि रत्नशब्दस्य दृष्टत्वात् एकपदव्याभिचारे विशेषणविशेष्यभावः ।
 शीर्षाधि शयितमवस्थानमित्यर्थः ॥ १०३ ॥

अर्मापितमिव घ्नन्तं तदाद्रीन् सलिलोर्मिभिः ।

श्रिया समग्रं द्युतितं मदेनेव प्रलोठितम् ॥ १०४ ॥

अर्मापित इत्यादि—सलिलोर्मिभिः कल्लोलैः । तदाद्रीन् तदस्थान् पर्वतान्
 घ्नन्तं प्रत्युदैक्षन्त । अर्मापितमिव 'मृपस्तितिक्षायाम् । १।२।२०।' इति कित्त्व-
 प्रतिषेधः । पश्चात् नञ्समासः । श्रिया हेतुभूतया समग्रं संपूर्णं । द्युतित
 इति कर्त्तरि निष्ठा । यदि वा श्रिया कर्त्तृभूतया द्युतितं शोभितम् । यत्रेत्य-
 षाह्य तमैक्षन्तेति योज्यम् । एवं च कृत्वा उदुपधाद्वादि कर्मणोरन्यतर-
 षाम् । १।२।२१।' इति भावे निष्ठायां विकल्पेन कित्त्वप्रतिषेधात् कित्त्वमुदाह-
 रम् । मदेनेव मत्ततयेव । श्रिया हेतुभूतया प्रलोठितं घूर्णितुमारब्धम् । 'आदि-
 षाणि क्तः कर्त्तरि च । ३।४।७१।' निष्ठायाम् कित्त्वमुदाहृतम् ॥ १०४ ॥

पूतं शीतैर्नभस्वद्भिर्ग्रन्थित्वेव स्थितं रुचः ।

गुम्फित्वेव निरस्यन्तं तरङ्गान् सर्वतो मुहुः ॥ १०५ ॥

पूतमित्यादि—नभस्वद्भिर्वायुभिः शीतैः पूतं पवित्रीकृतम् । 'पूडश्चा७।२।५१।'
 । विकल्पेनेट् । अत एव पक्षे पूषः क्त्वानिष्ठयोः कित्त्वप्रतिषेधोऽत्र न
 षि । तत्र सेडित्यनुवर्तते । रुचो दीप्तीर्ग्रन्थित्वेव संदभ्येव स्थितम् । 'नोपधात्थ-
 ष्याद्वा । १।२।२३।' इति कित्त्वप्रतिषेधपक्षे रूपम् । सर्वतस्तरङ्गान् गुम्फित्वेव
 निरस्यन्तं क्षिपन्तम् । नोपधादिति विकल्पेन कित्त्वप्रतिषेधः । यत्रेत्यध्या-
 न तमैक्षन्तेति योज्यम् ॥ १०५ ॥

वञ्चित्वाप्यम्बरं दूरं स्वस्मिंस्तिष्ठन्तमात्मनि ।

वृषित्वेवानिशं स्वादु पिबन्तं सरितां पयः ॥ १०६ ॥

वञ्चित्वेत्यादि—स्थित्यनतिक्रमादम्बरं दूरं वञ्चित्वातिक्रम्य । 'वञ्चिद्युञ्च्य-
 ष्याद्वा । १।२।२४।' इति कित्त्वप्रतिषेधः स्वस्मिन्नात्मनि स्वरूपे तिष्ठन्तम् । अत्र
 वञ्च्यप्रशान् । ८।३।७।' इति नकारस्य हत्वम् । पूर्वस्य त्वनुनामिच्चा-
 देशः । वृषित्वेव वृषित इव भूत्वा । 'वृषिष्टिष्टोः कान्य-

।१।२।२५।' इति कित्त्वविकल्पः । तत्सलिलस्य स्वादुत्वात् । सरितां पयः
स्वादु पिवन्तं अनिशमजस्रम् ॥ १०६ ॥

द्युतित्वा शशिना नक्तं रश्मिभिः परिवर्धितम् ।

मेरोर्जेतुमिवाभोगमुच्चैर्दिद्योतिषुं मुहुः ॥ १०७ ॥

द्युतित्वेत्यादि—शशिना नक्तम् रात्रौ द्युतित्वा दीप्तिमता भूत्वा
रश्मिभिः परिवर्धितं वृद्धिं नीतं सन्तं तोयधिं मेरोराभोगं महत्त्वं जेतु
मिव मुहुरुच्चैर्विद्योतिषुं वर्धितुमिच्छुमित्यर्थः । अनेकार्थत्वाद्भातूनाम् ।
द्युतित्वा दिद्योतिषुमिति 'रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च ।१।२।२६।' इति कित्त्वा
कित्त्वे । तत्र छुंकारोपधादिकारोपधाच्च रलन्ताद्धलादेर्धातोः परौ क्त्वा
सनी वा न कितौ भवत इति सूत्रार्थः ॥ १०७ ॥

विलोक्य सलिलोच्चयानधिसमुद्रमभ्रंलिहान्

भ्रमन्मकरभीषणं समधिगम्य चाधः पयः ।

गमागमसहं द्रुतं कपिवृषाः परिप्रेषयन्

गजेन्द्रगुरुविक्रमं तरुमृगोत्तमं मारुतिम् ॥ १०८ ॥

विलोक्येत्यादि—कपिवृषाः कपिमुख्या मारुतिं हनूमन्तं द्रुतं परिप्रे
षयन् व्यसर्जयन् । परिप्रपूर्वात् 'इष गतौ' इत्यस्मात् हेतुमण्यन्तात्
लङि रूपम् । किं कृत्वेत्याह । विलोक्य सलिलोच्चयान् सलिलोमान् ।
ऊर्ध्वं चीयत इति 'एरच् ।३।३।५६।' इत्यच् । अधिसमुद्रं समुद्रस्योपरि । अभ्रं
लिहान् दूरमुच्छ्रितान् । अधश्च पयः समधिगम्य ज्ञात्वा । कीदृशं
भ्रमद्भिर्मकरभीषणं भयानकम् । भीषयतीति नन्धादित्वाल्ल्युः । गमागम
सहं गमनागमनयोग्यं मारुतिम् । गजेन्द्रस्येव गुरुविक्रमो यस्य । तरु
गेषु वानेरपूत्तममिति । 'सप्तमी शौण्डैः । २ । १ । ४ ।' इत्यत्र सप्तमीति
योगाविभागात् समासैः ॥ १०८ ॥

॥ इति डिन्त्वाधिकारः ॥

इति श्रीजयमङ्गलसूरिविरचितया जयमङ्गलाख्यया व्याख्यया ममलं-

कृते श्रीभट्टिप्रणीते रामचरितकाव्ये द्वितीयेऽधिकारकाण्डे लक्षणरूपे

द्वितीयः परिच्छेदः, लक्ष्यरूपे कथानके सीताऽन्वेषणं नाम

सप्तमः सर्गः ।

१ इदं रात्रावित्यर्थकमव्ययम् 'नक्तं च रजनावपि' इत्यमरः ।

२ अत्र पृथ्वीचन्द्रः 'जसौ जसयला वसुप्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' इति तल्लक्षणम् ।

अष्टमः सर्गः ।

आत्मनेपदमधिकृत्याह—

अगाधत ततो व्योम हनूमानुरुविग्रहः ।

अत्यशेरत तद्वेगं न सुपर्णाऽर्कभारुताः ॥ १ ॥

अगाधतेति—ततो विसर्जनानन्तरं हनूमान् समुद्रलङ्घनाय व्योमाकाश-
गाधत प्रस्थितवान् । 'गाधृप्रतिष्ठालिप्सयोः ।' इत्यस्माद्धृ । 'अनुदात्त-
न आत्मने पदम् ॥११३१२१' इत्यनुदात्तेत्वादात्मनेपदम् । उरुविग्रहः काम-
स्त्वान् तदानीमुत्पादितविपुलकायः । तस्य चोत्पततो वेगं गरुडादित्यपवनाः
यशेरत नातिशयितवन्तः । डित्वात्तद्धृ । 'शीङो रुट् ॥७११६१' । 'शीङः
ऋधातुके गुणः ॥७१४२११' ॥ १ ॥

अभायत यथाऽर्केण सुप्रातेन शरन्मुखे ।

गम्यमानं न तेनाऽऽसीद्गतं क्रामता पुरः ॥ २ ॥

अभायतेत्यादि—यथा अर्केण सुप्रातेन सुप्रभातेन नीहाराद्यभावात्
भनं प्रातरनेनेति । 'सुप्रातसुध्वसुदिवशारिकुक्षचतुरश्रेणीपदाजपदप्रोष्ठ-
ः ॥५१४१२०१' इति समासान्तनिपातनम् । शरन्मुखे शरदारम्भे ।
भायत दीप्यते स्म । 'भावकर्मणोः ॥११३१३१' इति भावे तद्धृ । तद्वत्ते-
भायत । पुरोऽप्रतो यदर्केण गम्यमानमवष्टभ्यमानं वर्त्मन्त्यर्थात् ।
भण्यात्मनेपदम् । तेन हनूमता क्रामता गच्छता । शिति 'क्रमः परस्मैपदेषु ।
७७६१' इति दीर्घत्वध्वम् । नागतमासीत् अपि तु सर्वमेव गतमिति ॥ २ ॥

वियति व्यत्यत न्वातां मूर्ती हरिपयोनिधी ।

व्यत्यैतां चोत्तमं मार्गमर्केन्द्रेन्दुनिपेवितम् ॥ ३ ॥

वियतीत्यादि—हरिपयोनिधीः हनूमत्समुद्रौ मूर्ती स्वदेहौ वियत्याकाशे
पत्यतन्वातां, दि व्यक्तिविस्तारितवन्तौ । तनोतेर्लङ् । 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे
॥३११४१' गद् इत्यात्मनेपदम् । उत्तमं च मार्गं अर्केन्द्रेन्दुनिपेवितं व्यत्यैतां
यतिगतवत् । लङ्-त्तौ । इणः परस्य लङः कर्मव्यतिहार इत्यात्मनेपदं प्राप्तं 'न गति-
'साधेभ्यः । 'न्या ॥११३१५१' इति गत्यर्थत्वान् प्रतिपिद्धं, तेन तसस्तामादेशः । तत्र
रेर्गच्छतः । 'नुक्त्' पुरतो यस्मान्वियत्प्रदेशे स्वमूर्तिं विस्तारितुमवसरो भविता, तत्र

पयोनिधिरूर्मिभिः स्वमूर्तिं वितस्तार । पयोनिधेश्च वेला तटं गच्छतो यत्र स्वमूर्तिं विस्तारावसरो भावी तत्र हरिः स्वमूर्तिं वितस्तार । तथा पयोनिधेर्यं मार्गं गन्तुमवसरो भविता, हरिरुत्पत्य तं मार्गं गन्तुमैच्छत् । यं च हरेर्मार्गं गन्तुमवसरो भविता तं मार्गं पयोनिधिरभ्रंलिहैरूर्मिभिरैच्छत् । यत्र यत्क्रियावसरे क्रियां करोति स तत्र तत्क्रियाकारित्युपचर्यते । यथा देवदत्तसाध्यां क्रियां यज्ञदत्तः कुर्वन् तत्कारीत्युच्यते । ततश्चेतरेणेतरसंबन्धिन्याः क्रियायाः करणात् अन्यतरसंबन्धिन्याश्चेतरकरणात् सम्भवति कर्मव्यतिहारः ॥ ३ ॥

व्यतिजिग्ये समुद्रोऽपि न धैर्यं तस्य गच्छतः ।

व्यत्यगच्छन् न च गतं प्रचण्डोऽपि प्रभञ्जनः ॥ ४ ॥

व्यतीत्यादि—तस्य हरेर्गच्छतः स्वदेहस्याल्पतां कर्तुं योऽवसरो भावी तत्र समुद्रो नातिशयधैर्यं कृतवान् । तेन तस्य धैर्यं न जितं, तदानीं तस्योद्धतकलोलत्वात् । अपिशब्दाच्च हनूमानपि समुद्रस्य शान्तत्वं कर्तुं योऽवसरो भावी तत्र नातिशयधैर्यं कृतवान् । तेन तस्य धैर्यं वा न जितं, तदानीं तस्य विपुलकायत्वान् । तदेवं हनूमतः समुद्रो हनूमानपि समुद्रस्य धैर्यं न व्यतिजिग्ये नाभिः प्रभूव । एकवचनस्य प्रत्येकात्संबन्धात् । कर्मव्यतिहारे पूर्ववदात्मनेपदम् । 'सन्निटोर्जेः । ७।३।५७।' इति ऊत्वम् । तस्य हनूमतो गतं गमनं प्रचण्डोऽपि महान् प्रभञ्जनो वायुर्न व्यत्यगच्छत् प्राप्तवान् ॥ ४ ॥

तस्यातिजवेन गच्छतः पथि राक्षसी संप्राप्ता ताम्सा व्यापादितवानित्याह—
व्यतिघ्नन्तीं पथि घ्नन्तं राक्षसीं पवनाऽऽत्मजः ।

जघानाऽऽविश्य वदनं निर्यान् भित्त्वोदरं द्रुतम् ॥ ५ ॥

व्यतीत्यादि—हनिष्याम्येनमिति राक्षस्या यो वधकरणावसरः तत्र व्यतिघ्नन् व्यतिघ्नन्तीं तस्यैनां हनिष्यामीति यो वधकरणावसरः तत्र घ्नन्तीं तदेवमितरेतरक्रियाकरणेन व्यतिघ्नन्तीं राक्षसीम् । 'न गति हिंसार्थेभ्यः । १।३।१५।' हिंसार्थत्वादात्मनेपदप्रतिषेधः । तां पवनात्मजो हनूमान् जघान । कर्म वदनमाविश्य उदरं भित्त्वा द्रुतं निर्यान् निर्गच्छन् । यातेः शतरि रूपम् ॥ ५ ॥

अन्योन्यं स्म व्यतियुतः शब्दान् शब्दैस्तु भीषणान् ।

उदन्वांश्चानिलोद्भूतो म्रियमाणा च राक्षसी ॥ ६ ॥

अन्योन्यमित्यादि—अन्योन्यमित्यन्योन्यस्येत्यर्थः । 'कर्मव्यतिहारे मन्तान्नो द्वे भवतः स्त्रीपुंसकयोरामभाव इति वक्तव्यम् ।' अन्योन्यन्

शब्दभिः शब्दैः उदन्वद्राक्ष्म्यौ शब्दान् भीषणानात्मीयान् व्यतियुतः स्म
 भेक्षितवन्तौ । 'यु भिषणामिषणयोः' इत्यस्मान् 'लट् स्मोऽ३२।११८।' इति भूते
 ष्ट । 'इतरेतरान्योन्योपपदाच्च । १।३।१६ ।' इति कर्मव्यतिहार आत्मनेपदप्र-
 तिपद्यः । तत्रोदन्वतः शब्दकरणाद्यो भीषणशब्दमिषणावसरो भावी तत्र
 राक्षसी त्रियमाणा शब्दान् भीषणानुदन्वच्छब्दयुयावे । राक्षस्याः शब्दकर-
 णाद्यो भीषणशब्दमिषणावसरो भावी तत्रोदन्वाननिलोद्धृतः शब्दान् भीषणान्
 राक्षसीशब्दयुयावेति भावः ॥ ६ ॥

न्यविक्षत महाश्राहसङ्कुलं मकराऽऽलयम् ।

मैका बहूनां कुर्वाणा नक्राणां स्वाऽऽशितम्भवम् ॥ ७ ॥

न्यविक्षतं तथादि—महाद्भिर्प्राहः संकुलं मकरालयं समुद्रं न्यविक्षतं प्रवि-
 श्यती । 'निर्विशः । १।३।१७।' इत्यात्मनेपदम् । 'शल इगुपधादनिटः कसः
 ३।१।१४।' बहूनां नक्राणामेकापि सती स्वाशितम्भवं मुष्टु वृषिं कुर्वाणा ।
 आशिते भुवः करणभावयोः । ३।२।१४।' इति भावे च् ॥ ७ ॥

कृतेनोपकृतं वांयोः परिक्रीणानमुत्थितम् ।

पित्रा संरक्षितं शक्रात् स मैनाकाऽद्रिमैक्षत ॥ ८ ॥

कृतेन तथादि—स हनूमान् समुद्रादुत्थितं मैनाकाद्रिमैक्षत । वायोरुपकृत-
 मपकारं कृतेन प्रत्युपकारेण परिक्रीणानं परिक्रयं विचिन्वन्तम् । 'परिव्यवभ्यः
 यः । १।३।१८।' इत्यकर्त्रभिप्रायविषयमात्मनेपदम् । पित्रा वायुना रक्षितं
 गान् । तेन हि पक्षच्छेदकाले महता वेगेन समुद्रं नीत्वा रक्षित इति
 यते ॥ ८ ॥

खं पराजयमानोऽसानुन्नत्या पवनाऽत्मजम् ।

जगादाऽद्रिर्विजेपीष्ठा मायि विश्रम्य वैरिणम् ॥ ९ ॥

समित्यादि—असावद्रिः उन्नत्या उन्नततया खं पराजयमानोऽभिभवन् पव-
 नसजं जगाद । मायि विश्रम्य स्थित्वा वैरिणं शत्रुं विजेपीष्ठाः त्वमभिभूयाः ।
 शिषि लिङ् । उभयत्रापि 'विपराम्भ्यां जेः । १।३।१९।' इति तङ् ॥ ९ ॥

फलान्यादत्स्व चित्राणि परिक्रीडस्व सानुषु ।

साध्वनुक्रीडमानानि पश्य वृन्दानि पक्षिणाम् ॥ १० ॥

फलानीत्यादि—चित्राणि नानाविधानि फलानि आदत्स्व गृहाण । 'आदोऽनास्यविहरणे । १ । ३ । २०।' इत्यात्मनेपदम् । सानुषु ममैकदेशेषु परिक्रीडस्व विहर । पक्षिणां च वृन्दानि साधु शोभनं अनुक्रीडमानानि विहरन्ति सन्ति पश्य । उभयत्र 'क्रीडोऽनुसंपारिभ्यश्च । १ । ३ । २१।' इति तद्ध् ॥ १० ॥

क्षणं भद्राऽवतिष्ठस्व ततः प्रस्थास्यसे पुनः ।

न तत् संस्थास्यते कार्यं दक्षेणोरीकृतं त्वया ॥ ११ ॥

क्षणमित्यादि—हे भद्रं कल्याण ! क्षणमवतिष्ठस्व ! ततः पश्चात्प्रस्थास्यसे यास्यसि । यच्च कार्यं करणीयं दक्षेणानलसेन अप्रमत्तेनेति भावः । त्वया उरीकृतमङ्गीकृतं न च संस्थास्यते अपि तु निष्पत्स्यत एवेत्यर्थः । सर्वत्र 'समवप्रिभ्यः स्थः । १ । ३ । २२।' इति तद्ध् ॥ ११ ॥

त्वयि नस्तिष्ठते प्रीतिस्तुभ्यं तिष्ठामहे वयम् ।

उत्तिष्ठमानं मित्राऽर्थे कस्त्वां न बहु मन्यते ॥ १२ ॥

त्वयीत्यादि—त्वयि विषये अस्माकं प्रीतिरस्ति । तेन संशये अस्माभिरन्यो निर्णेता नान्वेषणीयः । किंतु नोऽस्माकं प्रीतिरेव निर्णयं पश्यन्ती त्वयि तिष्ठते । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च । १ । ३ । २३।' इत्यात्मनेपदम् । विवादपदीर्णता स्थेय उच्यते । तुभ्यं तिष्ठामहे वयमिति त्वयि विषये अस्माकं चेतो वर्तत इति स्वाभिप्रायम् । तुभ्यं तिष्ठामहे स्वाभिप्रायं निवेदयाम इत्यर्थः । अत्र प्रकाशनं च स्वाभिप्रायकथनम् । 'श्लाघद्भुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः । १ । ३ । २४।' इति सम्प्रदानसंज्ञायां चतुर्थी । कस्मादेवं मां श्लाघस इति चेदाह । उत्तिष्ठमानं यतमानम् । 'उदोऽनुध्वर्कर्मणि । १ । ३ । २४।' इत्यात्मनेपदम् । कस्त्वां न बहु मन्यते न श्लाघते ॥ १२ ॥

ये सूर्यमुपतिष्ठन्ते मन्त्रैः संध्यात्रयं द्विजाः ।

रक्षोभिस्तापितास्ते ऽपि सिद्धिं ध्यायन्ति तेऽधुना ॥ १३ ॥

य इत्यादि—ये द्विजा मन्त्रैः करणभूतैः सूर्यमुपतिष्ठन्ते प्रत्युपासते । 'उपात्तन्त्रकरणे । १ । ३ । २५।' इत्यात्मनेपदम् । संध्यात्रयं त्रिसंध्यम् । 'कालाध्वनोरन्यन्तसंयोगे २ । ३ । ५।' इत्यनेनात्यन्तसंयोगे द्वितीया । तेऽपि रक्षोभिस्तापिताः द्रुताः अधुना ते सिद्धिं ध्यायन्ति । किं पुनरहं यत्ते पितुः सुहृत् ॥ १३ ॥

१ 'श्वः श्रेयसं दिवम्मद्रम्' इत्यनरः । २ 'अस्मदो द्वयोश्च १ । २ । ५।' इति बहुवचनम् । एवं पुरस्तादपि प्रत्येन्यम् ।

नदेव दर्शयन्नाह—

अव्यग्रमुपतिष्ठस्व वीर ! वायोरहं सुहृत् ।

रविर्वितपतेऽप्यर्थमाश्वस्य मयि गम्यताम् ॥ १४ ॥

अव्यग्रमित्यादि—हे वीर ! अव्यग्रमनाकुलं यथा स्यात्तथा मर्त्युपतिष्ठस्व
अत्रिहितो भव । 'अकर्मकाच्च । १।३।२६।' इत्यात्मनेपदम् । यतो वायोस्तव
पेनुरहं सुहृत् । रविरन्वर्थं वितपते दीप्यते । 'उद्विभ्यां तपः । १।३।२७।'
न्यात्मनेपदम् । तत्राकर्मकादिति वनंते । तस्मादाश्वस्य विश्रम्य गम्यताम् ॥ १४ ॥

तीव्रमुत्तपमानोऽयमशक्यः मोहमातपः ।

आघ्नान इव संदीप्तैरलातैः सर्वतो मुहुः ॥ १५ ॥

तीव्रमित्यादि—तीव्रं सुष्ठु अतिशयितं वा यथा तथा उत्तपमानो दीप्यमान
शानपः सोहमशक्यः । पूर्ववदात्मनेपदम् । अलातैः उत्सुकैः संदीप्तैः सर्वत
आघ्नान इव तालयन्निव । 'आहो यमहनः । १।३।२८।' इत्यविवक्षितकर्मकत्वा-
दात्मनेपदम् 'गमहनजनग्यनयसां लोपः किङ्कित्यनङि । ६।४।९८।' इत्युपधात्तोपः
'हो हन्तेऽङिणत्रेषु । ७।३।५४।' इति कृत्वम् ॥ १५ ॥

संशृणुष्व कपे ! मत्कैः संगच्छस्व वनैः शुभैः ।

गमारन्त ममाभीष्टाः सङ्कल्पस्त्वयुपागते ॥ १६ ॥

संशृणुष्वेत्पादि—हे कपे ! संशृणुष्व आकर्णय । 'समो गम्यन्तिभ्याम् । १।३।
२९।' इत्यत्र अतिश्रुतिभ्यधेति वक्तव्यम् । 'इत्यविवक्षितकर्मकत्वादात्मने-
पदम् । शुभैः शोभमानैः । एगुपपलक्षणः कः । वनैर्मत्कैः मन्थामिकैः । अहं
स्वामी तेषामिति । 'स एषां प्राग्गणीः । ५।२।७८।' इति कः । 'प्रत्ययोत्तरपद्योश्च ।
७।२।९८।' इति मदादेशः । संगच्छस्व संगतो भव । पूर्ववदात्मनेपदम् ।
गमारन्त ममाभीष्टा इति ममाभिप्रेता ये संकल्पा अभिप्रायाः 'कदा नु मे
सुहृत्तया वा कश्चिदेप्स्यति यन्नाहमुपयोगां न्याम्' इति ते गमारन्त आगताः
वप्युपागते सति । अर्तेलुङिः पूर्ववदात्मनेपदम् । 'मतिगम्यतिभ्यश्च । ३।
१।५६।' इत्यङि 'कृत्सोऽङि गुणः । ७।४।१६।' आहजादीनाम् ।
६।४।७२।' भाषाविषयस्य प्रयोगः ॥ १६ ॥

१ इवेत नमासो विनक्तयलोः । ह्वन्दम् प्रहृदिभ्रम्बं चं दर्शयेद
५नासः ।

न चैवं मिथ्या वायुर्मे सुहृदित्याह—

के न संविद्रते वायोर्मेनाकाऽद्रिर्यथा सत्वा ।

यत्नादुपाह्वये प्रीतः संह्वयस्व विवक्षितम् ॥ १७ ॥

क इत्यादि—वायोर्मेनाकाऽद्रिर्यथा सखेति के न संविद्रते जानन्ति । पूर्ववदात्मनेपदम् । 'वेत्तेर्विभाषा । ७ । १ । ७ ।' इति रुट् । तस्मात् सन् अहं यत्नादुपाह्वये भवन्तमाह्वयामि । ततः संह्वयस्व कथय विवक्षितप्रतम् । 'निसमुपाविभ्यो ह्वः । १ । ३ । ३० ।' इत्यकर्त्रभिप्राये लट्लोत्स्मनेपदम् । ततोऽकर्मकादिति निवृत्तम् । सामान्येन विधानम् ॥ १७ ॥

द्यामिवाह्वयमानं तमवोचद्भूधरं कपिः ।

उपकुर्वन्तमत्यर्थं प्रकुर्वाणोऽनुजीविवत् ॥ १८ ॥

द्यामित्यादि—द्यामिवाकाशमिवाह्वयमानं महत्तया स्पर्धमानम् । 'स्यामाङ् । १ । ३ । १ ।' इत्यात्मनेपदम् । अत्यर्थमुपकुर्वन्तं आतिथ्येन दृशं भूधरमवोचत् । कपिः प्रकुर्वाणः सेवमानोऽनुजीविवत् भृत्य 'गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञ् । १ । ३ ।' इति सेवने तद् ॥ १८ ॥

कुलभार्या प्रकुर्वाणमहं द्रष्टुं दशाननम् ।

यामि त्वरावान् शैलेन्द्र ! मा कस्यचिदुपस्कृथाः ॥ १९ ॥

कुलभार्यामित्यादि—अहं दशाननं द्रष्टुं यामि कुलभार्या प्रकुर्वाणं नारीमभिगच्छन्तम् । तस्यां सहसा प्रवर्तमानामित्यर्थः । साहसिक्ये तद् । वान् त्वरायुक्तः । अतः हे शैलेन्द्र ! मा कस्यचिदशानपानादिकस्य उपस्र अतिशयवन्तं मा कार्परित्यर्थः । 'माङि लुङ् । ३ । ३ । १७५ ।' प्रतियन्ने 'तनादिभ्यस्तथासोः । २ । ४ । ७९ ।' इति सिचो लुक् । 'उपात्प्रतिवैकृतवाक्याध्याहारेषु च । ६ । १ । १३९ ।' इति सुट् । कस्यचिदिति प्रतियन्ने । २ । ३ । ५३ ।' इति कर्मणि षष्ठी ॥ १९ ॥

योऽपचक्रे वनात् सीतामधिचक्रे न यं हरिः ।

विकुर्वाणः स्वरानद्य वलं तस्य निहन्म्यहम् ॥ २० ॥

य इत्यादि—यः सीतामपचक्रे अभिवभूव । अवक्षेपणे तद् । वनवनमुपगम्य 'ल्यञ्छोपे कर्मण्यधिकरणे च' इति ल्यञ्छोपे कर्मणि षष्ठी

जले विक्रममाणाया हनूमाञ्च शतयोजनम् ।

आस्यं प्रविश्य निरगादणूभूयाऽप्रचेतितः ॥ २४ ॥

जल इत्यादि—विक्रममाणायाः पद्भ्यां विचरन्त्याः । 'वेः पादविहरं । १।३।४१।' इति तड् । जलग्रहणात् गतिविशेषं दर्शयति । आस्यं शतयोजनं शतं योजनानि यस्य भ्रमाणतः । अत्र शतयोजनपदं लक्षणया बहुयोजनपरमेव बोध्यम् , अन्यथा शतयोजनावधाबुद्धौ तस्या एकदेशेऽवस्थानं सङ्गच्छेत । तदणूभूय सूक्ष्मीभूय प्रविश्य निरगात् निर्गतः । उदरं विदित्यर्थात् । अप्रचेतितः अविज्ञातः ॥ २४ ॥

द्रष्टुं प्रक्रममाणोऽसौ सीतामम्भोनिधेस्तटम् ।

उपाक्रंस्ताऽऽकुलं घोरैः क्रममाणैर्निशाचरैः ॥ २५ ॥

द्रष्टुमित्यादि—असौ हनूमान् सीतां द्रष्टुं प्रक्रममाणः आरभमाणः आदिकर्मणि यथा भोक्तुं प्रक्रमते इति । उदधेस्तटमुपाक्रंस्त गन्तुं प्रारब्धवानित्यर्थः । ततश्च प्रोपयोरादिकर्मणि समानार्थत्वात् 'प्रोपाभ्यां समर्थान्याम् । १।३।४२।' इति तड् । घोरैः रौद्रैः । निशाचरैराकुलं व्याप्तम् । तटं क्रममाणैः इतस्ततो गच्छद्भिः । 'अनुपसर्गाद्वा । १।३।४३।' इति तड् ॥ २५ ॥

आत्मानमपजानानः शशमात्रोऽनयद्दिनम् ।

ज्ञास्ये रात्राविति प्राज्ञः प्रत्यज्ञास्त क्रियापटुः ॥ २६ ॥

आत्मानमित्यादि—मां कश्चिद्द्राक्षीदिति तथाविधमात्मानं शरीरमपजानानः अपवहानः 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्मवर्षमच' इत्यमरः । 'अपहवे ज्ञः । १।२।४४।' इति तड् । यो हि शशमात्रो भूत्वा स्थितः तेन कथमात्मा लोके नापलपितः स्यात् । अनयद्दिनम् अगमयद्दिवसम् । ज्ञास्ये रात्राविति प्रत्यज्ञास्त प्रतिज्ञातवानित्यर्थः । 'सम्प्रतिभ्यामनाध्याने । १।३।४६।' इत्यात्मनेपदं लुङो भवति । आध्यानं चोत्कण्ठनम् । ज्ञानं इत्यकर्मकाच्चेत्यकर्मकक्रियावचनत्वादात्मनेपदम् । प्राज्ञः क्रियापटुर्गतिबुद्धिकौशलं कर्मकौशलं च दर्शयति ॥ २६ ॥

संजानानान् परिहरन् रावणाऽनुचरान् वहून् ।

लङ्कां समाविशद् रात्रौ वदमानोऽरिदुर्गमाम् ॥ २७ ॥

अत्र 'मा' इत्येव निषेधार्थकमध्ययम्, न तु 'माङ्' अन्यथाऽपि लोपः प्रसज्येत ।

यथास्वं संगिरन्ते स्म गोष्ठीषु स्वामिनो गुणान् ।

पानशौण्डाः पथः क्षीवा वृन्दैरुदचरन्त च ॥ ३१ ॥

यथास्वमित्यादि—ब्रह्मराक्षसाः पिशाचाश्च यथास्वमात्मीयस्य स्वां गुणान् गोष्ठीषु गोष्ठीमध्ये संगिरन्ते स्म अभ्युपगतवन्तः । 'समः प्रति ११३१५२' इति तड् । पानशौण्डाः पानसक्ताः क्षीवा मत्ताः सन्तः मार्गानुदचरन्त उत्क्रम्य गच्छन्ति स्म । 'उदश्चरः सकर्मकात् ११३१५' इति तड् । वृन्दैरिति सम्भूयेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

यानैः समचरन्ताऽन्ये कुञ्जराऽश्वरथाऽऽदिभिः ।

सम्प्रायच्छन्त वन्दीभिरन्ये पुष्पफलं शुभम् ॥ ३२ ॥

यानैरित्यादि—अन्ये यानैः कुञ्जरादिभिः समचरन्त संचरन्ते । 'समस्तृतीयायुक्तात् ११३१५४१' इति तड् । अन्ये वन्दीभिरानीताभिः । सदाने तृतीया । अशिष्टव्यवहारे तृतीया चतुर्थ्यर्थे भवति इति वचनाद्द्रव्य इत्यर्थः । पुष्पफलं शोभनं संप्रायच्छन्त ददाति स्म । 'दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्या ११३१५५१' इति तड् । पुष्पफलमिति जातेरेकवद्भावः ॥ ३२ ॥

कोपात् काश्चित् प्रियैः प्रत्तमुपायंसत नाऽऽसवम् ।

प्रेम जिज्ञासमानाभ्यस्ताभ्योऽऽशप्तत कामिनः ॥ ३३ ॥

कोपादित्यादि—काश्चित् स्त्रियः कोपात् अन्यस्त्रीगमनजनितः आसर्वं मद्यविशेषं नोपायंसत न स्वीकृतवत्यः । 'विभाषोपपत्ते ११२११६१' इत्यकिन्त्रपक्षे रूपम् । 'उपाद्यमः स्वकरणे ११३१५६१' इति तड् । पाणिग्रहणपूर्वस्य स्वीकरणस्य तत्र स्थितत्वादौपचारिकमत्र स्वीकृतं द्रष्टव्यम् । 'समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे ११३१७५१' इति वा तड् । उदाङ्पूर्वस्य यम आदानार्थत्वात् । अवसरप्राप्तं सूत्रद्वयमुपाहृतं स्यात् । प्रियैः प्रत्तं दत्तम् । 'अच उपसर्गात्तः १७१४१४७१' इति ददातेः । प्रेम जिज्ञासमानाभ्यः किमन्मत्तः प्रेमास्ति वा न वेति कृतकोमप्रकाशेन ज्ञातुमिच्छन्तीभ्यः । 'ज्ञाशुस्मृदयां मरः ११३१५७१' इति तड् । ताभ्यो योपिद्भ्यः । कामिनः अशप्तत न मे त्वद्वत् प्रियास्तीति तदीयशरीरस्पर्शनेन शपथं चक्रुः । 'शप उपात्तम्भने' इत्यान्विते

१ उत्पूर्वकस्य चरतेश्चारणार्थकत्वमलोत्सर्गार्थकत्वं वा प्रभिद्धम् । २ 'सर्वं स्याद्वाहनं यानं युग्मं पत्रं च धोरणम् ।' इत्यमरः । ३ 'यन्दिनः स्मृतिपाठकाः ।' 'इत्यमरः । ४ मैरंयमासवः सीधुः' इत्यमरः ।

म् । वाचा उपलम्भनं शरीरस्पर्शनम् 'श्लाघहुङ्क्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः । ११४
१)' इति सम्प्रदानसंज्ञायां चतुर्थी । तासां ज्ञापयितुमिष्यमाणत्वात् ॥ ३३ ॥

प्रादिदृक्षत नो नृत्यं नाऽशुश्रूषतं गायनान् ।
रामं सुस्मूर्षमाणोऽसौ कपिर्विरहदुःखितम् ॥ ३४ ॥

प्रादिदृक्षतेत्यादि—असौ कपिलङ्कायां नो नृत्यं प्रादिदृक्षत । गायनान्-
त्यकान् । 'गस्थकन् । ३।१।१४६।' ण्युट् च । नाशुश्रूषत न श्रोतुमिष्टवान्
मिति रामं विरहदुःखितं सुस्मूर्षमाणः स्मर्तुमिच्छन् । सन्नन्तेभ्यः पूर्व-
दात्मनेपदम् । 'अञ्जनगमां सनि । ६।४।१६।' इति दीर्घत्वम् । 'उदोष्ठ्यपूर्वस्क-
१।१।१०२।' इत्युत्त्वम् ॥ ३४ ॥

अनुजिज्ञासतेवाऽथ लङ्कादर्शनमिन्दुना ।
तमोऽपहविमुक्तांऽशु पूर्वस्यां दिश्युदैयत् ॥ ३५ ॥

अन्वित्यादि—अथैतस्मिन् प्रस्तावे इन्दुना चन्द्रेण उदैयत् उदितम् । इणो
गवे लङि रूपम् । पूर्वस्यां दिशीति पूर्णेनेति दर्शयति । दृश्यते यत् दर्शनं
रूपम् । लङ्काया रूपमनुजिज्ञासतेव । पूर्वेण प्राप्तस्यात्मनेपदस्य 'नानोर्ज्ञः
। १।३।५८।' इति प्रतिषेधः । तमोपहास्तमोविध्वंसमानाः विमुक्ताः प्रेरिता
अश्वो यस्मिन् उदये । 'अपे क्लेशतमसोः । ३।२।१४४।' इति हन्तेर्ढः ।
'अग्नीन्द्रकास्तमोऽपहाः ।' इत्यमरः इति ॥ ३५ ॥

आशुश्रूषन् स मैथिल्या वार्तां हर्म्येषु रक्षसाम् ।
शीयमानाऽन्धकारेषु समचारीदशङ्कितः ॥ ३६ ॥

आशुश्रूषन्नित्यादि—स कपिमैथिल्याः सीताया वार्तामाशुश्रूषन् श्रोतुमि-
च्छन् । 'प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः । १।३।५९।' इत्यात्मनेपदप्रतिषेधः । रक्षसां
हर्म्येषु गृहेषु । समचारीत् संक्रान्तवान् । 'अतो ल्रान्तस्य । ७।२।२।' इति
वृद्धिः । शीयमानान्धकारेषु अपगच्छत्तमःसु । 'शद्ल् शातने' । 'शदेः-
शितः । १।३।६०।' इति तड् । 'पात्राध्मास्थाम्रादाणदृश्यर्तिसार्तिशद-
सदां पित्रजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यच्छौसीयसीदाः । ७।३।७८।' इति शीया-
देशः । अशङ्कितः शङ्कारहितः ॥ ३६ ॥

शतसाहस्रमारक्षं मध्यगं रक्षसां कपिः ।

ददर्श यं कृतान्तोऽपि म्रियेताऽऽसाद्य भीषणम् ॥ ३७ ॥

शतेत्यादि—मध्यगं मध्यप्रकोष्ठगतम् आरक्षं गोपकं शतसाहस्रं रक्ष
लक्षमात्रं ददर्श विलोकितवान् । शतसहस्रं परिमाणमस्येति प्राणे
संख्यापूर्वपदानां तदन्तप्रहणमलुकीति वचनात् । 'शतमानविंशतिकसहस्र
वसनादण् । ५ । १ । २७ ।' इति अणि 'संख्यायाः संवत्सरसङ्ख्यस्य ।
। ७ । ३ । १५ ।' इत्युत्तरपदवृद्धिः । भीषणं भयानकम् आसाद्य प्राप्य । कृतान्तो
ऽपि यमोऽपि म्रियेत प्राणान् संत्यजेत् । 'कृतान्तो यमुनाभ्राता शम्भु
यमराड्यमः ।' इत्यमरः । 'म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च । १ । ३ । ६१ ।' इति तङ् । तत्र
शित इत्यनुवर्तते ॥ ३७ ॥

अध्यासिसिषमाणेऽथ वियन्मध्यं निशाकरे ।

कासांचक्रे पुरी सौधैरतीवोद्गातिभिः सितैः ॥ ३८ ॥

अधीत्यादि—अथ निशाकरे चन्द्रमसि वियन्मध्यं अध्यासितुमारोदु
च्छति सति । 'पूर्ववत्सनः । १ । ३ । ६२ ।' इत्यात्मनेपदम् । अस्तेरनुदात्तेत्त्वमात्
नेपदनिमित्तम् । तेनैव सन्नन्तादपि भवति । अत्र सनि इटि कृते अजादेर्द्विती
स्येति द्विर्वचनम् । पुरी लङ्का कासांचक्रे शोभते स्म । सौधैः सौधानां व्योम्न
या चोद्गास्यमानत्वात् । 'आम्प्रत्ययवत् कृचोऽनुप्रयोगस्य । १ । ३ । ६३
इति तङ् ॥ ३८ ॥

इन्दुं चपकसंक्रान्तमुपायुङ्क्त यथाऽमृतम् ।

प्रयुञ्जानः प्रिया वाचः समाजाऽनुरतो जनः ॥ ३९ ॥

इन्दुमित्यादि—एवं शोभितायां लङ्कायां समाजानुरतः पानगोष्ठीरतो जनः
चपकसंक्रान्तं मद्यभाजने प्रतिविम्ब्रंन संक्रान्तमिन्दुमुपायुङ्क्त उपभुङ्क्तान् ।
प्रतिविम्बावच्छिन्नस्य मद्यन्योपलक्ष्यमाणत्वादेवमुक्तम् । यथाऽमृतं अमृतमिन्द्र
प्रिया अनुकूला वाचः प्रयुञ्जानः अभिदधानः । 'प्रोपाभ्यां रयत्रात्रो । १ ।
३ । ६४ ।' इति तङ् ॥ ३९ ॥

संक्षुण्वान इवोत्कण्ठामुपायुङ्क्त सुरामलम् ।

ज्योत्स्नायां विगलन्मानस्तरुणो रक्षसां गणः ॥ ४० ॥

क्षणुवान इत्यादि—रक्षसां तरुणो गणः उत्कण्ठां प्रियासु संस्मरणं
णुवान इव समुत्तेजयन्निव । 'समः क्षणुवः । १ । ३ । ६५ ।' इति तड् ।
स्तनायां सुराम् अलं पर्याप्तमुपासुङ्क्त अभ्याहृतवान् । 'भुजोऽनवने । १ । ३ ।
१ ।' इति तड् । विगलन्मानः ॥ ४० ॥

मध्वपाययत स्वच्छं सोत्पलं दयिताऽन्तिके ।

आत्मानं सुरताऽऽभोगविश्रम्भोत्पादनं मुहुः ॥ ४१ ॥

मध्वित्यादि—कीदृशं मधु स्वच्छत्वात् सोत्पलतया सुरभित्वात् शोभनं
तं यतः स्वयमात्मानं मुहुरपाययत पायितवत् । 'णेरणौ यत्कर्म णौ चैत्स-
तानाध्याने । १ । ३ । ६७ ।' इति तड् । दयितान्तिके दयितस्य समीपे ।
ताभोगः सुरताविमर्दः तत्र विश्रम्भः तस्योत्पादनं जनकम् । उत्पादयतीति
त्यस्युटो बहुलम् । ३ । ३ । ११३ ।' इति कर्तरि ल्युट् ॥ ४१ ॥

अभीषयन्त ये शक्रं राक्षसा रणपण्डिताः ।

अविस्मापयमानस्तान्कपिराटीद् गृहाद् गृहम् ॥ ४२ ॥

अभीषयन्तेत्यादि—एवं रक्षःसु यथायथं चेष्टमानेषु ये राक्षसा रणपण्डिताः
ग्रामविज्ञाः शक्रमभीषयन्त भीषितवन्तः । 'भीस्म्योर्हेतुभये । १ । ३ । ६८ ।' इति
ङ् । 'भियो हेतुभयेपुक् । ७ । ३ । ४० ।' इति पुक् । भयग्रहणमुपलक्षणं तेन स्मयतेरपि
वति । तानसौ कपिरविस्मापयमानः विस्मयमकारयन् । 'नित्यं स्मयतेः । ६ ।
१५७ ।' इत्यात्वम् । गृहाद् गृहमाटीत् गतवान् । लुङि रूपम् ॥ ४२ ॥

सीतां दिदृक्षुः प्रच्छन्नः सोऽगर्धयत राक्षसान् ।

अवञ्चयत मायाश्च स्वमायाभिर्नरद्विषाम् ॥ ४३ ॥

सीतामित्यादि—स कपिः सीतां दिदृक्षुः सीतां द्रष्टुमिच्छुः प्रच्छन्नः राक्ष-
सानगर्धयत व्यामोहयत् । स्वमायाभिश्च नरद्विषां मायाश्च अवञ्चयत अतिसंहि-
वान् । 'गृधिवञ्च्योः प्रलम्भने । १ । ३ । ६९ ।' इति तड् ॥ ४३ ॥

अपलापयमानस्य शत्रूस्तस्याऽभवन्मतिः ।

मिथ्या कारयते चारैर्घोषणां राक्षसाऽधिपः ॥ ४४ ॥

अपेत्यादि—तस्य कपेः शत्रून् राक्षसान् अपलापयमानस्य न्यक्कुर्वतः ।
विभाषा लीयतेः । ६ । १ । ५१ ।' इत्यात्वे । 'लियः सम्माननशालिनी-

करणयोश्च । १ । ३ । ७० ।' इति शालिनीकरणे न्यग्भावने आत्मनेपद्म् ।
मतिरभवत् । कीदृशीत्याह—मिथ्या कारयत इति । अथे राक्षसाधिपतिश्चै-
र्दण्डवाहकैः यां घोषणां पुनः पुनः कारयति जागृत जागृतेति तां मिथ्य-
कारयते येनाहमविज्ञात एव प्रविष्टः । 'मिथ्योपपदान् कृत्रोऽभ्यासे ।
१ । ३ । ७१ ।' इति तद् । अभ्यासश्च पुनः पुनःकरणम् ॥ ४४ ॥

अथ पञ्चभिः कुलकम् ।

गूहमानः स्वमाहात्म्यमटित्वा मन्त्रिसंसदः ।

नृभ्योऽपवदमानस्य रावणस्य गृहं ययौ ॥ ४५ ॥

गूहमान इत्यादि—स्वमाहात्म्यं स्वपराक्रमं गूहमानः आवृण्वन् । 'उ-
पधाया गोहः । ६।४।८९।' इत्यूत्वम् । 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले ।
१।३।७२।' इति तद् । अटित्वा मन्त्रिसंसदैः शुकसारणादिगृहाणि गत्वा राव-
णस्य गृहं ययौ । कीदृशस्य । नृभ्योऽपवदमानस्य कुप्यतः असूयतो वा 'अपा-
द्बुदः । १।३।७३।' इति तद् । नृभ्य इति 'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः ।
१।४।३०।' इति सम्प्रदानसंज्ञायां चतुर्थी ॥ ४५ ॥

कीदृशं गृहमित्याह—

दिशो द्योतयमानाभिर्दिव्यनारीभिराकुलम् ।

श्रियमायच्छमानाभिरुत्तमाभिरनुत्तमाम् ॥ ४६ ॥

दिश इत्यादि—दिशः द्योतयमानाभिः भासयमानाभिः । 'णिचश्च ।
१ । ३ । ७४ ।' इति तद् । दिव्यनारीभिः उत्तमाभिः प्रधाननायिकाभि-
राकुलं व्याप्तम् । श्रियमनुत्तमानतिशयवती आयच्छमानाभिः स्वीकुर्वाणाभिः ।
'समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे । १ । ३ । ७५ ।' इति तद् ॥ ४६ ॥

नित्यमुद्यच्छमानाभिः स्मरसम्भोगकर्मसु ।

जानानाभिरलं लीला किलीकितविभ्रमान् ॥ ४७ ॥

यमित्यादि—स्मरसंभोगकर्मसु कामोपभोगक्रियासु । नित्यमुद्यच्छमा-
नाभिः उत्सहमानाभिः । पूर्ववत्तद् । लीला जानानाभिः । 'अनुपमगाञ्जः ।
१ । ३ । ७६ ।' इति तद् । लीलाः स्त्रीणां शृङ्गारचेष्टाविशेषाः । तत्र

१ परोदन्तमवगन्तुं नियुक्तैः । 'चारश्च गृहपुरुषः' इत्यमरः । २ 'उर्ध्वं उ-
चोपगा ।' इत्यमरः । ३ 'मन्त्री घोषत्रिवोऽमात्यः' इत्यमरः ।

म्—‘विलासलीलाः किलकिंचितानि विव्वोकमोदृयितविभ्रमाणि ।
उत्तमाकुट्टिमितेश्चिंतानि योज्यानि तज्ज्ञैः सुकुमारनृत्ते॥’ इति । लक्षणं
नृत्यशास्त्रे ॥ ४७ ॥

ऽं कर्म कारयन्नास्ते निश्चिन्तो या झपध्वजः ।

ऽाऽर्थं कारयमाणाभिर्यूनो मदविमोहितान् ॥ ४८ ॥

वमित्यादि—स्वमात्मीयं मोहनादिकर्म यादिव्यनारीः कारयन् अनुष्ठापयन्
झपध्वजः कामदेवः निश्चिन्त आस्ते । ताभिराकुलमिति योज्यम् । ‘दृको-
तरस्याम् । १।४।५३।’ इति द्विकर्मकता । यूनः स्वार्थं स्वप्रयोजनं मैथुनाख्यं
यमाणाभिः आकुलम् । ता हनूमानिति वक्ष्यमाणेन संबन्धः कीदृशान्
विमोहितान् मधुपानमदपरवशान् । ताभिः ॥ ४८ ॥

कीदृशीभिरित्याह—

कान्तिं स्वां वहमानाभिः स्वविग्रहान् ।

नेत्रैरिव पिबन्तीभिः पश्यतां चित्तसंहतीः ॥ ४९ ॥

कान्तिमित्यादि—स्वां कान्तिं शोभां वहमानाभिः । यजन्तीभिः स्वविग्र-
हान् ददतीभिः कामिभ्यः । तत्र स्वं कर्मेति ‘णिचश्च । १।३।७४।’ इत्यस्य
वेपथुः । कान्तिं स्वां स्वविग्रहानिति स्वरितत्वि १।३।७२।’ इत्यस्य
वेपथुः । ‘विभाषोपपदेन प्रतीयमाने । १।३।७७।’ इति विभाषा आत्मनेपदम् ।
इत्यात्मनेपदाधिकारः । शेषभूतत्वात् परस्मैपदविधानमाह—नेत्रैरिति पश्यतां
चेत्तसंहतीः । चित्तसंदोहान् पिबन्तीभिरिव गृह्णन्तीभिरिव । ‘शेषात्कर्तारि
परस्मैपदम् । १।३।७८।’ ॥ ४९ ॥

ता हनूमान् पराकुर्वन्नगमत्पुष्पकं प्रति ।

विमानं मन्दरस्याद्रेरनुकुर्वदिव श्रियम् ॥ ५० ॥

ता इत्यादि—ता दिव्यनारीः पराकुर्वन्नपक्षिपन् अगमत् । पुष्पकं प्रति
कुबेरस्य पुष्पकविमानं प्रति । ‘विमानं तु पुष्पकम् ।’ इति कुबेरविमानाभिधा-
नोक्तेः । येन पुष्पकविमानेन जगाम । कीदृशं मन्दरस्याद्रेः श्रियमनुकुर्वदिव ।
‘अनुपराभ्यां कृञः । १।३।७९।’ कर्त्रभिप्राये चात्मनेपदस्य प्राप्तत्वात् ॥ ५० ॥

१ कान्तेर्वहनायोगेऽपि वहनोक्त्या तथा निविडत्वाद्यतिशयं द्योतयति ।
२ देवकुलोत्पन्ना रमणीरित्यर्थः । श्रियं शोभाम् ।

(२२४) भट्टिकाव्ये जयमङ्गलासमेते-

अथ युग्मम् ।

तास्मिन् कैलाससंकाशं शिरःशृङ्गं भुजद्रुमम् ।

अभिक्षिपन्तमैक्षिष्ट रावणं पर्वतश्रियम् ॥ ५१ ॥

तस्मिन्नित्यादि—तास्मिन् विमाने रावणमैक्षिष्ट । कैलाससंकाशं कैलास तुल्यम् । शिरःशृङ्गं शिरांसि शृङ्गाणीव यस्य । भुजद्रुमं भुजा द्रुमा इव यस्य । पर्वतस्य श्रियमभिक्षिपन्तम् अभिभवन्तम् । 'अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः । १।३।८ इति परस्मैपदम् । तस्य स्वरितेत्त्वात् कर्त्रभिप्राय आत्मनेपदं प्राप्तम् ॥ ५१ ॥

प्रवहन्तं सदामोदं सुप्तं परिजनाऽन्वितम् ।

मघोने परिमृष्यन्तमारमन्तं परं स्मरे ॥ ५२ ॥

प्रवहन्तमित्यादि—सदामोदं कस्तूरिकादिपरिमलं प्रवहन्तम् । 'प्राङ्ङः १।३।८१' इति परस्मैपदं स्वरितेत्त्वात् । सुप्तं शयने संविष्टम् । परिजनान्वितं पारिपार्श्विकाधिष्ठितम् । मघोने इन्द्राय परिमृष्यन्तं अस्तूयन्तम् । 'परेभ्यः १।३।८२' इति परस्मैपदं मृषेः स्वरितेत्त्वात् । 'कुधद्रुहेर्ष्याऽसूयार्थानां यं प्रति कोपः १।४।३७' इति सम्प्रदानसंज्ञायां चतुर्थी । स्मरे कामे परमत्ययं आरमन्तं विश्रमं कुर्वाणम् । 'व्याङ्परिभ्यो रमः १।३।८३' इति परस्मैपदम् । रमेरनुदात्तेत्त्वात् ॥ ५२ ॥

व्यरमत्प्रधनाद्यस्मात् परित्रस्तः सहस्रदृक् ।

क्षणं पर्यरमत्तस्य दर्शनान्मारुताऽऽत्मजः ॥ ५३ ॥

व्यरमदित्यादि—यस्माद्रावणान् सहस्रदृगिन्द्रः । परित्रस्तः 'भीत्रार्थानां भयहेतुः । १।४।२५' इत्यपादाने पञ्चमी । प्रधनात् युद्धान् । व्यरमन् अरतव्यापारोऽभूत् । 'व्याङ्परिभ्यो रमः १।३।८३' इति परस्मैपदम् । 'क जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्' इत्यपादाने पञ्चमी । तस्य दर्शनान्मारुतात्मजः हनूमान् क्षणं पर्यरमन् तुष्टिमात्रभवदित्यर्थः । 'साकु रावण' इति । पूर्ववद्दृङ्ः परस्मैपदम् ॥ ५३ ॥

उपारंसीच्च संपश्यन् वानरस्तं चिकीर्षितात् ।

रम्यं मेरुमिवाऽऽधूतकाननं श्वसनेर्गिभिः ॥ ५४ ॥

उपेत्यादि-तं रावणं पश्यन् वानरः विकीर्षितात्कर्तुर्निदान् सीतान्वे-
 षादुपारंसीन् निवृत्तः । उपाचचेत्यधिष्ठृत्य 'विभाषाऽकर्मकात् ११३।८५'
 । लुङः परस्मैपदम् । तस्य मेरोरिव रन्ध्रत्वात् तदाह भेरुमित्र । अल-
 मिभिः वातसमूहैः । आधूतकाननं प्रचलितवदनं नेरुम् । तथा श्वसनो-
 मिभिः श्वसितकहोरैः आधूतानि कानि शिरांत्याननानि च चत्येति ॥५४ ॥

दृष्ट्वा दयितया साकं रहीभूतं दशाननम् ।

नाऽत्र सीतैत्युपारंस्त दुर्मना वायुसम्भवः ॥ ५५ ॥

दृष्टेत्यादि-रहीभूतं विजनस्थं दशाननम् । 'अरुर्मनश्चञ्चुरेतोरहोरजसां
 पञ्च १५।४।५१' इति च्चौ सलोपः । दयितया साकं दृष्ट्वा नात्र सीतेति दृष्ट्वा
 पारंस्त विमना निवर्तते स्म । 'विभाषाऽकर्मकात् ११३।८५' इति लुङ् ।
 युषंभवो वायोः सम्भवो यस्य स हनुमान् ॥ ५५ ॥

ततः प्राकारमारोहत् क्षपाटानविवोधयन् ।

नाऽयोधयत् समयोऽपि सीतादर्शनलालसः ॥ ५६ ॥

तत इत्यादि-तत उत्तरकालं प्राकारमारोहत् आलुढवान् । क्षपाटान् राक्ष-
 णान् अविवोधयन् अचेतयन् । 'णिचञ्च ११३।७४' इत्यात्मनेपदे प्राप्ते 'बुधयुधनश-
 नेङ्प्रुद्रुसुभ्यो णेः ११३।८६' इति लटः परस्मैपदम् । बुधेरणौ सकर्मकत्वे
 चेतवत्कर्तृकत्वात् हनूमतश्चित्तवत्त्वात् । तत्र ह्यकर्मका ये तेषामाचित्त-
 त्कर्तृत्वार्थमुपादानमित्युक्तम् । तान्नायोधयत् समयोऽपि न संग्रामितवान् ।
 ततः सीतादर्शनलालसः लम्पटः । 'अणावकर्मकाञ्चित्तवत्कर्तृकात् ११३।८८'
 इत्यनेन उभयत्रापि लङः परस्मैपदम् । युधेरेकस्याचित्तवत्कर्तृकत्वात् ॥५६॥

अध्यासीद्वाघवस्याऽहं नाशयेयं कथं शुचम् ।

वैदेह्या जनयेयं वा कथमानन्दमुत्तमम् ॥ ५७ ॥

अध्यासीदित्यादि-राघवस्याहं कथं केन प्रकारेण शुचं शोकं नाशयेयम् ।
 प्रशमेयम्, कथं वा वैदेह्याः सीताया आनन्दं जनयेयमिति हनुमान् अध्यासीत्
 चिन्तितवान् । 'ध्वै चिन्तायाम्' इत्यस्य लाङ्गि रूपम् । नशिजन्योरकर्मकत्वात्
 'अणावकर्मकाञ्चित्तवत्कर्तृकात् ११३।८८' इत्यनेन लिङः परस्मैपदम्, न तु 'बुध-
 युधनशजनेङ्प्रुद्रुसुभ्यो णेः ११३।८६' इत्यनेन परस्मैपदम् । जनीजृषत्सुरजो-
 ऽमन्ताश्च' इति जनेर्मित्संज्ञायां ह्रस्वत्वम् ॥ ५७ ॥

दृष्ट्वा राघवकान्तां तां द्रावयिष्यामि राक्षसान् ।

तस्या हि दर्शनात्पूर्वं विक्रमः कार्यनाशकृत् ॥ ५८ ॥

दृष्टेत्यादि—इयमेसाविति राघवस्य कान्तां दृष्ट्वा द्रावयिष्यामि राक्ष
पलाययिष्यामि । अत्र 'अणावकर्मकाञ्चित्तवत्कर्तृकात् । १ । ३ । ८८ ।' इत्
परस्मैपदं, न तु 'बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुसुभ्यो णेः । १ । ३ । ८६ ।' इत्यनेनेति वोऽ
तस्याकर्मकस्य चित्तवत्कर्तृकत्वात् । हि यस्मात् तस्याः सीताया दर्शन
विक्रमः कार्यस्य सीतादर्शनरूपस्य नाशकृत् ॥ ५८ ॥

चिन्तयन्नित्यमुत्तुङ्गैः प्रावयन्तीं दिवं वनैः ।

अशोकवनिकामारादपश्यत् स्तवकाऽऽचिताम् ॥ ५९ ॥

चिन्तयन्नित्यादि—इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण चिन्तयन्नारात्समीपे अशोक
कामपश्यत् । उत्तुङ्गैरुच्चैर्वनैर्दिवमाकाशं प्रावयन्तीं व्याप्नुवानाम् ।
यावदुन्नतैर्वृक्षैः पूर्णमित्यर्थः । 'बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुसुभ्यो णेः । १ । ३ ।
इति तिप् । प्रवतेरकर्मकस्याञ्चित्तवत्कर्तृकत्वात् । अशोकवनिकायाश्चा
वतीत्वात् । स्तवकाचिताम् अशोकपुष्पस्तवकैश्छन्नाम् ॥ ५९ ॥

अथ पञ्चभिः कुलकम् ।

तां प्राविशत् कपिव्याघ्रस्तरुनचलयञ्जनैः ।

अत्रासयन्वनशयान्सुप्ताञ् शाखासु पक्षिणः ॥ ६० ॥

तामित्यादि—तामशोकवनिकां कपिव्याघ्रः कपिःव्याघ्र इव शनं
प्राविशत् । तरुनचलयन् अकम्पयन् । चलेरकर्मकत्वाञ्चित्तवत्कर्तृकादण
त्यनेन च लटः परस्मैपदं न तु 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च । १ । ३ । ८७ ।' इत्यने
वोऽव्यम् । तद्धि तत्र सकर्मकार्थं अचित्तवत्कर्तृकार्थं चेत्युक्तम् । व
यान् पक्षिणः शाखासु सुप्तायन् अत्रासन् । 'अणावकर्मकाञ्चित्तवत्कर्तृक
१ । ३ । ८८ ।' इत्यनेन परस्मैपदम् । वने शेरत इति 'अधिकरणे शेतेः । ३ ।
१५ ।' इत्यच् । 'शयवासवासिप्वकालान् । ६ । ३ । १८ ।' इति सप्त
विभाषा अलुक् ॥ ६० ॥

अवाद्यायुः जनैर्यस्यां लतां नर्तयमानवत् ।

नाऽऽयासयन्त संव्रस्ता ऋतवोऽन्योन्यसम्पदः ॥ ६१ ॥

१ हनुमानित्यर्थः । वननितसमासोऽयम् । २ तदन् वृक्षान् । 'विट्ठी ५
पस्तरः ।' इत्यनरः ।

अवादित्यादि—यस्यामशोकवनिकायां वायुर्वातः शनैर्मन्दमवात् वाति । तामाटेति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । लतां नर्तयमानवत् नृत्यमिव कारयन् । तिञ्चलने वर्तते । ततश्च । 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च । १।३।८७।' इति परस्मै-
प्राप्तं 'न पादम्याङ्घ्रमाङ्घ्रसपरिमुहुरुचिचिन्वृतिवदवसः । १।३।८९।' इति
वेपिद्धम् । ऋतवोऽन्योन्यसंपदः परस्परस्य विभूतीः नायासयन्त नोप-
डयन्ति स्म । संव्रस्ता रावणात् । आङ्पूर्वाद्यसेः चित्तवत्कर्तृकत्वात्
अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकान् । १।३।८८।' इति परस्मैपदं प्राप्तं 'न पाद-
माङ्घ्रमाङ्घ्रसपरिमुहुरुचिचिन्वृतिवदवसः । १।३।८९।' इति प्रतिषिद्धम् ॥ ६१ ॥

ज्योत्स्नाऽमृतं शशी यस्यां वापीर्विकसितोत्पलाः ।

अपाययत सम्पूर्णः सदा दशमुखाऽऽज्ञया ॥ ६२ ॥

ज्योत्स्नेत्यादि—यस्यां रावणाज्ञया शशी सदा संपूर्णः सन् ज्योत्स्नामृतं
पैरिपाययत, पायितवान् । निगरणार्थत्वात्तिपि प्राप्ते 'न पादम्याङ्घ्रमाङ्घ्र-
परिमुहुरुचिचिन्वृतिवदवसः । १।३।८९।' इति प्रतिषिद्धे णिचश्चेति तद्ध् ॥ ६२ ॥

प्रादमयन्त पुष्पेषुं यस्यां बन्धः समाहताः ।

परिमोहयमाणाभी राक्षसीभिः समावृताः ॥ ६३ ॥

प्रादमयन्तेत्यादि—यस्यां बन्धः समाहताः समानीताः पुष्पेषुं कामं प्राद-
यन्त शमितवत्यः । तन्मतस्याचरणात् । कीदृश्यः । परिमोहयमाणाभिः
यामोहयन्तीभिः राक्षसीभिः परिवृताः । प्रदमिपरिमुहोः 'अणावकर्म-
काच्चित्तवत्कर्तृकात् । १।३।८८।' इत्यनेन प्राप्तस्य परस्मैपदस्य 'न पादम्याङ्घ्र-
माङ्घ्रसपरिमुहुरुचिचिन्वृतिवदवसः । १।३।८९।' इति प्रतिषेधे 'णिचश्च ।
१।३।१४।' इत्यात्मनेपदम् ॥ ६३ ॥

यस्यां वासयते सीतां केवलं स्म रिपुः स्मरात् ।

न त्वरोचयताऽऽत्मानं चतुरो वृद्धिमानपि ॥ ६४ ॥

यस्यामित्यादि—रिपुर्दशाननः स्मरात् कामाद्धेतोः केवलं निष्फलं यस्यां
सीतां वासयते स्म वासितवान् । न त्वरोचयत आत्मानं नैवात्मानमुपरो-
धतवान् । चतुरोऽपि योपिदारोधनकुशलोऽपि । वृद्धिमानपि संपद्युक्तोऽपि

१ 'वा गतिगन्धनयोः' लुङ् । २ वापीः दीर्घिकाः । 'वापी तु दीर्घिका'
इत्यमरोक्तेः । ३ प्रपूर्वाद् 'दमु उपशमे' इत्यस्य, परिपूर्वाक् 'मुह वैचित्ये' इत्यस्य
त्वर्थः ।

रोचिवास्योः 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात् । १ । ३ । ८८ । इति प्राप्त्यात्
च परस्मैपदस्य 'न पादम्याड्यमाड्यसपरिमुहुरुचिनृत्तिवद्वसः । १ । ३ । ८९ ।
इति प्रतिषेधे णिचश्चेति तद्ध् ॥ ६४ ॥

मन्दायमानगमनो हरितायत्तरुं कपिः ।

द्रुमैः शकशकायद्भिर्मारुतेनाऽऽट सर्वतः ॥ ६५ ॥

मन्देत्यादि--कपिः सर्वतः सर्वत्र तामाट विजहार । यत्तदोर्नित्यसंवन्य-
त्तामिति गम्यते । मन्दायमानगमनः मन्दीभवद्गमनः । कीदृशम् । हरिताय-
त्तरुं शाद्वलीभवदृक्षाम् । अप्राणिजातेश्चेत्यूङ् । द्रुमैरुपलक्षिताम् । कीदृशः ।
शकशकायद्भिः शकस्वभावैः शकीभवद्भिः । केन मारुतेन । अत्रामन्दं मन्दं
भवति अहरिता हरिता भवन्तीति लोहितादित्वात् क्यप् । अशकाः शका
भवन्तीति वाक्ये 'अव्यक्तानुकरणाद्द्वयजवरार्धादनितौ डाच्
। ५।४।५७।' इति डाच् । तस्मिन्विपयभूते 'डाचि बहुलं द्वे भवतः ।
'नित्यमात्रेडिते डाचीति वक्तव्यान्' इति पररूपत्वम् । डाजन्तात्
शकशकाशब्दात् क्यप् । 'वा क्यपः । १ । ३ । ९० ।' इति परस्मैपदम् ।
आत्मनेपदं च ॥ ६५ ॥

अस्यन्दन्निन्दुमणयो व्यरुचन् कुमुदाऽऽकराः ।

अलोठिपत वातेन प्रकीर्णाः स्तवकोच्चयाः ॥ ६६ ॥

अस्यन्दन्निन्द्यादि--चन्द्रोदयादिन्दुमणयः अस्यन्दन् स्यन्दन्ते स्म ।
तामाटेति योज्यम् । व्यरुचन् कुमुदाकराः कैरववनानि विराजितवनः ।
स्तवकोच्चयाः गुच्छराशयः । वातेन प्रकीर्णाः इतस्ततो विक्षिप्ताः सन्त्य
अलोठिपत लुठन्ते स्म । सर्वत्र 'द्युद्भयो लुडि।१।३।९१।' इति विभाषा परस्मै
पदम् । श्रुतादयश्च कृपूपर्यन्ताः ॥ ६६ ॥

सीताऽन्तिके विवृत्सन्तं वर्त्स्यत्सिद्धिं पुवङ्गमम् ।

पतत्रिणः शुभा मन्द्रमानुवानास्त्वजिह्मदन् ॥ ६७ ॥

सीतेत्यादि--सीतायाः अन्तिके समापे विवृत्सन्तं वर्तितुमिच्छन्तं प्रवृत्तं
वर्त्स्यत्सिद्धिं वर्त्स्यन्ती भविष्यन्ती सिद्धिः सीतादर्शनलक्षणा यन्म । 'वृत्त-
त्यसन्नोः । १।३।९२।' इति विभाषा त्रिप् । तं पतत्रिणः पत्रिणः पुत्रः

अज्ञाना अजिहदन् सुखयन्ति स्म । णिचि लुङि चङि रूपम् । कीदृशाः
न्द्रं गम्भीरं मधुरमानुवानाः वाश्यमानाः । 'आङि नुप्रच्छयोरुपसंख्या-
म्' इति तद् । 'णु स्तुतौ' इत्यादादिकस्य परस्मैपदित्वात् ॥ ६७ ॥

वर्तिष्यमाणमात्मानं सीता पत्युरिवाऽन्तिके ।

उदपश्यत्तदा तथ्यौर्निमित्तरिष्टदर्शनैः ॥ ६८ ॥

वर्तिष्यमाणमित्यादि—सीताऽपि तदा तस्मिन् काले पत्यू रामस्यान्तिके
आत्मानं वर्तिष्यमाणमिव उदपश्यत् उत्प्रेक्षते स्म । 'वृद्धयः स्यसन्नोः ।
१।३।९२।' इति विभाषावचनात्तद् । निमित्तैश्चक्षुःस्पन्दनादिभिः । तथ्यैर-
वसंवादिभिः इष्टदर्शनैः इष्टार्थप्रकाशकैः । दर्शनमिति 'कृत्यस्युटो बहुलम् ।
३।३।११३।' इति कर्तरि ल्युट् ॥ ६८ ॥

निरवत्स्यन्न चेद्द्वार्ता सीताया वितथैव नः ।

अकल्पस्यदुद्यतिः सर्वा हनूमानित्यचिन्तयत् ॥ ६९ ॥

इत्यात्मनेपदाधिकारः ।

निरवत्स्यन्नत्रियादि—चेदिति यद्यर्थे । यदि सीताया वार्ता न निरवत्स्यत्
नेवृत्तिं नायास्यत्, तदा वृथैव निष्फलैव नोऽस्माकमुद्यतिः सर्वा । अयमुद्यमः
ममुद्रलङ्घनादिकः । अकल्पस्यत् अभविष्यत् । इत्येवं हनूमानचिन्तयत् । फ्रिया-
तेपत्तौ लृङ् । तत्र निरवत्स्यदिति 'वृद्धयः स्यसन्नोः १।३।९२।' इति विभाषा-
परस्मैपदम् । अकल्पस्यदिति 'लुटि च कृपः १।३।९३।' इति चकारात् स्य-
न्नोरापि भवति विभाषापरस्मैपदम् । उद्यतिरिति यमेः 'स्त्रियां क्तिन् ३।३।९४।'।
इति क्तिनि 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झल्लि क्ति ॥
६।४।३७।' इत्यनेन अनुनासिकलोपः ॥ ६९ ॥ इत्यात्मनेपदाधिकारः ॥

इतः प्रभृति कारकमधिकृत्याह—

अथ त्रिभिर्विशेषकम् ।

वृक्षाद्भृक्षं परिक्लामत्रावणाद्विभ्यर्ता भृशम् ।

शत्रोस्त्राणमपश्यन्तीमदृश्यो जनकाऽऽत्मजाम् ॥ ७० ॥

१ सम्भावयति स्मेवेति भावः । २ सत्यैरित्यर्थः । ३ वार्ता वृत्तान्तः । 'वार्ता
प्रवृत्तिवृत्तान्त' इत्यमरः । ४ इदमारभ्येत्यर्थकमव्ययम् 'कार्तिक्याः प्रभृति' इति
भान्योक्त्यैतन्नो पञ्चमी च ।

वृक्षादित्यादि—तां जनकात्मजां सीतां च कपिकुञ्जरोऽपश्यदिति व
माणेन संवन्धः । वृक्षात् वृक्षं परिक्रामन् गच्छत् । 'ध्रुवमपायेऽपादानम्
४।२४।' इत्यपादानसंज्ञायां पञ्चमी । रावणात् विभ्यतीं भृशं त्रस्यन्तीम् अ
शत्रो रावणाद्रक्षामपश्यन्तीं यतो भयं ततः कुतो रक्षेति 'भीत्रार्थानां भये
१।४।२५।' इत्यपादानसंज्ञायां पञ्चमी । अदृश्यः प्रच्छन्नो भूत्वा । 'ऋदुपव
कृपिचृतेः । ३।१।११० ।' इति क्यप् ॥ ७० ॥

तां पराजयमानां स प्रीते रक्षयां दशाऽऽननात् ।

अन्तर्दधानां रक्षोभ्यो मलिनां म्लानमूर्धजाम् ॥ ७१ ॥

तामित्यादि—प्रीतेः रावणसंवाग्धिन्याः पराजयमानां विमुखीभवन्ती
'पराजेरसोढः । १।४।२६ ।' इत्यपादानत्वम् । असोढोऽर्थः प्रीतिः ।
दशाननात् रावणविषये स्वयं निवार्यप्रसराम् । 'वारणार्थानामीप्सितः ।
२७।' इत्यपादानत्वम् । प्रवृत्तिविवातलक्षणया रक्षणक्रियया आत्मसंवन्धि
दशाननस्य व्याप्तुमभिप्रेतत्वात्, अन्तर्दधानां रक्षोभ्यः मा मां रक्षांसि
रिति । ततश्च 'अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति । १।४।२८।' इत्यपादानसं
अन्तर्धनिमित्तं हि रक्षोभिरात्मनो दर्शनस्यानीप्सितत्वात् । मलिनां श
म्लानमूर्धजां मलिनकेशां वद्धवेणीत्वान् ॥ ७१ ॥

रामादधीतसंदेशो वायोर्जातश्च्युतस्मिताम् ।

प्रभवन्तीमिवादित्यादपश्यत्कपिकुञ्जरः ॥ ७२ ॥

रामादित्यादि—सत्कृत्य अधीतसंदेशो गृहीतसंदेशः कपिकुञ्जरः । 'अ
तोपयोगे । १।४।२९।' इत्यपादानसंज्ञा । रामस्याख्यातृत्वान् । मात्रधा
संदेशग्रहणान् नियमपूर्वकविद्यावन् संदेशग्रहणम् । वायोर्जात इति 'जनि
प्रकृतिः । १।४।३०।' इत्यपादानसंज्ञा । जन्यर्थन्य जन्मनः कर्ता हनुमान
वायुः प्रकृतिः कारणम् । च्युतस्मितां शोकाक्रान्तत्वान् । प्रभवन्तीमि
त्यान् । 'भुवः प्रभवः । १।४।३१।' इत्यनेन भवन्यर्थन्य सीतायाः कर्तृभृ
प्रथमत उपलभ्यमानत्वान् । अतः प्रभव आदित्यः तन्यास्तेजस्त्रिवान् ॥

रोचमानः कुट्टाष्टिभ्यो रक्षोभ्यः प्रचवाञ्छ्रयम् ।

ह्लावमानः परस्त्रीभ्यस्तत्राऽऽगाद्राक्षसाऽधिपः ॥ ७३ ॥

रोचमान इत्यादि—तत्र तस्यामशोकवनिकायां राक्षसाधिपो रावणः
आगान् आगतवान् । रोचमानः कुदृष्टिभ्यः त्यक्तत्रयीधर्मत्वात् । ये कुदृष्टयः कुबु-
द्धयः तान् स्वविषये स्पृहावतः कारयन्नित्यर्थः । 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः । १।४।
३३।' इति सम्प्रदानसंज्ञायां चतुर्थी । रुचेरभिलापस्य तत्रावस्थानात् । कुदृष्टयः
प्रीयमाणाः । रक्षोभ्यः श्रियं विभूतिं प्रप्तवान् । 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्
। १।४।३२।' इति सम्प्रदानम् । ददातिक्रियया राक्षसानामभिप्रीयमाणत्वात् । श्लाघ-
मानः परस्त्रीभ्यः युष्मद्विषयेऽस्माकं श्लाघेति परकलत्राणि ज्ञापयितुमेषयन् ।
'श्लाघन्नुद्गृह्याशपां ज्ञीप्स्यमानः । १।४।३४।' इति सम्प्रदानत्वम् । श्लाघया
वहुमानेन ज्ञापयितुमिष्यमाणत्वात्तासाम् ॥ ७३ ॥

अशप्त निहुवानोऽसौ सीतायै स्मरमोहितः ।

धारयन्निव चैतस्यै वसूनि प्रत्यपद्यत ॥ ७४ ॥

अशमेत्यादि—सीतायै निहुवानः क्रौर्यादिकं न मेऽस्तीति सीतां ज्ञापयि-
तुमेषयन्नित्यर्थः । तस्यै सीतायै अशपत् । शपथं सीतां ज्ञापयितुमैषदित्यर्थः ।
किमित्येवमाह । स्मरमोहितः । अत्र शपथापह्नुतिक्रियया सीतामाज्ञापयितु-
मिष्यमाणत्वात् पूर्ववत् सम्प्रदानसंज्ञा । किं चास्यै सीतायै स्वामिनीभूतायै
वसूनि द्रव्याणि प्रत्यपद्यत अङ्गीकृतवान् । धारयन्निव गृहीतवित्त इव । अत्र
'धारेरुत्तमर्णः । १।४।३५।' इति सीतायाः कदाचिदुत्तमर्णया तुल्यत्वात् ॥ ७४ ॥

तस्यै स्पृहयमाणोऽसौ बहु प्रियमभापत ।

सानुनीतिश्च सीतायै नाऽक्रुध्यन्नाप्यसूयत ॥ ७५ ॥

तस्यायित्यादि—असौ राक्षसाधिपः स्पृहयमाणः सीतामाप्तुमिच्छन् बहु-
प्रियमभापत वक्ष्यमाणम् । 'स्पृहेरीप्सितः । १ । ४ । ३६ ।' इति स्पृहयतेः
स्वार्थिकण्यन्तस्य प्रयोगे सीताया ईप्स्यमानत्वात् । सानुनीतिश्च सानुनयः
सीतायै नाक्रुध्यत् तां प्रति कोपं न कृतवान् । नाप्यसूयत दोषाविष्करणलक्षणा-
मसूयां न कृतवान् । क्रुध्यतिसूयत्योर्द्वैवादिकयोरुदात्तेर्लङितोर्लङि प्रयोगे 'क्रुध-
दुहेर्प्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः । १ । ४ । ३७ ।' इति सम्प्रदानम् ॥ ७५ ॥

संक्रुध्यासि मृषा किं त्वं दिदृक्षुं मां मृगेक्षणे !

ईक्षितव्यं परस्त्रीभ्यः स्वधर्मो रक्षसामयम् ॥ ७६ ॥

संक्रुध्यसीत्यादि—किं त्वं शुभाशुभे दिदृक्षुं द्रष्टुमिच्छुं मां हे शृगक्षे
संक्रुध्यसि । 'क्रुध द्रुहोरुपसृष्टयोः कर्मा १।४।३८।' इति कर्मसंज्ञा । क्रुधेरुपसृ
युक्तत्वात् । कुतस्ते परिज्ञानं यत्परस्त्रीषु शुभाशुभं निरूपयसि अन्यत्र दुः
शयत्वात् । अथ कथं मृषा संक्रुध्यामीति चेदाह—ईक्षितव्यं परस्त्रीभ्यः ।
शुभा न शुभेति यदीक्षितव्यमीक्षणीयं तदयं स्वधर्मो रक्षसाम् । 'राधीद्वोर्कि
विप्रश्नः । १ । ४ । ३९ ।' इति सम्प्रदानसंज्ञा । यतः स्त्रीविषये विविक्
प्रश्नस्य क्रियमाणत्वात् ॥ ७६ ॥

शृण्वद्भ्यः प्रतिशृण्वन्ति मध्यमा भीरु नोत्तमाः ।

गृणद्भ्योऽनुगृणन्त्यन्येऽकृतार्था नैव मद्विधाः ॥ ७७ ॥

शृण्वद्भ्य इत्यादि—अनेनात्मनः प्रभावं दर्शयति । शृण्वद्भ्यः प्रार्थयन्
नेभ्यः स्वामिन्निदं क्रियतामिति मध्यमाः प्रभवः प्रतिशृण्वन्ति ओमित्युपागच्छ
न्ति । हे भीरु ! नोत्तमा मादृशाः । ते हि स्वातन्त्र्यात्स्वयमेव हितं प्रतिपन्न
इति भावः । 'प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्त्ता १।४।४०।' इति सम्प्रदानसंज्ञा
पूर्वस्याः प्रार्थनक्रियायाः प्रार्थयितुः कर्त्तृत्वात् । अन्ये प्रभवोऽकृतार्थाः अन्व
लाभाः गृणद्भ्यः अनुग्राह्यस्य श्रुत्यस्य कस्याचिन्न स्तुतिं कुर्वद्भ्यो मन्त्रिभ्यः अनुगृ
णन्ति तान् प्रोत्साहयन्ति । अनुगृणीत अनुगृणीतेति ममानुगतो भवतीति तै
मद्विधा अनुगृणन्ति कृतार्थत्वात् । 'गृ शब्दे' इत्यस्य प्रयोगे 'अनुप्रतिगृणश्च
१।४।४१।' इति सम्प्रदानसंज्ञा । गृणातेः स्तुतिक्रियापेक्षया कर्त्तृत्वान् ॥ ७७ ॥

इच्छ स्नेहेन दीव्यन्ती विषयान्भुवनेश्वरम् ।

संभोगाय परिक्रीतः कर्त्तास्मि तव नाऽप्रियम् ॥ ७८ ॥

इच्छेत्यादि—इच्छं पूजितं भुवनेश्वरं त्रिलोकविजयिनिमिच्छ अङ्गीकृत ।
आत्मानमुद्दिश्य स्नेहेन प्रेम्णा । 'सायकतमं करणम् १।४।४२।' इति करण
संज्ञा । दीव्यन्ती क्रीडन्ती विषयान् शब्दादिभिरित्यर्थः । 'द्विवः कर्म च १।
४।४३।' इति करणसंज्ञापवादान् कर्मसंज्ञा । संभोगाय परिक्रीतः त्वद्विषय
भोगेन परिक्रीत इत्यर्थः । 'परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् १।४।४४।' इति
सम्प्रदानत्वम् । तव नाप्रियं कर्त्तास्मि न करिष्यामि ॥ ७८ ॥

आस्त्व ताकं मया सौधे माऽधिष्ठा निर्जनं वनम् ।

माऽधिवात्सीभुवं शय्यामधिशेष्व स्मरोत्मुक्ता ॥ ७९ ॥

१ हे वामलोचने इत्यर्थः । 'भीरुर्वाते त्रिलिङ्गः स्याद्द्वयोपिति योर्धिव' इति भेदिनी ।

धास्वेत्यादि--मया साकं सार्धं सौधे धवलगृहे आस्व तिष्ठ । आसे-
 ष्टि रूपम् । 'आधारोऽधिकरणम् । १।४।४५।' इत्यधिकरणसंज्ञायां सप्तमी ।
 णोऽधिष्ठा निर्जनं वनम् । 'अधिशीङ्स्थासां कर्म । १।४।४६।' इत्यधिकरणे
 ष्टमसंज्ञा । लुङि रूपम् । माऽधिवात्सीः भुवं भूमौ मा शयिष्ठाः । माङि लुङ्
 रूपम् । 'उपान्वध्याङ्वसः । १।४।४८।' इति अधिकरणे कर्मसंज्ञा । किंतु
 ष्टम्यासुधिषेष्वा । शीङो लोटि रूपम् । 'अधिशीङ्स्थासां कर्म । १।४।४६।' इति
 ष्टमसंज्ञा । स्मरोत्सुका कामार्थिनी ॥ ७९ ॥

अभिन्त्यविक्षयास्त्वं मे यथैवाऽव्याहता मनः ।

तवाऽऽप्यध्यावसन्तं मां मा रौत्सीर्हृदयं तथा ॥ ८० ॥

अभित्यादि--यथैव त्वमव्याहता अनिवारिता सती मे मम मनः अभि-
 यविक्षयाः अभिनिविष्टासि । लुङि रूपम् । 'नेर्विशः । १।३।१७।' इति तङ् ।
 अभिनिविशश्च । १ । ४ । ४७ ।' इत्यधिकरणे मनसः कर्मसंज्ञा । तथा
 वसपि त्वद्धृदयमध्यावसन्तं मां मा रौत्सीः मा निवारय । रुधेलुङि रूपम् ।
 'उपान्वध्याङ्वसः । १ । ४ । ४८ ।' इति हृदयस्य कर्मसंज्ञा ॥ ८० ॥

माऽवमंस्था नमस्यन्तमकार्यज्ञे जगत्पतिम् ।

संदष्टे मयि काकुत्स्थमधन्यं कामयेत का ॥ ८१ ॥

मेत्यादि--हे अकार्यज्ञे ! अविशेषज्ञे ! मां जगत्पतिं नमस्यन्तं माऽवमंस्थाः।
 लुङि रूपम् । 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म । १।४।४९। इति कर्मसंज्ञा । अवमानक्रियया
 कर्तृसंबन्धिन्या जगत्पतेराप्तुमिष्टत्वात् । संदष्टे मयिः काकुत्स्थमधन्यं मन्दभाग्यं
 या कामयेत का इच्छेत् । नैवेत्यर्थः । 'तथायुक्तं चानीप्सितम् । १।४।५०।' इति
 कर्मसंज्ञा । येनैव प्रकारेण कर्तुरीप्सिततमं क्रियया युक्तं तेनैवोप्सितादन्यस्य
 रामस्य प्रयुज्यमानत्वात् ॥ ८१ ॥

यः पयो दोग्धि पाषाणं स रामाद्भूतिमाप्नुयात् ।

रावणं गमय प्रीतिं वोधयन्तं हिताऽहितम् ॥ ८२ ॥

य इत्यादि--यथा पाषाणात् पयो न संभवति तथा रामादपि विभूति-
 रिति नैराशयं दर्शयति । पयसः पूर्वणैव कर्मसंज्ञा । पाषाणस्य 'अकथितं च ।
 १।४।५१।' इत्यनेन कर्मसंज्ञा । रावणं गमय प्रीतिं भवत्या सह प्रीतिं गच्छन्तं
 गमय प्रीतिम् । स्वयमेव हिताहितं भवतीं बुध्यमानां वोधयन्तम् । 'गतिबुद्धिप्रत्यय-

सानार्थशब्दकर्मकर्मकाणामणिकर्ता स णौ । १। ४। ५२।' इति कर्मसंज्ञा
गतिबुद्धयोरप्यन्तावस्थायां तयोः कर्तृत्वात् ॥ ८२ ॥

प्रीतोऽहं भोजयिष्यामि भवतीं भुवनत्रयम् ।

किं विलापयसेऽत्यर्थं पार्श्वे शायय रावणम् ॥ ८३ ॥

प्रीत इत्यादि—अहं प्रीतः सन् भुवनत्रयं तत्समुत्थं भोज्यं भोक्तुं च
भवतीं भोजयिष्यामि । प्रत्यवसानार्थत्वात्कर्मसंज्ञा । प्रत्यवसानमभ्यवहत्वात्
अकर्त्रभिप्राये 'णिचश्च । १ । ३ । ७४ ।' इत्यात्मनेपदं न भवति । विल
विविधं भाषमाणं किं विलापयसेऽत्यर्थं नाहं त्वामिच्छामीति ब्रुवाणा ।
शब्दकर्मकत्वात् कर्मसंज्ञा । कर्त्रभिप्राये णिचश्चेत्यात्मनेपदम् । तस्मादिदं प्रा
पार्श्वे रावणं शायय । अत्राकर्मकत्वात्कर्मसंज्ञा ॥ ८३ ॥

आज्ञां कारय रक्षोभिर्मा प्रियाण्युपहारय ।

कः शक्रेण कृतं नेच्छेदधिमूर्धानमञ्जलिम् ॥ ८४ ॥

इति कारकाधिकारः ।

आज्ञामित्यादि—रक्षांसि त्वदाज्ञां कुर्वन्त्येव । कारय प्रियाणि च त्वत्त
न्धीनि मामुपहरन्तमुपहारय उत्पादय । 'ह्रक्कोरन्यतरस्याम् । १ । ४। ५३
इति कर्मसंज्ञा । शक्रेण कृतं विरचितं अञ्जलिमधिमूर्धानं अधिगतः प्राप्नो
येनेति । को नेच्छेत् 'स्वतन्त्रः कर्ता । १ । ४ । ५४ ।' इति कर्तृसंज्ञा । श
प्रणतोऽहमित्यर्थः । प्रयोज्यकर्ता नोदाहृतोऽप्यन्तावस्थायामुदाहृतत्वान् ॥ ८४ ॥

इति कारकाधिकारः ॥

इतः प्रभृति कर्मप्रवचनीयमधिकृत्याह—

वचनं रक्षसां पत्युरनु क्रुद्धा पतिप्रिया ।

पापानुवसितं सीता रावणं प्रात्रवीद्वचः ॥ ८५ ॥

वचनमित्यादि—रक्षसां पत्युं रावणस्य वचनमनु लक्ष्मीकृत्य
'अनुर्लक्षणे । १ । ४ । ८४ ।' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां द्वितीया । क्रुद्धा
सीता । पतिप्रिया पतिः प्रियो चन्या इति । रावणं प्रात्रवीद्वचं वक्ष्यमानम् ।
पापानुवसितं पापेन संयुक्तम् । 'तृतीयाथे । १ । ४ । ८५ ।' इत्यनेन कर्मप्रव
नीयसंज्ञायां द्वितीया । पापमनुवसित इति । द्वितीयेति योगविभागात्तन्म
सुप्मुपेति वा ॥ ८५ ॥

१ शक्रेणन्द्रेणेत्यर्थः । 'त्रिण्युल्लेखपर्यन्तः शक्रेण' इत्यमरः । २ पतिमेव प्रियं वक्ष्य
इति पतिप्रिया पतिव्रतैत्यर्थः ।

न भवाननु रामं चेदुप शूरेषु वा ततः ।

अपवाह्यच्छलाद्वीरौ किमर्थं मामिहाहरः ॥ ८६ ॥

नेत्यादि—यदि भवाननु रामम् रामान्न हीन इत्यर्थः । ‘हीने । १ । ४ । ८६ ।’
यनेन कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । अनुशब्दश्च स्वहीनार्थद्योतकः । हीनश्चोत्कृष्टा-
प्रः । उपशूरेषु वा शूरेभ्यो वा यद्यधिको भवान् । ‘उपोऽधिके च । १ । ४ ।
७ ।’ इति चकाराद्धीने उपशब्दस्य कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । ‘यस्मादधिकं
य चेद्वरवचनं तत्र सप्तमी । २ । ३ । ९ ।’ इत्यनेन सप्तमी । उपशब्दस्या-
कद्योतनात् । किमर्थं कनकमृगच्छलेन । वीरौ रामलक्ष्मणौ अपवाह्य
न्यतो नीत्वा । मामिहाहरः लङ्कामानीतवान् ॥ ८६ ॥

उप शूरं न ते वृत्तं कथं रात्रिचराधम ।

यत्संप्रत्यप लोकेभ्यो लङ्कायां वसतिर्भयात् ॥ ८७ ॥

उपेत्यादि—हे रात्रिचराधम ! कथं ते वृत्तं चरितं नोप शूरं शूरेभ्यो न
नम् । ‘उपोऽधिके च । १ । ४ । ८७ ।’ इति चकाराद्धीने उपशब्दस्य कर्म-
प्रवचनीयसंज्ञा । यद्यस्मात् संप्रत्यधुना भयाल्लङ्कायां जलपर्वतदुर्गायां वसतिः ।
सरतिः ‘ वहिवस्यर्तिभ्यश्चित्’ इत्यौणादिकः । अप लोकेभ्यो लोकान् वर्ज-
त्वा । ‘अपपरी वर्जने । १ । ४ । ८८ ।’ इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञायाम्,
अभ्यपाङ्गपरीभिः । २ । ३ । १० ।’ इति पञ्चमी ॥ ८७ ॥

आ रामदर्शनात्पाप विद्योतस्व स्त्रियः प्रति ।

सद्वृत्ताननु दुर्वृत्तः परस्त्रीं जातमन्मथः ॥ ८८ ॥

आ रामेत्यादि—हे पाप ! आ रामदर्शानान् रामदर्शनं यावन् । ‘आङ्
यादावचने । १ । ४ । ८९ ।’ इति पूर्ववत्पञ्चमी । स्त्रियः प्रति योपितो लक्ष्मीकृत्य ।
सोतस्व स्थिरो भव । स्त्रिय इति । ‘वाऽमृशसोः । ६ । ४ । ८० ।’ इति इयङ् ।
इत्येत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः । १ । ४ । ९० ।’ इति कर्म-
प्रवचनीयत्वम् । सद्वृत्ताननु दुर्वृत्तः सदाचारिणामुपरि दुर्वृत्त इत्यर्थः । इत्थंभू-
त्यानेऽनोः कर्मप्रवचनीयत्वम् । परस्त्रीं जातमन्मथः । अत्र वीप्सायां कर्म-
प्रवचनीयत्वम् ॥ ८८ ॥

अभियोतिष्यते रामो भवन्तमचिरादिह ।

उदूर्णवाणः संग्रामे यो नारागणतः प्रति ॥ ८९ ॥

अभेत्यादि—भवन्तमभि भवन्तं लक्ष्मीकृत्य । ‘अभिरभागे । १ । ४ । ९१ ।’
इति कर्मप्रवचनीयत्वम् । अचिरादिह लङ्कायां रामो द्योतिष्यते असह्यतेजाः

भविष्यति । य उद्गूर्णबाणः संप्राप्ते नारायणतः प्रति तेन तुल्यः । 'प्रतिः प्र-
निधिप्रतिदानयोः । १ । ४ । ९२ ।' इति प्रतिनिधौ कर्मप्रवचनीयत्वम् । 'प्र-
निधिप्रतिदाने च यस्मात् । २ । ३ । ११ ।' इति पञ्चमी । प्रतियोगे प-
म्यास्तसिः । मुख्यसदृशः प्रतिनिधिः ॥ ८९ ॥

कुतोऽधि यास्यसि क्रूर निहतस्तेन पत्रिभिः ।

न सूक्तं भवताऽत्युग्रमतिरामं मदोद्धत ॥ ९० ॥

कुत इत्यादि—हे क्रूर ! तेन रामेण उद्गूर्णबाणेन पत्रिभिः शैरः निहतः ।
कुतोऽधियास्यसि केन प्रकारेण निःसरिष्यसि । 'अधिपरी अनर्थकौ ।।
४ । ९३ ।' इति अघेः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । धात्वर्थव्यतिरेकेणार्थस्यानभिप्रा-
दनर्थकत्वम् । संज्ञा च गत्युपसर्गसंज्ञावाधनार्था । तेन 'तिडि' चोद-
वति । ८।१।७१' इति निघाताभावो द्रष्टव्यः । पञ्चमी च 'प्रशान-
नयोः' इत्युपसंख्यानाद्भवति । किमिति हनिष्यतीति चेत्—यतो भ-
न सूक्तं प्रशस्तमुक्तम् । 'सुः पूजायाम् । १।४।९४।' इति कर्मप्रवचनी-
त्वम् । 'गतिरनन्तरः । ६।२।४९।' इति स्वराभावः । अत्युग्रमतिरौग्र-
अतिरामं राममधिकिष्य । काकुत्स्थमधन्यमिति । 'अतिरतिक्रमणे च ।
४।९५।' इति कर्मप्रवचनीयत्वम् । चकारात्पूजायां च तत्र धाव्युक्तनि-
प्रयोगः । हे मदोद्धत ! ॥ ९० ॥

परिशेषं न नामाऽपि स्थापयिष्यति ते विभुः ।

अपि स्थाणुं जयेद्रामो भवतो ग्रहणं कियत् ॥ ९१ ॥

परीत्यादि—रामो विभुः प्रभुः ते परिशेषं नामापि संज्ञामपि
स्थापयिष्यति, किमु देहम् । 'अपिः पदार्थसम्भावनाऽन्ववसर्गगर्हामनु-
येपु । १।४।७६।' इति पदार्थे कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । पदस्य देहस्यादु-
मानस्यार्थे अपिशब्दो वर्तते । अपि स्थाणुं जयेद्रामो यमाराध्यासि
प्राप्तवानसि तमपि स्थाणुं महादेवं जेतुं संभाव्यते भवतो ग्रहणं द्वि-
यस्त्वेवं न भवति । अत्र संभावनायां कर्मप्रवचनीयत्वम् । संभावने द्वि-
उपसर्गवाधनत्वात्संज्ञायाः 'उपसर्गात्मुनोति—८।३।६५ ।' इत्यादिना प-
भवति ॥ ९१ ॥

अपि स्तुह्यपि मेधाऽस्मांस्तथ्यमुक्तं नराऽशन ।

अपि सिञ्चेः कृशानां त्वं दर्प मद्यपि योऽभिकः ॥ ९२ ॥

अधीत्यादि—हे नराशन ! मया तथ्यमुक्तं यन्नामापि न स्थापयिष्य-
ति । अस्मानपि स्तुहि साधूक्तमिति प्रशंस । 'सेर्हापिच्च । ३।४।८७।'
अपिति डित्वाद्गुणाभावः । अपि सध निगृहाण यथेच्छं तथा क्रिय-
म् । मया तु सत्यमेवोक्तमिति भावः । अत्रान्ववसर्गे कामचारानुज्ञाने
प्रवचनीयसंज्ञा । किंच कृशानावग्नौ दर्पम् अपि सिञ्चेः क्षरेस्त्वम् ।
गर्हायां लिङि रूपम् । योऽयं मय्यपि मद्द्विषयेऽपि अभिकः काम-
ता । 'अनुक्रामिकाभीकः कमिता ५।२।७४।' इति निपातितः । उपसर्ग-
ज्ञावाधनार्थत्वान् स्तौतिसेधिसिचां पत्वं न भवति ॥ ९२ ॥

अधिरामे पराक्रान्तमधिकर्ता स ते क्षयम् ।

इत्युक्त्वा मैथिली तूष्णीमासांचक्रे दशाऽननम् ॥ ९३ ॥

अधीत्यादि—पराक्रान्तस्य शौर्यस्य राम ईशितेत्यस्मिन्नर्थे अधिरामे पराक्रा-
न्तम् । 'नपुंसके भावे क्तः । ३।३।११४।' इति क्तः । 'अधिरीश्वरे । १।४।९७।'
स्वस्वामिभावसंबन्धे अघेः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । 'यस्मादधिकं यस्य
श्वरवचनं तत्र सप्तमी । २ । ३ । ९ ।' इति सप्तमी । यश्चैवं स रामस्ते
यमधिकर्ता करिष्यति । अत्र कर्मण्येव द्वितीया । न तु 'कर्मप्रवचनीययुक्ते
तीया । २।३।८।' इत्यनेन । 'विभाषा कृन्वि । १।४।१२।' इति या संज्ञा तस्या
इत्युपसर्गसंज्ञावाधनार्थत्वात् । संज्ञापक्षे 'तिङि चोदात्तवति । ८।१।७१।'
ति निघाताभावो द्रष्टव्य इति । एवमुक्त्वा दशाननं मैथिली तूष्णी-
मासाञ्चक्रे तूष्णीं स्थितवती । 'आस उपवेशने' लिट् ॥ ९३ ॥

इति कर्मप्रवचनीयाधिकारः ।

ततः प्रभृति 'अनभिहिते' इत्याधिकृत्य विभक्तिविधानमाह—

ततः खड्गं समुद्यम्य रावणः क्रूरविग्रहः ।

वैदेहीमन्तरा क्रुद्धः क्षणमूचे विनिश्वसन् ॥ ९४ ॥

तत इत्यादि—ततः सीतावचनादुत्तरकालं रावणः खड्गं समुद्यम्य
प्रतिक्षिप्य । कर्मणि द्वितीया । क्रूरविग्रहः दुष्प्रेक्ष्यत्वात् । वैदेहीमन्तरा
शुद्धः वैदेया वधे कुपितः । 'अन्तराऽन्तरेण युक्ते । २।३।४।' इति षष्ठ्य-
पनादाद्वितीया । अन्तराशब्दो मध्यमाधेयप्रधानमाचष्टे, आधेयश्चात्र वधः ।

१ नपङ्कराकार इत्यर्थः । क्रूरो भयावहो विग्रहः शरीरं स्वरूपमिति
एतत्तः । 'शरीरं दर्पणं विग्रहः ।' इत्यमरः ।

क्षणमूचे उक्तवान् । उक्तक्रियया क्षणस्व कालस्य साकल्येन संव-
 'कालाध्वंनोरत्यन्तसंयोगे । २ । ३ । ५ ।' इति द्वितीया । विनि-
 सन् क्रोधात् ॥ ९४ ॥

चिरेणाऽनुगुणं प्रोक्ता प्रतिपत्तिपराङ्मुखी ।

न मासे प्रतिपत्तासे मां चेन्मर्तासि मैथिलि ॥ ९५ ॥

चिरेणेत्यादि—हे मैथिलि ! चिरेणापि कालेनानुगुणमनुकूलं :
 प्रोक्तापि सती प्रतिपत्तिपराङ्मुखी । उक्तस्यार्थस्यानुष्ठानं प्रतिपत्तिः त-
 पराङ्मुखी । इदानीं यदि त्वं मासे त्रिंशद्विसलक्षणे मां न प्रतिपत्त-
 नाङ्गीकरिष्यसि तदा मर्तासि मरिष्यसि । उभयमपि लुटि रूपम्
 तत्र चिरेण प्रोक्ता इति । 'अपवर्गे तृतीया । २ । ३ । ६ ।' विवक्षितार्थप्र-
 शनं फलं तस्य प्राप्तौ तत्क्रियापरिसमाप्तिरपवर्ग इति । मां मासे न प्रा-
 पत्तास इति 'सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये । २ । ३ । ७ ।' इति सप्तमी । कर्मक-
 कारकयोर्मध्यत्वान् मासस्य ॥ ९५ ॥

प्रायुङ्क्त राक्षसीर्भीमा मन्दिराय प्रतिव्रजन् ।

भयानि दत्त सीतायै सर्वा यूयं कृते मम ॥ ९६ ॥

प्रायुङ्केत्यादि—रावणो राक्षसीर्भीमा भयानकाः प्रायुङ्क्त समादिष्टवान्
 लङि रूपम् । मन्दिराय प्रतिव्रजन् गृहाय प्रतिव्रजन् । 'गत्यर्थकर्म-
 द्वितीयाचतुर्थ्यां चेष्टायामनध्वनि । २ । ३ । १२ ।' इति तु चतुर्थी । प्र-
 प्रवचनीयादेःसूत्रचतुष्टयेनोदाहृतं कर्मप्रवचनीयाधिकार एव दर्शितत्वान्
 किमादिशदित्याह—सर्वा यूयं सीतायै भयानि दत्त । लोटि रूपम्
 'चतुर्थी संप्रदाने । २ । ३ । ३ ।' इति चतुर्थी । संपूज्यादस्य प्रकर्षणं दी-
 इति संप्रदानम् । मम कृते मदनुग्रहनिमित्तम् ॥ ९६ ॥

गते तस्मिन्समाजग्मुर्भयाय प्रति मैथिलीम् ।

राक्षस्यो रावणप्रीत्यै कूरं चोचुरलं मुहुः ॥ ९७ ॥

गत इत्यादि—तस्मिन् रावणे गते सति राक्षस्यः समाजग्मुः मन्म-
 चागताः । 'समो गन्वृच्छिभ्याम् । १ । ३ । २९ ।' इत्यान्मनेपदं न भवति, अत्र
 व्यवहित्वान् । मैथिलीं प्रति लक्ष्यीकृत्य भयाय सीतायै भयं दातुम् ।
 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः । २ । ३ । १४ ।' इति चतुर्थी । इदं
 क्रियार्थोपपदस्य स्थानिनः प्रयुज्यमानस्य भयं कर्म । क्रिया चात्र मन्म-
 गमः । तत्रोपपदं क्रियार्थमिति कूरं भयानकम् । मुहुः प्रतिशङ्कम् अर्थं पर्यवर्तते

इत्यन्यः । रावणप्रीत्यै रावणस्यैवं प्रीतिः स्यादिति । 'तुमर्थाच्च भाव-
रानान् । २।३।१५।' इति चतुर्थी । क्रियायां क्रियार्थायामिति तुमुना
गानार्थवान् । 'भाववचनाश्च । ४।३।११।' इत्यनेन विहितस्य क्तिनः क्रियार्थम् ।
एदं कुरामिधानम् ॥ ९७ ॥

रावणाय नमस्क्रुर्याः स्यात्सीते स्वस्ति ते ध्रुवम् ।

अन्यथा प्रातराशाय कुर्यामं त्वामलं वयम् ॥ ९८ ॥

रावणायेत्यादि—हे सीते ! रावणाय नमस्क्रुर्या रावणं नमस्कुरु । एवं च
ते तुभ्यं स्वस्ति कल्याणं ध्रुवं स्यात् । युष्मच्छब्दस्य चतुर्थ्यैकवचनान्तस्य ते
देशः । 'नमस्कृत्वा' इति पाठान्तरम् । तत्र नमस्कृत्वा स्थितायै तुभ्यमित्यध्या-
य योज्यम् । अन्यथा ह्यसमानकर्तृकत्वान् क्त्वाप्रत्ययो न घटते । 'नमस्कृत्य'
त पाठान्तरम् । साक्षात्प्रभृतिषु नमःशब्दस्य विकल्पेन गतिसंज्ञा । गत्यभावपक्षे
त्यं गतिरमासाभावे ल्यत्रादेशः । 'नमस्पुरसोर्गत्योः । ८ । ३ । ४० ।' इति
सर्जनीयस्य सकारादेशश्च न संभवतीति । अन्यथेति यदि न नमस्क्रुर्याः तदा
लं प्रातराशाय प्रातर्भोजनाय त्वां कुर्याम वयमित्यूचुः । 'नित्यं डित्तः
। ४।९९।' इति सलोपः । रावणायेत्यादिषु 'नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलं वषड्-
गाच्च । २।३।१६।' इति चतुर्थी ॥ ९८ ॥

तृणाय मत्वा ताः सर्वा वदन्तीस्त्रिजटावदत् ।

आत्मानं हत दुर्वृत्ताः स्वमांसैः कुरुताशनम् ॥ ९९ ॥

तृणायेत्यादि—अथानन्तरं राक्षसीर्वदन्तीः त्रिजटा रावणस्वसा अवदत्
कथंती । तृणाय मत्वा तृणमिव संगणय्य । 'मन्यकर्मण्यनादरे विभाषा-
णिषु । २।३।१७।' इति चतुर्थी । तत्र 'कुत्सितग्रहणं कर्तव्यम्' इत्युक्तम् ।
सा भून् तृणं मत्वेति । किमवदत् आत्मानं हत मारयत् । दुर्वृत्ताः दुरा-
राः । स्वमांसैः कुरुताशनमिति करणे तृतीया ॥ ९९ ॥

१ अत्र 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्वलीयसी ।' इति कर्मणि द्वितीयैव
प्रति प्राप्ता, तथाऽपि तस्यापवादभूतेन 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः।
। ३। ५४' इति शास्त्रेण चतुर्थ्यैव । तथा च 'नृसिंहाय नमस्कृत्य' इत्यादिवत् ।
तृणाय' इत्यत्रापि रावणं प्रसादायितुमित्यर्थविवक्षया तुमर्था चतुर्थी । न तु यथा
तस्यादा 'नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलं वषड्योगाच्च २ । ३ । १६' इति शास्त्रेण
तृतीयानभिप्रयतोक्ता चतुर्थीति बोध्यम् । २ एतस्मिन् पक्षे 'नमः' इति पृथक्,
स्वहा' इति च पृथक् पदम् । ३ 'नमस्कृत्य' इति पाठान्तरेऽपि तुमर्थैव चतुर्थी ।

किमर्थमेवमाहेत्याह—

अद्य सीता मया दृष्टा सूर्यं चन्द्रमसा सह ।

स्वप्ने स्पृशन्ती मध्येन तनुः श्यामा सुलोचना ॥ १०० ॥

अद्येत्यादि—स्वप्ने मया अद्य सीता दृष्टा । कर्तारि तृतीया । सूर्यं चन्द्रमसा सह । सहयोगे 'सहयुक्तेऽप्रधाने २।३।१९।' इति तृतीया । सूर्यं मसाविति रामलक्ष्मणाविति भावः । मध्येन तनुः तन्वी । 'इत्थंभूतलक्षः १२१।' इति तृतीया । 'वोतेः गुणवचनात् १।४।१।४४।' इति जीवभावपक्षेः श्यामा वर्णेन । सुलोचना शोभननेत्रा ॥ १०० ॥

तास्तया तर्जिताः सर्वा मुखैर्भीमा यथागतम् ।

ययुः सुषुप्तवस्तल्पं भीमैर्वचनकर्मभिः ॥ १०१ ॥

ता इत्यादि—ता राक्षस्यस्तया त्रिजटया तर्जिता भर्त्सिताः । सुषुप्तुमिच्छवस्तल्पं शयनीयं ययुर्गताः । यथागतं यतो यतस्तल्पादुत्था 'यथाऽसादृश्ये । २ । १ । ७ ।' इति वीप्सायामव्ययीभा मुखैर्भीमा रौद्राः मुखानां विकृतत्वान् । 'येनाङ्गविकारः १।३।२०।' तृतीया । भीमैर्वचनकर्मभिः उपलक्षिताः । इत्थंभूते तृतीया ॥ १०१

गतासु तासु मैथिल्या संजानानोऽनिलात्मजः ।

आयातेन दशाऽऽस्यस्य संस्थितोऽन्तर्हितश्चिरम् ॥ १०२ ॥

गतास्वित्यादि—तासु राक्षसीषु गतासु । अनिलात्मजो हनुमान संकथां प्रास्तावति' इति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । मैथिल्यां संजानान् सेत्यवगच्छन् । 'संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि १।३।२१।' इति कर्मणि तृ 'संप्रतिभ्यामनाद्यान्ते १।३।४६।' इति तद्ध् । दशास्यस्यायातेनागमनेन चिरमन्तर्हितो निर्लीनः स्थितः । 'हेतौ १।३।२३।' इति तृतीया ॥ १०२

ऋणाद्बद्ध इवोन्मुक्तो वियोगेन क्रतुद्विषः ।

हेतोर्वोधस्य मैथिल्याः प्रास्तावीद्रामसंकथाम् ॥ १०३ ॥

ऋणादित्यादि—ऋणाद्हेतोर्वद्धः इवोन्मुक्तो यथा स्थानान्तरं गतः 'अकर्तव्ये पञ्चमी । २।३।२४।' इति पञ्चमी । ऋणस्याकर्तृहेतुत्वान् । वन्धित इवेति नोक्तम् । अप्रयोजनकर्तृत्वाद्दण्ड्य । उन्मुक्तः क्रतुद्विषो ग वियोगेन विरूपेण । 'विभाषा गुणेऽत्रियाम् । २ । ३ । २५ ।' इति पञ्

प्राप्तता न पञ्चमी । वियोगस्य गुणपदार्थत्वात् । किमिति संकथां प्रास्ता-
 दित्याह—हेतोर्वोधस्य मैथिल्याः । एष रामदूत इति मैथिल्या बोधो-
 वगमः स्यात् । 'पष्टी हेतुप्रयोगे ॥२३॥२६॥' इति बोधशब्दस्य पष्टी ।
 न गन्तादीदिति 'स्तुमुधूञ्च्यः परस्मैपदेषु ॥७१॥७२॥' इतीट् । 'नेटि ॥७१॥१४॥'
 इति हलन्तलक्षणाया वृद्धेः प्रतिषेधोः नेगन्तलक्षणायाः ॥ १०३ ॥

तं दृष्ट्वाऽचिन्तयत्सीता हेतोः कस्यैव रावणः ।

अवरुह्य तरोरारादिति वानरविग्रहः ॥ १०४ ॥

तमित्यादि—तं हनूमन्तं रामं स्तुवन्तं दृष्ट्वा सीता अचिन्तयत् । कस्य
 षोः एष रावणो वानरविग्रहः सन् ऐति आयाति । आङ्पूर्वस्थेणो रूपम् ।
 'वर्नाप्ररुतीया च ॥२३॥२७॥' इति पष्टी । किंशब्दस्य सर्वनामत्वात् ।
 'रान् अन्विके । तरोरिति 'अन्यारादितरतेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्त ।
 '॥२३॥२९॥' इत्याराच्छब्दयोगे पञ्चमी । अवरुह्यावतीर्येति । अवरोहणापे-
 द्या घषादाने पञ्चमी । अपेक्षया यौगपद्याभावात् । 'उपपदविभक्तेः
 'परिफलिभक्तिर्वलीयसी' इति आराद्योगे न वर्तते ॥ १०४ ॥

पूर्वमादन्यवद्भाति भावाद्दशरथि स्तुवन् ।

ऋते क्रौर्यात्समायातो मां विश्वासयितुं नु किम् ॥ १०५ ॥

पूर्वमादित्यादि—पूर्वस्माद्रावणादन्यवद्भाति ज्ञायते । अन्येन तुल्यं वर्तते
 ति कृत्या अन्यशब्दयोगे पञ्चमी । यतो भावान् स्नेहादाशरथिं स्तुवन् ।
 नु क्रौर्यादृते क्रौर्यं वर्जयित्वा । ऋतेशब्दयोगे पञ्चमी । मां विश्वासयितुं
 भावयितुं किमागत इत्यचिन्तयत् ॥ १०५ ॥

इतरां रावणादेप रावणाऽनुचरो यादि ।

सफलानि निमित्तानि प्राक्प्रभातात्ततो मम ॥ १०६ ॥

इतर इत्यादि—यदि रावणादितरः प्रतियोगी राववानुचरः राववार्थकारी ।
 तस्योपे पञ्चमी । ततो मम सफलानि स्वप्रलक्षणानि दर्शनादीनि निमि-
 त्तानि । प्राक् प्रभातान् आदित्योदयात्पूर्वमिन् काले । अन्यस्य हि प्रभाता-
 न्तरकाले सफलानि । अञ्चूत्तरपद्योगे पञ्चमी ॥ १०६ ॥

उत्तराहि वसन् रामः समुद्राद्रक्षमां पुरम् ।

अंशुवणतोयस्य स्थितां दक्षिणतः कथम् ॥ १०७ ॥

उत्तराहीत्यादि—रामदूतोऽयमिति न संभाव्यते । यतः समुद्रादुत्तरा
दिक् तस्यामुत्तराहि वसन् रामः। 'आहि च दूरे। ५।३।३७।' इत्यनुवृत्य उत्तर
५।३।३५।' इत्याहि । तत्राहिप्रत्ययान्तेन उत्तराहिशब्देन योगे समुद्रादि
पञ्चमी । लवणतोयस्य लवणसमुद्रस्य दक्षिणतो दक्षिणस्यां दिशि नि
रक्षसां पुरीं लङ्कां कथमवैर्षं ज्ञातवान् । दक्षिणत इति 'दक्षिणोत्तरा
मतसुचू । ५।३।३८।' तदन्तेन योगे 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन । २।३।३३
इति षष्ठी ॥ १०७ ॥

दण्डकान्दक्षिणेनाऽहं सरितोऽद्रीन्वनानि च ।

अतिक्रम्याऽम्बुधिं चैव पुंसामगममाहता ॥ १०८ ॥

दण्डकानित्यादि—दण्डकानामदूरे या दक्षिणा दिक् तस्यामिति ।
वन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः । ५।३।३५।' इति सप्तम्यन्तादेनप् प्रत्ययः
तदन्तेन योगे 'एनपा द्वितीया । २।३।३१।' इति द्वितीया । दक्षिणेन दण्डका
'दक्षिणस्यां दिशि । सरितोऽद्रीन् वनानि च अम्बुधिं चातिक्रम्य पुंसाम
'गम्यम् । 'ग्रहवृद्धानिश्चिगमश्च । ३।३।५८।' इत्यप् । अहमाहता आर्ता
तत्कथमवैर्ष्यचिन्तयन् ॥ १०८ ॥

पृथग् न भस्वतश्चण्डाद्वैनतेयेन वा विना ।

गन्तुमुत्सहते नेह कश्चित्किमुत वानरः ॥ १०९ ॥

पृथगित्यादि—नभस्वतो वातान् चण्डान् पृथक् वायुं त्यक्त्वा ।
तेयेन वा विना गरुडं वा वर्जयित्वा । 'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्
२।३।३२।' इति तृतीयापञ्चम्या । इह लङ्कायां कश्चित् गन्तुं ना
किमुत वानरः ॥ १०९ ॥

इति चिन्तावतीं कृच्छ्रात्समासाद्य कपिद्विपः ।

मुक्तां स्तोकेन रक्षोभिः प्रोचेऽहं रामकिङ्करः ॥ ११० ॥

इतीत्यादि—एवमुक्तेन प्रकारेण चिन्तावतीं कपिद्विपो हनुमद
कृच्छ्रात्समासाद्य कथमप्युपगम्य । अहं रामकिङ्करः रामप्रेमपङ्कजः
प्रोचे । मुक्तां स्तोकेनाल्पेन रक्षोभिः कर्तृभिः । 'करणे च स्तोकात्पु
कतिपयस्यान्तत्त्ववचनस्य । २।३।३३।' इति तृतीयापञ्चम्या । कृच्छ्रात्समा
सत्त्ववचनयोः करणत्वान् ॥ ११० ॥

चदि त्वं रामकिङ्करः कासावित्याह—

विप्रकृष्टं महेन्द्रस्य न दूरं विन्ध्यपर्वतात् ।

नाऽनभ्याशे समुद्रस्य तव माल्यवति प्रियः ॥ १११ ॥

चिंप्रत्यादि—माल्यवति पर्वते तत्र प्रियो रामः महेन्द्रस्य पर्वतस्य विप्रकृष्टं एम् । विन्ध्यपर्वताच्च न दूरम् । 'दूरान्तिकार्थैः पष्ठयन्यतरस्याम् । २।३।३४।' इति पष्ठीपथम्या । महेन्द्रपर्वतविन्ध्ययोर्दूरविप्रकृष्टयोस्तु 'दूरान्तिकार्थेभ्यो लीया च । २।३।३५।' इति द्वितीया । नानभ्याशे न दूरे समुद्रस्य । 'गन्तिकार्थैः पष्ठयन्यतरस्याम् । २।३।३४।' इति पष्ठी । माल्यवति 'सप्त-
प्रधिकरणे च । २।३।३६।' इति सप्तमी । चकारादूरान्तिकार्थेभ्यश्च । तेनान-
याश इति सप्तमी ॥ १११ ॥

असंप्राप्ते दशग्रीवे प्रविष्टोऽहमिदं वनम् ।

तस्मिन्प्रतिगते द्रष्टुं त्वामुपाक्रंस्यचेतितः ॥ ११२ ॥

असमित्यादि—दशग्रीवे दशवदने असंप्राप्ते अप्रविष्टे अहमचेतितः सन्
दं वनमशोकवनिकाख्यं प्रविष्ट इति । तस्मिन् प्रतिगते त्वां द्रष्टुमुपाक्रंसि
उमुन्मष्टं स्म । 'यस्य च भावेन भावलक्षणम् । २ । ३ । ३७ ।' इति सप्तमी ।
अपेः प्रवेशोपक्रमयोः रावणसंप्राप्तिप्रतिगमनक्रियाभ्यां लक्ष्यमाणत्वात् । उपक्रं-
तीति 'उपपराभ्याम् । १।३।३९।' इत्यनेन वृत्त्यादिषु सर्ग उत्साहे क्रमेस्तद्-
इत्तमपुरुरूपकवचनम् । 'स्तुक्रमोरनात्मनेपदानिमित्ते । ७ । २ । ३६ ।' इति ।
मिच एह न भवति ॥ ११२ ॥

यथादावेव प्रविष्टोऽसि तर्हि किमिति स्वकर्म न दर्शितवानसीत्याह—

तस्मिन्वदति रुष्टोऽपि नाऽकार्पं देवि विक्रमम् ।

अविनाशाय कार्यस्य विचिन्वानः परापरम् ॥ ११३ ॥

तस्मिन्नित्यादि—हे देवि ! तस्मिन् वदति रुष्टोऽपि विक्रमं नाकार्पं तं तथा
इदन्तमनादृत्य विक्रमं नाकार्पमित्यर्थः । 'पष्ठी चानादेरे । २।३।३८।' इति
पकारात्सप्तमी । किमर्थम्—कार्यस्य संदेशकथादेरेविनाशाय । विचिन्वानः परापरं
पैर्पार्थ निरूपयन् । कर्त्रभिप्राये तद् ॥ ११३ ॥

यथं वानरस्त्वं तस्य किङ्कर इत्याह—

वानरेषु कपिः स्वामी नरेष्वधिपतेः सखा ।

जातो रामस्य सुग्रीवस्ततो दूतोऽहमागतः ॥ ११४ ॥

वानरेष्वित्यादि--वानरेषु स्वामी यः कपिः सुग्रीवः स नरेष्वधिपतेः
रामस्य सखा जातः । 'स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च ।२।३।३९'
इति षष्ठीसप्तम्योर्विधानात् सप्तम्युदाहृता । ततोऽहं दूत आगतः ॥ ११४ ॥

आगत्य च लङ्कां प्रविश्य इहायात इत्याह--

अथ युग्मम् ।

ईश्वरस्य निशाटानां विलोक्य निखिलां पुरीम् ।

कुशलोऽन्वेषणस्याऽहमायुक्तो दूतकर्मणि ॥ ११५ ॥

ईश्वरस्येत्यादि--निशाटानां राक्षसानामीश्वरस्य दशाननस्य । अत्र षष्ठ्या
उदाहृता । पुरीं निखिलां निःशेषां विलोक्य किं तत्र वर्तते इति । प्राप्त इ
वक्ष्यमाणेन संबन्धः । कुशलोऽन्वेषणस्याहं सीताया अन्वेषणस्य निपुण
आयुक्तो दूतकर्मणि दूतक्रियायां व्यापृतः । 'आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम् ।
३।४०।' इति षष्ठीसप्तम्यौ ॥ ११५ ॥

दर्शनीयतमाः पश्यन् स्त्रीषु दिव्यास्वपि स्त्रियः ।

प्राप्तो व्यालतमान्व्यस्यन् भुजङ्गेभ्योऽपि राक्षसान् ॥ ११६ ॥

दर्शनीयेत्यादि--तत्र दिव्यास्वपि स्त्रीषु मध्ये दर्शनीयतमाः स्त्रियः पश्य
द्वयतश्च निर्धारणम् ।२।३।४१।' इति सप्तमी । दर्शनीयतमत्वेन गुणेन प्र
करणत् । भुजङ्गेभ्योऽपि व्यालतमान् हिंस्रान् राक्षसान् व्यस्यन् अपदि
षन् । 'पञ्चमी विभक्ते ।२।३।४२।' इति पञ्चमी । भुजङ्गेभ्यो राक्षसानां विभ
गत् । प्राप्तो देव्याः पादमूलमित्यर्थात् ॥ ११६ ॥

किमवस्थो राम इत्याह--

भवत्यामुत्सुको रामः प्रसितः संगमेन ते ।

मघासु कृतनिर्वापः पितृभ्यो मां व्यसर्जयत् ॥ ११७ ॥

भवत्यामित्यादि--भवत्यां त्वयि उत्सुकः उन्मनाः रामस्ते तव संगमे
प्रसितः प्रसक्तः । 'प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च ।२।३।४४।' इति चकारान्त
प्तमी । मघाभिर्युक्तः कालः तत्समीपे चन्द्रमसो वर्तमानत्वात् । 'नक्षत्रे
युक्तः कालः ।४।२।३।' इत्यण् । तस्य 'लुवविशेषे । ४ । २ । ४ ।' इति लुपि
तस्मिन् काले पितृभ्यः कृतनिर्वापः दत्तदानः मां व्यसर्जयत् । 'नक्षत्रे च
लुपि ।२।३।४५।' इति सप्तमी । तत्रापि 'लुपि युक्तवद्वयक्तिवचने । १ । १ ।

५१।' इति खोलिङ्गबहुवचने भवतः । व्यसर्जयदिति विपूर्वकात्सर्गव्दात्
'प्रातिपदिकाद्भात्वर्थे बहुलमिष्टवच्च' इत्यनेन णिचि लङि-रूपम् ॥ ११७ ॥

संदेहनिवृत्त्यर्थं चाभिज्ञानं दर्शयन्नाह—

अयं मैथिल्यभिज्ञानं काकुत्स्थस्याऽङ्गुलीयकः ।

भवत्याः स्मरताऽत्यर्थमर्पितः सादरं मम ॥ ११८ ॥

अयमित्यादि—काकुत्स्थस्यायमङ्गुलीयकोऽभिज्ञानं चिह्नमयमभिज्ञानमिति
लिङ्गाधिक्ये प्रातिपदिकमात्रे प्रथमा । मैथिलीति संबोधनादिके 'संबोधने च । २।
३।४।७' इति प्रथमा । सामन्त्रितं संबुद्धिश्चात्रैव द्रष्टव्यम् । काकुत्स्थस्येति 'षष्ठी
शेषे । २।३।५०।' इति षष्ठी । भवत्या अत्यर्थं स्मरता सादरमर्पितम् । 'अधी-
नार्थदयेशां कर्मणि । २ । ३ । ५२ ।' इति स्मरणार्थं कर्मणः शेषत्वविवक्षायां
षष्ठी ॥ ११८ ॥

रामस्य दयमानोऽसावध्येति तव लक्ष्मणः ।

उपास्कृषातां राजेन्द्रावागमस्येह मा त्रसीः ॥ ११९ ॥

रामस्येत्यादि—असौ लक्ष्मणो रामस्य दयमानो रामं रक्षन् शुचं मा कार्षी-
रिति । दयतेः कर्मणि षष्ठी । तवाध्येति त्वां स्मरति । 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि-
२।३।५२' इति षष्ठी । आश्वासनार्थमाह—मा त्रसीः उद्वेगं मा कार्षीः । त्रसे-
रीदित्त्वान्निष्ठायामिदप्रतिषेधान् सिच इट् भवति । यतो राजेन्द्रौ रामलक्ष्मणौ ।
इहागमस्यागमनस्य । भावे अप् । उपास्कृषातां प्रतियत्नं कृतवन्तौ । आगमनस्य
निश्चितत्वात् तस्यैव सुग्रीवसख्येन गुणाधानात्, तेन 'कृञ्ः प्रतियत्ने । २।३।५३।'
इति कर्मणि षष्ठी । प्रतियत्ने लुङ् तङ् सुट् ॥ ११९ ॥

रावणस्येह रोक्ष्यन्ति कपयो भीमविक्रमाः ।

धृत्या नाथस्व वैदेहि मन्योरुज्जासयाऽऽत्मनः ॥ १२० ॥

रावणस्येत्यादि—इह लङ्कायां कपयो भीमविक्रमाः असह्यपराक्रमाः राव-
णस्य रोक्ष्यन्ति सरोरं रावणं करिष्यन्ति । भीमविक्रमा इति गुणप्रधानो निर्दे-
शः । ततश्च विक्रमे रुजः भावकर्तृकत्वात् रुजार्थानाम् 'भाववचनातामज्वरेः ।
२ । ३ । ५४ ।' इति षष्ठी । अतो हे वैदेहि ! धृत्या नाथस्व आशंसस्व धृतिं
लभस्वेत्यर्थः । 'आशिषि नाथः । २।३।५५।' इति कर्मणि षष्ठी । 'आशिषि नाथ
इति वाच्यम्' इति तङ् । मन्योरुज्जासयात्मनो मन्युं नाशय । 'जसु ताडने'

चौरादिकस्य हिंसार्थत्वात्तेन 'जासिनिप्रहर्णनाटकाथपिषां हिंसायाम् । २ । ३ । ५६ ।' इति कर्मणि षष्ठी ॥ १२० ॥

राक्षसानां मयि गते रामः प्रणिहनिष्यति ।

प्राणानामपणिष्टायं रावणस्त्वामिहानयन् ॥ १२१ ॥

राक्षसानामित्यादि---मयि गते रामो राक्षसानां प्रणिहनिष्यति. राक्षसान् मारयिष्यति । पूर्ववत् कर्मणि षष्ठी । 'निप्रहण' इति संघातविगृहीतविपर्यस्तग्रहणमित्युक्तम् । 'नेर्गर्दनदपतपदघुमास्यतिहन्तियातिवातिद्रातिप्सातिवपतिवहतिशास्यतिचिनोतिदेग्धिपु च । ८ । ४ । १७ ।' इति णत्वम् । किंच प्राणानामपणिष्टायमिति अयं रावणस्त्वामिहानयन् प्राणानपणिष्ट-विक्रीतवान् । 'व्यवहृणोः समर्थयोः । २ । ३ । ५७ ।' इति षष्ठी । 'प्राणानामपणायिष्ट' इति पाठान्तरम् । तदयुक्तम्, स्तुत्यर्थस्य षष्ठीस्तत्र ग्रहणात् 'गुपूधूपविच्छिप्रणिपतिभ्य आयः । ३ । १ । २८ ।' इत्यायप्रत्ययो-न भवति ॥ १२१ ॥

अदेवीद्वन्द्वुभोगानां प्रादेवीदात्मसम्पदम् ।

शतकृत्वस्तवैकस्याः स्मरत्यहो रघूत्तमः ॥ १२२ ॥

अदेवीदित्यादि—न केवलं प्राणानपणिष्ट वन्द्युभोगानामदेवीन् वन्द्युभोगान् विक्रीतवान् । 'दिवस्तदर्थस्य । २ । ३ । ५८ ।' इति षष्ठी । दिवो व्यवहारार्थत्वात् । प्रादेवीदात्मसंपदं विक्रीतवान् । 'विभाषोपसर्गे । २ । ३ । ५९ ।' इति पक्षे द्वितीया । प्रशब्देन युक्तत्वात् । रामानुरागं पुनर्दर्शयन्नाह । शतकृत्व इति बहुत्वोपलक्षणार्थम् । 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वमुच् । ५ । ४ । १७ ।' तवैकस्या अहो रघूत्तमः स्मरति । 'अधीगर्थद्वयेशांः कर्मणि । २ । ३ । ५२ ।' इति षष्ठी । अह इति एकस्मिन्नप्यहि । 'कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे । २ । ३ । ६४ ।' इति षष्ठी ॥ १२२ ॥

एवं तामाश्रास्य संदेशं दापयितुमाह—

तवोपशायिका यावद्राक्षस्यश्चेतयन्ति न ।

प्रतिसंदिश्यतां तावद्भर्तुः शार्ङ्गस्य मैथिलि ॥ १२३ ॥

तवेत्यादि—हे मैथिलि ! तवोपशायिका परिपाट्या शयनं याभी राक्षसीभिः सहेत्यर्थत् । 'पर्यायार्हणोत्पत्तिपु ण्वुच् । ३ । ३ । ११ ।' इति ण्वुच् । यावन्न चेतयन्ति न प्रतिबुध्यन्ते तावत् प्रतिसंदिश्यतां प्रतिसंदेशो दीयताम् । शार्ङ्गस्य भर्तुः शार्ङ्गधनुर्धारयतो रामस्य । तत्र शार्ङ्गस्येति यथाक्रमम् 'कर्तृकर्मणोः कृति । २ । ३ । ६५ ।' इति षष्ठी ॥ १२३ ॥

पुरः प्रवेशमाश्रयं बुद्धा शाखामृगेण सा ।

चूडामणिमभिज्ञानं ददौ रामस्य संमतम् ॥ १२४ ॥

पुर इत्यादि—शाखामृगेण मर्कटेन पुरो लङ्कायाः दुष्प्रवेशायाः प्रवेशः
माश्रयमद्भुतं बुद्धा सा सीता चूडामणिमभिज्ञानं ददौ । सर्वमुक्तमस्य
भाव्यत इति । ‘उभयप्राप्तौ कर्मणि २।३।३६।’ इति षष्ठी । प्रवेश इत्युभयप्राप्तौ
ति लङ्का-हनूमतोः कर्मकर्तृत्वात् । रामस्य सम्मतं प्रियम् । ‘मतिबुद्धि-
नार्थेभ्यश्च ॥३।२।१८८।’ इति वर्तमाने निष्ठा । ‘न लोकाव्ययनिष्ठा-
लर्थवृत्ताम् । २।३।६९।’ इति षष्ठीप्रतिषेधे प्राप्ते ‘क्तस्य च वर्तमाने ।
॥३।६७।’ इति षष्ठी ॥ १२४ ॥

रामस्य शयितं भुक्तं जल्पितं हसितं स्थितम् ।

प्रक्रान्तं च मुहुः पृष्ठा हनूमन्तं व्यसर्जयत् ॥ १२५ ॥

रामस्येत्यादि—रामस्य अभिज्ञानं दत्त्वा शयितादिकं मुहुः पृष्ठा हनूमन्तं
प्रसर्जयत् प्रेषितवती । तस्य शयितं शयनस्थानं किं भूमौ शेते अन्यत्रेति
। । भुक्तं भोजनस्थानं किं गृहे भुङ्क्ते मुनिजनगृहे वेति । जल्पितं मन्त्रस्थानं
रहसि मन्त्रयते प्रकाशे वेति । हसितं हसनस्थानं किं शृङ्गारवस्तुनि हसति
रवस्तुनि वेति । स्थितं निवासस्थानं किं गुहायां तिष्ठत्युत तरुतले वेति ।
क्रान्तं प्रचङ्क्रमणस्थानम् । ‘अनुनासिकस्य किञ्चल्लोः किङ्ङिति । ६।४।१५।’ इति
र्षः । किम् अङ्गने क्रम्यते अन्यत्र वेति । एषां ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थत्वात्
तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः ॥३।४।७६।’ इति क्तः । तस्य
योगे ‘अधिकरणवाचिनश्च ॥२।३।६८।’ इति षष्ठी ॥ १२५ ॥

असौ दधदभिज्ञानं चिकीर्षुः कर्म दारुणम् ।

गामुकोऽप्यन्तिकं भर्तुर्मनसाऽचिन्तयत्क्षणम् ॥ १२६ ॥

असावित्यादि—असौ हनूमान् दधत् धारयन्नभिज्ञानं चिह्नम् । ‘कर्तृ-
र्मणोः कृति ॥२।३।६५।’ इति षष्ठ्यां प्राप्तायाम् ‘न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थ-
ताम् ॥२।३।६९।’ इति लप्रयोगे प्रतिषेधः । ल इति शानजादयो गृहीताः ।
ारुणमशोकवनिकाभङ्गादिकं कर्म चिकीर्षुः कर्तुमिच्छुः उकारप्रश्लेषात् षष्ठ्याः
तिषेधः । भर्तुः स्वामिनः अन्तिकं समीपं गामुकोऽपि गमनशीलोऽपि । उक्तप्रयोगे
ऽप्रतिषेधः । मनसा क्षणमचिन्तयत् चिन्तितवान् वक्ष्यमाणं कर्म ॥ १२६ ॥

कृत्वा कर्म यथाऽऽदिष्टं पूर्वकार्याऽविरोधि यः ।

करोत्यभ्यधिकं कृत्यं तमाहुर्दूतमुत्तमम् ॥ १२७ ॥

कृत्वेत्यादि—यो दूतो यथादिष्टं कर्म कार्यं कृत्वा । अत्र कृत्वेत्यन्यप्रयोगे षष्ठीप्रतिषेधः । तत उत्तरकालं पूर्वकर्माविरोधि पूर्वकृतस्य कार्यस्य यदविरोधि तदभ्यधिकं करोति तमुत्तमं दूतमाहुर्विदुर्नीतिविद् इति शेषः । मया च यथादिष्टं सोतान्वेषणं कृतमिति भावः ॥ १२७ ॥

तदेव च दर्शयन्नाह—

वैदेहीं दृष्टवान्कर्म कृत्वाऽन्यैरपि दुष्करम् ।

यशो यास्याम्युपादाता वार्तामाख्यायकः प्रभोः ॥ १२८ ॥

वैदेहीमित्यादि—अहमद्य तावद्वैदेहीं दृष्टवान् । निष्ठाप्रयोगे षष्ठीप्रतिषेधः । अन्यदपि कार्यमितिदुष्करं कृत्वा । खलुप्रयोगे षष्ठीप्रतिषेधः । ततो यश उपादाता । आत्मसात्कर्ता । इदमितिदुष्करं तेन कृतमिति । तृन्नन्तस्य प्रयोगेऽपि तत्प्रतिषेधः । वार्तामाख्यायकः प्रभोर्वार्तामाख्यातास्मीति भविष्यदाधिकारात् 'तुमुष्णुल्लो क्रियायां क्रियार्थायाम् । ३ । ३ । १० ।' इति षुल् 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः । २ । ३ । ७० ।' इति षष्ठीप्रतिषेधः ॥ १२८ ॥

राक्षसेन्द्रस्य संरक्ष्यं मया लव्यमिदं वनम् ।

इति संचिन्त्य सदृशं नन्दनस्याभनक्कपिः ॥ १२९ ॥

राक्षसेत्यादि—इदं वनम शोकवनिाख्यं राक्षसेन्द्रस्य संरक्ष्यं रक्षार्हम् । 'अहं कृत्यतृचश्च । ३ । ३ । १६९ ।' इत्यधिकृत्य 'ऋहलोर्ण्यत् । ३ । १ । १२४ ।' इति ण्यत् । तन्मया लव्य लवनीयम् । 'कृत्यानां कर्तरिवा । २ । ३ । ७१ ।' इति षष्ठीतृतीये कर्तरि भवतः । इत्येवं संचिन्त्य कपिर्नन्दनस्य वनस्य सदृशं तुल्यम् । 'तुल्याधं-रतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम् । २ । ३ । ७२ ।' इति षष्ठे षष्ठी । अभनक् भग्नवान् । भञ्जेर्लडि 'आन्नलोपः । ६ । ४ । २३ ।' इति नलोपे हल्लड्यादिलोपे जश्चे चत्वे च रूपम् ॥ १२९ ॥

राघवाभ्यां शिवं दूतस्तयोरहमिति ब्रुवन् ।

हितो भनज्मि रामस्य कः किं ब्रूतेऽत्र राक्षसः ॥ १३० ॥

राघवाभ्यामित्यादि—राघवाभ्यां रामलक्ष्मणाभ्यां शिवं भद्रस्तु । तयोर्हनूमान् दूतो हितो रामस्य भनज्मीदं वनम् । एवं च क्रियमाणे कौ भवतां मध्ये राक्षसः किं ब्रूते इत्येवं ब्रुवन् । वभञ्ज पवनात्मजो रिपुवन-मिति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । राघवाभ्यां शिवं हितो रामस्येति 'चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः २ । ३ । ६३ ।' इति षष्ठीचतुर्थ्यां ॥ १३० ॥ इति विभक्त्यधिकारः ।

विललितपुष्परेणुकपिशं प्रशान्तकलिकापलाशकुसुमं
कुसुमनिपातचित्रवसुधं सशब्दनिपतद्द्रुमोत्कशकुनम् ।
शकुननिनादनादिककुब्बिलोलविपलायमानहरिणं
हरिणविलोचनाधिवसतिं बभञ्ज पवनात्मजो रिपुवनम् ॥ १३१ ॥

विललितेत्यादि—कीदृशं बभञ्ज । विललितानां पुष्पाणां रेणुभिः कपिशं
ङ्गम् । प्रशान्ता अवसन्नाः कलिकाः पलाशानि पत्राणि कुसुमानि च यत्र ।
सुमानां निपातेन विचित्रा वसुधा यत्र । सशब्देनिपतद्भिर्द्रुमैरुत्का उन्मनसः
कुना यत्र । शकुनानां पलायमानानां निनादेन नादिताः संजातनादाः
कुभो दिशो यत्र । विलोला व्याकुला विपलायमाना हरिणा यत्र ।
रिणस्येव विलोचने यस्याः सीतायाः तस्या अधिवसतिं निवासम् ॥ १३१ ॥

इत्यनभिहिताधिकारः ।

इति श्रीजयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते श्रीभट्टिकाव्ये
द्वितीयेऽधिकारकाण्डे लक्षणरूपे तृतीयः परिच्छेदः,
लक्ष्यरूपे कथानकेऽशोकवनिकामङ्गो
नामाष्टमः सर्गः ।

नवमः सर्गः ।

अथ प्रकीर्णकाः ।

त्रान्तरे प्रकीर्णकश्लोकानाह—

द्रुमङ्गध्वनिसंविन्नाः कुवत्पक्षिकुलाऽऽकुलाः ।
अकार्षुः क्षणदाचर्यो रावणस्य निवेदनम् ॥ १ ॥

द्रुमङ्गेत्यादि—क्षणदाचर्यो निशाचर्यः 'चरेष्टः।३।२।१६।'इति टः। रावणस्य
निवेदनमकार्षुः कृतवत्यः वक्ष्यमाणप्रकारेण । द्रुमङ्गध्वनिसंविन्नाः शाखा-
ङ्गशब्देन संत्रस्ताः । 'ओविजी भय-चलनयोः' 'ओदितश्च । ८ । २ । ३५ ।'
ति निष्ठानत्वम् । कुवत्पक्षिकुलाकुलाः कुवद्भिः कूजाद्भिः पक्षिकुलैराकुला
व्यस्तमानसाः । 'कु शब्दे' आदादिकस्तस्य उवडादेशः ॥ १२ ॥

१ अत्र 'अश्वललितम्' वृत्तम् । 'यदिह नजौ भजौ भजमलगास्तंदाश्वललितं
हरार्कयति तत्' इति तल्लक्षणात् ।

यदताप्सीच्छनैर्भानुर्यत्राऽवासीन्मितं मरुत् ।

यदाप्यानं हिमोस्त्रेण भनत्तयुपवनं कपिः ॥ २ ॥

यदित्यादि—यद्वनं भानुः शनैर्मन्दमताप्सीत् तपति स्म । हलन्त वृद्धिः । मरुत् मितं स्तोकमवासीत् वाति स्म । हिमोस्त्रेण शिशिर आप्यानं वृद्धिं नीतम् । प्यायतेः 'लोपो व्योर्वलि । ६।१।६६।' इति य ओदित्त्वान्नत्वम् । तदुपवनं कपिर्भनक्ति चूर्णयतीति निवेदनमकार्षुः ॥

ततोऽशीतिसहस्राणि किङ्कराणां समादिशत् ।

इन्द्रजित्सूर्वीनाशाय मारुतेः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ३ ॥

तत इत्यादि—निवेदनानन्तरमिन्द्रजित्सूः रावणः । इन्द्रजितं इति 'सत्सूद्विषदुहयुजविदमिदच्छिदीजनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप् । ६१।' इत्यनुपसर्गे क्विप् । मारुतेर्हनुमतो विनाशाय । अशीतिसहस्राणि दिशत् समादिष्टवान् । किङ्कराणां किं कुर्वन्तीति 'दिवाविभानिशोप्र स्करान्तानन्तादिबहुनान्दीकिलिपिलिविलिभक्तिकर्तृचित्रक्षेत्रसङ्घयाजड ह्वर्हयत्तद्वनुररुषु । ३।२।२१।' इति टच् । क्रोधमूर्च्छितः क्रोधोद्धतः । समुच्छ्रये वर्तमानत्वात् ॥ ३ ॥

शक्त्यृष्टिपरिघप्राप्तगदामुद्गरपाणयः ।

व्यश्नुवाना दिशः प्रापुर्वनं दृष्टिविषोपमाः ॥ ४ ॥

शक्तीत्यादि—ते किङ्करा वनं प्रापुः प्राप्तवन्तः । शक्त्यादयः प्र विशेषाः पाणौ येषामिति 'प्रहर णार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवंतः' । व्यश्नु दिशो व्याप्नुवन्तः । 'अशू व्याप्तौ' सौवादिकः । दृष्टिविषोपमा वत् दृष्टयैव विनाशयन्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥

दध्वान मेघवद्भीममादाय परिघं कपिः ।

नेदुर्दाप्तायुधास्तेऽपि तडित्वन्त इवाऽम्बुदाः ॥ ५ ॥

दध्वानेत्यादि—कपिर्भीमं परिघं भयानकमर्गलमादाय मेघवदध्वानं स्म । तेऽपि किङ्कराः तडित्वन्त इवाऽम्बुदा इव । नेदुः नेदन्ति स्म । किङ् कृष्णत्वात् मेघैः सादृश्यम्, आयुधानां च तडितेति ॥ ५ ॥

कपिनाम्भोधिधीरेण समगंसत राक्षसाः ।

वर्षासूद्धततोयौघाः समुद्रेणेव सिन्धवः ॥ ६ ॥

ःपिनेत्यादि—कपिना अम्भोधिधारेणाक्षोभ्यत्वात् । राक्षसाः समगंसत
॥ । 'समो गम्यच्छिभ्याम् । १।३।२९। इति तड् । लुङ् । यथा सिन्धवो
उद्धततोर्यौघाः उद्विक्तजलपूराः समुद्रेण सङ्गच्छन्ते तथा ॥ ६ ॥

लाङ्गूलमुद्धतं धुन्वन्नृद्धहन्परिघं गुरुम् ।

तस्थौ तोरणमारुह्य पूर्वं न प्रजहार सः ॥ ७ ॥

लाङ्गूलमित्यादि—स हनूमान् लाङ्गूलं पुच्छमुद्धतम् उद्विक्तं धुन्वन् । 'धून्
ते' इति स्वादौ पठितः । परिघं गुरुम् उद्धहन् तोरणमारुह्य तस्थौ । न तु
प्रजहार प्रहृतवान्, शूराणां पश्चात् प्रहारित्वात् ॥ ७ ॥ एते प्रकीर्णकाः ।
इतः परं सिचि वृद्धिमधिकृत्याह—

अक्षारिषुः शराम्भांसि तस्मिन्नक्षःपयोधराः ।

न चाऽह्वालीन्नचाऽब्राजीत्रासं कपिमहीधरः ॥ ८ ॥

अक्षारिषुरित्यादि—तास्मिन् वने रक्षःपयोधराः रक्षांसि पयोधरा इव ।
म्भांसि शरान् अम्भांसीव । अक्षारिषुः क्षरितवन्तः । क्षरतिरकर्मकः
'क्षतजवृत्तिः' इत्यादि प्रयोगेषु दृश्यते । इह तु सकर्मको विवक्षितः ।
महीधर इव । न चाह्वालीत् न चलितवान् । द्वयोरपि 'अतो हलादेर्लघोः
२।७।' इति विकल्पे प्राप्ते 'अतो ल्रान्तस्य । ७।२।२।' इति सिचि वृद्धिः ।
न भयं च नाब्राजीत् न जगाम । महीधरतुल्यत्वात् । 'नेटि । ७।२।४।'
प्रतिषेधस्य 'अतो हलादेर्लघोः । ७।२।७।' इति विकल्पिते, 'वद्व्रज-
न्तस्याचः । ७।२।३।' इति वृद्धिः ॥ ८ ॥

अवादीत्तिष्ठतेत्युच्चैः प्रादेवीत्परिघं कपिः ।

तथा यथा रणे प्राणान्वहूनामग्रहीद्विषाम् ॥ ९ ॥

अवादीदित्यादि—तत उत्तरकालं कपिस्तिष्ठत मा पलायध्वमिति उच्चैस्ता-
दीत् । पूर्ववद्वृद्धिः । तथा तेन प्रकारेण परिघं परिघेण प्रादेवीत् विजिगीषते
। 'दिवः कर्म च । १।४।४३।' इति परिघस्य कर्मसंज्ञा । दिवेः 'नेटि
२।४।' इति वृद्धिप्रतिषेधः । यथा बहूनां द्विषां शत्रूणां प्राणान्वग्रहीत्
गृहीतवान् । 'अतो हलादेर्लघोः । ७।२।७।' इति विकल्पे प्राप्ते 'ह्यन्तक्षण-
जागृणिश्वेदिताम् । ७।२।५।' इति प्रतिषेधः ॥ ९ ॥

व्रणैरवमिषू रक्तं देहैः प्रौर्णाविषुर्भुवम् ।

दिशः प्रौर्णाविषुश्चान्ये यातुधाना भवद्भियः ॥ १० ॥

ब्रणैरित्यादि--यातुधाना राक्षसा ब्रणैः प्रहारमार्गैः रक्तं शोणितम्
चमन्ति स्म । 'ह्यन्तक्षणश्चसजागृणिश्येदिताम् । ७ । २ । ५ ।' इति वृद्धिप्रति
देहैर्भुवं प्रौर्णाविषुः छादितवन्तः । अन्ये यातुधानाः भवद्भियः ।
भीर्येषामिति भयात्पलायमानाः । दिशः प्रौर्णाविषुः छादितवन्तः ।
'विभाषा । ७ । २ । ६ ।' इति विकल्पः । उर्णोतेः 'विभाषोर्णोः । १ । २ । ३ ।'
त्वपक्षे द्रष्टव्यः, डित्त्वे गुणवृद्धिप्रतिषेधात् ॥ १० ॥

अरासिषुश्च्युतोत्साहा भिन्नदेहाः प्रियासवः ।

कपेरत्रासिषुर्नादान्मृगाः सिंहध्वनेरिव ॥ ११ ॥

इति सिचि वृद्धयधिकारः ।

अरासिषुस्त्रित्यादि--च्युतोत्साहाः निरुत्साहाः अरासिषुः मृताः स
शब्दितवन्तः । यतः प्रियासवः प्रियप्राणाः । कपेः संबन्धिनो नादात्त्र
त्रस्ताः । 'उभयत्रापि नेटि । ७ । २ । ५ ।' इति प्रतिषिद्धे 'अतो हला
७ । २ । ७ ।' इति विकल्पः ॥ ११ ॥

इति सिचि वृद्धयधिकारः ॥

इत इट्प्रतिषेधमधिकृत्याह-

मायानामीश्वरास्तेऽपि शस्त्रहस्ता रथैः कपिम् ।

प्रत्याववृतिरे हन्तुं हन्तव्या मारुतेः पुनः ॥ १२ ॥

मायानामित्यादि--अथानन्तरं राक्षसा ये दिशो गताः ते कपिं हन्तुं
पुनः प्रत्याववृतिरे प्रतिनिवृत्ताः । मायानामीश्वराः प्रभवः । 'स्थेशभासी
सकसो वरच् । ३ । २ । १७५ ।' इति वरच् । 'नेड्वाशि कृति । ७ । २ । ८ ।' इति
नेट् । 'आर्धधातुक-७ । २ । ३५ ।' इत्यादिना प्राप्तत्वात् । रथैस्तत्र गताः सन्तः
शस्त्रहस्ताः शस्त्राणि हस्तेषु येषामिता 'हनि-कुश' इत्यादिना रमेराणादिः
कथन् । रथाः । 'अमि-चमि' इत्यादिना शसेरौणादिकस्त्रन् । 'हसिमृग
इत्यादिना हसेस्तन् । तयोः 'तितुत्रतथ-८ । २ । ९ ।' इत्यादिना इट्प्रतिषेधः
हन्तव्या मारुतेरिति हनुमतो वधार्हाः । 'कृत्यानां कर्तारि वा । २ । ३ । ७ । १ ।'
पष्ठी । 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् । ७ । २ । १० ।' इतीट्प्रतिषेधः । हन्तेर्नान्तः
निट्त्वात् ॥ १२ ॥

तांश्चेतव्यान् क्षितौ श्रित्वा वानरस्तोरणं युतान् ।

जघानाऽऽधूय परिधं विजिवृक्षन्समागतान् ॥ १३ ॥

नित्यादि--समुद्रिता एकस्यामेव वेलायां भया हन्तव्या इति वानर-
गमाश्रितवान् । स तोरणं श्रित्वा तान् राक्षसान् विजिघृक्षन् विग्र-
मेच्छन् । युतान् समुदितान् । समागतान् ढौकितान् । क्षिती पृथिव्यां
गान् पुञ्जीकर्तव्यान् । जघान 'हत्तवान् । परिघमाधूय परिभ्राम्य । तत्र
गानिति 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्-७ । २ । १० ।' इतीट्प्रतिषेधः ।
विति । 'क्विचूक्तौ च संज्ञायाम् । ३ । ३ । १७४ ।' इति
। 'तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च । ७ । २ । ९ ।' इतीट्प्रतिषेधः । श्रित्वा
नेति 'श्रयुकः किति । ७ । २ । ११ ।' इति इट्प्रतिषेधः । विजिघृक्षू-
'सनि ग्रहगुहोश्च । ७ । २ । १२ ।' इति । तत्र 'रुदविदमुषग्रहि-
मच्छः संश्च । १ । २ । ८ ।' इति सनः कित्त्वं 'ग्राहिव्या वयिव्यधि-
वचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां डिति च । ६ । १ । १६ ।' इति संप्रसा-
दत्वक्तवषत्वानि ॥ १३ ॥

जुघुक्षव आर्यूषि ततः प्रतिरुरुषवः ।

।वणाऽन्तिकमाजगमुर्हतशेषा निशाचराः ॥ १४ ॥

जुघुक्षव इत्यादि--तत उत्तरकालं ये हतशेषा निशाचराः ते संजुघु-
आर्यूषि जीवितानि गोहितुमिच्छवः । गुहेः पूर्ववत्प्रतिषेधः । रावणा-
माजगमुः आगताः । प्रतिरुरुषवः वक्ष्यमाणमर्थं कथयितुमिच्छवः ।
षि पूर्ववत्प्रतिषेधः । तत्र चकारेणोगन्तानां सनि समुच्चितत्वात् ॥ १४ ॥

एकेन बहवः शूराः साविष्काराः प्रमत्तवत् ।

।मुख्यं चकृमेत्युच्चैरुचुर्दशमुखान्तिके ॥ १५ ॥

केनेत्यादि--वयं बहवः शूराः साविष्काराः साहंकारा अपि सन्तः एके-
। कपिना हेतुभूतेन वैमुख्यं चकृम पराङ्मुखत्वमनुष्ठितवन्तः प्रमत्तवत्
। नमत्ता इव । एवं च चित्तव्याक्षेपादुत्तमपुरुषे लिटि कृते 'कृसृभृवृ-
सृश्रुवा लिटि । ७ । २ । १३ ।' इतीट्प्रतिषेधः नियमित इति । एवं दश-
न्तिके उच्चैरुचुः ॥ १५ ॥

मांसोपभोगसंशूनानुद्विग्रांस्तानवेत्य सः ।

उद्वृत्तनयनो मित्रान्मन्त्रिणः स्वान्वयसर्जयत् ॥ १६ ॥

।सेत्यादि--स दशमुखस्तानुद्विग्नान् भीतानवेत्य ज्ञात्वा स्वानात्मी-
। मन्त्रिणो व्यसर्जयत् प्राहिणोत् । कीदृशांस्तान् । मांसोपभोगसंशूनान्

मांसोपभोगेन स्थूलवर्मणः । उभयत्रापि । ‘श्रीदितो निष्ठायाम् । ७
१४ ।’ इतीट्प्रतिषेधः । तत्र श्वयतेर्यजादित्वात् संप्रसारणम् ‘हलः । ६
२ ।’ इति संप्रसारणस्य दीर्घः । द्वयोरप्योदित्त्वान्निष्ठानत्वम् । उदूत्त
रोषात् निष्क्रान्ततारकः । ‘यस्य विभाषा । ७ । २ । १५ ।’ इतीट्प्रति
वृत्तेरुदित्वात् । मित्रान् स्निग्धान् मन्त्रिणः । ‘ओदितश्च । ७ । २ । १६ ।’ इतीट्प्रा
‘रदाभ्यां निष्ठातो नः । ८ । २ । ४२ ।’ इति निष्ठानत्वम् ॥ १६ ॥

प्रमेदिताः सपुत्रास्ते सुस्वान्ता वाढविक्रमाः ।

अम्लिष्टनादा निरगुः फाण्टचित्रास्त्रपाणयः ॥ १७ ॥

प्रमेदिता इत्यादि—ते मन्त्रिणः सपुत्राः पुत्रैः सह निरगुः नि
‘इणो गा लुङि । २ । ४ । ४५ ।’ प्रमेदिताः स्निग्धीभवितुमारव्याः ।
कर्मणि निष्ठा । ततो ‘विभाषा भावादिकर्मणोः’ इति प्रतिषेधः ।
‘निष्ठा शीङ्स्विदिमिदिस्विदिधृषः । १ । २ । १९ ।’ इति कित्त्वप्रा
गुणः । सुस्वान्ताः स्वामिनि कल्याणमनसः । वाढविक्रमाः भृशपरा
अम्लिष्टनादाः विस्पष्टवाचः मन्त्रिणां वाग्मित्वात् । फाण्टचित्रास्त्र
यदशृतमपिष्टं कषायमुदकसंपर्कमात्राद्विभक्तकरसम् ईषदुष्णं तदल्पप्रयास
त्वात् अनायाससाध्यं फाण्टमित्युच्यते तेन चित्राणि रञ्जितानि ।
पाणौ येषामिति । स्वान्तादयः ‘क्षुब्धस्वान्तध्वान्तलग्नम्लिष्टविरिद्ध
वाढानि मन्थमनस्तमःसक्ताविस्पष्टस्वरानायासभृशेषु । ७ । २ । १८
निपातिताः ॥ १७ ॥

अथ द्वाभ्यां युगम् ।

तान्दृष्ट्वाऽतिदृढान्धृष्टान् प्राप्तान्परिवृढाज्ञया ।

कष्टं विनर्दतः क्रूरान् शस्त्रघुष्टकरान्कपिः ॥ १८ ॥

तानित्यादि—तान् दृष्ट्वा कपिः आर्दिददिति वक्ष्यमाणेन सं
किंभूतान् धृष्टान् । धृष्णोतीति धृष्टः । ‘धृपिशसी वैयात्ये । ७ ।
इतीट्प्रतिषेधः । अतिदृढान् बलवतः । ‘दृढः स्थूलबलयोः । ७ । २
इति निपातनम् । परिवृढाज्ञया परिवृढस्य प्रभोराज्ञया प्राप्तान्
परिवृढः । ७ । २ । २१ ।’ इति निपातनम् । कष्टं विनर्दतः
ध्वनतः । गम्भीररवं वा । ‘कृच्छ्रगहनयोः कपः । ७ । २ । २२ ।’ इ
तिषेधः । क्रूरान् हिंस्रान् । शस्त्रघुष्टकरान् । ‘घुपिरविशब्दने । ७ । २ ।
इतीट्प्रतिषेधः ॥ १८ ॥

अव्यर्णो गिरिकूटाभानभ्यर्णानार्दिदद्दुतम् ।
वृत्तशस्त्रान्महाऽरम्भानदान्तांस्त्रिदशैरपि ॥ १९ ॥

अव्यर्ण इत्यादि—अव्यर्णोऽपीडितः । ‘अर्देः संनिविभ्यः । ७ । २ । २४’
इत्प्रतिषेधः । गिरिकूटाभान् महागिरिसदृशप्रमाणान् । अभ्यर्णानवि-
न् । ‘अभेश्चाविदूयै । ७ । २ । २५’ इतीदृप्रतिषेधः । द्रुतमार्दिदत् हिंसि-
न् । अर्देः स्वार्थिकण्यन्तस्य लुङि रूपम् । वृत्तशस्त्रोऽधीतशस्त्रवि-
 । ‘णेरध्ययने वृत्तम् । ७ । २ । २६’ इति इडभावो णिलुक् च निपा-
 । महारम्भान् अनल्पव्यापारान् । त्रिदशैरप्यदान्तान् अशमितान् ।
दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टच्छन्नज्ञप्ताः । ७ । २ । २७’ इतीडभावो णिलुक्
निपात्यते ॥ १९ ॥

दमितारिः प्रशान्तौजा नादापूरितादिङ्मुखः ।
जघान रुषितो रुष्टांस्त्वरितस्तूर्णमागतान् ॥ २० ॥

दमितारिरित्यादि—ये तु प्रशान्तौजसः शमितबलाः सन्तो रुष्टाः
मागताः तान् कपिर्जघान व्यापादितवान् । प्रतापाहाम्यन्तोऽरयो
दमिता येन दमितारिः । प्रशान्तं शत्रूणामोजो येन स प्रशान्तौजाः ।
नादापूरितादिङ्मुखः तस्य हृष्टत्वात् । रुषितः क्रुद्धः । त्वरितः ससंभ्रमः ।
अत्र दमितप्रशमितपूरिताः ण्यन्ताः ‘वा दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टच्छन्न-
ज्ञप्ताः । ७ । २ । ३७’ इति विकल्पितेतः । रुष्टरुषितत्वरिताः ‘रुष्यमत्वर-
संघुषास्वनाम् । ७ । २ । २८’ इतीड् वा ॥ २० ॥

तेषां निहन्यमानानां सङ्घुष्टैः कर्णभेदिभिः ।
अभूदभ्यमितत्रासमास्वान्ताऽशेषादिग्जगत् ॥ २१ ॥

तेषामित्यादि—तेषां रक्षसां निहन्यमानानां संघुष्टैः शब्दैः कर्णभेदिभिः
शार्थिकरैः । अभ्यमितत्रासं अभिगतत्रासं जगदभूत् । आस्वान्ताः अशेषा
देशो यस्मिन् जगति । संघुष्टाभ्यमितास्वान्ताः ‘रुष्यमत्वरसंघुषास्वनाम्
७ । २ । २८’ इति विकल्पितेतः ॥ २१ ॥

भयसंहृष्टरोमाणस्ततस्तेऽपचितद्विषः ।
क्षणेन क्षीणविक्रान्ताः कपिनाऽनेषत क्षयम् ॥ २२ ॥

इतीट्प्रतिषेधाधिकारः ।

भयेत्यादि—ततस्ते राक्षसाः कपिना क्षणेन क्षयं विनाशमने-
नीताः । कर्मणि लुङ् । भयसंहृष्टरोमाणः भयोद्भ्रतरोमाञ्चाः । 'हृपेलोप
।७।२।२९।' इति विभाषितेट् । अपचितद्विपः अपचितानाम् पूजितानां ऋषी-
शत्रवः । 'अपचितश्च ।७।२।३०।' इति निपातः । क्षीणविक्रान्ताः क्ष-
विक्रान्तं पराक्रमो येषाम् । 'क्षियो दीर्घात् । ८।२।४६।' इति निष्ठा-
कारस्य नः ॥ २२ ॥

इतीट्प्रतिषेधाधिकारः ।

इतः प्रभृतीट्माधिकृत्याह—

हत्वा रक्षांसि लवितुमक्रमीन्मारुतिः पुनः ।

अशोकवनिकामेव निगृहीतारिशासनः ॥ २३ ॥

हत्वेत्यादि—रक्षांसि हत्वा मारुतिरशोकवनिकामेव पुनर्लवितं छेतुम् ।
आर्षधातुकस्येट् । अक्रमीत् गतवान् । 'स्तुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते ।७।२।
३६।' इतीट् । निगृहीतारिशासनः ध्वस्तारिव्यवस्थः । 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः ।
७।२।३७।' इतीटो दीर्घत्वम् ॥ २३ ॥

आवरीतुमिवाऽऽकाशं वरितुं वीनिवोत्थितम् ।

वनं प्रभञ्जनसुतो नादयिष्ट विनाशयन् ॥ २४ ॥

आवरीतुमित्यादि—प्रभञ्जनसुतो हनूमान् । वनमशोकवनिकालयं विना-
शयन् नादयिष्ट दयां न कृतवान् । लुङि रूपम् । आकाशमावरीतुमिव
अवष्टब्धुमिवोत्थितं वनम् । वीन् पक्षिणो वरितुं प्रार्थयितुमिवोत्थितं 'आ-
च्छत, नान्यत्र यात, इहैव फलवृद्धिं प्राप्स्यथ' इति । आवरीतुं वरितुमिति
'वृत्तो वा ।७।२।३८।' इति विकल्पेनेटो दीर्घत्वम् ॥ २४ ॥

वरिषीष्ट शिवं क्षिप्यन् मैथिल्याः कल्पशाखिनः ।

प्रावारिपुरिव क्षोणीं क्षिप्ता वृक्षाः समन्ततः ॥ २५ ॥

वरिषीष्टेत्यादि—ये कल्पशाखिनः कल्पवृक्षाः स्वर्गादादायारोपितान्ता-
न्मूल्य. यथास्थानं क्षिप्यन् मैथिल्याः शिवं कल्याणं वरिषीष्ट प्रार्थितवान् ।
मैथिल्या भद्रमस्त्वित्याशांसावचने लिङ् । 'न लिङि ।७।२।३९।' इति

वर्षप्रतिषेधः । अन्ये च वृक्षास्तेन समन्ततः क्षिप्ताः सन्तः क्षोणीं पृथ्वीं
वारिषुरिवाच्छादितवन्त इव । तेषामनाच्छादितत्वादिवार्थः । 'सिचि वृद्धिः
स्मैपदेषु । ७।२।१।' इति वृद्धिः ॥ २५ ॥

संबुवूर्धुः स्वमाकूतमाज्ञां विवरिषुर्द्रुतम् ।

अवारिष्टाक्षमक्षम्यं कपिं हन्तुं दशाननः ॥ २६ ॥

समित्यादि—रामदूतेन कपिना कर्मेदृशं कृतमिति स्वमाकूतमभिप्रायं
वूर्धुः संवरीतुमिच्छुः । दशाननो द्रुतमाज्ञां विवरिषुः प्रकटितुमिच्छुः । अक्षं
सुतमवरिष्टं प्रार्थितवान् । कर्त्रभिप्राये तद् । किमर्थं कपिं हन्तुं हनिष्या-
ति । अक्षम्यं क्षन्तुमशक्यम् । 'पोरदुपधात् । ३।१।९।८।' इति यत् ।
वूर्धुः, विवरिषुरिति उगन्तत्वात् 'सनि प्रहगुहोश्च । ७।२।१२।' इति
कारणेत्प्रतिषेधे प्राप्ते 'इट् सनि वा । ७।२।४।१।' इति विभाषेत् । तत्रानिट्-
त् 'इको झल् । १।२।९।' इति कित्त्वे 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य । ७।१।१०।२।' इत्युत्व-
त्सगुण एव ॥ २६ ॥

ऊचे संवरिषीष्ठास्त्वं गच्छ शत्रोः पराक्रमम् ।

ध्वृषीष्ठा युधि मायाभिः स्वरिता शत्रुसम्मुखम् ॥ २७ ॥

ऊच इत्यादि—किमित्याह—त्वं गच्छ शत्रोः पराक्रमं संवरिषीष्ठाः
शादय । आशिषि, 'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु । ७।२।४।२।' इति वृत्तो
भाषेत् । 'उश्च । १।२।१२।' इतीट्पक्षे न कित्त्वम् । ध्वृषीष्ठाः युधि मायाभिः
द्रुताभिः त्वं कुटिलीकृषीष्ठाः । 'ध्वृ हूच्छने' (हूच्छनं कौटिल्यम्) तस्य
दात्तत्वात् आशिषि कर्मणि लिङ् । 'ऋतश्च संयोगादेः । ७।२।४।३।'
ते विभाषेत् । अनिट्पक्षे उश्चेति कित्त्वम् । स्वरिता उपतापयिता । शत्रु-
मुखं शत्रोरग्रतः । अतो द्रुतं संस्वरिषीष्ठा इति वक्ष्यमाणेन योज्यम् ॥
वृ शब्दोपतापयोः' इत्यस्य 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञ्जुदितो वा । ७।२।४।४।'
ते विभाषेत् । लिङ्सिचोरिति नानुवर्तते ॥ २७ ॥

द्रुतं संस्वरिषीष्ठास्त्वं निर्भयः प्रधनोत्तमे ।

स मायानामगात्सोता कपेर्विधवितुं द्युतिम् ॥ २८ ॥

द्रुतमित्यादि—संस्वरिषीष्ठाः उपतापय । निर्भयः सन् । आशिषि लिङ् ।
मो गम्युच्छिभ्याम् । १।३। २९ । इत्यत्र 'विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्'
त्यात्मनेपदम् । अत्र 'ऋतश्च संयोगादेः । ७।२।४।३।' इतित् । प्रध-

नोत्तमे सङ्ग्रामवरे । एवमुक्तः सन् स मायानां सोता जनकः कपेद्युतिं ।
विधक्वितुमपनेतुमगात् गतः। सोता धवितुमिति 'स्वरतिसूतिसूयतिधूवूदितो
। ७।२ । ४४।' इति विभाषेत् ॥ २८ ॥

विगाढारं वनस्याऽसौ शत्रूणां गाहिता कपिः ।

अक्षं रधितुमारंभे रद्धा लङ्कानिवासिनाम् ॥ २९ ॥

विगाढारमित्यादि—असौ कपिः वनस्य विगाढा अवलोढयिता ।
शीघ्रम् । शत्रूणां गाहिता विनाशयिता । कर्मणि षष्ठी । ऊदित्वाद्धिभाषा
'स्वरतिसूतिसूयतिधूवूदितो वा । ७।२।४४।' इतीद् । अक्षं रधितुं हिं
सारेभे प्रवृत्तः । लङ्कानिवासिनां रक्षसां रद्धा हिंसिता । रधादि
। ७।२।४५।' इति विभाषेत् ॥ २९ ॥

निष्कोषितव्यान्निष्कोष्ठुं प्राणान्दशमुखाऽऽत्मजात् ।

आदाय परिधं तस्थौ वनान्निष्कुषितद्रुमः ॥ ३० ॥

निष्कोषितव्यान्मित्यादि—दशमुखात्मजादक्षात् प्राणान्निष्कोषितव
अपनेतव्यान् अपनयार्हान् निष्कोष्ठुम् अपनेष्यामीति परिधमादाय त
निरः कुषः । ७।२।४६।' इति विभाषेत् । निष्कुषितद्रुमः वनादपनीतवृक्ष
'इण् निष्ठायाम् । ७।२।४७।' इतीद् ॥ ३० ॥

एष्टारमेषिता संख्ये सोढारं सहिता भृशम् ॥

रेष्टारं रेषितुं व्यास्यद्रोष्टाऽक्षः शस्त्रसंहतीः ॥ ३१ ॥

एष्टारमित्यादि—कपिं युद्धस्यैष्टारम् एषिता एषणशीलोऽक्षः । ताच्छ
त् । 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थवृत्नाम् । २।३।६९।' इति षष्ठीप्रतिषेध
सोढारं प्रहरणस्य सहितारं सहिता भृशं सहनशीलः । रेष्टारं हिंसकं रे
हिंसितुम् । रोष्टा रोषणशीलः शस्त्रसंहतीर्व्यास्यत् क्षिप्तवान् । लडि रूप
सर्वत्र 'तीषसहलुभरुपरिपः । ७।२।४८।' इति वेद् ॥ ३१ ॥

शस्त्रैर्दिदेविषुं संख्ये दुष्टेषुः परिधं कपिः ।

आर्दिधिषुर्यशः कीर्तिमीत्सुं वृक्षैरताडयत् ॥ ३२ ॥

शस्त्रैरित्यादि—कपिः आर्दिधिषुः यशो वर्धितुमिच्छुः । परिधं दु
परिधेण क्रीडितुमिच्छुः अक्षं वृक्षैरताडयत् हतवान् । कीदृशम् शस्त्रैर्दिदे
क्रीडितुमिच्छुम् । कीर्तिमीत्सुं वर्धितुमिच्छुम् । द्विवेरिवन्तस्य 'ऋषु वृ
इत्यस्य च 'सनीवन्तर्धभ्रस्जदम्भुश्रिस्वयूर्णुभरज्ञपिसनाम् । ७।२।४९।' ।

विभाषेतद् । तत्र दिवेरिडभावपक्षे 'छोः शूडनासिके च । ६।४।१९।' ऋधेः
 ॥प्लृप्तधामीत् । ७।४।५५।' इतीत्वमभ्यासलोपश्च ॥ ३२ ॥

भूयस्तं धिप्सुमाहूय राजपुत्रं दिदम्भिषुः ।

अहस्ततः स मूर्च्छावान्संशिश्रीषुरभूद्धजम् ॥ ३३ ॥

भूय इत्यादि—तं राजपुत्रम् अक्षं धिप्सुं दम्भितुं वञ्चयितुमिच्छुम् ।
 भूयः पुनरपि दिदम्भिषुः वञ्चयितुमिच्छुः । आहूयागच्छेत्यहन् हतवान् ।
 ततः सोऽक्षः मूर्च्छावान् मूर्च्छायुक्तः । ध्वजमात्मीयं संशिश्रीषुः संश्रयि-
 णुमिच्छुः अभूत् भूतः । अत्र दम्भेः अयतेश्च 'सनीवन्तर्धभ्रस्जदम्भु-
 श्रेस्त्व्यूर्णुभरज्ञपिसनाम् । ७।२।४९।' इतीद् । अत्र श्रयतेरनिट्पक्षे 'अञ्जन-
 गमां सन्ति । ६।४।१६।' इति दीर्घः । द्वितीयस्य च 'दम्भ इच्च । ७।४।५६।'
 इत्यभ्यासलोपः । दम्भेर्हल्प्रहणस्य जातिपरत्वात्सिद्धमिति कित्त्वे अनुनासिक-
 शेषः । 'एकाचो वशो झप् झषन्तस्य स्थवोः । ८।२।३७।' इति भ् । 'खरि
 व । ८।४।५५।' इति चत्वम् ॥ ३३ ॥

आश्वस्याऽक्षः क्षणालोकान्विभ्रक्षुरिव तेजसा ।

रुषा विभ्रज्जिषुप्रख्यं कपिं बाणैरवाकिरत् ॥ ३४ ॥

आश्वस्येत्यादि—क्षणत् क्षणमात्रेणाश्वस्य संज्ञां लब्ध्वा लोकान् जनान्
 तेजसा क्रोधोत्थेन विभ्रक्षुरिव । अथ स कपिं बाणैरवाकिरत् संछादित-
 वान् । कर्द्विशम्—विभ्रज्जिषुप्रख्यं अग्निस्तुल्यम् । विभ्रज्जिषुः, विभ्रक्षुरिति
 'सनीवन्तर्धभ्रस्जदम्भुश्रेस्त्व्यूर्णुभरज्ञपिसनाम् । ७।२।४९।' इति विभा-
 षेद् । तत्रानिट्पक्षे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च । ८।२।२९।' इति सलोपः ।
 'भ्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः । ८।२।३६।' इति षः । इट्पक्षे सका-
 रस्य जश्त्वं इचुत्वं च ॥ ३४ ॥

संयुयुषुं दिशो बाणैरक्षं यियविषुद्रुमैः ।

कपिर्मायामिवाऽकार्षाद्दिशयन्विक्रमं रणे ॥ ३५ ॥

संयुयुषुमित्यादि—बाणैर्दिशः संयुयुषुं मिश्रयितुमिच्छुम् अक्षं कपिः द्रुमै-
 रिययत्रिषुः योतुमिच्छुर्मायामिवेन्द्रजालमिवाकार्षात् कृतवान् । रणे विक्रमं
 दर्शयन् । यौतः सन्ति 'सनीवन्तर्धभ्रस्जदम्भुश्रेस्त्व्यूर्णुभरज्ञपिसनाम् । ७।२।२९।'
 इति विभाषेद् । 'ओः पुयण्ज्यपरे । ७।४।८०।' इतीत्वम् । 'अञ्जनगमां सन्ति ।
 ६।४।१६।' इति दीर्घः ॥ ३५ ॥

वानरं प्रोर्णुनविषुः शस्त्रैरक्षो विदिद्युते ।

तं प्रोर्णुनूषुरूपलैः सवृक्षैराबभौ कपिः ॥ ३६ ॥

वानरमित्यादि—वानरं प्रोर्णुनविषुः छादयितुमिच्छुरक्षः विदिद्युते वि-
त्ते स्म । ‘द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम् । ७।४।६७।’ इति सम्प्रसारणम्
कपिरपि तमक्षम् उपलैर्वृक्षसहितैः प्रोर्णुनूपुः संवरीतुमिच्छुरावभौ भ-
स्म । ऊर्णोतेः पूर्ववद्धिभाषेद् । इद्रूपक्षे गुणः । अन्यत्र ‘अङ्गनगमां १
।६।४।१६।’ इति दीर्घः । उभयत्र ‘नन्द्राः संयोगादयः । ६।१।३।’
रेफो न द्विरुच्यते ॥ ३६ ॥

स्वां जिज्ञापयिषू शक्तिं बुभूर्षू नु जगन्ति किम् ।

शस्त्रैरित्यकृषातां तौ पश्यतां बुद्धिमाहवे ॥ ३७ ॥

स्वामित्यादि—तौ कपिराक्षसौ किं स्वां शक्तिं जिज्ञापयिषू वा-
तुमिच्छू इव बुभूर्षू त्रिजगन्ति किं नु त्रैलोक्यं शस्त्रैः भर्तुं पूरयि-
च्छू इत्येवं बुद्धिमाहवे पश्यतां प्रेक्षकाणाम् अकृषातां कृतवन्तौ । जि-
पयिषू बुभूर्षू इति विभाषेद् । तत्र ‘भृञ् भरणे’ इति भौवादि-
ग्रहणम् । ‘सनीवन्तर्धभ्रस्जदम्भुश्रित्व्यूर्णुभरज्ञापिसनाम् । ७।२।४
इति सूत्रे ‘भर’ इति शपा निर्देशात् ॥ ३७ ॥

मायाभिः सुचिरं क्लिष्टा राक्षसोऽक्लिशितक्रियम् ।

सम्प्राप्य वानरं भूमौ पपात परिघाऽऽहतः ॥ ३८ ॥

मायाभिरित्यादि—राक्षसो मायाभिः सुचिरं क्लिष्टा क्लेशं कृत्वा व-
मक्लिशितक्रियमनभिभूतव्यापारं सम्प्राप्य परिघाहतो भूमौ पापत । ‘
‘क्त्वानिष्ठयोः । ७।२।५०।’ इति विभाषेद् ॥ ३८ ॥

अथ युग्मम् ।

पवितोऽनुगुणैर्वातैः शीतैः पूत्वा पयोनिधौ ।

वभञ्जाऽध्युपितं भूयः क्षुधित्वा पत्रिभिर्वनम् ॥ ३९ ॥

पवित इत्यादि—कपिरपि पयोनिधौ पूत्वा स्नात्वा अनुगुणैरनु-
शीतैर्वातैः पवितः पत्रित्रीकृतः । ‘पूडश्च । ७।२।५१।’ इति विभाषेद् ।
पुनर्वनं वभञ्ज । कीदृशम् । पत्रिभिः पक्षिभिः क्षुधित्वा क्षुधितैर्भूत्वा । अ-
कृतनिवासम् । ‘वसतिक्षुधोरिद् । ७।२।५२।’ इतीद् ॥ ३९ ॥

यदीत्यादि—रक्षःपतेः रावणस्य स्वयं योद्धुं यद्यभिप्रायोऽकल्पस्यत्
पत्स्यत् । 'तासि च क्लृपः । ७ । २ । । ६० ।' इति चकारात् स
च नेट् । तदा तमप्यहमकर्त्स्यम् उत्सारयामि । अहमद्येति एवं वदन्
वैनमचरत् । 'सेऽसिचि कृतचृतलृदृदृदृतः । ७ । २ । ५७ ।' इति ि
षेट् । अकल्पस्यदकर्त्स्यमिति च ' लिङ्निमित्ते लङ् क्रियातिपत्तौ । ३ ।
१३९ ।' इति लङ् । हेतुहेतुमद्भावश्च लिङो निमित्तम् ॥ ४४ ॥

हते तस्मिन्प्रियं श्रुत्वा कल्पा प्रीतिं परां प्रभुः ।

तोषोऽद्यैव च सीतायाः परश्चेतसि कल्पस्यति ॥ ४५ ॥

हत् इत्यादि—तस्मिन् रक्षःपतौ हते प्रियं श्रुत्वा प्रभुः रामः परां
कल्पा जनयिता । अत्रान्तर्भावितो प्यर्थः । धातोरकर्मकत्वात् । सीताया
द्यैव चेतसि तोषः परो महान् कल्पस्यति सम्पत्स्यते । 'तासि च क्लृ
७ । २ । ६० ।' इतीट्प्रतिषेधः । 'लुटि च क्लृपः । १ । ३ । ९३ ।'
परस्मैपदम् ॥ ४५ ॥

आहूय रावणोऽवोचद्येन्द्रजितमन्तिकात् ।

वने मत्त इव क्रुद्धो गजेन्द्रः प्रधनेष्वटन् ॥ ४६ ॥

आहूयेत्यादि—अथ रावणः इन्द्रजितमाहूय अन्तिकमवोचत् । किं
चदित्याह—वने मत्त इव । यथा गजेन्द्रो मत्तः क्रुद्धो वने पर्यटन् ।
मन्तं गतवान् तथा त्वं प्रधनेषु संग्रामेष्वटन् । द्विषामन्तं ययाथेति वक्ष्य
श्लोकेनान्वयः ॥ ४६ ॥

ययाथ त्वं द्विषामन्तं भूयो यातासि चाऽसकृत् ।

शशक्थ जेतुं त्वं देवान्मायाः सस्मर्थं संयाति ॥ ४७ ॥

ययाथेत्यादि—न केवलं ययाथ, भूयः पुनरपि यातासि यास्यसि ।
क्रांदिनियमात् प्राप्तस्येटः 'अचस्तास्वत्क्वल्थानिटो नित्यम् । ७ । २ । ६
इति प्रतिषेधः । तस्य हि तासौ नित्यमनिट्त्वम् । 'अजन्ता धातवोऽनुदा
इति वचनात् । देवान् जेतुं त्वमसकृत् बहुधा शशक्थ शक्तोऽसि ।
देशेऽऽवतः । ७ । २ । ६२ ।' इति थलीट्प्रतिषेधः । शकेस्तासौ नित्या
त्वम् । शकिस्तु कान्त इति वचनात् । मायाश्च कूटयुद्धानि । संयाति तु
सस्मर्थं ज्ञातवानसि । 'ऋतो भारद्वाजस्य । ७ । २ । ६३ ।' इ
प्रतिषेधः ॥ ४७ ॥

त्वं ससर्जिथ शस्त्राणि दद्रष्टाऽरींश्च दुःसहान् ।

शस्त्रैरादिथ शस्त्राणि त्वमेव महतामपि ॥ ४८ ॥

त्वमित्यादि—शस्त्राणि त्वं ससर्जिथ क्षिप्रवानसि । अरींश्च दुःसहान् यतः दद्रष्ट दृष्टवानसि न पलायितोऽसि । 'विभाषा सृजिदृशोः । १ । २ । ६५ ।' इति थलि विभाषेत् । अनिट्पक्षे 'सृजिदृशोर्ज्ञत्यमकिति । ६ । १ । ५८ ।' इत्यम् । षत्वष्टुत्वे । महतामपि मध्ये त्वमेव शस्त्राणि पर-यानि शस्त्रैः स्वैरादिथ जग्धवानसि । 'इड्त्वर्यतिव्ययतीनाम् । ७ । २ । ६ ।' इत्यदेरिट् ॥ ४८ ॥

स त्वं हनिष्यन्दुर्बुद्धिं कपिं व्रज ममाऽऽज्ञया ।

मा नाऽञ्जी राक्षसीर्मायाः प्रस्तावीर्मा न विक्रमम् ॥ ४९ ॥

स त्वमित्यादि—स त्वमेवंविधः कपिं दुर्बुद्धिं चपलत्वाद्धनिष्वन् हनिष्या-ति मदाज्ञया व्रज । 'ऋद्धनोः स्ये । ७ । २ । ७० ।' इतीट् । 'वस्वेका-द्धसाम् । ७ । २ । ६७ ।' इत्यादिसूत्रत्रयं नोदाहृतम् । वस्वादेशस्य न्दोविषयत्वात् । राक्षसीर्माया मा नाञ्जीः मा न व्यक्तीकुरु । अपि व्यक्तीकुर्वित्यर्थः । 'अञ्जेः सिचि । ७ । २ । ७१ ।' इतीट् । विक्रमं न । प्रस्तावीः मा न प्रारभस्व । 'स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैवदेषु । ७ । २ । ७२ ।' इतीट् ॥ ४९ ॥

मा न सावीर्महाऽस्त्राणि मा न धावीररिंरणे ।

वानरं मा न संयंसीव्रज तूर्णमशङ्कितः ॥ ५० ॥

मा नेत्यादि—रणे महास्त्राणि मा न सावीः मा न प्रसुहि । मा न मुञ्चेत्यर्थः । पु प्रसवैश्वर्ययोः' इत्यस्य रूपम् । अरिञ्च मा न धावीः मान कम्पय अपि तु शिष्यस्वेत्यर्थः । पूर्ववदिट् । वानरं मा न संयंसीः मा न वधीः । यमरमनमातां संक् च । ७ । २ । ७३ ।' इति सगिटौ । 'समुदाङ्भ्यो यमो ग्रन्थे । १ । १ । ७५ ।' इति तङ् न भवति । तत्राकर्मकादिति वर्तते । यत एवं तस्मादशङ्कित-तूर्णं व्रज ॥ ५० ॥

अनंसीञ्चरणौ तस्य मन्दिरादिन्द्रजिद्रजन् ।

अवाप्य चाशिषस्तस्मादायासीत्प्रीतिमुत्तमाम् ॥ ५१ ॥

अनंसीदित्यादि—एवमुक्त इन्द्रजित् मन्दिरात् व्रजन् गमिष्यन् । 'वर्तमान-पामीप्ये वर्तमानवद्वा । ३ । ३ । ३१ ।' इति लट् । तस्य पितुश्चरणावनंसीत् नत-वान् । तस्माद्रावणादाशिष अवाप्योत्तमां प्रीतिमायासीत् । पूर्ववत्सगिटौ ॥ ५१ ॥

गते तस्मिन्नुपरंसीत्संरम्भाद्रक्षसां पतिः ।

इन्द्रजिद्विक्रमाभिज्ञो मन्वानो वानरं जितम् ॥ ५२ ॥

गत इत्यादि—गते तस्मिन् रक्षसां पतिः रावणः संरम्भात् क्रोध
सीत् निवृत्तवान् । पूर्ववत्सगितौ । रमेः 'उपाच्च ११३।८४।' इति ति
इन्द्रजित् वानरं जितं मन्वानोऽवगच्छन् । यतो विक्रमाभिज्ञः । अ
वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ॥ ५२ ॥

अथ युग्मम् ।

संसिस्मयिषमाणोऽगान्मायां व्यञ्जिजिषुर्द्विषः ।

जगत्पिपेविषुर्वायुः कल्पान्त इव दुर्धरः ॥ ५३ ॥

लोकानाशिशिषोस्तुलयः कृतान्तस्य विपर्यये ।

वने चिकरिषोर्वृक्षान्वलं जिगरिषुः कपेः ॥ ५४ ॥

संसिस्मयिषमाण इत्यादि—संसिस्मयिषमाणः उपहासितुमिच्छ
शत्रून् । अगात् गतवात् । 'पूर्ववत्सनः ११३।६२।' इति तङ् । मायां
जिषुः व्यक्तीकर्तुमिच्छुः । 'स्मिपूङ्गञ्जशां सानि ७।२।७४।' इतीट्
ञ्जः 'न न्द्राः संयोगादयः ६।१।३।' इति नकारो न द्विरुच्यते ।
युगान्ते वायुरिव दुर्धरः जगत् पिपेविषुः पवितुमुत्क्षेप्तुमिच्छुः विपर्यये ।
काले लोकानाशिशिषोः भक्षयितुमिच्छोः । कृतान्तस्य तुल्योऽगार्दि
संबन्धः । पूर्ववदिट् । वने वृक्षांश्चिकरिषोः विक्षेप्तुमिच्छोः । कपेर्वलं
जिगरिषुः अपनेतुमिच्छुः । कृप्योरुगन्तत्वात् 'सनि ग्रहगुहोश्च ७।२।१ः
प्रतिपेधे प्राप्ते 'इट् सनि वा ७।२।४१।' इति विकल्पे प्राप्ते 'किरश्च ५
७।२।२५।' इतीट् । किरतेरिटो दीर्घत्वं नेच्छन्तीति न दीर्घः ॥ ५३ ॥

रोदिति स्मेव चाऽयाति तस्मिन्पक्षिगणः शुचा ।

मुक्तकण्ठं हतान्वृक्षान्वन्धून्बन्धोरिवाऽऽगमे ॥ ५५ ॥

रोदतीत्यादि—तस्मिन्निन्द्रजिति आयात्यागच्छति सति पक्षिगण
वृक्षान् कपिनाशितान् शुचा शोकेन मुक्तकण्ठं सशब्दं नामप्राहं रोदि
रुदितवानिव । नामग्रहणपूर्वया रोदनक्रियया व्याप्यमानत्वान् वृक्षाणां क
'रुदादिभ्यः सार्वधातुके ७।२।७६।' इतीट् । बन्धून् बन्धोरिव यथा
रागमने कश्चित् बन्धून् रोदिति ॥ ५५ ॥

आश्वसीदिव चायाति तद्वेगपवनाहतम् ।

विचित्रस्तवकोद्भासि वनं लुलितपल्लवम् ॥ ५६ ॥

आश्वसीदित्यादि—तस्मिन्नायाति वनं तद्वेगपवनाहतं सन् आश्वसीदिव
वितमिव । लङ्ङि रूपम् । यतो विचित्रस्तवकोद्भासि लुलितपल्लवं च जात-
पूर्ववदिट् ॥ ५६ ॥

न प्राणिषि दुराचार मायानामीशिषे न च ।

नेडिषे यदि काकुत्स्थं तमूचे वानरो वचः ॥ ५७ ॥

इतीडधिकारः ।

नेत्यादि—वानरस्तमागच्छन्तमिदं वचनमूचे । हे दुराचार ! न प्राणिषि
जीवसि । 'भन च' इत्यस्य रूपम् । पूर्ववदिट् । 'अन्तिः । ८।४।१९।' इति
म् । न च मायानामीशिषे नोशिता भवसि । 'ईशः से । ७।२।७७।' इतीट् ।
श्रीगर्थद्वयशां कर्मणि । २।३।५२।' इति कर्मणि षष्ठी । यदि काकुत्स्थं नेडिषे
तौपि । 'ईडजनोध्वे च । ७।२।७८।' इति चकारात् से चेतीट् ॥ ५७ ॥

इतीडधिकारः ।

इदानीं 'विसर्जनीयस्य सः । ८।३।३४।' इत्यधिकृत्याह—

ससैन्यश्छादयन्संख्ये प्रावर्तिष्ट तमिन्द्रजित् ।

शरैः क्षुरप्रैर्मायाभिः शतशः सर्वतो मुहुः ॥ ५८ ॥

ससैन्य इत्यादि—इन्द्रजित् ससैन्यः सबलः तं वानरं सर्वतः शरैः क्षुरप्रैः
ः छादयन् मुहुः क्षणं मायाभिः शतशोऽनेकधा संख्ये प्रावर्तिष्ट प्रवृत्तः
के रूपम् । तत्र ससैन्यश्छादयन् इत्यत्र । 'विसर्जनीयस्य सः । ८।३।३४।' इति
वं छकारे परे इचुत्वम् । शरैः क्षुरप्रैरिति सत्त्वापवादः । शर्परे खरि विसर्ज
यस्य विसर्जनीयः विसर्जनीयस्य विकारनिवृत्त्यर्थः । मायाभिः शतश
वत इति 'वा शरि । ८। ३। ३६।' इति विकल्पः विसर्जनीर
कारो वा ॥ ५८ ॥

वानरः कुलशैलभः प्रसह्यायुधशीकरम् ।

रक्षस्पाशान्यशस्काम्यस्तमस्कल्पानदुद्बुवत् ॥ ५९ ॥

(२६६) भट्टिकाव्ये जयमङ्गलासमेते-

वानर इत्यादि—वानरः कुलशैलाभः संग्रामे स्थिरत्वात् । ३
शीकरमिव नैरन्तर्येण पतनात् । प्रसह्याभिभूय । 'कुप्वोः २क२पौ च ।
३७ ।' इति वा जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ । रक्षस्पाशान् कुत्सितराक्ष
'याप्ये पाशप् । ५ ३ । ४७ ।' स्वार्थिका अपि प्रकृतितो लिङ्गवचन
वर्तन्ते । यशस्काम्यन् आत्मनो यश इच्छन् । अत्र तकारे परतः
व्यप्रशान् । ८ । ३ । ७ ।' इति रत्वं विसर्जनीयसकारौ च पूर्वस्
सिकः । तमस्कल्पान् ईषदसमाप्ततमसः । कुप्वोरपवादः 'सोऽपदादं
३ । ३८ ।' इति सकारः । तत्र 'पाशकल्पककाम्येषु' इति परिगणनम्
द्रुवत् ढौकते स्म । 'णिश्रिद्रुसुभ्यः कर्त्तारि चङ् । ३ । १ । ४८
चङ् ॥ ५९ ॥

धनुष्पाशभृतः सङ्ख्ये ज्योतिष्कल्पोरुकेशरः ।

दुधाव निर्नमस्कारान् राक्षसेन्द्रपुरस्कृतान् ॥ ६० ॥

धनुरित्यादि—धनुष्पाशभृतः कुत्सितधनुर्धरान् राक्षसान् । ज्यं
ल्योरुकेशरः अभितुल्यवृहत्सदो वानरः । 'इणः षः । ८ । ३ ।
इति पाशादिष्वेव विसर्जनीयस्य षत्वम् । दुधाव कम्पितवान् । यत्
मस्कारान् अप्रणामान् । राक्षसेन्द्रेणेन्द्रजिता पुरस्कृतान् अग्रतः स्थापि
'नमस्पुरसोर्गत्योः । ८ । ३ । ४० ।' इति विसर्जनीयस्य सकारः । इणः
तु विसर्जनीयस्य स एवाधिक्रियते । तत्र नमःशब्दस्य साक्षात्प्रभृतिपु प
पुरःशब्दस्य 'पुरोऽव्ययम् । १ । ४ । ६७ ।' इति गतिसञ्ज्ञा ॥ ६० ॥

स्वामिनो निष्क्रयं गन्तुमाविष्कृतबलः कपिः ।

रराज समरे शत्रून् व्रन्दुष्कृतवहिष्कृतः ॥ ६१ ॥

स्वामिन इत्यादि—स्वामिनः सुग्रीवस्य निष्क्रयमानृष्यं गन्तुं
व्रन् विनाशयन् कपिः रराज । आविष्कृतबलः प्रकटितसामर्थ्यः ।
वहिष्कृतः । दुष्कृतं पापं वहिष्कृतमनेनेति 'वाहिताग्न्यादिपु । २ । १ ।
इति द्रष्टव्यम् । सर्वत्र 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य । ८ । ३ । ४१ ।'
नाप्रत्ययविसर्जनीयस्य षत्वम् ॥ ६१ ॥

चतुष्काष्ठं क्षिपन् वृक्षान् तिरस्कुर्वन्नरीत्रणे ।

तिरस्कृतदिगाभोगो ददृशे बहुधा भ्रमन् ॥ ६२ ॥

तुरित्यादि—चतस्रः काष्ठा दिशो यस्मिन् क्षेपण इति क्रियाविशेष-
। पूर्ववत् षत्वम् । चतसृषु दिक्षु वृक्षान् रणे क्षिपन् भ्रमन् एकोऽपि बहुधा
दृष्टः कपिः । क्षिपन्निति तौदादिकः । अरींस्तिरस्कुर्वन् अभिभवन्
कृतदिगाभोगः अपनीतदिग्विस्तरः । 'तिरसोऽन्यतरस्याम् । ८ । ३ । ४२ ।'
पक्षे षत्वम् ॥ ६२ ॥

अथ युग्मम् ।

द्विष्कुर्वतां चतुष्कुर्वन्नभिघातं नगौर्द्विषाम् ।

। वहिष्करिष्यन् सङ्ग्रामाद्रिषून् ज्वलनपिङ्गलः ॥ ६३ ॥

द्विष्कुर्वतामित्यादि—असौ कपिराटीदिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ।
शः । द्विष्कुर्वतां द्वौ वारावभिघातं कुर्वतां द्विषां चतुष्कुर्वन् चतुरो वारान्
क्षैरभिघातं कुर्वन् । 'द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोऽर्थे । ८ । ३ । ४३ ।' इति
र्जनीयस्य वा षत्वम् । अरीन् संग्रामाद्द्विष्करिष्यन् अषनेष्यामीति ।
शोः सामर्थ्ये । ८ । ३ । ४४ ।' इति विसर्जनीयस्य पक्षे षत्वम् । सामर्थ्य
व्यपेक्षा, नैकार्थिभावः । वहिष्करिष्यन्निति द्वयोः परस्पर-
श्रत्वात् ॥ ६३ ॥

ज्योतिष्कुर्वन्निवैकोऽसावाटीत्सङ्ख्ये परार्ध्यवत् ।

। मनायुष्करं प्राप शक्रशत्रुर्धनुष्करः ॥ ६४ ॥

ज्योतिरित्यादि—एकोऽपि ज्वलनपिङ्गलः ज्योतिष्कुर्वन्निव अग्नि
। निव । पूर्ववत्पक्षे विसर्जनीयस्य षः । परार्ध्यवत् दिव्य इव ।
गौं शुलोकः । ब्रह्माण्डसंबन्धिन ऊर्ध्वभागस्योत्कृष्टत्वात् । तत्र भव इति
वराधमोत्तमपूर्वाच्च । ४ । ३ । ५ ।' इति यत् । संख्ये संग्रामे आटीत् परिचक्राम ।
ईटि । ८ । २ । २८ ।' इति सिचो लोपः । तं वानरमनायुष्करं प्राणाप-
णं शक्रशत्रुरिन्द्रजित् प्राप प्राप्तवान् । धनुष्करः धनुः करे यस्येति ।
यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य । ८ । ३ । ४५ । इति षत्वम् ॥ ६४ ॥

अस्यन्नरुष्करान् बाणान् ज्योतिष्करसमद्युतिः ।

। यशस्करो यशस्कामं कर्षिं बाणैरताडयत् ॥ ६५ ॥

स्यन्नित्यादि—बाणानरुष्करान् व्रणजनकान् । 'दिवाविभा- । ३ । २ । २१ ।'
दिना टः । अस्यन् क्षिप्यन् । ज्योतिष्करसमद्युतिः ज्योतिष्करणशीलः
इत्यः । 'कृचो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु । ३ । २ । २० ।' इति टः । तेन तुल्य

इत्यर्थः । पूर्ववत् पत्वम् । यशस्करो यशोजननशीलः । इन्द्रजित् यशस्त
यशसि कामोऽस्येति तं कपिं वाणैरवाकिरत् अताडयत् । 'अतः कृष्ण
कंसकुम्भपात्रकुशाकर्णाष्वनव्ययस्य । ८ । ३ । ४६ ।' इत्यनव्ययविसर्जनात्
सत्वम् ॥ ६५ ॥

चकाराऽधस्पदं नासौ चरन् वियुति मारुतिः ।

मर्माविद्धिस्तमस्काण्डैर्विध्यमानोऽप्यनेकधा ॥ ६६ ॥

इति सत्वाधिकारः ।

चकारेत्यादि—असौ मारुतिर्वियति चरन् अधस्पदं पृथिव्यां पदं
चकार । अधस्पदमिति मयूरव्यंसकादित्वात्समासः । 'कस्कादिषु च । ८।३।४७
इति सत्वम् । मर्माणि विध्यन्तीति क्विप् । 'नहिवृतिवृषिव्याधिरुचिसहितानि
कौ । ६ । ३ । ११६ ।' इति पूर्वपदस्य दीर्घत्वम् ॥ ६६ ॥

इति सत्वाधिकारः ।

इतः प्रभृति 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः । ८।३।५५।' इत्यधिकृत्याह—

पुरुहूतद्विषो धूर्षु युक्तान् यानस्य वाजिनः ।

आचूंषि त्वक्षु निर्भिद्य प्राभञ्जनिरमोचयत् ॥ ६७ ॥

पुरुहूतेत्यादि—पुरुहूतद्विष इन्द्रजितः संवन्धिनो यानस्य रथस्य ध
युक्तान् वाजिनः त्वक्षु चर्मसु निर्भिद्य प्राभञ्जनिर्मारुतिराचूंषि जीवितार्
अमोचयत् त्याजितवान् । धूर्षु त्वद्विव्रति 'आदेशप्रत्यययोः । ८।३।५९।' इ
षः । प्रत्ययसकारत्वात् । तत्र हि 'इष्कोः' इति वर्तते । परेण च णकारे
प्रत्याहारः । आचूंषीति 'नुम्विसर्जनीय शर्व्यवायेऽपि । ८।३।५८।' इति पत्वम्
'सहेः साडः सः । ८।३।५६।' इति छन्दोविषयत्वान्नोदाहृतम् । ततः 'छन्दा
सहः । ३।२।६३।' इति ण्विप्रत्ययस्य विधानात् । एवं च 'पृतनापाड्द्विष' इ
पाठान्तरमयुक्तम् ॥ ६७ ॥

सुपुपुस्ते यदा भूमौ रावाणिः सारथि तदा ।

आहर्तुमन्यानाशिपत्प्रोपितत्रासकर्कशः ॥ ६८ ॥

सुपुपुस्तेत्यादि—ते यदा भूमौ सुपुपुः निपेतुः । आदेशसकारत्व
पूर्ववत् पत्वम् । तदा रावाणिरन्यानश्वानाहर्तुमानेतुं सारथिमशिपन् आदि
वान् । 'सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च । ३ । १ । ५६ ।' इत्यङ् । 'शास इद् इहलोः । ३
४।३।४।' इतीकारः । 'शासिवसिधसीनां च । ८ । ३ । ६० ।' इति पत्वम्

। तत्रासः प्रोषिताद्रामादुपगतभयः । कर्कशश्च रौद्रः । प्रोषित इति यजादि-
संप्रसारणम् । पत्वं पूर्ववत् ॥ ६८ ॥

प्रतुष्टूपुः पुनर्युद्धमासिषञ्जयिषुर्भयम् ।

आतस्थौ रथमात्मीयानुत्सिसाहयिषन्निव ॥ ६९ ॥

प्रतुष्टूरित्यादि—अश्वा आनीता इति पुनरपि युद्धं प्रतुष्टूपुः प्रस्तोतुमार-
मेच्छुः सन् । ‘अञ्जनगमां सनि । ६।४।१६।’ इति दीर्घः । ‘सनाशंस-
त् ४।३।२।१६८।’ इत्युः । ‘न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थवृत्ताम् । २।३।६९।’
पृष्ठीप्रतिषेधः । रथमातस्थौ आरूढवान् । भयमासिषञ्जयिषुः संश्लेषयि-
मेच्छुः हनूमता । अत्र स्तौतेः सनि पत्वभूतसञ्जेश्च ‘स्तौतिष्योरेव
यभ्यासात् । ८।३।६१।’ इति अभ्यासादुत्तरस्य षत्वम् । आत्मीयान्
यानुत्सिसाहयिषन्निव उत्साहयितुमिच्छन्निव युध्यध्वमिति । स्तौती-
दिना पत्वे प्राप्ते ‘सः स्विदिस्वदिसहीनां च । ८।३।६२।’ इति षकारस्य
ःत्वम् ॥ ६९ ॥

वलान्यभिषिषिक्षन्तं तरुभिः कपिवारिदम् ।

विजिगीषुः पुनश्चक्रे व्यूहं दुर्जयमिन्द्रजित् ॥ ७० ॥

वलानीत्यादि—कपिवारिदं कर्पिं वारिदमिव । वलान्यभिषिषिक्षन्तं
रुभिः अभिषेक्तुं छादयितुमिच्छन्तम् । ‘स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यसस्य । ८।
। ६४ ।’ इत्यभ्याससकारस्य च षत्वम् । तमेवंविधं कपिम्
विजिगीषुर्विजेतुमिच्छुः इन्द्रजित् । ‘सँल्लिटोर्जेः । ७।१।५७।’ इति कुत्वम् ।
नव्यूहं वलसन्निवेशं दुर्जयाख्यं चक्रे । हस्त्यश्वादिसैनिकानां मण्डलस्थित्या
वेरच्यते ॥ ७० ॥

अभिष्यन्तः कर्पिं क्रोधादभ्यषिञ्चन्निवात्मनः ।

सम्प्रहारसमुद्भूतै रक्तैः कोष्णैररुश्च्युतैः ॥ ७१ ॥

अभिष्यन्त इत्यादि—राक्षसाः क्रोधादात्मनोऽभिष्यन्तः अन्तं नयन्तः ।
पोऽन्तकर्मणि’ इत्यस्माच्छतारि ‘ओतः श्यनि । ७।३।७१’ इत्योकारलोपः ।
‘उपसर्गात्सुनोतिसुवतिस्यतिस्तौतिसोभतिस्थासेनयसेधसिचसञ्जेश्चाम् । ८।
३।६५।’ इति पत्वम् । सम्प्रहारसमुद्भूतैः रक्तैः कोष्णैरीपदुष्णैः । अरु-
श्च्युतैः व्रणान्निर्गतैः कपिमभ्यापिञ्चन्निव अभिषिक्तवन्त इव । लाङ्गि रूपम् ।
‘प्राक् सितादङ्गव्यायेऽपि । ८।३।६३।’ इति पत्वम् ॥ ७१ ॥

सङ्ग्रामे तानधिष्ठास्यन् निषद्य पुरतोरणम् ।

अविषीदन्नवष्टब्धान् व्यष्टभ्रान् नरविष्वणान् ॥ ७२ ॥

सङ्ग्राम इत्यादि—ये प्राणिनः अभिषिञ्चन्ति तान्नरविष्वणान् राक्षसङ्ग्रामे अधिष्ठास्यन् अस्वतन्त्रीकरिष्यन् कपिः । ‘उपसर्गात्सुनोतिहस्यतिस्तौतिस्तोभतिस्थासेनयसेधसिचसञ्जस्वञ्जाम् । ८।३।६५।’ इति पुरतोरणं पुरद्वारं व्यष्टभ्रात् आश्रितवान् । निषद्य तत्रैव पुरतोतरणे । प्राणिनो मा प्रविक्षुरिति अविषीदन् विषाद्गमगच्छन् । निषद्याविषीदत् ‘सदिरप्रतेः । ८।३।३६।’ इति षत्वम् । अवष्टब्धान् अविदूरान् । ‘अवास्वनाविदूर्ययोः । ८।३।६८।’ इति षत्वम् । व्यष्टभ्रादिति अङ्गव्याये वेः । ८।३।६७।’ इति षत्वम् । ‘स्तन्भुस्तुन्भुस्कन्भुस्कुन्भुस्कुञ्भ्यः श्नुश्च । ३।१। इति स्नाप्रत्ययः । सशब्दायामभ्यवहारक्रियायां स्वनतिर्वर्तते । विष्वणा इति समासः । नरान् सशब्दमभ्यवहरन्त इत्यर्थः । ‘विश्वभोजने । ८।३।६९।’ इति षत्वम् ॥ ७२ ॥

विषह्य राक्षसाः क्रुद्धाः शस्त्रजालमवाकिरन् ।

यन्न व्यषहतेन्द्रोऽपि कपिः पर्यषहिष्ट तत् ॥ ७३ ॥

विषह्येत्यादि—विषह्य सोढ्वा कपिचेष्टितमित्यर्थात् । ‘सात्पदाद्योः । ८।१।१।’ इति प्रतिषेधे प्राप्ते ‘परिनिविभ्यः सेवसितसयसिबुसहस्वञ्जाम् । ८।३।७०।’ इति षत्वम् । राक्षसाः क्रुद्धाः शस्त्रजालमवाकिरन् प्रवन्तः । लङि रूपम् । यच्च शस्त्रजालमिन्द्रोऽपि न व्यषहत न सोढ लङि रूपम् । तत्कपिः पर्यषहिष्ट । लुङि रूपम् । सहेः ‘सिवादीनां वाङ्ग्येऽपि । ८।३।७१।’ इति विभाषा षत्वम् ॥ ७३ ॥

विष्यन्दमानरुधिरो रक्तविस्यन्दपाटलान् ।

विष्कन्तृन्परिघेणाहन्नविस्कन्ता कपिर्द्विषः ॥ ७४ ॥

विष्यन्देत्यादि—विष्यन्दमानरुधिरः क्षरद्रक्तः कपिः परिघेणाहन्तवान् । द्विषः शत्रून् । रक्तविस्यन्दपाटलान् रक्तस्रुतिलोहितान् ‘अर्तुभिनिभ्यः स्यन्दतेरप्राणिषु । ८।३।७२।’ इति विभाषा षत्वम्, रक्तमित्वात् । विष्कन्तृन् । विविधं स्कन्तुं गन्तुं शीलमेपामिति तृन् । अर्ति कपिः अगमनशील स्थानशील इत्यर्थः । ‘वेः स्कन्देरनिष्ठायाम् । ८।३। इति विभाषा षत्वम् ॥ ७४ ॥

मघनादः परिस्कन्दन् परिष्कन्दन्तमाश्वरिम् ।

अवघनादपरिस्कन्दं ब्रह्मपाशेन विस्फुरन् ॥ ७५ ॥

मघनाद इत्यादि—मघनाद इन्द्रजित् परिस्कन्दन् परितो भ्रमन् । परिष्कन्तं परिभ्रमन्तमरिं कपिं ब्रह्मपाशेन ब्रह्मणा दत्तेन पाशेन आशु शीघ्रमवघ्नात् वान् । लिङि श्राप्रत्यये रूपम् । 'परेश्च । ८ । ३ । ७४ ।' इति वा पत्वम् । रिस्कन्दम् अप्राच्यभरतत्वात् । तेन 'परिस्कन्दः प्राच्यभरतेषु' इति निपात-
। विस्फुरन् द्वेषादुद्गच्छन्नित्यर्थः । 'स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः । ८ । ३ । ७६ ।'
विभाषा पत्वम् ॥ ७५ ॥

विस्फुलद्भिर्गृहीतोऽसौ निष्फुलः पुरुषाऽशनैः ।

विष्कम्भितुं समर्थोऽपि नाऽचलद्ब्रह्मगौरवात् ॥ ७६ ॥

विस्फुलद्भिरित्यादि—असौ कपिः पुरुषाशनैः राक्षसैः विस्फुलद्भिः हर्षालिद्भिर्गृहीतः । निष्फुलः सतेजाः । निष्फुलति दीप्यतीति पचाद्यच् । अद्विभाषा पत्वम् । विष्कम्भितुं व्यापारितुं समर्थोऽपि ब्रह्मगौरवान्नाचलत् चलितः । मा भून्मोघो ब्राह्मः पाश इति । 'विः स्कभ्रातेर्नित्यम् । ८ । ३ । ७६ ।' इति पत्वम् ॥ ७६ ॥

कृषीद्वं भर्तुरानन्दं मा न प्रोढ्वं द्रुतं वियत् ।

वानरं नेतुमित्युच्चैरिन्द्रजित्प्रावदत् स्वकान् ॥ ७७ ॥

कृषीद्वमित्यादि—भर्तुः रावणस्य आनन्दं कृषीद्वं कुरुध्वम् । लिङि रूपम् । ॥ वानरं द्रुतं नेतुं वियदाकाशं मा न प्रोढ्वं मा नोत्पतिष्ट । माङि इ । 'इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात् । ८ । ३ । ७८ ।' इति धकारस्य न्यङकारः । इत्येवमुच्चैरिन्द्रजित् स्वकान् भृत्यान् प्रावदत् । वदे-
ङ् रूपम् ॥ ७७ ॥

गतमङ्गुलिषङ्गं त्वां भीरुष्ठानादिहाऽऽगतम् ।

खादिष्याम इति प्रोचुर्नयन्तो मारुतिं द्विषः ॥ ७८ ॥

गतमित्यादि—अङ्गुलीनां सङ्गः अङ्गुलिषङ्गस्तं गतं प्राप्तम् । हस्तप्राप्तमित्य-
। 'समासेऽङ्गुलेः सङ्गः । ८ । ३ । ८० ।' इति पत्वम् । भीरोः कातरस्य यत्-
नं तस्माद्भीरुष्ठानादिहागतम् । 'भीरोः स्थानम् । ८ । ३ । ८१ ।' इति पत्वम् ।
दिष्याम इति प्रोचुः । द्विषो राक्षसा मारुतिं नयन्तो नेष्यन्तः । वर्तमान-
भीष्ये भविष्यति लट् ॥ ७८ ॥

अग्निष्टोमादिसंस्थेषु ज्योतिष्टोमाऽऽदिषु द्विजान् ।

योऽरक्षीत्तस्य दूतोऽयं मानुषस्येति चावदन् ॥ ७९ ॥

अग्नीत्यादि---अग्निष्टोमादिसंस्थेषु सदृशेषु ज्योतिष्टोमादिषु यो द्वि-
रक्षीत् तस्य मानुषस्यायं दूत इति चावदन् । नयन्तो द्विषः । 'अग्नेः स्तुतं
सोमाः । ८ । ३ । ८२ ।' 'ज्योतिरायुषः स्तोमः । ८ । ३ । ८३
इति षत्वम् ॥ ७९ ॥

नासां मातृष्वसेय्याश्च रावणस्य लुलाव यः ।

मातुः स्वसुश्च तनयान् खरादीन्निजघान यः ॥ ८० ॥

नासामित्यादि---रावणस्य या मातुः स्वसा भगिनी सा मातृष्व-
'मातृपितृभ्यां स्वसा । ८ । ३ । ८४ ।' इति षत्वम् । तस्या अपत्यं मा-
सेयी । 'मातृष्वसुश्च । ४ । १ । १३४ ।' इति ठगन्तलोपौ । तस्या यो-
लुलाव । मातुः स्वसुश्च तनयान् खरादीन्निजघान । 'मातुः पितृभ्यामन-
स्याम् । ८ । ३ । ८५ ।' इति षत्वाभावपक्षे 'विभाषा स्वसृपत्योः । ६ । ३ ।
इति षष्ठ्या अलुक् ॥ ८० ॥

प्रादुःषन्ति न संत्रासा यस्य रक्षःसमागमे ।

तस्य क्षत्रियदुःषूतेरयं प्रणिधिरागतः ॥ ८१ ॥

प्रादुरित्यादि---यस्य रक्षःसमागमे संत्रासाः भयानि न प्रादुःषन्ति न
प्रादुर्भवन्ति । 'उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः । ८ । ३ । ८७ ।' इति दुःशब्दादु-
स्थास्तिसकारस्य 'असोरलोपः । ६ । ४ । १११ ।' इत्यलोपे कृते षत्वम् । प्रादुः-
सकारस्य च षत्वम् । तस्य क्षत्रियदुःषूतेः दुष्पुत्रस्यायं प्रणिधिरागत इति
चावदन् नयन्तः । सूयत इति सूतिः । दुर्निन्दायामिति । सूतेः सकारस्य
'सुविनिर्दुर्भ्यः सुपिसूतिसमाः । ८ । ३ । ८८ ।' इति षत्वम् ॥ ८१ ॥

दृष्ट्वा सुषुप्तं राजेन्द्रं पापोऽयं विषमाशयः ।

चारकर्मणि निष्णातः प्राविष्टः प्रमदावनम् ॥ ८२ ॥

दृष्टेत्यादि---राजेन्द्रं रावणं दृष्ट्वा प्रमदावनं प्राविष्टः । सुषुप्तं गच्छ-
निद्रम् । 'वचिस्वपियजादीनां किति । ६ । १ । १५ ।' इति सम्प्रसारणम् ।
पापोऽयं विषमाशयः । 'सुविनिर्दुर्भ्यः सुपिसूतिसमाः । ८ । ३ । ८८ ।' इति षत्वम् ।
चारकर्मणि निष्णातः कुशलः । 'निनदभ्यां स्नातेः कौशले । ८ । ३ । ८९ ।' इति
षत्वम् ॥ ८२ ॥

अथ पञ्चभिः कुलकम् ।

सुप्रतिष्णातसूत्राणां कपिष्ठलसमत्विषाम् ।

स्थितां वृत्ते द्विजातीनां रात्रावैक्षत मैथिलीम् ॥ ८३ ॥

सुप्रतीत्यादि---येषां द्विजातीनां सुप्रतिष्णातानि ग्रन्थतोऽर्थतश्च निश्चितानि
त्राणि तेषां सुप्रतिष्णातसूत्राणाम् । 'सूत्रं प्रतिष्णातम् । ८ । ३ । ९० ।'
ते निपातनम् । कपिष्ठलसमत्विषां कपिष्ठलो नाम द्विजर्षभो गोत्रप्रवर्तकः ।
कपिष्ठलो गोत्रे । ८ । ३ । ९१ ।' इति साधुः । तत्सुल्यतेजसां द्विजातीनां वृत्ते
रिते स्थितां मैथिलीं रात्रौ ऐक्षत ॥ ८३ ॥

कीटशीमित्याह---

सर्वनारीगुणैः प्रष्टां विष्टरस्थां गविष्टिराम् ।

शयानां कुष्ठले तारां दिविष्टामिव निर्मलाम् ॥ ८४ ॥

सर्वेत्यादि---यावन्तो नारीगुणाः तैः प्रष्टाम् अग्रगामिनीम् । 'प्रष्टोऽग्र-
गामिनि । ८ । ३ । ९२ ।' इति साधुः । विष्टरस्थामासनस्थाम् । 'वृक्षासनयोर्विष्टरः
८ । ३ । ९३ ।' इति साधुः । गविष्टिरां वाचि स्थिराम् । 'गवियुधिभ्याम् स्थिरः
८ । ३ । ९५ ।' इति पत्वम् । अस्मादेव वचनात् सप्तम्या अलुक् । कुष्ठले
शयानां कोः स्थले भूतले शुद्धे । 'विकुशमिपरिभ्यः स्थलम् । ८ । ३ । ९६ ।'
ति पत्वम् । दिविष्टां दिवि तिष्ठतीति 'सुपि स्थः । ३ । २ । ४ ।' इति कः ।
त्पुरुषे कृति बहुलम् । ६ । ३ । १४ ।' इति सप्तम्या अलुक् । गगनस्थां
राभिव निर्मलाम् । 'अम्बाम्बगोभूमिसन्यापद्वित्रिकुशेशुक-
शुमञ्जिपुञ्जिपरमेवर्हिर्दिव्याग्निभ्यः स्थः । ८ । ३ । ९७ ।' इति पत्वम् ॥ ८४ ॥

सुपाम्नीं सर्वतेजस्तु तन्वीं ज्योतिष्टमां शुभाम् ।

निष्टपन्तीमिवाऽऽत्मानं ज्योतिःसात्कुर्वती वनम् ॥ ८५ ॥

सुपाम्नीमित्यादि---शोभनं साम यस्या इति विग्रह्य 'अन उपधालो-
पेनोऽन्यतरस्याम् । ४ । १ । २ । ८ ।' इति ङीप् । 'सुपामादिपु च । ८ । ३ । ९८ ।'
ति पत्वम् । सुप्तु प्रियंवदामित्यर्थः । तन्वीं कृशाम् । शुभां कल्याणीम् ।
सर्वतेजस्तु ज्योतिष्टमाम् अतिशयेन ज्योतिष्मतीम् । 'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते
८ । ३ । १०१ ।' इति पत्वम् । एवं च कृत्वा निष्टपन्तीमिवात्मानं सकृज्ज्वल-
न्तीमिवात्मानम् । 'निसस्तपतावनासेवने । ८ । ३ । १०२ ।' इति पत्वम् । वनं
ज्योतिःसात्कुर्वती अज्योतिर्ज्योतिः कुर्वाणाम् । कात्स्न्येन दीपयन्तीमित्यर्थः ।

कात्स्न्ये सातिप्रत्ययः । तत्र 'नुम्विसर्जनयिशर्व्यायेऽपि । ८।३।५८।'
प्राप्तस्य पत्वस्य 'सात्पदाद्योः । ८।३।१११।' इति प्रतिषेधः । युष्मद्विज्ञा
नोदाहृतं छान्दसत्वात् ॥ ८५ ॥

मधुसाङ्गतकिञ्जलकपिञ्जरभ्रमराकुलाम् ।

उल्लसद्भूत्कुसुमां पुण्यां हेमरत्नलतामिव ॥ ८६ ॥

मध्वित्यादि---मधुसाङ्गतकिञ्जलकं कात्स्न्येन मधुतामापन्नम् यत्किञ्च
पुष्पकेसरं तन्मधुसाङ्गतकिञ्जलकम् । 'आदेशप्रत्यययोः । ८।३।५९।' प्रा
प्तस्य पूर्ववत्प्रतिषेधः । तेन पिञ्जराः पिङ्गलाः ये भ्रमराः तैराकुल
उल्लसत्कुसुमां चलत्पुष्पाम् हेमरत्नलतामिव । यथा हेमरत्नमयी कल्पतरु
पुण्यां पवित्रां तद्वत्तामपीत्यर्थः ॥ ८६ ॥

विलोचनाम्बु मुञ्चन्तीं कुर्वाणां परिसेसिचाम् ।

हृदयस्येव शोकाऽग्निसंतप्तस्योत्तमव्रताम् ॥ ८७ ॥

विलोचनेत्यादि---विलोचनाम्बु अश्रु मुञ्चन्तीं विक्षिपन्तीम् । हृदय
शोकाग्निसंतप्तस्य परिसेसिचाम् भृशं निर्वाणमिव कुर्वाणामैक्षतेति १
सम्बन्धः । सिचैर्यङन्तात् स्त्रीलिङ्गे भावे अकारप्रत्ययः । 'उप
त्सुनोतिसुवतिस्थीतस्तौतिस्तौभतिस्थासेनयसेधसिचसञ्जस्वञ्जाम् । ८।३।६
इत्यभ्यासव्यवायेऽपि प्राप्तस्य पत्वस्य 'सिचो यङि । ८।३।१११ः'
इति प्रतिषेधः । उत्तमव्रतां पतिव्रतात्वात् ॥ ८७ ॥

दृष्ट्वा तामभनग्वृक्षान्द्विषो व्रन्परिसेधतः ।

परितस्तान्विचिक्षेप क्रुद्धः स्वयमिवानिलः ॥ ८८ ॥

दृष्ट्यादि---तां दृष्ट्वा वृक्षानभनक् चूर्णितवान् । द्विषः शत्रून् परिसेधतः
आगच्छतः व्रन् हिंसन् । पूर्ववत्प्राप्तस्य 'संधतेर्गतौ । ८।३।११३।' इति प्रतिषेधः ।
परितश्च समन्तादुद्विचिक्षेप उन्मूलितवान् । लिटः संयोगादित्वात्किञ्च गुणः
क्रुद्धः स्वयमिव साक्षादिवानिलः ॥ ८८ ॥

अप्रतिस्तव्यविक्रान्तमनिस्तव्यो महाहवे ।

विस्रोढवन्तमस्त्राणि व्यतस्तम्भद्वनध्वनिः ॥ ८९ ॥

अप्रतीत्यादि---वनध्वनिर्मेघनादः अनिस्तव्योऽतमिभूतः अप्रतिनव
विक्रान्तम् अनाभिभूतविक्रमं कपिम् । 'स्तम्भेः । ८।३।६७।' इति प्राप्तस्य पत्वस्य
'प्रतिस्तव्यनिस्तव्यौ च । ८।३।११४।' इति प्रतिषेधनिपातनम् । अस्त्राणि मत्-

वेधिसोढवन्तं 'सोढः । ८।३।११५।' इति प्रतिषेधः । व्यतस्तम्भत् निष्पादि-
मान् । एवं नयन्तोऽवदानिति चोच्यम् । स्तम्भेर्ष्यन्तस्य 'स्तम्भुसिवुसहां-
ङि । ८।३।११६।' इति पत्वप्रतिषेधः ॥ ८९ ॥

ते विज्ञायाभिसोष्यन्तं रक्तै रक्षांसि सव्यथाः ।

अन्यैरप्यायतं नेहुर्वरत्राशृङ्गलाऽऽदिभिः ॥ ९० ॥

त इत्यादि---ते राक्षासाः ये मारुतिं नेष्यन्तः । रक्तैः रक्षांसि विसोष्यन्तं
भियेक्ष्यन्तं कपिम् । 'मुनोतेः स्यसनोः । ८।३।११७।' इति न पत्वम् । यद्या-
प्यमाणो न नीयेत अवश्यम् राक्षासान् रक्तः सोष्यतीति विज्ञाय सव्यथाः
भयाः सन्तः । अन्यैरपि वरत्राशृङ्गलादिभिरायतं दीर्घं नेहुः वधन्ति स्म ।
'ह वन्धने' इत्यस्य लिटि रूपम् ॥ ९० ॥

विपसादेन्द्रजिह्नुद्धा बन्धे बन्धान्तरक्रियाम् ।

दिव्यबन्धो विपहते नापरं बन्धनं यतः ॥ ९१ ॥

इति पत्वाधिकारः ॥

विपसादेत्यादि---बन्धे दिव्ये बन्धान्तरक्रियां बन्धनविशेषकरणं बुद्ध्याः
द्रुजिन् विपसाद् विपादमुपगतः । नियतं दिव्यबन्धं मुक्तवानिति । यतो
व्यबन्धो नापरं स्वयं बन्धनं विपहते । अतो विपसादेति चोच्यम् । सदिस-
ज्याः परस्य लिटि पत्वप्रतिषेधः । पूर्वस्य तु 'सदिरप्रतेः । ८ । ३ । ६६ ।'
ते भवत्येव । विपहत इति न प्रतिषेधः । तत्र सोढरूपस्य ग्रहणात् ॥ ९१ ॥
ते मूर्धन्याधिकारः ।

इतःप्रभृति णत्वमधिकृत्याह--

मुष्णन्तमिव तेजांसि विस्तीर्णोरस्थलं पुरः ।

उपसेदुर्दशग्रीवं गृहीत्वा राक्षसाः कपिम् ॥ ९२ ॥

मुष्णन्तमित्यादि---राक्षसाः पुरः कपिमादाय दशग्रीवमासेदुः ढौकितव-
ः । न्तु दर्शनगोचरं गताः । अत्रमातत्वान् । कीदृशम् । तेजांसि मुष्णन्तमिव
ण्डयन्तमिव । विस्तीर्णोरःस्थलं विस्त्रुतवक्षसम् । तत्र 'षाभ्यां नो
ः समानपदे । ८ । ४ । १ ।' इति णत्वम् ॥ ९२ ॥

बहुधा भिन्नमर्माणो भीमाः खरणसाऽऽद्यः ।

अथेवणं वर्तमाने प्रतीच्यां चन्द्रमण्डले ॥ ९३ ॥

बहुधेत्यादि—वानरद्विषो राक्षसा ऊचुरिति वक्ष्यमाणेन सन्बन्धः
 कीदृशाः किमूचुरित्याह—बहुधा भिन्नमर्माण इति । यानि कालान्तं
 प्राणहराणि मर्माणि तानि बहुधा भिन्नानि येषामिति बहुव्रीहिः । अत्र
 वर्गसमुदायस्य व्यवधानात् ‘अट्कुत्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि । ८।४।२।’ इति णत्वम्
 खरणसादयः खरस्येव नासिका यस्येति । ‘अब्नासिकायाः संज्ञायां नसं च
 स्थूलात् । ५।४।११८।’ इत्यच् नसादेशश्च । ‘पूर्वपदात्संज्ञायामगः । ५।४।११८
 इति णत्वम् । खरणसादयो राक्षसाः । वनस्याग्रे अग्रेवणम् । राजदन्तात्
 त्वात्परनिपातः । ‘वनं पुरगामिश्रकासिध्रकासारिकाकोटराग्रेभ्यः । ८।४।४
 इति णत्वम् । प्रतीच्यां दिशि यद्वनं तस्य वनस्याग्रे उपरि वर्तमाने चन्द्रमण्ड
 ‘प्रभातसंध्यायामित्यर्थः ॥ ९३ ॥

निर्वणं कृतशुद्यानमनेनाऽऽम्रवणाऽऽदिभिः ।

देवदारुवनामिश्रैरित्यूचुर्वानरद्विषः ॥ ९४ ॥

निर्वणमित्यादि—उद्यानं संनिवेशविशेषः निर्वणं वृक्षरहितम् अनेन
 कपिना कृतम् । आम्रवणादिभिरुपलक्षितम् । उभयत्रापि ‘प्रनिरन्तःशरे
 क्षुपुक्षान्त्रकापर्णखादिरपीयूक्षाभ्योऽसञ्ज्ञायामपि । ८।४।५।’ इति णत्वम् ।
 देवदारुवनामिश्रैः । ‘विभापौषधिवनस्पतिभ्यः । ८।४।६।’ इति णत्वं न
 भवति । ‘द्वयक्षरत्रयक्षरेभ्य इति वक्तव्यम्’ इति वचनात् । इत्येवमूचुः ॥ ९४ ॥

उपास्थिपत सम्प्रीताः पूर्वाह्ने रोषवाहणम् ।

राक्षसाः कपिमादाय पतिं रुधिरपायिणाम् ॥ ९५ ॥

उपेत्यादि—ते राक्षसाः पतिमुपास्थिपत उपागताः । दृष्टिपथं गता इत्यर्थः ।
 ‘उपादेवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्’ इति संगतिकरणे
 षड् । ‘स्थाव्वोरिच्च । १।२।१७।’ सम्प्रीता हृष्टाः तेषामनुज्ञातप्रवे-
 शत्वान् । पूर्वाह्ने प्रत्यूषसि । ‘अहोऽदन्तात् । ८।४।७।’ इति णत्वम् ।
 रोषवाहणं कपिमादाय । रोपस्यासनीकृतम् । ‘वाहनमाहितात् । ८।४।८।’
 इति णत्वम् । रोपस्य तत्रार्थीयमानत्वान् । पतिं रुधिरपायिणां राक्षसानाम् ।
 ‘पानं देशे । ८।४।९।’ इति णत्वम् ॥ ९५ ॥

सुरापाणपरिक्षीवं रिपुदर्पहरोदयम् ।

परस्त्री वाहिनं प्रापुः साऽऽविष्कारं नुरापिणः ॥ ९६ ॥

सुरेत्यादि—सुरापाणात्परिक्षीवं मत्तं रावणम् । ‘वा भावकरणयोः ।
 ८।४।१०।’ इति ‘णत्वम् । रिपुदर्पहर उदयो वृद्धिर्यस्य तन् । परिक्रि-
 तं

हृदितुमुपभोक्तुं शीलं न्य न परस्त्रीवाहितम् । 'प्रातिपदिकान्तनुम्-
भक्तिषु च । ८।४।११' इति णत्वाभावः पाक्षिकः । प्रापुः सुष्टु निकटो-
ताः । साविष्काराः साहङ्गाराः । सुरापिणः सुरार्पयुक्ताः । सुरां
वन्तीति 'नापोष्ट् ३।२।८' इति टक् । ते श्रेयां सन्तीति सत्वर्थीयः । 'एका-
न्तरपदे णः । ८।४।१२' इति णत्वम् । उत्तरस्य प्रातिपदिकान्तस्यै-
त्त्वान् ॥ ९६ ॥

संवर्षयोगिणः पादौ प्रणेमुस्त्रिदशद्विषः ।

प्रहिण्वन्तो हनूमन्तं प्रमीणन्तं द्विषन्मतीः ॥ ९७ ॥

समित्यादि—संवर्षयोगिनः स्वर्षयोगिनः । 'कुमति च । ८।४।१३'
ति णत्वम् । ते अन्योऽन्याभिभवच्छया त्रिदशद्विषो रावणस्य पादौ प्रणेषुः ।
अपसर्गादिस्मासेऽपि णोपदेशस्य । ८।४।१४' इति णत्वम् । हनूमन्तं प्रहि-
वन्तः ढौक्यन्तः । द्विषन्मतीः शत्रुबुद्धीः प्रमीणन्तम् अभिभवन्तम् । 'मीव्
'सायाम्' क्लेशादिकः । 'हिनुमीना । ८।४।१५' इति णत्वम् ॥ ९७ ॥

प्रवपाणि शिरो भूमौ वानरस्य वनच्छिदः ।

आमन्त्रयत संक्रुद्धः समितिं रक्षसां पतिः ॥ ९८ ॥

प्रवपाणीत्यादि—अस्य वानरस्य वनच्छिदः शिरो भूमौ प्रवपाणि
उत्त्वा पातयाभि । 'आनि लोट् । ८।४।१६' इति णत्वम् । अपिरत्र
तने वर्तते । संक्रुद्धः रक्षसां पतिः स्वामी समितिं समूहम् आमन्त्रयत
पितवान् ॥ ९८ ॥

प्रण्यगादीत् प्रणिघ्नन्तं घनः प्रणिनदन्निव ।

ततः प्रणिहितः स्वार्थे राक्षसेन्द्रं विभीषणः ॥ ९९ ॥

प्रण्यगादीदित्यादि—तत उत्तरकालं विभीषणो राक्षसेन्द्रं प्रणिघ्नन्तं
नुमारभमाणं प्रण्यगादीत् वक्तुं प्रवृत्तः । घन इव प्रणिनदन् गर्जनम् । स्वार्थे
राक्षसेन्द्रस्य प्रणिहितोऽवहितमनाः । सर्वत्र 'नेर्दिनदपतपदधुमास्यति-
नित्यातिवातिद्रातिप्सातिवपतिवहतिशान्यतिचिनोतिदोषिषु च । ८।४।१७'
ति णत्वम् ॥ ९९ ॥

प्रणिशाम्य दशग्रीव ! प्रणिघातुमलं रुषम् ।

प्रणिजानीहि हन्यन्ते दूता दोषे न सत्यपि ॥ १०० ॥

प्रणिशाम्येत्यादि—हे दशग्रीव ! प्रणिशाम्य रोषं त्यज । लोटि वयन्ति
स्पम् । 'अनात्मशानां दीर्यः इयानि । ७।३।७१' इति दीर्यः । सपं प्रणिघातुमलं नू

किञ्चित् । पूर्ववण्णत्वम् । प्रणिजानीहि अवगच्छ । सत्यपि दोषे न ह्य
दूता इति । जानातेः शेषधातोरुपदेशावस्थायां अकखाद्यपान्तत्वात् ।
विभाषा कखादावपान्त उपदेशे । ८।४।१८। इति णत्वम् ॥ १०० ॥

प्राणयन्तमरिं प्रोचे राक्षसेन्द्रो विभीषणम् ।

प्राणिणिपुर्न पापोऽयं, योऽभाङ्क्षीत्प्रमदावनम् ॥ १०१ ॥

प्राणयन्तमित्यादि-अरिं कपिं यः प्राणयति जीवयति तं प्राणयन्
विभीषणम् । 'श्वस प्राणने । अन च' इत्यस्य रूपम् । 'अनितेः । ८।४।१९।
इति णत्वम् । प्रोचे राक्षसेन्द्रः । न प्राणिणिपुः न जीवितुमिच्छुरयं पापः
'उभौ साभ्यासस्य । ८।४।२१।' इति णत्वं द्वयोरपि । योऽभाङ्क्षीत् भग्न
प्रमदावनम् । हलन्तलक्षणा वृद्धिः ॥ १०१ ॥

प्राद्यानिषर्त रक्षांसि येनाऽऽप्तानि वने मम ।

न ग्रहणमः कथं पापं वद पूर्वापकारिणम् ॥ १०२ ॥

प्राद्यानिषतेत्यादि-मम आप्तानि अक्षप्रभृतीनि येन वने प्राद्यानिष
मारितानि । कर्माणि लुङ् । चिष्वदिट् । 'हो हन्तेर्ङिणत्रेषु । ७।३।५४।' इ
चत्वम् । तपरपरिच्छिन्नाकारपूर्वस्य नकारस्य 'हन्तेरत्पूर्वस्य ८।४।२२।
इति णत्वं न भवति । तं पूर्वापकारिणं पापं कथं न ग्रहणमः- मारयाम इति
कथय । 'वमोर्वा । ८।४।२३।' इति णत्वम् ॥ १०२ ॥

वेश्मान्तर्हणनं कोपान्मम शत्रोः करिष्यतः ।

मा कार्पीरन्तरयणं प्रयाणार्हमवेह्यमुम् ॥ १०३ ॥

वेश्मेत्यादि-शत्रोर्वेश्मान्तः गृहमध्य एव हननं कोपान्मम करिष्यतः
'अन्तरदेशे । ८।४।२४।' इति नकारस्य णत्वम् । हननस्याभावरूपस्यादेशत्वानि
अन्तरयणमन्तरायणं विधातं मा कार्पीः 'अयनं च । ८।४।२५।' इति णत्वम्
प्रयाणार्हं दीर्घप्रस्थानार्हममुमवेहि अवगच्छ । 'कृत्यचः । ८।४।२९।' इति णत्वम्
अच उत्तरस्य नकारस्य कृत्स्थत्वात् ॥ १०३ ॥

प्रहीणजीवितं कुर्युर्ये न शत्रुमुपस्थितम् ।

न्याययाया अपि ते लक्ष्म्याः कुर्वन्त्याशु प्रहापणम् ॥ १०४ ॥

प्रहीणेत्यादि-शत्रुमुपस्थितं प्रहीणजीवितं ये न कुर्युः । जहा
'ओदितश्च । ८।२।४५।' इति निष्ठादेशनकारस्य पूर्ववण्णत्वम् । ते न्यायया
अपि कुलक्रमादागताया अपि लक्ष्म्याः प्रहापणं त्याजनं कुर्वन्ति 'योर्विभ
या । ८।४।३०।' इति णत्वम् ॥ १०४ ॥

कः कृत्वा रावणाऽऽमर्षप्रकोपणमवद्यधीः ।

शक्तो जगति शक्रोऽपि कर्तुमायुःप्रगोपणम् ॥ १०५ ॥

कः कृत्वेत्यादि—अवद्यधीः योऽबुद्धिः रावणात्मर्षस्य प्रकोपणमभिवृद्धिं
त्वा आयुःप्रगोपणं कतु शक्रोऽपि कः शक्तः । 'हलश्चेजुपधान् । ८।३।३१'
ति णत्वम् । कृपनुपयोहलन्तयोरिगुपधत्वान् ॥ १०५ ॥

वनान्तप्रेङ्गणः पापः फलानां परिणिसकः ।

प्रणिक्षिप्यति नो भूयः प्रणिन्द्यास्मान्मधून्ययम् ॥ १०६ ॥

वनेत्यादि—प्रेङ्गति गच्छतीति प्रपूर्वादिङ्गेः कर्तार ल्युट् । वनान्तस्य वन-
भीषस्य प्रेङ्गणः । 'इजादेः सनुमः । ८।४।३२' इति णत्वम् । फलानां परि-
णिसकः भक्षयिता । 'णिमि चुग्वने' इत्यग्य रूपम् । अस्मान् प्रणिन्द्य तिर-
कृत्य । भूयः पुनरप्ययं मधूनि नोऽस्माक प्रणिक्षिप्यति भोक्ष्यति । 'णिक्ष
वुम्बने' इत्यग्य रूपम् । 'वा निसनिक्षनिन्दाम । ८।३।३३' इति णत्वम् ॥ १०६ ॥

हरेः प्रगमन नास्ति न प्रभानं हिमद्रुहः ।

नाऽतिप्रवेपनं वायोर्मया गोपायिते वने ॥ १०७ ॥

हरेरित्यादि—मया गोपायिते रक्षिते वने हरेरिन्द्रम्यापि चन्द्रस्य वा
प्रगमनं संचारो नास्ति । हिमद्रुहः आदित्यस्य न प्रभानं न प्रकर्षण दीप्तिः ।
वायोनार्तिप्रवेपनं मन्दगमनम् । तदनेन भ्रममित्यर्थान् । 'कृत्यचः । ८।४।२९'
इति प्राप्स्य णत्वस्य 'न भाभूपूकमिगमित्यार्थोवपाम् । ८।४।३४ ।' इत्या-
दिना प्रतिषेधः ॥ १०७ ॥

दुष्पानः पुनरेतेन कपिना भृङ्गसम्भृतः ।

प्रनष्टविनयेनाग्र्यः स्वाद्दुः पुष्पाऽऽसवो वने ॥ १०८ ॥

दुष्पान इत्यादि—पुनरेतेन प्रनष्टविनयेन कपिना पुष्पासवो दुष्पानः
दुःखेन पान्यत इति 'आतो युच् । ३।३।१२८' पात्पदान्तान् । ८।४।३५ ।'
इति णत्वस्य प्रतिषेधः । भृङ्गसम्भृतो भ्रमरसंचितः । प्रनष्ट इति 'नष्टः
पान्तस्य । ८।४।३६' इति प्रतिषेधः । अग्र्यः श्रेष्ठः ॥ १०८ ॥

राषभाममुखेनैवं क्षुभ्रतोक्ते पुवङ्गमः ।

प्रोचे सानुनयं वाक्यं रावणं स्वार्थीसिद्धये ॥ १०९ ॥

इति णत्वाधिकारः ।

रोषेत्यादि--रोषभीममुखेन इति 'पदव्यवाचेऽपि । ८।४।३ इति णत्वप्रतिषेधः, भीममुख इत्यनेन निमित्तनिमित्तिनोर्व्यवधाना 'क्षुभ्रादिषु च । ८।४।३९।' इति णत्वप्रतिषेधः । एवमुक्ते सति प्रवरावणं प्रोचे वक्तुं प्रवृत्तः । वाक्यं वक्ष्यमाणं सांनुनयम् अनुकूलम् । विस्वार्थन्य सिद्धये । स्वार्थश्च सीताप्रत्यर्पणम् ॥ १०९ ॥ इति णत्वाधिकारः

इतः प्रभृति प्रकीर्णकश्लोकानाह--

दूतमेकं कर्षिं बद्धमानतिं वैश्वं पश्यतः ।

लोकत्रयपतेः क्रोधः कथं तृणलघुस्तव ॥ ११० ॥

दूतमित्यादि--दूतं संदेशस्य हारकं एकमद्वितीयम् वद्धम् अस्वतन्त्रीकृतं वैश्वमानतिं पश्यत इति सर्वमेतन्न रोषकारणम् । अतो लोकत्रयपतेस्तवान् तृणवल्लघुरसारः कथं कोपः ॥ ११० ॥

अग्न्याहितजनप्रहे विजिगीषापराङ्मुखे ।

कस्माद्दानीतिनिष्णस्य संरम्भस्तव तापसे ॥ १११ ॥

अग्नोत्यादि--अग्न्याहितजनप्रहे आहिताग्नौ जने प्रवणे । वाहिताग्न्यादिषु पूर्वनिपातः । तस्मिन् विजिगीषापराङ्मुखे त्यक्त्वाव्यत्वात् तापसे रामे । तपःसहस्राभ्यां विनीती । ५।२।१०२। 'अण् च । ५।२।१०३।' इत्यण् । तिनिष्णस्य तव । नीतौ पटुप्रज्ञस्य कस्माद्धेतोः संरम्भः रोषः ॥ १११ ॥

न सर्वरात्रकल्याण्यः स्त्रियो वा रत्नभूमयः ।

यं विनिर्जित्य लभ्यन्ते कः कुर्यात्तेन विग्रहम् ॥ ११२ ॥

नत्यादि--यं विनिर्जित्य सर्वरात्रं कल्याण्यः स्त्रियो न लभ्यन्ते । सर्वाश्च ता रात्रयश्चेति 'पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन । २।१।४९।' इति समासः । 'अहःसर्वैकदेशसङ्ख्यातपुण्याच्च रात्रेः । ५।१।८७।' इत्यच् । सर्वरात्रं कल्याण्य इति सः । वा रत्नभूमयः रत्नाकगाः रत्नातिभूमयश्चेति सः । कः तेन सह विग्रहं कुर्यान् सन्धिरेव युक्तः ॥ ११२ ॥

तदेव दर्शयन्नाह---

संगच्छ रामसुग्रीवौ भुवनस्य समृद्धये ।

रत्नपूर्णाविवाम्भोवी हिमवान् पूर्वपश्चिमां ॥ ११३ ॥

संगच्छत्यादि--यथा रत्नपूर्णाविवाम्भोनिधौ पूर्वपश्चिमां भुवनस्य समृद्धये हिमवान् संगतवान् तथा त्वमपि रामसुग्रीवौ भुवनस्य समृद्धये संगच्छ

खरेत्यादि—खरादिनिधनं चापि, वैरकारणं मा संस्थाः मा ज्ञासीः ।
रूपम् । यस्मादात्मानं संरक्षितुम् तत् खरादिनिधनं कृतं, न तु जिगी
विजेतुमिच्छया ॥ ११७ ॥

ततः क्रोधाऽनिलाऽऽपातकम्प्राऽऽस्याऽम्भोजसंहतिः ।

॥ महाहृद इव क्षुभ्यन् कपिमाह स्म रावणः ॥ ११८ ॥

तत इत्यादि—ततः कपिवाक्यानन्तरं क्रोधोऽनिल इव तस्यापातेन संश्ले
कम्प्रा कम्पनशीला आस्याम्भोजानां मुखपद्मानांः संहतिर्यस्य स एव महा
इव क्षुभ्यन् चलन् । दिवादित्वाच्छयन् ॥ ११८ ॥

हतराक्षसयोधस्य विरुगणोद्याशाखिनः ।

दूतोऽस्मीति ब्रुवाणस्य किं दूतसदृश तव ॥ ११९ ॥

हतेत्यादि—हताः राक्षसयोधाः अक्षप्रभृतयो येन । विरुगणा भग्राः
'ओदितश्च ।८।२।४५।' इति निष्ठानत्वम् । उद्यानशाखिनो येन । तस्यैव
धस्य तव दूतोऽस्मीति ब्रुवाणस्य किं ? दूतसदृशम् । संदेशमात्रस्य प्रापका
दूता इति भावः ॥ ११९ ॥

अभ्याहितजनप्रहे तापसे कस्मात्संरम्भ इत्याह—

पङ्गुबालस्त्रियो निघ्नन् कवन्धखरताडकाः ।

तपस्वी यादे काकुत्स्थः कीटिक् कथय पातकी ॥ १२० ॥

पङ्गुबालेत्यादि—पङ्गुमङ्गविकलं कवन्धं बालं खरं स्त्रियं ताडकां निघ्न
व्यापादयन् यदि तपस्वी काकुत्स्थः, कीटिक् पातकीति कथय ।
किमोरीशु की।६।३।९०।' इति 'की' आदेशः ॥ १२० ॥

यदुक्तं 'यं विनीर्जेत्य स्त्रियो रत्नभूमयश्च न लभ्यन्ते' इत्याह—

अभिमानफलं जानन्महत्त्वं कथमुक्तवान् ।

रत्नादिलाभशून्यत्वान्निष्फलं रामविग्रहम् ॥ १२१ ॥

अभीत्यादि—अभिमानः फलं यस्य महत्त्वस्य तज्जानन् रत्नादिलाभशून्य
रामविग्रहं कथं निष्फलमुक्तवानसि ? । विग्रहे सति अभिमानफलं महत्त्वं
स्यात् ॥ १२१ ॥

निजघानेत्यादि---रामो लतानृगं वानरं बालिनं निजघानेति सत्यमेव
किंतु अन्यसंसक्तं सुर्यावेण सह युध्यमानं हतवान् । तच्च त्वमेव संचिन्त्य
युक्तं तन्महतां यदि ॥ १२३ ॥

पुंसा भक्ष्येण बन्धूनामात्मानं रक्षितुं वधः ।

क्षमिष्यते दशास्येन कृत्येयं तव दुर्मतिः ॥ १२७ ॥

पुंसेत्यादि---आत्मानं रक्षितुं पुंसा भक्ष्येण भक्षणाह्णेण । सतां व
स्वरदूषणादीनां वधो दशास्येन क्षमिष्यते सहिष्यते कृत्येयं कर्मवेयं तव दु
र्दुष्टबुद्धिः । कशब्दान् 'अव्ययात्प । ४ । २ । १०४ ।' 'अमेहकृतसिन्नेभ्य
इति परिगणनात् ॥ १२७ ॥

इदानीं कपिर्दशाननोक्तं दूषयन्नाह---

कपिर्जगाद् दूतोऽहमुपायं तव दर्शने ।

द्रुमराक्षसविध्वंसमकार्षं बुद्धिपूर्वकम् ॥ १२८ ॥

कपितित्यादि---तव दर्शने अन्य उपायो नास्तीति बुद्धिपूर्वकं नि
द्रुमभङ्गं राक्षसविनाशं च उपायमकार्षं कृतवानस्मीति कपिर्जगाद् । अ
दूतोऽहमागत इति मद्रावलिप्तः को मां गणयेत् ? । अतः सहशमेव
कृतमिति ॥ १२८ ॥

आत्रिकूटमकार्षुर्ये त्वत्का निर्जङ्गमं जगत् ।

दशग्रीव कथं ब्रूवे तानवध्यान्महीपतेः ॥ १२९ ॥

आत्रोत्यादि---हे दशग्रीव ! ये त्वत्काः त्वाद्गुणिकाः कवन्त्याद
'स एषां ग्रामणीः । ५ । २ । ७८ ।' इति कन् । आत्रिकूटं त्रिकूटपर्वत
व्याप्य जगत् निर्जङ्गमं निर्जन्तुकमकार्षुः । तान् महीपतेः रामस्य कथ
ध्यान् ब्रूवे ! । अशिष्टनिग्रहो हि महीपतेर्वर्मः । जङ्गम इति गमेर्यङ्लु
स्यापि रूपम् ॥ १२९ ॥

अभिमानफलं प्रोक्तं यत् त्वया राम विग्रहे ।

विनेशुस्तेन शतशः कुलान्वसुररक्षताम् ॥ १३० ॥

अभीत्यादि—‘मा भूद्रामविग्रहे रत्नादिलाभः अभिमानफलं महत्त्वमस्ति’
त यत्त्रया प्रोक्तं तेन निमित्तेन शतशोऽनेकशः असुररञ्जसां कुलानि विने-
ः विनष्टानि ॥ १३० ॥

यत् स्वधर्ममधर्मं त्वं दुर्बलं प्रत्यपद्यथाः ।

रिपौ रामे च निःशङ्को नैतत्क्षेमंकरं चिरम् ॥ १३१ ॥

यदित्यादि—यद्धर्मं परस्त्रीभोगहरणं दुर्बलम् असारम् अश्रेयसामावाहक-
त्वात् । स्वधर्ममात्मीयमाचारं त्वं प्रत्यपद्यथाः प्रतिपन्नवानसि ‘स्वधर्म एव
राशिनाम्’ इति । लङि श्यनि रूपम् । यच्च रिपौ रामे निःशङ्कः निर्भयः
हरसि ‘का मे साशङ्कता त्वयि’ इति । तदेतदभयमपि न चिरं क्षेमंकरं
ल्याणकरम् । ‘क्षेमप्रियभद्रेऽण्च १३१।४४’ इति खच् ॥ १३१ ॥

अन्वयाऽऽदिविभिन्नानां यथा सख्यमनीप्सितम् ।

नैषीर्विरोधमप्येवं सार्धं पुरुषवानरैः ॥ १३२ ॥

अन्वयेत्यादि—यथा नरादीनाम् अन्वयादिभिर्दूरविभिन्नत्वात् सख्यमनी-
प्सितम् आप्तुमनिष्टम्, एवं पुरुषवानरैः सार्धं विग्रहमपि नैषीः
निष्टवानसि ॥ १३२ ॥

विराधं तपसां विघ्नं जघान विजितो यदि ।

वरो धनुर्भृतां रामः स कथं न विवक्षितः ॥ १३३ ॥

विराधमित्यादि—तपसां विघ्नं विराधम् । विहन्यतेऽस्मिन्निति ‘घञ्श्चै
विधानम्’ इति कः । तादृक्छलेनापि हन्तुं न दोषायेति दर्शयति—धनुर्भृतां
वरः श्रेष्ठः सन् विजितोऽभिभूतोऽपि रामो यदि जघान स कथं न विवक्षितः
यतो राममप्यसौ जितवान् ॥ १३३ ॥

प्रणश्यन्नपि नाऽशक्नोदत्येतुं बाणगोचरम् ।

त्वयैवोक्तं महामायो मारीचो रामहस्तिनः ॥ १३४ ॥

प्रणश्यन्नित्यादि—मारीचः प्रणश्यन्नपि पलायनपरोऽपि सन् महामायः
कनकमृगरूपधारित्वात् । रामहस्तिनः रामो हस्तीव तस्य बाणगोचरं बाणप-
द्वयोर् अत्येतुमतिक्रमितुं नाशक्नोत् न शक्तवानिति त्वयैवोक्तम् ; ममारेत्यभिद-
धत्ता न मया । यदि शक्नोति अतिक्रमितुं न ममार ॥ १३४ ॥

अन्याऽऽसक्तस्य यद्वीर्यं न त्वं स्मरसि वालिनः ।

मूच्छावान् नमतः संध्यां ध्रुवं तद्ब्राहुपीडितः ॥ १३५ ॥

अन्यत्यादि--संध्यां देवतां नमतः अन्यासक्तस्य वालिनो यद्वीर्यं साम्प्रतत् ध्रुवमवश्यं त्वं न स्मरसि न चेतयसि । कुतः ब्राहुपीडितः मूच्छावान् जातः । अत एव न स्मरसि येनैवमुक्तवानसि 'निजघातन संसक्तम्' इति ॥ १३५ ॥

असद्वन्धुवधोपज्ञं विमुञ्च बलिविग्रहम् ।

सीतामर्षय नन्तव्ये कोशदण्डाऽऽत्मभूमिभिः ॥ १३६ ॥

असदित्यादि--यतो बलवद्भयोऽपि बलीयान् रामः तस्माद्बलिना रामे सह विग्रहं मुञ्च त्यज । कीदृशम् । बन्धुवधोपज्ञं प्रथमतो ज्ञातिविनाशे विदितमित्यर्थः । उपज्ञायत इत्युपज्ञा । 'आतश्चोपसर्गे । ३ । ३ । १०६ इत्यङ् । बन्धुवधस्योपज्ञेति समासः । 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम् । २१' इति नपुंसकलिङ्गता । तत्सामानाधिकरण्यादसदिति नपुंसकलिङ्गता नन्तव्ये प्राणामार्हे । कोशदण्डात्मभूमिभिः सह सीतामर्षय ॥ १३६ ॥

स्फुटपरुषमसह्यमित्यमुच्चैः सदसि मरुत्तनयेन भाष्यमाणः ।

परिजनमभितो विलोक्य दाहं दशवदनः प्रदिदेश वानरस्य ॥ १३७ ॥

-इति भट्टिकाव्ये नवमः सर्गः ।

इति प्रकीर्णकाः ।

स्फुटेत्यादि--इत्थं स्फुटपरुषम् उक्तप्रकारेण स्फुटं स्पष्टम् परुषं रूक्षम् एवासह्यं सोढुमशक्यम् । उच्चैर्महता ध्वनिना सदसि सभायां मरुत्तनो भाष्यमाणोऽभिहितः इत्थमित्यनेन वस्तुनः परिसमापितत्वात् । तेन वक्तो नसामीप्ये लट् । परिजनमभितः उभयपार्श्वे स्थितान् भृत्यान् विलोक्य वानरस्य दाहं प्रदिदेश आदिष्टवान् ॥ १३७ ॥

इति श्रीजयमङ्गलसूरिविरचितया जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया

समलंकृते श्रीभट्टिप्रणीते रामचरिते काव्ये द्वितीयेऽधिकार-

काण्डे लक्षणरूपे चतुर्थः परिच्छेदः ।

लक्ष्यरूपे कथानके 'मारुतिसंयमो' नाम नवमः सर्गः ।

अधिकारकाण्डं समाप्तम् ।

१ अत्र 'पुष्पिताग्रा' वृत्तम्, 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरा पुष्पिताग्रा' इति तल्लक्षणात् ।

अथ प्रसन्नकाण्डम् ।

दशमः सर्गः ।

शब्दलक्षणमुक्तमपि लक्षयन् काव्यलक्षणार्थं प्रसन्नकाण्डमुच्यते—काव्य-
त्यात्र प्रसन्नत्वात् । प्रथमं चेदं लक्षणं यत् प्रसन्नता नाम अविद्वदङ्गनावालप्रती-
तार्थं प्रसन्नवदिति । शब्दलक्षणं पुनः प्रकीर्णमेव द्रष्टव्यम् । तत्रास्मिन् काण्डे
वत्वारः परिच्छेदाः । अलंकारमाधुर्यप्रदर्शनदोषाः भाषासमावेशश्चेति । तत्रालं-
कारो द्विविधः । शब्दालङ्कारोऽर्थालङ्कारश्चेति । तत्र पूर्वो द्विविधः, अनुप्रासो
यमकं चेति उभयं दर्शयन्नाह—

अनुप्रासवत् ।

अथ स वल्कदुकूलकुथाऽऽदिभिः परिगतो ज्वलदुद्धतवालधिः ।
उदपतदिवमाकुललोचनैर्नृरिपुभिः सभयैरभिवीक्षितः ॥ १ ॥

अथेत्यादि—अथ दाहादेशानन्तरं स वानरो वियदाकाशमुदपतत्
उत्पतितवान् । वल्कम् अंशुकम् 'शुकवल्कोल्का' इति निपातनम् । कुथःकुशः
आदि शब्दादन्यैरपि मुञ्जादिभिः परिगतः परिवेष्टितः । ज्वलन्नुद्धत ऊर्ध्वाकृतो
त्रालधिः पुच्छं यस्य सः । नृरिपुभिः राक्षसैः । सभयैराकुललोचनै-
रभिवीक्षितः किमयमनुष्ठास्यतीति । अनुप्रासवदिति अनुप्रासो यरिमन् विद्यत
इति । तस्य च लक्षणं—'सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते' इति ॥ १ ॥

यमकस्यापि लक्षणम्—'तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम् । वर्णानां
चः पुनर्वादो यमकं तन्निरूप्यते ॥' इति तदनेकविधं दर्शयन्नाह—

युक्पादयमकम् ।

रणपण्डितोऽग्र्यविवुधारिपुरे कलहं स राममहितः कृतवान् ।
ज्वलदाग्निरावणगृहं च बलात् कलहसंराममहितः कृतवान् ॥ २ ॥

१ अथ द्रुतविलम्बितं वृत्तम्, 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ ।' इति
तदलक्षणात् ।

रणेत्यादि—स कपिः वियदुत्पातितो राममहितो रामपूजितः रणपण्डितो युद्धकुशलः अग्र्यविवुधारिपुरे अग्र्यो यो विवुधः इन्द्रः तस्य याऽऽर्दिशाननस्तस्यपुरे लङ्कायां कलहं कृतवान् । कलहं सान् रमयतीति कलहंसरामम् । रमेर्ण्यन्तात्कर्मण्यण् । तादृशं रावणगृहं बलाद्वार्यमाणोऽपि ज्वलदग्नि दीप्यमानपावकं कृतवान् कृतं विद्यते यस्येति कृतापेक्षीत्यर्थः । अहितशत्रुः । युक्पादयमकमिति युजोर्द्वितीयचतुर्थयोः पादयोर्यमितत्वात् ॥ २ ॥

पादान्तयमकम् ।

निखिलाऽभवन् न सहसा सहसा ज्वलनेन पूः प्रभवता भवता ।
वनिताजनेन वियता वियता त्रिपुराऽऽपदं नगमिता गमिता ॥ ३ ॥

निखिलेत्यादि—ज्वलनेनाग्निना प्रभवता वृद्धि गच्छता भवता समुत्पद्यमानेन सहसा तत्क्षणं पूः पुरी निखिला सर्वा न सहसा अभवन् सान्दा न जाता । हासस्यानन्दकार्यत्वात् एवमुक्तम् । 'स्वनहसोर्वा । ३।३।६२। इत्यापि रूपम् । वनिताजनेन वियता नभसा वियता भयादितस्ततो गच्छत त्रिपुरापदं गमिता प्रापिता पूः त्रिपुरेण्वपि दह्यमानेषु भयादितस्ततो जनो गत नगं त्रिकूटपर्वतमिता सती । पादान्तयमकमिति पादान्तेषु यमितत्वात् ॥ ३ ॥

पादाऽऽदियमकम् ।

सरसां सरसां परिमुच्य तनुं पततां पततां ककुभो बहुशः ।
सकलैः सकलैः परितः करुणैरुदितै रुदितैरिव खं निचितम् ॥ ४ ॥

सरसामित्यादि—सरसाम् तोयाशयानां तनुं शरीरम् । सरसां सारं परिमुच्य त्रासात्यक्त्वा पततां पक्षिणां बहुशः बहून् वारान् ककुभो दिशः पततां गच्छतां उदितैः शब्दितैः । वदर्यजादित्वात्सम्प्रसारणम् । सकलैः समस्तैः सकलैः माधुर्यवाद्भिः । कलशब्दस्य गुणमात्रवृत्तित्वान्न तद्वति वर्तते ततश्च सहशब्देन समासो भवति । करुणैः कारुण्यजनकै रुदितैरिव क्रन्दितैरिव परितः समन्तात् खमाकाशं निचितं व्याप्तम् । पादादियमकमिति पादानामादौ यमितत्वात् ॥ ४ ॥

१ अत्र 'प्रमिताक्षरा' वृत्तम् । 'प्रमिताक्षरा सजससैः कथिता' इति तल्लक्षणात्

२ अत्रापि 'प्रमिताक्षरा' छन्दः, तल्लक्षणं चोक्तं प्राक् । ३ अत्र 'तोटकं' वृत्तम् 'इह तोटकमन्बुधिसैः प्रथितम्' इति तल्लक्षणात् । एवमाग्निमेऽपि पद्ये इदमेव छन्दः न चात्र यमकमेव, किं तूत्प्रेक्षाऽपि ।

पादमध्ययमकम् ।

न च कांचन काञ्चनसद्मचिर्तिं न कपिः शिखिना शिखिना समयौत् ।
न च न द्रवता द्रवता परितो हिमहानकृता न कृता क्व च न ॥५॥

न चेत्यादि—काञ्चनसद्मचिर्तिं सौवर्णगृहसंहतिं कांचन कांचिदपि शिखिना
अग्निना शिखिना ज्वालावता न कपिर्न च समयौत् न च न भिश्चि-
त्तवान् । अपि तु संश्लेषे नीतवान् । यौतेर्लुङि 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि ।
७।३।८९।' इति वृद्धिः । क्व क्वचिन्नाम हिमहानकृता हिमहानस्य हिमापचयस्य
कर्त्रा शिखिना । जहातेर्भावे ल्युट् । न च न द्रवता न च न विसर्पता अपि तु
इतस्ततो गच्छता द्रवता द्रवभावः परितः न न कृता । किन्तु कृतैव ।
काञ्चनसद्मचितोरित्यर्थात् । पादमध्ययमकमिति पादानां मध्ये यमि-
त्तत्वात् ॥ ५ ॥

चक्रवालयमकम् ।

अवसितं हसितं प्रसितं मुदा विलसितं हसितं स्मरभासितम् ।
न समदाः प्रमदा हत सम्मदाः पुरहितं विहितं न समीहितम् ॥६॥

अवसितमित्यादि—हसितं यत्प्रसितं संततप्रवृत्तम् । नित्यप्रमुदितत्वा-
च्चतत्रत्यजनस्य तदग्निस्ङ्गमादवसितं अपगतम् । 'षोऽन्तकर्मणि' इत्यस्य
'घातिस्यतिमास्थामिति किति । ७।४।४० ।' इतीत्वम् । मुदा हर्षेषु
यद्विलसितं शृङ्गारविचेष्टितं लसितं श्लिष्टमनुवद्धमिति यावत् । स्मरभा-
सितं मन्मथदीपितम् । हसितम् अल्पीकृतम् । प्रमदाश्च स्त्रियः न समदाः
सर्पा न जाताः हतसंमदा ध्वस्तहर्षाः 'प्रमदसम्मदौ हर्षे । ३।३।
६८।' इति निपातनम् । यच्च पुरहितं पुरानुहूलं समीहितं कर्तुरी-
प्सितं तत्र विहितं नानुष्ठितमित्यर्थः चक्रवालयमकमिति मण्डलाकारेण
यमितत्वात् । तथाहि । द्वयोर्द्वयोः पदयोरन्त्यवर्णानां नेमिवद्रवस्थितत्वात्
मध्यस्य वर्णस्य विसदृशस्य नाभिवदिति । तथाचास्य लक्षणम्—'पदाना-
मवसाने तु वाक्ये स्यात्तुल्यवर्णता । प्रतिपादं भवेद्यत्र चक्रवालं तदु-
च्यते ॥' इति ॥ ६ ॥

समुद्रयमकम् ।

समिद्धशरणा दीप्ता देहे लङ्का मतेश्वरा ।

समिद्धशरणादीप्ता देहेऽलं कामतेश्वरा ॥ ७ ॥

समिद्धेत्यादि--देहे अभ्यन्तरभागे समिद्धशरणा उज्ज्वलगृहा तत एव दीप्ता शोभावती लङ्का पुरी मतेश्वरा ज्ञातमहादेवा । तत्रान्यदेवस्य नामापि न गृह्यते । समिद्धो दधति हतवन्तो वेति समिद्धा ऋषयः । पूर्वस्मात् 'आतोऽनुपसर्गे कः । ३ । २ । ३ ।' इति कः । द्वितीयस्मात् 'अन्येष्वपि दृश्यते । ३ । २ । १०१ ।' इति डः । अपिशब्दस्य सर्वोपाधिव्यभिचारार्थत्वात् धात्वन्तरादपि भवति 'झयो होऽन्यतरस्याम् । ८ । ४ । ६२ ।' इति पूर्वसवर्णः । तान् शृणन्ति हिंसन्तीति । 'कृत्यल्युटो बहुलम् । ३ । ३ । ११३ ।' इति कर्तरि ल्युट् । समिद्धशरणा राक्षसास्तान् दानमानाभ्यामादीपयति प्रोत्साहयतीति क्तिप् । समिद्धशरणादीप् । रावणः तेन ताथ्यते इति तायतेः कर्मणि कारके विवक्षिते संपदादिदर्शनात् क्तिप् । 'वेरपृक्तस्य । ६ । १ । ६७ ।' इति 'लोपात्पूर्वं लोपो व्योर्वलि । ६ । १ । ६६ ।' इति लोपः । समिद्धशरणादीप्ता रावणस्य पालनीया । समिद्धशरणादीप्ता लङ्का देहे दग्धा । अलं कामोऽस्येत्यलं कामः । तद्भावः अलं कामता । तस्यामलं कामतायां पर्याप्तेच्छायां ईश्वरा लङ्का । सर्वेच्छासम्पादनात् । समुद्रयमकमिति समुद्राकारेण यमितत्वात् पादद्वययोरर्धद्वययोश्च संपुटवत्सादृश्यम् ॥ ७ ॥

काञ्चीयमकम् ।

पिशिताशिनामनुदिशं स्फुटतां स्फुटतां जगाम परिविह्वलता ।

ह्वलता जनेन बहुधा चरितं चरितं महत्त्वरहितं महता ॥ ८ ॥

पिशिताशिनामित्यादि--पिशिताशिनां मांसाशिनां राक्षसानामनुदिशं दिशि दिशि । 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः । ५ । ४ । १०७ ।' इति टच् । स्फुटतां पलायमानानां परिविह्वलता स्फुटतां स्पष्टतां जगाम । जनेन चेतरेण ह्वलता चलता महता शौर्यादिगुणयुक्तेनापि सता यच्चरितं चेष्टितं बहुधा बहुप्रकारं तन्महत्त्वरहितं महत्ताविकलमाचरितम् अनुष्टिप्तं

भयात् । काञ्चीयमकमिति रसनाकारेण यमितत्वात् । तथाद्यपादस्यान्ते
रस्यादौ च सदृशो विन्यासः ॥ ८ ॥

यमकाऽऽवली ।

न गजो नगजा दयिता दयिता विगतं विगतं ललितं ललितम् ।
प्रमदा प्रमदाऽऽमहता महतामरणं मरणं समयात् समयात् ॥ ९ ॥
नेत्यादि—गजा हस्तिनः नगजाः पर्वतजाताः । अत एव दयिता इष्टा
। दयिताः न रक्षिताः । दयतिरत्र रक्षणार्थः । विगतं वीनां पक्षिणां
तं गमनमपि विगतं नष्टम् । ललितं यदीप्सितं वस्तु तल्ललितं पीडितम् ।
प्रमदा योपित् प्रमदा प्रगतो मदो यस्या इति प्रमदा । हर्षशून्येत्यर्थः ।
ममृता रोगपीडितेव । आमो रोगः । इवशब्दलोपोऽत्र द्रष्टव्यः । आमेन
पीडिता पलायनहता वा । 'अम गत्यादिषु ।' महतां शूराणां अरणम्
विद्यमानयुद्धं मरणं विनाशं समयान् संप्राप्तम् । यातेर्लीङ्ग रूपम् । सम-
ान् कालेन यमकावलीति यमकमाला ॥ ९ ॥

अयुक्पादयमकम् ।

न वानरैः पराक्रान्तां महाद्भिर्भीमविक्रमैः ।
न वा नरैः पराक्रान्तां ददाह नगरीं कपिः ॥ १० ॥
नत्यादि—वानरैरन्यैर्महाद्भिर्महाप्राणैर्भीमविक्रमैः असह्यशौर्यैः शक्रादिभिः
पराक्रान्तां नावष्टब्धां नगरीं लङ्कां नरैर्मनुष्यैर्न च पराक्रान्तां विगृहीतां
पिर्हन्मान् ददाह दग्धवान् । अयुक्पादयमकमिति प्रथमवृत्तीययोर्य-
त्तत्त्वान् ॥ १० ॥

पादाद्यन्तयमकम् ।

द्रुतं द्रुतं बह्विसमागतं गतं महीमहीनद्युतिरोचितं चितम् ।
समं समन्तादपगोपुरं पुरं परैः परैरप्यनिराकृतं कृतम् ॥ ११ ॥
द्रुतमित्यादि—यत्पुरं चितं सौवर्णगृहसंहत्या व्याप्तं तद्वह्विसमागतम् अग्नि-
युक्तं द्रुतं विलीनम् । द्रुतं प्रवाहेण प्रवृत्तं द्रुतं शीघ्रम् अहीनया उत्कृष्टया द्युत्या
जसा रोचितं भासितं मही गतं प्राप्तम् अपगोपुरम् अपगतपुरद्वारम्, अत एव
समन्तात्सर्वतः समं तुल्यं कृतम् । परैः शत्रुभिः परैरपि उत्कृष्टैरपि

शक्रादीभिर्निराकृतम् अनभिभूतं सत् । पादाद्यन्तयमकमिति पादस्यादावन्ते
च यमिकत्वात् ॥ ११ ॥

मिथुनयमकम् ।

नश्यन्ति ददर्श वृन्दानि कपीन्द्रः ।

हारीण्यबलानां हारीण्यबलानाम् ॥ १२ ॥

नश्यन्तीत्यादि-अबलानां स्त्रीणाम् अबलानाम् अविद्यमानरक्षकाणां वृन्दानि
समूहः । हारीणि हारवन्ति, हारीणि अवश्यं हरन्ति । आवश्यके णितिः ।
चेत्सार्थात् । नश्यन्ति पलायमानानि सन्ति कपीन्द्रो ददर्श । मिथुनयमक-
मिति पदद्वयस्य चक्रवाकमिथुनवदवस्थितत्वात् ॥ १२ ॥

वृन्तयमकम् ।

नारीणामपनुनुदुर्न देहखेदा नारीणाऽमलसलिला हिरण्यवाप्यः ।

नाऽऽरीणामनलपरीतपत्रपुष्पान् नाऽरीणामभवदुपेत्य शर्म वृक्षान् ॥ १३ ॥

नारीणामित्यादि--अरीणां संवन्धिन्व्यो हिरण्यवाप्यः सुवर्णघटिता
वाप्यः । नारीणां स्त्रीणाम् अग्नितापान्देहखेदान्नापनुनुदुः नापनीतवत्यः । कुतः ।
आरीणामलसलिलाः । 'रीड् स्रवणे ।' इत्यस्मादाङ्पूर्वात् 'त्वादय ओदितः'
इति निष्ठान्तत्वम् । आरीणं गतममलं सलिलं यासु हिरण्यवापीष्विति ।
वृक्षांश्चोपेत्य गत्वा तासां शर्म सुखं नाभवत् न जातम् । अनलपरीतपत्रपुष्प-
त्वाद्दृक्षाणाम् । आरीणां नारीणामिति योज्यम् । शत्रुसंवन्धिनीनामित्यर्थः ।
अरीणामिमा इति 'तस्येदम् ॥ ४१३१२०१' इत्यण् । तदन्तात् 'टिद्वाणञ्-
द्वयसज्दन्नञ्मात्रच्तयपृठक्ठञ्क्वरपः ॥ ४१११५१' इति ङीप् ।
अत्र वृक्षानुपेत्य स्थितानामित्यध्याहर्तव्यम् । अन्यथासमानकर्तृकत्वात्
पूर्वकाले क्त्वाप्रत्ययो न स्यात् । वृन्तयमकमिति प्रतिपदं पुष्पफलस्येदं
मूलेऽवस्थितत्वात् ॥ १३ ॥

पुष्पयमकम् ।

अथ ललितपतत्रिमालं रुग्णासनवाणकेशरतमालम् ।

स वनं विविक्तमालं सीतां द्रष्टुं जगामाऽलम् ॥ १४ ॥

अथेत्यादि--दाहानन्तरं ललितानां चलितानां पतत्रिणां पक्षिणां मालः
संहतिर्यस्मिन् तद्वनमशोकवनिकाख्यं स कपिर्जगाम । रुग्णाः भग्ना असनादयो

१ अत्र 'वंशस्थं' वृत्तम् । 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरो' इति लक्षणम् ।

२ अत्र 'तनुमध्या' छन्दः । 'त्यौ तनुमध्या' इति छन्दोऽनुशासनोक्तेः ।

३ अत्र 'प्रहर्षिणी' वृत्तम् । 'झौ त्रौ गखिदशयतिः प्रहर्षिणीश्च ।' इति तद्वृत्तम् ।

यस्मिन् वने । तत्रासनः पीतसालः, द्वाणः व्रन्धिका, केशरो नागकेशरो देव-
वह्मो वा । विविक्ताः शुचयो मालाः स्रजो यस्मिन् तद्विविक्तमालम् ।
द्रुम् अलं पर्याप्तः सीतां द्रक्ष्यामीति जगाम । पुष्पयमकमिति प्रतिपादं द्रुन्ता-
दुपरि पुष्पमिवावस्थितत्वान् ॥ १४ ॥

पादाऽऽदिमध्ययमकम् ।

वनगिरीन्द्रविलङ्घनशालिना वनगता वनजद्युतिलोचना ।

जनमता ददृशे जनकाऽऽत्मजा तरुमृगेण तरुस्थलशायिनी ॥ १५ ॥

वनेत्यादि—तरुमृगेण कपिना जनकात्मजा ददृशे दृष्टा । वनाः निरन्तराः
। गिरीन्द्राः भेषसदृशा वा तेषां यद्दङ्घनम् अतिक्रमणं तेन शालिना
कृतेन कपिना । वनलता काननस्था वनजद्युतिलोचना पद्मभ्येव कान्ति-
योल्लोचनयोस्ते तथाविधे लोचने यस्याः । ‘न क्रोडाद्विह्वलः । ११।१।५६।’
ति डीप्प्रतिषेधः । जनमता जनेनावबुद्धा पतिव्रतेयामिति । ‘मनु अवबोधने’
स्यस्य भूते निष्ठायां रूपम् । ‘न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थवृत्ताम् । २।३।६९।’
दि पष्ठीप्रतिषेधः । कर्तेरि वृत्तीया । तस्यां च ‘कर्तृकरणे कृता बहुलम् । २।१।
२।’ इति समासः । वर्तमाने तु ‘मतिबुद्धिपूर्वाथभ्यश्च । ३।२।
८।’ इति क्तप्रत्ययः । ‘क्तस्य च वर्तमाने । २।३।६७।’ इति पष्ठी । तस्यां च
‘न च पूजायाम् । २।२।१२।’ इति समासप्रतिषेधः स्यात् । तरुस्थलशायिनी
ःमूले यन् स्थलं तत्रैव शयाना । सत्यपि शयने । तेन ‘व्रते । ३।२।
०।’ इति णिनिः । आदिमध्ययमकमिति पादानामादौ मध्ये च वन-
जन-तरुशब्दानां यमितत्वान् ॥ १५ ॥

विपथयमकम् ।

कान्ता सहमाना दुःखं च्युतभूषा ।

रामस्य विद्युक्ता कान्ता सहमाना ॥ १६ ॥

कान्तेत्यादि—कान्ता कमनीया सहमाना वेद्यमाना दुःखं वियोगजम् च्युत-
पा च्युताभूषाभूषणानि यस्याः सा रामस्य कान्ता प्रिया विद्युक्ता वियोगिनी

सहमाना सह मानेन वर्त्तते इति 'वोपसर्जनस्य ।६।३।८२।' इति; सभाव-
विकल्पः । दृष्टे इति सम्बन्धः । विपथयमकमिति पादद्वयातिक्रमाद्विपथेन
विमार्गेण यमितत्वात् ॥ १६ ॥

मध्यान्तयमकम् ।

मितमवददुदारं तां हनूमान् मुदाऽरं
रघुवृषभसकाशं यामि देवि ! प्रकाशम् ।
तव विदितविषादो दृष्टकृत्स्नाऽऽमिषादः
श्रियमनिशमवन्तं पर्वतं माल्यवन्तम् ॥ १७ ॥

मितमित्यादि--मितम् अल्पाक्षरम् अर्थाविगाढं तां सीतां हनूमान् मुदा
अपेण युक्तः अवदत् कथितवान् । किमित्याह--अरं शीघ्रं हे देवि, रघुवृषभसकाशं
रामसमीपं माल्यवन्तं पर्वतं प्रकाशं प्रकटं यामि । तव विदितविषादो ज्ञाताव-
सादिः। दृष्टकृत्स्नामिषादः वीक्षिताशेषनिशाचरः। आमिषं मांसमदन्तीति 'कर्म-
ण्यम् । ३ । २ । १ ।' 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् । ३ । १ । ९४ ।' इति वचनात् ।
'अदोऽनन्ने । ३ । २ । ६८ ।' इति विट्प्रत्ययेनाणो विकल्पेन बाधनात् । श्रियं
शोभाम् अनिशमवन्तं रक्षन्तं पर्वतम् । मध्यान्तयमकमिति पादस्य मध्ये
अन्ते च यमितत्वात् ॥ १७ ॥

गर्भयमकम् ।

उदपतद्वियदप्रगमः परैरुचितमुन्नतिमत्पृथुसत्त्ववत् ।
रुचितमुन्नतिमत्पृथुसत्त्ववत्प्रतिविधाय वपुर्भयदं द्विषाम् ॥ १८ ॥

उदपतदित्यादि-वियदाकाशमुदपतत् उत्पत्ता। परैःशत्रुभिरप्रगमः अनभिभ-
वनीयः । गमेः 'ग्रहवृहनिश्चिगमश्च । ३।३।५८।' इति कर्मण्यप् । 'कर्तृकर्मणोः
कृते । २।३।६५।' इत्यत्र 'विभाषोपसर्गे' । २ । ४ । ५९।' इति मण्डूकलुत्या
अनुवर्तनीयम् । सोपसर्गस्य प्रयोगे विभाषा षष्ठी । रुचितं शोभितं वियन्निर्मल-
त्वात् । अथवा अप्रगमोऽन्येषामित्यर्थात् । परैरुत्कृष्टैरन्तारिक्षचारिभिः
रुचितं दीपितम् । उन्नतिमत् उच्छ्राययुक्तम् । पृथुसत्त्ववद्भिः प्राणिभि-

१ अत्र 'तनुमध्याम्' वृत्तम् । २ अत्र 'मालिनी' छन्दः । 'ननमययुतेयं
मालिनी भोगिलोकैः' इति तल्लक्षणम् ।

महायमकम् ।

अभियाता वरं तुङ्गं भूभृतं रुचिरं पुरः ।

कर्कशं प्रथितं धाम ससत्त्वं पुष्करेक्षणम् ॥ २० ॥

अभियातेत्यादि—भूभृतं रामं वरं श्रेष्ठं तुङ्गं महाकुलीनत्वादिति सं
पामुपारि स्थितं गुणै रुचिरं सर्वाङ्गसुन्दरं पुरोऽप्रतो वक्षःस्थले कर्क
लोमशं प्रथितं लोके प्रख्यातं धाम गृहं वर्णाश्रमधर्माणां ससत्त्वं फ
क्रमयोगात् । पुष्करेक्षणं पद्मलोचनम् अभियाता आभिमुख्येन यास्य
हनूमान् । लुटि रूपम् ॥ २० ॥

अभियाऽताऽऽवरं तुङ्गं भूभृतं रुचिरं पुरः ।

कर्कशं प्रस्थितं धाम ससत्त्वं पुष्करे क्षणम् ॥ २१ ॥

अभियातेत्यादि—भूभृतं पर्वतं यत्राङ्गदादयः स्थिताः तमभिया अभिगच्छ
हनूमता । कुतः पुरो लङ्कायाः सकाशात् । पुष्करे आकाशे धाम ते
क्षणं मुहूर्तं प्रथितं विस्तारितम् । अभियातीति 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते । ३ ।
' १७८ ।' इति क्विप् । तृतीयैकवचने । 'आतो घातोः । ६ । ४ । १४० ।' इत्याव
रलोपे अभियेति रूपम् । कीदृशम् अतावरं सातत्येनाततीति पचाद्यच्
अतो वायुः आदित्यो वा । आवृणोतीत्यपि आवरः । अतस्यावरं य
स्तुङ्गम् उच्चैस्तरम् । रुचिरं तुष्टिदं रुचिं रातीति । कर्कशं कठिनस्वभ
वम् । ससत्त्वं प्राणियुक्तम् । महायमकमिति श्लोकस्थैकस्य द्वितीयां
श्लोकेन यमितत्वात् ॥ २१ ॥

आद्यन्तयमकम् ।

चित्रं चित्रमिवाऽऽयातो विचित्रं तस्य भूभृतम् ।

हरयो वेगमासाद्य संत्रस्ता मुमुहुर्मुहुः ॥ २२ ॥

चित्रमित्यादि—भूभृतम् भूधरं पर्वतं चित्रं गैरिकादिभिर्नानावर्णात् ७
एव चित्रमिवालेख्यमिव । आयातः आगच्छतस्तस्य हनूमतः वेगं जवं चित्र
अद्भुतमासाद्य प्राप्य हरयः कपयः संत्रस्ताः सभयाः मुमुहुः मु
क्षणम् । आद्यन्तयमकमिति श्लोकस्यादावन्ते च यमितत्वात् ॥ २२ ॥

१ भुवं विभर्ति रक्षतीति तं तथोक्तम् । २ भुवं विभर्ति धारयतीति तम्

पृथिव्या ह्यवष्टम्भभूताः पर्वताः ।

अर्थालंकारस्तु दीपकरूपकादिभेदेनानेकप्रकारः । तत्र वाक्यार्थप्रकाशना-
दीपकमुच्यते । तदादिमध्यान्तभेदात्रिविधमिति दर्शयन्नाह—

आदिदीपकम् ।

गच्छन् सै वारीण्यकिरत्पयोधेः कूलस्थितांस्तानि तरूनधुन्वन् ।
पुष्पाऽऽस्तरांस्तेऽङ्गमुखानतन्वंस्तान् किन्नरा मन्मथिनोऽध्यतिष्ठन् २३ ॥
गच्छन्नित्यादि--स हनूमान् वेगेन गच्छन् पयोधेर्वारीणि वेगजेन
वायुना अकिरन् निक्षिप्तवान् । तानि वारीणे अधिक्षिप्तानि कूलस्थितांस्त-
रूनधुन्वन् कम्पितवन्ति । 'धूञ् कम्पने' इति सैत्वादिकः । ते तरवः
कम्पिताः पुष्पास्तरान् । पुष्पाणां प्रकारान् आस्तोर्यन्त इति 'ऋदोरप् । ३।
३।५७।' इत्यप् । अङ्गमुखान् मृदुस्पर्शवान् कायस्य मुच्यन्तेतन्वन् विस्तारित-
वन्तः । तान् पुष्पास्तरान् किन्नराः मन्मथिनः कामवन्तः अध्यतिष्ठन्
अध्यासितवन्तः । 'अधि शीङ्ग्यासां कर्म । १ । ४।५६।' इत्यधिकरणस्य
कर्मसंज्ञा । आदिदीपकमिति क्रियापदस्याद्वा ध्रुवमाणवान् । द्विविधं
ह्यादिदीपकम् । एकतिङ्गनेकतिङ्गसहितं च । तत्र यन्पूर्वं तद्रेकमप्यनेकार्थ-
प्रकाशकम् । यथाह भामहः--'मदो जनयति प्रीतिमानन्दं मानभङ्गुर्गम् ।
यत्प्रियासंगमोत्कण्ठामसह्यां मनसः शुचम् ॥' इति । यत्तु द्वितीयं तत्स-
मस्तवाक्यार्थप्रकाशं यथेदमेव । तत्र एतरेषां वाक्यार्थानामानागतैश्च दीप-
कत् । तस्मिन्नसति शेषाणामस्फुटत्वान् । पूर्वकं परित्यज्य द्वितीयस्य प्रद-
र्शनं यत् तत्प्रतीपदीपकं नाम चतुर्थमस्तीति दर्शनार्थम् । तद्यथा-तृष्णां
लिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः सत्यं तूयमुयादि-
साधुपदवीं सत्रस्व विद्वज्जानान् । मान्यान्मानय विद्विषोऽन्यतुनय प्रयापय
शान् गुणान् कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत्सतां चाष्टेत् ॥' इति ।
शेषो यदत्र परस्परमसंबन्धमिति ॥ २३ ॥

अन्तदीपकम् ।

स गिरिं तरुखण्डमण्डितं समवाप्य त्वरया लतामृगः ।

स्मितदर्शितकार्यानिश्चयः कपिसैन्यैर्मुदितैरमण्डयत् ॥ २४ ॥

स गिरिमित्यादि--स लतामृगो हनूमान् प्रयोजककर्ता । गिरिमण्डलादि-

१ दीपकलक्षणं तु "सकृद्भक्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतत्तमनाम् । सैव क्रियासु
चहोषु कारकस्येति दीपकम् ।" इति प्रकाशकोरणोक्तम्, अथ कथमिव सङ्गच्छत
इति चिन्त्यम् । एवं परत्रापि ।

भिरध्यासितं तरुखण्डमण्डितं त्वरया वेगेन समवाप्य कपिसैन्यैर्मुदितैर्हृष्टैः
प्रयोज्यकर्तृभिः अमण्डयत् । 'माडि भूषायाम्' इति भौवादिकः । चौरादिके तु
कपिसैन्यैः करणभूतैरिति योज्यम् । मुदितत्वे कारणमाह---स्मितदर्शितकार्य-
निश्चयः ईषद्धसितप्रकटीकृतसीतोपलब्धिनिश्चयः । अन्तदीपकमिति अमण्ड-
यदिति क्रियापदस्यान्ते निर्दिष्टत्वात् ॥ २४ ॥

मध्यदीपकम् ।

गरुडाऽनिलतिग्मरश्मयः पततां यद्यपि सम्मता जवे ।

अचिरेण कृतार्थमागतं तममन्यन्त तथाप्यतीव ते ॥ २५ ॥

गरुडेत्यादि---पततां गच्छतां मध्ये यद्यपि गरुडादयो जवे वेगविषये
संमताः अभिमताः तथापि तं हनूमन्तम् अचिरेणैव कालेन कृतार्थं कृतकृत्य-
मागतम् अतीव जविनं ते कपयः अमन्यन्त । मन्यतेर्लङि रूपम् । मध्यदीपक-
मिति क्रियापदस्य मध्ये निर्दिष्टत्वात् ॥ २५ ॥

रूपकम् ।

रूपकमनेकविधं दर्शयन्नाह---

व्रणकन्दरलीनशस्त्रसर्पः पृथुवक्षःस्थलकर्कशोरुभित्तिः ।

च्युतशोणितवद्धधातुरागः शुशुभे वानरभूधरस्तदाऽसौ ॥ २६ ॥

व्रणेत्यादि---असौ वानरो भूधर इव वानरभूधरः 'उपमितं व्याघ्रादिभिः
सामान्याप्रयोगे । २ । १ । ५६ ।' इति समासः । तदा तस्मिन्वानर-
मध्यगमनकाले कृतार्थः शुशुभे शोभते स्म । 'व्रणानि शस्त्रकृतानि कन्दराणीव ।
शस्त्राणि सर्पा इव शस्त्रसर्पाः व्रणकन्दरेषु लीनाः शस्त्रसर्पा यस्य । वक्षः-
स्थलं कर्कशोरुभित्तिरिव सा पृथुः विस्तीर्णा यस्य सः । शोणितं
वद्धधातुराग इव श्लिष्टगौरिकादिराग इव सः च्युतो यस्य । सर्वत्र 'उपमितं
व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे । २ । १ । ५६ ।' इति समासः । रूपकमिति
सावयवेन भूधरेणोपमानेन सावयवस्य कपेरुपमेयस्य तत्त्वभावतयाध्यारो-
पितत्वात् । यथाक्तम्-'उपमानेन तुल्यत्वमुपमेयस्य रूप्यते । गुणानां समतां
दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः ॥' इति ॥ २६ ॥

१ अत्र 'सुन्दरी' छन्दः, 'अयुजोर्धदि सौ जगौ युजोः सभरा लौ यदि
सुन्दरी तदा' इति लक्षणात् । २ अत्रापि सुन्दरी छन्दः । ३ अत्र औपच्छन्दसिकं
छन्दः, 'पर्यन्ते यौ तथैव शेषं त्वौपच्छन्दसिकं सुधीभिरुक्तम् ।' इति लक्षणात् । अत्र
तथैवेत्यनेन 'पङ् विपमेऽष्टौ सने कलास्ताश्च समेऽद्गुणो निरन्तराः । न समाऽत्र परा-
श्रिताकलाः' इत्यस्य परामर्शः ।

अस्यैव भेदा अपरे चत्वारः । एतद्विशिष्टोपमायुक्तं कथञ्चन ।

चलपिङ्गकेशरहिरण्यलताः स्फुटनेत्रपङ्क्तिमणिमंहतयः ।

कलधौतसानव इवाऽथ गिरेः कपयो वभुः पवनजागमने ॥२३॥

चलेत्यादि—अथ पवनजागमने हनूमदागमने कपयो गिरेः चत्वारः । कलधौतसानव इव सौवर्णिकदेशा इव वभुः शोभन्ते स्म । पिङ्गकेशरहिरण्यलताः तानि हिरण्यलता इव सुवर्णलता इव ताश्चला गताः कपोतान् । त्रपङ्क्तयो मणिसंहतय इव ताः स्फुटा उज्ज्वला वेगमिनि । एतन्मन्त्रेण कपयोर्वे । किंतु कलधौतत्वेन सानूनां विशिष्टत्वाद्विशिष्टोपमायुक्तं समलकं नाम ॥ २७ ॥

एतच्छेषार्थान्ववसितमवतंसकम् ।

कपितोयनिधीन् प्लवङ्गमेन्दुर्मदपित्वा मधुरेण दर्शनेन ।

वचनाऽमृतदीधितिर्वितन्वन्नकृतानन्दपरीतनेत्रवारीन् ॥ २८ ॥

कपीत्यादि—प्लवङ्गम इन्दुरिव प्लवङ्गमेन्दुः । कपयस्तोयनिधय इव गान् कपितोयनिधीन् । मधुरेण सुखेन दर्शनेन मदयित्वा हर्षयित्वा । 'मदोऽर्षग्लेपनयोः' इति घटादित्त्वान्मित्त्वं हस्त्वम् । वचनानि अमृतमयदीधेतय इव ता वचनामृतदीधितिर्वितन्वन् विस्तारयन् । लोकवृत्तान्तरांशोऽह-साहादकं वचनमुदाहरन्नित्यर्थः । आनन्देन हर्षेण परीतं संजातं नेत्रवारीणां तानेवंविधानकृतं कृतवान् । एतद्रूपकं शेषार्थान्ववसितम् । रूपितादन्या गोऽर्थः 'आनन्दपरीतनेत्रवारीन्' इति स शेषः । तेनान्ववसितं युक्तमवतंसकं नाम त्रिसदृशस्यार्थस्य लपितत्वात् । तदेवान्यैः खण्डरूपकमित्युच्यते ॥२८॥

अर्थरूपकम् ।

परिखेदितविन्ध्यवरुधः परिपीताऽमलनिर्झराऽम्भसः ।

दुधुवुर्मधुकाननं ततः कपिनागा मुदिताऽङ्गदाऽऽज्ञया ॥ २९ ॥

परिखेदितेत्यादि—तत उत्तरकालं कपयो नागा इव हस्तिन इव कपि-नागाः मुदितस्याङ्गदस्याज्ञया मधुकाननं सुग्रीवस्य क्रीडोद्यानं दुधुवुः कम्पितवन्तः । मधून्युपभुज्य संभ्रममकुर्वन्नित्यर्थः । परिखेदिताः परिमुदिताः

विन्ध्यवीरुधो विन्ध्यलतागुल्मा यैः । परिपीतममलनिर्झराम्भो यैस्ते । अर्ध-
रूपकमिति पश्चिमाधे कपिनागा इति रूपितम् ॥ २९ ॥

एतदन्वर्थोपमायुक्तं ललामकम् ।

विटापिमृगविषादध्वान्तनुद्धानराऽर्कः

प्रियवचनमयूखैर्बोधिताऽर्थाऽरविन्दः ।

उदयगिरिमिवाऽद्रिं सम्प्रमुच्याऽभ्यगात्त्वं

नृपहृदयगुहास्थं घ्नन्प्रमोहाऽन्धकारम् ॥ ३० ॥

विटपीत्यादि—वानरोऽर्क इव वानरार्कः । उदयगिरिमिवाद्रिं
पर्वतं महेन्द्रं सम्प्रमुच्य खमाकाशमभ्यगान् अभिगतवान् । विटापि-
मृगाणां यो विषाद् आसीत् कथं सीतान्वेषणीयेति स ध्वान्तमिव
सुदतीति क्विप् । प्रियवचनानि मयूखा इव तैः करणभूतैः बोधितमर्थार-
विन्दं येन । अर्थः सीतोपलब्धिः सोऽरविन्दमिव । नृपहृदयं गुहेव तत्र
स्तिष्ठतीति नृपहृदयगुहास्थम् । प्रमोहो विषादोऽन्धकार इव तं घ्नन् हनि-
ष्यन् । वर्तमानसमीपत्वात् भविष्यति लट् । एतदिति रूपकं अन्वर्थयो-
पमया युक्तं ललाम नाम । यत् उदेत्यस्मादित्युदयः । ‘अकर्तरि च कारके’
इत्यधिकृत्य ‘एरच् । ३ । ३ । ५६ ।’ इत्यच् । स चासौ गिरिश्रेयनुगत-
र्थता । यत्रान्वर्थता नास्त्युपमायाः तदुपमायुक्तमेव रूपकं द्रष्टव्यम् ॥ ३० ॥

इवोपमा ।

उपमाऽलंकारं दर्शयन्नाह—

रघुतनयमगात्तपोवनस्थं विधृतजटाऽजिनवल्कलं हनूमान् ।

परमिव पुरुषं नरेण युक्तं समशमवेशसमाधिनाऽनुजेन ॥ ३१ ॥

रघुतनयमित्यादि—हनूमान् रघुतनयमगात् प्राप्तवान् । तपःप्रधानं वनं
तपोवनं तत्र स्थितम् । विधृता जटा अजिनं चर्म वल्कलं च येन तम्
अनुजेन कनीयसा भ्रात्रा लक्ष्मणेन समास्तुल्याः शमा वेशाः समा-
यश्च यस्य तेन युक्तं परमुत्तमं पुरुषमिव पुरुषोत्तममिव नरेण युक्तम्
चदरिकाश्रमे नरनारायणयोस्तपश्चर्यया स्थितत्वात् । इवोपमेति इवशब्दे
नोपमार्थस्य गम्यमानत्वात् । उपमाया लक्षणम्—‘विरुद्धेनोपमानेन देश

१ अत्र ‘सुन्दरी’ छन्दः । २ अत्र मालिनी छन्दः, ‘ननमयययुतेयं मालिनी भोगि-
लोकः ।’ इति तल्लक्षणम् । ३ इवेने द्योत्योपमेति भावः । वस्तुनस्तूपमैवालङ्कारः

समपश्यदपेतमैथिलिं दधतं गौरवमात्रमात्मवत् ॥ ३४ ॥

अवसन्नरुचिमित्यादि—तं शिरोमणिं आत्मवदात्मानमित्रं समपश्यद्गामः
तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः । ५ । १ । ११५१ इति वतिः । अवसन्नरुचिं मन्द-
प्रभं वेणीबन्धनमलिनत्वात् । इतरत्र सशोकत्वात् । वनागतम् अशोकवनिका-
ख्याद्वनादागतम् इतरं पितुरादेशाद्वनमागतम् । सुप्सुपेति समासः । अनामृष्टम्
अनपनीतम् यद्रजः तेन विधूसरम् । उभयमपि अपेतमैथिलिम् अपेता मैथिली येन
यस्माद्वा । दधतं गौरवमात्रं गुरुत्वमेव न दीप्त्यादिकम्, इतरं माहात्म्यं दधतम् ।
तद्धितोपमेति तद्धितप्रत्यया द्रष्टव्याः ॥ ३४ ॥

लुप्तोपमा ।

सामर्थ्यसम्पादितवाञ्छिताऽर्थश्चिन्तामणिः स्यान्न कथं हनूमान् ।
सलक्ष्मणो भूमिपतिस्तदानीं शाखामृगानीकपतिश्च मेने ॥ ३५ ॥

सामर्थ्येत्यादि—सामर्थ्येन शक्त्या संपादितो निष्पादितो वाञ्छितोऽभिल-
षितोऽर्थो येन स हनूमान् कथं चिन्तामणिश्चिन्तामणिरिव न स्यात् ।
इति तदानीं मेने ज्ञातवान् । सलक्ष्मणः सह लक्ष्मणेन भूमिपती रामः
शाखामृगानीकपतिश्च सुग्रीवः । लुप्तोपमेति चिन्तामणिरित्यत्रेवशब्दार्थस्य
राम्यमानत्वात् ॥ ३५ ॥

समोपमा ।

युष्मानचेतन् क्षयवायुकल्पान् सीतास्फुलिङ्गं परिगृह्य जाल्मः ।

लङ्कावनं सिंहसमोऽधिसेते मर्तुं द्विषन्नित्यवदद्धनूमान् ॥ ३६ ॥

युष्मानित्यादि—युष्मान् रामादीन् क्षयवायुकल्पान् प्रलयकालमहा-
चायुसदृशान् अचेतन् अजानन् । 'चित्ती संज्ञाने' इति भौवादिकः । द्विषन्
दृशाननः जाल्मः मूर्खः सीतास्फुलिङ्गं सीतामन्निकणमिव परिगृह्यादाय लङ्कां
चनमिवाधिसेते । मर्तुं मरिष्यामीति सिंहसमं इत्यवदद्धनूमान् । समोपमेति
समशब्देनोपमाया अभिधानात् । एवं निभसदृशादयोऽपि द्रष्टव्याः ॥ ३६ ॥

अर्थान्तरन्यासः ।

इदानीमलंकारान्तराण्याह—

अहत धनेश्वरस्य युधि यः समेतमायो धनं

तमहमितो विलोक्य विबुधैः कृतोत्तमाऽऽयोधनम् ।

१ अत्र तुल्यार्थस्य वतेस्तद्धितत्वात्तथोक्ता । २ वस्तुतस्तत्रोत्प्रेक्षा । 'सम्भावना
स्यादुत्प्रेक्षा' इति तल्लक्षणात् । ३ अत्र लुप्तोपमा । ४ अत्र समपदेन समासेऽपि सैव ।

विभवमदेन निहुतहियाऽतिमात्रसम्पन्नकं

व्यथयति सत्पथादधिगताथवेह सम्पन्नकम् ॥ ३७ ॥

अहृतेत्यादि—यो द्विपन् युधि संग्रामे समेतेमायः समेता प्राप्ता माया येनेति वृत्तीयर्थे बहुव्रीहिः । मायावीत्यर्थः । धनेश्वरस्य धनदस्य धनमहत् द्रवत्वान् । 'ह्रस्वादङ्गान् । ८।२।२७।' इति सिचो लोपः । तं विबुधैर्देवैः सह कृतोत्तमायोधनं कृतमहासंग्रामम् । निहुता अपलपिता हीर्लज्जा येन विभवमदेन तेन निहुतहिया अतिमात्रं गुण्टु सम्पन्नकं युक्तं येन परस्त्रियमपहृत्यानीतवानसौ तं विलोक्य अहमितः प्राप्तः । विभवमदो लज्जां त्याजयतीत्यमुमेवार्थम् अनुस्मृत्यर्थान्तरमाह—अथवेति । अथवागच्छो निपातसमुदायः यस्मादर्थे वर्तते । यन्मादिह लोके संपन् विभूतिरधिगता प्राप्ता सत्पथात् सन्मार्गान् कं न व्यथयति चालयति । व्याधिरत्र चन्दने वर्तते । अर्थान्तरन्यास इति उक्तादर्थान्तरन्यासोपन्यासान् । यथोक्तम्—'उपन्यसनमर्थस्य प्रकान्तादपरस्य यन् । श्रेयः नोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्था-नुगतो यथा ॥' इति ॥ ३७ ॥

आक्षेपः ।

ऋद्धिमान् राक्षसो नूढश्चित्रं नाऽसौ यदुद्धतः ।

को वा हेतुरनार्याणां धर्म्यं वर्त्मनि वर्तितुम् ॥ ३८ ॥

ऋद्धिमानित्यादि—यदसावुद्धतो दुर्वृत्तः न तद्विग्रमाश्रयम् । यन्मादसौ ऋद्धिमान् राक्षसश्च । उभयथा विमूढ इत्येतदयुक्तमिति प्रतिषेध-यत्राह—को वेति । किमनेनोक्तेन, यस्मादनार्याणां तद्विधानां धर्म्यं वर्तमानपेते वर्त्मनि मार्गे वर्तितुं को वा हेतुः किं नाम कारणम्, नैवेत्यर्थः । आक्षेप इति प्रतिषेधो नाम । यथोक्तम्—'प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया । आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति द्विविधो यथा ॥' इति । अत्र पूर्वार्धेनोक्तो य इष्टोऽर्थः तस्य को वेत्यादिना विशेष-प्रतिपादनेच्छया प्रतिषेध इति । स च उक्तवक्ष्यमाणविषयभेदाद्विविधः । अय-सुक्तविषयः ॥ ३८ ॥

१ अत्र 'नन्दनं' वृत्तम् 'शिवतुरगैस्तु नन्दनमिदं नजौ भजौ रद्वयम् ।' इति चरुक्षणात् ।

आक्षेप एव ।

तस्याधिवासे तनुरुत्सुकासौ दृष्टा मया रामपतिः प्रमन्युः ।

कार्यस्य सारोऽयमुदीरितो वः प्रोक्तेन शेषेण किमुद्धतेन ॥ ३९ ॥

तस्येत्यादि—तस्य रावणस्याधिवासे लङ्कायाम् असौ रामपतिः सीता मया दृष्टा । रामः पतिर्यस्या इति । 'विभाषा सपूर्वस्य १४११३४१' इति नका-
राभावपक्षे रूपम् । तनुः कृशाङ्गी । 'वोतो गुणवचनात् १४११४४१' इति
खीषो विकल्पः । उत्सुका सोत्कण्ठा, प्रमन्युः प्रकृष्टशोका । 'ऊङुतः १४११६६१'
इत्यूङ् न भवति । तत्रायोपधादिति मनुष्यजातेरिति च वर्तते । अयं कार्यस्या-
स्मद्दीप्तस्य सारः शरीरं सीतादर्शनम् उदीरितः कथितः । वो युष्मभ्यम् ।
शेषेणोद्धतेन अशोक वनिकाभङ्गादिना किं प्रोक्तेन । न किञ्चित् प्रयोजनम् ।
स एवेत्ययमप्याक्षेप एव, किंतु वक्ष्यमाणविषयः । अत्र पूर्वार्धेनोक्तो य-
द्दृष्टोऽर्थः तस्य विशेषाभिधित्तया प्रोक्तेनेत्यादिना शेषार्थप्रतिषेधः ॥ ३९ ॥

व्यतिरेकः ।

समतां शशिलेखयोपयायादवदाता प्रतनुः क्षयेण सीता ।

यदि नाम कलङ्क इन्दुलेखामतिवृत्तो लघयेन्न चाऽपि भावी ॥४०॥

समितामित्यादि—सति अवदाता शुद्धा प्रतनुः प्रकर्षेण तन्वी क्षयेण
नैर्वल्येन एतावता तुल्यधर्मत्वाच्छशिलेखया समतां तुल्यतामुपयायात्
उपगच्छेत् । यदि कलङ्को नामापरोऽतिवृत्तोऽतिक्रान्तः इन्दुलेखां न लघयेत्
न न्यूनयेत् । तथा भावी आगामी नालघयिष्यत् यदि । न चवं तस्मान्द्र-
लेखया न समेति भावः । व्यतिरेक इति अयं व्यतिरेको नाम अन्वयः ।
पूर्वार्धेनोपमानोपमेययोरर्थो दर्शितः, तस्य पश्चार्धेन भेददर्शनात् । यथोक्तम्—
'उपमानवतोऽर्थस्य यद्विशेषनिर्दर्शनम् । व्यतिरेकं तमिच्छन्ति विशेषो-
त्पादनाद्यथा ॥' इति ॥ ४० ॥

विभावना ।

अपरीक्षितकारिणा गृहीतां त्वमनासेवितवृद्धपण्डितेन ।

अविरोधितनिष्ठुणेण साध्वीं दयितां त्रानृमलं घटस्व राजन् ॥ ४१ ॥

अपरीक्षितकारिणेत्यादि—अपरीक्षितकारिणा अविचारितकरणशीलेन,
अनासेवितवृद्धपण्डितेन अपर्युपासितज्ञानवृद्धसत्पथेन, अविरोधितनिष्ठुरणा-

नपकृतोऽपि क्रूरः सन् यः शत्रुः तेन गृहीतां साध्वीं पतिव्रतां दयितामिश्रं
 त्राणार्हां त्रातुं रक्षितुमलं पर्याप्तं न्यं घटस्य यतस्य । हे राजन्नित्यवदद्धनूमान् ।
 विभावनेति परीक्षा संवा विरोधनं चेति तिस्रः क्रियाः । तासां यः प्रतिषेधः
 नवा तेन अपरीक्षापूर्वकं च न करणं तथा वृद्धमेवापूर्वकं यत्पण्डितत्वं
 यच्चविरोधपूर्वकं निष्कुरन्वं तस्य क्रियाफलस्य विभावनान् प्रकाशनान् ।
 यथोक्तम्—‘क्रियायाः प्रतिषेधेन तत्फलस्य विभावनान् । ज्ञेया विभावनैनासौ
 सान्बन्धे कथ्यते यथा ॥’ इति ॥ ४१ ॥

समासोक्तिः ।

स च विह्वलसत्त्वसंकुलः परिशुष्यन्नभवनमहाहृदः ।

परितः परितापमूर्च्छितः पतितं चाऽमृत्यु निरभ्रमीप्सितम् ॥ ४२ ॥

स चेत्यादि—स च रामो महाहृदः महाहृदसमः सीताविरहान् विह्वले-
 नाकुलेन सत्त्वेन चेतया संकुलो व्याप्तः । परिशुष्यन् शोषयुगच्छन् परितः
 समन्तात् परितापमूर्च्छितः शोकसन्तापेन मूर्च्छान्वितोऽभवन् भूतः ।
 अनन्तरं चामृत्यु जलं सीतावार्ताश्रवणमीप्सितम् अभिप्रातं निरभ्रमाकस्मिकं
 पतितमित्येकोऽर्थः । महाहृदः परिशुष्यन् विह्वलैः सत्त्वर्मस्त्यादिभिः
 संकुलो व्याप्तः । परितापमूर्च्छितः अकंतापान्वितोऽभवन् । अमृत्यु च
 निरभ्रं विना मेघेन पतितमिति द्वितीयः । समासोक्तिः । यथोक्तम्—
 ‘यत्रोक्तोऽभ्यन्तःसन्धोऽर्थस्तत्समानविशेषणः । सा समासोक्तिरुदिता संक्षि-
 तार्थतया यथा ॥’ इति । एवं च कृत्वा अयं श्लेषाद्भवति । श्लेषे हि द्वयोरपि
 श्रूयमाणत्वात् ॥ ४२ ॥

अतिशयोक्तिः ।

अथ लक्ष्मणतुल्यरूपेशं गमनाऽऽदेशविनिर्गताऽप्रहस्तम् ।

कपयोऽनुययुः समेत्य रामं नतसुग्रीवगृहीतमाऽऽद्राज्ञम् ॥ ४३ ॥

अपत्यादि—अथ वार्ताश्रवणानन्तरं कपयः समेत्य मिलित्वा राममनुययुः
 अनुगतवन्तः । लक्ष्मणेन तुल्यं रूपं वेशश्च यस्य रामस्य गमनाय प्रयाणाय
 तददेशः तदर्थं विनिर्गतौ अप्रहस्तौ यस्य । नतेन प्रणतेन सुग्रीवेण गृहीता
 विहित्वा साद्राज्ञा यस्य तं रामम् । अतिशयोक्तिरिति अतिशयाभिधानात् ।
 न सुष्ठुपि नामासौ लक्ष्मणेन तुल्यरूपवेशः स्यात्, न तु प्रत्यक्षप्रमाण-

१ अत्र ‘औपच्छन्दसिकं’ वृतम् । २ अत्र ‘सुन्दरी’ छन्दः ।

परिच्छेद्य इति लोकातिक्रान्तवचनमेतद्वचनम् । अवश्यं च कश्चिद्विशेषोऽस्ति । यथोक्तम्--'निमित्ततो यत्र वचो लोकातिक्रान्तगोचरम् । मन्यन्तेऽतिशयोक्तितामलंकारतया यथा ॥' इति ॥ ४३ ॥

अथ सप्तभिः कुलकम् ।

यथासंख्यम् ।

कपिपृष्ठगतौ ततो नरेन्द्रौ कपयश्च ज्वलिताऽग्निपिङ्गलाऽक्षाः ।

मुमुचुः प्रथयुर्द्रुतं समीयुर्वसुधां व्योम महीधरं महेन्द्रम् ॥ ४४ ॥

कपिपृष्ठगतावित्यादि--ततोऽनन्तरं नरेन्द्रौ रामलक्ष्मणौ कपयश्च सर्व एते मुमुचुः वसुधां त्यक्तवन्तः । प्रथयुर्व्योम आकाशम् । महेन्द्रं महीधरं समीयुः गतवन्तः । लिटः कित्त्वे गुणाभावाद्धातोरियङ् । नरेन्द्रौ किंभूतौ । कपिपृष्ठगतौ हनूमन्तमारूढौ । यथासंख्यमिति मुमुचुरित्यादीनां क्रियाणां वसुधादीनां च कर्मणामनुक्रमशो निर्देशात् । यथोक्तम्--'भूयसामुपदिष्टानां क्रियाणामथ कर्मणाम् । क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासंख्यं तदुच्यते ॥' इति ॥ ४४ ॥

उत्प्रेक्षा ।

स्थितमिव परिरक्षितुं समन्ताद्दुदधिजलौ परिप्लवाद्धरित्रीम् ।

गगनतलवसुन्धरान्तराले जलनिधिवेगसहं प्रसार्य देहम् ॥ ४५ ॥

स्थितमित्यादि--उदधिजलौघात्समन्ततो यः परिप्लवो विनाशः तस्माद्धरित्रीं परिरक्षितुमिव गगनतलवसुन्धरयोरन्तराले देहं शरीरं जलनिधिवेगं सहत इति मूलविमुजादित्वात्कः । प्रसार्य स्थितं महेन्द्रं समीयुः । उत्प्रेक्षेति । यथोक्तम्--'अविवक्षितसामान्यार्थिकश्चिच्चोपमया सह । अतद्गुणक्रियारोपादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥' इति । अत्र महीधरसामान्यस्यापि विवक्षितत्वादाविवक्षितं सामान्यत्वं रक्षितुमिवेति किञ्चिदुपमया सह महेन्द्रगिरेरतद्गुणतया रक्षणक्रियायोगः । गगनतलं वसुन्धरां व्याप्य स्थितमिन्यतिशयान्विता ॥ ४५ ॥

वार्ता ।

विपधरनिलये निविष्टमूलं शिखरशतैः परिमृष्टदेवलोकम् ।

वनविपुलनितम्बपूरिताशं फलकुमुमाऽऽचितवृक्षरम्यकुञ्जम् ॥ ४६ ॥

विपधरनिलय इत्यादि--विपधरनिलये पाताले निविष्टमूलं महेन्द्रम् । शिखरशतैः करणभूतैः परिमृष्टः संमृष्टो देवलोको येन । वनैर्निर्गन्तैर्विपुलैर्विस्तीर्णैर्नितम्बैर्मैखलाभागैः पूरिता व्याप्रा आशा दिशो येन । फलकुमुमाचितैर्बृक्षैः रम्यं कुञ्जं गहनं यन्मिन् । वार्तति तत्त्वार्थकथनान् । सा द्विविधा विशिष्टा निर्विशिष्टा च । तत्र या पूर्वा सा स्वभावोक्तिरुद्दिता । चयेयमेव । तथा चोक्तम्--'स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचिप्रचक्षते । अर्थस्य तादवस्थे च स्वभावोऽभिहितो यथा ॥' इति । निविशिष्टः वार्ता नामालङ्कारः । यथोक्तम्--'गतोऽन्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वामाय पश्चिमः । इत्येवमादिकं काव्यं वार्तामतां प्रचक्षते ॥' इति ॥ ४६ ॥

प्रेयः ।

सधुकरविरुतैः प्रियाध्वनीनां सरसिरुहैर्द्वेषिताऽऽस्यहास्यलक्ष्म्याः ।

स्फुटमनुहरमाणमादधानं पुरुषपतेः सहसा परं प्रमोदम् ॥ ४७ ॥

सधुकरविरुतैरित्यादि--प्रियाध्वनीनां सीतासंवाग्धनीनां जल्पितानां सधुकरविरुतैः स्फुटं स्पष्टमनुहरमाणमनुकुर्वन्ते सादृश्यमित्यर्थान् । दयितायाः सीतायाः यदास्यं हासश्चैतयोर्लक्ष्म्याः सरसिरुहैः सादृश्यमनुहरमाणं सन्तं महेन्द्रम् । तत्र पञ्चरास्यलक्ष्म्याः कुमुदैर्हासलक्ष्याः । अथवा 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरम्याम् २।३।७२' इति पठ्यती । अनुहरमाणशब्दस्य तुल्यार्थत्वात् । सदृशीभवन्तमित्यर्थः । पुरुषपतेः रामस्य सहसा तत्क्षगम् आगतमात्रस्येत्यर्थः । परमुत्कृष्टं प्रमोदमादधानं जनयन्तं समीयुः । प्रेय इति प्रियतमवस्त्वभिशानान् ॥ ४७ ॥

रसवत् ।

ब्रह्मणिरशनं दिवो नितम्बं विपुलमनुत्तमलब्धकान्तियोगम् ।

च्युतघनवसनं मनोऽभिरामं शिखरकरैर्मदनादिव स्पृशन्तम् ॥ ४८ ॥

१ अत्र 'पुष्पिताग्रा' छन्दः । वार्ता तु व्याख्याकारैर्लक्षितैव बोध्या । अन्ये तु प्रायः आलङ्कारिका गुणीभूतव्यङ्ग्यविशेषमेवाहुः । २ अत्रापि 'पुष्पिताग्रा' छन्दः । प्रेयःप्रमृतयन्तु भावालङ्कारा इति प्रकाशे स्थितम् ।

ग्रहेत्यादि-दिवो नितम्बं मध्यभागं ग्रहा मणिरशनेव यस्य । विपुलं
विस्तीर्णम् । न विद्यते उत्तमोऽस्मादित्यनुत्तमः अतिशयवान् । लब्धः
कान्त्या योगो येन । च्युतो घनो वसनभिव यस्मात् । शिखरैः करैरिव
मदनादिव स्पृशन्तं महेन्द्रम् । रसवदिति दिवो गिरेश्च स्त्रीपुंसयोरिव
शृङ्गाररसाभिधानात् । तथा चोक्तम्--'रसवदृशितं स्पष्टं शृङ्गारादिरसं यथा'
इति ॥ ४८ ॥

ऊर्जस्वी ।

प्रचपलमगुरुं भराऽसहिष्णुं जनमसमानमनूर्जितं विवर्ज्य ।

कृतवसतिमिवाऽर्णवोपकण्ठे स्थिरमतुलोन्नतिमूढतुङ्गमेघम् ॥ ४९ ॥

प्रचपलमित्यादि-जनं लोकं प्रचपलम् अस्थिरम् अगुरुं लघुम् अत एव भरा-
सहिष्णुम् । अनूर्जितम् अनहंकारं विवर्ज्यैवासमानत्वात् अर्णवस्य समुद्रस्योपकण्ठे
समीपे कृतवसतिं कृतावस्थानं समीयुः । तदेवासमानत्वं दर्शयन्नाह-
स्थिरम् अचलम् अतुलोन्नतिम् असाधारणमहत्त्वमूढतुङ्गमेघं तद्धृतमहामेघम्
आश्रयणीयत्वात् । ऊर्जस्वीति साहङ्कारवस्त्वभिधानात् ॥ ४९ ॥

पर्यायोक्तिः ।

स्फटिकमणिगृहैः सरत्नदीपैः प्रतरुणकिन्नरगीतनिस्वनैश्च ।

अमरपुरमतिं सुराऽङ्गनानां दधतमदुःखमनल्पकल्पवृक्षम् ॥ ५० ॥

स्फटिकमणिगृहैरित्यादि-स्फटिकमणिगृहैः रत्नदीपयुक्तैः प्रतरुणानां
किन्नराणां गीतनिस्वनैश्च हेतुभतैः अमरपुरमतिं स्वर्गवृद्धिं सुराङ्गनानां
दधतं जनयन्तम् । अदुःखं न विद्यते दुःखमस्मिन्निति, सुखहेतुमित्यर्थः ।
सहकल्पवृक्षं समीयुः । पर्यायोक्तिरिति अमरपुरमतिं दधतमित्यनेन पर्या-
येण बचनगत्या तदेवामरपुरमिति प्रतिपादनात् । तथा चोक्तम्-'पर्या-
योक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते' इति ॥ ५० ॥

सयाहितम् ।

अथ ददृशुरुदीर्घमधूम्नां दिशमुदधिव्यवधिं समेतसीताम् ।

सहरघुत्तनयाः प्लवङ्गसेना पवनसुताऽङ्गुलिदर्शितामुदक्षाः ॥ ५१ ॥

अथेत्यादि-अथ प्राप्त्यनन्तरं प्लवङ्गसेनाः सहरघुत्तनया दिशं ददृशुः
उदधिव्यवधिं सजलधिव्यवधानां दक्षिणामित्यर्थः । 'उपसर्गं वाः क्रिः'

३ । ३ । ९२ ।' इति किः । उदीर्णेन सहता धूमेन धूमामस्पष्टाम् । समेतसीतां
संगता सीतानयेति तृतीयार्थं बहुव्रीहिः । पवनसुतस्याद्भुस्या दर्शिताम् ।
उद्भवाः ऊर्ध्वीकृताक्षाः । 'बहुव्रीहिं सक्थ्यक्षणाः स्वाङ्गात्पच् । ५ । ४ ।
११३ ।' इति पच् । पिहक्षणां डीप् न भवति, तस्यानित्यत्वान् । तेन
इष्टेत्युपपन्नं भवति । समाहितमिति अनन्यमनस्कृतया दिशोऽवलोक-
कृतात् ॥ ५१ ॥

अथ चतुर्भिः कलापकम् ।

उदारम् ।

जलनिधिमगमन्महेन्द्रकुञ्जात् प्रचयतिगोहिततिग्मरश्मिभासः ।

सलिलसमुद्रयैर्महातरङ्गैर्भुवनभरक्षमगप्यभिन्नवेलम् ॥ ५२ ॥

जलनिधिमित्यादि—महेन्द्रकुञ्जात् जलनिधिमगमन् गतवत्यः प्लवङ्ग-
सेनाः । लदित्वाच्छलेरङ् । प्रचयेन उच्चनया तिरोहितास्तिग्मरश्मिभासो
येत निकुञ्जेन तस्मान्निकुञ्जात् । सलिलसमुद्रयैर्महातरङ्गैर्महाभिभिः भुवनस्य
भरणे क्षममपि शक्तमपि । 'भ भरणे' इति प्रेवादिक् । तस्य 'कदारपाश' ३ । ५७'
इत्यापि रूपम् । अभिन्नवेलम् अनतिक्रान्तमयादं जलनिधिम् । उदारमिति उदात्त-
मित्यर्थः । महानुभावताप्रतिपादनान् । यतो महातरङ्गैर्जलसमूहैर्भुवनभरक्षम-
मपि अभिन्नवेलमिति । द्विविधनुदारं महानुभावतायां विधेयव्यथेगा-
च्चेति । इयं महानुभावता दर्शिता ॥ ५२ ॥

द्वितीयमाह—

उदारमेव ।

पृथुगुरुमणिशुक्तिगर्भभासा ग्लपितरसातलसम्भृताऽन्धकारम् ।

उपहतरविरश्मिवृत्तिमुच्चैः प्रलघुपरिप्लवमानवज्रजालैः ॥ ५३ ॥

पृथ्वित्यादि—पृथ्वो महान्तः गुरवस्तु न परिच्छ्लेशा मगयो मौक्तिका
यासां शुक्तीनां तथाविधानां गर्भस्य भासा दीप्त्या ग्लपितं क्षयितं
रसातले संभृतमुपचितमन्धकारं येन तम् । उच्चैरुपरि प्रलघुनामल्पानां
परिप्लवमानानां वज्राणां यानि जालानि समूहाः तैरुपहतरविरश्मिवृत्तयो

१ समाहितमेव समाधिः । 'समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः ।' इति ।

२ उदारमित्यत्रोदात्तमिति पठनीयम् । 'उदात्तं वस्तुनः सम्पन्महतां चोपलक्ष-
'णम् ।' इति तल्लक्षणं च । एवं परत्रापि सर्वत्रोदारमद्रमुदात्तालङ्कारपरमेव ।

यास्मिन् सः । तं जलनिधिमगमन् । यद्वज्रं वारिणि तरति तत्प्रशस्तमित्यु-
क्तम् । 'एतदेवापरेऽन्येन वाक्यार्थेनान्यथा विदुः । नानारत्नवियुक्तं
यत्तत्किलोदारमुच्यते ॥' इति ॥ ५३ ॥

उदारमेव ।

समुपचितजलं विवर्धमानैरमलसरित्सलिलैर्विभावरिषु ।

स्फुटमवगमयन्तमूढवारीन् शशधररत्नमयान्महेन्द्रसानून् ॥ ५४ ॥

समुपचितजलमित्यादि—विभावरिषु विवर्धमानैरमलैः सरित्सलिलैः

समुपचितजलम् उदधिं स्फुटं स्पष्टमवगमयन्तं बोधयन्तम् । किमित्याह—महेन्द्र-
सानून् शशधररत्नमयान् चन्द्रकान्तस्वभावान् ऊढवारीन् । अन्यथा कथं धीयते
जलं यदि चन्द्रकान्तसानवो न स्युः । उदारमेवेति रत्नयोगात् ॥ ५४ ॥

श्लिष्टम् ।

भुवनभरसहानलङ्घयधाम्नः पुरुरुचिरत्नभृतो गुरुरुदेहान् ।

श्रमविधुरविलीनकूर्मनक्रान् दधतमुदूढभुवो गिरीनहींश्च ॥ ५५ ॥

भुवनभरसहानित्यादि—गिरीन् भुवनभरसहान् अहींश्च तादृशानेव

दधतं जलनिधिमगमन् । गिरीनलङ्घयधाम्नः अहींश्चानभिभवनीयतेजसः ।
गिरीन् पुरुरुचिरत्नभृतः अहींश्च महारुचिरत्नभृतः । गिरीन् गुरुदेहान्
अहींश्च महाकायान् । श्रमविधुराः श्रमपीडिताः विलीनाः कूर्मा नक्राश्च
येषु तान् गिरीनहींश्चोदूढभुवो धृतवसुधान् । गिरीनहींश्च 'नश्लव्य-
प्रशान् । ७ । ३ । ७ ।' इति रुत्वं पूर्वस्यानुनासिकः । श्लिष्टमिति
उपमानेनोपमेयत्वस्य साधनान् । तथा चोक्तं विशेषणेन श्लिष्टम्--'उप-
मानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य साध्यते । क्रियागुणाभ्यां नाम्ना च श्लिष्टं
तदाभिधीयते ॥' इति । अत्रोपमानभूतैरहिभिरुपमेयभूतानां गिरीणां तत्त्वस्य
तादृष्यस्य भुवनभरादितादृष्यक्रियया तद्गुणेन च साधनेन गिरीभि-
रहिभिश्च नाम्ना च शब्देन भुवनभरसहानित्यादिना साध्यमानत्वान् । रूपक-
मपीदृशमेव । किन्तु श्लिष्टस्य भेदेनोपमानोपमेययोर्युगपत्प्रयोगान् । रूपके पुन-
रेकस्यैवोपमेयपुरुषस्य व्यात्र उपमानम् । तथा चोक्तम्--'लक्षणं रूपक-
ऽपीदं विद्यते काममत्र तु । दृष्टः प्रयोगो युगपदुपमानोपमेययोः ॥' इति ।

१ श्लिष्टमेव श्लेषः । अत्र 'नपुंसके भावे क्तः ३ । ३ । ११४' इति भावः क्तः ।

अत्र नार्थः श्लेषः, किन्तु शाब्द एवेति बोध्यम् । एवं प्रायः परत्रापि ।

तदुक्तलक्षणं श्लिष्टं सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशान्निविधम् । यथोक्तम्—
‘श्लेषादेवार्थवचसोर्यस्य च क्रियते भिदा । तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशा-
न्निविधं यथा ॥’ इति । तत्रेदं सहोक्तिश्लिष्टमुक्तं गिरीनहींश्रेति सहोक्त्या
निर्देशात् ॥ ५५ ॥

श्लिष्टमेव ।

प्रददृशुरुमुक्तशीकरौघान् विमलमणिद्युतिसम्भृतेन्द्रचापान् ।
जलमुच इव धीरमन्द्रघोषान् क्षितिपरितापहतो महातरङ्गान् ॥ ५६ ॥

प्रददृशुरित्यादि—महातरङ्गान् जलमुच इव मेघानिव प्रददृशुः प्रदृष्ट-
वत्यः । उरवो महान्तो मुक्ताः प्रकीर्णाः शीकरौघा येषु । विमलमणिद्युतय
एव सन्ततानि इन्द्रचापानि येषु । धीरमन्द्रघोषान् मधुरगम्भीरञ्चनीन् ।
क्षितिपरितापहतः पृथिवीसन्तापहारिणः । इदमपि यथानिर्दिष्टविशेषणान् । श्लिष्टं
जलमुच इवेत्युपमाननिर्देशान् ॥ ५६ ॥

अथ पञ्चभिः कुलकम् ।

हेतुश्लिष्टम् ।

विद्रुममणिकृतभूषा मुक्ताफलनिकरराक्षिताऽऽत्मानः ।

बभ्रुरुदकनागभग्ना वेलातटशिखरिणो यत्र ॥ ५७ ॥

विद्रुमेत्यादि—वेलातटशिखरिणो यत्र जलनिधौ वभ्रुः शोभन्ते । ते
तमीयुरिति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । वेलातटाः शिखरिणश्चेति इन्द्रः । शेषाणि
विशेषणान्युभयत्र तुल्यानि । इदमपि यथानिर्दिष्टमेव । पितु हेतुश्लिष्टं
हेतुद्वारेण विशेषणानां निर्देशान् । विद्रुममणिकृतभूषत्वान् जलदम्भिभग्नत्वात्
बभ्रुरिति ॥ ५७ ॥

अपह्वातः ।

भृतनिखिलरसातलः सरत्नः शिखरिसमोर्मितिरोहिताऽन्तरिक्षः ।

कुत इह परमार्थतो जलौघो जलनिधिमियुरतः समेत्य मायाम् ॥ ५८ ॥

भृतनिखिलरसातल इत्यादि—एवं गुणाविशिष्टो जलौघः कुत इह प्रदेशे
परमार्थतः परमार्थेन विद्यते । किं तर्हि माया । यतः पूरिताशेषपातालत्वान्
सरत्नत्वात् । शिखरिसमैर्रुर्मिभिः पिहितान्तरिक्षत्वाच्च । सराधवाः प्लवङ्गसेनाः

समेत्य मायामिव जलनिधिमीयुः ज्ञातवत्यः । सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इति ।
 'भृव्य भरणे' इति भौवादिकः । अपहृतिरिति मायामित्यन्तर्गतोपमारूपतया
 निर्देशात् । विद्यमानार्थस्य चापहवात् । तथा चाक्तम्—'अपहृतिरिति-
 प्रात्र किञ्चिदन्तर्गतोपमा । भूतार्थापहवाद्देशा क्रियतेऽस्याभिधा यथा ॥'
 इति ॥ ५८ ॥

विशेषोक्तिः ।

शशिरहितमपि प्रभूतकान्तिं विबुधहृतश्रियमप्यनष्टशोभम् ।

मथितमपि सुरैर्दिवं जलौघैः समभिभवन्तमविक्षतप्रभावम् ॥५९॥

शशिरहितमित्यादि—शशिरहितमपि चन्द्ररहितमपि प्रभूतकान्तिम् ।
 पद्मरागादिरत्नावभासितत्वात् । विबुधहृतश्रियमपि अनष्टशोभं सर्वदा शोभा-
 स्पदत्वात् । सुरैर्मथितमपि दिवमाकाशं जलौघैः समभिभवन्तम् अत्युच्छ्रित-
 त्वात् । तदेवमविक्षतप्रभावम् अखण्डिताभिमानमीयुः ज्ञातवत्यः । विशेषोक्ति-
 रिति शश्यादेरेकदेशस्य विगमेऽपि प्रभूतकान्त्या गुणान्तरेण स्तुतिविशेषस्य
 प्रतिपादनात् । यथोक्तम्—'एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्तुतिः । विशेष-
 प्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा ॥' इति ॥ ५९ ॥

व्याजस्तुतिः ।

क्षितिकुलगिरिशेषदिग्गजेन्द्रान् सलिलगतामिव नावमुद्रहन्तम् ।

धृतविधुरधरं महावराहं गिरिगुरुपोत्रमपीहितैर्जयन्तम् ॥ ६० ॥

क्षितित्यादि—क्षितिं पृथिवीं, कुलगिरीन् कुलपर्वतान्, शेषं नागराजं,
 दिग्गजेन्द्रानैरात्रतादीन् । सलिलगतामिव नावमुद्रहन्तं जलनिधिं महावराहं
 धृतविधुरधरं धृता उद्धृता विधुरा विह्वला धरा मही येनेति । 'गिरिगुरु-
 पोत्रं गिरिवत् गुरु पोत्रं यस्य तमपीहितैश्चेष्टितैर्जयन्तं जलनिधिमीयुः ।
 व्याजस्तुतिरिति क्षित्यादिधारणादधिकगुणस्य जलनिधेः स्तोत्रव्यपदेशेन वराहेण
 तुल्यत्वात् । तमपि महावराहं जयन्तमिति किञ्चिद्विधातुमिच्छया निन्दनात् ।
 तथा चोक्तम्—'दूराधिकगुणस्तोत्रव्यपदेशेन तुल्यता । किञ्चिद्विधित्सया निन्द-
 व्याजस्तुतिरसौ यथा ॥' इति ॥ ६० ॥

उपमारूपकम् ।

गिरिपरिगतचञ्चलाऽऽपगान्तं जलनिवहं दधतं मनोऽभिरामम् ।

गलितमिव भुवो विलोक्य रामं धरणिधरस्तनशुक्लचीनपट्टम् ॥६१॥

गिरीत्यादि---गिरिभिः परिगताः संसृष्टाः चञ्चला विलोला आप-
गान्ता नद्यन्ता याहेमन् जलनिवहे तं जलनिवहं दधतं धारयन्तं समुद्र-
सीयुः । कीदृशमिव जलनिवहम् । रामं भर्तारं विलोक्य हृष्टाया इत्यर्थ-
प्राप्तम् । ततश्च पूर्वकाले क्त्वा । भुवः पृथिव्या इव धरणिधरस्तनयोः
शुक्लचोचनपट्टमिव गलितम् । उपमारूपकमिति । तथोक्तम्---‘उपमानस्य
तद्भावमुपमेयस्य रूपयन् । यो वदत्युपमाभेदमुपमारूपकं यथा ॥’ इति ॥६१॥

तुल्ययोगिता ।

अपरिमितमहाद्भुतैर्विचित्रश्च्युतमलिनः शुचिभिर्महानलङ्घ्यैः ।

तरुमृगपतिलक्ष्मणक्षितीन्द्रैः समधिगतो जलधिः परं वभासे ॥६२॥

अपरिमितमहाद्भुतैरित्यादि---तरुमृगपतिलक्ष्मणक्षितीन्द्रैः सुग्रीवलक्ष्मणरामैः
समाधिगतः प्राप्तो जलधिः परं सुष्ठु वभासे शोभते स्म । कीदृशैः कीदृश
इत्याह---अपरिमितमहाद्भुतैर्विचित्रः नानाद्भुतः । शुचिभिर्विमलैः च्युतमलिनां
निर्मलोऽलङ्घ्यैरनभिभवनीयैः महान् अनभिभवनीयः । एवं च कृत्वा तेनापि
ने समधिगताः परं वभासिर इति । तुल्ययोगितेति न्यूनानामपि तेषां सुग्रीवा-
दीनां विशिष्टेन जलनिधिना महाद्भुतत्वादिगुणसाम्यविवक्षया तुल्यस्य
कार्यस्य भासनलक्षणस्यानुष्ठानेन तुल्ययागात् । तथा चोक्तम्---‘न्यूनस्यापि
विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया ॥ तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता ॥’
इति ॥ ६२ ॥

निदर्शना ।

न भवति महिमा विना विपत्तेरवगमप्रतिव षड्यतः पयोधिः ।

अविरतमभवत्क्षणे क्षणेऽसौ शिखरिपृथुप्रथितप्रशान्तवीचिः ॥ ६३ ॥

न भवतीत्यादि---महिमा महत्त्वं विना विपत्तेः विनाशं विना न
भवति । ‘पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् । २ । ३ । ३२ ।’ इति
‘पञ्चमी । नास्त्येव तन्महत्त्वं यस्य विनाशो नास्तीत्येवमवगमयन्
चोपयन्निव पयोधिस्तान् पश्यतो रामादीन् अविरतमविच्छेदेन शिखरि-
वत् पृथवः प्रथिताः प्रशान्ताश्च वीचयो यस्य स एवं क्षणे क्षणे अभवत्

१ उपमारूपकयोस्सङ्करः । उपमारूपकमिति विशेषव्यपदेश्यस्तु नास्त्वलङ्कारः
‘प्रकाशकारादिमते ।

भूतवान् । निदर्शनेति प्रतिक्षणं वीचीनां पृथुत्वप्रशान्तत्वभवनक्रिययैव
माहिमभवनस्य तदर्थस्य विपत्तिफलस्य उपादानात्, न यथेववतिशब्दान्
प्रयोगात् । तथा चोक्तम्—‘क्रिययैव तदर्थस्य विशिष्टस्योपदर्शनात् । इष्टा निर्दे
शना नाम यथेववतिभिर्विना ॥’ इति ॥ ६३ ॥

विरोधः ।

समुद्रोपकण्ठे रामस्य मदनावस्थामाह—

मृदुभिरपि विभेद पुष्पवाणैर्जलशिशिरैरपि मारुतैर्ददाह ।

रघुतनयमनर्थपण्डितोऽसौ न च मदनः क्षतमाततान नाऽर्चिः ॥ ६४ ॥

मृदुभिरित्यादि—मदनोऽनर्थपण्डितः निष्प्रयोजनकुशलः पुष्पवाणैरपि

मृदुभिः रघुतनयं विभेद । न चासौ क्षतं खण्डनमाततान जनितवान् । जल-
शिशिरैरमारुतैस्तमेव रघुतनयं ददाह न चासावर्चिर्ज्वालामाततान । विरोधो
इति पुष्पवाणानां यन्मार्दवं मरुतां च जलसंसर्गाद्यच्छैत्यं तयोर्भेददाहलक्षणे
क्रिये विरुद्धे तयोरभिधानात् । तयोश्च क्रिययोर्वाविरोधिनी क्रिया क्षतार्चिपो-
रनातानलक्षणा तस्याः कामोद्रेकप्रतिपादनाभिधानात् । तथा चोक्तम्—‘गुणस्य
च क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियाभिधा । या विशेषाभिधानाय विरोधं तं विदु-
र्यथा ॥’ इति ॥ ६४ ॥

उपमेयोपमा ।

अथ मृदुमलिनप्रभौ दिनाऽन्ते जलधिसमीपगतावतीतलोकौ ।

अनुकृतिमितरेतरस्य मूर्त्योर्दिनकरराघवनन्दनावकार्षाम् ॥ ६५ ॥

अथेत्यादि—अथ यथोक्तवस्त्वन्तरं मृदुमलिनप्रभौ मृदुरप्रचण्डा मलिन
प्रभा ययोः तौ दिनकरराघवनन्दनौ । रघोरपत्यं राघवः दशरथस्तन्नन्दनौ
रामः । दिनान्ते अन्योन्यस्य दिवाकरो रामस्य रामोऽपि दिवाकरस्येति मूर्त्यो-
र्देहयोरनुकृतिमिवानुकारमिव यथोक्तधर्मतुल्यतया अकार्षीं कृतवन्तौ । अतीत-
लोकौ त्यक्तलोकौ । उपमेयोपमेति तयोः पर्यायेण उपमानोपमेयत्वान् । तथा
चोक्तम्—‘उपमानोपमेयत्वं यत्र पर्यायतो भवेत् । उपमेयोपमां धीरा ब्रुवन्त
तां यथोदिताम् ॥’ इति ॥ ६५ ॥

सहोक्तिः ।

अपहरदिव सर्वतो विनोदान् दयितगतं दधदेकधा समाधिम् ।

घनरुचि ववृधे ततोऽन्धकारं सह रघुनन्दनमन्मथोदयेन ॥ ६६ ॥

अपहरदित्यादि—ततस्तूत्तरकालं दिवसे ये विनोदाः चतसः संस्थापकाः तान् सर्वतः सर्वान् सर्वेण वा प्रकारेण । आद्यादित्वात्तसिः । अपहरदिव अपनयदिवान्धकारं दयितगतं प्रियागतं च । समाधिं चित्तैकाग्रताम् एकधा एकप्रकारं दधत् धारयत् । घनरुचि बहुलच्छायं ववृधे वर्धते स्म । सह रघुनन्दनमन्मथोदयेन तदानीं तस्य कामोदयोऽपि ववृधे । सहोक्तिरिति अन्धकारमन्मथाश्रितयोर्वर्धनक्रिययोस्तुल्यकालयोः 'ववृधे' इत्यनेन पदेन कथनात् । तथा चोक्तम्—'तुल्यकालक्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रिते । वाक्येनैकेन कथ्येते सहोक्तिः सा मता यथा ॥' इति ॥ ६६ ॥

परिवृत्तिः ।

अधिजलधि तमः क्षिपन् हिमांशुः परिददृशेऽथ दृशां कृतावकाशः ।
विदधदिव जगत् पुनः प्रलीनं भवति महान् हि पराऽर्थ एव सर्वः ॥ ६७ ॥

अधिजलधीत्यादि—अथ हिमांशुरन्धकारवर्धनानन्तरम् । अधिजलधिः जलधेरुपरि । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । तमः क्षिपन् अपनयन् । परिददृशे दृष्टः । दृशां चक्षुषां कृतावकाशः दत्तावसरः । जगल्लोकं प्रलीनं तिरोभूतं पुनर्विदधदिव सृजन्निव । कस्मात्तेनैवं कृतमित्याह—यस्माद्यो महान् स सर्वः परार्थ एव परप्रयोजन एव भवति । परिवृत्तिरिति दृशां कृतावकाश इत्यनेन विशिष्टस्य वस्तुन आदानात् । तमः क्षिपन्नित्यनेनास्य वस्तुनः अपोहात्, भवतीत्यादिना अर्थान्तरन्यासात् । तथा चोक्तम्—'विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुनः ॥ अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्तिरसौ यथा ॥ इति' ॥ ६७ ॥

ससन्देहः ।

अशनिरयमसौ कुतो निरभ्रे शितशरवर्षमसत्तदप्यशार्ङ्गम् ।
इति मदनवशो मुहुः शशाऽङ्के रघुतनयो न च निश्चिकाय चन्द्रमुदत्

अशनिरित्यादि—असौ यश्चन्द्रः किमयमशनिर्ब्रजम् असौ कुतो निरभ्रे नभासे कुतः, यतोऽसौ मेघादुत्पद्यत इति । उत निशितानां शराणां वर्षं तदप्यशार्ङ्गमविद्यमानधनुः असदविद्यमानमित्ययं मदनवशः कामाभिभूतो मुहुः

१ अत्र सहोक्तिरूपेक्षासङ्कीर्णा । 'परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थाना स्यात् समासमैः ।' इति प्रकाशकारोक्ता तु न संगच्छते ।

स्वर्गं शशाङ्के शशाङ्कविषये रघुतनयोऽभूदित्यर्थात् द्रष्टव्यम् । न च चन्द्रं
निश्चिकाय निश्चिनोति स्म । 'विभाषा चं: ७।३।५८।' इति कुत्वम् । ससन्देह इति
अशनिशरवर्षाभ्याम् उपमेयस्य चन्द्रस्य तत्त्वं अशनिशरवर्षमिति प्रयोक्तु-
न्भिधानात् । कुतो निरश्रे तदप्यशाङ्गमिति पुनरुपमानोपमेययोर्भेदाभि-
धानात् न निश्चिकाय चन्द्रमिति स्तुत्यर्थं सन्देहवचोऽभिधानाच्च । तथा
चोक्तम्—'उपमानोपमेयस्य तत्त्वं च वदतः पुनः । ससन्देहवचः स्तुत्यै ससन्देहं
श्विदुर्यथा ॥' इति ॥ ६८ ॥

अनन्वयः ।

कुमुदवनचयेषु कीर्णराश्मिः क्षततिमिरेषु च दिग्बधूसुखेषु ।
वियति च विललास तद्वदिन्दुर्विलसति चन्द्रमसो न यद्वदन्यः ॥ ६९ ॥

कुमुदवनचयेष्वित्यादि—कुमुदवनानां चयेषु समूहेषु, दिग्बधूसुखेषु
वियति च, क्षततिमिरेषु खण्डिततमःसु यतस्तेषु विकीर्णराश्मिः क्षिप्रमयूखः
विललास तद्वदिन्दुः शोभते स्म । चन्द्रमसः सकाशात् अन्यो यद्वद्यथा न विल-
सति तथा विललास । इदमुक्तं भवति । इन्दुर्विललास चन्द्र इवेति । अन-
न्वय इति सत्सदृशस्य साम्यस्याविवक्षातश्चन्द्रस्योपमानोपमेयत्वात् । तथा
चोक्तम्—'यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता । सादृश्यस्याविवक्षातस्तभि-
न्याहुरनन्वयम् ॥' इति ॥ ६९ ॥

उत्प्रेक्षाऽवयवः ।

शरणमिव गतं तमो निकुञ्जे विटपिनिराकृतचन्द्ररश्म्यरातौ ।
पृथुविपमशिलाऽन्तरालसंस्थं सजलघनद्युति भीतवत्ससाद ॥ ७० ॥

शरणमित्यादि—पृथुविपमशिलानां यान्यन्तरालानि तेषु संस्थं संतिष्ठ-
मानं सत्तमः निकुञ्जे गहने विटपिभिर्निराकृताश्चन्द्रस्य रश्मय एवारातयं
यस्मान्निकुञ्जान् तस्मिन् ससाद विलीनं शरणमिव । यथा कश्चिन् भीत-
दुर्गे निलीयते । सजलस्य घनस्यैव द्युतिर्यस्य तमसः तन् । उत्प्रेक्षावयव-
इति । भीतवत्ससादेति उपमाश्लेषलक्षणस्य द्विष्टस्यार्थेन योगान् शरण-

मिव गतमित्युत्प्रेक्षायोगात्, 'विटपितिराकृतचन्द्ररश्मिरातो' इति रूपकार्थेन योगात् । तथा चोक्तम्--'श्लिष्टस्यार्थेन संयुक्तः किञ्चिच्चोत्प्रेक्षयान्वितः । रूपकार्थेन च पुनरुत्प्रेक्षावयवो यथा ॥' इति । 'विटपितिराकृतचन्द्ररश्मियोगः' इति पाठान्तरम् । तत्र रूपकार्थो नास्तीति असंपूर्णलक्षणता ॥७०॥

संस्पृष्टिः ।

अथ नयनमनोहरोऽभिरामः स्मर इव चित्तभवोऽप्यवामशीलः ।

रघुसुतमनुजो जगाद् वाचं सजलघनस्तनयित्नुतुल्यघोषः ॥ ७१ ॥

अथेत्यादि—अथ चन्द्रदर्शनानन्तरं रघुसुतं राममभिरामः कामाभिभूतत्वादाभिमुख्येन रम्यत इति । अनुजः कनीयान् भ्राता वाचं वक्ष्यमाणां जगाद् गर्दितवान् । नयनमनोहरः प्रेक्षणीय इत्यर्थः । अत्र नयने मनश्चावर्जयन् नयनमनोहर इति तुल्ययोगिता । न्यूनस्य लक्ष्मणस्याधिकेन सहाभिरमणीयगुणसाम्यविवक्षया अभिरमणतुल्यक्रियायोगान् । स्मर इव चित्तभवोऽपि तस्य चेतसि सदा भवतीति श्लिष्टम् । तथाप्यवामशीलोऽप्रतिकूल इति विरोधः । स्मरस्तु वामशीलः । सजलघनस्तनयित्नुतुल्यघोष इत्युत्प्रेक्षेणो यस्य । संस्पृष्टिरिति वहलंकारयोगान् । तथा चोक्तम्--'पराभिभूता संस्पृष्टिर्वहलंकारयोगतः । रचिता रत्नमालेव सा चैवं कथ्यते, यथा ॥' इति ॥ ७१ ॥

आशीः ।

पातिवधपरिलुप्तलोकेशीर्नयनजलाऽपहताऽञ्जनौष्ठरागाः ।

कुरु रिपुवनिता जहीहि शोकं क्व च शरणं जगतां भवान् क्व मोहः ७२

पतीत्यादि—पातिवधेन परिलुप्ता भ्रष्टा लोलाः केशा यासां रिपुवनितानाम् । नयनजलेनाश्रुणा अपहृतमञ्जनमौष्ठरागश्च यासां ताः मन्दोदरीप्रभृतीः कुरु । शोकं जहीहीत्याशंसे । किं क्व भवान् जगतां शरणमाश्रयः क्व च मोह इति । आशीरिति इष्टस्याशंसनात् । तथा चोक्तम्--'आशीरिति च केषांचिदलंकारतया मता । सौहृदस्याविरोधोक्तौ प्रयोगोऽस्याश्च तद्यथा ॥' इति ॥ ७२ ॥

१ 'सैषा संस्पृष्टिरिदेषां क्षेत्रेण लदिह स्थितिः ।' २ नैतस्यालङ्कारत्वं प्रकाशकदयोऽभिप्रयच्छन्ति ।

हेतुः ।

अधिगतमहिमा मनुष्यलोके बत सुतरामवसीदति प्रमादी ।
गजपतिरुरुशैलशृङ्गवर्मा गुरुरवमज्जति पङ्कभाङ्क न दारु ॥ ७३ ॥

अधिगतमहिमेत्यादि---मनुष्यलोके योऽधिगतमहिमा प्राप्ताधिपत्यः स
प्रमादी शोकादिषु प्रमादवान् चत कष्टमवसीदति न कार्यसमर्थो भवति ।
कुत एतदित्याह---गजपतिः उरुशैलशृङ्गवर्मा महाशैलशृङ्गप्रमाणं वर्ण
चपुर्यस्य सः । पङ्कभाक् पङ्कं भजतीति । 'भजो णिवः । ३ । २ । ६२ ।' इति णिवः ।
पङ्कमवतीर्णः सन् अवमज्जति अवसीदति । यस्मादसौ गुरुः, न पुनर्दारु
काष्ठं, तस्मान्मुञ्च शोकम् । हेतुरिति गजपतेर्हेतुद्वारेण निर्देशात् । अयम-
र्थान्तरो द्रष्टव्यः ॥ ७३ ॥

निपुणम् ।

बोद्धव्यं किमिव हि यत्त्वया न बुद्धं
किं वा ते निमिषितमप्यबुद्धिपूर्वम् ।
लब्धात्मा तव सुकृतैरनिष्टशङ्की

स्नेहोवो घटयति मां तथापि वक्तुम् ॥ ७४ ॥

बोद्धव्यमित्यादि---किमिव तद्बोद्धव्यं ज्ञातव्यमस्ति नैवेत्यर्थः । यत्त्वया
बुद्धं बुद्ध्या विज्ञेयं तव किञ्चिच्चोष्टितमपि नोपेक्षापूर्वकं यतो निमिषितमप्य-
क्षणोर्निमीलनमपि अबुद्धिपूर्वकं नैवेत्यर्थः । यद्येवं किमित्यस्मानुप-
दिशसीत्याह---लब्धात्मेति । तथापि सुकृतैर्लब्धात्मा लब्धजन्मा स्नेहोवः
स्नेहसमूहः । अनिष्टशङ्की अनिष्टशङ्कनशीलः । मां वक्तुं वदेति । घटयति ।
निपुणमिति अर्थावगाढत्वादस्य चोदात्तेऽन्तर्भावो द्रष्टव्यः । भाविकन्व-
न्मिन्यलंकार उक्तः । तद्वन्धविषयत्वात्प्रत्यक् प्रदर्शयिष्यति ॥ ७४ ॥

सौमित्रेरिति वचनं निशम्य रामो

जृम्भावान्भुजयुगलं विभज्य निद्रान् ।

अध्यष्टाच्छिष्यापया प्रवालतल्पं

रक्षायै प्रतिदिशमादिशन्प्लवङ्गान् ॥ ७५ ॥

इति भट्टिकाव्ये दशमः सर्गः ।

१ अस्य प्रकाशमते काव्यलिङ्ग एवान्तर्भावः । २ नास्यालङ्कारत्वं प्रकाशकारादयं
मन्वंत । ३ अत्र परत्र च 'प्रहपिगी' वृत्तम् । 'स्रौ स्रौं गन्त्रिदशयतिः प्रदर्शयिष्यन्
इति तलक्षणम् ।

सौमित्रेरित्यादि—इत्येवं, सौमित्रेः लक्ष्मणस्य वचनं निशम्य श्रुत्वा रामो जृम्भावान् जातंजृम्भिकः । जृम्भणं जृम्भा । 'गुरोश्च हलः ।३।३।१०३।' इत्यकारः । टाप् । निद्रान् निद्रां गच्छन् । 'द्रा कुत्सायां गतौ ।' इत्यस्यादादिकस्य निपूर्वस्य शतरि रूपम् । शिशयिपया शयितुमिच्छया । मुजयुगलं विभज्य एकं शिरःस्थाने न्यस्य द्वितीयं शरीरस्योपरि प्रसार्येत्यर्थः । 'विभुज्य' इति पाठान्तरम् । तत्र क्रोडभागे वक्रीकृत्येयर्थः । प्रवालतल्पं पल्लवशयनीयम् अध्यष्ठात् अधिष्ठितवान् । 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेपु ।१।४।७७।' इति सिचो लुक् । 'प्राक् सितादङ् व्यवायेऽपि ।८।३।६३।' इति पत्वम् । समुद्रादिदृक्षया नियमपूर्वं सुप्वापेत्यर्थः । रक्षायै रक्षानिमित्तं प्रवङ्गानादिशन् नियोजयन् । प्रतिदिशं दिशि दिशि । 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ।५।४।१०७।' इति टच् । तत्र दिक्शब्दस्य पठितत्वान् ॥ ७५ ॥

इति श्रीजयमङ्गलसूरिविरचितया जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्याया समलं-
कृते श्रीभट्टिप्रणीते रामचरिते काव्ये तृतीये प्रसन्नकाण्डे लक्षण-
रूपे प्रथमः परिच्छेदः, तथा लक्ष्यरूपे कथानके 'सीता-
भिज्ञानदर्शनं' नाम दशमः सर्गः ।

एकादशः सर्गः ।

माधुर्यमपि काव्यस्य गुण उक्तः । तथा चोक्तम्—'श्राव्यं नातिसमस्तार्थं
काव्ये मधुरमिष्यते ।' इति । तत्प्रदर्शनार्थं लङ्कागतप्रभातवर्णनमधिकृत्याह—

अथाऽस्तमासेदुषि मन्दकान्तौ पुण्यक्षयेणेव निधौ कलानाम् ।

समाललम्बे रिपुमित्रकल्पैः पद्मैः प्रहासः कुमुदैर्विषादः ॥ १ ॥

अथेत्यादि—अथानन्तरं कलानां निधौ चन्द्रमसि अस्तं पर्वतमासेदुषि
गतवति । यथा कस्मिंश्चित् पुण्यक्षयेणावसानमासेदुषि । 'भाषायां सद्वस-
शुवः ।३।२।१०८।' इति लिटः कसुरादेशः । मन्दकान्तावित्यस्तगमने
पूर्वलङ्गं दर्शयति । रिपुकल्पैः पद्मैः प्रहासः विकाशः, मित्रकल्पैः कुमुदै-
र्विषादः संकोचः समाललम्बे समालम्बितः ॥ १ ॥

दूरं समाह्वय दिवः पतन्तं भृगोरिवेन्दुं विहितोपकारम् ।

बद्धाऽनुरागोऽनु पपात तूर्णं तारागणः सम्भृतशुभ्रकीर्तिः ॥ २ ॥

दूरमित्यादि—दूरं दिव आकाशस्य भागं समाह्वय पश्चात्त एवाकाशात्
भृगोरिव प्रपातादिव पतन्तमिन्दुं तारापतिमनु पश्चात् तारागणः विहितोप-
कारं तद्दुदयेन तारागणाप्यायनात् बद्धानुरागः अस्तगमनकाले अनुगतरक्त-
भावः संभृता विपुलीकृता शुभ्रा निर्मला कीर्तियेन स तारागणः पपात ।
यथा कस्मिंश्चित्स्वामिनि भृगोः पतति पश्चात्स्वामिभक्त्या भृत्यलोको बद्धान-
नुरागः संभृतशुभ्रकीर्तिः पतति तद्वदिति ॥ २ ॥

क ते कटाक्षाः क्व विलासवन्ति प्रोक्तानि वा तानि ममेति मत्वा ।

लङ्काऽङ्गनानामवबोधकाले तुलामनारुह्य गतोऽस्तमिन्दुः ॥ ३ ॥

क त इत्यादि—ये कटाक्षाः सविलासास्तिर्यग्दृष्टयः यानि च प्रोक्तानि
जल्पितानि विलासवन्ति, तद्दुभयं क मम विद्यते । लङ्काङ्गनानां तु मुखेन्दवः
सकटाक्षाः सविलासाः सजल्पिताश्च । अतो यावन्न विबुद्धयन्ते तावदपक्रमणं
युक्तमिति मत्वा निरूप्य तुलामनारुह्य समानतामलब्ध्वा निःसंशयो वा
भूत्वा । तत्प्रबोधकाले । लङ्काङ्गनानामेव । गतोऽस्तमिन्दुः ॥ ३ ॥

मानेन तल्पेष्वयथासुखीना मिथ्याप्रसुप्तैर्गमितत्रियामाः ।

स्त्रीभिर्निशाऽतिक्रमविह्वलाभिर्दृष्टेऽपि दोषे पतयोऽनुनीताः ॥ ४ ॥

मानेनेत्यादि—पतयस्तल्पेषु शयनीयेषु शय्याखिति यावत् । मानेनायथा-
सुखीनाः परावृत्तमुखाः । 'यथामुखसंमुखस्य दर्शनः खः ॥५२॥६॥' इति खः ।
परावृत्तत्वात् प्रतिविम्बाश्रयवत्तेषु योपितां प्रतिविम्बमिव मनो न प्रसादी-
भवतोत्येवं मिथ्याप्रसुप्तैरलीकानिद्राभिः गमितत्रियामाः प्रेरितप्रथमादिप्रहराः ।
दृष्टेऽपि दोषे गोत्रस्खलिताः । पतयः स्त्रीभिरनुनीता यतो निशातिक्रमा-
त्पर्यवसानात् विह्वला विह्वलास्ताः ॥ ४ ॥

ईर्ष्याविरुग्णाः स्थिरवल्गुमूला निरस्तानिःशेषशुभप्रतानाः ।

आप्यायिता नेत्रजलप्रसंकेः प्रेमद्रुमाः संरुरुहुः प्रियाणाम् ॥ ५ ॥

ईर्ष्याविरुग्णा इत्यादि—प्रियाणां प्रेमद्रुमाः प्रेमाणि द्रुमा इव । स्थिर-
निश्चलं वल्गुमूलम् उत्पत्तिकारणं येषां ते ईर्ष्याविरुग्णा अत एव निरस्ताः
निःशेषाः शुभा एव हसितजल्पितादयः प्रताना शाखा येषां ते ।
प्रसादानन्तरं नेत्रजलप्रसंकेराप्यायिताः संरुरुहुः, पुनर्नवीभूताः स्थिरवल्गु-
मूलत्वान् ॥ ५ ॥

ततः समाशङ्कितविप्रयोगः पुनर्नवीभूतरसोऽवितृष्णः ।

स्मरस्यं सन्तं पुनरुक्तभावं नाऽऽवर्तमानस्य विवेद लोकः ॥ ६ ॥

तत इत्यादि—प्रेमद्रुमरोहणानन्तरं लोकः समाशङ्कितविप्रयोगो विप्रयोगोऽस्माकमासन्नवर्तीति पुनर्नवीभूतरसः अभिनवीभूतसुरतेच्छः स्मरस्कामस्य आवर्तमानस्य पुनः पुनः प्रवर्तनात् । अवितृष्णः साभिलाषः सन्तमपि विद्यमानमपि पुनरुक्तभावं पौनःपुन्यं न विवेद न बुबोध । आशङ्कितविप्रयोगत्वादपूर्वमिव ज्ञातवानित्यर्थः ॥ ६ ॥

वृत्तौ प्रकाशं हृदये कृतायां सुखेन सर्वेन्द्रियसम्भवेन ।

संकोचमेवाऽसहमानमस्यादशक्तवद्वञ्चितमानि चक्षुः ॥ ७ ॥

वृत्तावित्यादि—सुरतकाले श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानाम् इन्द्रियाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धप्रहणात् सर्वेन्द्रियसंभवं सुखम् । अथवा सर्वमिन्द्रियं यत्रेति सर्वेन्द्रियः कायः । तत्संभवं सुखं सर्वेन्द्रियसंभवम् सुखं तथाह्यालिङ्गनञ्जुम्बनदर्शनच्छेदनेषु पुरुषोपसृष्टेषु तत्र प्रयुज्यमाने काये सुखमुत्पद्यते । तेन सुखेन हृदये चेतसि प्रकाशं स्पष्टं वृत्तौ कृतायां चक्षुर्वञ्चितमिवात्मानं मन्यमानम् । आत्ममाने खश्च । ३।२।८३। इति णिनिः । संकोचमेव निमीलनमेवास्यात् अनुष्ठितत् । असहमानमिति सर्वेन्द्रियसंभवस्य सुखस्य हृदये वृत्तिं सांढुमपारयदित्यर्थः । अशक्तवत् यथा कश्चिदसमर्थोऽन्यसम्भवां संपदं सोढुमसहमानः संकोचमनुतिष्ठति ॥ ७ ॥

पाने भटस्योरसि वीक्ष्य भुग्रास्तनुत्वचः पाणिरुहान्सुमध्या ।

इच्छाविभङ्गाऽऽलमानसत्वाद्भ्रत्रे नखेभ्यश्च चिरं जुजुरे ॥ ८ ॥

पाने इत्यादि—काचित् सुमध्या सुमध्यमा नखैः व्यापद्यमाना अहमप्यस्य क्षतं विधास्यामीति भटस्योरसि पाने कठिने भुग्नान् कुञ्चितान् । 'भुग्नान्' इति पाठान्तरम् । पाणिरुहान्खान् वीक्ष्य भ्रत्रे नखेभ्यश्च चिरं जुजुरे क्रुध्यति स्म । कथमस्य वक्षः कठिनं मम च नखास्तनुत्वचो न कठिना इति । 'धूर्गी जूरी हिंसावयोहान्याः' इत्यस्यात्मनेपदिनो रूपम् । 'क्रुधद्रुहेर्प्याऽसूयाऽर्शानां यं प्रति कोपः । १।४।३७।' इति सम्प्रदानसंज्ञा । कस्माज्जुजुर इत्याह—इच्छाविभङ्गाकुलमानसत्वात् । चिक्रीर्पिताकरणेनाकुलाचित्त्वात् ॥ ८ ॥

चक्षुषीत्यादि--कान्तान्यपि शोभनान्यपि चक्षुषि, विकचोत्पलश्रुति-
त्वात् । साञ्जनानि कुर्वन् स्त्रीजनः, प्रातर्गृह्यमाणप्रसाधनत्वात् । सरानं
चौष्टं, स्वभावतो विम्बफलाकारत्वात् । ताम्बूलरक्तं कुर्वन् । स्वभावतश्च
सुगन्धि वक्रं मुखं सवासं वासयुक्तं कुर्वन् । केवलपक्षपातं समत्वं चक्रे, अञ्ज-
नादीनां निरर्थकत्वात् ॥ २४ ॥

क्षतैरसंचेतितदन्तलब्धैः सम्भोगकालेऽवगतैः प्रभाते ।

अशङ्कताऽन्योन्यकृतं व्यलीकं वियोगवाह्योऽपि जनोऽतिरागात् ॥२५॥

क्षतैरित्यादि--अस्या मया दत्तम् अस्य च मयेति संभोगकाले रागान्य-
तया असंचेतितान्यज्ञातानि दन्तेभ्यो लब्धानि यानि क्षतानि । 'चित्तं
संचेतने' इति स्वार्थिकण्यन्तस्य रूपम् । प्रभातकाले अवगतैर्दृष्टैः वियोग-
वाह्योऽपि सुप्तोऽपि कामिजनः अतिरागात् अतिस्नेहान् अन्योन्यकृतम्
अन्योन्येन कृतं व्यलीकम् अपराधम् अशङ्कत विकल्पितवान् । लडि रूपम् ।
किमस्यान्यया हताशया दत्तमिति योपिदशङ्कत, पुरुषोऽपि किमन्येन
धूर्तेनास्या इति ॥ २५ ॥

नेत्रेषुभिः संयुतपद्मपत्रैः कर्णाऽन्तकृष्टैरुरुकेशशूलाः ।

स्तनोरुचक्रास्ततकर्णपाशाः स्त्रीयोधमुख्या जयिनो विचेरुः ॥२६॥

नेत्रेषुभिरित्यादि--नेत्राणि इपव इव तैः संयुतानि संयुक्तानि पद्मपत्रैः
पत्राणि येषां तैः । कर्णान्तकृष्टैः कर्णान्तविश्रान्तैः उपलक्षिताः स्त्रियो योधमुख्या
इव उरुकेशशूलाः उरवो महान्तः केशाः शूला इव येषाम् । स्तनोरुचक्राः स्तना,
ऊरुणि चक्राणीव येषाम् । ततकर्णपाशाः तताः कर्णाः पाशाः इव येषां ते
जयिनो लब्धविजया विचेरुः भ्रान्ताः ॥ २६ ॥

पयोधरांश्चन्दनपङ्कदिग्धान् वासांसि चाऽमृष्टमृजानि दृष्ट्वा ।

स्त्रीणां सपत्न्यो जहृपुः प्रभाते मन्दायमानाऽनुशयैर्मनोभिः ॥२७॥

पयोधरानित्यादि--चन्दनपङ्कदिग्धान् आप्तुतचन्दनत्वात् । वस्त्राणि च
अमृष्टमृजानि अनपनीतशुद्धभावानि स्त्रीणां दृष्ट्वा प्रभाते तत्सपत्न्यो मनोभिः
न बाह्यं जहृपुः हृष्टाः, अप्राप्तसुरतत्वात्। मन्दायमानानुशयैः आभिः सह शयिता
इति तासु च अनुशयाः अक्षान्तयो जाताः ते मन्दायमानाः शनैः शनैस्तद्वत्
भवन्तो येषु मनःसु तैरित्यर्थः ॥ २७ ॥

स्मराऽऽतुरे चेतसि लब्धजन्मा रराज लोलोऽपि गुणाऽपहार्यः ।

कुञ्जहलान्नेत्रगवाक्षसंस्यः पश्यन्निवाऽन्योन्यमुखानि रागः ॥ २८ ॥

स्मरातुर इत्यादि—इम्पत्योः प्रातरन्योन्यस्य मुखं पश्यतोः चक्षुषो रागोः
 वर्ण्यते । स्मरातुरे कामातुरे चेतसि लब्धजन्मा लब्धादेयः रागो रक्त-
 भावः नेत्रगवाक्षसंस्थः नेत्रयोर्गवाक्षयोरिव स्थितः कुतूहलान् कौतुकात् अन्यो-
 न्यस्य मुखानि पश्यन्निव । कीदृशं कामिन्या मुखं कामुकस्य मुखं वेति
 गुणापहार्यः तत्प्रतिपक्षेण शुक्लगुणेन अपनेयः अत एव लोलोऽपि अचिर-
 स्थाय्यपि रराज ॥ २८ ॥

गतेऽतिभूमिं प्रणये प्रयुक्तानबुद्धिपूर्वं परिलुप्तसंज्ञः ।

आत्मानुभूतानपि नोपचारान्स्मरातुरः संस्मरति स्म लोकः ॥ २९ ॥

गत इत्यादि—प्रणये विश्रम्भे अतिभूमिं गते प्रकृष्टवस्थां प्राप्ते सक्ति-
 र्बुद्धिपूर्वम् अनिरूप्य स्वयं प्रयुक्ताः उपचाराः नखदन्तक्षतादयः
 आत्मानुभूतानपि प्रातर्न स्मरति स्म कामिलोकः । इदमिदं मया प्रयुक्त-
 मिति यतः सुरतावस्थायां स्मरातुरतया परिलुप्तसंज्ञो मूढ इति ॥ २९ ॥

वस्त्रैरनत्युल्बणरम्यवर्णैर्विलेपनैः सौरभलक्षणीयैः ।

आस्थैश्च लोकः परितोषकान्तैरसूचयलब्धपदं रहस्यम् ॥ ३० ॥

वस्त्रैरित्यादि—वस्त्रैः विलेपनैः सौरभलक्षणीयैः सुरभितया परिच्छेद्यैः
 आस्थैश्च व्यपगताधररागैः परितोषकान्तैर्लिङ्गभूतैः रहसि भवं सुरतं लब्धपदं
 अचिह्नं लोकः प्रकाशयति स्म ॥ ३० ॥

प्रातस्तरां चन्दनलिप्तगात्राः प्रच्छाद्य हस्तैरधरान् वदन्तः ।

शाम्यान्निमेषाः सुतरां युवानः प्रकाशयन्ति स्म निगूहनीयम् ॥ ३१ ॥

प्रातस्तरामित्यादि—गुरुजनो नखदशनक्षतं मा द्राक्षीदिति युवानः
 तस्तरां प्रत्युषसि चन्दनलिप्तगात्रा हस्तैरधरान् प्रच्छाद्य वदन्तोऽपि शाम्य
 निमेषा अनिमिषितनेत्रा निगूहनीयं सुतरां प्रकाशयन्ति स्म नूनमेते सत्कृत-
 एवमाचरन्तीति ॥ ३१ ॥

साम्प्रैव लोके विजितेऽपि वामे ! किमुद्यतं भ्रूधनुरप्रसह्यम् ।

हन्तुं क्षमो वा वद लोचनेषुर्दिग्धो विषेणेव किमक्षनेन ॥ ३२ ॥

साम्प्रैत्यादि—हे वामे प्रतिकूलवर्तिनि मधुरेणाविकृतेन साम्ना लोके
 सद्दिधे विजितेऽपि वशीकृतेऽपि भ्रूधनुरप्रसह्यं प्रसोढुमशक्यम् उद्यतम्

उत्क्षिप्तम् । अथवा विलोचनेषुनेत्रशरः स्वत एव हन्तुं क्षमः ततः किमञ्जन
 च विषेण दिग्धो विषलित इति वद कथय ॥ ३२ ॥

दन्तच्छदे प्रज्वलिताऽग्नि कल्पे ताम्बूलरागस्तृणभारतुल्यः ।

न्यस्तः किमित्यूचुरुपेतभावा गोष्ठीषु नारीस्तरुणीर्युवानः ॥ ३३ ॥

दन्तच्छद इत्यादि---प्रज्वलिताग्नि कल्पे स्वभावलोहितत्वात् दन्तच्छदे
 ओष्ठे ताम्बूलरागः किमिति न्यस्तः । तृणभारतुल्यः निष्प्रयोजनत्वात् ।
 इत्येवमूचुर्युवानः प्रातरित्यर्थात् । उपेतभावाः जातानुरागाः गोष्ठीषु स्थिता
 नारीस्तरुणीरिति ॥ ३३ ॥

सुखाऽवगाहानि युतानि लक्ष्म्या शुचीनि संतापहराण्युरूणि ।

प्रबुद्धनारीमुखपङ्कजानि प्रातः सरांसीव गृहाणि रेजुः ॥ ३४ ॥

सुखावगाहानोत्यादि---प्रातः प्रभाते गृहाणि सरांसीव रेजुः । सुखाव-
 गाहानि निरुपद्रवत्वात् सुखेनावगाह्यन्ते । युतानि लक्ष्म्या देवतारूपया
 शुचीनि पवित्राणि सन्तापहराणि घर्मादिक्लेशापहारीणि । उरूणि महानि
 प्रबुद्धानि विनिद्राणि नारीमुखान्येव पङ्कजानि यत्रेति ॥ ३४ ॥

संमृष्टसिक्ताऽर्चितचारुपुष्पैरामोदवद्द्रव्यसुगन्धभागैः ।

लक्ष्मीर्विजिग्ये भवनैः सभृङ्गैः सेव्यस्य देवैरपि नन्दनस्य ॥ ३५ ॥

संमृष्टेत्यादि---देवैः सेव्यस्यापि नन्दनस्य लक्ष्मीभवनैः प्रातर्विजिग्ये
 हेवीजिता । आदौ संमृष्टरजांसि अपनीतरजांसि पश्चात्सिक्तानि । पूर्वापरकाल-
 समासः । अर्चितानि पूजितानि प्रशस्तानि चारुणि शोभनानि पुष्पाणि ये
 भवनेषु संमृष्टसिक्तानि च तानि अर्चितवारुपुष्पाणि चेति विशेषणसमासः ।
 आमोदवन्ति यानि द्रव्याणि चन्दनादीनि तैः सुगन्धो भाग एकदेशो येषां तैः
 सान्यस्येत्वे तदेकान्तग्रहणादित्वं न भवति । सभृङ्गैरामोदभृतत्वात् ॥ ३५ ॥
 अक्ष्णोः पतन्नीलसरोजलोभाद्भृङ्गः करेणाऽल्पवियया निरस्तः ।

ददंश ताम्राऽम्बुरुहाऽभिसन्धिस्तृष्णाऽऽनुरःपाणितलेऽपि धृष्णुः ॥ ३६ ॥

अक्ष्णोःरित्यादि---नीलसरोजलोभान् नीलकमलमेतदित्यक्ष्णोः पतत्रिलो
 चमानो भृङ्गः अल्पवियया अल्पबुद्ध्या कयाचिन् करेण निरस्तः क्षिप्तः स
 चाम्राम्बुरुहाभिसन्धिः रक्तपद्ममेतदित्यभिसन्धिरभिप्रायो यस्य भृङ्गस्य
 धृष्णुः प्रगल्भः पाणितलेऽपि ददंश दृष्टवान् तृष्णातुरः । ताम्रित्यर्थान् ॥ ३६ ॥

विलोलतां चक्षुषि हस्तवेपथुं भ्रुवोर्विभङ्गं स्तनयुग्मवल्लितम् ।

विभूषणानां कणितं च षट्पदो गुरुर्यथा नृत्यविधौ समादधे ॥ ३७ ॥

विलोलतामित्यादि—यथा गुरुर्नृत्याचार्यो नृत्यकर्मणि कस्याश्चिच्चक्षुषि विलोलतां चलतां हस्तवेपथुं हस्तकम्पं भ्रुवोर्विभङ्गं नतोन्नतिं स्तनयुग्मवल्लितं प्रचलितं भूषणानां कणितं शिक्षितं जनयति, तद् दृष्ट्वा षट्पदोऽपि तत्समादधे विहितवान् ॥ ३७ ॥

अथाऽनुकूलान्कुलधर्मसम्पदो विधाय वेशान्मुदिवः पुरीजनः ।

प्रबोधकाले शतमन्युविद्विषः प्रचक्रमे राजनिकेतनं प्रति ॥ ३८ ॥

अथेत्यादि—अथानन्तरं पुरीजनो लङ्कानिवासिजनः प्रतिदिनमवाप्तकल्याणत्वात् सुदिवः । 'सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुक्षचतुरश्रैणीपदाजपदप्रोष्ठपदाः । ५ । ४ । १२० ।' इति समासान्तनिपातनम् । यथास्वं कुलधर्मस्य पुरस्य या संपद्विभूतिः तस्या अनुकूलान् वेशान्नेपथ्यानि विधाय कृत्वा शतमन्युविद्विषोः रावणस्य प्रबोधकाले राजनिकेतनं प्रत्यभिलक्ष्य प्रचक्रमे गन्तुं प्रवृत्तः । 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् । १ । ३ । ४२ ।' इति तद् ॥ ३८ ॥

शैलेन्द्रशृङ्गेभ्य इव प्रवृत्ता वेगाज्जलौघाः पुरमन्दिरेभ्यः ।

आपूर्य रथ्याः सरितो जनौघा राजाऽङ्गनाऽम्भोधिमपूरयन्त ॥ ३९ ॥

शैलेन्द्रशृङ्गेभ्य इत्यादि—यथा जलानां पूरा शैलेन्द्रशृङ्गेभ्यः प्रवर्तन्ते तद्वत्पुरमन्दिरेभ्यः प्रवृत्ता जनौघाः रथ्याः क्षुद्राः सरित इवापूर्य राजाङ्गनमम्भोधिभिवापूरयन्त पूरितवन्तः ॥ ३९ ॥

प्रबोधकालात् त्रिदशेन्द्रशत्रोः प्रागूर्ध्वशोषं परिशुष्यमाणाः ।

हीना महान्तश्च समत्वमीयुर्द्रास्थैरवज्ञापरुषाऽक्षिष्टाः ॥ ४० ॥

प्रबोधकालादित्यादि—त्रिदशेन्द्रशत्रोः रावणस्य प्रबोधकालात्प्राक् पूर्वम् ऊर्ध्वशोषं परिशुष्यमाणाः राजाङ्गने ऊर्ध्वं गता एव प्रबोधकाले शोषं नीचमाना इति अन्तर्भावितप्यर्थो द्रष्टव्यः । एवं च कृत्वा कर्मण्यात्मनेपदम् । अन्ये परिशोष्यमाणा इति णिचं पठन्ति । 'ऊर्ध्वं शुषिपूरोः । १३ । ४ । ४४ ।' इति णमुल् । हीनाः महान्तश्च सेवकाः समत्वं तुल्यत्वमीयुः । द्रास्थैर्द्रौवारिकैः । द्वारि तिष्ठन्तीति 'सुषि स्थः । १३ । २ । ४ ।' इति कः । 'खर

वसानयोर्विसर्जनीयः । ८।३।१५। इति विसर्जनीये 'विसर्जनीयस्य सः । ८।३।३४।
इति स अवज्ञया अनादरेण परुषमस्निग्धं यदक्षि तेनाक्षणा दृष्टाः ॥ ४० ॥

गुरुरुचञ्चत्करकर्णाजिह्वैरवज्ञयाऽग्राऽङ्गुलिसंगृहीतैः ।

रक्षांस्यनायासहृतैरुपास्थुः कपोललीनाऽलिकुलैर्गजेन्द्रैः ॥ ४१ ॥

गुरुरुचञ्चदित्यादि—गुरवोऽलघवः उरवो महान्तः, चञ्चन्तञ्चलन्त-
कराः कर्णा जिह्वाश्च येषां गजेन्द्राणां तैः अवज्ञया अग्राङ्गुलिसंगृहीतैः पादा
ङ्गुष्ठाग्रेण यत्र स्थाने परिगृहीतैः । अङ्गुलेरग्रमिति राजदन्तादित्वात् पूर्वनिपातः
अनायासहृतैः शनैः शनैः प्रचोदितैः । मत्तत्वात् कपोललीनाऽलिकुलैः
रक्षांसि उपास्थुः सेवामकार्षुः ॥ ४१ ॥

निकृत्तमत्तद्विपकुम्भमांसैः सम्पृक्तमुक्तैर्हरयोऽग्रपादैः ।

आनिन्यिरे श्रेणि कृतास्तथाऽन्यैः परस्परं वालधिसन्निबद्धाः ॥ ४२ ॥

निकृत्तेत्यादि—अन्यैः सेवार्थं हरयः सिंहाः आनिन्यिरे आनीताः
निकृत्तानि मत्तद्विपकुम्भमांसानि यैरग्रपादैः अतएव संपृक्तमुक्तैः लग्नकुम्भ-
मुक्ताफला उपलक्षिताः । श्रेणिकृता अश्रेणयः श्रेणयः कृताः 'श्रेण्यादयः
कृतादिभिः । २।१।५९।' इति समासः । 'श्रेण्यादिषु च्यर्थवचन कर्त्तव्यम् ।'
इति च्यर्थवचनम् । परस्परं वालधिसन्निबद्धाः अन्योन्यस्य पुच्छं
संयताः ॥ ४२ ॥

उपेक्षिता देवगणैस्त्रसद्भिर्निशाचरैर्वीतभयैर्निकृत्ताः ।

तस्मिन्नदृश्यन्त सुरद्रुमाणां सजालपुष्पस्तवकाः प्रकीर्णाः ॥ ४३ ॥

उपेक्षिता इत्यादि—सुरद्रुमाणां पारिजातानां सजालाः कलिकासहिताः
पुष्पस्तवकाः वीतभयैर्निशाचरैर्निकृत्ताः छिन्नाः । 'वीतदयैः' इति पाठान्तरम् ।
तत्र किमेतः स्थितैरिति निर्दयैः सजाला एव छिन्नाः छिद्यमानाश्च । देवगणै-
स्त्रसद्भिर्निकृत्ताः 'वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुक्कमुत्रसिन्नुटिलपः । ३।१।७०।' इति
विकल्पेन ध्वन् । तस्मिन् राजाङ्गने प्रकीर्णा अदृश्यन्त सेवकजनेन ॥ ४३ ॥

निराकारिष्णुर्द्विजकुञ्जराणां दृणीकृताऽशेषगुणोऽतिमोहात् ।

पापाऽश्यानभ्युदयाऽर्थमार्चित् प्राग्ब्रह्मरक्षःप्रवरान् दशाऽऽस्यः ॥ ४४ ॥

निराकरिष्णुरित्यादि—दशास्यो विबुद्धः सन् अतिमोहादत्यन्ताज्ञानात्
निराकरिष्णुर्निराकरणशीलः । द्विजवरानित्यर्थात् । द्विजकुञ्जराणां प्रशस्त-
द्विजानामभ्युदयहेतूनां संबन्धिनोऽशेषाः गुणाः तृणीकृता येन स तृणी-
कृताशेषगुणः प्राक् पूर्वं सभाप्रवेशात् पापाशयान् पापचित्तवृत्तीन् ब्रह्मरक्ष-
प्रवरान् अभ्युदयार्थमार्चीत् ॥ ४४ ॥

मायाविभिस्त्रासकरैर्जनानामाप्तैरुपादानपरैरुपेतः ।

सतां विघातैकरसैरविक्षत्सदः परिक्षोभितभूमिभागम् ॥ ४५ ॥

मायाविभिरित्यादि—आप्तैरव्यभिचारिभिर्मायाविभिर्वचकैः परेषां त्रास-
करैः । जनानामतिरौद्रत्वात् । उपादानपरैः सतां सन्मार्गास्थितानां विघातैक-
सैर्विनाशैकस्वभावैः उपेतो दशास्यः सदः सभामविक्षन् प्रविष्टः । 'शल-
इगुपधादनिटः कसः । ३।१।४५।' इति कसः । कीदृशम् । राक्षसैश्चरणभोग्ने-
परिक्षोभितभूमिभागम् ॥ ४५ ॥

विधृतनिशितशस्त्रैस्तद्युतं यातुधानै-

रुरुजठरमुखीभिः संकुलं राक्षसीभिः ।

श्वगणिशतविकीर्णं वागुरावन्मृगीभि-

र्वनमिव सभयाभिर्देववन्दीभिरासीत् ॥ ४६ ॥

विधृतित्यादि—तत्सदो यातुधानैः विधृतनिशितशस्त्रैः गृहीततीक्ष्ण-
शस्त्रैर्युतं युक्तमासीत् । तथा राक्षसीभिः उरुजठरमुखीभिः संकुलं व्याप्तं यथा-
वनं वागुरावत् सवागुरं श्वगणिशतविकीर्णम् आखेटकशतच्छन्नं मृगीभिः
सभयाभिः श्वगणिभ्यो जातभयाभिः देववन्दीभिः व्याप्तमासीत् । श्वगण-
विद्यन्ते येषामिति श्वगणिनः । 'अत इतिठनौ । ५।२।११५।' इतीतिः ॥ ४६ ॥

जलद इव तडित्वान् प्राज्यरत्नप्रभाभिः

प्रतिककुभमुदस्यन् निस्वनं धीरमन्द्रम् ।

शिखरमिव सुमेरोरासनं हैममुच्चै-

र्विविधमणिविचित्रं प्रोन्नतं सोऽध्यतिष्ठत् ॥ ४७ ॥

इति भाट्टिकाव्ये एकादशः सर्गः ।

जलद्र इत्यादि—प्राच्यानां प्रभूतानां रत्नानां मणीनां प्रभाभिः तडित्वा-
न्निव जलद्रः प्रोन्नतात्मा सर्वेषामुपरि स्थितत्वात् । प्रतिककुम्भं दिशि दिशि-
चरिमन्द्रं मन्दगम्भीरं निखनम् उदस्यान्निक्षिपन् सुमेरोः शिखरमिव हैममासन-
मुच्चैरुच्चं विविधमणिविचित्रं नानारूपैर्मणिभिर्विचित्रं नानावर्णकमव्यतिष्ठन्
स्यमारोहति स्म ॥ ४७ ॥

इति श्रीजयमङ्गलसूरिविरचितया जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते
श्रीभट्टिप्रणीते रामचरिते काव्ये तृतीये प्रसन्नकाण्डे लक्षणरूपे
द्वितीयः परिच्छेदः, लक्ष्यरूपे कथानके 'प्रभातवर्णनं'
नाम एकादशः सर्गः ।

द्वादशः सर्गः ।

भाविकत्वमलङ्कारः प्रबन्धविषय उक्तः । नैकदेशिकं तस्य चित्रादयो-
ऽर्थाः प्रवृत्तेहेतवः । तथा चोक्तम्--'भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं
गुणम् । प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः॥चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथायाः
स्वभिनीतता । शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते ॥' इति । तत्सर्वं मन्त्र-
निर्णयप्रबन्धे द्रष्टव्यमिति दर्शयन्नाह—

ततो विनिद्रं कृतदेवतार्चं दृष्ट्यैव चित्तप्रशमं किरन्तम् ।

आविष्कृताङ्गप्रतिकर्मरम्यं विभीषणं वाचमुवाच माता ॥ १ ॥

तत इत्यादि—ततः प्रभातकालानन्तरं विभीषणं, विनिद्रं प्रबुद्धम् । कृत-
देवतार्चं कृतेष्टदेवतापूजनम् । दृष्ट्यैव स्निग्धया कायव्यापारेण चित्तप्रशमं
किरन्तं प्रकाशयन्तम् । आविष्कृतं प्रदर्शितं यद्भङ्गस्य प्रतिकर्म प्रसाधनं तेन रम्यं
भाता नैकपी नाम वाचं वक्ष्यमाणामुवाच ॥ १ ॥

प्रवाधमानस्य जगन्ति धीमस्त्वं सोदरस्याऽतिमदोद्धतस्य ।

आनन्दनो नाकसदां प्रशान्तिं तूर्णं विषस्यामृतवत्कुरुष्व ॥ २ ॥

प्रवाधमानस्येत्यादि—हे धीमन् ! त्वं नाकसदां देवानाम् आनन्दनः प्रमो-
दयिता सन् सोदरस्य भ्रातुर्ज्ञाननस्य । गर्भावस्थायां समानमुदरं यस्येति
योगविभागात्सभावः । अतिमदोद्धतस्य महता सामर्थ्येन दत्तस्य जगन्ति
लोकं प्रवाधमानस्य पीडयतः प्रशान्तिं प्रशमनं तूर्णं कुरुष्व । अमृतवन् । यथा

अमृतं देवानामानन्दनं विपस्य कालकूटनाम्नः सोदरस्य एकस्मिन् समुद्रोदरे
स्थितत्वात् जगन्ति प्रबाधमानस्य प्रशान्तिं कृतवदिति ॥ २ ॥

कुर्यास्तथा येन जहाति सीतां विपादनीहारपरीतमूर्तिम् । .

स्थितां क्षितौ शान्तशिखाप्रतानां तारामिव त्रासकरीं जनस्य ॥ ३ ॥

कुर्या इत्यादि—तथा तत्प्रकारमनुतिष्ठेस्त्वं येन सीतां जहाति । विपादनीहा-
रपरीतमूर्तिं विपादो नीहार इव तेन परिगतदेहाम् । क्षितौ स्थितां निमग्नम् ।
शान्तशिखाप्रतानां अनुज्वेलवेणीवन्धाम् । जनस्य त्रासकरीं भयहेतुभूताम् ॥
हेतौ टः । तारामिव । यथा काचित्तारा क्षितौ स्थिता पतिता नीहारपरीतमूर्तिः
शान्तशिखाप्रताना ध्वस्तरश्मिजाला लोकत्रासकरी तद्वत्तामिति भावः ॥ ३ ॥

यावन्न सन्त्रासितदेवसङ्घः पिण्डो विषस्येव हरेण भीष्मः ।

सङ्ग्रस्यतेऽसौ पुरुषाऽधिपेन द्रुतं कुलाऽऽनन्द यतस्व तावत् ॥ ४ ॥

यावदित्यादि—यथा सन्त्रासितदेवसङ्घः विपस्य कालकूटस्य पिण्डोः
भीष्मोऽतिरौद्रो हरेण संग्रस्तः पीतः तद्वद्यावदसौ रावणः पुरुषाधिपेन रामेण न
संग्रस्यते न विनाश्यते, तावत् हे कुलानन्द ! कुलानि आनन्दयतीति 'कर्मण्यण्
।३।२।१।' इत्यण् । द्रुतं शीघ्रं यतस्व सीतात्याजनायां यत्नं कुरु ॥ ४ ॥

हता जनस्थानसदो निकायाः कृता जितोत्खातभटद्रुमा पूः ।

सदांसि दग्धानि विधेयमस्मिन् यद्बन्धुना तद्धटयस्व तस्मिन् ॥ ५ ॥

हता इत्यादि—जनस्थानसदो दण्डकारण्यवासिनः निकायाः खरदूषणा-
दीनां संघा हताः । 'संघे चानौत्तराधये' । ३ । ३ । ४२ ।' इति चिनोतेः
घब् ककारश्चादेशः । पूश्च लङ्का जितभटा उत्खातद्रुमा कृता । सदांसि गृहाणि
दग्धानि । इति सर्वमेतत्त्वया ज्ञातमेव । अनेन प्रकारेण अस्माकमपि विनाशः
स्यात् । तदेतस्मिन्वस्तुनि यद्बन्धुना विधेयम् अनुष्ठेयं तद्विधातुं घटयस्व यतस्व ।
वस्मिन्वस्तुनि ॥ ५ ॥

चिकीर्षिते पूर्वतरं स तस्मिन् क्षेमङ्करेऽर्थे मुहुरीर्यमाणः ।

मात्राऽतिमात्रं शुभयैव बुद्ध्या चिरं सुधीरभ्यधिकं समाधात् ॥ ६ ॥

१ 'आस्थानी ह्रीवमास्थानं स्निपुंसकयोः सदः ।' इत्यमर-
वाचित्वेऽपि सामान्यवाचित्वमभिप्रेतम् ।

चिकीर्षित इत्यादि—तस्मिन् सीताप्रत्यर्पणलक्षणेऽर्थे मातुरूपदेशात् पूर्व-
 उत्तरं पूर्वमेव चिकीर्षिते कर्तुमीप्सिते मात्रा शुभयैव बुद्ध्या कल्याणया अति-
 सात्रन्त्यर्थं मुहुः प्रतिक्षणमीर्यमाणः प्रवर्त्यमानः स विभीषणः सुधीः
 श्राज्ञः चिरकालमभ्यधिकं समाधात् चिन्तितवान् । इदमतिन्याय्यमिति
 'गातिस्थाद्युपासूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु । २ । ४ । ७७ ।' इति सिचो लुक् ॥
 इयता प्रवन्देन उदात्तार्थाभिधानादुदात्तार्थत्वमुक्तम् । इत् उत्तरं प्रहस्त-
 रावण-विभीषण-मातामह-कुम्भकर्णादीनां वचनप्रवन्देषु चित्राद्भुतार्थत्वं द्रष्ट-
 व्यम् । स्वविनीतता सुबोधता शब्दानाकुलता चेत्येतद्भुतं कथायामेव मन्त्र-
 निर्णयान्यायां द्रष्टव्यम्) ॥ ६ ॥

दौवारिकाऽभ्याहतशक्रदूतं सोपायनोपस्थितलोकपालम् ।

साऽऽशङ्कभीष्माऽऽप्तविशान्निशाटं द्वारं ययौ रावणमन्दिरस्य ॥ ७ ॥

दौवारिकेत्यादि—स विभीषणः रावणमन्दिरस्य द्वारं ययौ । दौवारिकाः
 द्वारे नियुक्ताः । 'द्वारादीनां च । ७ । ३ । ४ ।' इत्यैच् । तैरभ्याहताः शक्रदूता
 यस्मिन् द्वारे । सोपायनाः गृहीतकौशलिकाः उपस्थिता उपढौकिता लोकपाल
 यत्र । साशङ्काः सभयाः, भीष्मा भयानकाः, आप्ता विश्वासाहर्ता, विशान्
 निशाटा निशाचरा यत्रेति तमिति ॥ ७ ॥

अथ त्रिभिर्विशेषकम् ।

दूरात्प्रतीहारनतः स वार्ता पृच्छन्ननावेदितसम्प्रविष्टः ।

सगौरवं दत्तपथो निशाटैरैक्षिष्ट शैलाऽग्रमिवेन्द्रशत्रुम् ॥ ८ ॥

दूरादित्यादि—स विभीषणः दूरादेव प्रतीहारेण नतः स्वाभिनीव क
 गौरवान् । वार्ता पृच्छन् कुशली महाराज इति विभीषणो द्वारि तिष्ठ-
 तीति राज्ञ अनावेदित एव संप्रतिष्ठो निशाटैः सगौरवं च सविनयं दत्त-
 पथो दत्तमार्गः । इन्द्रशत्रुं रावणमैक्षिष्ट दृष्टवान् । शैलाग्रमिव सिंहासनाख्यं
 तन्योच्चत्वान् ॥ ८ ॥

शुशानुवर्षण्यधिरूढमुच्चः सिंहासने संक्षयमेवभीमम् ।

निर्गतीक्ष्णं नयनस्कुलिङ्गं युगान्तवह्नेरिव यूमराशिम् ॥ ९ ॥

कृशानुवर्ष्मणीत्यादि—सिंहासने उच्चैस्तुङ्गे कृशानुवर्ष्मणि अग्रितुल्ये अधि-
रूढम् उपविष्टम् । संक्षयमेधवद्भूमम् अतिभयंकरम् । निसर्गतीक्ष्णं स्वभाव-
तैद्रम् । नयनानि स्फुलिङ्गा इव यस्य तमैक्षिष्ट । युगान्तवहेरिव धूमराशिम्,
अग्रितुल्यसिंहासने उपरि स्थितत्वात् । सोऽपि संक्षयमेधवद्भूमिः, स्वभावतः
ऋकृत्वात् । स्वभावतीक्ष्णः । नयनानि विस्फुलिङ्गा यत्रेति ॥ ९ ॥

प्रीत्याऽपि दत्तेक्षणसन्निपातं भयं भुजङ्गाऽधिपवदधानम् ।

तमःसमूहाऽऽकृतिमप्यशेषानूर्जा जयन्तं प्रथितप्रकाशान् ॥ १० ॥

प्रीत्येत्यादि—यथा भुजङ्गाधिपः शेषः प्रीत्या स्नेहेन दत्तेक्षणसन्निपातः
समर्पितनेत्रनिवहो भयमादधाति तद्वद्भयमादधानम् । तमःसमूहस्येवाकृति-
र्यस्य तमपि प्रथितप्रकाशानशेषानर्कादीन् ऊर्जा बलेन जयन्तमैक्षिष्ट । ऊर्जेति
'भ्राजभामधुर्विद्युतोर्जिपृजुग्रावस्तुवः क्विप् ॥३१२॥१७७॥' इति क्विप् ॥ १० ॥

तं रत्नदायं जितमृत्युलोका रात्रिञ्चराः कान्तिभृतोऽन्वसर्पन् ।

प्रमुक्तमुक्ताफलमम्बुवाहं संजाततृष्णा इव देवमुख्याः ॥ ११ ॥

तमित्यादि—यथा देवमुख्याः अमरत्वाज्जितमृत्युलोकाः कान्तिभृतो
दीप्तिधराः संजाततृष्णाः सन्तः प्रमुक्तमुक्ताफलमम्बुवाहमुपसर्पन्ति तद्वत्तं
विभीषणं रत्नदायम्, रत्नं दास्यतीति । 'अण् कर्मणि च ॥३११॥२१॥' इति
भविष्यत्काले क्रियायां क्रियार्थायामण् तत्र 'एककर्तृके भिन्नकर्तृके वा'
इति विशेषाभावात् । अथवा 'दय दानगत्योः' इत्यस्मात् 'कर्मण्यण्'
॥३१२॥११॥' इत्यण् । रत्नं दयते ददातीति कृत्वा । रात्रिचरा भग्नयमलोका
अन्वसर्पन् ॥ ११ ॥

स किङ्करैः कल्पितमिङ्गितज्ञैः संबाधकं पूर्वसमागतानाम् ।

सिंहासनोपाश्रितचारुबाहुरध्यास्त पीठं विहितप्रणामः ॥ १२ ॥

स इत्यादि—स विभीषणः विहितप्रणामः कृतप्रणतिः पीठमध्यास्त
उपेक्षणवान् । किङ्करैर्भृत्यैरिङ्गितज्ञैरभिप्रायवेदिभिः कल्पितमुपनीतम् ।
पूर्वसमागतानां प्रथमप्रविष्टानां संबाधकं संकटकृत् संबाधत इति 'ण्वुल्तृचौ ।
३११॥३५॥' इति ण्वुल् । रावणस्य सिंहासने उपाश्रितः स्थितः चारुर्बाहु-
र्यस्य विभीषणस्येति सः ॥ १२ ॥

ततो दशाऽऽस्यः क्षुभिताऽहिकल्पं दीप्राऽङ्गुलीयोपलमूढरत्नम् ।
अनेकचञ्चन्नखकान्तिजिह्वं प्रसार्य पाणिं समितिम्बभाषे ॥ १३ ॥

तत इत्यादि---विभीषणनिवेशनादुत्तरकालं दशास्यः पाणिं क्षुभिता-
हिकल्पं क्रुद्धविस्तृतफणेन सर्पेण तुल्यम् । दीप्रा दीपनशीलोऽङ्गुलीयोपले-
ऽङ्गुलीयरत्नम् । यतः तत एव ऊढरत्नम् । अनेकाञ्चञ्चन्त्यञ्चलन्त्यो नख-
कान्तयो जिह्वा इव यस्य तं प्रसार्य समितिं राक्षससमूहं वभाषे ॥ १३ ॥

शक्तैः सुहृद्भिः परिदृष्टकार्यैराम्नातिभिर्नीतिषु बुद्धिमद्भिः ।

युष्मद्विधैः सार्धमुपायविद्भिः सिध्यन्ति कार्याणि सुमन्त्रितानि ॥ १४ ॥

शक्तैरित्यादि---शक्तैः समर्थैः सुहृद्भिर्मित्रैः परिदृष्टकार्यैः मा भूददृष्ट-
कर्मणां कर्मसु विषाद इति । नीतिषु आम्रातिभिः अभ्यस्तनीतिशास्त्रैरित्यर्थः ।
'इष्टादिभ्यश्च । ५।२।८।' इति इनिः । 'क्तत्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम्'
इति कर्मणि सप्तमी । बुद्धिमद्भिः ज्ञानवद्भिः । उपायविद्भिः सामादिकुशलै-
रित्यर्थः । युष्मद्विधैः सह कार्याणि सुमन्त्रितानि सिध्यन्ति ॥ १४ ॥

उपेक्षिते वालिखराऽऽदिनाशे दग्धे पुरेऽक्षे निहते सभृत्ये ।

सैन्ये द्विषां सागरमुत्तितीर्षावनन्तरं ब्रूत यदत्र युक्तम् ॥ १५ ॥

उपेक्षित इत्यादि---वालिखरादिनाशेषूपेक्षितेषु द्विषां च सैन्ये सागर-
मुत्तितीर्षावुत्तरितुमेषणशाले । अनन्तरभिदानीं ब्रूत वदत यदत्र युक्तमीति
उत्तितीर्षाविति 'इकोऽचि विभक्तौ । ७ । १ । ७३ ।' इति तुम् न भवति ।
'वृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्बालवस्य । ७ । १ । ७४ ।' इति पुंवद्भावः ॥ १५ ॥

भुजांसदक्षः स्थलकार्मुकासीन् गदांश्च शूलानि च यातुधानाः ।

परामृशन्तः प्रथिताभिमानाः प्रोचुः प्रहस्तप्रमुखा दशास्यम् ॥ १६ ॥

भुजांसेत्यादि---यदि वयं शत्रून् न व्यापादयामस्तदा किमेतैर्भुजादिभि-
रुद्वेदिति प्रथिताभिमानाः प्रकाशिताहंकारा भुजादीन् परामृशन्तः
प्रहस्तप्रमुखा यातुधाना दशास्यं प्रोचुर्वक्तुमारब्धाः 'वच परिभाषणे'
लिट् उस् ॥ १६ ॥

अखण्डचमानं परिखण्डय शकं त्वं पण्डितम्मन्यमुदीर्णदण्डः ।

नराभियोगं नृमुजां प्रधान मन्त्रोन्मुखः किं नयसे गुरुत्वम् ॥ १७ ॥

अखण्ड्यमानमित्यादि—शक्रमखण्ड्यमानं अनभिभवनीयाहंकारम् अतश्च पण्डितंमन्यं पण्डितमात्मानं मन्यमानं नान्यः पण्डितोऽस्तीति तादृशं परिवर्ण्य जित्वा, त्वं नृभुजां प्रधान ! उदीर्णदण्डः अभ्यर्चितवलः सन् किमर्थं मन्त्रोन्मुखो मन्त्रप्रवणः नराभियोगं गुरुत्वं नयसे प्रापयसि । सुमन्त्रितानि कार्याणि सिध्यन्तीति । अत्र कर्तुर्गुणाभियोगेन क्रियाफलेन योगादात्मनेपदम् ॥ १७ ॥

निर्यत्स्फुलिङ्गाऽऽकुलधूमराशिं किं ब्रूहि भूमौ पिनषाम भानुम् ।
आदन्तनिष्पीडितपीतमिन्दुं ष्ठीवाम शुष्केक्षुलताऽस्थिकल्पम् १८

निर्यदित्यादि—ब्रूहि समादिश आस्तां तावन्नराभियोगः । किं भानुं क्षितौ पिनषाम चूर्णयाम । प्रश्ने लोट् । 'रूधादिभ्यः भ्रम् । ३।१।७८।' इति भ्रम् । निर्यता निर्गच्छता स्फुलिङ्गनाकुलो धूमराशिर्यस्य तं भानुम् । आ इति विकल्पे वर्तते । दन्तनिष्पीडितपीतमिन्दुं वा पूर्वं दन्तैर्निष्पीडितं पश्चात्पीतं ष्ठीवाम निरस्याम । 'वोरूपधाया दीर्घ इकः । ८।२।७६।' इति दीर्घः । शुष्केक्षुयष्टेरस्थीव तत्सदृशम् ॥ १८ ॥

सराधवैः किं वत वानरैस्तैः प्रातराशोऽपि न कस्यचिन्नः ।

सस्थाणुकैलासधराभिधत्स्व किं द्यौरधोऽस्तु क्षितिर्न्तारिक्षे ॥ १९ ॥

सराधवैरित्यादि—सस्थाणुर्वैः कैलासः तस्य धर इति समासः । धारयतीति रः । पचादित्वात् कर्तर्यच् । हे सस्थाणुकैलासधर ! नोऽस्माकं मध्ये त्व्यचिदेकस्य वैः सराधवैः प्रातराशोऽपि प्रातर्भोजनमपि न भवति । सराधवैर्वानरैः किं प्रयोजनम् । वतशब्दोऽनुशोचने । अतो-भिधत्स्व आदिश । किं द्यौराकाशमधोऽस्तु भवतु, क्षितिर्वा अन्तारिक्षे परिष्ठा इति ॥ १९ ॥

चापल्ययुक्तस्य हरेः कृशानुः समेधितो बालधिभात्वदीयैः ।

शस्त्रेण वध्यस्य गलन्नधाक्षीद्राजन् ! प्रमादेन निजेन लङ्काम् ॥ २० ॥

चापल्येत्यादि—चपलस्य भावश्चापल्यम् । 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः ष्मर्माणि च । ५।१।१२४।' इति ब्राह्मणादित्वाद्भावे ष्यन् । युवादिष्वपि श्यते । तत्र चापलमिति रूपम् । तेन युक्तरय हरेर्मर्षेण ह राजन् ! शस्त्रेण वध्यस्य सतः यो बालधिः पुच्छं तद्भाक् समाश्रितः कृशानुस्त्वदीयैः भृत्यैः समेधितो वर्धितः तैलघृतादिभिर्गृहात् गृहं गच्छतो गलन् पुच्छात्पतन लङ्का-

मधाक्षीत् दग्धवान् । 'एकाचो वशो भष् झषन्तस्य स्थवोः । ८।२।३७' इति घत्वम् । हलन्तलक्षणा वृद्धिः । 'हो ढः । ८।२।३१' । 'षढोः कः सि। ८।२।४१' इति कः निजेन आत्मीयेन प्रमादेन ज्वालादर्शितलक्षणेन तदानीं तस्य शिखरव्यापादनमेव युक्तमिति ॥ २० ॥

अथाञ्चितोरस्कमुदीर्णदृष्टिः कृत्वा विवक्षाप्रवणं शरीरम् ।

विवृत्तपाणिर्विहितोत्तरार्थं विभीषणोऽभाषत यातुधानान् ॥ २१ ॥

अथेत्यादि—प्रहस्तादिवचनानन्तरम् आञ्चितोरस्कं विन्यस्तहारत्वात् । धृजितोरस्कम् । 'उरःप्रभृतिभ्यः कप् । ५।४।१५१' इति कप् 'अञ्चैः पूजायाम् । ७।२।५३' इतीद् । 'नाञ्चैः पूजायाम् । ६।४।३०' इत्यनुनासिकलोपप्रतिषेधः । तादृशं शरीरं विवक्षाप्रवणं वक्तुमिच्छामिमुखं कृत्वा शरीरस्य सौष्ठवम् उत्पाद्येत्यर्थः । उदीर्णदृष्टिस्तदभिमुखदृष्टिः । विवृत्तपाणिस्तदभिमुखीकृतदक्षिणपाणिः । विभीषणो यातुधानानभाषत । विहितोत्तरार्थं विहितः प्रतिषिद्धः परैरुदितस्य वचनस्यार्थो यत्र भाषण इति ॥ २१ ॥

युद्धाय राज्ञा सुभृतैर्भवद्भिः सम्भावनायाः सदृशं यदुक्तम् ।

तत्प्राणपण्यैर्वचनीयमेव, प्रज्ञा तु मन्त्रेऽधिकृता न शौर्यम् ॥ २२ ॥

युद्धायेत्यादि—युद्धार्थं राज्ञा भवन्तः सुभृताः संवर्धिताः तैः सुभृतैर्वदुक्तं 'भानुं पिनषाम' इत्यादि कीदृशम् । संभावनायाः सदृशम् । तत्प्राणपण्यैर्वचनीयमेव । मन्त्रे तु प्रज्ञाधिकृता न शौर्यम् ॥ २२ ॥

'नराभियोगं किं नयसे गुरुत्वम्' इत्यत्रोत्तरमाह—

यच्चापि यत्नाऽऽहतमन्त्रवृत्तिर्गुरुत्वमायाति नराभियोगः ।

वशीकृतेन्द्रस्य कृतोत्तरोऽस्मिन् विध्वंसिताशेषपुरो हनूमान् ॥ २३ ॥

यच्चेत्यादि—वशीकृतेन्द्रस्य निर्जितशक्रस्य रावणस्य नराभियोगो यत्नाऽऽहतमन्त्रवृत्तिर्यत्नेनादृता मन्त्रवृत्तिर्यस्य सः तादृशो गुरुत्वमायातीति यच्चाप्युक्तम् अस्मिन् वस्तुनि हनूमान् कृतोत्तरो दत्तोत्तरः । यतः प्रध्वंसिताशेषपुरः । पुरं लङ्का । पूःशब्दो वा कृतसमासान्तः । यत्र कपिनाथभृत्येन ईदृशमनुष्ठितं स क्वं नराभियोगो मन्त्रोन्मुखो न निरूप्यत इति ॥ २३ ॥

प्रमादेनाग्निः लङ्कामधाक्षीदित्यत्रोत्तरमाह—

अग्निः प्रमादेन ददाह लङ्कां वद्व्यस्य देहे स्वयमेधितश्चेत् ।

विमृश्य तद्देवधियाऽभिधत्त ब्रह्माऽस्त्रवन्धोऽपि यदि प्रमादः ॥ २४ ॥

अग्निस्तियादि—वध्यस्य वधार्यस्य देहे तदेकदेशेषु पुच्छादिषु प्रमादेन स्वयं युष्माभिरग्निरेधितो दीपितः लङ्कां दादाह चेत्, तथास्तु । ब्रह्मास्त्रव-
न्दोऽपि यदि प्रमादः तद्देवधिया देवबुद्ध्या देवानां सात्त्विकत्वान्निर्मला
बुद्धिः तथा विभृश्य निरूप्याभिधत्त ब्रूत । सोऽपि प्रमाद इति यतोऽसावमो-
वोऽपि विश्लेषितः । अभिधत्तेति । 'दधस्तथोश्च । ८।२।३८।' इत्यभ्यासदकारस्य
भष्, धातोश्च खरि चर्त्वम् ॥ २४ ॥

पराभियोगः सर्वथा निरूप्यत इति दर्शयन्नाह—

जगन्त्यमेयाऽद्भुतभावभाञ्जि जिताऽभिमानाश्च जना विचित्राः ।
कार्ये तु यत्नं कुरुत प्रकृष्टं मा नीतिगर्भान्मुधियोऽवमन्धवम् ॥ २५ ॥
जगन्तीत्यादि—असंख्यविचित्रभावभाञ्जि जगन्ति तत्रत्या अपि जनाः
विचित्राः शक्तिदेशकालवशात् जिताभिमानाश्च । अन्यैरुत्कृष्टैर्जायतेऽभिमान-
स्तेषाम् । तेनात्मन्यभिमानो न कर्तव्य इति दर्शयति । कार्ये तु प्रकृष्टमुत्तमं यत्नं
कुरुत । येन तत्कार्यं सिध्यति । तत्र च ये युक्तिमभिदधति तात्रीतिगर्भान्
नीतिरेव पाङ्गुण्यादिज्ञानं गर्भं येषाम् । अत एव मुधियो मावमन्धवं मा परि-
भूत । तदयुक्तानुष्ठानात् । 'हनः सिच् । १।२।१४।' इति कित्त्वविधान-
सामर्थ्यात् अज्ञेनासिकलोपाभावः । 'धि च । ८।२।२५।' इति सिचो
लोपः ॥ २५ ॥

यथा च विजिगीषुणा वर्तितव्यं तथोपदिशन्नाह—

वृद्धिक्षयस्थानगतामजस्रं वृत्तिं जिगीषुः प्रसमीक्षणः ।
घटेत सन्ध्याऽऽदिषु यो गुणेषु लक्ष्मीं न तं मुञ्चति चञ्चलाऽपि ॥ २६ ॥
वृद्धीत्यादि—आत्मद्रव्यप्रकृतिसंपन्नो नयस्याधिष्ठानं विजिगीषुः तस्य
वृद्धिक्षयस्थानमिति त्रीणि फलानि । गुणाश्च सन्धिविग्रहयानासनसंश्रय-
र्धोभावाः षट् । तत्र यस्मिन् गुणे स्थितः पश्येदिहस्थः पश्यामीति ।
हर्गसेतुवणिककृषिशून्यनिवेशनद्रव्यहस्तिवनकर्माण्यात्मनः प्रवर्तयितुं परस्य
घेतानि हन्तुं गुणमातिष्ठेत् सा वृद्धिः । यस्मिन् गुणे स्थितः स्वकर्मणामुप-
यातं पश्येत् नेतरस्य तस्मिन्न तिष्ठेत् स क्षयः । स्वकर्मणां वृद्धिगुणेना-
भिपश्येत्तत् स्थानमित्यनेन मार्गेण यो विजिगीषुः वृद्धिक्षयस्थानगतामात्मनः
पश्येत् च वृत्तिमजस्रं शश्वत् प्रसमीक्षमाणो निरूपयन् सन्ध्यादिषु षड्गुणेषु
घटेत घटेत । तं विजिगीषुं लक्ष्मीः राज्यश्रीः चञ्चलापि न मुञ्चति । गुण-
दृष्टत्वावद्भवात् ॥ २६ ॥

अस्ति स कालो यत्र विजिगीषुणा परवृद्धिरुपेक्षणीयेति दर्शयन्नाह—

उपेक्षणीयैव परस्य वृद्धिः प्रनष्टनीतेरजितेन्द्रियस्य ।

मदाऽऽदियुक्तस्य विरागहेतुः समूलघातं विनिहन्ति याऽन्ते ॥२७॥

उपेत्यादि---परः शत्रुः प्रनष्टनीतित्वादजितेन्द्रियः न मदादिषड्वर्गं त्यजति, किंतु तेनैव युज्यते । तस्यैवंविधस्य या वृद्धिः सा सर्वस्यैव लोकस्य विरागहेतुर्विमुख्यकारणमुपेक्षणीयैव न तदभावाय । तेनेदृशी या अन्ते अवसाने समूलघातं सर्वं सर्वेण विनिहन्ति विनाशयति ॥ २७ ॥

तथास्ति स कालो यत्र विजिगीषुणाप्यात्मक्षयं उपेक्षणीय इत्याह—

जनाऽनुरागेण युतोऽवसादः फलाऽनुबन्धः सुधियाऽऽत्मनोऽपि ।

उपेक्षणीयोऽभ्युपगम्य सन्धिं कामाऽऽदिषड्वर्गजिताऽधिपेन ॥ २८ ॥

जनेत्यादि---आत्मनोऽप्यवसादः क्षयः जनानुरागेण युतः संवद्धः । अनु-रक्तप्रकृतिमण्डलत्वाद्विजिगीषोः फलानुबन्धः फलमनुवभ्राति । सुधिया विदुषा अधिपेन राज्ञा । कामादिषड्वर्गजिता कामक्रोधलोभमोहमदेष्याणां पण्णां वर्ग-स्तजिता उपेक्षणीयः । तत्रापि परैः सन्धिमभ्युपगम्य कृत्वा । अन्यथा क्षीणो-ऽयमिति परोऽभियुञ्जीत ॥ २८ ॥

यदा च विजिगीषुः सन्धिविग्रहाभ्यां फलं न पश्येत्तदा स्ववृद्धिप्राप्त्यर्थमा-सनं कुर्यादित्युपादिशन्नाह—

यदा विगृह्णन्न च सन्धानो वृद्धिं क्षयं चानुगुणं प्रपश्येत् ।

आसीत् राजाऽवसरप्रतीक्षस्तदा प्रयासं वितथं न कुर्यात् ॥ २९ ॥

यदेत्यादि—यदा हि राजा विजिगीषावस्थितः विगृह्णन् विग्रहं कुर्वन् आत्मनोऽनुगुणामनुकूलां वृद्धिं न पश्येत् क्षयं वा परस्यात्मनोऽनुगुणं न पश्येत् । सन्धान इति सन्धिं च कुर्वन्नात्मनोऽनुगुणं न पश्येत् तदा आसीत् स्ववृ-द्ध्यर्थमासनं कुर्यात् न विग्रहं सन्धिं वा । अवसरः कालरतं प्रतीक्षत इति अवस-रप्रतीक्षः । 'कर्मण्यण् ॥३॥२॥१॥' इत्यण् । सन्धेर्विग्रहस्य वा स्वपरवृद्धिभ्या-नुकूलं कालं प्रतीक्षमाण इत्यर्थः । न पुनः प्रयासं सन्धिविग्रहोद्यमं वितथं निष्प्रयोजनं कुर्यात् । यदा तु परं विग्रहीतुमशक्तः तदा श्वाकराहकलहं समान-मुपदेक्ष्यति ॥ २९ ॥

सन्धि कृतवतोऽपि विजिगीषोः परेण वा वियुज्यमानस्य विधिमुपादि-
त्राह—

सन्धौ स्थितो वा जनयेत्स्ववृद्धिं हन्यात्परं वोपनिषत्प्रयोगैः ।

आश्रावयेदस्य जनं परैर्वा विग्राह्य कुर्यादवहीनसन्धिम् ॥ ३० ॥

सन्धावित्यादि—संधौ स्थितो वर्तमानः जनयेत् स्ववृद्धिम् । यथा अत्यु-
च्छ्रुतः तामभियुज्जीत परं वा शत्रुम् उपनिषत्प्रयोगैः विषादिदानैः हन्यात् विना-
येत् सन्धिना जातविश्वासत्वात् । आश्रावयेदस्य जनं देशादिदानेनाकर्षयेत् ।
लवता अभियुज्यमानः परैः विग्राह्य कलहं कारयित्वा अवहीनसन्धिम् आ-
न्तसंधिं कुर्यात् । तस्योपतापितत्वात् ॥ ३० ॥

संधिस्तोर्विजिगीषोः शत्रुमण्डलभेदं कुर्वतः सुकरः संधिरित्युपदिशन्नाह—

सन्दर्शितस्नेहगुणः स्वशत्रून्विद्वेषयन्मण्डलमस्य भिन्धात् ।

इत्येवमादि प्रविधाय सन्धिर्वृद्धेर्विधेयोऽधिगमाभ्युपायः ॥ ३१ ॥

सन्दर्शितेत्यादि—अस्मच्छत्रवोऽनेन सन्धानं मा कार्पूरिति तान्विद्वे-
यन् विमुखानुत्पादयन् । सन्दर्शितस्नेहगुणः प्रकटीकृतानुरागगुणः । अस्य
त्रोर्मण्डलममात्यादिप्रकृतिं भिन्धात् । इत्येवमादि प्रविधाय सन्दर्शिते-
नेवमादिवाक्यार्थं कृत्वेत्यर्थः । वृद्धेरधिगमाभ्युपायः प्राप्तिहेतुः सन्धिर्विधेयो-
नुष्ठेयः ॥ ३१ ॥

विग्रहोऽपि विशिष्टस्यैव विजिगीषोर्न यस्य कस्यचिदित्युपदिशन्नाह—

मत्वा सहिष्णूनपरोपजप्यान्स्वकानधिष्ठाय जलाऽन्तदुर्गान् ।

द्रुमाऽद्रिर्दुर्लङ्घ्यजलाप्रधृष्यान्वर्धेत राजा रिपुविग्रहेण ॥ ३२ ॥

मत्वेत्यादि—स्वकानात्मीयाननुजीविनः सहिष्णून् समर्थान् अपरोपज-
गान् परैरभेद्यान् जलान्ते ये दुर्गाः प्रदेशाः तानधिष्ठाय तत्र स्थापयित्वा ।
प्रधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म । १ । ४ । ४६ । इति कर्मसंज्ञा । कीदृशान् द्रुमै-
र्द्रिभिर्दुर्लङ्घ्यजलैश्चाप्रधृष्यान् अगम्यान् । वनपर्वतजलभेदात् त्रिविधं
गम् । रिपुणा सह यो विग्रहः तेन हेतुना राजा वर्धेत वृद्धयुपचितः
शात् ॥ ३२ ॥

यदा अरिविजिगीषू परस्परं हन्तुं न शक्नौ तदा विजिगीषोरासनमुप-
शान्नाह—

शक्नोति यो न द्विषतो निहन्तुं विहन्यते नाऽप्यवलैर्द्विषद्भिः ।

स श्वावराहं कलहं विदध्यादासीत् दुर्गाऽऽदि विवर्धयंश्च ॥ ३३ ॥

शक्नोतीत्यादि—यो विजिगीषुः अवलत्वात् द्विषतः शत्रूनभिहन्तुं विप्र-
 हतिं न शक्नोति अवलौर्द्विषद्भिर्नापि विहन्यते स विजिगीषुः श्वावराहं कलहं
 विदध्यात् अनुतिष्ठेत् । श्वा च वराहश्च, श्वावराहं तदीयमिव कलहम् ।
 'तस्येदम् । ४ । ३ । १२० ।' इत्यण् । यथा चाण्डाला वराहं हन्तुमशक्ताः
 श्वानं विमुच्य योधयन्ति यद्ययं हतोऽनेन वा अयमिति तयोर्भक्ष्यत्वा-
 दुभयथा कार्यसिद्धेः । तद्वद्भयोर्विद्विषतोः कलहं विदध्यात् । स्वयं च
 दुर्गादि विवर्धयन् दुर्गसेतुवणिक्कृषिशून्यानिवेशनद्रव्यहस्तिवनकर्माण्युपाचि-
 न्वन् आसीत् तिष्ठेत् ॥ ३३ ॥

यदा विजिगीषुर्यानमात्रसाध्यं शत्रुमात्मानं वा शक्तिहीनं पश्येत् तदा
 श्यायात् संश्रयेतेति गुणद्वयमुपदिशन्नाह—

प्रयाणमात्रेण परे प्रसाध्ये वर्तेत यानेन कृताऽभिरक्षः ।

अशक्नुवन्कर्तुमरोर्विघातं स्वकर्मरक्षां च परं श्रयेत् ॥ ३४ ॥

प्रयाणमात्रेणेत्यादि—प्रयाणमात्रेण प्रसाध्ये परे शत्रौ नापरं विप्रहमपे-
 क्षेत, यानेन वर्तेत, स्ववृत्तौ वर्तेत । कृताभिरक्षः, अभियास्यतः कर्मणां द्विविध-
 त्वप्रतिविधानात् । अरोर्विघातं दुर्गादिकर्मोपघातान् स्वकर्मरक्षां स्वेषां दुर्गा-
 दिकर्मणां अपरेणोपहन्यमानानां रक्षां कर्तुमशक्नुवन् शक्तिहीनत्वात् परं श्रयेत्
 यमाश्रित्य क्षयस्थानात् ज्ञानवृद्धिमाप्नुयात् । परो द्विविधः अभियोक्ता तद्विभि-
 ष्टबलोऽपरोऽन्य इति ॥ ३४ ॥

यदा तु सहायसाध्यं कार्यं पश्येत् तदा संधिविप्रहासनद्वैधीभावं गच्छे-
 दित्युपदिशन्नाह—

एकेन सन्धिः कलहो परेण कार्योंऽभितो वा प्रसमीक्ष्य वृद्धिम् ।

एवं प्रयुञ्जीत जिगीषुरेता नीतीर्विजानन्नहितात्मसारम् ॥ ३५ ॥

एकेनेत्यादि—अभित उभयपार्श्वयोः संधिना विग्रहेण वा वृद्धिं प्रसमीक्ष्य
 पश्चादेकेन शत्रुणा स्वयमभियुक्तेन संधिः अपरेण सहायाभियुक्तेन विग्रहः
 कार्यः । एवमुक्तेन प्रकारेण अहितस्य शत्रोरात्मनश्च सारं बलावलं विजिगीषु-
 र्विजानन् एता नीतीः पाङ्गुण्यलक्षणाः प्रयुञ्जीत ॥ ३५ ॥

त्वया पुनरेव न प्रयुक्ता इति दर्शयन्नाह—

त्वया तु लोके जनितो विरागः प्रकोपितं मण्डलमिन्द्रमुख्यम् ।

रामे तु राजन् ! विपरीतमेतत् पश्यामि तेनाऽभ्यधिकं विपक्षम् ।

त्वयेत्यादि—त्वया पुनश्चतुर्वर्णोच्छेदकारिणा लोके जनितो विरागः ।
इन्द्रमुख्यं च शक्रप्रधानं मण्डलं प्रकोपितम् । रामे तु सर्वमेतद्विपरीतम् अचु-
रामेण जनितं मण्डलं चानुरञ्जितं तेनाभ्यधिकं विपक्षं रामं पश्यामि ॥ ३६ ॥

न चेदानीं भवतः कार्यं विनष्टम् अपि तु प्रागेवेति दर्शयन्नाह—

एकेन वाली निहतः शरेण सुहृत्तमस्ते रचितश्च राजा ।
यदैव सुग्रीवकपिः परेण तदैव कार्यं भवतो विनष्टम् ॥ ३७ ॥

एकनत्यादि—तव सुहृत्तमा वाली यदैव परेण रामेण कर्त्रा शरे-
णैकेन निहतः, सुग्रीवश्च कपिस्त्वच्छत्रू राजा रचितः स्थापितः तदैव
विनष्टमिति ॥ ३७ ॥

अथ प्रतापवतो मम कथं कार्यं विनश्यति, प्रतापादेव शत्रवो नश्यन्तीति
चेदाह—

प्राकारमात्राऽऽवरणः प्रभावः खराऽदिभिर्यो निहतैस्तवाऽभूत् ।
लङ्काप्रदाहाऽक्षवधद्रुमङ्गैः क्लाम्यत्यसावप्यधुनाऽतिमात्रम् ॥ ३८ ॥

प्राकारेत्यादि—तव त्रैलोक्यप्रमाथी प्रताप आसीत् । पुनः खरादिभि-
र्निहतैः प्राकारमात्रावरणो जातः । लङ्कायामेव समर्थत्वात् । असावप्यधुना
लङ्कादाहेन, अक्षवधेन, द्रुमभङ्गेन अशोकवनिकाभङ्गेन च अतिमात्रमत्यर्थं
क्लाम्यति ग्लानिमुपगच्छति ॥ ३८ ॥

अतो रामेण सह युद्धं न घटते तदेव दर्शयन्नाह—

पद्वर्गवश्यः परिमूढबन्धुरुच्छिन्नमित्रो विशुणैरुपेतः ।
मा पादयुद्धं द्विरदेन कार्पीर्नम क्षितीन्द्रं प्रणतोपभोग्यम् ॥ ३९ ॥

पद्वर्गेत्यादि—वशंगतो वश्यः कामादेवश्यः । परिमूढबन्धुः मूर्खमात्या-
दिपरिवारः । उच्छिन्नमित्रः वर्गस्यासंभवात् । अरिगणैरुपेतः । तद्विपरीतो
रामः । अतो द्विरदेन पादयुद्धमिव तेन ज्यायसा मा विग्रहं कार्पीः । अपि तु
क्षितीन्द्रं रामं नम । प्रणतोपभोग्यम् अनेन हीनसंधिमाह । तथा चोक्तम्—
'प्रवृत्तं मन्त्रिणाक्रान्तो राजा बलवताऽवलः । संधिनोपनमेत्तूर्णं दुःखे
त्मभूमिभिः ॥' इति ॥ ३९ ॥

युवयोः संधानकारणमस्त्येवेति दर्शयन्नाह—

रामोऽपि दाराऽऽहरणेन तप्तो वयं हतैर्बन्धुभिरात्मतुल्यैः ।

तप्तस्य तप्तेन यथाऽऽयसो नः संधिः परेणाऽस्तु विमुञ्च सीताम् ॥४०॥

राम इत्यादि—यथा तप्तेनायसा तप्तस्यायसः संधिर्घटते तद्वदस्माकं तप्तानां तप्तेन रामेण सन्धिरस्तु । अतो मुञ्च सीतां सन्धिनिमित्तम् ॥ ४० ॥

यदि च तेन तप्तेनापि सता ज्यायसा न सन्धानं तदा सर्वे वयं न जीवामः
सद्व तेजसो विनाशकत्वादिति दर्शयन्नाह—

संधुक्षितं मण्डलचण्डवातैरमर्षतीक्ष्णं क्षितिपालतेजः ।

सामाऽम्भसा शान्तिमुपैतु राजन्प्रसीद जीवाम सबन्धुभृत्याः ॥४१॥

सन्धुक्षितमित्यादि—क्षितिपालतेजः सीतावियोगजम् । इन्द्रादिमण्डलै-
श्चण्डवातैरिव संधुक्षितं दीपितम् । अमर्षतीक्ष्णम् असहिष्णुतयाऽसहम्
सामाम्भसा साम्ना सन्धिना अम्भसेव शान्तिमुपैतु । हे राजन् ! प्रसीद
सुरम्भेण । अन्यथा तमारण्योऽग्निरिव दुःखामर्षजं तेजो विक्रमयतीति ॥४१॥

समानयोरपि सन्धानमेव युज्यते न विग्रहः किं पुनर्ज्यायसीत्यत्र हे-
दर्शयन्नाह—

अपक्वकुम्भाविव भङ्गभाजौ राजन्नियातां मरणं समानौ ।

वीर्ये स्थितः किंतु कृताऽनुरागो रामो भवांश्चोत्तमभूरिवैरी ॥ ४२ ॥

अपक्वेत्यादि—हे राजन् ! यथा कुम्भावपकौ भङ्गभाजौ परस्पराभिहतौ
विनश्यतः । तद्वत् समानौ युध्यमानौ मरणमियाताम् । सार्वधातुक्यकारत्वा-
दिणो न दीर्घत्वम् । राजन्नियातामिति 'डमो ह्रस्वाच्च डमुण् नित्यम् । ८।३।३२।
इति नुडागमः । किंतु रामो वीर्ये स्थितः उत्साहशक्तियुक्त इत्यर्थः । विक्रमवा-
चोत्साहशक्तिः । कृतानुरागश्च अनुरक्तमण्डलत्वात् । भवान् पुनः उत्तमभूरि-
वैरी । उत्तमा इन्द्रादयो भूरयः प्रभूता वैरिणः शत्रवो यस्य । अतस्तेन
संधानमेव युक्तं न विग्रहः ॥ ४२ ॥

ननु च समज्यायोभ्यां सन्धीयेत हीनेनैव विगृह्ययात् । मन्त्रप्रभावं
त्साहशक्तिभिर्युक्तो ज्यायान् । अपचितो हीनः । तुल्यशक्तिः समः । त-
ज्ञानवलं मन्त्रशक्तिः । कोशदण्डवलं प्रभुशक्तिः । विक्रमवलम् उत्साहशक्तिः

सत्यामुत्साहशक्तौ शेषयोरभावान्न हीनेन विग्रह एव युज्यत इत्याह—

दण्डेन कीर्शेन च मन्यसे चेत्प्रकृष्टमात्मानमरेस्तयापि ।

रिक्तस्य पूर्णेन वृथा विनाशः पूर्णस्य भङ्ग बहु हीयते तु ॥ ४३ ॥

दण्डेनेत्यादि—दण्डेन चतुरङ्गेन बलेन, कीर्शेन हेमत्प्यादिना यदि प्रकृष्टमात्मानमरेः सकाशान्मन्यसे, तथाप्येवमपि न युक्तं यतो रिक्तस्य पूर्णेन भवता विनाशो भङ्गः वृथा निष्फलः । पूर्णस्य पुनर्भवतो भङ्गे बहु हीयते इति हीनेन बलवतोऽपि संधानं युक्तम् । रिक्तस्य भङ्गो माभून् ॥ ४३ ॥

अन्यद्विजयफलमस्तीति चेदाह—

छिष्टाऽऽत्मभृत्यः परिभृग्यसम्पन्मानी यतेताऽपि ससंशयेऽर्थे ।

संदेहमारोहति यः कृताऽर्थो नूनं रतिं तस्य करोति न श्रीः ॥ ४४ ॥

छिष्टेत्यादि—यो मानी छिष्टात्मभृत्यः चिरकालछिष्टशरीरः छिष्टभृत्यश्च । परिभृग्यसम्पत् प्रार्थनीया विभूतिर्येन । भृगयतेः स्वार्थिकृष्यन्ताद्वो यन् । ससंशयेऽर्थे स्यान्न स्यादिति यतेतापि यन्न कुर्यात् । यः कृतार्थो भवाद्दशः त्रैलोक्यविजयित्वात् संदेहमारोहति संदेहे प्रवर्तते, तस्य नूनमवश्यं श्रीविभूतिः रतिं स्थितिं न करोति ॥ ४४ ॥

कदा तर्हि विग्रह इत्याह—

शक्यान्त्यदोषाणि महाफलानि समारभेतोपनयन्समाप्तिम् ।

कर्माणि राजा विहिताऽनुरागो विपर्यये स्याद् वितथः प्रयासः ॥ ४५ ॥

शक्यानीत्यादि—शक्यानि यानि कर्तुं पार्यन्ते । अदोषाणि शुद्धानि महाफलानि कार्याणि राजा समारभेत विग्रहेणेत्यर्थान् । उपनयन् समाप्तिं नयन् । विहितानुरागोऽनुरक्तकृतिः । विपर्यये उक्तव्य । अशक्यानि दोषाधिक्यानि स्वल्पफलानि राजा समारभेत समाप्तिं च न । प्रयासः निष्फलो विग्रहः ॥ ४५ ॥

क्षयव्ययप्रयासप्रत्यवाया भवन्तीत्युक्तम् । फलं न किञ्चित् न शुभा समाप्तिः
स्वबन्धुविनाशहेतुत्वात् । अतो योद्धुमरिं ज्यायांसं संयज । भुवि कृतानुरागं
त्वं पुनरकृतानुराग इति ॥ ४६ ॥

अन्यच्च वालिवध एव तस्यार्थसम्पन्नयायेति दर्शयन्नाह—

त्वन्मित्रनाशो निजमित्रलाभः समेतसैन्यः स च मित्रकृच्छ्रे ।
भोग्यो वशः पश्य शरेण शत्रोः प्रसाधितो वालिवधे न कोऽर्थः ॥४७॥

त्वन्मित्रेत्यादि—वालिबधे सति शरेण रामस्य कोऽर्थो न प्रसाधितः,
अपि तु सर्व एव पश्य । तथाहि । त्वन्मित्रनाशः तस्य च मित्रलाभः मित्रं
च तल्लभश्चेति । समेतसैन्यः कृच्छ्रे संकटप्राप्तौ भूतभोग्यः उपजीव्यः । वशो-
ऽनुकूल इति ॥ ४७ ॥

तं विभिद्य साधयिष्यामीति चेदाह—

लोभाद्भयाद्वाऽभिगतः कपीन्द्रो न राघवं येन भवेद्विभेद्यः ।
स्थितः सतां वर्त्मनि लब्धराज्यं प्रतिप्रियं सोऽभ्यगमच्चिकीर्षुः ॥४८॥

लोभादित्यादि—क्रुद्धलुब्धभीतावमानिताश्चत्वारो भृत्याः परस्य भेदाः ।
तत्र कपीन्द्रो राघवं लोभाद्भयाद्वा त्रासाद्वा नाभिगतः । येन हेतुनाऽर्थं
विभेद्यः स्यात् । यस्मादसौ सतां मार्गे स्थितः सन् लब्धराज्यो लाभरतः
प्रतिप्रियं चिकीर्षुः ॥ ४८ ॥

तदनुजीविनोऽपि भेद्यः इति दर्शयति—

फलाशिनो निर्झरकुञ्जभाजो दिव्याङ्गनानङ्गरसानभिज्ञाः ।
न्यगजातयो रत्नवरैरलभ्या मुख्याः कपीनामपि नोपजप्याः ॥ ४९ ॥

फलाशिन इत्यादि—कपीनामपि मुख्या नीलकुमुदादयोऽपि नोपजप्याः
नोपजपितुं शक्याः । यतः फलाशिनो मिष्टान्ननिरपेक्षाः । निर्झरकुञ्जभाजः
न रम्यप्रासादवासिनः । दिव्याङ्गनानङ्गरसानभिज्ञा दिव्याङ्गनासु योऽनन्त-
रसः सुरतरसः तदनभिज्ञाः न्यगजातयः न्यञ्चन्तीति 'ऋत्विग्दृक्क्या-
दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्त्वां च । ३ । २ । ५९ ।' इत्यानेन क्तिन् ॥४९॥

युष्मन्मित्रपुत्रोऽङ्गदोऽप्यभेद्य इति दर्शयन्नाह—

कृताभिषेको युवराजराज्ये सुग्रीवराजेन सुताविशेषम् ।

ताराविधेयेन कथं विकारं तारासुतो यास्यति राक्षसाऽर्थम् ॥ ५० ॥

कृतेत्यादि—सुग्रीवराजेन ताराविधेयेन ताराचित्तानुवर्तिना । तारासुतो-
ऽङ्गदः यौवराज्ये कृताभिषेकः सुताविशेषमिति क्रियाविशेषणम् । सुतनिर्विशेषं
ममैवायं सुतो न वालिन इति । तत्कथं राक्षसार्थं विकारं भेदं यास्यति ।
नैवेत्यर्थः ॥ ५० ॥

अन्यसमाश्रयादपि रामेण विग्रहो न युज्यत इति दर्शयन्नाह—

पश्यामि रामादधिकं समं वा नान्यं विरोधे यमुपाश्रयेम ।

दत्त्वा वरं साऽनुशयः स्वयम्भूरिन्द्राऽऽदयः पूर्वतरं विरुद्धाः ॥ ५१ ॥

पश्यामीत्यादि—रामादधिकं ज्यायांसं समानं वा न पश्यामि । यं विरोधे
विग्रहनिमित्तमुपाश्रयेम आश्रयं गच्छेम । संप्रश्ने लिङ् । स्वयंभूर्ब्रह्मा तावन्नां-
श्रयः यतो वरं दत्त्वा सानुशयः विप्रतीसारवान् जातः । किमिदमकार्यमनुष्ठितं
मयेति । इन्द्रादयस्तु पूर्वतरं विरुद्धाः ॥ ५१ ॥

एवं दुर्गसमाश्रयोऽपि न युज्यत इति दर्शयन्नाह—

दुर्गाऽऽश्रितानां बहुनापि राजन् ! कालेन पार्ष्णिग्रहणाऽऽदिहेतुः ।

दुर्गोपरोधं न च कुर्वतोऽस्ति शत्रोश्चिरेणाऽपि दशाऽऽस्य ! हानिः ॥ ५२ ॥

दुर्गेत्यादि—दुर्गाश्रितानामस्माकं दुर्गोपरोधं कुर्वतः शत्रोर्वहुनापि कालेन
हे राजन् ! पार्ष्णिग्रहणादेः । आदिशब्दादाटविकान्तपालादिप्रकोपस्य हेतु-
नास्ति यद्वशादुपरोधो न भविष्यति । अत्र स्थितानां क्षय एव केवलं
न च शत्रोरुपरोधं कुर्वतः चिरेणापि हानिः । युद्धशरीरोपयोगिनां सर्वदा
सम्भवात् ॥ ५२ ॥

शस्त्रं तरुर्वीधरमम्बु पानं वृत्तिः फलैर्नो गजवाजिनार्यः ।

राष्ट्रं न पश्चान्न जनोऽभिरक्ष्यः किं दुःस्थमाचक्ष्व भवेत्परेषाम् ॥ ५३ ॥

शस्त्रमित्यादि—तरवश्च उर्वीधराश्चेति 'जातिरप्राणिनाम् १२।४।६।' इति
एकवद्भावः । तच्छस्त्रं न शूलखड्गादि । पानमम्बु न मैर्यादि । फलैर्वृत्तिर्नाद-
नादिभिः । नो गजवाजिनार्यः शरीरमात्रत्वान्निश्चिन्ताः । राष्ट्रं देशो न पश्चात्,

अत एव तत्स्यो जनो नाभिरक्ष्यः । एवं च सति परेषां किं दुःस्थम् इत्याचक्ष
कथय । अतो रामेण ज्यायसा सन्धिरेवास्तु न विग्रह इति ॥ ५३ ॥

तदेव दर्शयन्नाह—

सन्धानमेवाऽस्तु परेण तस्मान्नाऽन्योऽभ्युपायोऽस्ति निरूप्यमाणः ।
नूनं विसन्धौ त्वयि सर्वमेतन्नेष्यन्ति नाशं कपयोऽचिरेण ॥ ५४ ॥

सन्धानमित्यादि—तस्मात्परेण शत्रुणा सह सन्धानं सन्धिरेवास्तु । अन्ये
ऽभ्युपायो निरूप्यमाणो नास्ति । नूनं निश्चितं विसन्धौ तेन समं सन्धिमकू-
वति त्वयि सति कपयः सर्वमेतत् दृश्यमानं रक्षोवलादि अचिरेण शीघ्रं ना-
नेष्यन्ति इति भावः ॥ ५४ ॥

विभीषणोक्तं बहु मन्यमानः प्रोन्नम्य देहं परिणामनम्रम् ।

स्वलद्वलिर्वार्धककम्प्रमूर्धा मातामहो रावणमित्युवाच ॥ ५५ ॥

विभीषणोक्तमित्यादि—बहु मन्यमानः श्लाघमानो मातामहो मातुः पित-
माल्यवान्नाम । देहं परिणामनम्रं वयसः परिणामान्नमनशीलं प्रोन्नम्योत्क्षिप्य
अत एव स्खलद्वलिः । वार्धकेन वृद्धभावेन । मनोज्ञादित्वात् बुद्ध् । कम्प्र-
कम्पनशीलो मूर्धा यस्य सः । रावणमिति वक्ष्यमाणमुवाच ॥ ५५ ॥

एकैः पदातिः पुरुषो धनुष्मान् योऽनेकमायानि वियद्गतानि ।

रक्षःसहस्राणि चतुर्दशाऽऽर्दीत् का तत्र वो मानुषमात्रशङ्का ॥ ५६ ॥

एक इत्यादि—एकः असहायः । पदातिः न हस्त्याद्यारूढः । पुरुषो मनुष्यः
धनुष्मान् धनुर्मात्रायुधः । चतुर्दश रक्षःसहस्राणि अनेकमायानि विविध-
मायाजालवितानदक्षाणि वियद्गतानि आकाशे स्थितानि । अत एव प्रय-
तुमशक्यानि । परेपामित्यर्थान् । आर्दीन् हिंसितवान् । का तत्र वः युष्मा-
मानुषमात्रशङ्का, नैवेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

किंतु द्विन्योऽसाविति तदेव दर्शयन्नाह—

ब्रह्मर्षिभिर्नृनमयं सदेवैः संतापितै रात्रिचरक्षयाय ।

नराऽऽकृतिर्वानरसैन्यशाली जगत्यजय्यो विहितोऽभ्युपायः ॥ ५७ ॥

ब्रह्मत्यादि—सदेवैर्ब्रह्मादिभिः संतापितैः रात्रिचरक्षयाय नूनमयं राम
उपायो विहितः उत्पादितः। नराकृतिः आकृत्यैव केवलं नरः । वानरसैन्यशाली
आढयः । अजय्यो जेतुमशक्यः ॥ ५७ ॥

दृष्टश्चैवं प्रकारो देवानां मयेति दर्शयन्नाह—

वज्राऽभिघातैरविरुग्णमूर्तेः फेनैर्जलानामसुरस्य मूर्ध्नः ।

चकार भेदं मृदुभिर्महेन्द्रो यथा तथैतत्किमपीति बोध्यम् ॥५८॥

वज्राभिघातैरित्यादि—वज्राभिघातैरपि अविरुग्णमूर्तेः अचूर्णितशरी-
रस्य असुरस्य नमुचेः संबन्धिनो मूर्ध्नो जलफेनैर्मृदुभिः भेदं चकार
यथा तथैतदपि शमे स्थितानामपि देवानां नराकृति वस्तु किमपीति
बोद्धव्यम् ॥ ५८ ॥

अन्यथा कथं फेनपिण्डैर्विनाश इत्याह—

क्व स्त्रीविषह्याः करजाः क्व वक्षो दैत्यस्य शैलेन्द्रशिलाविशालम् ।

संपश्यतैतद् द्युपदां सुनीतं विभेदं तैस्तन्नरसिंहमूर्तिः ॥ ५९ ॥

क्त्यादि—स्त्रीविषह्याः स्त्रीभिः विषोढुं शक्याः करजा नखाः क्व । दैत्यस्य
हिरण्यकशिपोः शैलेन्द्रशिलावत् विशालं वक्षःक च । वक्षःकरजयोरपि दूरमन्तरं
तथापि द्युपदां देवानाम् एतत्सुनीतं सुनयं संपश्यत । यत् तैर्नखैर्नरसिंहमूर्तिः
तद्वक्षो विभेदं ॥ ५९ ॥

यत्रैवमुपायेन देवैर्निहन्यते तत्र त्वं कथं प्रमादी मुह्यसीत्याह—

प्रमादवांस्त्वं क्षतधर्मवर्त्मा गतो मुनीनामपि शत्रुभावम् ।

कुलस्य शान्तिं बहु मन्यसे चेत्कुरुष्व राजेन्द्र विभीषणोक्तम् ॥ ६० ॥

प्रमादवानित्यादि—त्वं यतः प्रमादी अजितेन्द्रियत्वात् । क्षतधर्म-
वर्त्मा त्यक्ताचारः । अतो मुनीनामपि शमे स्थितानामपि शत्रुत्वं गतः ।
ईदृशोऽपि कुलस्य शान्तिं बहु मन्यसे चेन् श्लाघसे यदि । हे राजेन्द्र !
विभीषणोक्तम् कुरुष्व ॥ ६० ॥

घोषेण तेन प्रतिलब्धसञ्ज्ञो निद्राऽऽविलाऽक्षः श्रुतकार्यत्सारः ।

स्फुरन्धनः साऽम्बुरिवाऽन्तारिक्षे वाक्यं ततोऽभापत कुम्भकर्णः ॥६१॥

वोधेनेत्यादि—प्रहस्तविभीषणमातामहानां वदतां यो घोषः तेन प्रति-
लब्धसंज्ञो विबुद्धः कुम्भकर्णो निद्रयाऽऽविले अक्षिणी यस्येति सः । निद्रायाः
सामस्त्येनानपगमात् कषायितचक्षुः श्रुतकार्यसारः श्रुतकार्यतत्त्वः । ततः
कार्यसारश्रवणानन्तरं वाक्यमभाषत । यथा घनः साम्बुः सजलोऽन्तरिक्षे
वियति स्फूर्जति तद्वत् स्फूर्जन्निति ॥ ६१ ॥

कार्यं निश्चित्य सदसि भाषणानि न पञ्चाङ्गमन्त्रं विनेति साङ्गं तं तावदु-
पदर्शयन्नाह—

क्रियासमारम्भगतोऽभ्युपायो नृद्रव्यसम्पत्सहदेशकाला ।

विपत्प्रतीकारयुतार्थसिद्धिर्मन्त्राङ्गमेतानि वदन्ति पञ्च ॥ ६२ ॥

क्रियेत्यादि—क्रियाणां दुर्गादिकर्मणां यः समारम्भस्तं गतः प्राप्तो यो-
ऽभ्युपायः कर्मणामारम्भोपाय इत्यर्थः । इदमेकमङ्गम् । नृद्रव्यसम्पत् पुरु-
पाणां द्रव्याणां च सम्पदिति द्वितीयम् । द्वयोस्सहवचनं योगवाहित्वज्ञा-
पनार्थम् । सहदेशकालेति । यस्मिन् देशे काले च कार्यसिद्धिस्ताभ्यां
सह वर्तत इति तृतीयम् । अत्रापि सहवचनं योगादेव । कर्मणामनु-
ष्ठीयमानानां या विपत्तस्याः प्रतीकारस्तेन युक्तेति चतुर्थम् । अर्थसिद्धिः
कार्यसिद्धिरिति पञ्चमम् । एतानि पञ्च मन्त्रस्याङ्गानि वदन्ति नीतिज्ञाः ॥ ६२ ॥

न निश्चितार्थं समयं न देशं क्रियाभ्युपायाऽऽदिषु योऽतियायात् ।

स प्राप्नुयान्मन्त्रफलं न मानी काले विपन्ने क्षणदाचरेन्द्र ॥ ६३ ॥

नेत्यादि—विनिश्चितार्थोऽवश्यं सिध्यतीति यस्मिन् समये काले देशे च
कार्यसिद्धिः तादृशं समयं देशं च यो विजिगीपुर्नातियायात् नातिक्रमेत् ।
प्रतिषेधस्य द्वित्वात् प्रतिषेधद्वयं योज्यम् । समयं च देशमिति पाठान्तरे
समुच्चयेनैक एव योज्यः । क्रियाभ्युपायादिषु सत्सु, आदिशब्दात्
पुरुषद्रव्यसंपाद्विपत्प्रतीकारे च स प्राप्नुयान्मन्त्रफलम् । हे क्षणदाचरेन्द्र !
न पुनर्मानी भवादृशः काले विपन्ने प्राप्नोति । स हि देशकालौ
हापयति ॥ ६३ ॥

औष्ण्यं त्यजेन्मध्यगतोऽपि भानुः शैत्यं निशायामथवा हिमांशुः ।

अनर्थमूलं भुवनाऽवमानी मन्ये न मानं पिशिताशिनाथ ॥ ६४ ॥

औष्ण्यमित्यादि—हे पिशिताशिनाथ ! भानुर्मध्यगतोऽपि मध्याह्नेऽपि

औष्ण्यमुष्णतां त्यजेत् । संभावने लिङ् । अथवा हिमांशुर्निशायामपि शैत्यं त्यजेत् । भुवनावमानी पुनर्भुवनमवमन्तुं शीलमस्येति । नास्ति मत्सम इति स भवाद्दशो मानं न त्यजेत् । अनर्थमूलम् अनर्थस्य कारणम् । एवं मन्ये जानामि ॥ ६४ ॥

तथाऽपि वक्तुं प्रसन्नं यतन्ते यन्मद्विधाः सिद्धिमभीप्सवस्त्वाम् ।

विलोमचेष्टं विहिताऽवहासाः परैर्हि तत्स्नेहमयैस्तमोभिः ॥ ६५ ॥

तथापीत्यादि—तथापि एवमपि सति मद्विधाः सिद्धिं कार्यनिष्पत्ति-भीप्सवः आप्तुमेषणशीलाः । यत्त्वां विलोमचेष्टं प्रतिकूलचेष्टितम् । प्रसन्नाहत्य वक्तुं यतन्ते । परैः दूतजनैः शत्रुजनैर्वा विहितावहासा एवं यथा अण्युपदिशन्तीति । हिशब्दः पादपूरणे । तत्स्नेहमयैः स्नेहस्वभावै-स्तमोभिरज्ञानैः । स्नेहतमसावृता ब्रुवन्तीत्यर्थः ॥ ६५ ॥

क्रूराः क्रिया ग्राम्यसुखेषु सङ्गः पुण्यस्य यः संक्षयहेतुरुक्तः ।

निपेवितोऽसौ भवताऽतिमात्रं फलत्यवलगु ध्रुवमेव राजन् ॥ ६६ ॥

क्रूरा इत्यादि—क्रूराः क्रियाः परहिंसादयः, ग्राम्यसुखेषु परदारोपभो-दिषु सङ्गः प्रसक्तिः, यः पुण्यस्यार्जितस्य संक्षयहेतुरुक्तः विद्यावृद्धैः । असौ भवतातिमात्रं सुष्ठु निपेवितः सन् हे राजन्निदानो फलति फलं ददा-ति । अवलगु असारम् । ध्रुवमविनाशम् ॥ ६६ ॥

तस्माद्विलोमचेष्टस्यै भवतो हितोपदेशे मम न किञ्चित् प्रयोजनं, तावत्तु यात् त्वदर्थं मत्प्राणत्याग इति दर्शयन्नाह—

दत्तं न किं के विषया न भुक्ताः स्थितोऽस्मि वा कं परिभूय नोच्चैः ।

इत्थं कृतार्थस्य मम ध्रुवं स्यान्मृत्युस्त्वदर्थे यदि किं न लब्धम् ॥ ६७ ॥

दत्तमित्यादि—तव प्रसादादार्थिभ्यः किं न दत्तम्, के विषया न भुक्ताः, किं एवानुभूताः । कं वा परिभूय तिरस्कृत्य उच्चैर्महति पदे न स्थितोऽस्मि । इत्थमनेन प्रकारेण कृतार्थस्य लब्धजन्मफलस्य मम यदि त्वदर्थं मृत्यु-वश्यं स्यात्, तदा किं न लब्धम् । सर्वमेव जन्मफलं लब्धमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

तव पुनरद्यापि विभीषणोक्तं युक्तं, न प्रहस्तमुखोक्तमिति दर्शयन्नाह—

किं दुर्नयैस्त्वद्युदितैर्नृपाऽर्थैर्वीर्येण वक्ताऽस्मि रणे समाधिम् ।

तस्मिन् प्रसुप्ते पुनरित्यमुक्त्वा विभीषणोऽभाषत राक्षसेन्द्रम् ॥ ६८ ॥

किं दुर्नयैरित्यादि—त्वय्यपि स्थिते 'किं घौरधोऽस्तु' इत्यादि
यान्युदितान्ययुक्तानि अलीकार्थानि तैर्दुर्नयैः किम् । न किञ्चित् फल
कस्मादिति चेत् यस्मात्तेषां समाधिं प्रतीकारं संप्रामे रामसम्बन्धि
वीर्येण वक्ताऽस्मि वदिताहम् । रामवीर्यप्रतीकाराद्धीत्यर्थः । इत्य-
तास्मिन् कुम्भकर्णे उक्त्वा पुनः भूयः प्रसुप्ते सति विभीषणो रा-
न्द्रमभापत ॥ ६८ ॥

निमित्तशून्यैः स्थगिता रजोभिर्दिशो मरुद्भिर्विकृतैर्विलोलैः ।
स्वभावहीनैर्मृगपक्षिघोषैः क्रन्दन्ति भर्तारमिवाभिपन्नम् ॥ ६९ ॥

निमित्तशून्यैरित्यादि—रजोभिर्निमित्तशून्यैः निनिमित्तैः दिशः स्था
संछादिताः । 'स्थग संवरणे' मरुद्भिश्च विकृतैः परुषैर्विलोलैरानियतादिवर्ति
स्थगिताः । मृगपक्षिणां च घोषैः स्वभावहीनैर्भ्रष्टैर्भर्तारमिवाभिपन्नं
शोकात् क्रन्दन्ति ॥ ६९ ॥

उत्पातजं छिद्रमसौ विवस्वान् व्यादाय वक्त्राकृति लोकभीष्मम्
अत्तुं जनान्धूसररश्मिराशिः सिंहो यथा कीर्णसटोऽभ्युदेति ॥ ७० ॥

उत्पातजमित्यादि—असौ विवस्वान् छिद्रम् उत्पातजं वक्त्राकृति ल-
भीष्मं लोकस्य भयानकं व्यादाय प्रसार्य । व्याङ्पूर्वस्य ददातेः क-
त्यपि रूपम् । जनानत्तुं भक्षयितुं धूसररश्मिराशिः सन् अभ्यु-
उद्गच्छति । यथा सिंहः कीर्णसटः विक्षिप्तकेसरकलापः मुखं व्यादाय
मुत्तिष्ठति तद्वदिति भावः ॥ ७० ॥

मार्गं गतो गोत्रगुरुर्भृगूणामगस्तिनाध्यासितविन्ध्यशृङ्गम् ।
सन्दृश्यते शक्रपुरोहितोऽद्विक्त्वां कम्पयन्त्यो निपतन्ति चोल्काः ॥ ७१ ॥

मार्गमित्यादि—अगस्तिना यदध्यासितं विन्ध्यशृङ्गं तन्मार्गं भृ-
गोत्रगुरुः शुक्रो गतः । दक्षिणमार्गचारी शुक्र इत्यर्थः । विश्वगिरिर्दि-
पादिशि । शक्रपुरोहितोऽपि वृहस्पतिः अहि दिवसे सन्दृश्यते । उल्काश्च
पृथिवीं कम्पयन्त्यः निपतन्ति ॥ ७१ ॥

मांसं हतानामिव राक्षसानामाशंसवः क्रूरगिरोरुवन्तः ।

क्रव्याशिनो दीप्तकुशानुवक्त्रा भ्राम्यन्त्यभीताः परितः पुरं नः ॥ ७२ ॥

मांसमित्यादि--राक्षसानां हतानामिव मांसमांशंसवः आंशंसनशीलाः
'सनांशंसभिक्ष उः । ३।२।१६८।' मांसभुजः शृगालादयः क्रूरगिरः परुषस्व-
नाः कृशानुवक्ताः ज्वलनसदृशवदनाः निर्भयाः परितो भ्रमन्ति ॥ ७२ ॥

पयो घटोक्षीरपि गा दुहन्ति मन्दं विवर्णं विरसं च गोपाः ।

हव्येषु कीटोपजनः सकेशो न दीप्यतेऽग्निः सुसामिन्धनोऽपि ॥७३॥

पय इत्यादि--गोपाः पयः क्षीरं विवर्णं दुर्वर्णं विरसम् अस्वादु मन्दम्
अल्पं पयस्विनीरपि दुहन्ति । 'अकथितं च ।१।४।५१।' इति द्विकर्म-
कता । तथा शोभनेन्धनोऽप्यग्निर्न दीप्यते, हव्येषु हवनीयेषु
घृतादिषु सत्सु । 'अचो यत् ।३।१।९७।' उपजननमुपजनः । 'भावे
।३।३।१८।' इति घञ् । 'जनिवध्योश्च ।७।३।३५।' इति न
वृद्धिः । कीटानामुपजनोऽस्योति कीटोपजनः, सहकेशैः सकेशः दहमान-
कीटकेश इत्यर्थः ॥ ७३ ॥

तस्मात् कुरु त्वं प्रतिकारमस्मिन्नेहान् मया रावण भाष्यमाणः ।

वदन्ति दुःखं ह्यनुजीविवृत्ते स्थिताः पदस्थं परिणामपथ्यम् ॥ ७४ ॥

तस्मादित्यादि--यस्मादेवं विनाशसूचकानि निमित्तानि दृश्यन्ते, तस्मात्
रावण ! स्नेहान्मया त्वं भाष्यमाणः अस्मिन् वस्तुनि प्रतिकारं सीताप्रत्यर्पणेनैव
न्धानं कुरु । 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् ।६।३।१२२।' इति बहुलग्रहणात्
र्षिः । कस्मादेवं भाष्यत इति चेत् यस्मादनुजीविवृत्तेऽवस्थिताः यद्वचनं दुःखं
ःखहेतुस्तदा कटुकत्वात् । परिणामपथ्यम् आर्यत्यां हितं तत्पदस्थं स्वामिपदे
स्थितं वदन्ति ॥ ७४ ॥

विरुग्णसङ्कीर्णविपन्नभिन्नैः प्रक्षुण्णसंहीणाशिताऽस्त्रवृक्णैः ।

यावन्नराशैर्न रिपुः शवाशान् सन्तर्पयत्यानम तावदस्मै ॥ ७५ ॥

विरुग्णेत्यादि--यावद्विषुः नराशैः नरानभ्रन्ति भुञ्जत इति तै राक्षसैः
शवाशान् गृध्रशृगालादीन् । शवं मृतशरीरमभ्रन्ति इति 'कर्मण्यण् ।३।२।१।' इति
त्युभयत्राण् । न संतर्पयति न प्रीणयति तावदस्य रिपोः आनम चरणा-
वेत्यर्थात् । कीदृशैः । विरुग्णैर्भिन्नाङ्गैः । 'ओदितश्च ।८।२।४५।' इति

निष्ठानत्वम् । संकीर्णैः इतस्ततो विक्षिप्तैः, विपन्नैर्मृतैर्भिन्नैर्विदारितदेहैः,
प्रक्षुण्णैः । एभ्यो 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः । ८।२।४२।' इति
नत्वम् । संहर्णैर्लज्जितैः वयमेवमवस्थां नीता इति । शितेन तीक्ष्णेन अक्षेप
वृक्षणैः छिन्नैः । 'ग्रहिय्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृजतीनां
द्विति च । ६।१।१६।' इति सम्प्रसारणम् । संयोगादिलोपः । कुत्वं च ।
ओदित्वान्नत्वम् ॥ ७५ ॥

भ्रूभङ्गमाधाय विहाय धैर्यं विभीषणं भीषणरूक्षचक्षुः ।

गिरं जगादोत्रपदामुदग्रः स्वं स्फावयन् शक्ररिपुः प्रभावम् ॥७६॥

भ्रूभङ्गमित्यादि—शक्ररिपुर्दशाननः विभीषणवचनात् क्रुद्धः । भ्रूभङ्ग
भ्रुकुटिमाधाय आवद्धथ धैर्यं विहाय त्यक्त्वा भीषणरूक्षचक्षुः भयानकपरुष-
चक्षुः । उदग्रः उन्नामितदेहः स्वं प्रभावं विक्रमं स्फावयन् वर्धयन् । 'स्फायो
वः । ७।३।४१।' इति णौ वत्वम् । विभीषणं जगाद् गिरं वाचम् । उत्रपदां
सुप्तिङन्तानां स्वरूपतोऽर्थतश्च परुषत्वात् ॥ ७६ ॥

शिला तरिष्यत्युदके न पर्णं ध्वान्तं रवेः स्यन्त्स्यति वह्निरिन्दोः ।

जेता परोऽहं युधि जेष्यमाणस्तुल्यानि मन्यस्व पुलस्त्यनप्तः ॥७७॥

शिलेत्यादि—उदके शिला तरिष्यति न पुनः पर्णम् । रवेः सूर्यात्
ध्वान्तमन्धकारं स्यन्त्स्यति स्रविष्यति । 'स्यन्दू प्रस्रवणे' इत्यस्मात् 'न वृद्धवश्चतुर्भ्यः
। ७।२।५९।' इतीद् न भवति । 'खरि च । ८।४।५५।' इति चत्वंम् । तथा
वह्निरिन्दोः स्यन्त्स्यति । अहमप्येव पर उत्कृष्टः जेता युधि सङ्ग्रामे
जेप्यमाण इत्येतानि चत्वारि हे पुलस्त्यनप्तः विभीषण ! तुल्यानि मन्यस्व
अवगच्छ । 'मन ज्ञाने' लोटि रूपम् । यदि जेताऽप्यहं परेण जीये शिलातरणा-
दीन्यपि भविष्यन्ति ॥ ७७ ॥

अनिर्वृतं भूतिपु गूढवैरं सत्कारकालेऽपि कृताऽभ्यसूयम् ।

विभिन्नकर्माऽऽशयवाक् कुले नो मा ज्ञातिचेलं भुवि कस्यचिद् भूत् ७८

अनिर्वृतमित्यादि—भूतिपु ज्ञातिसंवन्धिनीपु अनिर्वृतमसुप्तिनम् ।
गूढवैरं काले हनिष्यामीति संभृतापकाराशयम् । सत्कारकालेऽपि पूजाकाले-
ऽपि कृतामर्षम् । विभिन्नाः कर्माशयवाचो यम्य तद्विभिन्नकर्माशयवाक् ।

आशयोऽन्यो वाकर्मणी चान्ये यस्येति । ईदृशं ज्ञातिचेलं गर्हितज्ञा-
तिरस्माकं कुले मा भूत् कस्यचिदन्यस्यै वा मा भूत् । चेलशब्दो
गर्हिते वर्तते ॥ ७८ ॥

इच्छन्त्यभीक्षणं क्षयमात्मनोऽपि न ज्ञातयस्तुल्यकुलस्य लक्ष्मीम् ।
नमन्ति शत्रून् च बन्धुवृद्धिं सन्तप्यमानैर्हृदयैः सहन्ते ॥ ७९ ॥

इच्छन्तीत्यादि—ज्ञातयः आत्मनः सुष्ठु क्षयं विनाशमिच्छन्ति, न
पुनस्तुल्यकुलस्य एकहेतुगोत्रस्य लक्ष्मीं श्रियम् । तथा शत्रुं कामं
नमन्ति, न पुनर्वन्धुवृद्धिं बन्धुसन्ततिं सहन्ते । संतप्यमानैर्हृदयैः
इर्ष्या दह्यमानैः ॥ ७९ ॥

किं मया कृतं येनैवमुच्यत इति चेदाह—

त्वयाऽद्य लङ्काऽभिभवेऽतिहर्षाद्दुष्टोऽतिमात्रं विवृतोऽन्तरात्मा ।
धिकं त्वां मृपा ते मयि दुस्थबुद्धिर्वदन्निदं तस्य ददौ स पार्ष्णिम् ॥ ८० ॥

त्वयेत्यादि—लङ्काऽभिभवे लङ्कोपरोधे अतिहर्षान् हर्षेण दुष्टोऽन्तरात्मा
अतिमात्रं सुष्ठु त्वयाऽद्य विवृतः प्रकाशितः । मयि दुस्थबुद्धिः अस्मद्विषये
दुस्थोऽभियुक्तोऽयमिति बुद्धिः ते मृपा मिथ्या । अतस्त्वां धिगिति
वदन् स दशाननः तस्य विभीषणस्य सिंहासनोपाश्रितवाहोः पार्ष्णि
पादप्रहारं शिरसि ददौ ॥ ८० ॥

ततः स कोपं क्षमया निगृह्णन् धैर्येण मन्थुं विनयेन गर्वम् ।
माहं धियोत्साहवशादशक्तिं समं चतुर्भिः सचिवैरुदस्थात् ॥ ८१ ॥

तत इत्यादि—ततः पार्ष्णिप्रहारादनन्तरं स विभीषणः कोपं क्षमया
क्षान्त्या निगृह्णन् अभिभवन्, तथा धैर्येण मन्थुं शोकं, विनयेन गर्वं,
मोहं वैचित्त्यं धिया प्रज्ञया, उत्साहवशादशक्तिमसामर्थ्यं निगृह्णन् अप-
मानेन कोपादिनां संभवान् । चतुर्भिः सचिवैरमात्यैः समं सार्धमुद-
स्थान् आसनादुत्थितः ॥ ८१ ॥

उवाच चैनं क्षणदाचरेन्द्रं सुखं महाराज विना मयाऽऽस्व ।
सूर्वाऽऽनुरः पथ्यकतूनश्नन्यत्साऽऽमयोऽसौ भिपजां न दोषः ॥ ८२ ॥

उवाचेत्यादि—उत्थितश्चानन्तरं रावणमुवाच—हे महाराज ! मया विना
सुखमास्व तिष्ठ । आस्तेर्लौट् । तत्रात्र दोषो न समोपदेष्टुः । यस्मान्मूर्खानुरः

मूर्खो य आतुरः पथ्यकटूननश्नन् अभक्ष्यन् यत् आमयेन रोगेण सह वर्त्तत इति सामयो रोगवान् असौ भिषजां वैद्यानां न दोषः, किंतु तस्यैव ॥ ८२ ॥

करोति वैरं स्फुटमुच्यमानः प्रतुष्याति श्रोत्रसुखैरपथ्यैः ।

विवेकशून्यः प्रभुरात्ममानी, महाननर्थः सुहृदां बताऽयम् ॥ ८३ ॥

करोतीत्यादि—प्रभुर्विवेकशून्यो निर्विवेकः । आत्ममानी मत्समोऽन्यो नास्तीति आत्मानं श्लाघमानः । आत्ममाने इतिः । स्फुटमुच्यमानो वैरं करोति स्नेहं न करोति पथ्यमनेनोक्तमिति । श्रोत्रसुखैः तदर्थमनोहारिभिः अपथ्यैस्तुष्यति । तस्मादयं प्रभुः सुहृदामाश्रितानां महान् अनर्थः । अनर्थहेतुत्वात् । वतशब्दः खेदे ॥ ८३ ॥

क्रीडन्भुजङ्गेन गृहाऽनुपातं कश्चिद्यथा जीवति संशयस्थः ।

संसेवमानो नृपतिं प्रमूढं तथैव यज्जीवति सोऽस्य लाभः ॥ ८४ ॥

क्रीडन्नित्यादि—यथा कश्चित् सर्पग्राही गृहानुपातं गृहं गृहमनुपत्य 'विशि-
पतिपदिस्कन्दां व्याप्यमानासेव्यमानयोः । ३ । ४ । ५६।' इति णमुल् । भुजङ्गेन सह क्रीडन् जीवति संशयस्थः संदेहे वर्तमानः किमयं खादिष्यति न वेति । तथैव प्रमूढं मूर्खमाधिपतिं संसेवमानो यज्जीवति सोऽस्य लाभः । आस्ता-
मन्यो लाभः इति ॥ ८४ ॥

दत्तः स्वदोषैर्भवता प्रहारः पादेन धर्म्ये पथि मे स्थितस्य ।

स चिन्तनीयः सह मन्त्रिमुख्यैः कस्याऽऽवयोर्लाघवमादधातु ॥ ८५ ॥

दत्त इत्यादि—स्वदोषैरविवेकित्वादिभिर्भवता पादप्रहारः यो मम दोषान् । मार्गद्वयपते मार्गे स्थितस्य दत्तः, स मन्त्रिमुख्यैरेतैः सह चिन्तनीयः । अनिर्वृतं ये कस्य लाघवमादधातु करोत्विति । यावन्निरूप्यमाणस्तैर्विभिन्नकर्माऽऽ ॥ ८५ ॥

अनिर्वृतमित्यासौ रजनिचरपतिं बहुगुणमसकृत्प्रसभमभिदधत् ।
गृहवैरं काले हनिष्यः पुरुपरिपुपुरान्नरपतिचरणौ नवितुमरिनुतौ ॥ ८६ ॥
ऽपि कृतामर्षम् । वि

इतीत्यादि—इत्येवं वचनं बहुगुणम् अर्थावगाढत्वात् असकृत् बहुत्वात्, प्रसभम् आहत्य रजनिचरपतिमभिदधत् नृवन् । 'नाभ्यस्ताच्छतुः । ७ । १ । ७ । ८ ।' इति नुम्प्रतिषेधः । रजनिचर इति 'ह्यापोः संज्ञाच्छन्दसोर्बहुलम् । ६ । ३ । ६ । ३ ।' इति संज्ञायां ह्रस्वत्वम् । पुरुपरिपुपुराहङ्कातः निरगमत् निष्क्रान्तः । अभयः सन् नरपतिचरणौ रामस्य पादौ अरिभिरपि नुतौ शूरत्वात् 'श्र्युकः किति । ७ । २ । १ । १ ।' इतीदृशप्रतिषेधः । नवितुं प्रणामपूर्वकं स्तोतुम् । अनेकार्थत्वाद्वातूनां नन्तुमित्यर्थः ॥ ८६ ॥-

अथ तमुपगतं विदितसुचरितं पवनसुतागिरा गिरिगुरुहृदयः ।
नृपतिरमदयन्मुदितपरिजनं स्वपुरपतिकरैः सलिलसमुदयैः ॥ ८७ ॥

इति महावैद्ययाकरणभट्टीप्रणीते रामचरिते काव्ये
प्रसन्नकाण्डे भाविकत्वप्रदर्शनस्तृतीयः ।
समाप्तो द्वादशः सर्गः ॥

अथेत्यादि—अथ अनन्तरं विभीषणमुपेतं सेतुबन्धचिन्ताकाले राममुपगतवानिति द्रष्टव्यम् । अन्यथा वक्ष्यमाणप्रभातकथनं विरुद्ध्येत । पवनसुतागिरा हनूमद्वचनेन सञ्चरितोऽयमिति विदितं सुचरितं येन । नृपतिः रामः गिरिगुरुहृदयः गिरिवत् गुरु अप्रकम्पं हृदयं यस्य । सलिलसमुदयैः जलपूर्णघटे स्थितैः स्वपुरपतिकरैः । लङ्काधिपतिं कुर्वन्तीति हेतौ टः । अमदयत् हर्षितवान् । 'मदी हर्षे' इत्यस्य हेतुमण्यन्तस्य घटादित्वान्मित्वे ह्रस्वत्वम् । मुदितपरिजनं स्वामी लङ्काधिपत्येऽभिपिच्यत इति तस्य दृष्टा अनुजीविन इत्यर्थः ॥ ८७ ॥

इति श्रीजयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते श्री भाट्टीप्रणीते राम-
चरिते काव्ये-तृतीये प्रसन्नकाण्डे लक्षणरूपे तृतीयः परिच्छेदः,
लक्ष्यरूपे कथानके 'विभीषणाऽगमनो' नाम
द्वादशः सर्गः ।

१ अस्मिन् परास्मिन् पद्ये 'ननभनलगिति प्रहरणकलिता ।' इति वृत्तरत्नाकरोक्तया 'प्रहरणकलिता' नाम च्छन्दः ।

त्रयोदशः सर्गः ।

अथ संकीर्णकाः श्लोकाः ।

काव्यं संस्कृतप्राकृतापभ्रंशभेदान्निविधम् । तत्र शब्दभवदेशीयपदयोः
प्राकृतभाषयोरपभ्रंशस्य च संस्कृतभाषायां समावेशासम्भवात् शब्दसमाया
प्राकृतभाषायाः समावेशः । तमार्यागीत्यां स्कन्धकलक्षणया दर्शयितुं विभी-
षणागमनात्प्राक् यद्वृत्तं रामस्य तदाह—

अथ सप्तभिः कुलकम् ।

चारुसमीरणरमणे हरिणकलङ्ककिरणाऽऽवलीसविलासा ।

आवद्धराममोहा वेलामूले विभावरी परिहीणा ॥ १ ॥

चार्वित्यादि—रामो रात्रौ निद्रावान् पल्लवशयनमध्यष्ठादित्युक्तम् ।
तस्य नियमपूर्वं सुप्तवतः प्रभातमभूदिति कथयति । वेलामूले पारसमीपे ।
प्राकृते पुंलिङ्गनपुंसकयोराकारान्तस्य पदस्य सप्तम्या एकवचने मित्वमेवं
वा रूपम् । चारुसमीरणरमणे रमयतीति रमणम् । 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो
ल्युणिन्यचः । ३ । १ । १३४ ।' इति नन्द्यादित्वात् ल्युः । समीरणेन रम-
णम् । चारु च तत्समीरणरमणं चेति । तत्र विभावरी रात्रिः परिहीणा
क्षीणा । हरिणकलङ्कस्य याः किरणावलयः ताभिः सविलासा सविभ्रमा
अतश्चावद्धो रामस्य मोहो मूच्छा ययेति । 'कृदिकारादक्तिनः' इत्यनेन
भावलिखावलीत्युभयमपि संस्कृतप्राकृतयोः प्रयुज्यते ॥ १ ॥

वद्धो वासरसङ्गे भीमो रामेण लवणसलिलाऽऽवासे ।

सहसा संरम्भरसो दूराऽऽरूढरविमण्डलसमो लोले ॥ २ ॥

वद्ध इत्यादि—नियमस्थितेऽपिमयि नासौ समुद्र उत्थित इति वास-
रसङ्गे प्रभातकाले रामेण लवणसलिलावासे समुद्रे इति विषयसप्तमी ।
सहसा तत्क्षणं संरम्भरसः उत्साहरसो वीराख्यः भीमो दुष्प्रेक्ष्यः वद्धो जनितः ।
दूराऽऽरूढरविमण्डलसमो लोक इति दूरमारूढो मध्याहस्थो यो रविः
तस्य मण्डलं तेन समस्तुल्योऽतितीक्ष्णत्वात् । लोले चञ्चले समुद्रे प्रभात-
वातेन श्लोभ्यमाणत्वान् ॥ २ ॥

१ अत्र 'आयापूर्वाद्' यदि गुरुणैकेनाधिकेन निधने युक्तम् । इतरत्तद्वात्रिंश-
दलं यदीयमुदितैवमार्यागीतिः ॥' इति लक्षणम् । एवं परत्रापि ।

गाढगुरुपुङ्खपीडासधूमसलिलाऽरिसंभ्रममहावाणे ।

आरूढा सन्देहं रामे समहीधरा मही सफणिसभा ॥ ३ ॥

गाढेत्यादि—गाढं सुष्ठु गुरोः पुङ्खस्य या पीडा पीडनम् अङ्गुष्ठाभ्यां तयोर्हंतुभूतया सधूमसलिलारेः अग्नेः संभवो यत्र स महावाणो यस्य रामस्य तस्मिन् सति । महासंदेहमारूढा संशयं प्राप्ता समहीधरा मही सफणिसभा सह भुजङ्गसमूहेन । धारयन्तीति धराः । अत्र धकारस्य पदमुखे वर्तमानस्य हकारो न भवति, प्राकृते पदमध्यान्तयोर्विधीयमानत्वात् । मही-र इति समस्तपदेऽपि न प्रवर्तते । अत्र पूर्वपदमुत्तरं पदमिति व्यपदेशात् । एवं च सति गोधर-वज्रधर-चक्रधर-शङ्खधरादिषु न प्रवर्तते । महीधरो महिधर इत्युभयमपि प्राकृते प्रयुज्यते, अमहानां विकल्पेन ह्रस्वदर्शनान् ॥३॥

घोरचलदन्तिसंकुलमट्टमहापङ्ककाहलजलाऽऽवासम् ।

आरीणं लवणजलं समिद्धफलवाणविद्धघोरफणिवरम् ॥ ४ ॥

ॐ—रामेणाग्नेये शरे क्षिप्ते सति लवणजलमारीणं समन्तात् गुष्कम् 'रीङ् स्रवणे' इत्यस्मात् निष्ठातकारस्य 'स्वादय ओदितः' इति ओदित्त्वे ओदितश्च । ८।२।४५।' इति नत्वम् । 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि । ८।४।२।' इति मत्वम् । रीणमित्यप्रयोगः, प्राकृते महाराष्ट्रे तस्याप्रयोगात् । घोरैः रीद्रैर्जलदन्तिभिः संकुलं व्याप्तम् । अट्टः शुष्को यो महापङ्कः तेन कःहला विह्वला जलावासा मत्स्यादयो यत्र । 'अट्ट अतिक्रमहिंसनयोः' इत्यस्य रूपम् । समिद्धफलेन दीप्तिफलेन वाणेन विद्धाः घोराः फणिवरा महासर्पा येति ॥ ४ ॥

सभयं परिहरमाणो महाऽहिसंचारभासुरं सलिलगणम् ।

आरूढो लवणजलो जलतीरं हरिवलाऽऽगमविलोलगुहम् ॥ ५ ॥

सभयमित्यादि—सलिलगणं सलिलसमूहं सभयम् । महाहीनां संचारेण भासुरं भासनशीलम्, तच्छिरोमणिद्योतितत्वान् । परिहरमाणः परित्यजन् । र्त्रभिप्राये तद् । लवणजलः समुद्रः लवणं जलमस्येति । जलतीरं तटं यत्र भास्तिष्ठति तदारूढः संप्राप्तो मूर्तिमान् । हरिवलागमेन वानरसैन्यागमेन विलोला व्याकुला गुहा यत्रेति ॥ ५ ॥

चञ्चलतरुहरिणगणं बहुकुसुमाऽऽबन्ववद्धरामाऽऽवासम् ।

हरिपल्लवतरुजालं तुङ्गोरुसमिद्धतरुवरहिमच्छायम् ॥ ६ ॥

चञ्चलेत्यादि—चञ्चलश्चपलः तरुचहरिणानां वानराणां गणो यत्र जलतीरे ।
वहुकुसुमानां वृक्षाणामावन्धेन परस्परसंश्लेषेण बद्धो घटितो रामावासो यत्र ।
हरिपल्लवानि तरुजालानि यत्र । तुङ्गा उरवः परिमण्डलाः सभिद्धा उज्ज्वला ये
तरुवरास्तैर्हिमा शीतला छाया यत्र तज्जलतीरम् ॥ ६ ॥

वग्वारणं सलिलभरेण गिरिमहीमण्डलसंवरवारणम् ।

वसुधारयं तुङ्गतरङ्गसङ्गपरिहीणलोलवसुधारयम् ॥ ७ ॥

(एते सप्त संकीर्णाः श्लोकाः)

वरेत्यादि—वरा उत्कृष्टा वारणा यत्र । सलिलभरेण सलिलसमूहेन यो
गिरीणां महीमण्डलस्य च संवरः संवरणमावरणम् । ‘ग्रहवृद्धनिश्चिगमश्च
।३।३।५।८।’ इत्यप् । तस्य वारणं निषेधकम् । समुद्रस्य वेलातिक्रमात् ।
वसु द्रव्यं तस्य धारयं धारकम् । ‘अनुपसर्गाह्लिम्पविन्दधारिपारिवेद्युदेजि-
चेतिसातिसाहिभ्यश्च ।३।१।१३।८।’ इति णिजन्ताच्छः । तुङ्गाः अश्रंलिहा
ये तरङ्गास्तैः सह यः संगः संश्लेषः तस्मात् परिहीणो नष्टो लोको वसुधायां तत्सं-
वन्धिन्यां रयो वेगो यत्र तज्जलतीरमारूढः । गणितक्रमेण । एते सप्त
संकीर्णाः श्लोकाः । संस्कृतप्राकृतयोरविशिष्टत्वात् ॥ ७ ॥

प्राणिपत्य ततो वचनं जगाद् हितमायतौ पतिर्वारीणाम् ।

गङ्गावलम्बिवाहूरामं वहलोरुहरितमालच्छायम् ॥ ८ ॥

प्राणिपत्येत्यादि—ततस्तीरप्राप्तेरनन्तरं वारीणां पतिः समुद्रः रामं प्राणि-
पत्य वचनं जगाद् । हितमात्मनो रामस्य पथ्यमायतावागामिनि काले । गङ्गा-
वलम्बो गङ्गावलम्बनशीलः संपूर्णत्वाद्वाहुर्यस्य स गङ्गावलम्बिवाहुः । संस्कृते
‘द्वलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ।६।३।११।’ प्राकृते तु पुंलिङ्गेः उकारस्य दीर्घत्वम् ।
विभक्तिसकारस्य च लोपः । उरुर्महान् हरिः हरितो यस्तमालः । बहुला घना
तस्यैव छाया यस्य तमिति । पूर्वार्धे निरवद्यमिति । पूर्वस्मिन्नर्थे प्राकृतस्याभावा-
त् निरवद्यं पश्चादर्धे तु संकीर्णमेव ॥ ८ ॥

तुङ्गा गिरिवरदेहा अगमं सलिलं समीरणो रसहारी ।

अहिमो रविकिरणगणो माया संसारकारणं ते परमा ॥ ९ ॥

तुङ्गा इत्यादि—गिरिवरदेहाः कुलपर्वतकायाः तुङ्गाः प्रांशवः, अगमं सलिलम्
अगम्यम् । ‘ग्रहवृद्धनिश्चिगमश्च ।३।३।५।८।’ इत्यप् । समीरणो रसहारी

प्रपामुच्छोपकः, अहिम उष्णः रवेः किरणगणः । एतत्सर्वं तव माया
रमा महती संसारस्य कारणम् । सर्वथा त्वं विष्णुः त्वत्कृतेषु को
तेषु इति ॥ ९ ॥

अथ पट्टं सङ्कीर्णाः ।

आयाससम्भवारुण ! संहार संहारहिमहरसमच्छायम् ।
वाणं वारिसमूहं संगच्छ पुराणचारुदेहाऽऽवासम् ॥ १० ॥

आयासेत्यादि--यस्मात्संसारकारणं यद्गम्यं सलिलं कृतं, तस्मान्त्वं हे
आयाससंभवारुण रोपसंभवेन रक्तीभूत ! संहारे प्रलये हिमहरा आदित्यास्तैः
समा छाया यस्य वाणस्य तं संहार उपशमय । वारिसमूहं संगच्छ अङ्गी-
कुरु । सकर्मकत्वात् 'समो गम्यच्छिभ्याम् । १।३।२९।' इत्यात्मनेपदं न
भवति । पुराणः शाश्वतः दर्शनीयो यो देहः तस्य आवासम-
वस्थानम् ॥ १० ॥

असुलभहरिसंचारं जलमूलं बहलपङ्करुद्धाऽऽयामम् ।
भण किं जलपरिहीणं सुगमं तिमिकम्बुवारिवारणभीमम् ॥ ११ ॥

असुलभेत्यादि--अन्यच्च यदेतज्जलमूलं जलस्यावस्थानम् आप्रेयशरशो-
पितत्वाज्जलपरिहीणं सत्, तत् किं सुखेन गम्यत इति भण व्रीहि । यतो
बहलः सान्द्रो यः पङ्कस्तेन रुद्ध आयामो दैर्घ्यं यत्र । तिमयो मत्स्याः कम्बवः
शङ्खाः वारिवारणाः जलहस्तिनः तैर्भीमम् । एवं च सति असुलभो दुर्लभः
हरिसंचारो वानरपर्यटनं यत्रेति ॥ ११ ॥

गमनोपायमाह-

गन्तुं लङ्कातीरं बद्धमहासलिलसंचरेण सहेलम् ।
तरुहरिणा गिरिजालं बहन्तु गिरिभारसंसहा गुरुदेहम् ॥ १२ ॥

गन्तुमित्यादि--संचरन्त्यनेनेति संचरः । 'गोचरसंचरवहत्रल-
व्यजापणनिगमाश्च । ३।३।११९।' इति घः । बद्धो वटितो महा-
सलिले यः संचरः तेन सेतुना सहेलम् । एकप्रवृत्त्या लङ्कातीरं लङ्को-
पलक्षितं तटं गन्तुं तरुहरिणा वानरा गिरिभारस्य संसहाः श्रमाः ।
संसहन्ते इत्यच् । गिरिजालं गारिसमूहं बहन्तु प्रापयन्तु । गुरुर्देहः
शरीरं यस्य गिरिजालस्य ॥ १२ ॥

हरहासरुद्धविगमं परकण्ठगणं महाऽऽहवसमारम्भे ।

छिन्दन्तु रामवाणा गम्भीरे मे जले महागिरिवद्धे ॥ १३ ॥

हरेत्यादि--मे मम जले गम्भीरे अगाधे महागिरिभिर्बद्धे सति यो महाहवस्य समारम्भः प्रवर्तनं तस्मिन् परस्य शत्रोः कण्ठगणं ग्रीवासमूहं हरस्य तुष्टत्वात् यो हासः तेन रुद्धो विगमश्छेदो यस्य तं रामशरश्छिन्दन्तु । आशीषि लोट् ॥ १३ ॥

गच्छन्तु चारुहासा वीररसाऽऽबन्धरुद्धभयसम्बन्धम् ।

हन्तुं बहुबाहुबलं हरिकरिणो गिरिवरोरुदेहं सहसा ॥ १४ ॥

गच्छन्तिवत्यादि--वहवो बाहव एव बलं यस्य बाहूनां तरुणामिव बहुत्वात् । तं रावणं वीररसस्य शौर्यस्य य आबन्धः सन्ततप्रवर्तनं तेन रुद्धो निवारितो भयसंबन्धस्त्राससंपर्को यस्य तं गिरिवरोरुदेहं गिरिवन्महाकायं सहसा हन्तुं तत्क्षणं हनिष्याम इति हरिकरिणः कपिहस्तिनः चारुहासाः मम जले वद्धे सति गच्छन्तु ॥ एते षट् संकीर्णाः, संस्कृतप्राकृतयोस्तुल्यत्वात् ॥ १४ ॥

पूर्वाद्धेऽसङ्कीर्णः श्लोकः ।

जिगमिपयाःसंयुक्ता वभूव कपिवाहिनी मते दाशरथेः ।

बुद्धजलाऽऽलयचित्ता गिरिहरणाऽऽरम्भसम्भवसमालोला ॥ १५ ॥

जिगमिपयेत्यादि--दाशरथेमतेऽभिप्राये सति कपिवाहिनी कपिसेना जिगमिपया गन्तुमिच्छया संयुक्ता वभूव । बुद्धजलालयचित्ता विदितसमुद्राभिप्राया गिरिणां यद्धरणमानयनं तस्य य आरम्भसंभवः तेन समालोला आकुला इत्येतदर्थमसङ्कीर्णम् ॥ १५ ॥

अथ पञ्च संकीर्णाः श्लोकाः ।

गुरुगिरिवरहरणसहं संहारहिमारिपिङ्गलं रामबलम् ।

आरूढं सहसा खं वरुणाऽऽलयविमलसलिलगण्णगम्भीरम् ॥ १६ ॥

गुर्वित्यादि--ततो रामबलं सहसा तत्क्षणं खमारूढम् । गुरुणां गिरिवराणां यदाहरणमानयनं तत्सहत इति मूलविभुजादित्वात् कः । तस्य वा सहं शक्तम् । राहत इत्यच् । संहारे प्रलये यो हिमारिरग्निः तद्वत्पिङ्गलम् । वरुणालयस्य समुद्रस्य यो विमलसलिलगणः निर्मलजलमनूः तद्वद्गम्भीरं खमिति ॥ १६ ॥

अथ चतुर्भिः कलापकम् ।

अवगाढं गिरिजालं तुङ्गमहाभित्तिरुद्धसुरसञ्चारम् ।

अभयहरिरासर्भामं करिपरिमलचारुबहलकन्दरसलिलम् ॥ १७ ॥

अवगाढमित्यादि—खमारुह्य रामवलेन गिरिजालमवगाढं अवष्टब्धम् ।
ङ्गाभिरुच्छिन्नाभिर्महतीभिः परिणाह्वतीभिर्भित्तिभी रुद्धः सुराणां संचारेन
स्मिन् तेषामुन्नतत्वात् । अभया ये हरयः सिंहास्तेषां रासेन शब्देन
भिं भयानकम् । करिणां यः परिमलः समर्दस्तेन चारु शोभनम् । बडलं
तं कन्दरसलिलं यस्मिन् ॥ १७ ॥

अलिगणविलोकुसुमं सकमलजलमत्तकुररकारण्डवगणम् ।

फणिसंकुलभीमगुहं करिदन्तसमृद्धसरसवमुधाखण्डम् ॥ १८ ॥

अलिगणेत्यादि—अलिगणैर्विलोलानि कुसुमानि यत्र । सकमलेषु जलेषु
त्ताः कुरराणां कारण्डवानां च गणा यत्र । फणिभिः संकुला व्याप्ताः
। यो भीमा गुहा यत्र । करिदन्तैः समुत्क्षिप्तं सरसं सान्द्रं वसुधायाः
खण्डं यत्र ॥ १८ ॥

अरविन्दरेणुपिञ्जरसारसरवहारिविमलबहुचारुजलम् ।

रविमणिसम्भवहिमहरसमागमाऽऽवद्धबहुलसुरतरुधूपम् ॥ १९ ॥

अरविन्देत्यादि—अरविन्दरेणुभिः पिञ्जरा पिङ्गला ये सारसास्तेषां
वेण हारि मनोहारि विमलं बहु चारु जलं यत्रेति । रविमणिसंभवः सूर्यकान्त-
णिसम्भवः यो हिमहरः भ्रमिः तेन यः समागमः संश्लेषस्तेनावद्धो जनितो
हुलः सुरतरुधूपो यत्र ॥ १९ ॥

हरिरवविलोलवारणगम्भीरावद्धसरसपुरुसंरावम् ।

घोणासंगमपङ्गाविलसुवलभरसहोरुवराहम् ॥ २० ॥

हरिरवेत्यादि—हरीणां सिंहाणां यो रवस्तेन विलोलास्त्रस्तवो ये वारणा-
र्तगम्भीरो मन्द्र आवद्धो जनितः सरसो भयानकरसयुक्तः पुरुर्महान् संरावो
त्र । घोणायाः संगमात् संपर्कान् संभवो यन्म्यं पङ्कस्य । घोणासमुद्धृतः यः
हु इत्यर्थः । तेनाविलाः लिप्ताङ्गाः सुवलाः तत एव भरसहाः उरवश्च वराहा
त्र । तद्गिरिजालमालमवगाढमिति ॥ २० ॥

अथासङ्कीर्णः श्लोकः—

उच्चरन्तुः परिरब्धान् कपिसङ्घा वाहुभिस्ततो भूमिभृतः !

निष्पिष्टशेषमूर्धः शृङ्गविकीर्णोष्णरश्मिनक्षत्रगणान् ॥ २१ ॥

हरहासरुद्धविगमं परकण्ठगणं महाऽऽहवसमारम्भे ।

छिन्दन्तु रामबाणा गम्भीरे मे जले महागिरिवद्धे ॥ १३ ॥

हरेत्यादि--मे मम जले गम्भीरे अगाधे महागिरिभिर्बद्धे सति यो महाहवस्य समारम्भः प्रवर्तनं तास्मिन् परस्य शत्रोः कण्ठगणं ग्रीवासमूहं हरस्य तुष्टत्वात् यो हासः तेन रुद्धो विगमश्छेदो यस्य तं रामशरश्छिन्दन्तु । आशीषि लोट् ॥ १३ ॥

गच्छन्तु चारुहासा वीररसाऽऽबन्धरुद्धभयसम्बन्धम् ।

हन्तुं बहुबाहुबलं हरिकरिणो गिरिवरोरुदेहं सहसा ॥ १४ ॥

गच्छन्तिवत्यादि--बहवो बाहव एव बलं यस्य बाहूनां तरुणाभिव बहुत्वात् । तं रावणं वीररसस्य शौर्यस्य य आबन्धः सन्ततप्रवर्तनं तेन रुद्धो निवारितो भयसंबन्धस्त्राससंपर्को यस्य तं गिरिवरोरुदेहं गिरिवन्महाकायं सहस्रा हन्तुं तत्क्षणं हनिष्याम इति हरिकरिणः कपिहस्तिनः चारुहासाः मम जले वद्धे सति गच्छन्तु ॥ एते षट् संकीर्णाः संस्कृतप्राकृतयोस्तुल्यत्वात् ॥ १४ ॥

पूर्वाद्धेऽसङ्कीर्णः श्लोकः ।

जिगमिपयाःसंयुक्ता बभूव कपिवाहिनी मते दाशरथेः ।

बुद्धजलाऽऽलयचित्ता गिरिहरणाऽऽरम्भसम्भवसमालोला ॥ १५ ॥

जिगमिपयेत्यादि--दाशरथेर्मतेऽभिप्राये सति कपिवाहिनी कपिसेना जिगमिपया गन्तुमिच्छया संयुक्ता बभूव । बुद्धजलालयचित्ता विदितसमुद्राभिप्राया गिरिणां यद्धरणमानयनं तस्य य आरम्भसंभवः तेन समालोला आकुला इत्येतदर्धमसङ्कीर्णम् ॥ १५ ॥

अथ पञ्च संकीर्णाः श्लोकाः ।

गुरुगिरिवरहरणसहं संहारहिमारिपिङ्गलं रामवलम् ।

आरूढं सहसा खं वरुणाऽऽलयविमलसलिलगण्णगम्भीरम् ॥ १६ ॥

गुर्वित्यादि--ततो रामवलं सहसा तत्क्षणं खमारूढम् । गुरुणां गिरिवराणां यदाहरणमानयनं तत्सहस्रं इति मूलविभुजादित्वात् कः । तस्य बलं सहस्रं शक्तम् । सहस्र इत्यच् । संहारे प्रलये यो हिमारिरग्निः तद्वत्पिङ्गलम् । वरुणालयस्य समुद्रस्य यो विमलसलिलगणः निर्मलजलमयः तद्वद्गम्भीरं खमिति ॥ १६ ॥

सहसेत्यादि--ते तरुहरिणाः शाखाभृगाः गिरिभिः सुभराः सन्तः
 व्रणसलिलवन्धारम्भे समुद्रवन्धनारम्भे सहसा तत्क्षणं तीरगिरिं तटस्थितं
 मूर्तमारूढाः । अत्र संस्कृतपक्षे संहिताया अविबक्षितत्वात् तीरगिरिमारूढा
 इति नोक्तम् । अन्ये 'आरूढा तीरगिरिम्' इति विपर्ययस्य पठन्ति ।
 नद्युक्तम् । संस्कृतपक्षे असम्भावान्न नास्ति । अतो विसर्जनीयस्य सकार
 एव स्यात् । रामस्य च आगमस्तेन रुद्रः सभयानां रिपूणां शत्रूणां संचारो
 यत्र तीरगिरौ । राम आगत इति तत्र भयात् संचारं त्यक्तवन्त इति ॥
 निराख्यातोऽसङ्कीर्णः श्लोकः ॥ २५ ॥

ततः प्रणीताः कपियूथमुख्यैर्न्यस्ताः कृशानोस्तनयेन सम्यक् ।

अकम्प्रब्रध्नाऽप्रनितम्बभागा महार्णवं भूमिभृतोऽवगाढाः ॥ २६ ॥

तत इत्यादि--ततोऽनन्तरं भूमिभृतः पर्वताः कपियूथमुख्यैर्नालादिभिः
 कृशानोस्तनयस्य नलस्य प्रणीताः अर्पिताः सन्तस्तेनैव कृशानुतनयेन सम्यक्
 साधु न्यस्ताः सन्तः महार्णवम् अवगाढाः अत्रवन्धवन्तः अकम्प्राः स्थिराः
 ब्रध्नाप्रनितम्बानां भागा येषां ते । ब्रध्नो मूलम् । 'इण्विञ्जिदीउप्यविभ्यो नक्'
 इत्यधिकृत्य 'वन्धेर्ब्रधिवुधिवुधी च' इत्यौणादिको नक् । इदमपि निराख्यातं
 'तिङन्तपदाभावान्, असंकीर्णं च प्राकृताभावान् ॥ २६ ॥

अथैकान्तराख्यातोऽसङ्कीर्णः ।

तेनेऽद्रिवन्धो ववृधे पयोधिस्तुतोप रामो मुमुदे कपीन्द्रः ।

तत्रास शत्रुर्दृशे सुवेलः प्रापे जलान्तो जहपुः प्लवङ्गाः ॥ २७ ॥

तेन इत्यादि--अद्रिवन्धस्तेने अनैर्विस्तारं गतः, अत एव ववृधे पयोधि-
 र्दृष्टिं गतः । गिरिभिः पूर्यमाणोदरत्वान् तीरं प्रावयति स्म । तुतोप रामन्तु-
 श्वान् । सुकरभिदानीं शत्रुव्यापादनमिति । मुमुदे कपीन्द्रः दृष्टवान् । प्रापो
 मे प्रत्युपकारकाल इति । तत्रास शत्रुः त्रासमुपगतः सेतुं बद्धवानिदानीमा-
 यातो राम इति । दृशे सुवेलः ढाँकमानः सर्वदृष्टः । जलान्तश्च प्रापे प्राप्रः ।
 ततो जहपुः हृष्टाः प्लवङ्गाः स्वान्यादेशः संपादित इति । एतदेकान्तराख्यातम्
 सुमन्तपदैर्व्यवधानान् । असङ्कीर्णश्च प्राकृताभावान् ॥ २७ ॥

उच्चखलुरित्यादि—ततोऽवगाहादनन्तरं बाहुभिः परिरन्धान् समाश्लिष्टान् भूमिशृतः पर्वतान् कपिसङ्घा उच्चखलुः उत्त्यातवन्तः । 'गमहन्जनखनघसां लोपः क्लित्यनङि १६।४।९८।' इत्युपधालोपः । निष्पिष्टशेषमूर्ध्नः व्याप्तपातालमूलत्वात् चूर्णितनागराजमस्तकान् शृङ्गैः शिखरैर्विकीर्णं उष्णरश्मिरादित्यो नक्षत्रगणश्च यैर्दिवं व्याप्य स्थितत्वात् । असंकीर्णं इति अत्र प्राकृतस्याप्रयुक्तत्वात् ॥ २१ ॥

अथ त्रिभिः विशेषकम् । अथ चत्वारः सङ्कीर्णाः-

तुङ्गमहागिरिसुभरा बाहुसमारुद्धभिदुरदङ्का बहुधा ।

लवणजलबन्धकामा आरूढा अम्बरं महापरिणाहम् ॥ २२ ॥

तुङ्गेत्यादि—तुङ्गा उच्चा महान्तः परिणाहवन्तो ये गिरयस्तैः सुभरा जातभराः कपयः । बाहुभिः समारुद्धा भिदुराः विदारणशीलाः दङ्का उन्नतप्रदेशा यैस्ते । बहुधा अनेकप्रकारं लवणजलबन्धकामाः एवमेवं बद्धव्यमिति जातेच्छाः आरूढाः अम्बरं व्योम महापरिणाहम् महान् परिणाहो विस्तारो यस्य तत् अप्रमेयदिग्विभागम् ॥ २२ ॥

बहुधवलवारिवाहं विमलाऽऽयसगुरुमहाऽसिदेहच्छायम् ।

बद्धविहङ्गममालं हिमगिरिमिव मत्तकुरररवसम्बद्धम् ॥ २३ ॥

बह्वित्यादि—बहवो धवला वारिवाहा यत्राम्बरे । विमलायसः अयसो विकारः गुरुरलघुर्महान् योऽसिः खङ्गः तस्य यो देहः तभ्य छायेव छाया यस्य । बद्धा विरचिता विहङ्गानां माला पङ्क्तिर्यत्र । मत्तानां कुरराणां रवेण संबद्धं युक्तम् । अतो हिमगिरिमिवाम्बरमारूढा इति ॥ २३ ॥

चारुकलहंससंकुलमचण्डसंचारसारसाऽऽबद्धरवम् ।

सकुसुमकणगन्धवहं समयाऽऽगमवारिसङ्गविमलाऽऽयामम् ॥ २४ ॥

चारुकलहंसेत्यादि—चारुभिः कलहंसैः संकुलं व्याप्तम् । अचण्डसंचारैः शनैः संचरद्भिः सारसैरावद्धो रवो यस्मिन् । सकुसुमकणः सपुष्परेणान्वयवहो वायुर्यत्रेति । वहतीति ऋहः कर्तर्यच् । गन्धस्य वह इति समासः । समयम् प्रावृट्कालस्य य आगमः तेन यो वारिसङ्गः तेन प्रक्षालितत्वान् विमला आयामा यत्र तदम्बरमारूढा इति ॥ २४ ॥

सहसा ते तरुहरिणा गिरिसुभरा लवणसलिलबन्धाऽऽरम्भे ।

तीरगिरिम् आरूढा रामाऽऽगमरुद्धसभयरिपुसंचारम् ॥ २५ ॥

सहसेत्यादि—ते तरुहरिणाः शाखाभृगाः गिरिभिः सुभराः सन्तः
 व्रणसलिलवन्वारम्भे समुद्रवन्धनारम्भे सहसा तत्क्षणं तीरगिरिं तदस्थितं
 त्वन्तमारूढाः । अत्र संस्कृतपक्षे संहिताया अविवक्षितत्वात् तीरगिरिमारूढा
 ति नोक्तम् । अन्ये 'आरूढा तीरगिरिम्' इति विपर्ययस्य पठन्ति ।
 इत्युक्तम् । संस्कृतपक्षे अस्मत्त्वाद्यत्वं नास्ति । अतो विसर्जनीयस्य सकार
 इव स्यात् । रामस्य च आगमस्तेन रुद्रः सभयानां रिपूणां शत्रूणां संचारो
 यत्र तीरगिरौ । राम आगत इति तत्र भयान् संचारं त्यक्तवन्त इति ॥
 निराख्यातोऽसङ्कीर्णः श्लोकः ॥ २५ ॥

ततः प्रणीताः कपियूथमुख्यैर्न्यस्ताः कृशानोस्तनयेन सम्यक् ।

अकम्प्रव्रध्नाऽग्रनितम्बभागा महार्णवं भूमिभृतोऽवगाढाः ॥ २६ ॥

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं भूमिभृतः पर्वताः कपियूथमुख्यैर्नालादिभिः
 कृशानोस्तनयस्य नलस्य प्रणीताः अर्पिताः सन्तस्तेनैव कृशानुतनयेन सम्यक्
 साधु न्यस्ताः सन्तः महार्णवम् अवगाढाः अत्रप्रव्रध्वन्तः अकम्प्राः स्थिराः
 प्रध्नाग्रनितम्बानां भागा येषां ते । प्रध्नो मूलम् । 'इणिवञ्जिदीउप्यविभ्यो नक्'
 इत्यधिकृत्य 'वन्धेर्ध्रधिवुधिवुधी च' इत्यौणादिको नक् । इदमपि निराख्यातं
 तिङन्तपदाभावात्, असंकीर्णं च प्राकृताभावान् ॥ २६ ॥

अथैकान्तराख्यातोऽसङ्कीर्णः ।

तेनेऽद्रिवन्धो ववृधे पयोधिस्तुतोप रामो मुमुदे कपीन्द्रः ।

तत्रास शत्रुर्ददृशे सुबेलः प्रापे जलान्तो जहपुः प्लवङ्गाः ॥ २७ ॥

तेन इत्यादि—अद्रिवन्धस्तेने ज्ञानविम्भारं गतः, अत एव ववृधे पयोधि-
 र्दृष्टिं गतः । गिरिभिः पूर्यमाणोदरत्वात् तीरं प्रावयति स्म । तुतोप रामन्तु-
 एवान् । सुकरमिदानीं शत्रुन्यापादनमिति । मुमुदे कपीन्द्रः दृष्टवान् । प्राप्नो
 मे प्रत्युपकारकाल इति । तत्रास शत्रुः त्रासमुपगतः सेतुं बद्धवानिदानीमा-
 यातो राम इति । ददृशे सुबेलः टांकमानः सर्वदृष्टः । जलान्ध्र प्रापे प्रापः ।
 ततो जहपुः हृष्टाः प्लवङ्गाः स्वान्यादेशः संपादित इति । एतदेकान्तराख्यातम्
 सुभन्तपदैर्व्यवधानात् । असङ्कीर्णश्च प्राकृताभावान् ॥ २७ ॥

उच्चखनुरित्यादि—ततोऽवगाहादनन्तरं बाहुभिः परिरब्धान् समाश्लिष्टान् भूमिभृतः पर्वतान् कपिसङ्घा उच्चखनुः उत्त्यातवन्तः । 'गमहनजनखन-घसां लोपः क्लित्यनङि । ६।४।९८।' इत्युपधालोपः । निष्पिष्टशेषमूर्ध्नः व्याप्त-पातालमूलत्वात् चूर्णितनागराजमस्तकान् शृङ्गैः शिखरैर्विकीर्णं उष्णरश्मिर-दित्यो नक्षत्रगणश्च यैर्दिवं व्याप्य स्थितत्वात् । असंकीर्ण इति अत्र प्राकृतस्याप्रयुक्तत्वात् ॥ २१ ॥

अथ त्रिभिः विशेषकम् । अथ चत्वारः सङ्कीर्णाः-

तुङ्गमहागिरिसुभरा बाहुसमारुद्धभिदुरटङ्गा बहुधा ।

लवणजलबन्धकामा आरूढा अम्बरं महापरिणाहम् ॥ २२ ॥

तुङ्गेत्यादि—तुङ्गा उच्चा महान्तः परिणाहवन्तो ये गिरयस्तैः सुभरा जातभराः कपयः । बाहुभिः समारुद्धा भिदुराः विदारणशीलाः टङ्गा उन्नत-प्रदेशा यैस्ते । बहुधा अनेकप्रकारं लवणजलबन्धकामाः एवमेवं बद्धव्यमिति जातेच्छाः आरूढाः अम्बरं व्योम महापरिणाहम् महान् परिणाहो विस्तारो यस्य तत् अप्रमेयदिग्विभागम् ॥ २२ ॥

बहुधवलवारिवाहं विमलाऽऽयसगुरुमहाऽसिदेहच्छायम् ।

वद्धविहङ्गममालं हिमगिरिमिव मत्तकुरररवसम्बद्धम् ॥ २३ ॥

बह्वित्यादि—वहवो धवला वारिवाहा यत्राम्बरे । विमलायसः अयसो विकारः गुरुरलघुर्महान् योऽसिः खङ्गः तस्य यो देहः तस्य छायेव छाया यस्य । वद्धा विरचिता विहङ्गानां माला पङ्क्तिर्यत्र । मत्तानां कुरराणां खेप संबद्धं युक्तम् । अतो हिमगिरिमिवाम्बरमारूढा इति ॥ २३ ॥

चारुकलहंससंकुलमचण्डसंचारसारसाऽऽबद्धरवम् ।

सकुसुमकणगन्धवहं समयाऽऽगमवारिसङ्गविमलाऽऽयामम् ॥ २४ ॥

चारुकलहंसेत्यादि—चारुभिः कलहंसैः संकुलं व्याप्तम् । अचण्डसंचारैः शनैः संचरद्भिः सारसैरावद्धो रवो यस्मिन् । सकुसुमकणः सपुष्परेणुगन्ध-वहो वायुर्यत्रेति । वहतीति ब्रह्मः कर्तव्यम् । गन्धस्य वह इति समासः । समयस्य प्रावृट्कालस्य य आगमः तेन यो वारिसङ्गः तेन प्रक्षालितत्वात् विमला आयामा यत्र तदम्बरमारूढा इति ॥ २४ ॥

सहसा ते तरुहरिणा गिरिसुभरा लवणसलिलबन्धाऽऽम्भे ।

तीरगिरिम् आरूढा रामाऽऽगमरुद्धसभयरिपुसंचारम् ॥ २५ ॥

सहस्रेत्यादि--ते तरुहरिणाः शाखाभृगाः गिरिभिः सुभराः सन्तः
 लवणसलिलवन्धारम्भे समुद्रवन्धनारम्भे सहसा तत्क्षणं तीरगिरिं तटस्थितं
 पर्वतमारूढाः । अत्र संस्कृतपक्षे संहिताया आविष्कृतत्वात् तीरगिरिमारूढा
 इति नोक्तम् । अन्ये 'आरूढा तीरगिरिम्' इति विपर्ययस्य पठन्ति ।
 तदयुक्तम् । संस्कृतपक्षे अस्त्वावाद्यत्वं नास्ति । अतो विसर्जनीयस्य सकार
 एव स्यात् । रामस्य च आगमस्तेन रुद्धः सभयानां रिपूणां शत्रूणां संचारो
 यत्र तीरगिरौ । राम आगत इति तत्र भयात् संचारं त्यक्तवन्त इति ॥
 निराख्यातोऽसङ्कीर्णः श्लोकः ॥ २५ ॥

ततः प्रणीताः कपियूथमुख्यैर्न्यस्ताः कृशानोस्तनयेन सम्यक् ।

अकम्प्रब्रध्नाऽग्रनितम्बभागा महार्णवं भूमिभृतोऽवगाढाः ॥ २६ ॥

तत इत्यादि--ततोऽनन्तरं भूमिभृतः पर्वताः कपियूथमुख्यैर्नालादिभिः
 कृशानोस्तनयस्य नलस्य प्रणीताः अर्पिताः सन्तस्तेनैव कृशानुतनयेन सम्यक्
 प्राधु न्यस्ताः सन्तः महार्णवम् अवगाढाः अवपृच्छवन्तः अकम्प्राः स्थिराः
 ब्रध्नाग्रनितम्बानां भागा येयां ते । ब्रध्नो मूलम् । 'इणिवञ्जिदीरुष्यविभ्यो नक्' इत्यधिकृत्य
 'वन्धेर्ब्रधिवुधिवुधी च' इत्याणादिको नक् । इदमपि निराख्यातं
 तिङन्तपदाभावान्, असंकीर्णं च प्राकृताभावान् ॥ २६ ॥

अथैकान्तराख्यातोऽसङ्कीर्णः ।

तेनेऽद्रिवन्धो ववृधे पयोधिस्तुतोप रामो मुमुदे कपीन्द्रः ।

तत्रास शत्रुर्दृशे सुवेलः प्रापे जलान्तो जहपुः प्लवङ्गाः ॥ २७ ॥

तेन इत्यादि--आद्रिवन्धस्तेने अनविन्तारं गतः, अत एव ववृधे पयोधि-
 र्धृद्धिं गतः । गिरिभिः पूर्यमाणोदरत्वात् तीरं प्रावयति स्म । तुतोप रामन्तु-
 एवान् । सुकरभिर्दानीं शत्रुव्यापादनमिति । मुमुदे कपीन्द्रः दृष्टवान् । प्राप्नो-
 मे प्रत्युपकारकाल इति । तत्रास शत्रुः त्रासमुपगतः सेतुं बद्धवानिदानीमा-
 यातो राम इति । दृशे सुवेलः टांकमानः सर्वदृष्टः । जलान्ध्र प्रापे प्रापः ।
 ततो जहपुः हृष्टाः प्लवङ्गाः स्वान्यादेशः संपादित इति । एतदेकान्तराख्यातम्
 सुवन्तपदैर्व्यवधानान् । असङ्कीर्णश्च प्राकृताभावान् ॥ २७ ॥

अथ आख्यातमालाशाली ।

भ्रेमुर्व्वलगुर्ननृतुर्जजक्षुर्जगुः समुत्पुल्लविरे निषेदुः ।

आस्फोट्यांचक्रुरभिप्रणेदू रेजुर्ननन्दुर्विययुः समीयुः ॥ २८ ॥

भ्रेमुरित्यादि—ते पारं प्राप्य केचित् प्रदेशदर्शनोत्सुकाः भ्रेमुः भ्रान्ताः । अन्ये ववल्लुः तोषं गतवन्तः । 'उख उखि' इत्यत्र वलातिर्गतौ पथ्यते । केचिदतिहर्षात् ननृतुः । अन्ये रावणपराक्रमान् न्यक्कुर्वन्तो जजक्षुः हसितवन्तः । वृगुक्षया वा फलाच्चिं भक्षितवन्तः । 'जक्ष भक्ष-हसनयोः ।' केचित् जगुः गायन्ति स्म । केचित्समुत्पुल्लविरे उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छन्ति स्म । केचित् भ्रान्ता निषेदुः निषण्णाः । केचिदास्फोट्यांच-कुर्वयं युध्याम इति आस्फोटं कुर्वन्तिस्मोति प्यन्ताल्लिड्याम् । केचित्तोपाद-भिप्रणेदुः सुष्ठु नादितवन्तः । केचिद्रेजुः दीप्तवन्तः । केचिन्ननन्दुर्वयर्मा-दृशं कर्म कृतवन्त इति । अन्ये विययुरितस्ततो गच्छन्ति स्म । केचित्त-मीयुः एकत्र संगताः । आख्यातमालेति तिङन्तमाला ॥ २८ ॥

अथ द्वाविंशतिः सङ्कीर्णाः श्लोकाः ।

गिरिपङ्कचारुदेहं कक्कोललवङ्गवद्धसुरभिपरिमलम् ।

बहुवहलोरुतरङ्गं परिसरमारूढमुद्धरं लवणजलम् ॥ २९ ॥

गिरीत्यादि—गिरीणां प्रक्षिप्यमाणानां यः पङ्कः गैरिकादिधातुकर्मः तेन चारुदेहम् । कक्कोललवङ्गाभ्यां वद्धः सुरभिः परिमलो गन्धो यमिन् । बहवः प्रभूता बहलाः स्थूला उरवः उच्चास्तरङ्गा यस्य तदीदृशं लवणज-लम् । उद्धरम् उद्धृतं कर्तृभूतम् । परिसरं तटमारूढं सेतुना निवारित-गतित्वान् ॥ २९ ॥

लोलं कूलाऽभिगमे खे तुङ्गाऽमलनिवद्धपुरुपरिणाहम् ।

सुरगङ्गाभरणसहं गिरिवन्धवरेण लवणसलिलं रुद्धम् ॥ ३० ॥

लोलमित्यादि—कूलाभिगमे तटगमने लोलं चञ्चलम् । खे आक्रान्ते तुङ्गं च तदमलं चेति तुङ्गामलम् । निवद्धः संयुक्तः पुरुर्महान् परिणाहो यन्व । तुङ्गामलं च तन्निरूढपुरुपरिणाहं चेति । वियति आरोहपरिणा-हान्यां युक्तमित्यर्थः । सुरगङ्गायाः मन्दाकिन्याः बद्धरणं पूरणं नत्र सर्वं शक्यं वादृशं लवणजलं गिरिवन्धवरेण सेतुना रुद्धम् ॥ ३० ॥

अथ त्रयोदशभिः कुलकम् ।

आरूढं च सुवेलं तरुमालाऽऽवन्धहारिगिरिवरजालम् ।

रावणचित्तभयङ्करमापिङ्गललोलकेसरं रामबलम् ॥ ३१ ॥

आरूढमित्यादि—रामबलं तटे स्थित्वा आरूढं च सुवेलं पर्वतम् । धकान्य प्राकृते स्वरशेषता न भवति । पद्मध्यान्तयोरवर्तमानत्वान् । तरुमात्रया य आवन्धः तेन हारि मनस्तुष्टिकरं तादृशं गिरिवराणां पर्यन्तगिणोणां जालं यस्य सुवेलस्य । रावणचित्तस्य भयङ्करं रामबलम् । आपिङ्गप्रति लोलानि केसराणि यस्य तदिति ॥ ३१ ॥

लङ्काऽऽलयतुमुलाऽऽरवसुभरगभीरोरुकुञ्जकन्दरविवरम् ।

वीणारवरससङ्गमसुरगणसंकुलमहातमालच्छायम् ॥ ३२ ॥

लङ्केत्यादि—लङ्कालयानां राक्षसानां यन्तुमुलो महानारवः तेन सुभराः परिपूर्णाः गभीरोरुकुञ्जा गम्भीरमहागहनानि कन्दरविवराणि च यत्र सुवेले । वीणारवे यो रसस्तृष्णा तेन संगमः समागमो येषां सुरगणानां ते च सुरगणाश्चेति समासः । तैः संकुला व्याप्रा महातमालच्छाया यत्रेति ॥ ३२ ॥

सरसचहुपल्लवाऽऽविलकेसरहिन्तालवद्धवहलच्छायम् ।

ऐरावणमदपरिमलगन्धवहाऽऽवद्धदन्तिसंस्मरसम् ॥ ३३ ॥

सरसत्यादि—सरसाः सार्द्राः ये बहवः पल्लवाः तैराविला अन्वकारिणा ये केसरवृक्षाः हिन्तालवृक्षाश्च तैर्बद्धा बहन्ता यना छाया यत्र सुवेले । ऐरावणस्य ऐरावतस्य हस्तिनो मदपरिमलोः यस्मिन् गन्धवहे तादृशेन गन्धप्रदेन आवहो दन्तिनां दन्तिनां संस्मरसः श्रोत्ररसो यत्रेति । ऐरावण ऐरावत शयुभयमपि प्राकृते साधु ॥ ३३ ॥

कलहरिकण्ठविरावं सलिलमहाबन्धसङ्कुलमहासालम् ।

चलकिसलयसम्बद्धं मणिजालं सलिलकणमयं विवहन्तम् ॥ ३५ ॥

कलेत्यादि—कलो मनोहरः हरीणां कण्ठविरावो यत्र । सलिलस्य यो महाबन्धस्तेन संकुला महान्तः सालाः सालवृक्षा यत्र । चलकिसलयेषु संबद्ध संलग्नं सलिलकणमयं सलिलकणरूपं मणिजालं मणिसमूहमिव विवहन्तं धारयन्तम् ॥ ३५ ॥

तुङ्गमणिकिरणजालं गिरिजलसंघट्टबद्धगम्भीररवम् ।

चारुगुहाविवरसभं सुरपुरसममरचारणसुसंरावम् ॥ ३६ ॥

तुङ्गेत्यादि—तुङ्गमणीनां किरणजालं यत्रेति । गिरिजलानि निर्झरजलानि तेषां यः संघट्टः परस्परसंश्लेषस्तेन बद्धो गम्भीरो रवो यत्र । चारुगुहाविवर-मेव सभा शाला यत्र । अमरचारणानां गन्धर्वाणां गायतां शोभनः संरावो यत्र अत एवामरपुरसमम् ॥ ३६ ॥

विमलमहामणिटङ्कं सिन्दूरकलङ्कपिञ्जरमहाभित्तिम् ।

वीरहरिदन्तिसङ्गमभयरुद्धविभावरीविहारसमीहम् ॥ ३७ ॥

विमलेत्यादि—विमलमहामणीनां पद्मरागादीनां टङ्का छेदा यत्र । अत्र सिन्दूरकलङ्केन लाञ्छनेन पिञ्जरा इव महाभित्तयो यस्य । वीराणां हरीणां दन्तिनां च यः सङ्गमोऽन्योन्यगमनं तस्माद्यद्भयं तेन रुद्धा निवारिता विभावरी विहारसमीहा विहरणेच्छा यत्र ॥ ३७ ॥

समहाफणिभीमविलं भूरिविहङ्गमतुमुलोरुघोरविरावम् ।

वारणवराहहरिवरगोगणसारङ्गसंकुलमहासालम् ॥ ३८ ॥

समेत्यादि—समहाफणीन्यत एव भीमानि विलानि विवराणि यत्र । भूरीणां विहङ्गमानां तुमुलोऽनेकप्रकार उरुर्महान् घोरो रौद्रो विरावो यत्र । वारणादिभिः स्कन्वकर्षणार्थिभिः संकुला महासाला यत्र ॥ ३८ ॥

चलकिसलयसविलासं चारुमहीकमलरेणुपिञ्जरवसुधम् ।

सकुसुमकेसरवाणं लवङ्गतरुतरुणवल्लरविरहासम् ॥ ३९ ॥

चलेत्यादि—चलैः किसलयैः हस्तैरिव सविलासं प्रारब्धनृत्यम् । चारुणां महीकमलानां स्थलजानां रेणुभिः पिञ्जरा वसुधा यत्र । सकुसुमः केसराः वाणाश्च यत्र । लवङ्गतरुतरुणा या वल्लर्यः प्ररोहास्ता एव वरोहासो विकासो यत्र ॥ ३९ ॥

अमलमणिहेमदङ्कं तुङ्गमहाभित्तिरुद्धरूपङ्गमम् ।

अमराऽऽरुद्धपरिसरं मेरुमिवाऽविरलसरसमन्दारतरुम् ॥ ४० ॥

अमलेत्यादि—अमलमणीनां हेमादीनां टङ्गाश्लेधा यत्र । तुङ्गा
श्चा महती विस्तारवती या भित्तिस्तया रुद्धो रूपाणां मृगविशेषा-
णाम् पङ्कगमः पङ्केन गमनं यत्र । गमः 'प्रह्वृद्वृनिश्रिगमश्च ।३।३।५।८।'
इत्यप् । 'पङ्कगमम्' इति पाठान्तरे तु तुङ्गमहाभित्तिं रुद्धः कुटिलो गमो यत्र ।
'वकि काटिल्ये' इत्यस्य रूपम् । अमरैरारुढाः परिसरास्तटा यत्र ।
श्रविरलाः सरसा मन्दारतरवो देववृक्षा यत्र । तभिस्त्वं मेरुमिव ॥ ४० ॥

फलभरमन्थरतरुवरमविदूरविरुद्धहारिकुमुमापीडम् ।

हरिणकलङ्कमणिसंभववहुवारिसुभरगम्भीरगुहम् ॥ ४१ ॥

फलेत्यादि--फलभरेण मन्थरा ईपन्नतास्तरुवरा यत्र । अविदूरे विरुद्धा
हारिणः कुमुमापीडा यत्र । पुष्पस्तवकानां हस्तग्राह्यत्वान् । हरिणकलङ्क-
मणिः महाचन्द्रकान्तः तस्मान् संभवो यस्य बहुवारिणः तेन सुभराः परि-
पूर्णा गम्भीरा गुहा यस्य । अत्र मणिमहत्तया वारिमहत्त्वान् गम्भीरगुहा-
पूरणमिति ॥ ४१ ॥

जलकामदन्तिसंकुलसहेमरसचारुधवलकन्दरदेहम् ।

अङ्कुररोहसमच्छविरुरुगणसंलीढतरलहरिमणिकिरणम् ॥ ४२ ॥

जलेत्यादि—जलमेतदित्येवं कामदन्तिभिः संकुलाः सहेमरसाः सह हेम-
रसेन वर्तमानाः चारवः शोभनाः धवलाः कन्दरदेहाः कन्दरसन्निवेशा यत्र । रोग्णं
रोग् अङ्कुराद्रोहो यस्य शस्यस्य तेन समच्छवयन्मुल्यवर्णा रुरुगणाम्नेः
संलीढाः तरलाश्च धवलाः हरिमणिकिरणा मरकतमयूष्या यत्र ॥ ४२ ॥

गाढसमीरणमुसहं भीमरवोत्तुङ्गवारिधरसङ्घट्टम् ।

धवलजलवाहमालासम्बद्धावद्दहिमधराधरलीलम् ॥ ४३ ॥

गाढेत्यादि—गाढो महान् यः समारणः तं मुसहत इति मूल्याविभुजा-
दित्यात्कः । भीमरवान्तुङ्गा ये वारिधरान्तेषां संवद्रो यत्र । धवला ये
जलवाहास्तेषां मालाया यत्सम्बद्धं तन्ध्वन्यः । संध्वन्यं सम्यद्धं 'नपुंसके
भावे क्तः ।३।३।१६३।' इति भावे क्तः, तेन करणभूतंन श्रावद्धा अनुकृता
दिमधराधरस्य हिमवतो धराधरस्य लीला विभ्रनो येन तं सुबद्धं श्रावद्धम् ॥ ४३ ॥

रामवलं कीदृशमित्याह—

लवणजलबन्धसरसं तरुफलसंपत्तिरुद्धदेहायासम् ।

लङ्कातोरणवारणमारूढं समरलालसं रामवलम् ॥ ४४ ॥

लवणेत्यादि—लवणजलबन्धाद्धेतोः सरसं सहर्षम् । तरुफलसंपत्त्या रुद्धो-
ऽपनीतः देहायासः क्षुत्पीडा यस्य । लङ्कातोरणस्य वारणं निषेधकम् ।
आलोलं चञ्चलं समरलालसं रणसतृष्णं रामवलं तं सुवेलमारूढीमिति
पूर्वेण योज्यम् ॥ ४४ ॥

तस्मिन्नारूढे परवलं सन्नद्धमित्थं प्रवृत्तमित्यर्थः । इत्थं कथं तदाह
गुरुपणवेत्यादिना—

अथ त्रिभिर्विशेषकम् ।

गुरुपणववेणुगुञ्जाभेरीपेलोरुझल्लरीभीमरवम् ।

ढक्काघण्टातुमुलं सन्नद्धं परवलं रणयाससहम् ॥ ४५ ॥

गुर्वित्यादि—गुरुपणवादीनां भीमो रवो यस्मिन् परवले तत्र । गुरुपणवो
महान् पणवः । पणवो ढक्का पेला वाद्यविशेषः । उरुझल्लरी महीती
झल्लरी (झांझ) इति ख्यातो वाद्यविशेषः । ढक्काघण्टयोस्तुमुलः संमूर्च्छितः
शब्दो यत्रेति । रणयाससहं रणक्लेशसहम् ॥ ४५ ॥

आरूढवाणघोरं विमलायसजालगूढपीवरदेहम् ।

चञ्चलतुरङ्गवारणसंघट्टावद्धचारुपरिणाहगुणम् ॥ ४६ ॥

आरूढेत्यादि—धनुषि आरूढवाणत्वान् घोरं परवलम् । विमलेनाय-
सजालेन वर्मणा गूढश्छन्नः पीवरः स्थूलो देहो यस्य । चञ्चलानां तुरङ्गानां
वारणानां च यः परस्परसंघट्टः श्लेषर्णं तेनावद्धश्चारुः परिणाहगुणः विस्मय-
प्रदं गुणो यस्य तत्परवलं सन्नद्धम् ॥ ४६ ॥

असितोमरकुन्तमहापट्टिशभल्लवरवाणगुरुपुरुमुसलम् ।

वीररसालङ्कारं गुरुसञ्चारहयदन्तिसमहीकम्पम् ॥ ४७ ॥

असितेत्यादि—अस्यादीनां वरवाणपर्यन्तानां द्वन्द्वः । तैरस्यादिभिः गुरु-
धनभिभवनीयं पुरु महन्मुसलं यत्र । अस्यादिगुरु च तन् पुरु मुसलं चैत-
समासः । वीररस एवालङ्कारो यस्य । गुरुः सञ्चारो येषां हयदन्तिनां म्हा-
यत्वान् तैः समहीकम्पं सह महीकम्पेन वर्तमानं परवलं सन्नद्धम् ॥ ४७ ॥

ते रामेण सरभसं परितरला हरिगणा रणसमारम्भे ।

रुद्धा लङ्कापरिसरभूधरपरिभङ्गलालसा धीररवम् ॥ ४८ ॥

ते इत्यादि—ने हरिगणाः कपिगणाः रणसमारम्भे रणप्रवर्तननिमित्तं सरभसं नभ्रमपूर्वकं परितरलाः स्थातुमशक्नुवन्तः । लङ्कापरिसरे लङ्कानमीपे ये भूधराः तरवः तेषां परिभङ्गे चूर्णने लालसाः सत्पृष्णाः सन्तो रामेण रुद्धाः प्रतिपिद्धाः सा भाङ्गुरिति । धीररवं धीरो रवो यस्यां प्रीतिपेधनक्रियायामिति ॥ ४८ ॥

अथ द्वाभ्यां युग्मकम्—

जलतीरतुङ्गतरुधरकन्दरगिरिभित्तिविवराऽऽवासम् ।

भीमं तरुहरिणवलं मुसमिद्धहिमारिकिरणमालालोलम् ॥ ४९ ॥

जलेत्यादि—तरुहरिणवलं कपिवलं निपिद्धं सन् भीमं भयानकं जलतीरार्धरावासो यस्य तन् मुसमिद्धस्य हिमारेरेरादिन्यस्य वा या किरणमाला तद्दोलं समारूढमिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ॥ ४९ ॥

रावणवलमवगन्तुं जलभरगुरुसालिलवाहगणसमच्छायम् ।

अट्टतरुमध्वमन्दिरतोरणमालासभामु समारूढम् ॥ ५० ॥

इति महावैयाकरणभट्टि-प्रणीते रामचरिते काव्ये

प्रसन्नकाण्डे भाषासमावेशो नाम चतुर्थः

परिच्छेदस्त्रयोदशः सर्गः ।

रावणेत्यादि—रावणवलमवगन्तुं कटिप्रमिति जलभरणे गुरुयः सालिलवाहगणो जलधरसमूहः तेन समच्छायम् तुल्यच्छायम् अट्टदिपु समारूढम् ॥ ५० ॥

इति श्रीजयमङ्गलसूरिविरचितया श्रीजयमङ्गलादयया व्याख्याया

समलङ्किते श्री भट्टिप्रणीते रामचरिते तृतीये प्रसन्नकाण्डे लक्षण-

रूपे चतुर्थः परिच्छेदः तथा लक्ष्यरूपे प्रधाने 'सिद्धवन्तः'

नाम त्रयोदशः सर्गः ।

रामवलं कीदृशमित्याह—

लवणजलबन्धसरसं तरुफलसंपत्तिरुद्धदेहायासम् ।

लङ्कातोरणवारणमारूढं समरलालसं रामबलम् ॥ ४४ ॥

लवणेत्यादि—लवणजलबन्धोद्धेतोः सरसं सहर्षम् । तरुफलसंपत्त्या रुद्धो-
ऽपनीतः देहायासः क्षुत्पीडा यस्य । लङ्कातोरणस्य वारणं निषेधकम् ।
आलोलं चञ्चलं समरलालसं रणसतृष्णं रामवलं तं सुवेलमारूढीमिति
पूर्वेण योज्यम् ॥ ४४ ॥

तस्मिन्नारूढे परवलं सन्नद्धमित्थं प्रवृत्तमित्यर्थः । इत्थं कथं तदाह
गुरुपणवेत्यादिना—

अथ त्रिभिर्विशेषकम् ।

गुरुपणवेषुगुञ्जाभेरीपेलोरुञ्जलरीभीमरवम् ।

ढक्काघण्टातुमुलं सन्नद्धं परवलं रणायाससहम् ॥ ४५ ॥

गुर्वित्यादि—गुरुपणवादीनां भीमो रवो यस्मिन् परवले तत्र । गुरुपणवो
सहान् पणवः । पणवो ढक्का पेला वाद्यविशेषः । उरुञ्जलरी महती
झङ्गरी (झांझ) इति ख्यातो वाद्यविशेषः । ढक्काघण्टयोस्तुमुलः संमूर्च्छितः
शब्दो यत्रेति । रणायाससहं रणक्लेशसहम् ॥ ४५ ॥

आरूढवाणघोरं विमलायसजालगूढपीवरदेहम् ।

चञ्चलतुरङ्गवारणसंघट्टावद्धचारुपरिणाहगुणम् ॥ ४६ ॥

आरूढेत्यादि—धनुषि आरूढवाणत्वात् घोरं परवलम् । विमलेनाय-
सजालेन वर्मणा गूढश्छन्नः पीवरः स्थूलो देहो यस्य । चञ्चलानां तुरङ्गानां
वारणानां च यः परस्परसंघट्टः श्लेषणं तेनावद्धश्चारुः परिणाहगुणः विनार
एव गुणो यस्य तत्परवलं सन्नद्धम् ॥ ४६ ॥

असितोमरकुन्तमहापाट्टिशभल्लवरवाणगुरुपुरुमुसलम् ।

वीररसालङ्कारं गुरुसञ्चारहयदन्तिसमहीकम्पम् ॥ ४७ ॥

असितेत्यादि—अस्यादीनां वरवाणपर्यन्तानां द्वन्द्वः । तैरस्यादिभिः पु-
त्रनभिभवनीयं पुरु महन्मुसलं यत्र । अस्यादिगुरु च तन् पुरु मुसलं चेति
समासः । वीररस एवालङ्कारो यस्य । गुरुः संचारो येषां हयदन्तिनां महा-
यत्त्वान् तैः समहीकम्पं सह महीकम्पेन वर्तमानं परवलं सन्नद्धम् ॥ ४७ ॥

ते रामेण सरभसं परितरला हरिगणा रणसमारम्भे ।

रुद्धा लङ्कापरिसरभूधरपरिभङ्गलालसा धीररवम् ॥ ४८ ॥

ते इत्यादि—ते हरिगणाः कपिगणाः रणसमारम्भे रणप्रवर्तननिमित्तं सरभसं संभ्रमपूर्वकं परितरलाः स्थातुमशक्नुवन्तः । लङ्कापरिसरे लङ्का-
नमीषे ये भूधराः तरवः तेषां परिभङ्गे चूर्णते लालसाः सतृष्णाः सन्तो
रामेण रुद्धाः प्रतिषिद्धाः मा भाङ्गुरिति । धीररवं धीरो रवो यस्यां
प्रतिषेधनक्रियायामिति ॥ ४८ ॥

अथ द्वाभ्यां युग्मकम्—

जलतीरनुङ्गतरुधरकन्दरगिरिभित्तिविवराऽऽवासम् ।

भीमं तरुहरिणवलं मुसमिद्धहिमारिकिरणमालालोलम् ॥ ४९ ॥

जलेत्यादि—तरुहरिणवलं कपिवलं निषिद्धं सन् भीमं भयानकं जलती-
राधरावासो यस्य तन् मुसमिद्धस्य हिमारेरमेरादित्यस्य वा या किरणमाला
तद्गोलं नमारूढमिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ॥ ॥ ४९ ॥

रावणवलमवगन्तुं जलभरगुरुसलिलवाहगणसमच्छायम् ।

अट्टतरुमञ्चमन्दिरतोरणमालासभामु समारूढम् ॥ ५० ॥

इति महावैयाकरणभट्टि-प्रणीते रामचरिते काव्ये

प्रसन्नकाण्डे भाषासमावेशो नाम चतुर्थः

परिच्छेदस्रयोदशः सर्गः ।

रावणेत्यादि—रावणवलमवगन्तुं कीदृशमिति जलभरेण गुण्यः
सलिलवाहगणो जलधरसमूहः तेन समच्छायम् तुल्यच्छायम् अट्टादिपु
समारूढम् ॥ ५० ॥

इति श्रीजयमङ्गलसूरिविरचितया श्रीजयमङ्गलद्वयया व्याख्याया
समलंकृते श्री भट्टिप्रणीते रामचरिते कृतौ प्रसन्नकाण्डे लक्षण-
रूपे चतुर्थः परिच्छेदः तथा लक्ष्यरूपे अष्टादशे 'मिन्दुवन्धन'
नाम त्रयोदशः सर्गः ।

रामवलं कीदृशमित्याह—

लवणजलबन्धसरसं तरुफलसंपत्तिरुद्धदेहायासम् ।

लङ्कातोरणवारणमारूढं समरलालसं रामवलम् ॥ ४४ ॥

लवणेत्यादि—लवणजलबन्धाद्धेतोः सरसं सहर्षम् । तरुफलसंपत्त्या रुद्धं
ऽपनीतः देहायासः क्षुत्पीडा यस्य । लङ्कातोरणस्य वारणं निषेधकम्
आलोलं चञ्चलं समरलालसं रणसतृष्णं रामवलं तं सुवेलमारूढीर्मा
पूर्वेण योज्यम् ॥ ४४ ॥

तस्मिन्नारूढे परवलं सन्नद्धमित्थं प्रवृत्तमित्यर्थः । इत्थं कथं तदा
गुरुपणवेत्यादिना—

अथ त्रिभिर्विशेषकम् ।

गुरुपणवेषुगुञ्जाभेरीपेलोरुझहरीभीमरवम् ।

ढक्काघण्टातुमुलं सन्नद्धं परवलं रणायाससहम् ॥ ४५ ॥

गुर्वित्यादि—गुरुपणवादीनां भीमो रवो यस्मिन् परवले तत्र । गुरुपणवो
महान् पणवः । पणवो ढक्का पेला वाद्यविशेषः । उरुझहरी महत्
झहरी (झांझ) इति ख्यातो वाद्यविशेषः । ढक्काघण्टयोस्तुमुलः संमूर्च्छित
शब्दो यत्रेति । रणायाससहं रणक्लेशसहम् ॥ ४५ ॥

आरूढवाणघोरं विमलायसजालगूढपीवरदेहम् ।

चञ्चलतुरङ्गवारणसंघट्टावद्धचारुपरिणाहगुणम् ॥ ४६ ॥

आरूढेत्यादि—धनुषि आरूढवाणत्वान् घोरं परवलम् । विमलेनाय-
सजालेन वर्मणा गूढश्छन्नः पीवरः स्थूलो देहो यस्य । चञ्चलानां तुरङ्गानां
वारणानां च यः परस्परसंघट्टः श्लेषणं तेनावद्धश्चारुः परिणाहगुणः विन्ना
एव गुणो यस्य तत्परवलं सन्नद्धम् ॥ ४६ ॥

असितोमरकुन्तमहापाट्टिशभल्लवरवाणगुरुपुरुमुसलम् ।

वीररसालङ्कारं गुरुसञ्चारहयदन्तिसमहीकम्पम् ॥ ४७ ॥

असितेत्यादि—अस्यादीनां वरवाणपर्यन्तानां द्वन्द्वः । तैरम्यादिभिः गुरु
अनभिभवनीयं पुरु महन्मुसलं यत्र । अस्यादिगुरु च तन् पुरु मुसलं चेति
समासः । वीररस एवालङ्कारो यस्य । गुरुः संचारो येषां हयदन्तिनां महाहा-
यत्वान् तैः समहीकम्पं सह मदीकम्पेन वर्तमानं परवलं सन्नद्धम् ॥ ४७ ॥

ते रामेण सरभसं परितरला हरिगणा रणसमारम्भे ।

रुद्धा लङ्कापरिसरभूधरपरिभङ्गलालसा धीररवम् ॥ ४८ ॥

ते इत्यादि—ते हरिगणाः कपिगणाः रणसमारम्भे रणप्रवर्तननिमित्तं सरभसं मध्रमपूर्वकं परितरलाः न्यातुमशक्नुवन्तः । लङ्कापरिसरे लङ्कानर्मापे ये भूधराः तरवः तेषां परिभङ्गे चूर्णने लालसाः सतृष्णाः सन्तो गमेण रुद्धाः प्रतिपिद्धाः मा भाङ्गञ्चुरिति । धीररवं धीरो रवो चस्यां प्रतिपेधनक्रियायामिति ॥ ४८ ॥

अथ द्वाभ्यां युग्मकम्—

जलतीरतुङ्गतरुधरकन्दरगिरिभित्तिविवराऽऽवासम् ।

भीमं तरुहरिणवलं मुसमिद्धहिमारिकिरणमालालोलम् ॥ ४९ ॥

जलेत्यादि—तरुहरिणवलं कपिवलं निपिद्धं सन् भीमं भयानकं जलतीराधारवासो यस्य तन् मुसमिद्धस्य हिमारेखेरादित्यस्य वा या किरणमाला तद्दण्डं समारूढमिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ॥ ॥ ४९ ॥

रावणवलमवगन्तुं जलभरगुरुसालिलवाहगणसमच्छायम् ।

अट्टतरुमञ्चमन्दिरतोरणमालासभासु समासूढम् ॥ ५० ॥

इति महावैयाकरणभट्टि-प्रणीते रामचरिते काव्ये

प्रसन्नकाण्डे भाषासमावेशो नाम चतुर्थः

परिच्छेदस्त्रयोदशः सर्गः ।

रावणेत्यादि—रावणवलमवगन्तुं कर्तुमिति जलभरणेन गुरुः सालिलवाहगणो जलधरसमूहः तेन समच्छायम् तुल्यच्छायम् अट्टतरुसमासूढम् ॥ ५० ॥

चतुर्दशः सर्गः ।

सुप्तिङ्ब्युत्पत्तौ यत्सौष्टवं तदपि काव्यस्याङ्गमुक्तम् । अतः प्रसन्नकाण्डानन्तरं तिङ्काण्डं शब्दलक्षणप्रयोगार्थं कथ्यते । तत्र लस्य स्थाने तिवादयः । लकाराश्च नव लेटश्छन्दोविषयत्वादिति । अत्र नव विलसितानि । विलसितं च नानारूपता । तत्र भूतार्थवतो लिटोऽधिकृत्य तद्विलसितमाह--

ततो दशाऽऽस्यः स्मरविह्वलाऽऽत्मा चारप्रकाशीकृतशत्रुशक्तिः ।

विमोह्य मायामयराममूर्ध्ना सीतामनीकं प्रजिघाय योद्धुम् ॥ १ ॥

तत इत्यादि—ततः स्वपरवलयो रणादुत्तरकालं दशास्यः स्मरविह्वलात्मा कामवशीकृतदेहः भर्तारि निराशा सती सीता ममानुकूला भविष्यतीति मायामयेन मायास्वभावेन राममूर्ध्ना छिन्नेन सीतां विमोह्य मोहयित्वा चारैः प्रणिधिभिः प्रकाशीकृता शत्रुशक्तिः वैरिसामर्थ्यं यस्मै । योद्धुमनीकं सैन्यं प्रजिघाय प्रहितवान् । 'हेरचाडि ७।३।५६।' इति कुत्वम् । भूतानद्यतनपरोक्षे सर्वत्र लिट् ॥ १ ॥

कम्बूनथ समादध्मुः कोणैर्भेयों निजन्निरे ।

वेणून्पुपूरिरे गुञ्जा जुगुञ्जुः करघट्टिताः ॥ २ ॥

कम्बूनित्यादि---अथ सैन्यप्रेषणानन्तरं कम्बून् समादध्मुः शब्दितवन्तः शब्दिकाः । कोणैर्वाद्यवादनैः काष्ठमयैः भेयों निजन्निरे ताडिताः कर्मणि लिट् । वेणून् वंशान् पुपूरिरे मुखमरुता पूरितवन्तः । 'पूरी आप्यायने' इति देवादिकोऽनुदात्तेन् । गुञ्जाः समरवादनाः करघट्टिताः अङ्गुलिघृष्टा जुगुञ्जुः शब्दितवत्यः । 'गुञ्जि अव्यक्ते शब्दे' ॥ २ ॥

वाद्याञ्चक्रिरे ढक्काः पणवा दध्वनुर्हताः ।

काहलाः पूरयाञ्चक्रुः पूर्णाः पेराश्च सस्वनुः ॥ ३ ॥

वाद्यामित्यादि---ढक्का वाद्याञ्चक्रिरे वादितवन्तः । ढक्कावाद्का इत्यर्थः । वदेहेतुमण्यन्तान् आभि 'अयामन्तास्वाय्येन्विष्णुषु । ६।१।५५।' इत्ययादेशः । 'आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य । १ । ३ । ६३ ।' इति कृञोऽनुप्रयोगस्यात्मनेपदम् । 'पिचश्च । १।३।७१।' इति आम्प्रत्ययादात्मनेपदस्य विहित्वान् । पणवाः वाद्यविशेषाः हताः पाणविक्रान्ताडिताः दध्वनुर्ध्वनिताः । काहलाः गोशृङ्गसंस्थानाः । पूरयाञ्चक्रुः पूरितवन्तः । 'पूरी आप्यायने' इति

र्वागादिकस्य रूपम् । पेटाः खरमुखाकाराः पूर्णा मुखमरुता सस्वनुः । 'फणां च सप्रानाम् । ६ । ४ । १२५ ।' इति लिटि एत्वविधानस्य विकल्पितत्वात् नन्वयम् ॥ ३ ॥

मृदङ्गा धीरमास्वेनुहंतैः स्वेने च गोमुखैः ।

घण्टाः शिशिञ्जिरे दीर्घं जहादे पटहैर्भृशम् ॥ ४ ॥

मृदङ्गा इत्यादि—मृदङ्गा मुरजाः धीरम् आन्वनुः गम्भीरं ध्वनिताः । एत्व-पत्रे रूपम् । गोमुखैर्वाद्यविशेषैः हंतैः स्वेने शब्दितम् । भावे लिट् । घण्टाः दीर्घं शिशिञ्जिरे पट्टैः शब्दितवत्यः । पट्टहैर्भृशमस्यर्थम् । जहादे शब्दितम् । भावे लिट् ॥ ४ ॥

हया जिहेपिरे हर्षाद्गम्भीरं जगजुर्गजाः ।

संत्रस्ताः करभा रेटुञ्चुकुवुः पत्तिपद्भ्यः ॥ ५ ॥

हया इत्यादि—हया अश्वः हर्षान् जिहेपिरे हेषितवन्तः । 'हेपृ अद्यत्ते शब्दे' भावादिकोऽनुदात्तेन । अभ्यासस्य 'ह्रस्वः । ७ । ४ । १२५ ।' इति एत शब्दवति । गजा गम्भीरं मन्त्रं जगजुः गर्जितवन्तः । 'गज गृजी शब्दा-र्थौ ।' करभा उष्ट्राः संत्रस्ताः नानावादित्रश्रवणान् । रेटुः शब्दं कृतवन्तः । 'रट परिभाषणे' इति शब्दार्थः । पत्तिपद्भ्यः पदानिसंहतयः चुकुवुः शब्दित-वत्यः । गच्छत किं तिष्ठथेति । 'कृ शब्दे' इत्युदात्तेन ॥ ५ ॥

जगज्जुरित्यादि—शूरा जगर्जुः । अस्माभिर्वृष्टाः शराः क यास्यन्तीति शब्दितवन्तः । तथा जहृषुः तुष्टाः चिरमायातः समर इति । 'हृष तुष्टौ ।' अ एत्र रेजुः शोभन्ते स्म । 'फणां च सप्तानाम् । ६ । ४ । १२५ ।' इत्येत्वाभ्यासलोपौ । परैरन्यैस्तुष्टुविरे स्तुताः । भवतामग्रतः समरे के तिष्ठन्तीति अङ्गुलित्राणि ववन्धुः वध्नन्ति स्म । 'वन्ध वन्धने ।' तथा पं सन्नेहुः कवचानि वध्नन्ति स्म । 'णह वन्धने' । परिनिर्ययुः निष्क्रान्ताः ॥ ७ ॥

धनूंष्यारोपयाञ्चक्रुरारुरुहू रथादिषु ।

असीनुद्ववृहुर्दीप्तान् गुर्वीरुञ्चिक्षिपुर्गदाः ॥ ८ ॥

धनूंषीत्यादि—धनूंषिः आरोपयाञ्चक्रुः आरोपितगुणानि कृतवन्तः । 'रुह पोऽन्यतरत्याम् । ७ । ३ । ४३ ।' इति णौ पादेशः । आरुरुहुरारोहन्ति स्म रथादिषु । द्वितीया न कृता । अधिकरणत्वेन विवक्षितत्वात् । दीप्तान्निष्कलान् नसीन् उद्ववृहुः कोशादाकृष्य उद्यतान् कृतवन्तः । 'वृहू उद्यमने ।' गुर्वीर्गद उञ्चिक्षिपुः उत्क्षिप्तवन्तः ॥ ८ ॥

शूलानि भ्रामयाञ्चक्रुर्वाणानाददिरे शुभान् ।

भ्रेमुश्चुकूर्दिरे रेसुर्वल्गुश्च पदातयः ॥ ९ ॥

शूलानीत्यादि—शूलानि भ्रमयाञ्चक्रुः भ्रमयन्ति स्म । मान्तत्वान्मित्वे ह्रस्वत्वम् । वाणान् शुभान् युद्धयोग्यानाददिरे गृहीतवन्तः । 'आडो दोऽनास्यविहरणे । १ । ३ । २० ।' इति तङ् । पदातयश्च भ्रेमुः इतस्ततो याताः । चुकूर्दिरे शस्त्रपाणयः क्रीडितवन्तः । 'कुर्दं खुर्दं गुर्दं गुदं क्रीडायामेव ।' 'उपधायां च । ८ । २ । ७८ ।' इति दीर्घः । रेसुः भयकृते निनादान् कृतवन्तः । 'रस शब्दे ।' ववल्गुः प्रप्लुताः । वल्गतिः 'उख उखि' इत्यादां पठथते ॥ ९ ॥

समुत्पेतुः कशाघातै रश्म्याकर्षर्ममङ्गिरे ।

अश्वाः प्रदुद्रुवुर्मोक्षे रक्तं निजगरुः श्रमे ॥ १० ॥

समुत्पेतुरित्यादि—कशाघातैः चर्मलताप्रहारैः अश्वाः समुत्पेतुः उपप्लुताः । रश्म्याकर्षैः प्रप्रहाकर्षणैः ममङ्गिरे शोभन्ते स्म । सङ्कोचिनवांगत्वात् । 'मणि मण्डने ।' मोक्षे रश्मिनां प्रसारणे प्रदुद्रुवुः वेगान गताः । श्रमे साति खलीनप्रभवं रक्तं निजगरुः पतितवन्तः । 'ग निगरणे ।' 'ऋच्छन्त्युताम् । ७ । ४ । ११ ।' इति गुणः ॥ १० ॥

गजानां प्रदद्दुः शार्ङ्गान् कम्बलान् परितस्तरुः ।

तेतुः कक्षां ध्वजांश्च समुच्छ्रियुरुच्छ्रिखान् ॥ ११ ॥

गजानामित्यादि—गजानां शार्ङ्गान् प्रदद्दुः । पृष्टेषु आरोपितवन्तो हस्ति-
पक्षा इत्यर्थान् । तथा कम्बलान् नानावर्णविचित्रान् परितस्तरुः आस्तीर्ण-
वन्तः । कक्षां हेमादिमर्यां तेतुः विस्तारितवन्तः । उच्छ्रिखान् उद्धृतशिखान्
ध्वजान् समुच्छ्रियुः उच्छ्रिप्रवन्तः ॥ ११ ॥

विशिश्वासयिपाश्चक्रुर्गालिलिङ्गुश्च योषितः ।

आजघ्नुर्मूर्ध्नि बालांश्च चुचुम्बुश्च सुतप्रियाः ॥ १२ ॥

विशिश्वासयिपाश्चक्रुर्गालिलिङ्गुश्च योषितः आत्मीयान् विशिश्वासयिपा-
श्चक्रुः विश्वासयितुमिष्टवन्तः । मन्वन्वथा न भवनीयमिति । प्यन्तात्सन्नन्तम्य
रूपम् । आलिलिङ्गुश्च श्लिष्यन्ति ग्म । लिगिर्गत्यर्थः । आङ्पूर्वः परिष्वङ्गे
वर्तते । बालान् शिशून् आजघ्नुः शिरसि आघ्रातवन्तः । तथा चुचुम्बुश्च
चुम्बितवन्तः । सुतप्रियाः सुताः प्रियाः यासामिति ॥ १२ ॥

गम्भीरवेदिनः सञ्ज्ञा गजा जगृहुरक्षताः ।

ववृधे शुशुभे चैपां मदो हृष्टश्च च पुप्लुवे ॥ १३ ॥

गम्भीरवेदिन इत्यादि—ये गजा मत्तत्वाद्भङ्गुर्दंष्ट्रमाहता गम्भीरं विन्दन्ति
ये गम्भीरवेदिनः तस्मिन् काले संज्ञां युद्धोपयिषीर्जगृहूः गृहीतवन्तः ।
वधनास्तोधाद्भङ्गुर्दंष्ट्रमाहताः सन्तः । हृष्टश्च गर्जः पुप्लुवं प्लुतम् । भावे लिट् ।
एपां देपां मदो ववृधे वर्धते ग्म । शुशुभे च गोभने ग्म ॥ १३ ॥

मृगाः प्रदक्षिणं सस्युः शिवाः सम्यग्वाशिरे ।

अवाभैः पुरफुरे देहैः प्रसेदं चित्तवृत्तिभिः ॥ १४ ॥

मृगा इत्यादि—एवं संसृष्ट चलनां मृगाः दक्षिणपार्श्वेन गताः वामपार्श्व-
स्थाः शिवाः सम्यग्वाशिरेः शक्तिवन्त्य इत्यर्थः । 'वाशु शब्दे ।' अवाभैर्द-
क्षिणैर्देहैर्भुजादिभिः पुरफुरे स्फुरितम् । भावे लिट् । चित्तवृत्तिभिर्मनोवृत्तिभिः
प्रसेदं प्रसन्नम् । पूर्ववत्सेदेर्भावे लिट् ॥ १४ ॥

प्राच्यमाञ्जिहिषाश्चक्रे प्रहस्ता गवयाज्ञया ।

द्वारं ररह्नुर्याम्यं महापार्श्वमहोदरं ॥ १५ ॥

प्राच्यमित्यादि—एवं कुम्भनिचितोत्साहितः प्रहस्तैः गवयाज्ञया प्राच्यं
प्राचि भवं पूर्वद्वारम् । 'प्रागपानुद्वन्द्वत्वात्' इति । १ । २ । ११० । इति

यत् । आञ्जिहिषाञ्चके गन्तुमिष्टवान् । 'अहि गैता' इत्यस्योनुदात्ततः सनीट् । 'अजादेद्वितीयस्य । ६ । १ । २ ।' इति द्विर्वचनम् । 'न न्द्राः संयोगोदयः । ६ । १ । ३ ।' इति नकारो न द्विरुच्यते । 'आम्प्रत्ययवत् कृचोऽनुप्रयोगस्य । १ । ३ । ६३ । इत्यात्मनेपदम् । तथा महापार्श्वमहोदरौ राक्षसौ याम्यं द्वारं दक्षिणम् । यमो देवता अस्येति 'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्यः । ४ । १ । ८५ ।' इत्यत्र 'यमाञ्चेति वक्तव्यम्' इति उक्तम् तेन प्राग्दीव्यतीयेऽर्थे ण्यप्रत्ययः । ररङ्गतुः गतौ । 'राधि गतौ' इत्यस्य रूपम् ॥ १५ ॥

प्रययाविन्द्रजित् प्रत्यगियाय स्वयमुत्तरम् ।

समध्यसिसिषाञ्चके विरूपाक्षः पुरोदरम् ॥ १६ ॥

प्रययादित्यादि—प्रत्यक् पश्चिमद्वारम् इन्द्रजित् प्रययौ गतवान् । प्रत्यागिति 'दिक्छन्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः । ५ । ३ । २७ ।' इति विहितस्यास्तातेः 'अञ्चेलुक् । ५ । ३ । ३० ।' भसंज्ञाभावात् 'अचः । ६ । ४ । १३८ ।' इत्यकारलोपो निर्वर्तते । 'चौ । ६ । ३ । १३८ ।' इति दीर्घत्वं च । स्वयामिति रावण उत्तरद्वारमियाय गतः । विरूपाक्षो राक्षसः पुरोदरं पुरमध्यं समध्यासिसिषाञ्चके समध्यासितुमिष्टवान् । आस्तेरनुदात्ततः सनि इति अजादित्वाद्विर्तायस्य द्वित्वम् । 'पूर्ववत्सनः । १ । ३ । ६२ ।' इत्यात्मनेपदम् । अनुप्रयोगस्याप्यात्मनेपदम् ॥ १६ ॥

शुश्राव रामस्तत्सर्वं प्रतस्थे च ससैनिकः ।

विस्फारयाञ्चकाराऽस्त्रं वचन्धाऽयं च वाणधीः ॥ १७ ॥

शुश्रावेत्यादि--अथानन्तरं रामस्तत्सर्वं रावणचेष्टितं शुश्राव श्रुनवान् । प्रतस्थे च गन्तुं प्रवृत्तः । 'समवप्रविभ्यः स्थः । १ । ३ । २२ ।' इति वङ् । ससैनिकः सह योर्वः । सेनायां समवेता इति 'सेनाया वा । १ । १ । ४५ ।' इति पक्षे ठक् । अस्त्रं धनुर्विस्फारयाञ्चकार आरोप्याकृष्टवान् । म्फुरतेः । 'चिस्फुरोर्णौ । ६ । १ । ५४ ।' इत्यात्वम् । वचन्व च वाणधी नृणीरे वप्राति स्म । वाणा धीयन्तेऽत्रेति । 'कर्मण्यधिकरणे च । ३ । ३ । ९३ ।' इति किः ॥ १७ ॥

ईक्षाञ्चकेऽयं सौमित्रिमनुजज्ञौ बलानि च ।

नमश्चकार देवेभ्यः पर्णतल्पं मुमोच च ॥ १८ ॥

ईक्षामित्यादि—सौमित्रिं च युद्धाय ईक्षाञ्चक्रे दृष्टवान् । ईक्षेरनुदात्तेतः । जादेश्चगुरुमतोऽनुच्छः । ३।१।३६।' इत्याम् । बलानि च अनुजज्ञे नुज्ञातवान् । अनुपूर्वो जानातिरनुज्ञाने वर्तते तस्य परस्मैपदित्वात् । 'अनुजज्ञे' ते पाठश्चिन्त्यः । न च 'अनुपसर्गाज्ज्ञः । १।३।७६।' इति वचनादात्मने-
 म्, उपसर्गेण युक्तत्वात् । नमश्चकार देवेभ्यः । नमःशब्दयोगे चतुर्थी । पितृपं पर्णशयनीयं मुमोच मुक्तवान् ॥ १८ ॥

चकासाञ्चक्रुरुत्तस्थुर्नेदुरानशिरे दिशः ।

वानरा भूधरान् रेधुर्वभञ्जुश्च ततस्तरुन् ॥ १९ ॥

चकासाञ्चक्रुरित्यादि—ततोऽनुज्ञानानन्तरं वानरा उत्तस्थुः उत्थिताः । दुः शब्दितवन्तः । दिश आनशिरे व्याप्ताः । 'अश्रोतेश्च । ७।४।७२।' लभ्यासस्य नुद् । 'अत आदेः । ७।४।७०।' इति दीर्घत्वम् । भूधरान् वर्तान् रेधुः उन्मूलितवन्तः । 'राधो हिंसायाम् । ६।४।१२३।' इत्येत्वाभ्यास-
 प्रेपः । तरुंश्च षभञ्जुः भग्नवन्तः । एवं च ते चकासाञ्चक्रुः शोभन्ते स्म । कास्यनेकाब्जहणकर्तव्यम्' इत्याम् ॥ १९ ॥

अथ श्लोकद्वयं राघवयोर्ब्रह्मास्त्रवन्धसूचनार्थमनिमित्तदर्शनम् ।

ददाल भूर्नभो रक्तं गोष्पदप्रं ववर्ष च ।

मृगाः प्रसप्तपूर्वामं खगाश्चुकुविरेऽशुभान् ॥ २० ॥

ददालेत्यादि—भूर्ददाल विदीर्णा । नभश्च रक्तं राधिरं ववर्ष वृष्टवत् । लिटः पत्त्वादकित्वे धातोर्गुणः । कियत्प्रमाणं गोष्पदप्रं यावता गोष्पदं पूर्यते । 'वर्ष-
 माण ऊलोपश्चास्यान्यतरस्याम् । ३।४।३२।' इति णमुल् ऊलोपश्च । मृगाः । सप्तपूर्वामं वामपार्श्वेन गता इत्यर्थः । खगाः । पक्षिणोऽशुभान् अनिष्टांश्चुकु-
 वेरे शब्दितवन्तः । 'कुङ् शब्दे ।' अशुभमिति पाठान्तरम् । तत्र क्रिया-
 वेशेषणं वेदितव्यम् ॥ २० ॥

उल्का ददृशिरे दीप्ता रुरुवुश्चाशिवं शिवाः ।

चक्ष्माये च मही रामः शशङ्के चाशुभागमम् ॥ २१ ॥

उल्का इत्यादि—दीप्ता उल्का ददृशिरे दृष्टाः । अशिवम् अनिष्टं शिवा गोमायवः रुरुवुः शब्दितवन्तः । मही च चक्ष्माये कम्पिता । 'क्ष्मायी विधूनने' इत्यनुदात्तेत् । रामश्चाशुभागमनिष्टप्राप्तिं शशङ्के शङ्कते स्म । चेतसः पर्याकुलत्वात् इदमप्यनिष्टमेव ॥ २१ ॥

रावणः शुश्रुवाञ्छत्रून् राक्षसानभ्युपेयुषः ।

स्वयं युयुत्सयाञ्चक्रे प्राकाराग्रे निषेदिवान् ॥ २२ ॥

रावण इत्यादि—राक्षसानभ्युपेयुषोऽभिमुखमुपगतवन्तो ये शत्रवं रामादयस्तान् रावणः शुश्रुवान् । स्वयं च प्राकाराग्रे निषेदिवान् निषण्ण सन् । 'भाषायां सदवसश्रुवः । ३।२।१०८।' इति कसुः । युयुत्सयाञ्चक्रे योद्धुमिच्छन्तं प्रयोजितवानित्यर्थः । सन्नन्तण्यन्तस्य रूपम् ॥ २२ ॥

निरासू राक्षसा वाणान् प्रजहुः शूलपट्टिशान् ।

असींश्च वाहयाञ्चक्रुः पाशैश्चाचकृषुस्ततैः ॥ २३ ॥

निरासुरित्यादि—रावणप्रचोदिता राक्षसा वाणान्निरासुः क्षिप्रवन्तः शूलपट्टिशान् शूलसहितान् पाट्टिशान् । शाकपार्थिवादित्वात्तत्पुरुषः । द्वन्द्वे तु 'जातिरप्राणिनाम् । २।४।६।' इत्येकवद्भावः स्यात् । तान् प्रजहुः त्यक्तवन्तः । 'ओहाक् त्यागे ।' असींश्च खड्गान् वाहयाञ्चक्रुः व्यापारितवन्तः । ष्यन्तस्य रूपम् । पाशैस्ततैर्विस्तृतैः आचकृषुः आकृष्टवन्तः । कित्त्वे गुणप्रतिषेधः ॥ २३ ॥

भल्लैश्च विभिदुस्तीक्ष्णैर्विविधुस्तोमैरस्तथा ।

गदाभिश्चूर्णयाञ्चक्रुः शितैश्चक्रुश्च चिच्छिदुः ॥ २४ ॥

भल्लैरित्यादि—भल्लैर्विभिदुर्विदारितवन्तः । तीक्ष्णैस्तथा तोमरैर्विविधुस्ताडितवन्तः । व्यधेः 'ग्रह्णियावियव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिमृजतीनां ङिति च । ६।१।१६।' इति सम्प्रसारणम् । गदाभिश्च चूर्णयाञ्चक्रुः चूर्णितवन्तः । 'सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच् । ३।१। २५।' इति णिच् । 'चूर्णं प्रेरणे' इति चौरादिकत्वाद्वा । चिच्छिदुः चिच्छन्नवन्तः । राक्षसयुद्धमेतन् ॥ २४ ॥

वानरा मुष्टिभिर्जघ्नुर्ददंशुर्दशनैस्तथा ।

निरासुश्च गिरींस्तुङ्गान् द्रुमान् विचकरुस्तथा ॥ २५ ॥

वानरा इत्यादि—वानरा मुष्टिभिर्जघ्नुः हतवन्तः । राक्षसानित्यर्थान् । दशनैर्ददंशुः दष्टवन्तः । गिरीन्निरासुः क्षिप्रवन्तः । द्रुमान् विचकरुर्विधिप्रवन्तः । 'कृ विक्षेपे ।' 'ऋच्छत्यृताम् । ७।४।११।' इति गुणः ॥ २५ ॥

लाङ्गूलैर्लोठयाञ्चक्रुस्तलैर्निन्युश्च सङ्क्षयम् ।

नखैश्च चक्रुः क्रुद्धाः पिपिपुश्च क्षिर्ता बलात् ॥ २६ ॥

लाङ्गुलैरित्यादि—लाङ्गुलैर्लोठयाञ्चक्रुः लाङ्गुलैर्व्यापादितवन्तः। 'रुठ लुठ प्रतीघाते' परस्मैपदिनो ष्यन्तस्य रूपम् । तल्लैर्हस्ततलैः संक्षयं विनाशं निन्युः नीतवन्तः । नखैश्च चक्रुतुरुच्छिन्नवन्तः । 'कृती च्छेदने' क्रुद्धाः वानराः बलात् ठात् क्षितौ पिपिपुश्चूर्णितवन्तः ॥ २६ ॥

.सम्बभूवुः कवन्धानि प्रोहुः शोणिततोयगाः ।

तेरुर्भटास्यपद्मानि ध्वजैः फेनैरिवाबभे ॥ २७ ॥

संबभूवुरित्यादि—कवन्धानि संबभूवुः संभूतानि । प्रतिसहस्रं व्यापादनात् । कवन्धस्यैकस्योत्पादनात् । शोणिततोयगाः शोणितनद्यः प्रोहुः प्रकर्षेण मृत्ताः । वहैर्यजादित्वात् सम्प्रसारणम् । भटास्यपद्मानि योधमुखपद्मानि तेरुः प्लुतानि । 'तृफलभजत्रपश्च ।६।४।१२२।' इति एत्वाभ्यासलोपौ । फेनैरिव ध्वजैः शोणितनदीपु आबभे शोभितम् । भावे लिट् ॥ २७ ॥

रक्तपङ्के गजाः सेदुर्न प्रचक्रमिरे रथाः ।

निममज्जुस्तुरङ्गाश्च गन्तुं नोत्सेहिरे भटाः ॥ २८ ॥

रक्तपङ्के इत्यादि—रक्तपङ्के गजाः सेदुः निषण्णाः । रक्तपङ्कस्य बहुलत्वात् । तथा रथा न प्रचक्रमिरे न गन्तुमारब्धाः । 'प्रोपाभ्याम् ।१।३।४२।' इत्यात्मनपदम् । तुरङ्गा निममज्जुः निमग्नाः । भटाश्च गन्तुं नोत्सेहिरे नोःसहन्ते स्म ॥ २८ ॥

कोट्या कोट्या पुरद्वारमेकैकं रुरुधे द्विषाम् ।

षट्त्रिंशद्भरिकोट्यश्च निवन्नृवानराधिपम् ॥ २९ ॥

कोट्येत्यादि—द्विषामेकैकं पुरद्वारं वानराणां कोट्या कोट्या रुरुधे रुद्धम् । कर्मणि लिट् । षट्त्रिंशद्भरिकोट्यः वानरकोट्यो वानराधिपं सुग्रीवं निवन्नृः आवृत्य स्थिताः ॥ २९ ॥

तस्तनुर्जहलुर्मम्लुर्जगलुर्लुठिरे क्षताः ।

मुमूर्च्छुर्व्वमू रक्तं ततृषुश्चोभये भटाः ॥ ३० ॥

तस्तनुरित्यादि—उभये भटा रामरावणसंबन्धिनो योधाः क्षताः सन्तस्तज्जनुः स्तानितवन्तः । जहलुः चलिताः । 'हल हल चलने' । मम्लुः

म्लानाः । 'ग्लै म्लै हर्षक्षये' । जग्लुः हर्षक्षयं गताः । लुलुठिरे भूमौ लुठन्ते स्म । 'रुठ लुठ प्रतिघाते' तुदादावात्मनेपदी पठ्यते । मुमूच्छुः मोहमुप-
गताः । रक्तं ववमुः गीर्णवन्तः । तत्पुः वृष्यन्ति स्म । एतत् संकुल-
युद्धम् ॥ ३० ॥

सम्पातिना प्रजङ्घस्तु युयुधेऽसौ द्रुमाहतः ।

चकम्पेऽतीव चुक्रोश जीवनाशं ननाश च ॥ ३१ ॥

सम्पातिनेत्यादि---प्रजङ्घो नाम राक्षसः सम्पातिनाम्नाः वानरेण सह युयुधे युध्यते स्म । असौ प्रजङ्घो द्रुमाहतश्चकम्पे कम्पते स्म । अतीव अत्यर्थं चुक्रोश क्रोशति स्म । जीवनाशं ननाश जीवेन विनष्टः । 'कर्त्रो-
र्जीवपुरुषयोर्नशिवहोः । ३ । ४ । ४३ ।' इति णमुल् ॥ ३१ ॥

उच्चस्नाते नलेनाऽऽजौ स्फुरत्प्रतपनाक्षिणी ।

जम्बुमाली जहौ प्राणान् प्राव्णा मारुतिना हतः ॥ ३२ ॥

उच्चस्नाते इत्यादि---स्फुरन् चलन् प्रतपनो नाम राक्षसः तस्याक्षिणी, स्फुरतीव प्रतपनस्याक्षिणी नयने नलेन वानरेण उच्चस्नाते उत्स्राते । कर्मणि लिट् । 'गमहन जनखनवसां लोपः क्लित्यनङि । ६ । ४ । ९८ ।' इत्युपधालोपः । मारुतिना हनूमता प्राव्णा पापाणेन हतो जम्बुमाली राक्षसः प्राणान् जहौ त्यक्तवान् ॥ ३२ ॥

मित्रघ्नस्य प्रचुक्षोद् गदयाऽङ्गं विभीषणः ।

सुग्रीवः प्रघसं नेभे वहून् रामस्ततर्द च ॥ ३३ ॥

मित्रघ्नस्येत्यादि---मित्रघ्नस्य राक्षसस्य अङ्गं गदया विभीषणः प्रचु-
क्षोद् । प्रघसं नाम राक्षसं सुग्रीवो नेभे हिंसितवान् । 'णभ तुभ हिंसा-
याम्' इत्यनुदात्तेत् । रामश्च वहून् राक्षसान् ततर्द हिंसितवान् । 'वृ-
दिर् हिंसाऽनादरयोः' ॥ ३३ ॥

वज्रमुष्टेर्विशिश्लेष मैन्देनाऽभिहतं शिरः ।

नीलश्चकर्त चक्रेण निकुम्भस्य शिरः स्फुरत् ॥ ३४ ॥

वज्रमुष्टेरित्यादि---वज्रमुष्टे राक्षसस्य शिरः मैन्देन वानरेण अभिहतं सन् विशिश्लेष विश्लिष्टम् । निकुम्भस्य शिरः स्फुरन् चलन् । नीलां वान-
रश्चक्रेण चकर्त छिन्दवान् ॥ ३४ ॥

विरूपाक्षो जेहे प्राणैस्तृढः सौमित्रिपत्रिभिः ।

प्रमोचयाञ्चकाराऽसून् द्विविदस्त्वशनिप्रभम् ॥ ३५ ॥

विरूपाक्ष इत्यादि—विरूपाक्षो राक्षसः सौमित्रिपत्रिभिर्लक्ष्मणशरैः
ढः हत इत्यर्थः । 'तृहू हिंसायाम्' इति तौदादिकस्योदित्वान्निष्ठाया-
मेट्प्रतिपेधः । प्राणैर्जहे त्यक्तः । कर्मणि लिट् । द्विविदो वानरः
शनिप्रभं राक्षसं प्राणान् प्रमोचयाञ्चकार त्याजितवान् । मुचेर्ण्यन्तस्य
लेटि रूपम् ॥ ३५ ॥

गदा शक्रजिता जिघ्ये तां प्रतीयेष वालिजः ।

रथं ममन्थ सहयं शाखिनाऽस्य ततोऽङ्गदः ॥ ३६ ॥

गदेत्यादि—शक्रजिता इन्द्रजिता गदा जिघ्ये प्रहिता । हिनोतेः कर्माणि
लिट् । 'हेरचङि । ७ । ३ । ५६ ।' इति कुत्वम् । तां गदां वालिजोऽङ्गदः
प्रतीयेष प्रतीष्टवान् । इपेः 'अभ्यासस्यासवर्णे । ६ । ४ । ७८ ।' इतीयङ् । ततो-
ऽनन्तरं अस्य शक्रजितो रथं सहयं साश्वं शाखिना तरुणा ममन्थ चूर्णित-
वान् । 'मथि हिंसासङ्केशयोः ॥ ३६ ॥

तत् कर्म वालिपुत्रस्य दृष्ट्वा विश्वं विसिष्मिये ।

संत्रेसू राक्षसाः सर्वे बहु मेने च राघवः ॥ ३७ ॥

तत्कर्मत्यादि—तत्कर्म रथस्य चूर्णनं दृष्ट्वा विश्वं त्रैलोक्यं विसिष्मिये
विस्मितम् । राक्षसाः सर्वे संत्रेसुः । राघवश्च बहु मेने । अङ्गदं
श्राघितवानित्यर्थः ॥ ३७ ॥

सुग्रीवो मुमुदे देवाः साध्वित्यूचुः सविस्मयाः ।

विभीषणोऽभितुष्टाव प्रशशंसुः प्लवङ्गमाः ॥ ३८ ॥

सुग्रीव इत्यादि—सुग्रीवो मुमुदे हृष्टवान्, देवाः साध्वित्यूचुः, 'वचि-
स्वपियजादीनां किति । ६ । १ । १५ ।' इति सम्प्रसारणम् । विभीषणोऽभितुष्टाव
अभितुष्टवान् । 'ष्टुन् स्तुतौ' । 'उपसर्गात्सुनोतिसुवतिस्यतिस्तौतिस्तोभति-
स्थासेनयसेधसिचसञ्जस्वञ्जाम् । ८ । ३ । ६५ ।' इति षत्वम् । प्लवङ्गमाः प्रशशंसुः
प्रशंसां कृतवन्तः ॥ ३८ ॥

१ 'यस्य विभाषा । ७ । २ । १५ ।' इत्यनेनेति' बोध्यम्' । २ अयं च शब्दोः
यौगिको रुद्धश्च । तथा च वज्रसमाच्छेद्यशरीरं तत एव तन्नामानं च ।

ही चित्रं लक्ष्मणेनोदे रावणिश्च तिरोदधे ।

विचकार ततो रामः शरान् संतत्रसुर्द्विषः ॥ ३९ ॥

ही चित्रमित्यादि—हीति विस्मये । चित्रमाश्चर्यामिति लक्ष्मणेनोदे उक्तम् । वदेर्भावे लिट् । यजादित्वात्सम्प्रसारणम् । रावणिः इन्द्रजित् । रावणस्यापत्यम् । 'अत इच् । ४ । १ । ९५ ।' तिरोदधे अदृश्योऽभूत् । ततः अदर्शनानन्तरं रामः शरान् विचकार विक्षिप्तवान् । 'कृ विक्षेपे' । द्विषः संतत्रसुः संतस्ताः ॥ ३९ ॥

विभिन्ना जुघुरुघोरं जक्षुः क्रव्याशिनो हतान् ।

चुश्च्योत व्रणिनां रक्तं छिन्नाश्चेलुः क्षणं भुजाः ॥ ४० ॥

विभिन्ना इत्यादि—शरैर्विभिन्ना जुघुरुः घोरं भीमशब्दं कृतवन्तः । 'बुर भीमार्थ-शब्दयोः ।' क्रव्याशिनः शृगालादयो हतान् विनष्टान् जक्षुः भक्षितवन्तः । 'लिट्यन्यतरस्याम् । २ । ४ । ४० ।' इत्यदर्घस्तत् । उपधालोपः । 'खरि च । ८ । ४ । ५५ ।' इति चत्वम् । व्रणिनां शरैः कृतव्रणानां रक्तं चुश्च्योत व्रणादित्यर्थान् कर्तारि लिटः पित्त्वादकित्त्वे गुणः । भुजाश्छिन्नाः सन्तः क्षणमात्रं चेलुश्चलिताः ॥ ४० ॥

कृत्तरपि दृढक्रोधो वीरवक्त्रैर्न तत्यज ।

पलायांचक्रिरे शेषा जिहियुः शूरमानिनः ॥ ४१ ॥

कृत्तरित्यादि—वीरवक्त्रैः शूरमुखैः कृत्तरपि छिन्नैरपि दृढो घनः क्रोधो न तत्यजे न त्यक्तः । दृष्टौष्ठभ्रुकुट्यादीनां तथावस्थानात् । कर्मणि लिट् । पलायांचक्रिरे पलायिताः । 'दयायासश्च । ३ । १ । ३७ ।' इत्याम् । 'उपसर्गा-त्याचतौ । ८ । २ । १९ ।' इति लत्वम् । शेषा ये न पलायिताः ते शूरमानिनः । 'मनः । ३ । २ । ८२ ।' इति णिनिः । जिहियुः लज्जन्ते स्म ॥ ४१ ॥

राघवो न दयाञ्चक्रे दधुर्धर्यं न केचन ।

मम्रे पतङ्गवद् वीरर्हाहेति च विचुकुशे ॥ ४२ ॥

राघव इत्यादि—राघवो न दयांचक्रे न दयां कृतवान् । पृथ्व-
दाम् । न केचन न केचिन् धैर्यं दधुः धारितवन्तः । सर्व एव अहमहमिक्या
प्रवृत्ताः । यदि वा न केचन केचिद्धैर्यं न दधुः अपि तु दधुरेव । १२-

त्वत्पतङ्गैरिव वीरैर्मन्त्रे मृतम् । भावे लिट् । हाहेति च विच्
श्रे रुदितम् ॥ ४२ ॥

तिरोबभूवे सूर्येण प्रापे च निशयाऽऽस्पदम् ।

जग्रसे कालरात्रीव वानरान् राक्षसांश्च सा ॥ ४३ ॥

तिर इत्यादि--सूर्येण तिरोबभूवे तिरोभतम् । अस्तं गतमित्यर्थः । भा
लेट् । निशया निशा च आस्पदं प्रतिष्ठा । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम् । ६।१।१४६
इति निपातनम् । प्रापे प्राप्तम् । कर्मणि लिट् । सा च निशा काल
रात्रीव कालः कृतान्तस्तेन प्रयुक्ता रात्रीति शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलो
समासः । कृदिकारादक्तितः । इति ङीष् । वानरान् राक्षसांश्च जग्र
प्रसते स्म भक्षितवतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

चुकोपेन्द्राजित्युग्रं सर्पास्त्रं चाजुहाव सः ।

आजुहुवे तिरोभूतः परानीकं जहास च ॥ ४४ ॥

चुकोपेत्यादि- --रामव्यापारं दृष्ट्वा इन्द्रजित् तिरोहितः सन् चुकोप कु
तवान्, अत्युग्रं च सर्पास्त्रं सर्पमस्त्रमिव आजुहाव आहूतवान्, आह
यतेः शब्दे वर्तमानस्य 'अभ्यस्तस्य च । ६।१।३३।' इति द्विर्वचना
प्राक् सम्प्रसारणं ततो द्विर्वचनम् । परानीकं च रामबलम् आजुहु
स्पर्धते, स्म । 'स्पर्धायामाङ्ः । १ । ३ । ३१ ।' इत्यात्मनेपदम् । पू
वत्सम्प्रसारणम् । यजादित्वाद्वा । तत उवङादेशः । जहास
विहासितवान् ॥ ४४ ॥

बबाधे च बलं कृत्स्नं निजग्राह च सायकैः ।

उत्ससर्ज शरांस्तेऽस्य सर्पसाञ्च प्रपेदिरे ॥ ४५ ॥

बबाध इत्यादि--बबाधे च अभिभूतवान् । 'बाधु विलोडने' निजग्राह
निगृहीतवान्, सायकैः लोहयुक्तैः सर्पास्त्रैः उत्ससर्ज शरान् क्षिप्तवान्,
उत्सृष्टः शरा अस्य बलस्य सर्पसात् । 'विभाषा साति कात्स्न्ये । ५।४।५२।' इ
कात्स्न्ये सातिः । सम्प्रपेदिरे सम्प्रपद्यन्ते स्म ॥ ४५ ॥

आचिचाय स तैः सेनामाचिकाय च राघवौ ।

वभाण च न मे मायां जिगायेन्द्रोऽपि किं नृभिः ॥ ४६ ॥

भाचिचायेत्यादि--स इन्द्रजित् सपास्त्रैर्वानराणां सेनामाचिकाय छन्नवान्
'विभाषा चेः । ७ । ३ । ५८ ।' इति अकुत्वपक्षे रूपम् । राघवौ

रामलक्ष्मणावाचिकाय । कुत्वपक्षे रूपम् । वभाण च भणाति स्म ।
मायाभिन्द्रोऽपि न जिगाय न जितवान् । 'संहितोर्जेः । ७ । ३ । ५ ।
इति कुत्वम् । किं नृभिः न किञ्चित्प्रयोजनमित्यर्थः ॥ ४६ ॥

आचिक्रयाते च भूयोऽपि राघवौ तेन पन्नगैः ।

तौ सुमुहत्तुरुद्विग्नौ, वसुधायां च पेततुः ॥ ४७ ॥

आचिक्रयात इत्यादि—तेनेन्द्रजिता भूयोऽपि राघवावाचिक्रयाते छः
कर्मणि लिट् । तौ पाशवद्वौ सुमुहत्तुः मोहं गतौ । उद्विग्नौ समोहितानिष्पत्ते
वसुधायां च पेततुः पतितौ । बन्धपरवशाकृतत्वात् ॥ ४७ ॥

ततो रामेति चक्रन्दुस्त्रेसुः परिदिदेविरे ॥

निशश्वसुश्च सेनान्यः, प्रोचुर्धिगिति चात्मनः ॥ ४८ ॥

तत इत्यादि—ततः पतनादनन्तरं सेनान्यः सुग्रीवादयः । 'एरने
चोऽसंयोगपूर्वस्य । ६ । ४ । ८२ ।' इति यण् । रामेति नामग्राहं चक्रन्दुः
तवन्तः त्रेसुः भीताः परिदिदेविरे परिदेवित्वं कृतवन्तः । 'देवृ देवने' अनुदात्ते
निशश्वसुः कोर्णं निश्वासानुत्ससृजुः, आत्मनश्च धिगिति प्रोचुः गहितवन्त
'उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु' इति धिग्योगाद्वितीया ॥ ४८ ॥

मन्युं शेकुर्न ते रोद्धुं नासं संरुद्धुः पतत् ।

विविदुर्नेन्द्रजिन्मार्गं परीयुश्च प्लवङ्गमाः ॥ ४९ ॥

मन्युमित्यादि--मन्युं शोकं रोद्धुं वारितुं न शेकुः न पारितवन्तः । ३
च लोचनेभ्यः पतत् न संरुद्धुः न संरुद्धवन्तः, इन्द्रजितो मा
न विविदुः न ज्ञातवन्तः, कासौ तिष्ठति इति । प्लवङ्गमाश्च परीयुः समन्तात्
वन्तः । कासावगमदिति ॥ ४९ ॥

दधावाद्भिस्ततश्चक्षुः सुग्रीवस्य विभीषणः ।

विदांचकार धौताक्षः स रिपुं खे ननर्द च ॥ ५० ॥

दधावेत्यादि--ततोऽनन्तरं विभीषणः सुग्रीवस्य मन्त्रपृताभिरद्विभ्र
धाव प्रक्षालितवान्, सुग्रीवः धौताक्षः प्रक्षालितचक्षुः । 'वदुर्त्रे
१ विलापम् । २ इपदुष्णं यथा तथा । ३ स्वस्वदेहान् । ४ अश्रु । ५ वानग
प्लवेनं द्रुत्या गच्छन्तीति तयोक्ताः । 'गमश्च ३ । २ । ४० ।' इति मत् । 'अपिने
प्लवङ्गमाः ।' इत्यमरः ।

सकथ्यक्षणाः स्वाङ्गातपच् ॥५१॥११३॥' इति षच् । रिपुमिन्द्रजितं खेस्थितः
विदांचकार ज्ञातवान् । 'उपविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम् । ३ । १ । ३८ ।' इत्याम् ।
ननर्द च शब्दितवान् । केदानीं यास्यसीति ॥ ५१ ॥

उज्जुगूरे ततः शैलं हन्तुमिन्द्रजितं कपिः ।

विहाय रावणिस्तस्मादानंहे चाऽन्तिकं पितुः ॥ ५१ ॥

उज्जुगूर इत्यादि--ततोऽनन्तरं कपिः, सुग्रीवः इन्द्रजितं हन्तुं शैलमु-
ज्जुगूरे उत्क्षिप्तवान् । 'गूरी हिंसागत्योः' इति दैवादिकोऽनुदात्तेत् ।
तस्य गतौ वर्तमानस्य रूपम् । रावणिरिन्द्रजित् विहाय अर्थाद्युद्धं विहाय
तस्मादाकाशात्पितुरन्तिकमानंहे गतः । 'अहि गतौ ।' 'तस्मान्नुद् द्विहलः
॥७१॥७१' इति नुट् ॥ ५१ ॥

आचक्षे च वृत्तान्तं प्रजहर्ष च रावणः ।

गाढं चोपजुगूहैनं शिरस्युपशिशिञ्च च ॥ ५२ ॥

आचक्षे इत्यादि--नागपाशेन रावणौ बद्धाविति वृत्तान्तमाचक्षे
आख्यातवान्, रावणः प्रजहर्षं तुष्टवान्, एनं च रावणिं च उपजुगूह
दृढमाश्लिष्टवान् । अत्र कर्तृगामि क्रियाफलस्याविवाक्षितत्वात् तद् न भवति ।
'ऊदुपधाया गोहः । ६ । ४ । ८९ ।' इत्यूत्वम् । शिरसि उपशिशिञ्च आघ्रातवान् ।
'शिधि आघ्राणे' ॥ ५२ ॥

ध्वजानुद्धुधुस्तुङ्गान् मांसं चेमुर्जगुः पपुः ।

कामयाञ्चक्रिरे कान्तास्ततस्तुष्टा निशाचराः ॥ ५३ ॥

ध्वजानित्यादि--ततो निशाचरा अपि श्रुत्वा तुष्टाः सन्तः ध्वजां-
स्तुङ्गानुद्धुधुः उत्क्षिप्तवन्तः, मांसं चेमुः खादितवन्तः, 'चमु छमु
अदने ।' जगुर्गांतवन्तः, पपुः मद्यं पीतवन्तः, कान्ताः कामयाञ्चक्रिरे । कमे-
णिङ्कन्ताशम् ॥ ५३ ॥

दर्शयाञ्चक्रिरे रामं सीतां राज्ञश्च शासनात् ।

तस्या मिलीलतुर्नेत्रे लुलुठे पुष्पकोदरे ॥ ५४ ॥

दर्शयामित्यादि--तथाभूतं रामं दृष्ट्वा सीता मम विधेया स्यादित्यभिप्रा-
यवतो राज्ञो रावणस्य आज्ञया राक्षसाः अशोकवनिकातः पुष्पकमारुह्य
सीतां रामं दर्शयाञ्चक्रिरे दर्शितवन्तः । 'अभिवादिदशोरात्मनेपदं वेति वाच्यम्'

इति विकल्पेन द्विकर्मकता । तस्याः सीतायां नेत्रे मिमीलतुः मिमीलिते ।
'मील निमेषणे ।' पुष्पकोदरे पुष्पकमध्ये । मूर्छया लुलुठे लुठिता ॥५४॥

प्राणा दध्वंसिरे गात्रं तस्तम्भे च प्रिये हते ।

उच्छ्वास चिराद् दीना रुरोदाऽसौ ररास च ॥ ५५ ॥

प्राणा इत्यादि—प्रिये रामे हते प्राणा वायवः दध्वंसिरे ध्वस्ताः, गात्रं च तस्तम्भे काष्ठवन् निश्चलमभूत् । 'श्रुभि स्काभि प्रतिबन्धे ।' चिरा-
दुच्छ्वास उच्छ्वंसितवती, असौ लब्धसंज्ञा दीना दुःखिता रुरोद् रुदितवती,
ररास च वक्ष्यमाणं च विलापं कृतवती ॥ ५५ ॥

'लौहवन्धैर्वबन्धे नु किं वज्रेण विनिर्ममे ।

मनो मे न विना रामाद् यत् पुस्फोट सहस्रधा ॥ ५६ ॥

लौहवन्धैरित्यादि—लोहस्थेमे लौहाः तैर्वन्धैर्मनो हृदयं मम वबन्धे
वद्धम् । कर्मणि लिट् । नुशब्दो वितर्के । उत वज्रेण विनिर्ममे निर्मि-
तम् । 'माद् माने' इत्यस्मात्कर्मणि लिट् द्विर्वचने ह्रस्वन्वे 'आतो लोप इति
च । ६।४।६४।' इत्यालोपे च रूपम् । यद्यस्मात् विना रामात् रामेण विना ।
'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् । २।३।३२।' इति पञ्चमी । न पुस्फोट
न स्फुटितं सहस्रधा । 'संख्याया विधायै धा । ५ । ३।४२।' इति धा ॥ ५६ ॥

उत्तेरिथ समुद्रं त्वं मदर्थेऽरीञ्जिहसिथ ।

ममर्थं चाऽतिवोरां मां धिग् जीवितलघूकृताम् ॥ ५७ ॥

उत्तेरिथेत्यादि—मदर्थे मन्निमित्तं समुद्रमुत्तेरिथ उत्तीर्णांऽसि 'वृह-
भजत्रपञ्च । ६।४।१२२।' इति एत्वाभ्यासलोपो । तथा अरीन् जिहिसिथ
निहतवानासि । 'थलि रूपम् । यतो मदर्थे ममर्थं मरणावस्थां गतो-
ऽसि । अतोऽतिवोरामतिरौद्रां मां धिक् जीवितलघूकृतां जीवित्या-
जितमहत्त्वान् ॥ ५७ ॥

न जिजीवाऽसुखी तातः प्राणता रहितस्त्वया ।

श्रुतेऽपि त्वयि जीवन्त्या किं मयाऽणकभार्यया ॥ ५८ ॥

न जिजीवेत्यादि—त्वया प्राणता जीवता सता । 'अन प्राणने' । रदितो

विमुक्तस्तातो दशरथो न जिजीव न जीवितः । त्वयि मृतेऽपि जीवन्त्या
मया न किञ्चित्प्रयोजनम् । अणकभार्यया । 'पापाणके कुत्सितैः । २।१।५४।'
इति समासः ॥ ५८ ॥

सा जुगुप्सान् प्रचक्रेऽसून् जगर्हे लक्षणानि च ।

देहभाञ्जि ततः केशान् लुलुञ्च लुलुठे मुहुः ॥ ५९ ॥

सा जुगुप्सानित्यादि—सा सीता पूर्वोक्तकारणादेव असून् प्राणान्
जुगुप्सान् प्रचक्रे निन्दितान् कृतवती । जुगुप्स्यन्त इति घञ् । तदन्तस्य
सनि रूपम् । आभि प्रत्यये तु प्रचक्र इत्यनुप्रयोगो न घटते । देहभाञ्जि
शरीरस्थानि लक्षणानि । अवैधव्यसूचकानि च जगर्हे गर्हते स्म 'गर्ह
गल्भ कुत्सने ।' मुहुः केशान् लुलुञ्च अपनीतवती, तथा लुलुठे
पतिता ॥ ५९ ॥

जगलौ दध्यौ वितस्तान क्षणं प्राण न विव्यथे ।

दैवं निनिन्द चक्रन्द देहे चाऽतीव मन्युना ॥ ६० ॥

जगलावित्यादि—शोकभारात् जगलौ ग्लानिं गता, दध्यौ ध्यातवती, पुनः
किं मया द्रष्टव्योऽसीति । वितस्तान पीडया शब्दं कृतवती । 'स्तन शब्दे' ।
न प्राण न मूर्च्छता । न जिजीव निःसंज्ञत्वात् । 'अन प्राणने' । 'अत
आदेः । ७।४।७०।' इति दीर्घत्वम् । विव्यथे लब्धसंज्ञा पीडिता । 'व्यथो
लिटि । ७।४।६८।' इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणम् । दैवं निनिन्द निन्दितवती ।
दैव ! विरूपमाचरितं त्वयेति । चक्रन्द रुदिता । पुनर्मन्युना अतीव शोकेन
देहे दग्धा । कर्मणि लिट् ॥ ६० ॥

आश्वासयाञ्चकाराथ त्रिजटा तां निनाय च ।

ततः प्रजागराञ्चक्रुर्वानराः सविभीषणाः ॥ ६१ ॥

आश्वासयामित्यादि—अथानन्तरं त्रिजटा रावणभगिनी तां सीता-
माश्वासयाञ्चकार आश्वासितवती । विष्णुरसौ दादशरथिः कथमस्य विरूपं
भविष्यतीति । निनाय च तस्मात्पुष्पकान्नीतवती, तत उत्तरकालं वानरा विभी-
षणेन सह प्रजागराञ्चक्रः आलोचनां कृतवन्तः । अत्रानुप्रयोगे नात्मनेपदं
पूर्वस्यानात्मनेपदित्वात् ॥ ६१ ॥

चिचेत रामस्तत् कृच्छ्रमोषाञ्चक्रे शुचाथ सः ।

मन्युश्चाऽस्य समापित्ये विरुराव च लक्ष्मणम् ॥ ६२ ॥

चिचेतेत्यादि—तत् कृच्छ्रं शैरवन्धदुःखं रामश्चिचेत ज्ञातवान् । 'चित्तं संज्ञाने' इत्युदात्तेत् । शुचा शोकेन ओषांचक्रे देहे । कर्मणि लिट् । 'उपविद् जागृभ्योऽन्यतरस्याम् । ३।१।३८।' इत्याम् । स च मन्युः शोकः अस्य रामस्य समापिप्ये वृद्धिं गतः । 'ओप्यायी वृद्धौ ।' तस्य लिटि 'प्यायः पी । ६।१।२८।' इति पीभावः । 'एरनेकाचः । ६।४।८२।' इति यण् । लक्ष्मणं च विरुराणं शब्दितवान् वत्स ! जीवसीति ॥ ६२ ॥

समीहे मर्तुमानर्चे तेन वाचाऽखिलं बलम् ।

आपपृच्छे च सुग्रीवं स्वं देशं विससर्ज च ॥ ६३ ॥

समीह इत्यादि—मर्तुं प्राणांस्यक्तुं समीहे इच्छति स्म । तेन रामेणाखिलं समस्तं बलं वाचा आनर्चे पूजितम् भवद्भिः साध्वन्नुष्ठितम् अस्मद्भाग्यमत्रापराधयतीति । कर्मणि लिट् । 'तस्मान्नुड् द्विहलः । ७।४।७१।' इति नुट् । सुग्रीवं चापपृच्छे आपृच्छति स्म । आमन्त्रितवानित्यर्थः । एहि तावद्दर्शनं मे देहि परिष्वजस्वेति । 'आडिं नुप्रच्छयोरुपसङ्गवानम्' इति तड् । स्वं च देशं किष्किन्धां विससर्ज प्रहितवान् ॥ ६३ ॥

आदिदेश स किष्किन्धां राघवौ नेतुमङ्गदम् ।

प्रतिजज्ञे स्वयं चैव सुग्रीवो रक्षसां वधम् ॥ ६४ ॥

आदिदेशेत्यादि—सुग्रीवो राघवौ किष्किन्धां नेतुमङ्गदमादिदेश, स्वयं च रक्षसां विनाशं प्रतिजज्ञे अहमेव व्यापादयामीति । 'सन्प्रतिभ्यामनाध्याने । १।३।४६।' इति तड् । सकर्मकार्थं वचनम् ॥ ६४ ॥

'नागास्त्रमिदमेतस्य विपक्षस्ताक्षर्यसंस्मृतिः ।

विभीषणादिति श्रुत्वा तं निदध्यां रघूत्तमः ॥ ६५ ॥

नागास्त्रमित्यादि—नागास्त्रमिदं न शराः, एतस्य च विपक्षः अशुभोऽर्थसंस्मृतिः गरुडसंस्मरणं चतसंस्मरणादेवास्त्रं शान्तिरिति । एवं विभीषणाच्छ्रुत्वा रघूत्तमो राघवस्ताक्षर्यं निदध्यां ध्यातवान् ॥ ६५ ॥

ततो विजघटे शैलैरुद्वेलं पुण्ड्रवेऽम्बुधिः ।

वृक्षेभ्यश्चुच्युते पुष्पैर्विरेजुर्भामुरा दिशः ॥ ६६ ॥

१ नागरूपवानकृतपादावदयस्वरूपं कृतम् । २ 'गरुडान् गरुडान्तर्यं' इत्यनरः ।

तत इत्यादि—ततो ध्यानानन्तरं तदागमनवायुवेगाच्छैलैर्विजघटे विघटितम् । भावे लिट् । अम्बुधिरुद्वेलं वेलासतिक्रम्य पुप्लुवे गतः, वृक्षेभ्यः सकाशात् पुष्पैश्च्युच्युते च्युतम्, दिशश्च भासुराः सुपर्णपक्षप्रभाभिः प्रभासन्शीलाः सत्यो विरेजुः शोभन्ते स्म । 'फणां च सप्तानाम् । ६।४।१२५।' इत्येत्वपक्षे रूपम् । तत्र वेत्यनुवर्तते ॥ ६६ ॥

जगाहिरेऽम्बुधिं नागा ववौ वायुर्मनोरमः ।

तेजांसि शंशमाञ्चक्रुः शरवन्धा विशिश्लिषुः ॥ ६७ ॥

जगाहिरे इत्यादि—नागा भयादम्बुधिं जगाहिरे प्रविष्टाः, वायुस्तत्प्रभवो ववौ वाति स्म, तेजांसि रत्नादीनां शंशमाञ्चक्रुः अत्यर्थं प्रशान्तानि । शमेर्यङ्लुगन्तस्य रूपम् । एवं च कृत्वा अनुप्रयोगे परस्मैपदम् । शरवन्धा विशिश्लिषुः पुर्विश्लिष्टाः । दूरत एव तत्प्रभावात् ॥ ६७ ॥

भ्रेजिरेऽक्षतवद् योधा लेभे संज्ञां च लक्ष्मणः ।

विभीषणोऽपि वभ्राजे गरुत्मान् प्राप चान्तिकम् ॥ ६८ ॥

भ्रेजिर इत्यादि—अक्षतवत् अक्षता इव योधा भ्रेजिरे दीप्यन्ते स्म । 'फणां च सप्तानाम् । ६।४।१२५।' इत्येत्वपक्षे रूपम् । संज्ञां चेतनां लक्ष्मणो लेभे प्राप्तवान्, विभीषणोऽपि वभ्राजे संपन्ना मे मनोरथा इति मेन इत्यर्थः । अनेत्वपक्षे रूपम् । अन्तिकं च रामलक्ष्मणयोर्गरुत्मान् प्राप । गरुतः पक्षिणस्तेऽनुजीवितयास्य सन्तीति मतुप् । यवादेराकृतिगणत्वात् 'झयः । ८।२।१०।' इति वत्वं न भवति ॥ ६८ ॥

संपस्पर्शाऽथ काकुत्स्थौ जज्ञाते तौ गतव्यथौ ।

तयोरात्मानमाचख्यौ ययौ चाऽथ यथागतम् ॥ ६९ ॥

संपस्पर्शेत्यादि—अनन्तरं गरुत्मान् काकुत्स्थौ राघवौ संपस्पर्शं स्पृष्टवान्, तौ च स्पृष्टौ गतव्यथौ जज्ञाते जातौ, तयोः काकुत्स्थयोरात्मानमाचख्यौ गरुत्मानहमिति कथितवान् । 'वा लिटि । २।४।५५।' इति, चक्षिङः ख्याञ् । ययौ चापि यथागतं यथा तेनागतं तथा गतवान् ॥ ६९ ॥

स्वेनुस्तिव्विपुरुद्ये मुरुञ्चरुनुः पर्वतांस्तरून् ॥

वानरा दद्रमुश्वाथ सङ्ग्रामं चाशशांसिरे ॥

स्वेनुरित्यादि--अथानन्तरं वानराः हृष्टाः स्वेनुः शब्दितवन्तः, तित्विषुः, शोभिताः, 'त्विष दीप्तौ ।' उद्येमुः उद्योगं चक्रुः, पर्वतानुच्चस्नुः उद्वि-
प्तवन्तः, दद्रमुः इतस्ततो भ्रान्ताः । 'द्रम.हंम मीमृः गतौ ।' संग्रामं च आश-
शासिरे अभीष्टवन्तः । 'आङ्ः शासु इच्छायाम्' आदादिकोऽनुदात्तेत् ॥७०॥

डुढौकिरे पुनर्लङ्कां बुबुधे तान् दशाननः ।

जीवतश्च विवेदारीन् वभ्रंशेऽसौ धृतेस्ततः ॥ ७१ ॥

डुढौकिरे इत्यादि--पुनर्भूयो लङ्कां डुढौकिरे जग्मुः, तान् वानरान्
दौकितान् दशाननो बुबुधे बुद्धवान्, जीवतश्चारीन् रामादीन् विवेद ज्ञात-
वान् । अन्यथा कथं वानरा दौकिता इति । ततश्च धृतेः सकाशा-
द्बभ्रंशे भ्रष्टः ॥ ७१ ॥

सखंसे शरवन्धेन दिव्येनेति बुबुन्द सः ।

वभाजाऽथ परं मोहमूहाञ्चक्रे जयं न च ॥ ७२ ॥

सखंस इत्यादि--दिव्येन शरवन्धेन सखंसे स्रस्तम् । भावे लिट् ।
इत्येवं दशाननो बुबुन्द श्रुतवान् । 'बुदि निशामने ।' अथानन्तरं महा-
मोहं मूर्च्छाकारं महान्तमवोधम् वभाज सेवते स्म । न च जयमूहां-
चक्रे विवर्कितवान् ॥ ७२ ॥

धूम्राक्षोऽथ प्रतिष्ठासाञ्चक्रे रावणसम्मतः ।

सिंहास्यैर्युयुजे तस्य वृकास्यैश्च रथः खगैः ॥ ७३ ॥

धूम्राक्ष इत्यादि--अथ धूम्राक्षो रावणसंमतो रावणेनानुज्ञातः मन् ।
भूते निष्ठात्र द्रष्टव्या । प्रतिष्ठासांचक्रे गन्तुमिच्छां कृतवान् । प्रपूर्वाणिश्रं-
'समवप्रविभ्यः स्थः । १ । ३ । २२ ।' इति तद्ध् । 'उपमगा-
त्सुनोतिसुवतिस्यतिस्तौतिस्तोभतिस्थासेनयसेधसिचसखस्वञ्जाम् । ८।३।३।१'
इति पत्वम् । तस्य च गन्तुमिच्छतो रथः खगैः आकाशगामिभिर्यानिः सिद्धयु-
र्वृकमुखैश्च युयुजे युक्तः । कर्मणि लिट् ॥ ७३ ॥

त्वक्त्रेः संविव्ययुर्देहान् वाहनान्यधिशिदिपरे ।

आनर्जुर्नृभुजोऽन्नाणि ववञ्चुश्चाहवक्षितिम् ॥ ७४ ॥

त्वक्त्रैरित्यादि--धूम्राक्षसम्बन्धिनो नृभुजो राक्षसाः त्वक्त्रैः मन्त्रैः ।
त्वचं त्रायन् इति देहान् संविव्ययुः छादितवन्तः । 'व्यञ् मन्त्रणे'

नागं शशाङ्के शशाङ्कविषये रघुतनयोऽभूदित्यर्थात् द्रष्टव्यम् । न च चन्द्रं
निश्चिकाय निश्चिनोति स्म । 'विभाषा चः ॥ ७३१५८१' इति कुत्वम् । ससन्देह इति
अशनिशरवर्षाभ्याम् उपमेयस्य चन्द्रस्य तत्त्वम् अशनिशरवर्षमिति प्रयोक्तु-
रभिधानात् । कुतो निरध्रे तदप्यशाङ्कमिति पुनरुपमानोपमेययोर्भेदाभि-
धानात् न निश्चिकाय चन्द्रमिति स्तुत्यर्थं सन्देहवचोऽभिधानाच्च । तथा
चोक्तम्—'उपमानोपमेयस्य तत्त्वं च वदतः पुनः । ससन्देहवचः स्तुत्यै ससन्देहं
विदुर्यथा ॥' इति ॥ ६८ ॥

अनन्वयः ।

कुमुदवनचयेषु कीर्णराश्मिः क्षततिमिरेषु च दिग्बधूसुखेषु ।

वियति च विललास तद्वदिन्दुर्विलसति चन्द्रमसो न यद्वदन्यः ॥ ६९ ॥

कुमुदवनचयेष्वित्यादि—कुमुदवनानां चयेषु समूहेषु, दिग्बधूसुखेषु
वियति च, क्षततिमिरेषु खण्डिततमःसु यतस्तेषु विकीर्णराश्मिः क्षिप्रमयूखः
विललास तद्वदिन्दुः शोभते स्म । चन्द्रमसः सकाशात् अन्यो यद्वद्यथा न विल-
सति तथा विललास । इदमुक्तं भवति । इन्दुर्विललास चन्द्र इवेति । अन-
न्वय इति सत्सदृशस्य साम्यस्याविवक्षातश्चन्द्रस्योपमानोपमेयत्वात् । तथा
चोक्तम्—'यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता । सादृश्यस्याविवक्षातस्तमि-
त्याहुरनन्वयम् ॥' इति ॥ ६९ ॥

उत्प्रेक्षाऽवयवः ।

शरणमिव गतं तमो निकुञ्जे विटपिनिराकृतचन्द्ररश्म्यरातौ ।

पृथुविषमशिलाऽन्तरालसंस्थं सजलघनद्युति भीतवत्ससाद् ॥ ७० ॥

शरणमित्यादि—पृथुविषमशिलानां ग्रान्यन्तरालानि तेषु संस्थं संतिष्ठ-
मानं सत्तमः निकुञ्जे गहने विटपिभिर्निराकृताश्चन्द्रस्य रश्मय एवारातयो
यस्मान्निकुञ्जात् तस्मिन् ससाद् विलीनं शरणमिव । यथा कश्चित् भीतो
दुर्गे निलीयते । सजलस्य घनस्यैव द्युतिर्यस्य तमसः तत् । उत्प्रेक्षावयव
इति । भीतवत्ससादेति उपमाश्लेषलक्षणस्य श्लिष्टस्यार्थेन योगात् शरण-

मिव गतमित्युत्प्रेक्षायोगात्, 'विटपिनिराकृतचन्द्ररश्म्यरातो' इति रूपकार्थेन योगात् । तथा चोक्तम्--'श्लिष्टस्यार्थेन संयुक्तः किञ्चित्चोत्प्रेक्ष्या-
न्वितः । रूपकार्थेन च पुनरुत्प्रेक्षावयवो यथा ॥' इति । 'विटपितिरस्कृतचन्द्र-
रश्मियोगः' इति पाठान्तरम् । तत्र रूपकार्थो नास्तीति असंपूर्णलक्षणता ॥७०॥

संस्मृष्टिः ।

अथ नयनमनोहरोऽभिरामः स्मर इव चित्तभवोऽप्यवामशीलः ।

रघुसुतमनुजो जगाद् वाचं सजलघनस्तनयित्नुतुल्यघोषः ॥ ७१ ॥

अथेत्यादि—अथ चन्द्रदर्शनानन्तरं रघुसुतं राममभिरामः कामाभिभूत-
त्वादाभिमुख्येन रम्यत इति । अनुजः कर्नायान् भ्राता वाचं वक्ष्यमाणं
जगाद् गर्दितवान् । नयनमनोहरः प्रेक्षणीय इत्यर्थः । अत्र नयने मन-
श्चावर्जयन् नयनमनोहर इति तुल्ययोगिता । न्यूनस्य लक्ष्मणस्याधिकेन
सहाभिरमणीयगुणसाम्यविवक्षया अभिरमणतुल्यक्रियायोगात् । स्मर इव
चित्तभवोऽपि तस्य चेतासे सदा भवतीति श्लिष्टम् । तथाप्यवामशीलो-
ऽप्रतिकूल इति विरोधः । स्मरन्तु वामशीलः । सजलघनस्तनयित्नुनः
शब्देन तुल्यो घोषो यस्य । संस्मृष्टिरिति वह्नलंकारयोगात् । तथा चोक्तम्--
'पराभिभूता संस्मृष्टिर्बह्नलंकारयोगतः । रचिता रत्नमालेव सा चैवं कथ्यते,
यथा ॥' इति ॥ ७१ ॥

आशीः ।

पातिवधपरिलुप्तलोलकेशीर्नयनजलाऽपहृताऽञ्जनौष्ठरागाः ।

कुरु रिपुवनिता जहीहि शोकं क्व च शरणं जगतां भवान् क्व मोहः ७२

पतीत्यादि—पातिवधेन परिलुप्ता भ्रष्टा लोलाः केशा यासां रिपुवनि-
तानाम् । नयनजलेनाश्रुणा अपहृतमञ्जनमौष्ठरागश्च यासां ताः मन्दोदरी-
प्रभृतीः कुरु । शोकं जहीहीत्याशंसे । किं क्व भवान् जगतां शरणमाश्रयः-
क्व च मोह इति । आशीरिति श्लिष्टस्याशंसनात् । तथा चोक्तम्--'आशी-
रिति च केषांचिदलंकारतया मता । सौहृदस्याविरोधोक्तौ प्रयोगोऽस्याश्च
तद्यथा ॥' इति ॥ ७२ ॥

१ 'सैषा संस्मृष्टिरतेषां जेदेन लदिह स्थितिः ।' २ नैतस्यालङ्कारत्वं प्रकाशकान्द-
दयोऽभिप्रयन्ति ।

हेतुः ।

अधिगतमहिमा मनुष्यलोके वत सुतरामवसीदति प्रमादी ।

गजपतिरुरुशैलशृङ्गवर्णा गुरुरवमज्जति पङ्कभाङ्ग न दारु ॥ ७३

अधिगतमहिमेत्यादि---मनुष्यलोके योऽधिगतमहिमा प्राप्ताधिपत्य
प्रमादी शोकादिषु प्रमादवान् वत कष्टमवसीदति न कार्यसमर्थो भ-
कृत एतदित्याह---गजपतिः उरुशैलशृङ्गवर्णा महाशैलशृङ्गप्रमाणं
वपुर्धत्स्य सः । पङ्कभाक् पङ्कं भजतीति । 'भजो ण्विः ।३।२।६२।' इति णि
पङ्कमवर्तार्णः सन् भवमज्जति अवसीदति । यस्मादसौ गुरुः, न पुत्र
काष्ठं, तस्मान्मुञ्च शोकम् । हेतुरिति गजपतेर्हेतुद्वारेण निर्देशात् । ३
र्थान्तरो द्रष्टव्यः ॥ ७३ ॥

निपुणम् ।

बोद्धव्यं किमिव हि यत्त्वया न बुद्धं

किं वा ते निमिषितमप्यबुद्धिपूर्वम् ।

लब्धात्मा तव सुकृतैरनिष्टशङ्की

स्नेहौवो घटयति मां तथापि वक्तुम् ॥ ७४ ॥

बोद्धव्यमित्यादि---किमिव तद्बोद्धव्यं ज्ञातव्यमस्ति नैवेत्यर्थः । यत्त्वया
बुद्धं बुद्ध्या विज्ञेयं तव किञ्चिच्चोष्टितमपि नोपेक्षापूर्वकं यतो निमिषितमप्य-
क्ष्णोर्निमीलनमपि अबुद्धिपूर्वकं नैवेत्यर्थः । यद्येवं किमित्यस्मानुप-
दिशसीत्याह---लब्धात्मेति । तथापि सुकृतैर्लब्धात्मा लब्धजन्मा स्नेहौव
स्नेहसमूहः । अनिष्टशङ्की अनिष्टशङ्कनशीलः । मां वक्तुं वदेति । घटयति
निपुणमिति अर्थात्रगाढत्वादस्य चोदात्तेऽन्तर्भावो द्रष्टव्यः । भाविकत्व-
मित्यलंकार उक्तः । तद्वन्धविषयत्वात्प्रत्यक् प्रदर्शयिष्यति ॥ ७४ ॥

सौमित्रेरिति वचनं निश्म्य रामो

जम्भावान्भुजयुगलं विभज्य निद्रान् ।

अद्यष्ठाच्छिष्याषया प्रवालतल्पं

रक्षायै प्रतिदिशमादिशन्प्लवङ्गान् ॥ ७५ ॥

इति भट्टिकाव्ये दशमः सर्गः ।

१ अस्य प्रकाशमते काव्यलिङ्ग एवान्तर्भावः । २ नास्यालङ्कारत्वं प्रकाशकारः द्रयो
मन्वतं । ३ अत्र परत्र च 'प्रहर्षिणी' वृत्तम् । 'सौ' औ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्'
इति तल्लक्षणम् ।

सौमित्रेरित्यादि—इत्येवं, सौमित्रेः लक्ष्मणस्य वचनं निश्चयं श्रुत्वा रामो जृम्भावान् जातंजृम्भिकः । जृम्भणं जृम्भा । ‘गुरोश्च हलः ।३।३।१०३।’ इत्यकारः । टाप् । निद्रान् निद्रां गच्छन् । ‘द्रा कुत्सायां गतौ ।’ इत्यस्यादादिकस्य निपूर्वस्य शतरि रूपम् । शिशयिपया शयितुमिच्छया । सुजयुगलं विभज्य एकं शिरःस्थाने न्यस्य द्वितीयं शरीरस्योपरि प्रसार्येत्यर्थः । ‘विभुज्य’ इति पाठान्तरम् । तत्र क्रोडभागे वक्त्रीकृत्येर्थः । प्रवालतल्पं पल्लवशयनीयम् अध्यष्ठात् अधिष्ठितवान् । ‘गातिस्थाद्युपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु ।२।४।७७।’ इति सिचो लुक् । ‘प्राक् सितादड्व्यवायेऽपि ।८।३।६३।’ इति पत्वम् । समुद्रदिदृक्षया नियमपूर्वं सुष्वापेत्यर्थः । रक्षायै रक्षानिमित्तं झवङ्गानादिशन् नियोजयन् । प्रतिदिशं दिशि दिशि । ‘अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ।५।४।१०७।’ इति टच् । तत्र दिक्शब्दस्य पठितत्वान् ॥ ७५ ॥

इति श्रीजयमङ्गलसूरिविरचितया जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्याया समलं-
कृते श्रीभट्टिप्रणीते रामचरिते काव्ये तृतीये प्रसन्नकाण्डे लक्षण-
रूपे प्रथमः परिच्छेदः, तथा लक्ष्यरूपे कथानके ‘सिता-
भिज्ञानदर्शनं’ नाम दशमः सर्गः ।

एकादशः सर्गः ।

माधुर्यमपि काव्यस्य गुण उक्तः । तथा चोक्तम्—‘श्राव्यं नातिसमस्तार्थं
काव्ये मधुरमिष्यते ।’ इति । तत्प्रदर्शनार्थं लङ्कागतप्रभातवर्णनमधिकृत्याह—

अथाऽस्तमासेदुषि मन्दकान्तौ पुण्यक्षयेणेव निधौ कलानाम् ।

समाललम्बे रिपुमित्रकल्पैः पद्मैः प्रहासः कुमुदैर्विषादः ॥ १ ॥

अथेत्यादि—अथानन्तरं कलानां निधौ चन्द्रमसि अस्तं पर्वतमासेदुषि
गतवति । यथा कस्मिंश्चित् पुण्यक्षयेणावसानमासेदुषि । ‘भाषायां सदवस-
श्रुवः ।३।२।१०८।’ इति लिटः कसुरादेशः । मन्दकान्तावित्यस्तगमने
पूर्वलिङ्गं दर्शयति । रिपुकल्पैः पद्मैः प्रहासः, मित्रकल्पैः कुमुदै-
र्विषादः संकोचः समाललम्बे समालम्बितः ॥ १ ॥

दूरं समारुह्य दिवः पतन्तं भृगोरिविन्दुं विहितोपकारम् ।

बद्धाऽनुरागोऽनु पपात तूर्णं तारागणः सम्भृतशुभ्रकीर्तिः ॥ २ ॥

दूरमित्यादि—दूरं दिव आकाशस्य भागं समारुह्य पश्चात्त एवाकाशात् भृगोरिव प्रपातादिव पतन्तमिन्दुं तारापतिमनु पश्चात् तारागणः विहितोपकारं तदुदयेन तारागणाध्यायनात् बद्धानुरागः अस्तगमनकाले अनुगतरक्तभावः संभृता विपुलीकृता शुभ्रा निर्मला कीर्तियेन स तारागणः पपात । यथा कस्मिंश्चित्स्वामिनि भृगोः पतति पश्चात्स्वामिभक्त्या भृत्यलोको बद्धानुरागः संभृतशुभ्रकीर्तिः पतति तद्वदिति ॥ २ ॥

एकं ते कटाक्षाः एकं विलासवन्ति प्रोक्तानि वा तानि ममेति मत्वा ।

लङ्काऽङ्गनानामवबोधकाले तुलामनारुह्य गतोऽस्तमिन्दुः ॥ ३ ॥

एकं त इत्यादि—ये कटाक्षाः सविलासास्तिर्यग्दृश्यः यानि च प्रोक्तानि जल्पितानि विलासवन्ति, तदुभयं क मम विद्यते । लङ्काङ्गनानां तु मुखेन्दवः सकटाक्षाः सविलासाः सजल्पिताश्च । अतो यावन्न विबुद्धयन्ते तावदपक्रमणं युक्तमिति मत्वा निरूप्य तुलामनारुह्य समानतामलब्ध्वा निःसंशयो वदन् मत्वा । तत्प्रबोधकाले । लङ्काङ्गनानामेव । गतोऽस्तमिन्दुः ॥ ३ ॥

मानेन तल्पेष्वयथासुखीना मिथ्याप्रसुप्तैर्गमितत्रियामाः ।

स्त्रीभिर्निशाऽतिरुमविह्वलाभिर्दृष्टेऽपि दोषे पतयोऽनुनीताः ॥ ४ ॥

मानेनेत्यादि—पतयस्तल्पेषु शयनीयेषु शय्यास्विति यावत् । मानेनायथासुखीनाः परावृत्तमुखाः । 'यथामुखसंमुखस्य दर्शनः खः । ५।२।६।' इति खः । परावृत्तत्वात् प्रतिविम्बाश्रयवत्तेषु योपितां प्रतिविम्बमिव मनो न प्रसादीभवतीत्येवं मिथ्याप्रसुप्तैर्लीकनिद्राभिः गमितत्रियामाः प्रेरितप्रथमादिप्रहराः । दृष्टेऽपि दोषे गोत्रस्खलितादौ । पतयः स्त्रीभिरनुनीता यतो निशातिरुमः-त्पर्यवसानात् विह्वला विह्वलास्ताः ॥ ४ ॥

ईर्ष्याविरुग्णाः स्थिरवद्धमूला निरस्तानिःशेषशुभप्रतानाः ।

आप्यायिता नेत्रजलप्रसेकैः प्रेमदुमाः संरुरुहुः प्रियाणास् ॥ ५ ॥

ईर्ष्याविरुग्णा इत्यादि—प्रियाणां प्रेमदुमाः प्रेमाणि दुमा इव । स्थिरं निश्चलं वद्धमूलम् उत्पत्तिकारणं येषां ते ईर्ष्याविरुग्णा अत एव निरस्ताः निःशेषाः शुभा एव हसितजल्पितादयः प्रताना शाखा येषां ते । प्रसादनानन्तरं नेत्रजलप्रसेकैराप्यायिताः संरुरुहुः, पुनर्नवीभूताः स्थिरवद्धमूलत्वात् ॥ ५ ॥

ततः समाशङ्कितविप्रयोगः पुनर्नवीभूतरसोऽवितृष्णः ।

स्मरस्य सन्तं पुनरुक्तभावं नाऽऽवर्तमानस्य विवेद लोकः ॥ ६ ॥

तत इत्यादि—प्रेमद्रुमरोहणानन्तरं लोकः समाशङ्कितविप्रयोगो विप्रयोगोऽस्माकमासन्नवर्तीति पुनर्नवीभूतरसः अभिनवीभूतसुरतेच्छः स्मरस्य कामस्य आवर्तमानस्य पुनः पुनः प्रवर्तनात् । अवितृष्णः साभिलाषः सन्तमपि विद्यमानमपि पुनरुक्तभावं पौनःपुन्यं न विवेद न बुबोध । आशङ्कितविप्रयोगत्वाद्पूर्वमिव ज्ञातवानित्यर्थः ॥ ६ ॥

वृत्तौ प्रकाशं हृदये कृतायां सुखेन सर्वेन्द्रियसम्भवेन ।

संकोचमेवाऽसहमानमस्थादशक्तवद्वञ्चितमानि चक्षुः ॥ ७ ॥

वृत्तावित्यादि—सुरतकाले श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानाम् इन्द्रियाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धग्रहणात् सर्वेन्द्रियसंभवं सुखम् । अथवा सर्वमिन्द्रियं यत्रेति सर्वेन्द्रियः कायः । तत्संभवं सुखं सर्वेन्द्रियसंभवम् सुखं तथाह्यालिङ्गनक्षुम्बनदर्शनच्छेदनेषु पुरुषोपसृष्टेषु तत्र प्रयुज्यमाने काये सुखमुत्पद्यते । तेन सुखेन हृदये चेतसि प्रकाशं स्पष्टं वृत्तौ कृतायां चक्षुर्वञ्चितमित्रात्मानं मन्यमानम् । आत्ममाने खञ्ज १३१२८३ इति णिनिः । संकोचमेव निभीलनमेवास्थात् अनुष्ठितं त् । असहमानमिति सर्वेन्द्रियसंभवस्य सुखस्य हृदये वृत्तिं सादुमपारयदित्यर्थः । अशक्तवत् यथा कश्चिदसमर्थोऽन्यसम्भवां संपदं सोदुमसहमानः संकोचमनुतिष्ठति ॥ ७ ॥

पानि भटस्योगसि वीक्ष्य भुग्रास्तनुत्वचः पाणिरुहान्कुमध्या ।

इच्छाविभङ्गाऽऽलमानसत्वाद्भ्रत्रे नखेभ्यश्च चिरं जुजूरे ॥ ८ ॥

पीन इत्यादि—काचित् सुमध्या सुमध्यमा नखैः व्यापद्यमाना अहमप्यस्य क्षतं विधास्यामीति भटस्यारसि पानं कठिनं भुरनान् कुञ्चितान् । 'भग्राण्' इति पाठान्तरम् । पाणिरुहान्नखान् वीक्ष्य भ्रत्रे नखेभ्यश्च चिरं जुजूरे क्रुध्यति स्म । कथमस्य वक्षः कठिनं मम च नखास्तनुत्वचो न कठिना इत । 'धूर्गं जूरी हिंसावयोहान्याः' इत्यस्यात्मनेपदिनो रूपम् । 'क्रुधद्रुहेप्याऽसूयाऽर्शनां यं प्रति कोपः ११४३७' इति सम्प्रदानसंज्ञा । कस्माज्जुजूरे इत्याह—इच्छाविभङ्गाकुलमानसत्वात् । चिकीर्षिताकरणेनाकुलचित्तत्वात् ॥ ८ ॥

दूरं समारुह्य दिवः पतन्तं भृगोरिवेन्दुं विहितोपकारम् ।

बद्धानुरागोऽनु पपात तूर्णं तारागणः सम्भृतशुभ्रकीर्तिः ॥ २ ॥

दूरमित्यादि—दूरं दिव आकाशस्य भागं समारुह्य पश्चात्त एवाकाशात् भृगोरिव प्रपातादिव पतन्तमिन्दुं तारापतिमनु पश्चात् तारागणः विहितोपकारं तदुदयेन तारागणाप्यायनात् बद्धानुरागः अस्तगमनकाले अनुगतरक्तभावः संभृता विपुलीकृता शुभ्रा निर्मला कीर्तियेन स तारागणः पपात । यथा कस्मिंश्चित्स्वामिनि भृगोः पतति पश्चात्स्वामिभक्त्या भृत्यलोको बद्धानुरागः संभृतशुभ्रकीर्तिः पतति तद्वदिति ॥ २ ॥

कृ ते कटाक्षाः कृ विलासवन्ति प्रोक्तानि वा तानि ममेति मत्वा ।

लङ्काऽङ्गनानामवबोधकाले तुलामनारुह्य गतोऽस्तमिन्दुः ॥ ३ ॥

कृ त इत्यादि—ये कटाक्षाः सविलासास्तिर्यग्दृष्टयः यानि च प्रोक्तानि जल्पितानि विलासवन्ति, तदुभयं क मम विद्यते । लङ्काङ्गनानां तु मुखेन्दवः सकटाक्षाः सविलासाः सजल्पिताश्च । अतो यावन्न विबुद्धयन्ते तावदपक्रमणं युक्तमिति मत्वा निरूप्य तुलामनारुह्य समानतामलब्ध्वा निःसंशयो वद भूत्वा । तत्प्रबोधकाले । लङ्काङ्गनानामेव । गतोऽस्तमिन्दुः ॥ ३ ॥

मानेन तल्पेष्वयथासुखीना मिथ्याप्रसुप्तैर्गमितत्रियामाः ।

स्त्रीभिर्निशाऽतिक्रमविह्वलाभिर्दृष्टेऽपि दोषे पतयोऽनुनीताः ॥ ४ ॥

मानेनेत्यादि—पतयस्तल्पेषु शयनीयेषु शय्यास्विति यावत् । मानेनायथासुखीनाः परावृत्तमुखाः । 'यथासुखसंमुखस्य दर्शनः खः । ५२ । ६ ।' इति खः । परावृत्तत्वात् प्रतिविम्बाश्रयवत्तेषु योषितां प्रतिविम्बमिव मनो न प्रसादीभवतोत्येवं मिथ्याप्रसुप्तैर्लीकनिद्राभिः गमितत्रियामाः प्रेरितप्रथमादिप्रहराः । दृष्टेऽपि दोषे गोत्रस्खलितादौ । पतयः स्त्रीभिरनुनीता यतो निशातिक्रमत्पर्यवसानात् विह्वला विह्वलास्ताः ॥ ४ ॥

ईर्ष्याविरुग्णाः स्थिरवद्धमूला निरस्तानिःशेषशुभप्रतानाः ।

आप्यायिता नेत्रजलप्रसेकैः प्रेमदुमाः संरुरुहुः प्रियाणाम् ॥ ५ ॥

ईर्ष्याविरुग्णा इत्यादि—प्रियाणां प्रेमदुमाः प्रेमाणि दुमा इव । स्थिरं निश्चलं वद्धमूलम् उत्पत्तिकारणं येषां ते ईर्ष्याविरुग्णा अत एव निरस्ताः निःशेषाः शुभा एव हसितजल्पितादयः प्रताना शाखा येषां ते । प्रसादनानन्तरं नेत्रजलप्रसेकैराप्यायिताः संरुरुहुः, पुनर्नवीभूताः स्थिरवद्धमूलत्वात् ॥ ५ ॥

ततः समाशङ्कितविप्रयोगः पुनर्नवीभूतरसोऽवितृष्णः ।

स्मरस्य सन्तं पुनरुक्तभावं नाऽऽवर्तमानस्य विवेद लोकः ॥ ६ ॥

तत इत्यादि—प्रेमदुमरोहणानन्तरं लोकः समाशङ्कितविप्रयोगो विप्रयोगोऽस्माकमासन्नवर्तीति पुनर्नवीभूतरसः अभिनवीभूतसुरतेच्छः स्मरस्य कामस्य आवर्तमानस्य पुनः पुनः प्रवर्तनात् । अवितृष्णः साभिलाषः सन्तमपि विद्यमानमपि पुनरुक्तभावं पौनःपुन्यं न विवेद न बुबोध । आशङ्कितविप्रयोगत्वाद्पूर्वमिव ज्ञातवानित्यर्थः ॥ ६ ॥

वृत्तौ प्रज्ञाशं हृदये कृतायां सुखेन सर्वेन्द्रियसम्भवेन ।

संकोचमेवाऽसहमानमस्यादशक्तवद्वञ्चितमानि चक्षुः ॥ ७ ॥

वृत्तावित्यादि—सुरतकाले श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानाम् इन्द्रियाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धग्रहणात् सर्वेन्द्रियसंभवं सुखम् । अथवा सर्वमिन्द्रियं यत्रेति सर्वेन्द्रियः कायः । तत्संभवं सुखं सर्वेन्द्रियसंभवम् सुखं तथाह्यालिङ्गनचुम्बनदर्शनच्छेदनेषु पुरुषोपसृष्टेषु तत्र प्रयुज्यमाने काये सुखमुत्पद्यते । तेन सुखेन हृदये चेतसि प्रकाशं स्पष्टं वृत्तौ कृतायां चक्षुर्वञ्चितमिवात्मानं मन्यमानम् । आत्ममाने खञ्ज १३।२।८३ इति णिनिः । संकोचमेव निमीलनमेवास्यात् अनुष्ठितत् । असहमानमिति सर्वेन्द्रियसंभवस्य सुखस्य हृदये वृत्तिं सांक्षुमपारयदित्यर्थः । अशक्तवत् यथा कश्चिदसमर्थोऽन्यसम्भवां संपदं सोढुमसहमानः संकोचमनुतिष्ठति ॥ ७ ॥

पाने भटस्योगसि वीक्ष्य भुग्नास्तनुत्वचः पाणिरुहान्स्सुमध्या ।

इच्छाविभङ्गाऽऽलमानसत्वाद्भ्रत्रे नखेभ्यश्च चिरं जुजूरे ॥ ८ ॥

पाने इत्यादि—काचित् सुमध्या सुमध्यमा नखैः व्यापद्यमाना अहमप्यस्य क्षतं विधास्यामीति भटस्यारसि पाने कठिने भुग्नान् कुञ्चितान् । 'भुग्ना' इति पाठान्तरम् । पाणिरुहान्स्सुमध्या वीक्ष्य भ्रत्रे नखेभ्यश्च चिरं जुजूरे क्रुध्यति स्म । कथमस्य वक्षः कठिनं मम च नखास्तनुत्वचो न कठिना इति । 'धूगी जूरी हिंसावयोदान्याः' इत्यस्यात्मनेपदिनो रूपम् । 'क्रुधदुहेप्याऽसूयाऽर्शानां यं प्रति कोपः । १।४।३७' इति सम्प्रदानसंज्ञा । कस्माज्जुजूरे इत्याह—इच्छाविभङ्गाकुलमानसत्वात् । चिकीर्षिताकरणेनाकुलचित्तत्वात् ॥ ८ ॥

स्वस्ताङ्गचेष्टे विनिमीलिताऽक्षः स्वेदाऽम्बुरोमोद्गमगम्यजीवः ।

अशेषनष्टप्रतिभापटुत्वो गाढोपगूढो दयितैर्जनोऽभूत् ॥ ९ ॥

स्वस्ताङ्गचेष्ट इत्यादि—दधितैर्गाढोपगूढः आलिङ्गितः सन् स्त्रीजनः अशेषनष्टप्रतिभापटुत्वोऽभूत् । अशेषं नष्टं प्रतिभाया बुद्धेः पटुत्वं यस्येति एवं च कृत्वा स्वस्ताङ्गचेष्टोऽपगतकायव्यापारः विनिमीलिताक्षः सुखान्नुभवान्निमीलितलोचनः । मृतस्तर्हीत्याह—स्वेदान्बुरोमोद्गमगम्यजीवः स्वेदान्बुरोमोद्गमाभ्यां लिङ्गाभ्यां गम्यमानसंज्ञः ॥ ९ ॥

तमः प्रसुप्तं मरणं सुखं नु मूर्च्छा नु माया नु मनोभवस्य ।

किं तत्कथं वेत्युपलब्धसंज्ञा विकल्पयन्तोऽपि न सम्प्रतीयुः ॥ १० ॥

तम इत्यादि—कासुका अपि परेतावस्थाया उत्तरकालमुपलब्धसंज्ञा विकल्पयन्ति । तमो नु किमन्धकारं, प्रसुप्तं न किं प्रकर्षणं सुप्तम्, मरणं नु मरणास्था नु, सुखं नु, मूर्च्छा नु, मनोभवस्य वा मायेति किं तद्भवति । कथं वा न प्रकरणेन तस्यात् । इत्येवं विकल्पयन्तोऽपि न सम्प्रतीयुः । न परमार्थं ज्ञान्त इत्यर्थः ॥ १० ॥

वक्षः स्तनाभ्यां सुखमाननेन गात्राणि गात्रैर्घटयन्नमन्दम् ।

स्मरातुरो नैव तुतोष लोकः पर्याप्तता प्रेम्णि कुतो विरुद्धा ॥ ११ ॥

वक्ष इत्यादि—वक्षोमुखगात्राणि स्वानि स्तनादिभिः स्त्रीसम्बन्धिभिर्घटयन्नुत्प्रेषयन् अमन्दं दृढम् । 'डमो ह्रस्वादि च डमुणित्यम् । ८।३।३२।' इति लुडागमः । स्मरातुरो लोको नैव तुतोष तुष्टिं न जगामा यतः पर्याप्तता प्रेम्णि कुतो विरुद्धा । नैव तस्या विरुद्धत्वात् ॥ ११ ॥

स्वस्ताङ्गयष्टिः परिरभ्यमाणा संदृश्यमानाऽप्युपसंहताऽक्षी ।

अनूढमाना शयने नवोढा परोपकारैकरसैव तस्थौ ॥ १२ ॥

स्वस्ताङ्गयष्टिरित्यादि—काचिन्नवोढा परिरभ्यमाणा पत्या आलिङ्गयमाना स्वस्ताङ्गयष्टिः न प्रतीपमालिङ्गति । संदृश्यमानापि मुखमुन्नमय्य उपसंहताक्षी हेनिमीलितलोचना न प्रतीपं पश्यति मानं नैवाचरतीति अनूढमानापि असंहतस्यानापि एवंविधापि सती परोपकारैकरसैव तस्थौ । भर्तुरुपकारैकामिप्रायैव अगस्थितां नात्मोपकाराय ॥ १२ ॥

आलिङ्गितायाः सहसा त्रपावांस्त्रासाऽभिलाषाऽनुगतो रताऽऽदौ ।

विश्वासिताया रमणेन वध्वा विमर्दरम्यो मदनो बभूव ॥ १३ ॥

आलिङ्गिताया इत्यादि—कस्याश्चिद्बध्वा रतात्प्राक् रमणेन सहसा तत्क्षणं
आलिङ्गितायास्त्रपावान्मदनो बभूव । रतादौ रतारम्भे त्रासाभिलाषाभ्यामनु-
गतो बभूव । विश्वासितायाः शनैर्विश्वासं कारितायाः विमर्दरम्यो बभूव,
त्रासाभावात् ॥ १३ ॥

सामोन्मुखेनाऽऽच्छुरिता प्रियेण दत्तेऽथ काचित्पुलकेन भेदे ।

अन्तःप्रकोपाऽपगमाद्विलोला वशीकृता केवलविक्रमेण ॥ १४ ॥

सामोन्मुखेनेत्यादि—अथ काचित्कोपान्मानवती प्रियेण सामोन्मुखेन
सामपरेण प्रसादयता आच्छुरिताख्येन नखकर्मणा संस्पृष्टा सती पुल-
केन रोमाञ्चेन भेदे उद्गमे दत्ते सति अथ अन्तःप्रकोपस्यापगमात्
विलोला विलोलवृद्धिः केवलविक्रमेण हठाद्ग्रहणेनैव वशीकृतोप-
भुक्तेत्यर्थः ॥ १४ ॥

गुरुर्दधाना परुषत्वमन्या कान्ताऽपि कान्तेन्दुकराऽभिमृष्टा ।

प्रह्लादिता चन्द्रशिलैव तूर्णं क्षोभात्स्ववत्स्वेदजला बभूव ॥ १५ ॥

गुरुरित्यादि—अन्यापि काचित् स्त्री कान्ता कम्पीयारूपा गुरुः धीरा ।
'वोतो गुणवचनात् । १४ । १४ । १४ ।' इति वा डीप् न भवति । दधाना
परुषत्वं नैष्ठुर्यम् । कान्तेन भर्त्रा इन्दुनेव कराभिमृष्टा सती प्रह्लादिता
सुखिता । क्षोभात् चेतसो विकारात् तूर्णं स्ववत्स्वेदजला बभूव । चन्द्रशिलैव
चन्द्रमणिरिव । सा गरीयसी कान्ता परुषत्वं काठिन्यं दधाना इन्दुना
कराभिमृष्टा प्रह्लादिता सुखितेव क्षोभात्स्वप्रकृतिविकारात् स्वजला
भवति ॥ १५ ॥

शशाङ्कनाथाऽपगमेन धूम्रां मूर्च्छांपरीतामिव निर्विवेकाम् ।

ततः सखीर्व प्रथिताऽनुरागा प्राबोधयद्द्यां मधुराऽरुणश्रीः ॥ १६ ॥

शशाङ्केत्यादि—ततोऽनन्तरं यथा काचित् स्त्री नाथस्य भर्तुरपगमेन
द्वियोगेन धूम्रा मलिना मूर्च्छांपरीता निश्चेतना अत एव निर्विवेका
श्वेत्कुमशक्ता सती सख्या प्रकाशितस्नेहया प्रबोधयते तद्गद् द्यामाकाशं शशाङ्क-

नाथस्यापगमनेन अस्तमनेन धूम्रां धूसरतां गतां निर्विवेकाम् अविद्यमान-
विशेषाम् अरुणश्रीः आदित्यलक्ष्मीरिति मधुराभिनवा प्रथितानुरागा प्राबो-
धयत्प्रकाशितवती ॥ १६ ॥

अर्वाततृष्णोऽथ परस्परेण क्षणादिवाऽऽयातनिशावसानः ।

दुःखेन लोकः परवानिवाऽगात् समुत्सुकः स्वप्निकेतनेभ्यः ॥ १७ ॥

अवीतेत्यादि---अथानन्तरं लोकः परस्परेणान्योन्येन दयितो दयि-
तया दयितापि दयितेन अवीततृष्णः अनपगतसंभोगाभिलाषः अत एव
क्षणादिव द्रुतमिवायातं निशावसानं यस्य । समुत्सुकः उत्कण्ठितः
परवानिव पराधीन इव स्वप्निकेतनेभ्यः वासगृहेभ्यो दुःखेन अगात्
निर्गतवान् ॥ १७ ॥

अर्धोत्थिताऽऽलिङ्गितसन्निमग्नो रुद्धः पुनर्यान् गमनेऽनभीप्सुः ।

व्याजेन निर्याय पुनर्निवृत्तस्त्यक्ताऽन्यकार्यः स्थित एव कश्चित् १८

अर्धोत्थितेत्यादि---शयनात् अर्धमुत्थितं यस्येत्यर्धोत्थितः । आहिताभ्या-
दिपुं द्रष्टव्यः । शयनस्य वा अर्धादुत्थित इति योज्यम् । स चालिङ्गितो दयितया
सन्निमग्नः शयने सुप्तः । पुनर्यान्निर्गच्छन् रुद्धो विधृतः । गमने अनभीप्सुरपि
निर्याय व्याजेन निमित्तेन पुनर्निवृत्तः प्रविष्टस्त्यक्ताऽन्यकार्यः स्थित एव
कश्चित्कामी ॥ १८ ॥

तालेन सम्पादितसाम्यशोभं शुभाऽवधानं स्वरवद्धरागम् ।

पदैर्गताऽर्थं नृपमन्दिरेषु प्रातर्जगुर्भङ्गलवत्तरुण्यः ॥ १९ ॥

तालेनेत्यादि---नृपमन्दिरेषु रावणादिराजवेश्मसु प्रभातकाले तरुण्यो मङ्ग-
लवत् मङ्गलोपेतं जगुः गायन्ति स्म । तालेन क्रियाकालमानेन संपादिता साम्य-
शोभा यत्र गायनक्रियायाम्, शुभावधानं शोभनमवधानं चित्तैकाग्रता यत्र, स्वर-
वद्धरागं षड्जादिभिः स्वरैर्वद्धो ग्रामरागो यत्र, पदैः सुप्तिङन्तैर्गतार्थं परिच्छि-
न्नार्थं निरर्थकपदरहितमित्यर्थः । अनेन स्वरगतं पदगतं लयगतमवधानगत-
मिति चतुर्विधं गीतमाख्यातम् ॥ १९ ॥

दुरुत्तरे पङ्क इवान्धकारे मग्नं जगत्सन्ततरिदमरज्जुः ।

प्रनष्टमूर्तिप्रविभागमुद्यन् प्रत्युज्जहारेव ततो विवस्वान् ॥ २० ॥

दुरुत्तर इत्यादि---अन्धकारे पङ्क इव दुरुत्तरे दुःखेनोत्तीर्यत इति मग्नं

प्रविष्टं जगत् । यतः प्रनष्टमूर्तिप्रविभागं प्रनष्टः स्थावरजङ्गममूर्तिनां प्रविभागो यस्मिन् तत् । विवस्वानुद्यन् उद्गच्छन् सन्ततरश्मिरञ्जुः प्रवित्वा रश्मयो मयूखा एव रज्जवो येन सः प्रत्युज्जहारेव उद्धृतवानिव । तत इत्यन्वकारात् ॥ २० ॥

पीतौष्ठरागाणि हताऽञ्जनानि भास्वन्ति लोलैरलकैर्मुखानि ।

प्रातः कृताऽर्थानि यथा विरेजुस्तथा न पूर्वद्युरलंकृतानि ॥ २१ ॥

पीतौष्ठरागाणीत्यादि—मुखानि वधूनामित्यर्थात् । यथा प्रातः प्रभाते विरेजुः तथा पूर्वद्युः पूर्वस्मिन्नहनि अलंकृतानि न रेजुः । तेषामकृतार्थत्वात् । तानि पुनः कृतार्थानि कृतकार्याणि । यतो दयितैः पीतौष्ठरागाणि ओष्ठचुम्बनात् हताञ्जनानि चक्षुषोरपि चुम्बनात् अपगतकज्जलानि लोलैराकुलैरलकैः कच-ग्रहाकर्षणात् । भास्वन्ति दीप्तिमन्ति ॥ २१ ॥

प्रजागराऽऽताम्रविलोचनाऽन्ता निरञ्जनाऽलक्तकपत्रलेखाः ।

तुल्या इवासन् परिवेदतन्व्यो वासच्युताः सेवितमन्मथाभिः ॥ २२ ॥

प्रजागरेत्यादि—भर्तृभिः सहैकत्र यच्छयनं स वासः तस्माच्च्युता काश्चित् तन्व्यः सेवितमन्मथाभिः अनुष्ठितसुरताभिः तुल्या इवासन् । यतः प्रजागरा-ताम्रविलोचनान्ताः दयितागमनप्रतीक्षणात् यः प्रजागरस्तेन ताम्रनेत्रपर्यन्ताः । नायात् इति गृहीतप्रसाधनतया निरञ्जनालक्तकपत्रलेखाः । यदि वा अन्यत्र शयित इति रोदनात् निरञ्जनाः चित्तोन्माथादितस्ततः पादविक्षेपात् विगता-लक्तकाः शयने प्रतिक्षणमुद्वर्तनपरिवर्तनात्कपोलादिभ्यो निष्पत्रलेखा इति खेदाच्च तन्व्यः कृशाङ्गयः ॥ २२ ॥

आबद्धनेत्राऽञ्जनपङ्कलेशस्ताम्बूलरागं बहुलं दधानः ।

चकार कान्तोऽप्यधरोऽङ्गनानां सहोषितानां पतिभिर्लघुत्वम् ॥ २३ ॥

आबद्धेत्यादि—कासांचिदङ्गनानां पतिभिः सहोषितानामप्यधरः लघुत्वं दौर्भाग्यं चकार सूचितवानित्यर्थः । यतस्ता ईप्सितसुरताप्राप्त्या रुदितास्ततश्च बद्धो लग्नो नेत्राञ्जनपङ्कलेशो यस्य सोऽधरो दयितैरपीतत्वाच्च बहुलं ताम्बूल-रागं दधानः कान्तोऽपि लघुत्वं चकार ॥ २३ ॥

चक्षुषि कान्तान्यपि साऽञ्जनानि ताम्बूलरक्तं च सरागमोष्ठम् ।

कुर्वन्सवासं च सुगन्धि वक्रं चक्रे जनः केवलपक्षपातम् ॥ २४ ॥

चक्षुषीत्यादि—कान्तान्यपि शोभनान्यपि चक्षुषि, विकचोत्पलश्रुति-
त्वात् । साञ्जनानि कुर्वन् स्त्रीजनः, प्रातर्गृह्यमाणप्रसाधनत्वात् । सराग्ने
चौष्टं, स्वभावतो विम्बफलाकारत्वात् । ताम्बूलरक्तं कुर्वन् । स्वभावतश्च.
सुगन्धि वक्रं मुखं सवासं वासयुक्तं कुर्वन् । केवलपक्षपातं समत्वं चक्रे, अञ्ज-
नादीनां निरर्थकत्वात् ॥ २४ ॥

क्षतैरसंचेति तदन्तलब्धैः सम्भोगकालेऽवगतैः प्रभाते ।

अशङ्कताऽन्योन्यकृतं व्यलीकं वियोगबाह्योऽपि जनोऽतिरागात् ॥ २५ ॥

क्षतैरित्यादि—अस्या मया दत्तम् अस्य च मयेति संभोगकाले रागान्य-
तया असंचेति तान्यज्ञातानि दन्तेभ्यो लब्धानि यानि क्षतानि । 'चित'
संचेतने' इति स्वार्थिकण्यन्तस्य रूपम् । प्रभातकाले अवगतैर्दृष्टैः वियोग-
बाह्योऽपि सुप्तोऽपि कामिजनः अतिरागात् अतिस्नेहात् अन्योन्यकृतम्
अन्योन्येन कृतं व्यलीकम् अपराधम् अशङ्कत विकल्पितवान् । लङ्ङि रूपम् ।
किमस्यान्यया हताशया दत्तमिति योषिदशङ्कत, पुरुषोऽपि किमन्येन
धूर्तेनास्या इति ॥ २५ ॥

नेत्रेषुभिः संयुतपक्षमपत्रैः कर्णाऽन्तकृष्टैरुरुकेशशूलाः ।

स्तनोरुचक्रास्ततकर्णपाशाः स्त्रीयोधमुख्या जयिनो विचेरुः ॥ २६ ॥

नेत्रेषुभिरित्यादि—नेत्राणि इपत्र इव तैः संयुतानि संयुक्तानि पक्षमाप्येव
पत्राणि येषां तैः । कर्णान्तकृष्टैः कर्णान्तविश्रान्तैः उपलक्षिताः स्त्रियो योधमुख्या
इव उरुकेशशूलाः उरवो महान्तः केशाः शूला इव येषाम् । स्तनोरुचक्राः स्तना
ऊरुणि चक्राणीव येषाम् । ततकर्णपाशाः तताः कर्णाः पाशाः इव येषां तै
जयिनो लब्धविजया विचेरुः भ्रान्ताः ॥ २६ ॥

पयोधरांश्चन्दनपङ्कदिग्धान् वासांसि चाऽमृष्टमृजानि दृष्ट्वा ।

स्त्रीणां सपत्न्यो जहपुः प्रभाते मन्दायमानाऽनुशयैर्मनोभिः ॥ २७ ॥

पयोधरानित्यादि—चन्दनपङ्कदिग्धान् आप्तुतचन्दनत्वात् । वस्त्राणि च
अमृष्टमृजानि अनपनीतशुद्धभावानि स्त्रीणां दृष्ट्वा प्रभाते तत्सपत्न्यो मनोभिः
न बाह्यं जहपुः दृष्ट्वा, अप्राप्तसुरतत्वात् मन्दायमानानुशयैः आभिः सह शयिता
इति तासु ये अनुशयाः अक्षान्तयो जाताः ते मन्दायमानाः शनैः शनैस्तनू-
भवंतो येषु मनःसु तैरित्यर्थः ॥ २७ ॥

स्मराऽऽतुरे चेतसि लब्धजन्मा रराज लोलोऽपि गुणाऽपहार्यः ।

कुतूहलान्नेत्रगवाक्षसंस्थः पश्यन्निवाऽन्योन्यमुखानि रागः ॥ २८ ॥

स्मरातुर इत्यादि—दम्पत्योः प्रातरन्योन्यस्य मुखं पश्यतोः चक्षुषो रागोः वर्ण्यते । स्मरातुरे कामातुरे चेतसि लब्धजन्मा लब्धादयः रागो रक्त-
भावः नेत्रगवाक्षसंस्थः नेत्रयोर्गवाक्षयोरिव स्थितः कुतूहलान् कौतुकान् अन्यो-
न्यस्य मुखानि पश्यन्निव । कीदृशं कामिन्या मुखं कामुकस्य मुखं वेति
गुणापहार्यः तत्प्रतिपक्षेण शुक्लगुणेन अपनेयः अत एव लोलोऽपि अचिर-
स्थास्यपि रराज ॥ २८ ॥

गतेऽतिभूमिं प्रणये प्रयुक्तानबुद्धिपूर्वं परिलुप्तसंज्ञः ।

आत्मानुभूतानपि नोपचारान्स्मरातुरः संस्मरति स्म लोकः ॥ २९ ॥

गत इत्यादि—प्रणये विश्रम्भे अतिभूमिं गते प्रकृष्टावस्थां प्राप्ते सति
ये अबुद्धिपूर्वम् अनिरूप्य स्वयं प्रयुक्ताः उपचाराः नखदन्तक्षतादयः
तानात्मानुभूतानपि प्रातर्न स्मरति स्म कामिलोकः । इदमिदं मया प्रयुक्त-
मिति यतः सुरतावस्थायां स्मरातुरतया परिलुप्तसंज्ञो मूढ इति ॥ २९ ॥

वस्त्रैरनत्युल्वणरम्यवर्णैर्विलेपनैः सौरभलक्षणीयैः ।

आस्यैश्च लोकः परितोषकान्तैरसूचयलुब्धपदं रहस्यम् ॥ ३० ॥

वस्त्रैरित्यादि—वस्त्रैः विलेपनैः सौरभलक्षणीयैः सुरभितया परिच्छेद्यैः
आस्यैश्च व्यपगताधररागैः परितोषकान्तैर्लिङ्गभूतैः रहसिं भवं सुरतं लुब्धपदं
प्राप्तचिह्नं लोकः प्रकाशयति स्म ॥ ३० ॥

प्रातस्तरां चन्दनलिप्तगात्राः प्रच्छाद्य हस्तैरधरान् वदन्तः ।

शाम्यन्निमेषाः सुतरां युवानः प्रकाशयन्ति स्म निगूहनीयम् ॥ ३१ ॥

प्रातस्तरामित्यादि—गुरुजनो नखदशनक्षतं मा द्राक्षीदिति युवानः
प्रातस्तरां प्रत्युषसि चन्दनलिप्तगात्रा हस्तैरधरान् प्रच्छाद्य वदन्तोऽपि शाम्यन्ति
निमेषा अनिमिषितनेत्रा निगूहनीयं सुतरां प्रकाशयन्ति स्म नूनमेते सत्कृत-
येन एवमाचरन्तीति ॥ ३१ ॥

साम्प्रैव लोके विजितेऽपि वामे ! किमुद्यतं भ्रूधनुरप्रसह्यम् ।

हन्तुं क्षमो वा वद लोचनेषुर्दिग्धो विषेणेव किमजनेन ॥ ३२ ॥

साम्प्रैत्यादि—हे वामे प्रतिकूलवर्तिनि मधुरेणाविकृतेन साम्ना लोके
अस्मद्विषे जितेऽपि वशीकृतेऽपि भ्रूधनुरप्रसह्यं प्रसोढुमशक्यम् उद्यतम्

उत्क्षिप्तम् । अथवा विलोचनेपुत्रेशरः स्वत एव हन्तुं क्षमः ततः किमञ्जन
 च विपेण दिग्धो विपलिप्त इति वद कथय ॥ ३२ ॥

दन्तच्छदे प्रज्वलिताऽग्निक्लपे ताम्बूलरागस्तृणभारतुल्यः ।

न्यस्तः किमित्यूचुरुपेतभावा गोष्ठीषु नारीस्तरुणीर्धुवानः ॥ ३३ ॥

दन्तच्छद इत्यादि---प्रज्वलिताग्निक्लपे स्वभावलोहितत्वात् दन्तच्छदे
 ओष्ठे ताम्बूलरागः किमिति न्यस्तः । तृणभारतुल्यः निष्प्रयोजनत्वात् ।
 इत्येवमूचुर्धुवानः प्रातरित्यर्थात् । उपेतभावाः जातानुरागाः गोष्ठीषु स्थिता
 नारीस्तरुणीरिति ॥ ३३ ॥

सुखाऽवगाहानि युतानि लक्ष्म्या शुचीनि संतापहराण्युरूणि ।

प्रबुद्धनारीमुखपङ्कजानि प्रातः सरांसीव गृहाणि रेजुः ॥ ३४ ॥

सुखावगाहानोत्यादि---प्रातः प्रभाते गृहाणि सरांसीव रेजुः । सुखाव-
 गाहानि निरुपद्रवत्वात् सुखेनावगाहन्ते । युतानि लक्ष्म्या देवतारूपया ।
 शुचीनि पवित्राणि सन्तापहराणि धर्मादिक्लेशापहारीणि । उरूणि महान्ति
 प्रबुद्धानि विनिद्राणि नारीमुखान्येव पङ्कजानि यत्रेति ॥ ३४ ॥

संमृष्टसिक्ताऽर्चितचारुपुष्पैरामोदवद्द्रव्यसुगन्धभागैः ।

लक्ष्मीर्विजिग्ये भवनैः समृद्धैः सेवस्य देवैरपि नन्दनस्य ॥ ३५ ॥

संमृष्टेत्यादि---देवैः सेवस्यापि नन्दनस्य लक्ष्मीभवनैः प्रातर्विजिग्ये
 विजिता । आदौ संमृष्टरजांसि अपनीतरजांसि पञ्चालिसिक्तानि । पूर्वापरकाल-
 स्रमासः । अर्चितानि पूजितानि प्रशस्तानि चारुणि शोभनानि पुष्पाणि येषु
 भवनेषु संमृष्टसिक्तानि च तानि अर्चितचारुपुष्पाणि चेति विशेषणसमासः ।
 आमोदवन्ति यानि द्रव्याणि चन्दनादीनि तैः सुगन्धो भाग एकदेशो येषां तैः ।
 सन्धस्येत्वे तदेकान्तग्रहणादित्वं न भवति । समृद्धैरामोदभृत्त्वात् ॥ ३५ ॥

अक्षणोः पतन्नीलसरोजलोभाद्भृङ्गः करेणाऽल्पधिया निरस्तः ।

ददंश ताम्राऽम्बुरुहाभिसन्धिस्तृष्णाऽऽतुरः पाणितलेऽपि धृष्णुः ॥ ३६ ॥

अक्षणोरित्यादि---नीलसरोजलोभात् नीलकमलमेतदित्यक्षणोः पतन्नीलो-
 यमानो भृङ्गः अल्पधिया अल्पबुद्ध्या कयाचित् करेण निरस्तः क्षिप्तः सन्
 ताम्राम्बुरुहाभिसन्धिः रक्तपद्ममेतदित्यभिसन्धिरभिप्रायो यस्य भृङ्गस्य स
 धृष्णुः प्रगल्भः पाणितलेऽपि ददंश दष्टवान् कृष्णातुरः । ताम्भित्यर्थात् ॥ ३६ ॥

विलोलतां चक्षुषि हस्तवेपथुं भ्रुवोर्विभङ्गं स्तनयुग्मवलिगतम् ।

विभूषणानां कणितं च षट्पदो गुरुर्यथा नृत्यविधौ समादधे ॥ ३७ ॥

विलोलतामित्यादि—यथा गुरुर्नृत्याचार्यो नृत्यकर्मणि कस्याश्चिच्चक्षुषि विलोलतां चलतां हस्तवेपथुं हस्तकम्पं भ्रुवोर्विभङ्गं नतोन्नतिं स्तनयुग्मवलिगतं प्रचलितं भूषणानां कणितं शिञ्जितं जनयति, तद् दृष्ट्वा षट्पदोऽपि तत्समादधे विहितवान् ॥ ३७ ॥

अथाऽनुकूलान्कुलधर्मसम्पदो विधाय वेशान्सुदिवः पुरीजनः ।

प्रबोधकाले शतमन्युविद्विषः प्रचक्रमे राजनिकेतनं प्रति ॥ ३८ ॥

अथेत्यादि—अथानन्तरं पुरीजनो लङ्कानिवासिजनः प्रतिदिनमवाप्तकल्याणत्वात् सुदिवः । 'सुप्रातसुधसुदिवशारिकुक्षचतुरश्रैणीपदाजपदप्रोष्ठपदाः । ५ । ४ । १२० ।' इति समासान्तनिपातनम् । यथास्वं कुलधर्मस्य पुरस्य या संपद्विभूतिः तस्या अनुकूलान् वेशान्नेपथ्यानि विधाय कृत्वा शतमन्युविद्विषोः रावणस्य प्रबोधकाले राजनिकेतनं प्रत्यभिलक्ष्य प्रचक्रमे गन्तुं प्रवृत्तः । 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् । १ । ३ । ४२ ।' इति तद् ॥ ३८ ॥

शैलेन्द्रशृङ्गेभ्य इव प्रवृत्ता वेगाज्जलौघाः पुरमन्दिरेभ्यः ।

आपूर्य रथ्याः सरितो जनौघा राजाऽङ्गनाऽम्भोधिमपूरयन्त ॥ ३९ ॥

शैलेन्द्रशृङ्गेभ्य इत्यादि—यथा जलानां पूरा शैलेन्द्रशृङ्गेभ्यः प्रवर्तन्ते तद्वत्पुरमन्दिरेभ्यः प्रवृत्ता जनौघाः रथ्याः क्षुद्राः सरित इवापूर्य राजाङ्गनम्भो-
धिमिवापूरयन्त पूरितवन्तः ॥ ३९ ॥

प्रबोधकालात् त्रिदशेन्द्रशत्रोः प्रागूर्ध्वशोषं परिशुष्यमाणाः ।

हीना महान्तश्च समत्वमीयुर्द्रास्थैरवज्ञापरुषाऽक्षिदृष्टाः ॥ ४० ॥

प्रबोधकालादित्यादि—त्रिदशेन्द्रशत्रोः रावणस्य प्रबोधकालात्प्राक् पूर्वम् ऊर्ध्वशोषं परिशुष्यमाणाः राजाङ्गने ऊर्ध्वं गता एव प्रबोधकाले शोषं नोद्यमाना इति अन्तर्भावितण्यर्थो द्रष्टव्यः । एवं च कृत्वा कर्मण्यात्मनेपदम् । अन्ये परिशोष्यमाणा इति णिच् पठन्ति । 'ऊर्ध्वं शुपिपूरोः । ३।४। ४४।' इति णमुल् । हीनाः महान्तश्च सेवकाः समत्वं तुल्यत्वमीयुः । द्रास्थैर्दौवारिकैः । द्वारि तिष्ठन्तीति 'सुपि स्थः । ३।३।४।' इति कः । 'खर-

वसानयोर्विसर्जनीयः। ८।३।१५।' इति विसर्जनीये 'विसर्जनीयस्य सः। ८।३।३४।'
इति स अवज्ञया अनादरेण परुषमस्त्रिगंधं यदक्षि तेनाक्षणा दृष्टाः ॥ ४० ॥

गुरुरुचञ्चत्करकर्णाजिह्वैरवज्ञयाऽग्राऽङ्गुलिसंगृहीतैः ।

रक्षांस्यनायासहृत्तरूपास्थुः कपोललीनाऽलिकुलैर्गजेन्द्रैः ॥ ४१ ॥

गुरुरुचञ्चदित्यादि--गुरवोऽलघवः उरवो महान्तः, चञ्चन्तश्चलन्तः
कराः कर्णा जिह्वाश्च येषां गजेन्द्राणां तैः अवज्ञया अप्राङ्गुलिसंगृहीतैः पादा-
ङ्गुष्ठाग्रेण यत्र स्थाने परिगृहीतैः। अङ्गुलेरग्रमिति राजदन्तादित्वात् पूर्वनिपातः।
अनायासहृत्तैः शनैः शनैः प्रचोदितैः । मत्तत्वात् कपोललीनाऽलिकुलैः ।
रक्षांसि उपास्थुः सेवामकार्षुः ॥ ४१ ॥

निकृत्तमत्तद्विपकुम्भमांसैः सम्पृक्तमुक्तैर्हरयोऽग्रपादैः ।

आनित्यिरे श्रेणि कृतास्तथाऽन्यैः परस्परं वालधिसन्निवद्धाः ॥ ४२ ॥

निकृत्तेत्यादि--अन्यैः सेवार्थं हरयः सिंहाः आनित्यिरे आनीताः ।

निकृत्तानि मत्तद्विपकुम्भमांसानि यैरग्रपादैः अतएव संपृक्तमुक्तैः लग्नकुम्भ-
मुक्ताफला उपलक्षिताः । श्रेणिकृता अश्रेणयः श्रेणयः कृताः 'श्रेण्यादयः
कृतादिभिः । २।१।५९।' इति समासः । 'श्रेण्यादिषु च्यवर्थवचन कर्त्तव्यम् ।'
इति च्यवर्थवचनम् । परस्परं वालधिसन्निवद्धाः अन्योन्यस्य पुच्छेन
संयताः ॥ ४२ ॥

उपेक्षिता देवगणैस्त्रसद्भिर्निशाचरैर्वीतभयैर्निकृत्ताः ।

तस्मिन्नदृश्यन्त सुरद्रुमाणां सजालपुष्पस्तवकाः प्रकीर्णाः ॥ ४३ ॥

उपेक्षिता इत्यादि--सुरद्रुमाणां पारिजातानां सजालाः कलिकासहिताः
पुष्पस्तवकाः वीतभयैर्निशाचरैर्निकृत्ताः छिन्नाः । 'वीतदयैः' इति पाठान्तरम् ।
तत्र किमेतैः स्थितैरिति निर्दयैः सजाला एव छिन्नाः छिद्यमानाश्च । देवगणै-
स्त्रसद्भिर्रुपेक्षिताः 'वा आशभ्लाशभ्रमुक्रमुङ्गमुत्रसिन्धुटिलपः । ३।१।७०।' इति
विकल्पेन श्यन् । तस्मिन् राजाङ्गने प्रकीर्णा अदृश्यन्त सेवकजनेन ॥ ४३ ॥

निराकारिष्णुर्द्विजकुञ्जराणां तृणीकृताऽशेषगुणोऽतिमोहात् ।

पापाऽश्यानभ्युदयार्थमाचीत् प्राग्ब्रह्मरक्षःप्रवरान् दशाऽऽस्यः ॥ ४४ ॥

निराकरिष्णुरित्यादि—दशास्यो विबुद्धः सन् अतिमोहादत्यन्ताज्ञानान्ध-
निराकरिष्णुर्निराकरणशीलः । द्विजवरानित्यर्थात् । द्विजकुञ्जराणां प्रशस्त-
द्विजानामभ्युदयहेतूनां संबन्धिनोऽशेषाः गुणाः तृणीकृता येन स तृणी-
कृताशेषगुणः प्राक् पूर्वं सभाप्रवेशात् पापाशयान् पापचित्तवृत्तीन् ब्रह्मरक्ष-
प्रवरान् अभ्युदयार्थमार्चात् ॥ ४४ ॥

मायाविभिस्त्रासकरैर्जनानामाप्तैरुपादानपरैरुपेतः ।

सतां विधातैकरसैराविक्षत्सदः परिक्षोभितभूमिभागम् ॥ ४५ ॥

मायाविभिरित्यादि—आप्तैरव्यभिचारिभिर्मायाविभिर्वञ्चकैः परेषां त्रास-
करैः । जनानामतिरौद्रत्वात् । उपादानपरैः सतां सन्मार्गास्थितानां विधातैक-
सैर्विनाशैकस्वभावैः उपेतो दशास्यः सदः सभामविक्षन् प्रविष्टः । 'श्ल-
इगुपधादनिटः कसः । ३।१।४५।' इति कसः । कीदृशम् । राक्षसैश्चरणभागेन्द्र-
परिक्षोभितभूमिभागम् ॥ ४५ ॥

विधृतनिशितशस्त्रैस्तद्युतं यातुधानै-

रुरुजठरमुखीभिः संकुलं राक्षसीभिः ।

श्वगणिशतविकीर्णं वागुरावन्मृगीभि-

र्वनामिव सभयाभिर्देववन्दीभिरासीत् ॥ ४६ ॥

विधृतेत्यादि—तत्सदो यातुधानैः विधृतनिशितशस्त्रैः गृहीततीक्ष्ण-
शस्त्रैर्युतं युक्तमासीत् । तथा राक्षसीभिः रुरुजठरमुखीभिः संकुलं व्याप्तं यथा-
वनं वागुरावत् सवागुरं श्वगणिशतविकीर्णम् आखेटकशतच्छत्रं मृगीभिः
सभयाभिः श्वगणिभ्यो जातभयाभिः देववन्दीभिः व्याप्तमासीत् । श्वगण-
विद्यन्ते येषामिति श्वगणिनः । 'अत इनिठनौ । ५।२।११५।' इतीर्निः ॥ ४६ ॥

जलद इव तडित्वान् प्राज्यरत्नप्रभाभिः

प्रतिककुभमुदस्यन् निस्वनं धीरमन्द्रम् ।

शिखरमिव सुमेरोरासनं हैममुच्चै-

र्विविधमणिविचित्रं प्रोन्नतं सोऽध्वतिष्ठत् ॥ ४७ ॥

इति भाट्टिकाव्ये एकादशः सर्गः ।

जलद इत्यादि—प्राज्यानां प्रभूतानां रत्नानां मणीनां प्रभाभिः तडित्वा-
 णिव जलदः प्रोन्नतात्मा सर्वेषामुपरि स्थितत्वात् । प्रतिककुभं दिशि दिशि-
 खीरमन्द्रं मन्दगम्भीरं निस्वनम् उदस्यन्निक्षिपन् सुमेरोः शिखरमिव हैममासन-
 मुच्चैरुच्चं विविधमणिविचित्रं नानारूपैर्मणिभिर्विचित्रं नानावर्णकमध्यातिष्ठत्
 स्समारोहति स्म ॥ ४७ ॥

इति श्रीजयमङ्गलसूरिविरचितया जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते
 श्रीभट्टिप्रणीते रामचरिते काव्ये तृतीये प्रसन्नकाण्डे लक्षणरूपे
 द्वितीयः परिच्छेदः, लक्ष्यरूपे कथानके 'प्रभातवर्णनं'
 नाम एकादशः सर्गः ।

द्वादशः सर्गः ।

भाविकत्वमलङ्कारः प्रबन्धविषय उक्तः । नैकदेशिकं तस्य चित्रादयो-
 ऽर्थाः प्रवृत्तिहेतवः । तथा चोक्तम्--'भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं
 गुणम् । प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः॥चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथायाः
 स्वभिनीतता । शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते ॥' इति । तत्सर्वं मन्त्र-
 विनिर्णयप्रबन्धे द्रष्टव्यमिति दर्शयन्नाह--

ततो विनिद्रं कृतदेवतार्चं दृष्ट्यैव चित्तप्रशमं किरन्तम् ।

आविष्कृताङ्गप्रतिकर्मरम्यं विभीषणं वाचमुवाच माता ॥ १ ॥

तत इत्यादि—ततः प्रभातकालानन्तरं विभीषणं, विनिद्रं प्रबुद्धम् । कृत-
 देवतार्चं कृतेष्टदेवतापूजनम् । दृष्ट्यैव स्निग्धया कायव्यापारेण चित्तप्रशमं
 किरन्तं प्रकाशयन्तम् । आविष्कृतं प्रदर्शितं यद्भङ्गस्य प्रतिकर्म प्रसाधनं तेन रम्यं
 माता नैकषी नाम वाचं वक्ष्यमाणामुवाच ॥ १ ॥

प्रबाधमानस्य जगन्ति धीमंस्त्वं सोदरस्याऽतिमदोद्धतस्य ।

आनन्दनो नाकसदां प्रशान्तिं तूर्णं विषस्यामृतवत्कुरुष्व ॥ २ ॥

प्रबाधमानस्येत्यादि—हे धीमन् ! त्वं नाकसदां देवानाम् आनन्दनः प्रमो-
 दयिता सन् सोदरस्य भ्रातुदशाननस्य । गर्भावस्थायां समानमुदरं यस्येति
 योगविभागात्सभावः । अतिमदोद्धतस्य महता सामर्थ्येन हृत्स्य जगन्ति
 श्लोकं प्रबाधमानस्य पीडयतः प्रशान्तिं प्रशमनं तूर्णं कुरुष्व । अमृतवत् । यथा

अमृतं देवानामानन्दनं विषस्य कालकूटनाम्नः सोदरस्य एकस्मिन् समुद्रोदरे
स्थितत्वात् जगन्ति प्रबाधमानस्य प्रशान्तिं कृतवदिति ॥ २ ॥

कुर्यास्तथा येन जहाति सीतां विषादनीहारपरीतमूर्तिम् । .

स्थितां क्षितौ शान्तशिखाप्रतानां तारामिव त्रासकरीं जनस्य ॥ ३ ॥

कुर्या इत्यादि—तथा तत्प्रकारमनुतिष्ठेस्त्वं येन सीतां जहाति । विषादनीहा-
रपरीतमूर्तिं विषादो नीहार इव तेन परिगतदेहाम् । क्षितौ स्थितां निमग्न्याम् ॥
शान्तशिखाप्रतानां अनुज्ज्वेलवेणीबन्धाम् । जनस्य त्रासकरीं भयहेतुभूताम् ॥
हेतौ टः । तारामिव । यथा काचित्तारा क्षितौ स्थिता पतिता नीहारपरीतमूर्तिः
शान्तशिखाप्रताना ध्वरतरश्मिजाला लोकत्रासकरी तद्वत्तामिति भावः ॥ ३ ॥

यावन्न सन्त्रासितदेवसङ्घः पिण्डो विषस्येव हरेण भीष्मः ।

सङ्ग्रस्यतेऽसौ पुरुषाऽधिपेन द्रुतं कुलाऽऽनन्द यतस्व तावत् ॥ ४ ॥

यावदित्यादि—यथा सन्त्रासितदेवसङ्घः विषस्य कालकूटस्य पिण्डो-
भीष्मोऽतिरौद्रो हरेण संग्रस्तः पतितः तद्वद्यावदसौ रावणः पुरुषाधिपेन रामेण न
संग्रस्यते न विनाश्यते, तावत् हे कुलानन्द ! कुलानि आनन्दयतीति 'कर्मण्यण्
।३।२।१।' इत्यण् । द्रुतं शीघ्रं यतस्व सीतात्याजनायां यत्नं कुरु ॥ ४ ॥

हता जनस्थानसदो निकायाः कृता जितोत्खातभटद्रुमा पूः ।

सदांसि दग्धानि विधेयमस्मिन् यद्बन्धुना तद्धटयस्व तस्मिन् ॥ ५ ॥

हता इत्यादि—जनस्थानसदो दण्डकारण्यवासिनः निकायाः खरदूषणा-
दीनां संघा हताः । 'संघे चानौत्तराधये । ३ । ३ । ४२ ।' इति चिनोते-
घव् ककारश्चादेशः । पूश्च लङ्का जितभटा उत्खातद्रुमा कृता । सदांसि गृहाणि
दग्धानि । इति सर्वमेतत्त्वया ज्ञातमेव । अनेन प्रकारेण अस्माकमपि विनाश-
स्यात् । तदेतस्मिन्वस्तुनि यद्बन्धुना विधेयम् अनुष्ठेयं तद्विधातुं घटयस्व यतस्व ॥
तस्मिन्वस्तुनि ॥ ५ ॥

चिंकीर्षिते पूर्वतरं स तस्मिन् क्षेमङ्करेऽर्थे मुहुरीर्यमाणः ।

मात्राऽतिमात्रं शुभयैव बुद्ध्या चिरं सुधीरभ्यधिकं समाधात् ॥ ६ ॥

१ 'आस्थानी क्लीवमास्थानं स्निग्धपुंसकयोः सदः ।' इत्यमरोक्त्या विशेष-
वाचित्वेऽपि सामान्यवाचित्वमभिप्रेतम् ।

चिकीर्षित इत्यादि—तस्मिन् सीताप्रत्यर्पणलक्षणेऽर्थे मानुरुपदेशात् पूर्व-
 उत्तरं पूर्वमेव चिकीर्षिते कर्तुमीप्सिते मात्रा शुभयैव बुद्ध्या कल्याणया अति-
 सात्रमत्यर्थं मुहुः प्रतिक्षणमीर्यमाणः प्रवर्त्यमानः स विभीषणः सुधीः
 शालः चिरकालमभ्यधिकं समाधात् चिन्तितवान् । इदमतिन्याय्यमिति
 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु । २ । ४ । ७७ ।' इति सिचो लुक् ॥
 (इयता प्रवन्धेन उदात्तार्थाभिधानादुदात्तार्थत्वमुक्तम् । इत उत्तरं प्रहस्त-
 रावण-विभीषण-मातामह-कुम्भकर्णादीनां वचनप्रवन्धेषु चित्राद्भुतार्थत्वं द्रष्ट-
 व्यम् । स्वविनीतता सुबोधता शब्दानाकुलता चेत्येतदुभयं कथायामेव मन्त्र-
 यैर्निर्यास्यायां द्रष्टव्यम्) ॥ ६ ॥

दौवारिकाऽभ्याहतशक्रदूतं सोपायनोपस्थितलोकपालम् ।

साऽऽशङ्कभीष्माऽऽप्तविशन्निशाटं द्वारं ययौ रावणमन्दिरस्य ॥ ७ ॥

दौवारिकेत्यादि—स विभीषणः रावणमन्दिरस्य द्वारं ययौ । दौवारिकाः
 द्वारे नियुक्ताः । 'द्वारादीनां च । ७ । ३ । ४ ।' इत्यैच् । तैरभ्याहताः शक्रदूता
 यस्मिन् द्वारे । सोपायनाः गृहीतकौशलिकाः उपस्थिता उपढौकिता लोकपाला
 न्यत्र । साशङ्काः सभयाः, भीष्मा भयानकाः, आत्ता विश्वासाहर्हा, विशन्तो
 निशाटा निशाचरा यत्रेति तमिति ॥ ७ ॥

अथ त्रिभिर्विशेषकम् ।

दूरात्पतीहारनतः स वार्तां पृच्छन्नानवेदितसम्प्रविष्टः ।

सगौरवं दत्तपथो निशाटैरैक्षिष्ट शैलाऽग्रमिवेन्द्रशत्रुम् ॥ ८ ॥

दूरादित्यादि—स विभीषणः दूरादेव प्रतीहारेण नतः स्वामिनीव तत्र
 गौरवान् । वार्तां पृच्छन् कुशली महाराज इति विभीषणो द्वारि तिष्ठ-
 तीति राज्ञे अनावेदित एव संप्रतिष्ठो निशाटैः सगौरवं च सविनयं दत्त-
 पथो दत्तमार्गः । इन्द्रशत्रुं रावणमैक्षिष्ट दृष्टवान् । शैलाग्रमिव सिंहासनाखण्डस्य
 त्तस्योच्चत्वान् ॥ ८ ॥

कृशानुवर्ष्यधिखण्डमुच्चः सिंहासने संक्षयमेवभीमम् ।

निर्गर्तीक्षणं नयनस्कुलिङ्गं युगान्तवह्नेरिव धूमराशिम् ॥ ९ ॥

कृशानुवर्षणीत्यादि—सिंहासने उच्चैस्तुङ्गे कृशानुवर्षणी अग्नितुल्ये अधि-
रूढम् उपविष्टम् । संक्षयमेधवद्भीमम् अतिभयंकरम् । निसर्गतीक्ष्णं स्वभाव-
रौद्रम् । नयनानि स्फुलिङ्गा इव यस्य तमैक्षिष्ट । युगान्तवह्नेरिव धूमराशिम्,
अग्नितुल्यासिंहासने उपरि स्थितत्वात् । सोऽपि संक्षयमेधवद्भीमः, स्वभावतः
कटुकत्वात् । स्वभावतीक्ष्णः । नयनानि विस्फुलिङ्गा यत्रेति ॥ ९ ॥

प्रीत्याऽपि दत्तेक्षणसन्निपातं भयं भुजङ्गाऽधिपवद्धानम् ।

तमःसमूहाऽऽकृतिमप्यशेषानूर्जा जयन्तं प्रथितप्रकाशान् ॥ १० ॥

प्रीत्येत्यादि—यथा भुजङ्गाधिपः शेषः प्रीत्या स्नेहेन दत्तेक्षणसन्निपातः
समर्पितेनेत्रनिवहो भयमादधाति तद्वद्भयमादधानम् । तमःसमूहस्वेवाकृति-
र्यस्य तमपि प्रथितप्रकाशानशेषानर्कादीन् ऊर्जा वलेन जयन्तमैक्षिष्ट । ऊर्जेति
“भ्राजभामधुर्विद्युतोर्जिपृजुप्रावस्तुवः किप् १३११७७” इति किप् ॥ १० ॥

तं रत्नदार्यं जितमृत्युलोका रात्रिञ्चराः कान्तिभृतोऽन्वसर्पन् ।

प्रमुक्तमुक्ताफलमम्बुवाहं संजातवृष्णा इव देवमुख्याः ॥ ११ ॥

तमित्यादि—यथा देवमुख्याः अमरत्वाज्जितमृत्युलोकाः कान्तिभृतो
दीप्तिधराः संजातवृष्णाः सन्तः प्रमुक्तमुक्ताफलमम्बुवाहमुपसर्पन्ति तद्वत्तं
विभीषणं रत्नदार्यम्, रत्नं दास्यतीति । ‘अण् कर्मणि च १३११२१’ इति
भविष्यत्काले क्रियायां क्रियार्थायामण् तत्र ‘एककर्तृके भिन्नकर्तृके वा’
इति विशेषाभावात् । अथवा ‘दय दानगत्योः’ इत्यस्मात् ‘कर्मण्यण्’
५३१२११’ इत्यण् । रत्नं दयते ददातीति कृत्वा । रात्रिचरा भयमलोका
अन्वसर्पन् ॥ ११ ॥

स किङ्करैः कल्पितमिङ्गितज्ञैः संवाधकं पूर्वसमागतानाम् ।

सिंहासनोपाश्रितचारुबाहुरध्यास्त पीठं विहितप्रणामः ॥ १२ ॥

स इत्यादि—स विभीषणः विहितप्रणामः कृतप्रणतिः पीठमध्यास्त
निपण्णवान् । किङ्करैर्भृत्यैरिङ्गितज्ञैरभिप्रायवेदिभिः कल्पितमुपनीतम् ।
पूर्वसमागतानां प्रथमप्रविष्टानां संवाधकं संकटकृतं संवाधत इति ‘ण्वुल्लृचौ ।
३१११३५’ इति ण्वुल् । रावणस्य सिंहासने उपाश्रितः स्थितः चारुर्बाहु-
र्यस्य विभीषणस्येति सः ॥ १२ ॥

ततो दशाऽऽस्यः क्षुभिताऽहिकल्पं दीपाऽङ्गुलीयोपलमूढरत्नम् ।

अनेकचञ्चन्नखकान्तिजिह्वं प्रसार्य पाणिं समितिम्बभाषे ॥ १३ ॥

तत इत्यादि---विभीषणनिवेशनादुत्तरकालं दशास्यः पाणिं क्षुभिता-
हिकल्पं क्रुद्धविस्तृतफणेन सपेण तुल्यम् । दीपो दीपनशीलोऽङ्गुलीयोपलो-
ऽङ्गुलीयरत्नम् । यतः तत्र एव ऊढरत्नम् । अनेकाश्चञ्चन्यश्चलन्त्यो नख-
कान्तयो जिह्वा इव यस्य तं प्रसार्य समितिं राक्षससमूहं वभाषे ॥ १३ ॥

शक्तैः सुहृद्भिः परिदृष्टकार्यैराम्नातिभिर्नीतिषु बुद्धिमद्भिः ।

युष्मद्विधैः सार्धमुपायविद्भिः सिध्यन्ति कार्याणि सुमन्त्रितानि ॥ १४ ॥

शक्तरित्यादि---शक्तैः समर्थैः सुहृद्भिर्मित्रैः परिदृष्टकार्यैः सा भूददृष्ट-
कर्मणां कर्मसु विषाद इति । नीतिषु आम्नातिभिः अभ्यस्तनीतिशास्त्रैरित्यर्थः ।
'इष्टादिभ्यश्च । ५।२।८।८।' इति इनिः । 'क्तयेन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम्'
इति कर्मणि सप्तमी । बुद्धिमद्भिः ज्ञानवद्भिः । उपायविद्भिः सामादिकुशलै-
रित्यर्थः । युष्मद्विधैः सह कार्याणि सुमन्त्रितानि सिध्यन्ति ॥ १४ ॥

उपेक्षिते वालिखराऽऽदिनाशे दग्धे पुरेऽक्षे निहते सभृत्ये ।

सैन्ये द्विषां सागरमुत्तितीर्षावनन्तरं ब्रूत यदत्र युक्तम् ॥ १५ ॥

उपेक्षित इत्यादि---वालिखरादिनाशेषूपेक्षितेषु द्विषां च सैन्ये सागर-
मुत्तितीर्षावुत्तरितुमेषणशाले । अनन्तरमिदानीं ब्रूत वदत यदत्र युक्तमिति
उत्तितीर्षाविति 'इकोऽचि विभक्तौ । ७।१।७३।' इति जुम् न भवति ।
'वृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्बालवस्य । ७।१।७४।' इति पुंवद्भावः ॥ १५ ॥

भुजांसदक्षःस्थलकार्मुकासीन् गदांश्च शूलानि च यातुधानाः ।

परामृशन्तः प्रथिताभिमानाः प्रोचुः प्रहस्तप्रमुखा दशास्यम् ॥ १६ ॥

भुजांसेत्यादि---यदि वयं शत्रून् न व्यापादयामस्तदा क्रमेतैर्भुजादिभि-
रुद्देरिति प्रथिताभिमानाः प्रकाशिताहंकारा भुजादीन् परामृशन्तः
प्रहस्तप्रमुखा यातुधाना दशास्यं प्रोचुर्वक्तुमारब्धाः 'वच परिभाषणे'
लिट् उस् ॥ १६ ॥

अखण्डचमानं परिखण्डय शकं त्वं पण्डितम्मन्यमुदीर्णदण्डः ।

नराभियोगं नृमुजां प्रधान मन्त्रोन्मुखः किं नयसे गुरुत्वम् ॥ १७ ॥

अखण्ड्यमानमित्यादि—शक्रमखण्ड्यमानं अनभिभवनीयाहंकारम् अतश्च पण्डितंमन्यं पण्डितमात्मानं मन्यमानं नान्यः पण्डितोऽस्तीति तादृशं परिखण्ड्य जित्वा, त्वं नृभुजां प्रधान ! उदीर्णदण्डः अभ्यर्चितवलः सन् किमर्थं, मन्त्रोन्मुखो मन्त्रप्रवणः नराभियोगं गुरुत्वं नयसे प्रापयसि । सुमन्त्रितानि कार्याणि सिध्यन्तीति । अत्र कर्तुर्गुणाभियोगेन क्रियाफलेन योगादात्मनेपदम् ॥ १७ ॥

निर्यत्स्फुलिङ्गाऽऽकुलधूमराशिं किं ब्रूहि भूमौ पिनषाम भानुम् ।
आदन्तनिष्पीडितपीतमिन्दुं ष्ठीवाम शुष्केक्षुलताऽस्थिकल्पम् १८

निर्यदित्यादि—ब्रूहि समादिश आस्तां तावन्नराभियोगः । किं भानुं क्षितौ पिनषाम चूर्णयाम । प्रश्ने लोद् । 'रूधादिभ्यः श्रम् । ३।१।७८।' इति श्रम् । निर्यता निर्गच्छता स्फुलिङ्गनाकुलो धूमराशिर्यस्य तं भानुम् । आ इति विकल्पे वर्तते । दन्तनिष्पीडितपीतमिन्दुं वा पूर्वं दन्तैर्निष्पीडितं पश्चात्पीलं ष्ठीवाम निरत्याम । 'वोरूपधाया दीर्घ इकः । ८।२।७६।' इति दीर्घः । शुष्केक्षुयष्टेरस्थाव तत्सदृशम् ॥ १८ ॥

सराधवैः किं वत वानरैस्तैः प्रातराशोऽपि न कस्यचिन्नः ।

सस्थाणुकैलासधराभिघत्स्व किं द्यौरधोऽस्तु क्षितिरन्तरिक्षे ॥ १९ ॥

सराधवैरित्यादि—सस्थाणुर्यः कैलासः तस्य धर इति समासः । धारयतीति धरः । पचादित्वात् कर्तर्यच् । हे सस्थाणुकैलासधर ! नोऽस्माकं मध्ये कस्यचिदेकस्य यैः सराधवैः प्रातराशोऽपि प्रातर्भोजनमपि न भवति तैः सराधवैर्वानरैः किं प्रयोजनम् । वतशब्दोऽनुशोचने । अतोऽभिघत्स्व आदिश । किं द्यौराकाशमधोऽस्तु भवतु, क्षितिर्वा अन्तरिक्षे उपरिष्ठा इतिवति ॥ १९ ॥

चापल्ययुक्तस्य हरेः कृशानुः समेधितो बालधिभात्वदीयैः ।

शस्त्रेण वध्यस्य गलन्नधाक्षीद्राजन् ! प्रमादेन निजेन लङ्काम् ॥ २० ॥

चापल्येत्यादि—चपलस्य भावश्चापल्यम् । 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्माणि च । ५।१।१२४।' इति ब्राह्मणादित्वाद्भावे ष्यञ् । युवादिष्वपि दृश्यते । तत्र चापलमिति रूपम् । तेन युक्तस्य हरेर्मर्षटस्य ह राजन् ! शस्त्रेण वध्यस्य सतः यो बालधिः पुच्छं तद्भाक् समाश्रितः कृशानुस्त्वदीयैः भृत्यैः समेधितो वर्धितः तैलवृतादिभिर्गृहात् गृहं गच्छतो गलन् पुच्छात्पतन लङ्का-

मघाक्षीत् दग्धवान् । 'एकाचो वशो भष् झषन्तस्य स्वोः । ८।२।३७' इति धत्वम् । हलन्तलक्षणा वृद्धिः । 'हो ङः । ८।२।३१' । 'षढोः कः सि। ८।२।४१' इति कः निजेन आत्मीयेन प्रमादेन ज्वालादर्शितलक्षणेन तदानीं तस्य शस्त्रव्यापादनमेव युक्तमिति ॥ २० ॥

अथाञ्चितोरस्कमुदीर्णदृष्टिः कृत्वा विवक्षाप्रवणं शरीरम् ।

विवृत्तपाणिर्विहितोत्तरार्थं विभीषणोऽभाषत यातुधानान् ॥ २१ ॥

अथेत्यादि—प्रहस्तादिवचनानन्तरम् आञ्चितोरस्कं विन्यस्तहारत्वात् । पूजितोरस्कम् । 'उरःप्रभृतिभ्यः कप् । ५।४।१५१' इति कप् 'अच्चेः पूजायाम् । ७।२।५३' इतीद् । 'नाच्चेः पूजायाम् । ६।४।३०' इत्यनुनासिकलोपप्रतिषेधः । तादृशं शरीरं विवक्षाप्रवणं वक्तुमिच्छाभिमुखं कृत्वा शरीरस्य सौष्टवम् उत्पाद्येत्यर्थः । उदीर्णदृष्टिस्तदभिमुखदृष्टिः । विवृत्तपाणिस्तदभिमुखीकृतदक्षिणपाणिः । विभीषणो यातुधानानभाषत । विहितोत्तरार्थं विहितः प्रतिषिद्धः परैरुदितस्य वचनस्यार्थो यत्र भाषण इति ॥ २१ ॥

युद्धाय राज्ञा सुभृतैर्भवोद्भः सम्भावनायाः सदृशं यदुक्तम् ।

तत्प्राणपण्यैर्वचनीयमेव, प्रज्ञा तु मन्त्रेऽधिकृता न शौर्यम् ॥ २२ ॥

युद्धायेत्यादि—युद्धार्थं राज्ञा भवन्तः सुभृताः संवर्धिताः तैः सुभृतैर्यदुक्तं 'भानुं पिनषाम्' इत्यादि कीदृशम् । संभावनायाः सदृशम् । तत्प्राणपण्यैर्वचनीयमेव । मन्त्रे तु प्रज्ञाधिकृता न शौर्यम् ॥ २२ ॥

'नराभियोगं किं नयसे गुरुत्वम्' इत्यत्रोत्तरमाह—

यच्चापि यत्नाऽऽहतमन्त्रवृत्तिर्गुरुत्वमायाति नराभियोगः ।

वशीकृतेन्द्रस्य कृतोत्तरोऽस्मिन् विध्वंसिताशेषपुरो हनूमान् ॥ २३ ॥

यच्चेत्यादि—वशीकृतेन्द्रस्य निर्जितशक्रस्य रावणस्य नराभियोगो यत्नाऽऽहतमन्त्रवृत्तिर्यत्नेनाहता मन्त्रवृत्तिर्यस्य सः तादृशो गुरुत्वमायातीति यच्चाप्युक्तम् अस्मिन् वस्तुनि हनूमान् कृतोत्तरो दत्तोत्तरः । यतः प्रध्वंसिताशेषपुरः । पुरं लङ्का । पूःशब्दो वा कृतसमासान्तः । यत्र कपिनाथभृत्येन ईदृशमनुष्ठितं स कथं नराभियोगो मन्त्रोन्मुखो न निरूप्यत इति ॥ २३ ॥

प्रमादेनाग्निः लङ्कामघाक्षीदित्यत्रोत्तरमाह—

अग्निः प्रमादेन ददाह लङ्कां वट्यस्य देहे स्वयमेधितश्चेत् ।

विष्णुश्च तदेवधियाऽभिधत्त ब्रह्माऽख्वन्धोऽपि यदि प्रमादः ॥ २४ ॥

अग्निस्त्रियादि—वध्यस्य वधाहस्य देहे तदेकदेशेषु पुच्छादिषु प्रमादेन स्वयं युष्माभिरग्निरिधितो दीपितः लङ्कां दादाह चेत्, तथास्तु । ब्रह्मास्त्रबन्धोऽपि यदि प्रमादः तदेवधिया देवबुद्ध्या देवानां सात्त्विकत्वान्निर्मला बुद्धिः तथा विमृश्य निरूप्याभिधत्त ब्रूत । सोऽपि प्रमाद इति यतोऽसावमो-योऽपि विश्लेषितः । अभिधत्तेति । 'दधस्तथाश्च । ८।२।३८।' इत्यभ्यासदकारस्य भष्, धातोश्च खरि चत्वम् ॥ २४ ॥

पराभियोगः सर्वथा निरूप्यत इति दर्शयन्नाह—

जगन्त्यमेयाऽद्भुतभावभाञ्जि जिताऽभिमानाश्च जना विचित्राः ।
कार्ये तु यत्नं कुरुत प्रकृष्टं मा नीतिगर्भान्सुधियोऽवमन्धवम् ॥ २५ ॥

जगन्तीत्यादि—असंख्यविचित्रभावभाञ्जि जगन्ति तत्रत्या अपि जनाः विचित्राः शक्तिदेशकालवशात् जिताभिमानाश्च । अन्यैरुत्कृष्टैर्जायतेऽभिमान-स्तेषाम् । तेनात्मन्यभिमानो न कर्तव्य इति दर्शयति । कार्ये तु प्रकृष्टमुत्तमं यत्नं कुरुत । येन तत्कार्यं सिध्यति । तत्र च ये युक्तिमभिदधति तान्नीतिगर्भान् नीतिरेव षाड्गुण्यादिज्ञानं गर्भं येषाम् । अत एव सुधियो मावमन्धवं मा परि-भूत । तदयुक्तानुष्ठानात् । 'हनः सिच् । १।२।१४।' इति कित्त्वविधान-सामर्थ्यात् अनुनासिकलोपाभावः । 'धि च । ८।२।२५।' इति सिचो लोपः ॥ २५ ॥

यथा च विजिगीषुणा वर्तितव्यं तथोपदिशन्नाह—

वृद्धिक्षयस्थानगतामजस्रं वृत्तिं जिगीषुः प्रसमीक्षणः ।

वदेत सन्ध्याऽऽदिषु यो गुणेषु लक्ष्मीर्न तं मुञ्चति चञ्चलाऽपि ॥ २६ ॥

वृद्धीत्यादि—आत्मद्रव्यप्रकृतिसंपन्नो नयस्याधिष्ठानं विजिगीषुः तस्य च वृद्धिक्षयस्थानमिति त्रीणि फलानि । गुणाश्च सन्धिविग्रहयानासनसंश्रय-द्वैधीभावाः पट । तत्र यस्मिन् गुणे स्थितः पश्येदिहस्थः पश्यामीति । दुर्गसेतुवणिककृषिशून्यनिवेशनद्रव्यहस्तिवनकर्माण्यात्मनः प्रवर्तयितुं परस्य चैतानि हन्तुं गुणमातिष्ठेत् सा वृद्धिः । यस्मिन् गुणे स्थितः स्वकर्मणामुप-घातं पश्येत् नेतरस्य तस्मिन्न तिष्ठेत् स क्षयः । स्वकर्मणां वृद्धिगुणेना-भिपश्येदेतत् स्थानमित्यनेन मार्गेण यो विजिगीषुः वृद्धिक्षयस्थानगतामात्मनः परस्य च वृत्तिमजस्रं शश्वत् प्रसमीक्षमाणो निरूपयन् सन्ध्यादिषु षड्गुणेषु वदेत यदेत । तं विजिगीषुं लक्ष्मीः राज्यश्रीः चञ्चलापि न मुञ्चति । गुण-शृङ्खलावद्धत्वात् ॥ २६ ॥

अस्ति स कालो यत्र विजिगीषुणा परवृद्धिरुपेक्षणीयेति दर्शयन्नाह—

उपेक्षणीयैव परस्य वृद्धिः प्रनष्टनीतेरजितेन्द्रियस्य ।

मदाऽऽदियुक्तस्य विरागहेतुः समूलघातं विनिहन्ति याऽन्ते ॥ २७ ॥

उपेत्यादि---परः शत्रुः प्रनष्टनीतित्वादजितेन्द्रियः न मदादिषड्वर्गं त्यजति, किंतु तेनैव युज्यते । तस्यैवविधस्य या वृद्धिः सा सर्वस्यैव लोकस्य विरागहेतुः वैमुख्यकारणमुपेक्षणीयैव न तदभावाय । तेनेदृशी या अन्ते अवसाने समूलघातं सर्वं सर्वेण विनिहन्ति विनाशयति ॥ २७ ॥

तथास्ति स कालो यत्र विजिगीषुणाप्यात्मक्षयं उपेक्षणीय इत्याह---

जनाऽनुरागेण युतोऽवसादः फलाऽनुबन्धः सुधियाऽऽत्मनोऽपि ।

उपेक्षणीयोऽभ्युपगम्य सन्धिं कामाऽऽदिषड्वर्गजिताऽधिपेन ॥ २८ ॥

जनेत्यादि---आत्मनोऽप्यवसादः क्षयः जनानुरागेण युतः संवद्धः । अनु-
रक्तप्रकृतिमण्डलत्वाद्विजिगीषोः फलानुबन्धः फलमनुवध्नाति । सुधिया विदुषा
अधिपेन राज्ञा । कामादिषड्वर्गजिता कामक्रोधलोभमोहमदेष्याणां षण्णां वर्ग-
स्तज्जिता उपेक्षणीयः । तत्रापि परैः सन्धिमभ्युपगम्य कृत्वा । अन्यथा क्षीणो-
ऽयमिति परोऽभियुज्जीत ॥ २८ ॥

यदा च विजिगीषुः सन्धिविग्रहाभ्यां फलं न पश्येत्तदा स्ववृद्धिप्राप्त्यर्थमा-
सनं कुर्यादित्युपदिशन्नाह—

यदा विगृह्णन्न च सन्दधानो वृद्धिं क्षयं चानुगुणं प्रपश्येत् ।

आसीत् राजाऽवसरप्रतीक्षस्तदा प्रयासं वितथं न कुर्यात् ॥ २९ ॥

यदेत्यादि—यदा हि राजा विजिगीषावस्थितः विगृह्णन् विग्रहं कुर्वन्
आत्मनोऽनुगुणामनुकूलं वृद्धिं न पश्येत् क्षयं वा परस्यात्मनोऽनुगुणं न पश्येत् ।
सन्दधान इति सन्धिं च कुर्वन्नात्मनोऽनुगुणं न पश्येत् तदा आसीत् स्ववृ-
द्ध्यर्थमासनं कुर्यात् न विग्रहं सन्धिं वा । अवसरः कालस्तं प्रतीक्षत इति अवस-
रप्रतीक्षः । 'कर्मण्यण् ॥३१२॥१॥' इत्यण् । सन्धेर्विग्रहस्य वा स्वपरवृद्धिक्षया-
नुकूलं कालं प्रतीक्षमाण इत्यर्थः । न पुनः प्रयासं सन्धिविग्रहोद्यमं वितथं
निष्प्रयोजनं कुर्यात् । यदा तु परं विग्रहीतुमशक्तः तदा श्वावराहकूलहं समान-
मुपदेक्ष्यति ॥ २९ ॥

सन्धि कृतवतोऽपि विजिगीषोः परेण वा वियुज्यमानस्य विधिमुपादि-
शन्नाह—

सन्धौ स्थितो वा जनयेत्स्ववृद्धिं हन्यात्परं वोपनिषत्प्रयोगैः ।
आश्रावयेदस्य जनं परैर्वा विग्राह्य कुर्यादवहीनसन्धिम् ॥ ३० ॥
सन्धावित्यादि—सन्धौ स्थितो वर्तमानः जनयेत् स्ववृद्धिम् । यथा अंत्यु-
च्छ्रितः तामभियुञ्जीत परं वा शत्रुम् उपनिषत्प्रयोगैः विषादिदानैः हन्यात् विना-
शयेत् सन्धिना जातविश्वासत्वात् । आश्रावयेदस्य जनं देशादिदानेनाकर्षयेत् ।
बलवता अभियुज्यमानः परैः विग्राह्य कलहं कारयित्वा अवहीनसन्धिम् आ-
क्रान्तसन्धिं कुर्यात् । तस्योपतापितत्वात् ॥ ३० ॥

सन्धिसोर्विजिगीषोः शत्रुमण्डलभेदं कुर्वतः सुकरः संधिरित्युपदिशन्नाह—
सन्दर्शितस्नेहगुणः स्वशत्रून्विद्वेषयन्मण्डलमस्य भिन्ध्यात् ।
इत्येवमादि प्रविधाय सन्धिर्वृद्धेर्विधेयोऽधिगमाभ्युपायः ॥ ३१ ॥
सन्दर्शितेत्यादि—अस्मच्छत्रवोऽनेन सन्धानं मा कार्षुरिति तान्विद्वे-
षयन् विमुखानुत्पादयन् । सन्दर्शितस्नेहगुणः प्रकटीकृतानुरागगुणः । अस्य
शत्रोर्मण्डलमभात्यादिप्रकृतिं भिन्ध्यात् । इत्येवमादि प्रविधाय सन्दर्शिते-
त्येवमादिवाक्यार्थं कृत्वेत्यर्थः । वृद्धेरधिगमाभ्युपायः प्राप्तिहेतुः सन्धिर्विधेयो-
ऽनुष्ठेयः ॥ ३१ ॥

विग्रहोऽपि विशिष्टस्यैव विजिगीषोर्न यस्य कस्यचिदित्युपदिशन्नाह—
मत्वा सहिष्णून्परोपजप्यान्स्वकानधिष्ठाय जलाऽन्तदुर्गान् ।
द्रुमाऽद्रिर्दुर्लङ्घ्यजलाप्रधृष्यान्वर्धेत राजा रिपुविग्रहेण ॥ ३२ ॥
मत्वेत्यादि—स्वकानात्मीयाननुजीविनः सहिष्णून् समर्थान् अपरोपज-
प्यान् परैरभेद्यान् जलान्ते ये दुर्गाः प्रदेशाः तानधिष्ठाय तत्र स्थापयित्वा ।
'अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म । १ । ४ । ४६ ।' इति कर्मसंज्ञा । कीदृशान् द्रुमै-
रद्रिभिर्दुर्लङ्घ्यजलैश्चाप्रधृष्यान् अगम्यान् । वनपर्वतजलभेदात् त्रिविधं
दुर्गम् । रिपुणा सह यो विग्रहः तेन हेतुना राजा वर्धेत वृद्ध्युपचितः
स्यात् ॥ ३२ ॥

यदा अरिविजिगीषू परस्परं हन्तुं न शक्तौ तदा विजिगीषोरासनमुप-
दिशन्नाह—

शक्नोति यो न द्विषतो निहन्तुं विहन्यते नाऽप्यबलैर्द्विषद्भिः ।
स श्वावराहं कलहं विदध्यादासीत् दुर्गाऽऽदि विवर्धयंश्च ॥ ३३ ॥

युवयोः संधानकारणमस्त्येवेति दर्शयन्नाह—

रामोऽपि दाराऽऽहरणेन तप्तो वयं हतैर्बन्धुभिरात्मतुल्यैः ।

तप्तस्य तप्तेन यथाऽऽस्यसो नः संधिः परेणाऽस्तु विमुञ्च सीताम् ॥४०॥

राम इत्यादि—यथा तप्तेनायसा तप्तस्यायसः संधिर्घटते तद्वद्स्माकं तप्तानां तप्तेन रामेण सन्धिरस्तु । अतो मुञ्च सीतां सन्धिनिमित्तम् ॥ ४० ॥

यदि च तेन तप्तेनापि सता ज्यायसा न सन्धानं तदा सर्वे वयं न जीवामः ख्व तेजसो विनाशकत्वादिति दर्शयन्नाह—

संयुक्षितं मण्डलचण्डवातैरमर्षतीक्ष्णं क्षितिपालतेजः ।

सामान्भसा शान्तिमुपैतु राजन्प्रसीद जीवाम सवन्धुभृत्याः ॥४१॥

सन्धुक्षितमित्यादि—क्षितिपालतेजः सीतावियोगजम् । इन्द्रादिमण्डलैश्चण्डवातैरिव संयुक्षितं दीपितम् । अमर्षतीक्ष्णम् असहिष्णुतयाऽसह्यम् । सामान्भसा साम्ना सन्धिना अम्भसेव शान्तिमुपैतु । हे राजन् ! प्रसीद किं संरम्भेण । अन्यथा तमारण्योऽग्निरिव दुःखामर्षजं तेजो विक्रमयतीति ॥ ४१ ॥

समानयोरपि सन्धानमेव युज्यते न विग्रहः किं पुनर्ज्यायसीत्यत्र हेतुं दर्शयन्नाह—

अपक्वकुम्भाविव भङ्गभाजौ राजन्नियातां मरणं समानौ ।

वीर्ये स्थितः किंतु कृताऽनुरागो रामो भवांश्चोत्तमभूरिवैरी ॥ ४२ ॥

अपक्वेत्यादि—हे राजन् ! यथा कुम्भावपक्वौ भङ्गभाजौ परस्पराभिहतौ विनश्यतः । तद्वत् समानौ युध्यमानौ मरणमियाताम् । सार्वधातुक्यकारत्वादिष्यो न दीर्घत्वम् । राजन्नियातामिति 'ङमो ह्रस्वादिच ङमुण् नित्यम् । ८।३।३२।' इति नुडागमः । किंतु रामो वीर्ये स्थितः उत्साहशक्तियुक्त इत्यर्थः । विक्रमवलं चोत्साहशक्तिः । कृतानुरागश्च अनुरक्तमण्डलत्वात् । भवान् पुनः उत्तमभूरिवैरी । उत्तमा इन्द्रादयो भूरयः प्रभूता वैरिणः शत्रवो यस्य । अतस्तेन संधानमेव युक्तं न विग्रहः ॥ ४२ ॥

ननु च समज्यायोभ्यां सन्धीयेत हीनेनैव विगृह्यायात् । मन्त्रप्रभावोत्साहशक्तिभिर्युक्तो ज्यायान् । अपचितो हीनः । तुल्यशक्तिः समः । तत्र ज्ञानवलं मन्त्रशक्तिः । कोशदण्डवलं प्रभुशक्तिः । विक्रमवलम् उत्साहशक्तिः ।

सत्यामुत्साहशक्तौ शेषयोरभावान्न हीनेन विग्रह एव युज्यत इत्याह—

दण्डेन कौशेन च मन्यसे चेत्प्रकृष्टमात्मानमरेस्तथापि ।

रिक्तस्य पूर्णेन वृथा विनाशः पूर्णस्य भङ्ग बहु हीयते तु ॥ ४३ ॥

दण्डेनेत्यादि—दण्डेन चतुरङ्गेन बलेन, कौशेन हेमरूप्यादिना यदि प्रकृष्टमात्मानमरेः सकाशान्मन्यसे, तथाप्येवमपि न युक्तं यतो रिक्तस्य पूर्णेन भवता विनाशो भङ्गः वृथा निष्फलः । पूर्णस्य पुनर्भवतो भङ्गे बहु हीयत इति हीनेन बलवतोऽपि संधानं युक्तम् । रिक्तस्य भङ्गो माभूत् ॥ ४३ ॥

अन्यद्विजयफलमस्तीति चेदाह—

क्लिष्टाऽऽत्मभृत्यः परिमृग्यसम्पन्मानी यतेताऽपि ससंशयेऽर्थे ।

संदेहमारोहति यः कृताऽर्थो नूनं रतिं तस्य करोति न श्रीः ॥ ४४ ॥

क्लिष्टेत्यादि—यो मानी क्लिष्टात्मभृत्यः चिरकालक्लिष्टशरीरः क्लिष्टभृत्यश्च । परिमृग्यसम्पत् प्रार्थनीया विभूतिर्येन । मृगयतेः स्वार्थिकण्यन्तादचो यत् । ससंशयेऽर्थे स्यान्न स्यादिति यतेतापि यत्नं कुर्यात् । यः कृतार्थो भवादृशः त्रैलोक्यविजयित्वात् संदेहमारोहति संदेहे प्रवर्तते, तस्य नूनमवश्यं श्रीर्विभूतिः रतिं स्थितिं न करोति ॥ ४४ ॥

कदा तर्हि विग्रह इत्याह—

शक्यान्यदोषाणि महाफलानि समारभेतोपनयन्समाप्तिम् ।

कर्माणि राजा विहिताऽनुरागो विपर्यये स्याद् वितथः प्रयासः ॥ ४५ ॥

शक्यानीत्यादि—शक्यानि यानि कर्तुं पार्यन्ते । अदोषाणि शुद्धानि महाफलानि कार्याणि राजा समारभेत विग्रहेणेत्यर्थात् । उपनयन् समाप्तिं नयन् । विहितानुरागोऽनुरक्तकृतिः । विपर्यये उक्तस्य । अशक्यानि दोषाधिकानि स्वल्पफलानि राजा समारभेत समाप्तिं च न नयति स वितथः प्रयासः निष्फलो विग्रहः ॥ ४५ ॥

ममापि रामविग्रहेण सर्वमस्तीति चेदाह—

जेतुं न शक्यो नृपतिः सुनीतिदोषः क्षयाऽऽदिः कलहे ध्रुवश्च ।

फलं न किञ्चिन्न शुभा समाप्तिः कृताऽनुरागं भुवि सन्त्यजारिम् ॥ ४६ ॥

जेतुमित्यादि—नृपती रामः जेतुं न शक्यः विग्रहेण । उत्साहशक्तियुक्तत्वात् । तेन सह कलहे दोषः क्षयादिः ध्रुवोऽवश्यंभावी । विग्रहे वा सति

क्षयव्ययप्रयासप्रत्यवाया भवन्तीत्युक्तम् । फलं न किञ्चित् न शुभा समाप्तिः
स्वबन्धुविनाशहेतुत्वात् । अतो योद्धुमरिं ज्यायांसं संत्यज । भुवि कृतानुरागं
त्वं पुनरकृतानुराग इति ॥ ४६ ॥

अन्यच्च वालिवध एव तस्यार्थसम्पज्जयायेति दर्शयन्नाह—

त्वन्मित्रनाशो निजमित्रलाभः समेतसैन्यः स च मित्रकृच्छ्रे ।
भोग्यो वशः पश्य शरेण शत्रोः प्रसाधितो वालिवधे न कोऽर्थः ॥ ४७ ॥

त्वन्मित्रेत्यादि—वालिबधे सति शरेण रामस्य कोऽर्थो न प्रसाधितः,
अपि तु सर्व एव पश्य । तथाहि । त्वन्मित्रनाशः तस्य च मित्रलाभः मित्रं
च तल्लभश्चेति । समेतसैन्यः कृच्छ्रे संकटप्राप्तौ भूतभोग्यः उपजीव्यः । वशो-
ऽनुकूल इति ॥ ४७ ॥

तं विभिद्य साधयिष्यामीति चेदाह—

लोभाद्भयाद्वाऽभिगतः कपीन्द्रो न राघवं येन भवेद्विभेद्यः ।
स्थितः सतां वर्तमानि लब्धराज्यं प्रतिप्रियं सोऽभ्यगमच्चिकीर्षुः ॥ ४८ ॥

लोभादित्यादि—क्रुद्धलुब्धभीतावमानिताश्चत्वारो भृत्याः परस्य भेद्याः ।
तत्र कपीन्द्रो राघवं लोभाद्भयाद्वा त्रासाद्वा नाभिगतः । येन हेतुनाऽयं
विभेद्यः स्यात् । यस्मादसौ सतां मार्गं स्थितः सन् लब्धराज्यो लाभरतः
प्रतिप्रियं चिकीर्षुः ॥ ४८ ॥

तदनुजीविनोऽपि भेद्यः इति दर्शयति—

फलाशिनो निर्झरकुञ्जभाजो दिव्याङ्गनानङ्गरसानभिज्ञाः ।
न्यग्जातयो रत्नवरैरलभ्या मुख्याः कपीनामपि नोपजप्याः ॥ ४९ ॥

फलाशिन इत्यादि—कपीनामपि मुख्या नीलकुमुदादयोऽपि नोपजप्याः
नोपजपितुं शक्याः । यतः फलाशिनो मिष्टान्ननिरपेक्षाः । निर्झरकुञ्जभाजः
न रम्यप्रासादवासिनः । दिव्याङ्गनानङ्गरसानभिज्ञा दिव्याङ्गनासु योऽनङ्ग-
रसः सुरतरसः तद्वनभिज्ञाः न्यग्जातयः न्यञ्चन्तीति 'ऋत्विग्दधृक्छग्-
दिगुष्णिगाञ्चुयुजिक्छ्वां च । ३ । २ । ५९ ।' इत्यानेन क्तिन् ॥ ४९ ॥

युष्मन्मित्रपुत्रोऽङ्गदोऽप्यभेद्य इति दर्शयन्नाह—

कृताभिषेको युवराजराज्ये सुग्रीवराजेन सुताविशेषम् ।

ताराविधेयेन कथं विकारं तारासुतो यास्यति राक्षसाऽर्थम् ॥ ५० ॥

कृतेत्यादि—सुग्रीवराजेन ताराविधेयेन ताराचित्तानुवर्तिना । तारासुतो-
ऽङ्गदः यौवराज्ये कृताभिषेकः सुताविशेषमिति क्रियाविशेषणम् । सुतनिर्विशेषं
मैवायं सुतो न वालिन इति । तत्कथं राक्षसार्थं विकारं भेदं यास्यति ।
नैवेत्यर्थः ॥ ५० ॥

अन्यसमाश्रयादपि रामेण विग्रहो न युज्यत इति दर्शयन्नाह—

इयामि रामादधिकं समं वा नान्यं विरोधे यमुपाश्रयेम ।

त्त्वा वरं साऽनुशयः स्वयम्भूरिन्द्राऽऽदयः पूर्वतरं विरुद्धाः ॥ ५१ ॥

पश्यामीत्यादि—रामादधिकं ज्यायांसं समानं वा न पश्यामि । यं विरोधे
वेग्रहनिमित्तमुपाश्रयेम आश्रयं गच्छेम । संप्रश्ने लिङ् । स्वयंभूर्ब्रह्मा तावन्ना-
न्यः यतो वरं दत्त्वा सानुशयः विप्रतीसारवान् जातः । किमिदमकार्यमनुष्ठितं
येति । इन्द्रादयस्तु पूर्वतरं विरुद्धाः ॥ ५१ ॥

एवं दुर्गसमाश्रयोऽपि न युज्यत इति दर्शयन्नाह—

दुर्गाऽऽश्रितानां बहुनापि राजन् ! कालेन पार्ष्णिग्रहणाऽऽदिहेतुः ।

दुर्गोपरोधं न च कुर्वतोऽस्ति शत्रोश्चिरेणाऽपि दशाऽऽस्य ! हानिः ॥ ५२ ॥

दुर्गेत्यादि—दुर्गाश्रितानामस्माकं दुर्गोपरोधं कुर्वतः शत्रोर्बहुनापि कालेन
राजन् ! पार्ष्णिग्रहणादेः । आदिशब्दादाटविकान्तपालादिप्रकोपस्य हेतु-
र्नास्ति यद्वशादुपरोधो न भविष्यति । अत्र स्थितानां क्षय एव केवलं
च शत्रोरुपरोधं कुर्वतः चिरेणापि हानिः । युद्धशरीरोपयोगिनां सर्वदा
प्रम्भवात् ॥ ५२ ॥

राष्ट्रं तरुवीधरमम्बु पानं वृत्तिः फलैर्नो गजवाजिनार्यः ।

राष्ट्रं न पश्चान्न जनोऽभिरक्ष्यः किं दुःस्थमाचक्ष्व भवेत्परेषाम् ॥ ५३ ॥

शस्त्रमित्यादि—तरवश्च उर्वीधराश्चेति 'जातिरप्राणिनाम् । २।४।६।' इति
शकवद्भावः । तच्छस्त्रं न शूलखड्गादि । पानमम्बु न मैरेयादि । फलैर्वृत्तिर्नोद-
नादिभिः । नो गजवाजिनार्यः शरीरमात्रत्वान्निश्चिन्ताः । राष्ट्रं देशो न पश्चान्,

अत एव तत्स्थो जनो नाभिरक्ष्यः । एवं च सति परेषां किं दुःस्थम् इत्याचक्ष्व
कथय । अतो रामेण ज्यायसा सन्धिरेवास्तु न विग्रह इति ॥ ५३ ॥

तदेव दर्शयन्नाह—

सन्धानमेवाऽस्तु परेण तस्मान्नाऽन्योऽभ्युपायोऽस्ति निरूप्यमाणः ।
नूनं विसन्धौ त्वयि सर्वमेतन्नेष्यन्ति नाशं कपयोऽचिरेण ॥ ५४ ॥

सन्धानमित्यादि—तस्मात्परेण शत्रुणा सह सन्धानं सन्धिरेवास्तु । अन्यो-
ऽभ्युपायो निरूप्यमाणो नास्ति । नूनं निश्चितं विसन्धौ तेन समं सन्धिमुकृत-
वति त्वयि सति कपयः सर्वमेतत् दृश्यमानं रक्षोवलादि अचिरेण शीघ्रं नाशं
नेष्यन्ति इति भावः ॥ ५४ ॥

विभीषणोक्तं बहु मन्यमानः प्रोन्नम्य देहं परिणामनम्रम् ।

स्वलद्वलिर्वाधककम्प्रमूर्धा मातामहो रावणमित्युवाच ॥ ५५ ॥

विभीषणोक्तमित्यादि—बहु मन्यमानः श्लाघमानो मातामहो मातुः पिता-
माल्यवान्नाम । देहं परिणामनम्रं वयसः परिणामान्नमनशीलं प्रोन्नम्योत्क्षिप्य ।
अत एव स्वलद्वलिः । वाधकेन वृद्धभावेन । मनोज्ञादित्वात् बुद्ध । कम्प्रः
कम्पन्शीलो मूर्धा यस्य सः । रावणमिति वक्ष्यमाणमुवाच ॥ ५५ ॥

एकैः पदातिः पुरुषो धनुष्मान् योऽनेकमायानि वियद्गतानि ।

रक्षःसहस्राणि चतुर्दशाऽऽर्दीत् का तत्र वो मानुषमात्रशङ्का ॥ ५६ ॥

एक इत्यादि—एकः असहायः । पदातिः न हस्त्याचारूढः । पुरुषो मनुष्यः ।
धनुष्मान् धनुर्मात्रायुधः । चतुर्दश रक्षःसहस्राणि अनेकमायानि विविध-
भायाजालवितानदक्षाणि वियद्गतानि आकाशे स्थितानि । अत एव प्रया-
तुमशक्त्यानि । परेषामित्यर्थात् । आर्दीत् हिंसितवान् । का तत्र वः युष्मार्कं
मानुषमात्रशङ्का, नैवेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

किंतु दिव्योऽसाविति तदेव दर्शयन्नाह—

ब्रह्मर्षिभिर्नूनमयं सदेवैः संतापितै रान्त्रिचरक्षयाय ।

नराऽऽकृतिर्वानरसैन्यशाली जगत्यजग्यो विहितोऽभ्युपायः ॥ ५७ ॥

ब्रह्मत्यादि—सदेवैर्ब्रह्मादिभिः संतापितैः रात्रिचरक्षयाय नूनमयं राम
उपायो विहितः उत्पादितः। नराकृतिः आकृत्यैव केवलं नरः । वानरसैन्यशाली
आढयः । अजय्यो जेतुमशक्यः ॥ ५७ ॥

दृष्टश्चैवं प्रकारो देवानां मयेति दर्शयन्नाह—

वज्राऽभिघातैरविरुग्णमूर्तेः फेनैर्जलानामसुरस्य मूर्ध्नः ।

चकार भेदं मृदुभिर्महेन्द्रो यथा तथैतत्किमपीति बोध्यम् ॥ ५८ ॥

वज्राभिघातैरित्यादि—वज्राभिघातैरपि अविरुग्णमूर्तेः अचूर्णितशरी-
रस्य असुरस्य नमुचेः संबन्धिनो मूर्ध्नो जलफेनैर्मृदुभिः भेदं चकार
यथा तथैतदपि शमे स्थितानामपि देवानां नराकृति वस्तु किमपीति
बोद्धव्यम् ॥ ५८ ॥

अन्यथा कथं फेनपिण्डैर्विनाश इत्याह—

क्व स्त्रीविषह्याः करजाः क्व वक्षो दैत्यस्य शैलेन्द्रशिलाविशालम् ।

संपश्यतैतद् द्युषदां सुनीतं विभेदं तैस्तन्नरसिंहमूर्तिः ॥ ५९ ॥

कृत्यादि—स्त्रीविषह्याः स्त्रीभिः विषोढुं शक्याः करजा नखाः क्व । दैत्यस्य
हिरण्यकशिपोः शैलेन्द्रशिलावत् विशालं वक्षःक्व च । वक्षःकरजयोरपि दूरमन्तरं
तथापि द्युषदां देवानाम् एतत्सुनीतं सुनयं संपश्यत । यत् तैर्नखैर्नरसिंहमूर्तिः
तद्वक्षो विभेदं ॥ ५९ ॥

यत्रैवमुपायेन देवैर्निहन्यते तत्र त्वं कथं प्रमादी मुह्यसीत्याह—

प्रमादवांस्त्वं क्षतधर्मवर्त्मा गतो मुनीनामपि शत्रुभावम् ।

कुलस्य शान्तिं बहु मन्यसे चेत्कुरुष्व राजेन्द्र विभीषणोक्तम् ॥ ६० ॥

प्रमादवानित्यादि—त्वं यतः प्रमादी अजितोन्द्रियत्वात् । क्षतधर्म-
वर्त्मा त्यक्ताचारः । अतो मुनीनामपि शमे स्थितानामपि शत्रुत्वं गतः ।
ईदृशोऽपि कुलस्य शान्तिं बहु मन्यसे चेत् श्लाघसे यदि । हे राजेन्द्र !
विभीषणोक्तम् कुरुष्व ॥ ६० ॥

घोषेण तेन प्रतिलब्धसञ्ज्ञो निद्राऽऽविलाऽक्षः श्रुतकार्यसारः ।

स्फुरन्वनः साऽम्बुरिवाऽन्तारिक्षे वाक्यं ततोऽभाषत कुम्भकर्णः ॥ ६१ ॥

घोषेणेत्यादि—प्रहस्तविभीषणमातामहानां वदतां यो घोषः तेन प्रति-
 छब्धसंज्ञो विबुद्धः कुम्भकर्णो निद्रयाऽऽविले अक्षिणी यस्येति सः । निद्रायाः
 सामस्त्येनानपगमात् कषायितचक्षुः श्रुतकार्यसारः श्रुतकार्यतत्त्वः । ततः
 कार्यसारश्रवणानन्तरं वाक्यमभाषत । यथा वनः साम्बुः सजलोऽन्तरिक्षे
 वियति स्फूर्जति तद्वत् स्फूर्जन्निति ॥ ६१ ॥

कार्यं निश्चित्य सदसि भाषणानि न पञ्चाङ्गमन्त्रं विनेति साङ्गं तं तावदु-
 पदर्शयन्नाह—

क्रियासमारम्भगतोऽभ्युपायो नृद्रव्यसम्पत्सहदेशकाला ।

विपत्प्रतीकारयुतार्थसिद्धिर्मन्त्राङ्गमेतानि वदन्ति पञ्च ॥ ६२ ॥

क्रियेत्यादि—क्रियाणां दुर्गादिकर्मणां यः समारम्भस्तं गतः प्राप्तो यो-
 ऽभ्युपायः कर्मणामारम्भोपाय इत्यर्थः । इदमेकमङ्गम् । नृद्रव्यसम्पत् पुरु-
 षाणां द्रव्याणां च सम्पदिति द्वितीयम् । द्वयोस्सहवचनं योगवाहित्वज्ञा-
 पनार्थम् । सहदेशकालेति । यस्मिन् देशे काले च कार्यसिद्धिस्ताभ्यां
 सह वर्तत इति तृतीयम् । अत्रापि सहवचनं योगादेव । कर्मणामनु-
 श्रियमानानां या विपत्तस्याः प्रतीकारस्तेन युक्तेति चतुर्थम् । अर्थसिद्धिः
 कार्यसिद्धिरिति पञ्चमम् । एतानि पञ्च मन्त्रस्याङ्गानि वदन्ति नीतिज्ञाः ॥ ६२ ॥

न निश्चितार्थं समयं न देशं क्रियाभ्युपायाऽऽदिषु योऽतियायात् ।

स प्राप्नुयान्मन्त्रफलं न मानी काले विपन्ने क्षणदाचरेन्द्र ॥ ६३ ॥

नेत्यादि—विनिश्चितार्थोऽवश्यं सिध्यतीति यस्मिन् समये काले देशे च
 कार्यसिद्धिः तादृशं समयं देशं च यो विजिगीषुर्नातियायात् नातिक्रामेत् ।
 प्रतिषेधस्य द्वित्वात् प्रतिषेधद्वयं योज्यम् । समयं च देशमिति पाठान्तरे
 समुच्चयेनैक एव योज्यः । क्रियाभ्युपायादिषु सत्सु, आदिशब्दात्
 पुरुषद्रव्यसंपाद्विपत्प्रतीकारे च स प्राप्नुयान्मन्त्रफलम् । हे क्षणदाचरेन्द्र !
 न पुनर्मानी भवादृशः काले विपन्ने प्राप्नोति । स हि देशकालौ
 हापयति ॥ ६३ ॥

औष्ण्यं त्यजेन्मध्यगतोऽपि भानुः शैत्यं निशायामथवा हिमांशुः ।

अनर्थमूलं भुवनाऽवमानी मन्ये न मानं पिशिताशिनाथ ॥ ६४ ॥

औष्ण्यमित्यादि—हे पिशिताशिनाथ ! भानुर्मेध्यगतोऽपि मध्याह्नेऽपि

गौण्यमुष्णतां त्यजेत् । संभावेने लिङ् । अथवा हिमांशुर्निशायामपि
त्यं त्यजेत् । भुवनावमानी पुनर्भुवनमवमन्तुं शीलमस्येति । नास्ति
त्सम इति स भवादृशो मानं न त्यजेत् । अनर्थमूलम् अनर्थस्य कारणम् ।
वं मन्ये जानामि ॥ ६४ ॥

तथाऽपि वक्तुं प्रसभं यतन्ते यन्मद्विधाः सिद्धिमभीप्सवस्त्वाम् ।

विलोमचेष्टं विहिताऽवहासाः परैर्हि तत्स्नेहमयैस्तमोभिः ॥ ६५ ॥

तथापीत्यादि—तथापि एवमपि सति मद्विधाः सिद्धिं कार्यनिष्पत्ति-
भीप्सवः आप्तुमेषणशीलाः । यत्त्वां विलोमचेष्टं प्रतिकूलचेष्टितम् । प्रस-
त्समाहृत्य वक्तुं यतन्ते । परैः दूतजनैः शत्रुजनैर्वा विहितावहासा एवं
ब्रथा अप्युपदिशन्तीति । हिशब्दः पादपूरणे । तत्स्नेहमयैः स्नेहस्वभावै-
स्तमोभिरज्ञानैः । स्नेहतमसावृता ब्रुवन्तीत्यर्थः ॥ ६५ ॥

क्रूराः क्रिया ग्राम्यसुखेषु सङ्गः पुण्यस्य यः संक्षयहेतुरुक्तः ।

निषेवितोऽसौ भवताऽतिमात्रं फलत्यवलगु ध्रुवमेव राजन् ॥ ६६ ॥

क्रूरा इत्यादि—क्रूराः क्रियाः परहिंसादयः, ग्राम्यसुखेषु परदारोपभो-
गादिषु सङ्गः प्रसक्तिः, यः पुण्यस्यार्जितस्य संक्षयहेतुरुक्तः विद्यावृद्धैः ।
असौ भवतातिमात्रं सुष्ठु निषेवितः सन् हे राजन्निदानो फलति फलं ददा-
त् । अवलगु असारम् । ध्रुवमविनाशम् ॥ ६६ ॥

तस्माद्विलोमचेष्टस्य भवतो हितोपदेशे मम न किञ्चित् प्रयोजनं, तावत्तु
यात् त्वदर्थं मत्प्राणत्याग इति दर्शयन्नाह—

दत्तं न किं के विषया न भुक्ताः स्थितोऽस्मि वा कं परिभूय नोच्चैः ।

इत्थं कृतार्थस्य मम ध्रुवं स्यान्मृत्युस्त्वदर्थं यदि किं न लब्धम् ॥ ६७ ॥

दत्तमित्यादि—तव प्रसादादर्थिभ्यः किं न दत्तम्, के विषया न भुक्ताः,
सर्व एवानुभूताः । कं वा परिभूय तिरस्कृत्य उच्चैर्महति पदे न स्थितोऽस्मि ।
इत्थमनेन प्रकारेण कृतार्थस्य लब्धजन्मफलस्य मम यदि त्वदर्थं मृत्यु-
वश्यं स्यात्, तदा किं न लब्धम् । सर्वमेव जन्मफलं लब्धमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

तव पुनरद्यापि विभीषणोक्तं युक्तं, न प्रहस्तमुखोक्तमिति दर्शयन्नाह—

किं दुर्नयैस्त्वय्युदितैर्मृपाऽर्थैर्वीर्येण वक्ताऽस्मि रणे समाधिम् ।

तस्मिन् प्रसुप्ते पुनरित्यमुक्त्वा विभीषणोऽभाषत राक्षसेन्द्रम् ॥ ६८ ॥

किं दुर्नयैरित्यादि—स्वय्यपि स्थिते 'किं चौरधोऽस्तु' इत्यादिना-
थान्युदितान्ययुक्तानि अलीकार्थानि तैर्दुर्नयैः किम् । न किञ्चित् फलम् ।
कस्मादिति चेत् यस्मात्तेषां समाधिं प्रतीकारं संप्राप्ते रामसम्बन्धिना
वीर्येण वक्ताऽस्मि वदिताहम् । रामवीर्यप्रतीकाराद्वीत्यर्थः । इत्थमेवं
तास्मिन् कुम्भकर्णे उक्त्वा पुनः भूयः प्रसुप्तं सति विभीषणो राक्षसे-
न्द्रमभाषत ॥ ६८ ॥

निमित्तशून्यैः स्थगिता रजोभिर्दिशो मरुद्भिर्विकृतैर्विलोलैः ।

स्वभावहीनैर्मृगपक्षिघोषैः क्रन्दन्ति भर्तारमिवाभिपन्नम् ॥ ६९ ॥

निमित्तशून्यैरित्यादि—रजोभिर्निमित्तशून्यैः निमित्तैः दिशः स्थगिताः
संछादिताः । 'स्यग संवरणे' मरुद्भिश्च विकृतैः परुषैर्विलोलैरनियतादिर्वातीभिः
स्थगिताः । मृगपक्षिणां च घोषैः स्वभावहीनैर्भ्रष्टैर्भर्तारमिवाभिपन्नं मृतं
शोकात् क्रन्दन्ति ॥ ६९ ॥

उत्पातजं छिद्रमसौ विवस्वान् व्यादाय वक्त्राकृति लोकभीष्मम् ।

अत्तुं जनान्धूसररश्मिराशिः सिंहो यथा कीर्णसटोऽभ्युदेति ॥ ७० ॥

उत्पातजमित्यादि—असौ विवस्वान् छिद्रम् उत्पातजं वक्त्राकृति लोक-
भीष्मं लोकस्य भयानकं व्यादाय प्रसार्य । व्याङ्पूर्वस्य ददातेः क्तवो-
त्यपि रूपम् । जनानत्तुं भक्षयितुं धूसररश्मिराशिः सन् अभ्युदेति
उद्गच्छति । यथा सिंहः कीर्णसटः विक्षिप्तकेसरकलापः मुखं व्यादायात्तु-
मुत्तिष्ठति तद्वदिति भावः ॥ ७० ॥

मार्गं गतो गोत्रगुरुर्भृगूणामगस्तिनाध्यासितविन्ध्यशृङ्गम् ।

सन्दृश्यते शक्रपुरोहितोऽद्विक्त्वा कम्पयन्त्यो निपतन्ति चोल्काः ॥ ७१ ॥

मार्गमित्यादि—अगस्तिना यदध्यासितं विन्ध्यशृङ्गं तन्मार्गं भृगूणां
गोत्रगुरुः शुक्रो गतः । दक्षिणमार्गचारी शुक्र इत्यर्थः । विश्वगिरिर्हि दक्षि-
णदिशि । शक्रपुरोहितोऽपि बृहस्पतिः आहि दिवसे सन्दृश्यते । उल्काश्च क्षमां
पृथिवीं कम्पयन्त्यः निपतन्ति ॥ ७१ ॥

मांसं हतानामिव राक्षसानामाशंसवः क्रूरगिरोरुवन्तः ।

क्रव्याशिनो दीप्तकृशानुवक्त्रा भ्राम्यन्त्यभीताः परितः पुरं नः ॥ ७२ ॥

मांसमित्यादि--राक्षसानां हतानामिव मांसमांशसवः आंशसनशीलाः
'सनांशंसभिक्ष उः । ३।२।१६८।' मांसभुजः शृगालादयः क्रूरगिरः परुषस्व-
नाः कृशानुवक्त्राः ज्वलनसदृशवदनाः निर्भयाः परितो भ्रमन्ति ॥ ७२ ॥

पयो घटोधीरपि गा दुहन्ति मन्दं विवर्णं विरसं च गोपाः ।

हव्येषु कीटोपजनः सकेशो न दीप्यतेऽग्निः सुसमिन्धनोऽपि ॥७३॥

पय इत्यादि--गोपाः पयः क्षीरं विवर्णं दुर्वर्णं विरसम् अस्वादु मन्दम्
अल्पं पयस्विनीरपि दुहन्ति । 'अकथितं च ।१।४।५१।' इति द्विकर्म-
कता । तथा शोभनेन्धनोऽप्यग्निर्न दीप्यते, हव्येषु हवनीयेषु
घृतादिषु सत्सु । 'अचो यत् ।३।१।९७।' उपजननमुपजनः । 'भावे
।३।३।१८ ।' इति घञ् । ' जनिवध्योश्च ।७।३।३५।' इति न
वृद्धिः । कीटानामुपजनोऽस्येति कीटोपजनः, सहकेशैः सकेशः दह्यमान-
कीटकेश इत्यर्थः ॥ ७३ ॥

तस्मात् कुरु त्वं प्रतिकारमस्मिन्स्नेहान् मया रावण भाष्यमाणः ।

वदन्ति दुःखं ह्यनुजीविवृत्ते स्थिताः पदस्थं परिणामपथ्यम् ॥ ७४ ॥

तस्मादित्यादि--यस्मादेवं विनाशसूचकानि निमित्तानि दृश्यन्ते, तस्मात्
हे रावण ! स्नेहान्मया त्वं भाष्यमाणः अस्मिन् वस्तुनि प्रतिकारं सीताप्रत्यर्पणेनैव
सन्धानं कुरु । 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् ।६।३।१२२।' इति बहुलग्रहणात्
दीर्घः । कस्मादेवं भाष्यत इति चेत् यस्मादनुजीविवृत्तेऽवस्थिताः यद्वचनं दुःखं
दुःखहेतुस्तदा कटुकत्वात् । परिणामपथ्यम् आर्यत्यां हितं तत्पदस्थं स्वामिपदे
स्थितं वदन्ति ॥ ७४ ॥

विरुग्णसङ्कीर्णविपन्नभिन्नैः प्रक्षुण्णसंहीणशिताऽस्त्रवृक्णैः ।

यावन्नराशैर्न रिपुः शवाशान् सन्तर्पयत्यानम तावदस्मै ॥ ७५ ॥

विरुग्णेत्यादि--यावद्रिपुः नराशैः नरानभ्रन्ति भुञ्जत इति तै राक्षसैः
शवाशान् गृध्रशृगालादीन् । शवं मृतशरीरमभ्रन्ति इति 'कर्मण्यण् ।३।२।१।' इत्युभयत्राण् । न संतर्पयति न प्रीणयति तावदस्य रिपोः आनम चरणा-
वित्यर्थात् । कीदृशैः । विरुग्णैर्भिन्नाङ्गैः । 'ओदितश्च ।८।२।४५।' इति

निष्ठानत्वम् । संकीर्णैः इतस्ततो विक्षिप्तैः, विपन्नैर्मृतैर्भिन्नैर्विदारितदेहैः,
प्रक्षुण्णैः । एभ्यो 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः । ८।२।४२।' इति
नत्वम् । संह्रीणैर्लज्जितैः वयमेवमवस्थां नीता इति । शितेन तीक्ष्णेन अस्त्रेण
वृक्णैः छिन्नैः । 'ग्रहिज्यावयिव्यीधवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां
ङिति च । ६।१।१६।' इति सम्प्रसारणम् । संयोगादिलोपः । कुत्वं च ।
ओदित्वान्नत्वम् ॥ ७५ ॥

भ्रूमङ्गमाधाय विहाय धैर्यं विभीषणं भीषणरूक्षचक्षुः ।

गिरं जगादोग्रपदामुदग्रः स्वं स्फावयन् शक्ररिपुः प्रभावम् ॥७६॥

भ्रूमङ्गमित्यादि—शक्ररिपुर्दशाननः विभीषणवचनात् क्रुद्धः । भ्रूमङ्ग
भ्रुकुटिमाधाय आवद्धय धैर्यं विहाय त्यक्त्वा भीषणरूक्षचक्षुः भयानकरूप-
चक्षुः । उदग्रः उन्नामितदेहः स्वं प्रभावं विक्रमं स्फावयन् वर्धयन् । 'स्फायो
वः । ७।३।४१।' इति णौ वत्वम् । विभीषणं जगाद् गिरं वाचम् । उग्रपदां
सुप्रिङ्गन्तानां स्वरूपतोऽर्थतश्च परुषत्वात् ॥ ७६ ॥

शिला तरिष्यत्युदके न पर्णं ध्वान्तं रवेः स्थन्त्स्यति वह्निरिन्दोः ।

जेता परोऽहं युधि जेष्यमाणस्तुल्यानि मन्यस्व पुलस्त्यनप्तः ॥७७॥

शिलेत्यादि—उदके शिला तरिष्यति न पुनः पर्णम् । रवेः सूर्यात्
ध्वान्तमन्धकारं स्थन्त्स्यति स्रविष्यति । 'स्यन्दू प्रस्रवणे' इत्यस्मात् 'न वृद्धयश्चतुर्भ्यः
। ७।२।५९।' इतीद् न भवति । 'खरि च । ८।४।५५।' इति चर्त्वंम् । तथा
वह्निरिन्दोः स्थन्त्स्यति । अहमप्येव पर उत्कृष्टः जेता युधि सङ्ग्रामे
जेष्यमाण इत्येतानि चत्वारि हे पुलस्त्यनप्तः विभीषण ! तुल्यानि मन्यस्व
अवगच्छ । 'मन ज्ञाने' लोटि रूपम् । यदि जेताऽप्यहं परेण जीये शिलातरणा-
दीन्यपि भविष्यन्ति ॥ ७७ ॥

अनिर्वृतं भूतिषु गूढवैरं सत्कारकालेऽपि कृताऽभ्यसूयम् ।

विभिन्नकर्माऽऽशयवाक् कुले नो मा ज्ञातिचेलं भुवि कस्यचिद् भूत् ७८

अनिर्वृतमित्यादि—भूतिषु ज्ञातिसंवन्धिनीषु अनिर्वृतमसुखिनम् ।
गूढवैरं काले हनिष्यामीति संभृतापकाराशयम् । सत्कारकालेऽपि पूजाकाले-
ऽपि कृतामर्षम् । विभिन्नाः कर्माशयवाचो यस्य तद्विभिन्नकर्माशयवाक् ।

आशयोऽन्यो वाकर्मणी चान्ये यस्येति । ईदृशं ज्ञातिचेलं गर्हितज्ञा-
तिरस्माकं कुले मा भूत् कस्यचिदन्यस्यै वा मा भूत् । चेलशब्दो
गर्हिते वर्तते ॥ ७८ ॥

इच्छन्त्यभीक्षणं क्षयमात्मनोऽपि न ज्ञातयस्तुल्यकुलस्य लक्ष्मीम् ।
नमन्ति शत्रून् च बन्धुवृद्धिं सन्तप्यमानैर्हृदयैः सहन्ते ॥ ७९ ॥

इच्छन्तीत्यादि—ज्ञातयः आत्मनः सुष्ठु क्षयं विनाशमिच्छन्ति, न
पुनस्तुल्यकुलस्य एकहेतुगोत्रस्य लक्ष्मीं श्रियम् । तथा शत्रुं कामं
नमन्ति, न पुनर्बन्धुवृद्धिं बन्धुसन्ततिं सहन्ते । संतप्यमानैर्हृदयैः
ईर्ष्याया दह्यमानैः ॥ ७९ ॥

किं मया कृतं येनैवमुच्यत इति चेदाह—

त्वयाऽद्य लङ्काऽभिभवेऽतिहर्षाद्दुष्टोऽतिमात्रं विवृतोऽन्तरात्मा ।
धिक् त्वां मृषा ते मयि दुस्थबुद्धिर्वदन्निदं तस्य ददौ स पार्ष्णिम् ॥ ८० ॥

त्वयेत्यादि—लङ्काऽभिभवे लङ्कोपरोधे अतिहर्षात् हर्षेण दुष्टोऽन्तरात्मा
अतिमात्रं सुष्ठु त्वयाऽद्य विवृतः प्रकाशितः । मयि दुस्थबुद्धिः अस्मद्विषये
दुस्थोऽभियुक्तोऽयमिति बुद्धिः ते मृषा मिथ्या । अतस्त्वां धिगिति
ब्रुवन् स दशाननः तस्य विभीषणस्य सिंहासनोपाश्रितबाहोः पार्ष्णि
पादप्रहारं शिरसि ददौ ॥ ८० ॥

ततः स कोपं क्षमया निगृह्णन् धैर्येण मन्युं विनयेन गर्वम् ।
माहं धियोत्साहवशादशक्तिं समं चतुर्भिः सचिवैरुदस्थात् ॥ ८१ ॥

तत इत्यादि—ततः पार्ष्णिप्रहारादनन्तरं स विभीषणः कोपं क्षमया
स्वान्त्या निगृह्णन् अभिभवन्, तथा धैर्येण मन्युं शोकं, विनयेन गर्वम्,
माहं वैचित्त्यं धिया प्रज्ञया, उत्साहवशादशक्तिमसामर्थ्यं निगृह्णन्-
मानेन कोपादीनां संभवात् । चतुर्भिः सचिवैरमात्यैः समं लुद्धः,
स्थात् आसनादुत्थितः ॥ ८१ ॥

उवाच चैनं क्षणदाचरेन्द्रं सुखं महाराज विना मयाऽ-
मूर्खाऽऽतुरः पथ्यकटूननश्चनन्यत्साऽऽमयोऽसौ भिषजां

उवाचेत्यादि—उत्थितश्चानन्तरं रावणमुवाच—हे महाराज । इति वृत्तरत्नाक-
सुखमास्व तिष्ठ । आस्तेर्लोद्ध । तवात्र दोषो न समोपदेष्टुः

मूर्खो य आतुरः पथ्यकटूननश्नन् अभक्षयन् यत् आमयेन रोगेण सह वर्त्तत इति सामयो रोगवान् असौ भिषजां वैद्यानां न दोषः, किन्तु तस्यैव ॥ ८२ ॥

करोति वैरं स्फुटमुच्यमानः प्रतुष्यति श्रोत्रसुखैरपथ्यैः ।

विवेकशून्यः प्रभुरात्ममानी, महाननर्थः सुहृदां वताऽयम् ॥ ८३ ॥

करोतीत्यादि—प्रभुर्विवेकशून्यो निर्विवेकः । आत्ममानी मत्समोऽन्यो नास्तीति आत्मानं श्लाघमानः । आत्ममाने इनिः । स्फुटमुच्यमानो वैरं करोति स्नेहं न करोति पथ्यमनेनोक्तमिति । श्रोत्रसुखैः तदर्थमनोहारिभिः अपथ्यैस्तुष्यति । तस्मादयं प्रभुः सुहृदामाश्रितानां महान् अनर्थः । अनर्थहेतुत्वात् । वतशब्दः खेदे ॥ ८३ ॥

क्रीडन्भुजङ्गेन गृहाऽनुपातं कश्चिद्यथा जीवति संशयस्थः ।

संसेवमानो नृपतिं प्रमूढं तथैव यज्जीवति सोऽस्य लाभः ॥ ८४ ॥

क्रीडन्नित्यादि—यथा कश्चित् सर्पग्राही गृहानुपातं गृहं गृहमनुपत्य । 'विशि-
पतिपदिस्कन्दां व्याप्यमानासेव्यमानयोः । ३ । ४ । ५६।' इति णमुल् । भुजङ्गेन सह क्रीडन् जीवति संशयस्थः संदेहे वर्त्तमानः किमयं खादिष्यति न वेति । तथैव प्रमूढं मूर्खमधिपतिं संसेवमानो यज्जीवति सोऽस्य लाभः । आस्ता-
मन्यो लाभः इति ॥ ८४ ॥

दत्तः स्वदोषैर्भवता प्रहारः पादेन घम्ये पथि मे स्थितस्य ।

स चिन्तनीयः सह मन्त्रिमुख्यैः कस्याऽऽवयोर्लाघवमादधातु ॥ ८५ ॥

दत्त इत्यादि—स्वदोषैरविवेकित्वादिभिर्भवता पादप्रहारः यो मम दीन्यां मार्गदिनपते मार्गे स्थितस्य दत्तः, स मन्त्रिमुख्यैरैतैः सह चिन्तनीयः । अनिर्वृतं त्रे कस्य लाघवमादधातु करोत्विति । यावन्निरूप्यमाणस्तवै-
विभिन्नकर्माऽः ॥ ८५ ॥

अनिर्वृतमित्यासौ रजनिचरपतिं बहुगुणमसकृत्प्रसभमभिदधत् ।
गूढवैरं काले हनिष्यः पुरुपरिपुपुरान्नरपतिचरणौ नवितुमरिनुतौ ॥ ८६ ॥
ऽपि कृतामर्षम् । वि

इतीत्यादि—इत्येवं वचनं बहुगुणम् अर्थावगाढत्वात् असकृत् बहुत्वात्,
 प्रसभम् आहत्य रजनिचरपतिमभिदधत् ब्रुवन् । 'नाभ्यस्ताच्छतुः । ७ । १ । ७ । ८ ।'
 इति नुम्प्रतिषेधः । रजनिचर इति 'ड्यापोः संज्ञाच्छन्दसोर्बहुलम् । ६ । ३ । ६ । ३ ।'
 इति संज्ञायां ह्रस्वत्वम् । पुरुषरिपुपुरालङ्कातः निरगमत् निष्क्रान्तः । अभयः
 सन् नरपतिचरणौ रामस्य पादौ अरिभिरपि नुतौ शूरत्वात् 'श्र्युकः किति
 । ७ । २ । १ । १ ।' इतीद्प्रतिषेधः । नवितुं प्रणामपूर्वकं स्तोतुम् । अनेकार्थ-
 स्वाद्धातूनां नन्तुमित्यर्थः ॥ ८६ ॥

अथ तमुपगतं विदितसुचरितं पवनसुतगिरा गिरिगुरुहृदयः ।
 नृपतिरमदयन्मुदितपरिजनं स्वपुरपतिकरैः सलिलसमुदयैः ॥ ८७ ॥

इति महावैय्याकरणभट्टीप्रणीते रामचरिते काव्ये
 प्रसन्नकाण्डे भाविकत्वप्रदर्शनस्तृतीयः ।
 समाप्तो द्वादशः सर्गः ॥

अथेत्यादि—अथ अनन्तरं विभीषणमुपेतं सेतुबन्धचिन्ताकाले राममु-
 पगतवानिति द्रष्टव्यम् । अन्यथा वक्ष्यमाणप्रभातकथनं विरुध्येत ।
 पवनसुतगिरा हनूमद्वचनेन सञ्चरितोऽयमिति विदितं सुचरितं येन ।
 नृपतिः रामः गिरिगुरुहृदयः गिरिवत् गुरु अप्रकम्पं हृदयं यस्य । सलिल-
 समुदयैः जलपूर्णघटे स्थितैः स्वपुरपतिकरैः । लङ्काधिपतिं कुर्वन्तीति हेतौ टः ।
 अमदयत् हर्षितवान् । 'मदी हर्षे' इत्यस्य हेतुमण्यन्तस्य घटादित्वान्मिन्त्वे
 ह्रस्वत्वम् । मुदितपरिजनं स्वामी लङ्काधिपत्येऽभिषिच्यत इति तस्य दृष्टा
 अनुजीविन इत्यर्थः ॥ ८७ ॥

इति श्रीजयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया समलंकृते श्री भट्टीप्रणीते राम-
 चरिते काव्ये—तृतीये प्रसन्नकाण्डे लक्षणरूपे तृतीयः परिच्छेदः,
 लक्ष्यरूपे कथानके 'विभीषणाऽगमनो' नाम
 द्वादशः सर्गः ।

१ अस्मिन् परस्मिंश्च पद्ये 'ननभनलगिति प्रहरणकलिता ।' इति वृत्तरत्नाक-
 रोत्तया 'प्रहरणकलिता' नाम च्छन्दः ।

त्रयोदशः सर्गः ।

अथ संकीर्णकाः श्लोकाः ।

काव्यं संस्कृतप्राकृतापभ्रंशभेदात्रिविधम् । तत्र शब्दभवदेशीयपदयोः
प्राकृतभाषयोरपभ्रंशस्य च संस्कृतभाषायां समावेशासम्भवात् शब्दसमायाः
प्राकृतभाषायाः समावेशः । तमार्यागीत्या स्कन्धकलक्षणया दर्शयितुं विभी-
षणागमनात्प्राक् यद्वृत्तं रामस्य तदाह—

अथ सप्तभिः कुलकम् ।

चारुसमीरणरमणे हरिणकलङ्ककिरणाऽऽवलीसविलासा ।

आबद्धराममोहा वेलामूले विभावरी परिहीणा ॥ १ ॥

चावित्यादि—रामो रात्रौ निद्रावान् पल्लवशयनमध्यष्ठादित्युक्तम् ।
तस्य नियमपूर्वं सुप्तवतः प्रभातमभूदिति कथयति । वेलामूले पारसमीपे ।
प्राकृते पुलिङ्गनपुंसकयोराकारान्तस्य पदस्य सप्तम्या एकवचने मित्वमेत्वं
वा रूपम् । चारुसमीरणरमणे रमयतीति रमणम् । 'नन्दिग्राहिपचादिभ्यो
ल्युपिन्यचः । ३ । १ । १३४ ।' इति नन्द्यादित्वात् ल्युः । समीरणेन रम-
णम् । चारु च तत्समीरणरमणं चेति । तत्र विभावरी रात्रिः परिहीणा
क्षीणा । हरिणकलङ्कस्य याः किरणावलयः ताभिः सविलासा सविभ्रमा ।
अतश्चावद्धो रामस्य मोहो मूर्च्छा ययेति । 'कृदिकारादक्तिनः' इत्यनेन
भावलिखावलीत्युभयमपि संस्कृतप्राकृतयोः प्रयुज्यते ॥ १ ॥

बद्धो वासरसङ्गे भीमो रामेण लवणसलिलाऽऽवासे ।

सहसा संरम्भरसो दूराऽऽरूढरविमण्डलसमो लोले ॥ २ ॥

बद्ध इत्यादि—नियमस्थितेऽपिमयि नासौ समुद्र उतथित इति वास-
रसङ्गे प्रभातकाले रामेण लवणसलिलावासे समुद्रे इति विषयसप्तमी ।
सहसा तत्क्षणं संरम्भरसः उत्साहरसो वीराख्यः भीमो दुष्प्रेक्ष्यः बद्धो जनितः ।
दूरारूढरविमण्डलसमो लोक इति दूरमारूढो मध्याह्नस्थो यो रविः
तस्य मण्डलं तेन समस्तुल्योऽतितीक्ष्णत्वात् । लोले चञ्चले समुद्रे प्रभात-
वातेन क्षोभ्यमाणत्वात् ॥ २ ॥

१ अत्र 'आर्यापूर्वाद्धि' यदि गुरुणैकेनाधिकेन निधने युक्तम् । इतरत्तद्वन्निखिलं
दलं यदीयमुदितैवमार्यागीतिः ॥ इति लक्षणम् । एवं परत्रापि ।

गाढगुरुपुङ्खपीडासधूमसलिलाऽरिसंभवमहाबाणे ।

आरूढा सन्देहं रामे समहीधरा मही सफणिसभा ॥ ३ ॥

गाढेत्यादि—गाढं सुष्ठु गुरोः पुङ्खस्य या पीडा पीडनम् अङ्गुष्ठाभ्यां तयोर्हेतुभूतया सधूमसलिलारेः अग्नेः संभवो यत्र स महाबाणो यस्य रामस्य तस्मिन् सति । महासंदेहमारूढा संशयं प्राप्ता समहीधरा मही सफणिसभा सह भुजङ्गसमूहेन । धारयन्तीति धराः । अत्र धकारस्य पदमुखे वर्तमानस्य हकारो न भवति, प्राकृते पदमध्यान्तयोर्विधीयमानत्वात् । महीधर इति समस्तपदेऽपि न प्रवर्तते । अत्र पूर्वपदमुत्तरं पदमिति व्यपदेशात् । एवं च सति गोधर-वज्रधर-चक्रधर-शङ्खधरादिषु न प्रवर्तते । महीधरो महिधर इत्युभयमपि प्राकृते प्रयुज्यते, अमहानां विकल्पेन ह्रस्वदर्शनान् ॥३॥

धोरचलदन्तिसंकुलमट्टमहापङ्ककाहलजलाऽऽवासम् ।

आरीणं लवणजलं समिद्धफलबाणविद्धघोरफणिवरम् ॥ ४ ॥

रि—रामेणाग्नेये शरे क्षिप्ते सति लवणजलमारीणं समन्तान् शुष्कम् । 'रीङ् स्रवणे' इत्यस्मात् निष्ठातकारस्य 'स्वादय ओदितः' इति ओदित्वे 'ओदितश्च । ८।२।४५।' इति नत्वम् । 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि । ८।४।२।' इति णत्वम् । रीणमित्यप्रयोगः, प्राकृते महाराष्ट्रे तस्याप्रयोगात् । घोरैः रौद्रैर्जलदन्तभिः संकुलं व्याप्तम् । अट्टः शुष्को यो महापङ्कः तेन कःहला विह्वला जलावासा मत्स्यादयो यत्र । 'अट्ट अतिक्रमहिंसनयोः' इत्यस्य रूपम् । अमिद्धफलेन दीप्तफलेन बाणेन विद्धाः घोराः फणिवरा महासर्पा यत्रेति ॥ ४ ॥

सभयं परिहरमाणो महाऽहिसंचारभासुरं सलिलगणम् ।

आरूढो लवणजलो जलतीरं हरिबलाऽऽगमविलोलगुहम् ॥ ५ ॥

सभयमित्यादि—सलिलगणं सलिलसमूहं सभयम् । महाहीनां संचारेण भासुरं भासनशीलम्, तच्छिरोमणिद्योतितत्वात् । परिहरमाणः परित्यजन् । अत्रिभिप्राये तद् । लवणजलः समुद्रः लवणं जलमस्येति । जलतीरं तटं यत्र अस्तिष्ठति तदारूढः संप्राप्तो मूर्तिमान् । हरिबलागमेन वानरसैन्यागमेन विलोला व्याकुला गुहा यत्रेति ॥ ५ ॥

चञ्चलतरुहरिणगणं बहुकुसुमाऽऽबन्धबद्धरामाऽऽवासम् ।

हरिपल्लवतरुजालं तुङ्गोरुसमिद्धतरुवरहिमच्छायम् ॥ ६ ॥

चञ्चलेत्यादि—चञ्चलश्चपलः तरुचहरिणानां वानराणां गणो यत्र जलतीरे । बहुकुसुमानां वृक्षाणामाबन्धेन परस्परसंश्लेषेण बद्धो घटितो रामावासो यत्र । हरिपलवानि तरुजालानि यत्र । तुङ्गा उरवः परिमण्डलाः समिद्धा उज्ज्वला ये तरुवरास्तैर्हिमा शीतला छाया यत्र तज्जलतीरम् ॥ ६ ॥

वग्वारणं सलिलभरेण गिरिमहीमण्डलसंवरवारणम् ।

वसुधारयं तुङ्गगतरङ्गसङ्गपरिहीणलोलवसुधारयम् ॥ ७ ॥

(एते सप्त संकीर्णाः श्लोकाः)

वरेत्यादि—वरा उत्कृष्टा वारणा यत्र । सलिलभरेण सलिलसमूहेन यो गिरीणां महीमण्डलस्य च संवरः संवरणमावरणम् । 'प्रह्वृष्टनिश्चिगमश्च । ३।३।५८।' इत्यप् । तस्य वारणं निषेधकम् । समुद्रस्य वेलातिक्रमात् । वसु द्रव्यं तस्य धारयं धारकम् । 'अनुपसर्गाङ्गिम्पविन्दधारिपारिवेद्युदेजि-चेतिसातिसाहिभ्यश्च । ३।३।१३८।' इति णिजन्ताच्छः । तुङ्गाः अभ्रंलिहा ये तरङ्गास्तैः सह यः संगः संश्लेषः तस्मात् परिहीणो नष्टो लोको वसुधायां तत्सं-बन्धिन्यां रयो वेगो यत्र तज्जलतीरमारूढः । गणितक्रमेण । एते सप्त संकीर्णाः श्लोकाः । संस्कृतप्राकृतयोरविशिष्टत्वात् ॥ ७ ॥

प्राणिपत्य ततो वचनं जगाद् हितमायतौ पतिर्वारीणाम् ।

गङ्गावलम्बिवाहूरामं बहलोरुहरितमालच्छायम् ॥ ८ ॥

प्राणिपत्येत्यादि—ततस्तीरप्राप्तेरन्तरं वारीणां पतिः समुद्रः रामं प्राणि-पत्य वचनं जगाद् । हितमात्मनो रामस्य पथ्यमायतावागामिनि काले । गङ्गा-वलम्बी गङ्गावलम्बनशीलः संपूर्णत्वाद्वाहुर्यस्य स गङ्गावलम्बिवाहुः । संस्कृते 'द्वूलोपे पूर्वस्य दावेंऽणः । ६।३।११।' प्राकृते तु पुंलिङ्गेः उकारस्य दीर्घत्वम् । विभक्तिसंकारस्य च लोपः । उरुर्महान् हरिः हरितो यस्तमालः । बहुला यना तस्येव छाया यस्य तमिति । पूर्वाधे निरवद्यमिति । पूर्वस्मिन्नधे प्राकृतस्याभावा-त् निरवद्यं पञ्चादधे तु संकीर्णमेव ॥ ८ ॥

तुङ्गा गिरिवरदेहा अगमं सलिलं समीरणो रसहारी ।

अहिमो रविकिरणगणो माया संसारकारणं ते परमा ॥ ९ ॥

तुङ्गा इत्यादि—गिरिवरदेहाः कुलपर्वतकायाः तुङ्गाः प्रांशवः, अगमं सलिलम् अगम्यम् । 'प्रह्वृष्टनिश्चिगमश्च । ३।३।५८।' इत्यप् । समीरणो रसहारी

अपामुच्छोषकः, अहिम उष्णः रवेः किरणगणः । एतत्सर्वं तव माया परमा महती संसारस्य कारणम् । सर्वथा त्वं विष्णुः त्वत्कृतेषु को रोष इति ॥ ९ ॥

अथ पट्टं सङ्कीर्णाः ।

आयाससम्भवारुण ! संहर संहारहिमहरसमच्छायम् ।

बाणं वारिसमूहं संगच्छ पुराणचारुदेहाऽऽवासम् ॥ १० ॥

आयासेत्यादि--यस्मात्संसारकारणं यद्गम्यं सलिलं कृतं, तस्मात्त्वं हे आयाससंभवारुण रोषसंभवेन रक्तीभूत ! संहारे प्रलये हिमहरा आदित्यास्तैः समा छाया यस्य बाणस्य तं संहर उपशमय । वारिसमूहं संगच्छ अङ्गीकुरु । सकर्मकत्वात् 'समो गम्यच्छिभ्याम् । १।३।२९।' इत्यात्मनेपदं न भवति । पुराणः शाश्वतः दर्शनीयो यो देहः तस्य आवासमवस्थानम् ॥ १० ॥

असुलभहरिसंचारं जलमूलं बहलपङ्करुद्धाऽऽयामम् ।

भण किं जलपरिहीणं सुगमं तिमिकम्बुवारिवारणभीमम् ॥ ११ ॥

असुलभेत्यादि---अन्यच्च यदेतज्जलमूलं जलस्यावस्थानम् आग्नेयशरशोषितत्वज्जलपरिहीणं सत्, तत् किं सुखेन गम्यत इति भण ब्रूहि । यतो बहलः सान्द्रो यः पङ्कस्तेन रुद्ध आयामो दैर्घ्यं यत्र । तिमयो मत्स्याः कम्बवः शङ्खाः वारिवारणाः जलहस्तिनः तैर्भीमम् । एवं च सति असुलभो दुर्लभः हीरसंचारो वानरपर्यटनं यत्रेति ॥ ११ ॥

गमनोपायमाह--

गन्तुं लङ्कातीरं बद्धमहासलिलसंचरेण सहेलम् ।

तरुहरिणा गिरिजालं वहन्तु गिरिभारसंसहा गुरुदेहम् ॥ १२ ॥

गन्तुमित्यादि--संचरन्त्यनेनेति संचरः । 'गोचरसंचरवहत्रजव्यजापणनिगमाश्च । ३।३।११९।' इति घः । बद्धो घटितो महासलिले यः संचरः तेन सेतुना सहेलम् । एकप्रवृत्त्या लङ्कातीरं लङ्कोपलक्षितं तटं गन्तुं तरुहरिणा वानरा गिरिभारस्य संसहाः क्षमाः । संसहन्ते इत्यच् । गिरिजालं गारिसमूहं वहन्तु प्रापयन्तु । गुरुदेहः शरीरं यस्य गिरिजालस्य ॥ १२ ॥

हरहासरुद्धविगमं परकण्ठगणं महाऽऽहवसमारम्भे ।

छिन्दन्तु रामबाणा गम्भीरे मे जले महागिरिवद्धे ॥ १३ ॥

हरेत्यादि---मे मम जले गम्भीरे अगाधे महागिरिभिर्बद्धे सति यो महाहवस्य समारम्भः प्रवर्तनं तस्मिन् परस्य शत्रोः कण्ठगणं ग्रीवासमूहं हरस्य तुष्टत्वात् यो हासः तेन रुद्धो विगमश्छेदो यस्य तं रामशराच्छिन्दन्तु । आशीषि लोट् ॥ १३ ॥

गच्छन्तु चारुहासा वीररसाऽऽबन्धरुद्धभयसम्बन्धम् ।

हन्तुं बहुबाहुबलं हरिकरिणो गिरिवरोरुदेहं सहसा ॥ १४ ॥

गच्छन्वित्यादि---बहवो बाहव एव बलं यस्य बाहूनां तरूणामिव बहुत्वात् । तं रावणं वीररसस्य शौर्यस्य च आवन्धः सन्ततप्रवर्तनं तेन रुद्धो निवारितो भयसंबन्धस्त्राससंपर्को यस्य तं गिरिवरोरुदेहं गिरिवन्महाकायं सहसा हन्तुं तत्क्षणं हनिष्याम इति हरिकरिणः कपिहस्तिनः चारुहासाः मम जले वद्धे सति गच्छन्तु ॥ एते षट् संकीर्णाः, संस्कृतप्राकृतयोस्तुल्यत्वात् ॥ १४ ॥

पूर्वाद्धेऽसङ्कीर्णः श्लोकः ।

जिगमिषयाःसंयुक्ता बभूव कपिवाहिनी मते दाशरथेः ।

बुद्धजलाऽऽलयचित्ता गिरिहरणाऽऽरम्भसम्भवसमालोला ॥ १५ ॥

जिगमिषयेत्यादि---दाशरथेर्मतेऽभिप्राये सति कपिवाहिनी कपिसेना जिगमिषया गन्तुमिच्छया संयुक्ता बभूव । बुद्धजलालयचित्ता विदितसमुद्राभिप्राया गिरिणां यद्धरणमानयनं तस्य य आरम्भसंभवः तेन समालोला आकुला इत्येतदर्धमसङ्कीर्णम् ॥ १५ ॥

अथ पञ्च संकीर्णाः श्लोकाः ।

गुरुगिरिवरहरणसहं संहारहिमारिपिङ्गलं रामबलम् ।

आरूढं सहसा खं वरुणाऽऽलयविमलसलिलगण्णगम्भीरम् ॥ १६ ॥

गुर्वित्यादि---ततो रामबलं सहसा तत्क्षणं खमारूढम् । गुरूणां गिरिवराणां यदाहरणमानयनं तत्सहत इति मूलविभुजादित्वात् कः । तस्य वा सहं शक्तम् । सहत इत्यच् । संहारे प्रलये यो हिमारिरग्निः तद्वत्पिङ्गलम् । वरुणालयस्य समुद्रस्य यो विमलसलिलगणः निर्मलजलसमूहः तद्वद्गम्भीरं खमिति ॥ १६ ॥

अथ चतुर्भिः कलापकम् ।

अवगाढं गिरिजालं तुङ्गमहाभित्तिरुद्धसुरसञ्चारम् ।

अभयहारिरासभीमं करिपरिमलचारुबहलकन्दरसलिलम् ॥ १७ ॥

अवगाढमित्यादि—खमारुह्य रामवलेन गिरिजालमवगाढं अवष्टब्धम् । तुङ्गाभिरुच्छ्रिताभिर्महतीभिः परिणाहवतीभिर्भित्तिभी रुद्धः सुराणां सञ्चारेण यस्मिन् तेषामुन्नतत्वात् । अभया ये हरयः सिंहास्तेषां रासेन शब्देन भीमं भयानकम् । करिणां यः परिमलः संमर्दस्तेन चारु शोभनम् । बहलं वनं कन्दरसलिलं यस्मिन् ॥ १७ ॥

अलिगणविलोलकुसुमं सकमलजलमत्तकुररकारण्डवगणम् ।

फणिसंकुलभीमगुहं करिदन्तसमूढसरसवसुधाखण्डम् ॥ १८ ॥

अलिगणेत्यादि—अलिगणैर्विलोलानि कुसुमानि यत्र । सकमलेषु जलेषु मत्ताः कुरराणां कारण्डवानां च गणा यत्र । फणिभिः संकुला व्याप्ताः सख्यो भीमा गुहा यत्र । करिदन्तैः समुत्क्षिप्तं सरसं सान्द्रं वसुधायाः खण्डं यत्र ॥ १८ ॥

अरविन्दरेणुपिञ्जरसारसरवहारिविमलबहुचारुजलम् ।

रविमाणिसम्भवहिमहरसमागमाऽऽवद्धबहुलसुरतरुधूपम् ॥ १९ ॥

अरविन्देत्यादि—अरविन्दरेणुभिः पिञ्जरा पिङ्गला ये सारसास्तेषां रवेण हारि मनोहारि विमलं बहु चारु जलं यत्रेति । रविमणिसंभवः सूर्यकान्तमणिसम्भवः यो हिमहरः आग्निः तेन यः समागमः संश्लेषस्तेनावद्धो जनितो बहुलः सुरतरुधूपो यत्र ॥ १९ ॥

हरिरवविलोवारणगम्भीरावद्धसरसपुरुसंरावम् ।

घोणासंगमपङ्कगविलसुबलभरसहोरवराहम् ॥ २० ॥

हरिरवेत्यादि—हरीणां सिंहानां यो रवस्तेन विलोलास्त्रस्नवो ये वारणास्तैर्गम्भीरो मन्द्र आवद्धो जनितः सरसो भयानकरसयुक्तः पुरुर्महान् संरावो यत्र । घोणायाः संगमात् संपर्कात् संभवो यन्म्यं पङ्कस्य । घोणासमुद्धृतो यः पङ्क इत्यर्थः । तेनाविलाः लिप्ताङ्गाः सुबलाः तत एव भरसहाः उरवश्च वराहः यत्र । तद्विरिजालमालमवगाढमिति ॥ २० ॥

अथासङ्कीर्णः श्लोकः—

उच्चरन्तुः परिरब्धान् कपिसङ्घा बाहुभिस्ततो भूमिभृतः !

निष्पिष्टशेषमूर्ध्नः शृङ्गविकीर्णोष्णरश्मिनक्षत्रगणान् ॥ २१ ॥

उच्चखनुरित्यादि—ततोऽवगाहादनन्तरं बाहुभिः परिरन्धान् समाश्लिष्टान् भूमिमृतः पर्वतान् कपिसङ्घा उच्चखनुः उत्खातवन्तः । 'गमहनजनखन-
घसां लोपः क्लियनङि ।६।४।९।८।' इत्युपधालोपः । निष्पिष्टशेषमूर्ध्नः व्याप्त-
पातालमूलत्वात् चूर्णितनागराजमस्तकान् शृङ्गैः शिखरैर्विकीर्णं उष्णरश्मिरा-
दित्यो नक्षत्रगणश्च यैर्दिवं व्याप्य स्थितत्वात् । असंकीर्णं इति अत्र
प्राकृतस्याप्रयुक्तत्वात् ॥ २१ ॥

अथ त्रिभिः विशेषकम् । अथ चत्वारः सङ्कीर्णाः-

तुङ्गमहागिरिसुभरा बाहुसमारुद्धभिदुरटङ्गा बहुधा ।

लवणजलबन्धकामा आरूढा अम्बरं महापरिणाहम् ॥ २२ ॥

तुङ्गेत्यादि—तुङ्गा उच्चा महान्तः परिणाहवन्तो ये गिरयस्तेः सुभरा
जातभराः कपयः । बाहुभिः समारुद्धा भिदुराः विदारणशीलाः टङ्गा उन्नत-
प्रदेशा यैस्ते । बहुधा अनेकप्रकारं लवणजलबन्धकामाः एवमेवं बद्धव्यमिति
जातेच्छाः आरूढाः अम्बरं व्योम महापरिणाहम् महान् परिणाहो विस्तारो
यस्य तत् अप्रमेयदिग्विभागम् ॥ २२ ॥

बहुधवलवारिवाहं विमलाऽऽयसगुरुमहाऽसिदेहच्छायम् ।

बद्धविहङ्गममालं हिमगिरिमिव मत्तकुरररवसम्बद्धम् ॥ २३ ॥

बह्वित्यादि—बहवो धवला वारिवाहा यत्राम्बरे । विमलायसः अयसो
विकारः गुरुरलयुर्महान् योऽसिः खङ्गः तस्य यो देहः तभ्य छायेव छाया
यस्य । बद्धा विरचिता विहङ्गानां माला पङ्क्तिर्यत्र । मत्तानां कुरराणां रवेण
संबद्धं युक्तम् । अतो हिमगिरिमिवाम्बरमारूढा इति ॥ २३ ॥

चारुकलहंससंकुलमचण्डसंचारसारसाऽऽवद्धरवम् ।

सकुसुमकणगन्धवहं समयाऽऽगमवारिसङ्गविमलाऽऽयामम् ॥ २४ ॥

चारुकलहंसेत्यादि—चारुभिः कलहंसैः संकुलं व्याप्तम् । अचण्डसंचारैः
शनैः संचरद्भिः सारसैरावद्धो रवो यस्मिन् । सकुसुमकणः सपुष्परेणुगन्ध-
वहो वायुर्यत्रेति । बहतीति ऋहः कर्तर्यच् । गन्धस्य वह इति समासः । समयस्य
प्रावृट्कालस्य य आगमः तेन यो वारिसङ्गः तेन प्रक्षालितत्वात् विमला
आयामा यत्र तदम्बरमारूढा इति ॥ २४ ॥

सहसा ते तरुहरिणा गिरिसुभरा लवणसलिलबन्धाऽऽरम्भे ।

तीरगिरिम् आरूढा रामाऽऽगमरुद्धसभयरिपुसंचारम् ॥ २५ ॥

सहसेत्यादि--ते तरुहरिणाः शाखामृगाः गिरिभिः सुभराः सन्तः
 वणसलिलबन्धारम्भे समुद्रबन्धनारम्भे सहसा तत्क्षणं तीरगिरिं तदस्थितं
 वर्तमारूढाः । अत्र संस्कृतपक्षे संहिताया अविवक्षितत्वात् तीरगिरिमारूढा
 इति नोक्तम् । अन्ये 'आरूढा तीरगिरिम्' इति विपर्ययमस्य पठन्ति ।
 'दयुक्तम् । संस्कृतपक्षे अस्मावाद्यत्वं नास्ति । अतो विसर्जनीयस्य सकार
 एव स्यात् । रामस्य य आगमस्तेन रुद्धः सभयानां रिपूणां शत्रूणां संचारो
 यत्र तीरगिरौ । राम आगत इति तत्र भयात् संचारं त्यक्तवन्त इति ॥
 निराख्यातोऽसङ्कीर्णः श्लोकः ॥ २५ ॥

ततः प्रणीताः कपियूथमुख्यैर्न्यस्ताः कृशानोस्तनयेन सम्यक् ।

अकम्प्रब्रध्नाऽप्रनितम्बभागा महाऽर्णवं भूमिभृतोऽवगाढाः ॥ २६ ॥

तत इत्यादि--ततोऽनन्तरं भूमिभृतः पर्वताः कपियूथमुख्यैर्नीलादिभिः
 कृशानोस्तनयस्य नलस्य प्रणीताः अर्पिताः सन्तस्तेनैव कृशानुतनयेन सम्यक्
 प्राधु न्यस्ताः सन्तः महार्णवम् अवगाढाः अवष्टब्धवन्तः अकम्प्राः स्थिराः
 ब्रध्नाप्रनितम्बानां भागा येषां ते । ब्रध्नो मूलम् । 'इणिव्जिदीउण्यविभ्यो नक्'
 इत्यधिकृत्य 'बन्धेर्ब्रधिवुधिवुधी च' इत्यौणादिको नक् । इदमपि निराख्यातं
 तिङन्तपदाभावात्, असंकीर्णं च प्राकृताभावात् ॥ २६ ॥

अथैकान्तराख्यातोऽसङ्कीर्णः ।

तेनेऽद्रिवन्धो ववृधे पयोधिस्तुतोष रामो मुमुदे कपीन्द्रः ।

तत्रास शत्रुर्दृशे सुवेलः प्रापे जलाऽन्तो जहृषुः प्लवङ्गाः ॥ २७ ॥

तेन इत्यादि--अद्रिवन्धस्तेने ज्ञानैर्विस्तारं गतः, अत एव ववृधे पयोधि-
 र्बृद्धिं गतः । गिरिभिः पूर्यमाणोदरत्वात् तीरं प्लावयति स्म । तुतोष रामस्तु-
 ष्टवान् । सुकरमिदानीं शत्रुव्यापादनमिति । मुमुदे कपीन्द्रः हृष्टवान् । प्राप्तो
 मे प्रत्युपकारकाल इति । तत्रास शत्रुः त्रासमुपगतः सेतुं बद्धवानिदानीमा-
 यातो राम इति । दृशे सुवेलः दौकमानैः सर्वैर्दृष्टः । जलान्तश्च प्रापे प्राप्तः ।
 ततो जहृषुः हृष्टाः प्लवङ्गाः स्वाम्यादेशः संपादित इति । एतदेकान्तराख्यातम्
 सुबन्तपदैर्व्यवधानात् । असङ्कीर्णश्च प्राकृताभावात् ॥ २७ ॥

अथ आख्यातमालाशाली ।

अमुर्ववल्गुर्ननृतुर्जजक्षुर्जगुः समुत्पुल्लविरे निषेदुः ।

आस्फोटयांचक्रुरभिप्रणेदू रेजुर्ननन्दुर्विययुः समीयुः ॥ २८ ॥

अमुरित्यादि—ते पारं प्राप्य केचित् प्रदेशदर्शनोत्सुकाः अमुः भ्रान्ताः । अन्ये ववल्गुः तोषं गतवन्तः । 'उख उखि' इत्यत्र वल्गतिर्गतं पठ्यते । केचिदतिहर्षात् ननृतुः । अन्ये रावणपराक्रमान् न्यक्कुर्वन्ते जजक्षुः हासितवन्तः । बुभुक्षया वा फलाग्निं भक्षितवन्तः । 'जक्ष भक्ष-हसनयोः ।' केचित् जगुः गायन्ति स्म । केचित्समुत्पुल्लविरे उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छन्ति स्म । केचित् भ्रान्ता निषेदुः निषण्णाः । केचिदास्फोटयांच-कुर्वयं युध्याम इति आस्फोटं कुर्वन्तिस्मोति ष्यन्ताल्लिख्याम् । केचित्तोषाद्-भिप्रणेदुः सुष्ठु नादितवन्तः । केचिद्रेजुः दीप्तवन्तः । केचिन्ननन्दुर्वियमी-दृशं कर्म कृतवन्त इति । अन्ये विययुरितस्ततो गच्छन्ति स्म । केचित्स-मीयुः एकत्र संगताः । आख्यातमालेति तिङन्तमाला ॥ २८ ॥

अथ द्वाविंशतिः सङ्कीर्णाः श्लोकाः ।

गिरिपङ्कचारुदेहं कक्कोललवङ्गवद्धसुरभिपरिमलम् ।

बहुबहलोरुतरङ्गं परिसरमारूढमुद्धरं लवणजलम् ॥ २९ ॥

गिरीत्यादि—गिरीणां प्रक्षिप्यमाणानां यः पङ्कः गैरिकादिधातुकर्ममः तेन चारुदेहम् । कक्कोललवङ्गाभ्यां वद्धः सुरभिः परिमलो गन्धो यस्मिन् । बहवः प्रभूता वहलाः स्थूला उरवः उच्चास्तरङ्गा यस्य तदीदृशं लवणज-लम् । उद्धरम् उद्धृतं कर्तृभूतम् । परिसरं ^{नन्दि} अरूढं सेतुना निवारित-गतित्वार्त् ॥ २९ ॥

लोलं कूलाभिगमे खे तुङ्गाऽमलनिवद्धपुरुपरिणाहम् ।

सुरगङ्गाभरणसहं गिरिवन्धवरेण लवणसलिलं रुद्धम् ॥ ३० ॥

लोलमित्यादि—कूलाभिगमे तटगमने लोलं चञ्चलम् । खे आकाशे तुङ्गं च तदमलं चेति तुङ्गामलम् । निवद्धः संयुक्तः पुरुर्महान् परिणाहो यस्य । तुङ्गामलं च तन्निरुद्धपुरुपरिणाहं चेति । वियति आरोहपरिणा-हाभ्यां युक्तमित्यर्थः । सुरगङ्गायाः मन्दाकिन्याः यद्भरणं पूरणं तत्र सहं शक्तं वादृशं लवणजलं गिरिवन्धवरेण सेतुना रुद्धम् ॥ ३० ॥

अथ त्रयोदशभिः कुलकम् ।

आरूढं च सुवेलं तरुमालाऽऽबन्धहारिगिरिवरजालम् ।

रावणचित्तभयङ्करमापिङ्गललोलकेसरं रामबलम् ॥ ३१ ॥

आरूढमित्यादि—रामबलं तटे स्थित्वा आरूढं च सुवेलं पर्वतम् । धका-
रस्य प्राकृते स्वरशेषता न भवति । पदमध्यान्तयोरवर्तमानत्वात् । तरुमा-
लाया य आवन्धः तेन हारि मनस्तुष्टिकरं तादृशं गिरिवराणां पर्यन्तागि-
रीणां जालं यस्य सुवेलस्य । रावणचित्तस्य भयङ्करं रामबलम् । आपिङ्ग-
लानि लोलानि केसराणि यस्य तदिति ॥ ३१ ॥

लङ्काऽऽलयतुमुलाऽऽरवसुभरगभीरोरुकुञ्जकन्दरविवरम् ।

वीणारवरससङ्गमसुरगणसंकुलमहातमालच्छायम् ॥ ३२ ॥

लङ्केत्यादि—लङ्कालयानां राक्षसानां यस्तुमुलो महानारवः तेन
सुभराः परिपूर्णाः गभीरोरुकुञ्जा गम्भीरमहागहनानि कन्दरविवराणि च
यत्र सुवले । वीणारवे यो रसस्तृष्णा तेन संगमः समागमो येषां सुरग-
णानां ते च सुरगणाश्चेति समासः । तैः संकुला व्याप्ता महातमाल-
च्छाया यत्रेति ॥ ३२ ॥

सरसबहुपल्लवाऽऽविलकेसरहिन्तालबद्धबहलच्छायम् ।

ऐरावणमदपरिमलगन्धवहाऽऽबद्धदन्तिसंरम्भरसम् ॥ ३३ ॥

सरसत्यादि—सरसाः सार्द्राः ये बहवः पल्लवाः तैराविला अन्धकारिता
ये केसरवृक्षाः हिन्तालवृक्षाश्च तैर्बद्धा बहला घना छाया यत्र सुवले । ऐराव-
णस्य ऐरावतस्य हस्तिनो मदपरिमलो यस्मिन् गन्धवहे तादृशेन गन्धवहेन
आबद्धो दन्तिनां हस्तिनां संरम्भरसः क्रोधरसो यत्रेति । ऐरावण ऐरावत इत्यु-
भयमपि प्राकृते साधु ॥ ३३ ॥

तुङ्गतुरुच्छायारुहकोमलहरिहारिलोलपल्लवजालम् ।

हरिणभयङ्करसकुसुमदावसमच्छविविलोलदाडिमकुञ्जम् ॥ ३४ ॥

तुङ्गेत्यादि—तुङ्गतुरूपां या छाया तस्यां रोहन्तीति 'इगुपधज्ञाप्रीकि-
रः कः । ३।१।३५।' इतीगुपधलक्षणः कः । तुङ्गतुरुच्छायारुहाः विटपाः
तेषां कोमलं हरि हरितं हारि तुष्टिकरं लोलं पल्लवजालं यत्र । हरि-
णानां भयङ्करा दावसदृशत्वात् सकुसुमदावसमच्छवयः दावाप्रितुत्याः लोल-
दाडिमकुञ्जा यत्र ॥ ३४ ॥

कलहरिकण्ठविरावं सलिलमहाबन्धसङ्कुलमहासालम् ।

चलकिसलयसम्बद्धं मणिजालं सलिलकणमयं विवहन्तम् ॥ ३५ ॥

कलेत्यादि—कलो मनोहरः हरीणां कण्ठविरावो यत्र । सलिलस्य यो महाबन्धस्तेन संकुला महान्तः सालाः सालवृक्षा यत्र । चलकिसलयेषु संबद्ध संलभं सलिलकणमयं सलिलकणरूपं मणिजालं मणिसमूहमिव विवहन्तं धारयन्तम् ॥ ३५ ॥

तुङ्गमणिकिरणजालं गिरिजलसंघट्टवद्धगम्भीररवम् ।

चारुगुहाविवरसभं सुरपुरसममरचारणसुसंरावम् ॥ ३६ ॥

तुङ्गेत्यादि—तुङ्गमणीनां किरणजालं यत्रेति । गिरिजलानि निर्झरजलानि तेषां यः संघट्टः परस्परसंश्लेषस्तेन बद्धो गम्भीरो रवो यत्र । चारुगुहाविवरमेव सभा शाला यत्र । अमरचारणानां गन्धर्वाणां गायतां शोभनः संरावो यत्र अत एवामरपुरसमम् ॥ ३६ ॥

विमलमहामणिटङ्कं सिन्दूरकलङ्कपिञ्जरमहाभित्तिम् ।

वीरहरिदन्तिसङ्गमभयरुद्धविभावरीविहारसमीहम् ॥ ३७ ॥

विमलेत्यादि—विमलमहामणीनां पद्मरागादीनां टङ्का छेदा यत्र । अतश्च सिन्दूरकलङ्केन लाञ्छनेन पिञ्जरा इव महाभित्तयो यस्य । वीराणां हरीणां दन्तिनां च यः सङ्गमोऽन्योन्यगमनं तस्माद्यद्भयं तेन रुद्धा निवारिता विभावरी विहारसमीहा विहरणेच्छा यत्र ॥ ३७ ॥

समहाफणिभीमविलं भूरिविहङ्गमतुमुलोरुघोरविरावम् ।

वारणवराहहरिवरगोगणसारङ्गसंकुलमहासालम् ॥ ३८ ॥

समेत्यादि—समहाफणीन्यत एव भीमानि विलानि विवराणि यत्र । भूरीणां विहङ्गमानां तुमुलोऽनेकप्रकार चरुर्महान् घोरो रौद्रो विरावो यत्र । वारणादिभिः स्कन्धकर्षणार्थिभिः संकुला महासाला यत्र ॥ ३८ ॥

चलकिसलयसविलासं चारुमहीकमलरेणुपिञ्जरवसुधम् ।

सकुसुमकेसरवाणं लवङ्गतरोत्तरुणवल्लरविरहासम् ॥ ३९ ॥

चलेत्यादि—चलैः किसलयैः हस्तैरिव सविलासं प्रारब्धनृत्यम् । चारुणां महीकमलानां स्थलजानां रेणुभिः पिञ्जरा वसुधा यत्र । सकुसुमाः केसराः वाणाश्च यत्र । लवङ्गतरोत्तरुणा वा वल्लर्यः प्ररोहास्ता एव वरो हासो विकासो यत्र ॥ ३९ ॥

अमलमणिहेमटङ्कं तुङ्गमहाभित्तिरुद्धरुरुपङ्कगमम् ।

अमराऽऽरूढपरिसरं मेरुमिवाऽविरलसरसमन्दारतरुम् ॥ ४० ॥

अमलेत्यादि--अमलमणीनां हेमादीनां टङ्काश्लेदा यत्र । तुङ्गा उच्चा महती विस्तारवती या भित्तिस्तया रुद्धो रुरुणां मृगविशेषा-
णाम् पङ्कगमः पङ्केन गमनं यत्र । गमेः 'ग्रहवृद्वनिश्चिगमश्च ।३।३।५८।' इत्यप् । 'वङ्कगमम्' इति पाठान्तरे तु तुङ्गमहाभित्तौ रुद्धः कुटिलो गमो यत्र । 'वकि कौटिल्ये' इत्यस्य रूपम् । अमरैरारूढाः परिसरास्तटा यत्र । अविरलाः सरसा मन्दारतरवो देववृक्षा यत्र । तमित्थं मेरुमिव ॥ ४० ॥

फलभरमन्थरतरुवरमविदूरविरूढहारिकुसुमापीडम् ।

हरिणकलङ्कमणिसंभवबहुवारिसुभरगम्भीरगुहम् ॥ ४१ ॥

फलेत्यादि--फलभरेण मन्थरा ईपन्नतास्तरुवरा यत्र । अविदूरे विरूढा हारिणः कुसुमापीडा यत्र । पुष्पस्तवकानां हस्तग्राह्यत्वात् । हरिणकलङ्क-
मणिः महाचन्द्रकान्तः तस्मात् संभवो यस्य बहुवारिणः तेन सुभराः परि-
पूर्णा गम्भीरा गुहा यस्य । अत्र मणिमहत्तया वारिमहत्त्वात् गम्भीरगुहा-
पूरणमिति ॥ ४१ ॥

जलकामदन्तिसंकुलसहेमरसचारुधवलकन्दरदेहम् ।

अङ्कुररोहसमच्छविरुरुगणसंलीढतरलहरिमणिकिरणम् ॥ ४२ ॥

जलेत्यादि--जलमेतदित्येवं कामैर्दन्तिभिः संकुलाः सहेमरसाः सह हेम-
रसेन वर्तमानाः चारवः शोभनाः धवलाः कन्दरदेहाः कन्दरसन्निवेशा यत्र । रोहणं
रोह अङ्कुराद्रोहो यस्य शस्यस्य तेन समच्छवयस्तुल्यवर्णा रुरुगणास्तैः
संलीढाः तरलाश्चञ्चलाः हरिमणिकिरणा मरकतमयूखा यत्र ॥ ४२ ॥

गाढसमीरणसुसहं भीमरवोत्तुङ्गवारिधरसङ्घट्टम् ।

धवलजलवाहमालासम्बद्धावद्धहिमधराधरलीलम् ॥ ४३ ॥

गाढेत्यादि--गाढो महान् यः समीरणः तं सुसहत इति मूलविभुजा-
दित्वात्कः । भीमरवास्तुङ्गा ये वारिधरास्तेषां संघट्टो यत्र । धवला ये
जलवाहास्तेषां मालाया यत्सम्बद्धं सम्बन्धः (सम्बन्धनं सम्बद्धं 'नपुंसके
भावे क्तः ।३।३।११३।' इति भावे क्तः) तेन करणभूतेन आवद्धा अनुकृता
हिमधराधरस्य हिमवतो धराधरस्य लीला विभ्रमो येन तं सुवेलम् आरूढम् ॥ ४३ ॥

रामवलं कीदृशमित्याह--

लवणजलबन्धसरसं तरुफलसंपत्तिरुद्धदेहायासम् ।

लङ्कातोरणवारणमारूढं समरलालसं रामवलम् ॥ ४४ ॥

लवणेत्यादि--लवणजलबन्धाद्धेतोः सरसं सहर्षम् । तरुफलसंपत्त्या रुद्धो-
ऽपनीतः देहायासः क्षुत्पीडा यस्य । लङ्कातोरणस्य वारणं निषेधकम् ।
आलोलं चञ्चलं समरलालसं रणसतृष्णं रामवलं तं सुवेलमारूढमिति
पूर्वेण योज्यम् ॥ ४४ ॥

तस्मिन्नारूढे परवलं सन्नद्धमित्थं प्रवृत्तमित्यर्थः । इत्थं कथं तदाह
गुरुपणवेत्यादिना--

अथ त्रिभिर्विशेषकम् ।

गुरुपणवेषुगुञ्जाभेरीपेलोरुझलरीभीमरवम् ।

ढक्काघण्टातुमुलं सन्नद्धं परवलं रणायाससहम् ॥ ४५ ॥

गुर्वित्यादि--गुरुपणवादीनां भीमो रवो यस्मिन् परवले तत्र । गुरुपणवो
सहान् पणवः । पणवो ढक्का पेला वाद्यविशेषः । उरुझलरी महती
झलरी (झांझ) इति ख्यातो वाद्यविशेषः । ढक्काघण्टयोस्तुमुलः संमूर्च्छितः
शब्दो यत्रेति । रणायाससहं रणक्लेशसहम् ॥ ४५ ॥

आरूढवाणघोरं विमलायसजालगूढपीवरदेहम् ।

चञ्चलतुरङ्गवारणसंघट्टावद्धचारुपरिणाहगुणम् ॥ ४६ ॥

आरूढेत्यादि--धनुषि आरूढवाणत्वात् घोरं परवलम् । विमलेनाय-
सजालेन वर्मणा गूढश्छन्नः पीवरः स्थूलो देहो यस्य । चञ्चलानां तुरङ्गाणां
वारणानां च यः परस्परसंघट्टः श्लेषणं तेनावद्धश्चारुः परिणाहगुणः विस्तार
एव गुणो यस्य तत्परवलं सन्नद्धम् ॥ ४६ ॥

असितोमरकुन्तमहापाट्टिशभल्लवरवाणगुरुपुरुमुसलम् ।

वीररसालङ्कारं गुरुसञ्चारहयदन्तिसमहीकम्पम् ॥ ४७ ॥

अस्तीत्यादि--अस्यादीनां वरवाणपर्यन्तानां द्वन्द्वः । तैरस्यादिभिः गुरु
अनभिभवनीयं पुरु महन्मुसलं यत्र । अस्यादिगुरु च तत् पुरु मुसलं चेति
समासः । वीररस एवालङ्कारो यस्य । गुरुः सञ्चारो येषां हयदन्तिनां महाका-
यत्वात् तैः समहीकम्पं सह महीकम्पेन वर्तमानं परवलं सन्नद्धम् ॥ ४७ ॥

ते रामेण सरभसं परितरला हरिगणा रणसमारम्भे ।

रुद्धा लङ्कापरिसरभूधरपरिभङ्गलालसा धीररवम् ॥ ४८ ॥

ते इत्यादि—ते हरिगणाः कपिगणाः रणसमारम्भे रणप्रवर्तननिमित्तं सरभसं संध्रमपूर्वकं परितरलाः स्थातुमशक्नुवन्तः । लङ्कापरिसरे लङ्का-समीपे ये भूधराः तरवः तेषां परिभङ्गे चूर्णने लालसाः सतृष्णाः सन्तो रामेण रुद्धाः प्रतिपिद्धाः सा भाङ्क्षुरिति । धीररवं धीरो रवो यस्यां प्रतिषेधनक्रियायामिति ॥ ४८ ॥

अथ द्वाभ्यां युग्मकम्—

जलतीरतुङ्गतरुधरकन्दरगिरिभित्तिविवराऽऽवासम् ।

भीमं तरुहरिणवलं सुसमिद्धहिमारिकिरणमालालोलम् ॥ ४९ ॥

जलेत्यादि—तरुहरिणवलं कपिवलं निषिद्धं सत् भीमं भयानकं जलती-राद्यैरावासो यस्य तत् सुसमिद्धस्य हिमारेरग्रेरादित्यस्य वा या किरणमाला तद्वल्लोलं समारूढमिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ॥ ४९ ॥

रावणबलमवगन्तुं जलभरगुरुसलिलवाहगणसमच्छायम् ।

अट्टतरुमञ्चमन्दिरतोरणमालासभासु समारूढम् ॥ ५० ॥

इति महावैयाकरणभट्टि-प्रणीते रामचरिते काव्ये

प्रसन्नकाण्डे भाषासमावेशो नाम चतुर्थः

परिच्छेदस्त्रयोदशः सर्गः ।

रावणेत्यादि—रावणबलमवगन्तुं कीदृशमिति जलभरेण गुरुर्थः सलिलवाहगणो जलधरसमूहः तेन समच्छायम् तुल्यच्छायम् अट्टादिषु समारूढम् ॥ ५० ॥

इति श्रीजयमङ्गलसूरिविरचितया श्रीजयमङ्गलाह्वयया व्याख्यया
समलंकृते श्री भट्टिप्रणीते रामचरिते तृतीये प्रसन्न-काण्डे लक्षण-
रूपे चतुर्थः परिच्छेदः तथा लक्ष्यरूपे कथानके 'सेतुवन्धनं'
नाम त्रयोदशः सर्गः ।

चतुर्दशः सर्गः ।

सुप्तिङ्गव्युत्पत्तौ यत्सौष्टवं तदपि काव्यस्याङ्गमुक्तम् । अतः प्रसन्नकाण्डानन्तरं तिङ्काण्डं शब्दलक्षणप्रयोगार्थं कथ्यते । तत्र लस्य स्थाने तिवादयः । लकाराश्च नव लेटश्छन्दोविषयत्वादिति । अत्र नव विलसितानि । विलसितं च नानारूपता । तत्र भूतार्थवतो लिटोऽधिकृत्य तद्विलसितमाह—

ततो दशाऽऽस्यः स्मरविह्वलाऽऽत्मा चारप्रकाशीकृतशत्रुशक्तिः ।

विमोह्य मायामयराममूर्ध्ना सीतामनीकं प्रजिघाय योद्धुम् ॥ १ ॥

तत इत्यादि—ततः स्वपरबलयो रणादुत्तरकालं दशास्यः स्मरविह्वलात्मा कामवशीकृतदेहः भर्तारि निराशा सती सीता ममानुकूला भविष्यतीति मायामयेन मायास्वभावेन राममूर्ध्ना छिन्नेन सीतां विमोह्य मोहयित्वा चारैः प्रणिधिभिः प्रकाशीकृता शत्रुशक्तिः वैरिसामर्थ्यं यस्मै । योद्धुमनीकं सैन्यं प्रजिघाय प्रहितवान् । 'हेरचाङ्कि ७३।५६।' इति कुत्वम् । भूतानद्यतनपरोक्षे सर्वत्र लिट् ॥ १ ॥

कम्बूनथ समादध्मुः कोणैर्भेयो निजग्निरे ।

वेणून्पूरिरे गुञ्जा जुगुञ्जुः करघट्टिताः ॥ २ ॥

कम्बून्त्यादि—अथ सैन्यप्रेषणानन्तरं कम्बून् समादध्मुः शब्दितवन्तः शङ्खिकाः । कोणैर्वाद्यवादनैः काष्ठमयैः भेयो निजग्निरे ताडिताः कर्मणि लिट् । वेणून् वंशान् पूरिरे मुखमरुता पूरितवन्तः । 'पूरी आप्यायने' इति दैवादिकोऽनुदात्ते । गुञ्जाः समरवादनाः करघट्टिताः अङ्गुलिवृष्टा जुगुञ्जुः शब्दितवत्यः । 'गुञ्जि अव्यक्ते शब्दे' ॥ २ ॥

वादयाञ्चकिरे ढक्काः पणवा दध्वनुर्हताः ।

काहलाः पूरयाञ्चक्रुः पूर्णाः पेराश्च सस्वनुः ॥ ३ ॥

वादयामित्यादि—ढक्का वादयाञ्चकिरे वादितवन्तः । ढक्कावादका इत्यर्थः । वदेहेतुमण्यन्तात् आभि 'अयामन्ताल्वाप्योत्त्विष्णुपु । ६।४।५५।' इत्ययादेशः । 'आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य । १ । ३ । ६३ ।' इति कृञोऽनुप्रयोगस्यात्मनेपदम् । 'णिचश्च । १।३।७४।' इति आम्प्रत्ययादात्मनेपदस्य विहितत्वान् । पणवाः वाद्यविशेषाः हताः पाणविकैस्ताडिताः दध्वनुर्हताः । काहलाः गोशृङ्गसंस्थानाः । पूरयाञ्चक्रुः पूरितवन्तः । 'पूरी आप्यायने' इति

चौरादिकस्य रूपम् । पेराः खरमुखाकाराः पूर्णा मुखमरुता सस्वनुः । 'फणां च सप्तानाम् । ६ । ४ । १२५ ।' इति लिटि एत्वविधानस्य विकल्पितत्वात् नैत्वम् ॥ ३ ॥

मृदङ्गा धीरमास्वेनुर्हतैः स्वेने च गोमुखैः ।

घण्टाः शिशिञ्जिरे दीर्घं जहादे पटहैर्भृशम् ॥ ४ ॥

मृदङ्गा इत्यादि—मृदङ्गा मुरजाः धीरम् आस्वेनुः गम्भीरं ध्वनिताः । एत्व-
पक्षे रूपम् । गोमुखैर्वाद्यविशेषैः हतैः स्वेने शब्दितम् । भावे लिट् । घण्टाः
दीर्घं शिशिञ्जिरे उच्चैः शब्दितवत्यः । पटहैर्भृशमत्यर्थम् । जहादे शब्दितम् ।
भावे लिट् ॥ ४ ॥

हया जिहेषिरे हर्षाद्गम्भीरं जगजुर्गजाः ।

संत्रस्ताः करभा रेटुश्चुकुवुः पत्तिपङ्कयः ॥ ५ ॥

हया इत्यादि—हया अश्वाः हर्षात् जिहेषिरे हेषितवन्तः । 'हेषृ
अव्यक्ते शब्दे' भौवादिकोऽनुदात्तत् । अभ्यासस्य 'ह्रस्वः । ७ । ४ । ४९ ।' इति
एत इद्भवति । गजा गम्भीरं मन्द्रं जगजुः गर्जितवन्तः । 'गज गृजी शब्दा-
र्थौ ।' करभा उष्ट्राः संत्रस्ताः नानावादित्रश्रवणात् । रेटुः शब्दं कृतवन्तः ।
'रेट परिभाषणे' इति शब्दार्थः । पत्तिपङ्कयः पदातिसंहतयः चुकुवुः शब्दित-
वत्यः । गच्छत किं तिष्ठथेति । 'कु शब्दे' इत्युदात्तेत् ॥ ५ ॥

तुरङ्गाः पुस्फुटुर्भीताः पुस्फुरुर्वृषभाः परम् ।

नार्यश्चुक्षुभिरे मम्लुर्मुमुहुः शशुचुः पतीन् ॥ ६ ॥

तुरङ्गा इत्यादि—तुरङ्गा अश्वा भीता वादित्रश्रवणात् पुस्फुटुः स्फुटिताः
भयादितस्ततो गताः । 'स्फुट विशरणे' । वृषभाः परं पुस्फुरुः सुष्ठु
वालिताः । 'स्फुर बलने ।' नार्यश्चुक्षुभिरे अस्माकमायातो वियोग इति क्षोभ-
मुपगताः । व्यस्तचित्ता जाता इत्यर्थः । काश्चित् मम्लुः । 'गल्लै म्लै हर्षक्षये' ।
मुमुहुः काश्चिन्मोहमुपगताः । पतीन् काश्चित् शशुचुः शोचितवत्यः । हा कष्टं
नियतं विनष्टा इति ॥ ६ ॥

जगर्जुर्जहषुः शूरा रेजुस्तुष्टुविरे परैः ।

ववन्धुरङ्गुलित्राणि सन्नेहुः परिनिर्ययुः ॥ ७ ॥

१ 'करभश्शिशुः' इति, 'करभाः स्युः शृङ्खलका दारवैः पादवन्धनैः ।' इत्या-
द्युक्तयोऽप्यविशेषवाचित्वेऽपि उष्ट्रत्वमादायेति बोध्यम् ।

जगर्जुरित्यादि—शूरा जगर्जुः । अस्माभिर्वृष्टाः शराः क यास्यन्तीति शब्दितवन्तः । तथा जहृषुः तुष्टाः चिरमायातः समर इति । 'हृष तुष्टौ ।' अत एव रेजुः शोभन्ते स्म । 'फणां च सप्तानाम् । ६ । ४ । १२५ ।' इत्येवाभ्यासलोपौ । परैरन्यैस्तुष्टुविरे स्तुताः । भवतामग्रतः समरे के तिष्ठन्तीति । अङ्गुलित्राणि बबन्धुः बध्नन्ति स्म । 'बन्ध बन्धने ।' तथा परे सन्नेहुः कवचानि बध्नन्ति स्म । 'णह बन्धने ।' परिनिर्घ्युः तिष्क्रान्ताः ॥ ७ ॥

धनूंष्यारोपयाञ्चक्रुरारुरुहू रथादिषु ।

असीनुद्ववृहुर्दीप्तान् गुर्वीरुञ्चिक्षिपुर्गदाः ॥ ८ ॥

धनूंषीत्यादि—धनूंषिः आरोपयाञ्चक्रुः आरोपितगुणानि कृतवन्तः । 'रुहः पोऽन्यतरस्याम् । ७ । ३ । ४३ ।' इति णौ पादेशः । आरुरुहुरारोहन्ति स्म रथादिषु । द्वितीया न कृता । अधिकरणत्वेन विवाक्षितत्वात् । दीप्तान्निष्कलङ्गानसीन् उद्ववृहुः कोशादाकृष्य उद्यतान् कृतवन्तः । 'वृहू उद्यमने ।' गुर्वीर्गदा उञ्चिक्षिपुः उत्क्षिप्तवन्तः ॥ ८ ॥

शूलानि भ्रामयाञ्चक्रुर्वाणानादिरे शुभान् ।

भ्रेमुश्चुकूर्दिरे रेसुर्ववल्गुश्च पदातयः ॥ ९ ॥

शूलानीत्यादि—शूलानि भ्रमयाञ्चक्रुः भ्रमयन्ति स्म । मान्तत्वान्मित्त्वे ह्रस्वत्वम् । वाणान् शुभान् युद्धयोग्यानादादिरे गृहीतवन्तः । 'आङो दोऽनास्यविहरणे । १ । ३ । २० ।' इति तङ् । पदातयश्च भ्रेमुः इतस्ततो याताः । चुकूर्दिरे शस्त्रपाणयः क्रीडितवन्तः । 'कुर्द खुर्द गुर्द गुद क्रीडायामेव ।' 'उपधायां च । ८ । २ । ७८ ।' इति दीर्घः । रेसुः भयकृते निनादान् कृतवन्तः । 'रस शब्दे ।' ववल्गुः प्रप्लुताः । वलातिः 'उख उखि' इत्यादां पठयते ॥ ९ ॥

समुत्पेतुः कशाघातै रश्म्याकर्षैर्ममाङ्गिरे ।

अश्वाः प्रदुद्रुवुर्मोक्षे रक्तं निजगरुः श्रमे ॥ १० ॥

समुत्पेतुरित्यादि—कशाघातैः चर्मलताप्रहारैः अश्वाः समुत्पेतुः उत्प्लुताः । रश्म्याकर्षैः प्रग्रहाकर्षणैः ममाङ्गिरे शोभन्ते स्म । सङ्कोचितत्राणत्वात् । 'मगि मण्डने ।' मोक्षे रश्मीनां प्रसारणे प्रदुद्रुवुः वेगो न गताः । श्रमे सति खलनिप्रभवं रक्तं निजगरुः पतितवन्तः । 'ग निगरणे ।' 'ऋच्छत्यृताम् । ७ । ४ । ११ ।' इति गुणः ॥ १० ॥

गजानां प्रददुः शारीन् कम्बलान् परितस्तरुः ।

तेनुः कक्षां ध्वजांश्चैव समुच्छिश्रियुरुच्छिखान् ॥ ११ ॥

गजानामित्यादि—गजानां शारीन् प्रददुः । पृष्ठेण आरोपितवन्तो हस्ति-
पक्षा इत्यर्थात् । तथा कम्बलान् नानावर्णविचित्रान् परितस्तरुः आस्तीर्ण-
वन्तः । कक्षां हेमादिमयीं तेनुः विस्तारितवन्तः । उच्छिखान् उद्धृतशिखान्
ध्वजान् समुच्छिश्रियुः उरिक्षिप्तवन्तः ॥ ११ ॥

विशिश्वासयिषाञ्चक्रुरालिलिङ्गुश्च योषितः ।

आजघ्नुर्माँघ्निं बालांश्च चुचुम्बुश्च सुतप्रियाः ॥ १२ ॥

विशिश्वासयिषाञ्चक्रुरित्यादि—योषितः आत्मीयान् विशिश्वासयिषा-
ञ्चक्रुः विश्वासयितुमिष्टवन्तः । मय्यन्यथा न भवनीयामिति । प्यन्तात्सन्नन्तरय
रूपम् । आलिलिङ्गुश्च श्लिष्यन्ति स्म । लिगिर्गत्यर्थः । आङ्पूर्वः परिप्लव्हे
र्तते । बालान् शिशून् आजघ्नुः शिरासी आघ्रातवन्तः । तथा चुचुम्बुश्च
चुम्बितवन्तः । सुतप्रियाः सुताः प्रियाः यासामिति ॥ १२ ॥

गम्भीरवेदिनः सञ्ज्ञा गजा जगृहुरक्षताः ।

ववृधे शुशुभे चैषां मदो हृष्टैश्च च पुप्लुवे ॥ १३ ॥

गम्भीरवेदिन इत्यादि—ये गजा मत्तत्वादङ्कुशैर्हृदमाहता गम्भीरं विन्दन्ति
ते गम्भीरवेदिनः तस्मिन् काले संज्ञा युद्धौपयिकीर्जगृहुः गृहीतवन्तः ।
अक्षतास्तोनाङ्कुशैरनाहताः सन्तः । हृष्टैश्च गजैः पुप्लुवे प्लुतम् । भावे लिट् ।
हर्षादेषां मदो ववृधे वर्धते स्म । शुशुभे च शोभते स्म ॥ १३ ॥

मृगाः प्रदक्षिणं ससुः शिवाः सम्यग्ववाशिरे ।

अवामैः पुस्फुरे देहैः प्रसेदे चित्तवृत्तिभिः ॥ १४ ॥

मृगा इत्यादि—एवं संनह्य चलतां मृगाः दक्षिणपार्श्वेन गताः वामपार्श्व-
स्थाः शिवाः सम्यग्ववाशिरेः शब्दितवत्य इत्यर्थः । 'वाशृ शब्दे' अवामैर्द-
क्षिणैर्देहैर्भुजादिभिः पुस्फुरे स्फुरितम् । भावे लिट् । चित्तवृत्तिभिर्मनोवृत्तिभिः
प्रसेदे प्रसन्नम् । पूर्ववत्सदेर्भावे लिट् ॥ १४ ॥

प्राच्यमाञ्जिहिषाञ्चक्रे प्रहस्तो रावणाज्ञया ।

द्वारं ररङ्गतुर्याम्यं महापार्श्वमहोदरौ ॥ १५ ॥

प्राच्यमित्यादि—एवं शुभनिमित्तोत्साहितः प्रहस्तो रावणाज्ञया प्राच्यं
प्राचि भवं पूर्वद्वारम् 'शुभ्रागपागुदकप्रतीचो यत् । ४ । २ । ११०' ।

यत् । आजिहिषाञ्चके गन्तुमिष्टवान् । 'अहि गैता' इत्यस्योनुदात्तः सनीद् । 'अजादेद्वितीयस्य । ६ । १ । २ ।' इति द्विर्वचनम् । 'न न्द्राः संयोगोदयः । ६ । १ । ३ ।' इति नकारो न द्विरुच्यते । 'आम्प्रत्ययवत् कृबोऽनुप्रयोगस्य । १ । ३ । ६३ । इत्यात्मनेपदम् । तथा महापार्श्वमहोदरौ राक्षसौ याम्यं द्वारं दक्षिणम् । यमो देवता अस्येति 'दित्यदित्या-दित्यपत्युत्तरपदाण्यः । ४ । १ । ८५ ।' इत्यत्र 'यमाच्चेति वक्तव्यम्' इति उक्तम् तेन प्राग्दीव्यतीयेऽर्थे ण्यप्रत्ययः । ररङ्गनुः गतौ । 'रधि गतौ' इत्यस्य रूपम् ॥ १५ ॥

प्रययाविन्द्रजित् प्रत्यगियाय स्वयमुत्तरम् ।

समध्यसिसिषाञ्चके विरूपाक्षः पुरोदरम् ॥ १६ ॥

प्रययादित्यादि—प्रत्यक् पश्चिमद्वारम् इन्द्रजित् प्रययौ गतवान् । प्रत्यागिति 'दिक्छन्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः । ५ । ३ । २७ ।' इति विहितस्यास्तातेः 'अञ्चेलुक् । ५ । ३ । ३० ।' भसंज्ञाभावात् 'अचः । ६ । ४ । १३८ ।' इत्यकारलोपो निवर्तते । 'चौ । ६ । ३ । १३८ ।' इति दीर्घत्वं च । स्वयामिति रावण उत्तरद्वारमियाय गतः । विरूपाक्षो राक्षसः पुरोदरं पुरमध्यं समध्यासिसिषाञ्चके समध्यासितुमिष्टवान् । आस्तेरनुदात्तः सनि इति अजादित्वाद्द्वितीयस्य द्वित्वम् । 'पूर्ववत्सनः । १ । ३ । ६२ ।' इत्यात्मनेपदम् । अनुप्रयोगस्याप्यात्मनेपदम् ॥ १६ ॥

शुश्राव रामस्तत्सर्वं प्रतस्थे च ससैनिकः ।

विस्फारयाञ्चकाराऽस्त्रं ववन्धाऽय च वाणधीः ॥ १७ ॥

शुश्रावेत्यादि—अथानन्तरं रामस्तत्सर्वं रावणचेष्टितं शुश्राव श्रुतवान् । प्रतस्थे च गन्तुं प्रवृत्तः । 'समवप्रविभ्यः स्थः । १ । ३ । २२ ।' इति तङ् । ससैनिकः सह योवैः । सेनायां समवेता इति 'सेनाया वा । ४ । ४ । ४५ ।' इति पक्षे ठक् । अस्त्रं धनुर्विस्फारयाञ्चकार आरोप्याकृष्टवान् । स्फुरतेः । 'चिस्फुरोर्णौ । ६ । १ । ५४ ।' इत्यात्वम् । ववन्ध्व च वाणधी तूणीरे वध्नाति स्स । वाणा धीयन्तेऽत्रेति । 'कर्मण्यधिकरणे च । ३ । ३ । ९३ ।' इति किः ॥ १७ ॥

ईक्षाञ्चकेऽय सौमित्रिमनुजज्ञौ वलानि च ।

नमश्चकार देवेभ्यः पर्णतल्पं मुमोच च ॥ १८ ॥

ईक्षामित्यादि—सौमित्रिं च युद्धाय ईक्षाञ्चक्रे दृष्टवान् । ईक्षेरनुदात्ततः ।
 'इजादेश्चगुरुमतोऽनृच्छः ।३।१।३६।' इत्याम् । वलानि च अनुजज्ञे
 अनुज्ञातवान् । अनुपूर्वो जानातिरनुज्ञाने वर्तते तस्य परस्मैपदित्वात् । 'अनुजज्ञे'
 इति पाठश्चिन्त्यः । न च 'अनुपसर्गाज्ज्ञः ।१।३।७६।' इति वचनादात्मने-
 पदम्, उपसर्गेण युक्तत्वात् । नमश्चकार देवेभ्यः । नमःशब्दयोगे चतुर्थी ।
 पर्णतल्पं पर्णशयनीयं मुमोच मुक्तवान् ॥ १८ ॥

चकासांश्चक्रुरुत्तस्थुर्नेदुरानशिरे दिशः ।

वानरा भूधरान् रेधुर्वभञ्जुश्च ततस्तरून् ॥ १९ ॥

चकासांश्चक्रुरित्यादि—ततोऽनुज्ञानानन्तरं वानरा उत्तस्थुः उत्थिताः ।
 नेदुः शब्दितवन्तः । दिश आनशिरे व्याप्ताः । 'अश्रोतेश्च ।७।४।७२।'
 इत्यभ्यासस्य नुट् । 'अत आदेः ।७।४।७०।' इति दीर्घत्वम् । भूधरान्
 पर्वतान् रेधुः उन्मूलितवन्तः । 'राधो हिंसायाम् ।६।४।१२३।' इत्येत्वाभ्यास-
 लोपः । तरुंश्च वभञ्जुः भग्नवन्तः । एवं च ते चकासाञ्चक्रुः शोभन्ते स्म ।
 'कास्यनेकाब्जहणकर्तव्यम्' इत्याम् ॥ १९ ॥

अथ श्लोकद्वयं राघवयोर्ब्रह्मास्त्रवन्धसूचनार्थमनिमित्तदर्शनम् ।

ददाल भूर्नभो रक्तं गोष्पदप्रं ववर्ष च ।

मृगाः प्रससृपूर्वामं खगाश्चुकुविरेऽशुभान् ॥ २० ॥

ददालेत्यादि—भूर्ददाल विदीर्णा । नभश्च रक्तं रुधिरं ववर्ष वृष्टवत् । लिटः
 पित्त्वादकित्त्वे धातोर्गुणः । क्रियत्प्रमाणं गोष्पदप्रं यावता गोष्पदं पूर्यते । 'वर्ष-
 प्रमाण ऊलोपश्चास्यान्यतरस्याम् ।३।४।३२।' इति णमुल् ऊलोपश्च । मृगाः
 प्रससृपूर्वामं वामपार्श्वेन गता इत्यर्थः । खगाः/ पक्षिणोऽशुभान् अनिष्टांश्चुकु-
 विरे शब्दितवन्तः । 'कुङ् शब्दे ।' अशुभमिति पाठान्तरम् । तत्र क्रिया-
 विशेषणं वेदितव्यम् ॥ २० ॥

उल्का ददृशिरे दीप्ता रुरुवुश्चाशिवं शिवाः ।

चक्ष्माये च मही रामः शशङ्के चाशुभागमम् ॥ २१ ॥

उल्का इत्यादि—दीप्ता उल्का ददृशिरे दृष्टाः । अशिवम् अनिष्टं शिवा
 गोमायवः रुरुवुः शब्दितवन्तः । मही च चक्ष्माये कम्पिता । 'क्ष्मायी
 विधूनने' इत्यनुदात्तत् । रामश्चाशुभागममनिष्टप्राप्तिं शशङ्के शङ्कते स्म ।
 चेतसः पर्याकुलत्वात् इदमप्यनिष्टमेव ॥ २१ ॥

रावणः शुश्रुवाञ्छत्रून् राक्षसानभ्युपेयुषः ।

स्वयं युयुत्सयाञ्चक्रे प्राकाराग्रे निषेदिवान् ॥ २२ ॥

रावण इत्यादि—राक्षसानभ्युपेयुषोऽभिमुखमुपगतवन्तो ये शत्रवो रामादयस्तान् रावणः शुश्रुवान् । स्वयं च प्राकाराग्रे निषेदिवान् निषण्णः सन् । 'भाषायां सदवसश्रुवः ।३।२।१०८।' इति कसुः । युयुत्सयाञ्चक्रे योद्धुमिच्छन्तं प्रयोजितवानित्यर्थः । सन्नन्तप्यन्तस्य रूपम् ॥ २२ ॥

निरासू राक्षसा बाणान् प्रजहुः शूलपाट्टिशान् ।

अर्सीश्च वाहयाञ्चक्रुः पाशैश्चाचकृषुस्ततैः ॥ २३ ॥

निरासुरित्यादि—रावणप्रचोदिता राक्षसा बाणान्निरासुः क्षिप्रवन्तः शूलपाट्टिशान् शूलसहितान् पाट्टिशान् । शाकपार्थिवादिवात्तत्पुरुषः । द्वन्द्वे तु 'जातिरप्राणिनाम् ।२।४।६।' इत्येकवद्भावः स्यात् । तान् प्रजहुः त्यक्तवन्तः । 'ओहाक् त्यागे ।' अर्सीश्च खङ्गान् वाहयाञ्चक्रुः व्यापारितवन्तः । प्यन्तस्य रूपम् । पाशैस्ततैर्विस्तृतैः आचकृषुः आकृष्टवन्तः । कित्त्वे गुणप्रतिषेधः ॥२३॥

भल्लैश्च विभिदुस्तीक्ष्णैर्विविधुस्तोमरैस्तथा ।

गदाभिश्चूर्णयाञ्चक्रुः शितैश्चक्रश्च चिच्छिदुः ॥ २४ ॥

भल्लैरित्यादि—भल्लैर्विभिदुर्विदारितवन्तः । तीक्ष्णैस्तथा तोमरैर्विविधुस्ताडितवन्तः । व्यधेः 'ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतित्वृश्चितिपृच्छतिभृजतीनां डिति च ।६।१।१६।' इति सम्प्रसारणम् । गदाभिश्च चूर्णयाञ्चक्रुः चूर्णितवन्तः । 'सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच् ।३।१।२५।' इति णिच् । 'चूर्णं प्रेरणे' इति चौरादिकत्वाद्वा । चिच्छिदुः चिच्छन्नवन्तः । राक्षसयुद्धमेतत् ॥ २४ ॥

वानरा मुष्टिभिर्जघ्नुर्ददंशुर्दशनैस्तथा ।

निरासुश्च गिरींस्तुङ्गान् द्रुमान् विचकरुस्तथा ॥ २५ ॥

वानरा इत्यादि—वानरा मुष्टिभिर्जघ्नुः हतवन्तः । राक्षसानित्यर्थात् । दशनैर्ददंशुः दष्टवन्तः । गिरीन्निरासुः क्षिप्रवन्तः । द्रुमान् विचकरुर्विक्षिप्तवन्तः । 'कृ विक्षेपे ।' ऋच्छत्यृताम् ।७।४।११।' इति गुणः ॥ २५ ॥

लाङ्गूलैर्लोठयाञ्चक्रुस्तलैर्निन्युश्च सङ्क्षयम् ।

नखैश्च चकृतुः क्रुद्धाः पिपिपुश्च क्षितौ बलात् ॥ २६ ॥

लाङ्गलैरित्यादि—लाङ्गलैर्लोठयाञ्चक्रुः लाङ्गलैर्व्यापादितवन्तः। 'रुठ लुठ प्रतिघाते' परस्मैपदिनो ष्यन्तस्य रूपम् । तलैर्हस्ततलैः संक्षयं विनाशं निन्युः नीतवन्तः । नखैश्च चक्रतुरुच्छिन्नवन्तः । 'कृती च्छेदने' क्रुद्धाः वानराः बलात् हठात् क्षितौ पिपिषुश्चूर्णितवन्तः ॥ २६ ॥

सम्बभूवुः कवन्धानि प्रोहुः शोणिततोयगाः ।

तेरुर्भटास्यपद्मानि ध्वजैः फेनैरिवाबभे ॥ २७ ॥

संबभूवुरित्यादि—कवन्धानि संबभूवुः संभूतानि । प्रतिसहस्रं व्यापादनात् । कवन्धस्यैकस्योत्पादनात् । शोणिततोयगाः शोणितनद्यः प्रोहुः प्रकर्षेण प्रवृत्ताः । वहैर्यजादित्वात् सम्प्रसारणम् । भटास्यपद्मानि योधमुखपद्मानि तेरुः प्लुतानि । 'तृफलभजत्रपश्च ६।४।१२२।' इति एवाभ्यासलोपौ । फेनैरिव ध्वजैः शोणितनदीषु आबभे शोभितम् । भावे लिट् ॥ २७ ॥

रक्तपङ्के गजाः सेदुर्न प्रचक्रमिरे रथाः ।

निममञ्जुस्तुरङ्गाश्च गन्तुं नोत्सेहिरे भटाः ॥ २८ ॥

रक्तपङ्के इत्यादि—रक्तपङ्के गजाः सेदुः निषण्णौ । रक्तपङ्कस्य बहुलत्वात् । तथा रथा न प्रचक्रमिरे न गन्तुमारब्धाः । 'प्रोपाभ्याम् १।३।४२।' इत्यात्मनेपदम् । तुरङ्गा निममञ्जुः निमग्नाः । भटाश्च गन्तुं नोत्सेहिरे नोःसहन्ते स्म ॥ २८ ॥

कोट्या कोट्या पुरद्वारमेकैकं रुरुधे द्विषाम् ।

षट्त्रिंशद्धरिकोट्यश्च निवव्रुर्वानराधिपम् ॥ २९ ॥

कोट्येत्यादि—द्विषामेकैकं पुरद्वारं वानराणां कोट्या कोट्या रुरुधे रुद्धम् । कर्मणि लिट् । षट्त्रिंशद्धरिकोट्यः वानरकोट्यो वानराधिपं सुग्रीवं निवव्रुः आवृत्य स्थिताः ॥ २९ ॥

तस्तनुर्जहलुर्मल्लुर्जगलुर्लुठिरे क्षताः ।

सुमूर्च्छुर्ववमू रक्तं ततृषुश्चोभये भटाः ॥ ३० ॥

तस्तनुरित्यादि—उभये भटा रामरावणसंबन्धिनो योधाः क्षताः सन्तस्तजनुः स्तानितवन्तः । जहलुः चलिताः । 'हल हल चलने' । मल्लुः

म्लानाः । 'म्लै म्लै हर्षक्षये' । जग्लुः हर्षक्षयं गताः । लुलुठिरे भूसौ लुठन्ते स्म । 'रुठ लुठ प्रतिघाते' तुदादावात्मनेपदी पठ्यन्ते । समुच्छुः मोहमुप-
गताः । रक्तं ववमुः गीर्णवन्तः । तृषुः वृष्यन्ति स्म । एतत् संकुल-
युद्धम् ॥ ३० ॥

सम्पातिना प्रजङ्घस्तु युयुधेऽसौ द्रुमाहतः ।

चकम्पेऽतीव चुक्रोश जीवनाशं ननाश च ॥ ३१ ॥

सम्पातिनेत्यादि---प्रजङ्घो नाम राक्षसः सम्पातिनाम्ना वानरेण सह युयुधे युध्यते स्म । असौ प्रजङ्घो द्रुमाहतश्चकम्पे कम्पते स्म । अतीव अत्यर्थं चुक्रोश क्रोशति स्म । जीवनाशं ननाश जीवेन विनष्टः । 'कर्त्रो-
जीवपुरुषयोर्नशिवहोः । ३ । ४ । ४३ ।' इति णमुल् ॥ ३१ ॥

उच्चख्नाते नलेनाऽऽजौ स्फुरत्प्रतपनाक्षिणी ।

जम्बुमाली जहौ प्राणान् ग्रावणा मारुतिना हतः ॥ ३२ ॥

उच्चख्नाते इत्यादि---स्फुरन् चलन् प्रतपनो नाम राक्षसः तस्याक्षिणी, स्फुरतीव प्रतपनस्याक्षिणी नयने नलेन वानरेण उच्चख्नाते उत्खाते । कर्मणि लिट् । 'गमहन जनखनघसां लोपः क्तिव्यनङि । ६ । ४ । ९८ ।' इत्युपधालोपः । मारुतिना हनूमता ग्रावणा पाषाणेन हतो जम्बुमाली राक्षसः प्राणान् जहौ त्यक्तवान् ॥ ३२ ॥

मित्रघ्नस्य प्रचुक्षोद गदयाऽङ्गं विभीषणः ।

सुग्रीवः प्रघसं नेभे वहून् रामस्ततर्द च ॥ ३३ ॥

मित्रघ्नस्येत्यादि---मित्रघ्नस्य राक्षसस्य अङ्गं गदया विभीषणः प्रचु-
क्षोद । प्रघसं नाम राक्षसं सुग्रीवो नेभे हिंसितवान् । 'णभ तुभ हिंसा-
याम्' इत्यनुदात्तेत् । रामश्च वहून् राक्षसान् ततर्द हिंसितवान् । 'उवृ-
दिर् हिंसाऽनादरयोः' ॥ ३३ ॥

वज्रमुष्टेर्विशिश्लेष मैन्देनाऽभिहतं शिरः ।

नीलश्चकर्त चक्रेण निकुम्भस्य शिरः स्फुरत् ॥ ३४ ॥

वज्रमुष्टेरित्यादि---वज्रमुष्टे राक्षसस्य शिरो मैन्देन वानरेण अभिहतं सत् विशिश्लेष विश्लिष्टम् । निकुम्भस्य शिरः स्फुरत् चलत् । नीलो वान-
रश्चक्रेण चकर्त छिन्नवान् ॥ ३४ ॥

विरूपाक्षो जहे प्राणैस्तृढः सौमित्रिपत्रिभिः ।

प्रमोचयाञ्चकाराऽसून् द्विविदस्त्वशनिप्रभम् ॥ ३५ ॥

विरूपाक्ष इत्यादि—विरूपाक्षो राक्षसः सौमित्रिपत्रिभिर्लक्ष्मणशरैः तृढः हत इत्यर्थः । 'तृहू हिंसायाम्' इति तौदादिकस्योदित्वान्निष्ठाया-
मिदृप्रतिपेधः । प्राणैर्जहे त्यक्तः । कर्मणि लिट् । द्विविदो वानरः
अशनिप्रभं राक्षसं प्राणान् प्रमोचयाञ्चकार त्याजितवान् । मुचेर्ण्यन्तस्य
लिटि रूपम् ॥ ३५ ॥

गदा शक्रजिता जिघ्ये तां प्रतीयेष वालिजः ।

रथं ममन्थ सहयं शाखिनाऽस्य ततोऽङ्गदः ॥ ३६ ॥

गदेत्यादि—शक्रजिता इन्द्रजिता गदा जिघ्ये प्रहिता । हिनोतेः कर्मणि
लिट् । 'हेरचङि । ७ । ३ । ५६ ।' इति कुत्वम् । तां गदां वालिजोऽङ्गदः
प्रतीयेष प्रतीष्टवान् । इषेः 'अभ्यासस्यासवर्णे । ६ । ४ । ७८ ।' इतीयङ् । ततो-
ऽनन्तरं अस्य शक्रजितो रथं सहयं साश्वं शाखिना तरुणा ममन्थ चूर्णित-
वान् । 'मथि हिंसासंक्लेशयोः ॥ ३६ ॥

तत् कर्म वालिपुत्रस्य दृष्ट्वा विश्वं विसिष्मिये ।

संत्रेसू राक्षसाः सर्वे बहु मेने च राघवः ॥ ३७ ॥

तत्कर्मेत्यादि—तत्कर्म रथस्य चूर्णनं दृष्ट्वा विश्वं त्रैलोक्यं विसिष्मिये
विसमितम् । राक्षसाः सर्वे संत्रेसुः । राघवश्च बहु मेने । अङ्गदं
श्लाघितवानित्यर्थः ॥ ३७ ॥

सुग्रीवो मुमुदे देवाः साध्वित्यूचुः सविस्मयाः ।

विभीषणोऽभितुष्टाव प्रशशंसुः प्लवङ्गमाः ॥ ३८ ॥

सुग्रीव इत्यादि—सुग्रीवो मुमुदे दृष्टवान्, देवाः साध्वित्यूचुः, 'वचि-
स्वपियजादीनां किति । ६ । १ । १५ ।' इति सम्प्रसारणम् । विभीषणोऽभितुष्टाव
अभिष्टुतवान् । 'ष्टुञ् स्तुतौ' । 'उपसर्गात्सुनोतिसुवतिस्यतिस्तौतिस्तोभति-
स्थासेनयसेधसिचसञ्जस्वञ्जाम् । ८ । ३ । ६५ ।' इति पत्वम् । प्लवङ्गमाः प्रशशंसुः
प्रशंसां कृतवन्तः ॥ ३८ ॥

१ 'यस्य विभाषा । ७ । २ । १५ ।' इत्यनेनेति' बोध्यम्' । २ अयं च शब्दो
यौगिक्षो रुढश्च । तथा च वज्रसमाच्छेद्यशरीरं तत एव तन्नामानं च ।

ही चित्रं लक्ष्मणेनोदे रावणिश्च तिरोदधे ।

विचकार ततो रामः शरान् संतत्रसुद्विषः ॥ ३९ ॥

ही चित्रमित्यादि—हीति विस्मये । चित्रमाश्चर्यामिति लक्ष्मणेनोदे उक्तम् । वदेर्भावे लिट् । यजादित्वात्सम्प्रसारणम् । रावणिः इन्द्रजित् रावणस्यापत्यम् । 'अत इञ् । ४ । १ । ९५ ।' तिरोदधे अदृश्योऽभूत् । ततः अदर्शनानन्तरं रामः शरान् विचकार विक्षिप्तवान् । 'कृ विक्षेपे' । द्विषः संतत्रसुः संत्रस्ताः ॥ ३९ ॥

विभिन्ना जुघुरुघोरं जक्षुः क्रव्याशिनो हतान् ।

चुश्च्योत व्रणिनां रक्तं छिन्नाश्चेलुः क्षणं भुजाः ॥ ४० ॥

विभिन्ना इत्यादि—शरैर्विभिन्ना जुघुरुः घोरं भीमशब्दं कृतवन्तः । 'घुर भीमार्थ-शब्दयोः ।' क्रव्याशिनः शृगालादयो हतान् विनष्टान् जक्षुः भक्षितवन्तः । 'लिङ्घ्यन्यतरस्याम् । २ । ४ । ४० ।' इत्यदर्घस्त्व । उपधालोपः । 'खरि च । ८ । ४ । ५५ ।' इति चत्वम् । व्रणिनां शरैः कृतव्रणानां रक्तं चुश्च्योत व्रणादित्यर्थात् कर्तारि लिटः पित्त्वादकित्त्वे गुणः । भुजाश्छिन्नाः सन्तः क्षणमात्रं चेलुश्चलिताः ॥ ४० ॥

कृतैरपि दृढक्रोधो वीरवक्रैर्न तत्यज ।

पलायांचक्रिरे शेषा जिहियुः शूरमानिनः ॥ ४१ ॥

कृतैरित्यादि—वीरवक्रैः शूरमुखैः कृतैरपि छिन्नैरपि दृढो घनः क्रोधो न तत्यजे न त्यक्तः । दृष्टौष्ठभ्रुकुट्यादीनां तथावस्थानात् । कर्मणि लिट् पलायांचक्रिरे पलायिताः । 'दयायासश्च । ३ । १ । ३७ ।' इत्याम् । 'उपसर्ग-स्यायतौ । ८ । २ । १९ ।' इति लत्वम् । शेषा ये न पलायिताः ते शूरमानिनः । 'मनः । ३ । २ । ८२ ।' इति णिनिः । जिहियुः लज्जन्ते स्म ॥ ४१ ॥

राघवो न दयाञ्चक्रे दधुर्धैर्यं न केचन ।

मम्रे पतङ्गवट् वीरैर्हाहेति च विचुक्रुशे ॥ ४२ ॥

राघव इत्यादि—राघवो न दयाञ्चक्रे न दयां कृतवान् । पूर्वव-
दाम् । न केचन न कोचित् धैर्यं दधुः धारितवन्तः । सर्व एव अहमहमिफ्रया
प्रवृत्ताः । यदि वा न केचन केचिद्धैर्यं न दधुः अपि तु दधुरेव । पत-

ङ्गवत्पतङ्गैरिव वीरैर्मन्त्रे मृतम् । भावे लिट् । हाहेति च विचु-
कुशे रुदितम् ॥ ४२ ॥

तिरोवभूवे सूर्येण प्रापे च निशयाऽऽस्पदम् ।

जग्रसे कालरात्रीव वानरान् राक्षसांश्च सा ॥ ४३ ॥

तिर इत्यादि--सूर्येण तिरोवभूवे तिरोभूतम् । अस्तं गतमित्यर्थः । भावे
लिट् । निशया निशा च आस्पदं प्रतिष्ठा । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम् । ६।१।१४६।'
इति निपातनम् । प्रापे प्राप्तम् । कर्मणि लिट् । सा च निशा काल-
रात्रीव कालः कृतान्तस्तेन प्रयुक्ता रात्रीति शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी
समासः । कृदिकारादक्तिनः । इति ङीष् । वानरान् राक्षसांश्च जग्रसे
ग्रसते स्म भक्षितवतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

चुकोपेन्द्राजित्युग्रं सर्पास्त्रं चाजुहाव सः ।

आजुहुवे तिरोभूतः परानीकं जहास च ॥ ४४ ॥

चुकोपेत्यादि--रामव्यापारं दृष्ट्वा इन्द्रजित् तिरोहितः सन् चुकोप कुपि-
तवान्, अत्युग्रं च सर्पास्त्रं सर्पमस्त्रमिव आजुहाव आहूतवान्. आह्व-
यतेः शब्दे वर्तमानस्य 'अभ्यस्तस्य च । ६।१।३३।' इति द्विर्वचनात्
प्राक् सम्प्रसारणं ततो द्विर्वचनम् । परानीकं च रामबलम् आजुहुवे
त्पर्धते स्म । 'स्पर्धायामाङ् । १ । ३ । ३१ ।' इत्यात्मनेपदम् । पूर्व-
वत्सम्प्रसारणम् । यजादित्वाद्वा । तत उवङादेशः । जहास च
विहसितवान् ॥ ४४ ॥

बबाधे च बलं कृत्स्नं निजग्राह च सायकैः ।

उत्ससर्ज शरांस्तेऽस्य सर्पसाञ्च प्रपेदिरे ॥ ४५ ॥

बबाध इत्यादि--बबाधे च अभिभूतवान् । 'बाधृ विलोडने' निजग्राह च
निगृहीतवान्, सायकैः लोहयुक्तैः सर्पास्त्रैः उत्ससर्ज शरान् क्षिप्तवान्, ते
उत्सृष्टाः शरा अस्य बलस्य सर्पसात् । 'विभाषा साति कात्स्न्ये । ५।४।५२।' इति
कात्स्न्ये सातिः । सम्प्रपेदिरे सम्प्रपद्यन्ते स्म ॥ ४५ ॥

आचिचाय स तैः सेनामाचिकाय च राघवौ ।

बभाण च न मे मायां जिगायेन्द्रोऽपि किं नृभिः ॥ ४६ ॥

आचिचायेत्यादि--स इन्द्रजित् सपाखैर्वानराणां सेनामाचिचाय छन्नवान् ।
'विभाषा चेः । ७ । ३ । ५८ ।' इति अकुत्वपक्षे रूपम् । राघवौ च

रामलक्ष्मणावाचिकाय । कुत्वपक्षे रूपम् । वभाण च भणति स्म । मम
मायामिन्द्रोऽपि न जिगाय न जितवान् । 'सल्लिटोर्जेः । ७ । ३ । ५७ ।
इति कुत्वम् । किं नृभिः न किञ्चित्प्रयोजनमित्यर्थः ॥ ४६ ॥

आचिक्याते च भूयोऽपि राघवौ तेन पन्नगैः ।

तौ मुमुहतुरुद्विमौ, वसुधायां च पेततुः ॥ ४७ ॥

आचिक्यात इत्यादि---तेनेन्द्रजिता भूयोऽपि राघवावाचिक्याते छन्नौ ।
कर्मणि लिट् । तौ पाशवद्वौ मुमुहतुः मोहं गतौ । उद्विमौ समीहितानिष्पत्तेः ।
वसुधायां च पेततुः पतितौ । बन्धपरवशीकृतत्वात् ॥ ४७ ॥

ततो रामेति चक्रन्दुस्त्रेसुः परिदिदेविरे ॥

निशश्वसुश्च सेनान्यः, प्रोचुर्धिगिति चात्मनः ॥ ४८ ॥

तत इत्यादि---ततः पतनादनन्तरं सेनान्यः सुग्रीवादयः । 'एरनेका-
चोऽसंयोगपूर्वस्य । ६ । ४ । ८२।' इति यण् । रामेति नामग्राहं चक्रन्दुः रुदि-
तवन्तः त्रेसुः भीताः परिदिदेविरे परिदेवेनं कृतवन्तः । 'देवृ देवने' अनुदात्तेत् ।
निशश्वसुः कोष्णं निश्वासानुत्सस्रजुः, आत्मनश्च धिगिति प्रोचुः गर्हितवन्तः ।
'उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु' इति धिग्योगाद्वितीया ॥ ४८ ॥

मन्युं शेकुर्न ते रोद्धुं नासं संरुरुधुः पतत् ।

विविदुर्नेन्द्रजिन्मार्गं परीयुश्च प्लवङ्गमाः ॥ ४९ ॥

मन्युमित्यादि---मन्युं शोकं रोद्धुं वारितुं न शेकुः न पारितवन्तः । अर्धं
च लोचनेभ्यः पतत् न संरुरुधुः न संरुद्धवन्तः, इन्द्रजितो मार्गम्
न विविदुः न ज्ञातवन्तः, कासौ तिष्ठति इति । प्लवङ्गमाश्च परीयुः समन्ताद्गत-
वन्तः । कासावगमदिति ॥ ४९ ॥

दधावाद्भिस्ततश्चक्षुः सुग्रीवस्य विभीषणः ।

विदांचकार धौताक्षः स रिपुं खे ननर्द च ॥ ५० ॥

दधावेत्यादि---ततोऽनन्तरं विभीषणः सुग्रीवस्य मन्त्रपूताभिरद्भिश्चक्षुर्द-
धाव प्रक्षालितवान्, सुग्रीवः धौताक्षः प्रक्षालितचक्षुः । 'बहुव्रीहौ

१ विलापम् । २ ईपदुष्णं यथा तथा । ३ स्वस्वदेहान् । ४ अश्रु । ५ वानराः ।
प्लवेनं द्रुत्वा गच्छन्तीति तथोकाः । 'गमश्च ३ । २ । ४०।' इति खच् । 'ऋषिभेदौ
प्लवङ्गमौ ।' इत्यमरः ।

सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गातपच् । ५।४।११३। इति षच् । रिपुमिन्द्रजितं खेस्पित्तैः
विदांचकार ज्ञातवान् । 'उपविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम् । ३।१।३८ ।' इत्याम् ।
ननर्द च शब्दितवान् । केदानीं यास्यसीति ॥ ५१ ॥

उज्जुगूरे ततः शैलं हन्तुमिन्द्रजितं कपिः ।

विहाय रावणिस्तस्मादानंहे चाऽन्तिकं पितुः ॥ ५१ ॥

उज्जुगूर इत्यादि--ततोऽनन्तरं कपिः सुग्रीवः इन्द्रजितं हन्तुं शैलमु-
ज्जुगूरे उत्क्षिप्तवान् । 'गूरी हिंसागत्योः' इति दैवादिकोऽनुदात्तेत् ।
तस्य गतौ वर्तमानस्य रूपम् । रावणिरिन्द्रजित् विहाय अर्थाद्युद्धं विहाय
तस्मादाकाशात्पितुरन्तिकमानंहे गतः । 'अहि गतौ ।' 'तस्मान्नुङ् द्विहलः
। ७।४।७१ ।' इति नुङ् ॥ ५१ ॥

आचक्षे च वृत्तान्तं प्रजहर्ष च रावणः ।

गाढं चोपजुगूहैनं शिरस्युपशिशिञ्च च ॥ ५२ ॥

आचक्ष इत्यादि--नागपाशेन रावणो वद्धाविति वृत्तान्तमाचक्षे
आख्यातवान्, रावणः प्रजहर्षं तुष्टवान्, एनं च रावणिं च उपजुगूह
दृढमाश्लिष्टवान् । अत्र कर्तृगाभि क्रियाफलस्याविवाक्षितत्वात् तङ् न भवति ।
'ऊदुपधाया गोहः । ६।४।८९।' इत्यूत्वम् । शिरसि उपशिशिञ्च आघ्रातवान् ।
'शिवि आघ्राणे' ॥ ५२ ॥

ध्वजानुद्दुधुवुस्तुङ्गान् मांसं चेमुर्जगुः पपुः ।

कामयाञ्चक्रिरे कान्तास्ततस्तुष्टा निशाचराः ॥ ५३ ॥

ध्वजानित्यादि--ततो निशाचरा अपि श्रुत्वा तुष्टाः सन्तः ध्वजां-
स्तुङ्गानुद्दुधुवुः उत्क्षिप्तवन्तः, मांसं चेमुः खादितवन्तः, 'चमु लमु
अदने ।' जगुर्गीतवन्तः, पपुः मद्यं पीतवन्तः, कान्ताः कामयाञ्चक्रिरे । कमे-
र्णिङन्ताशाम् ॥ ५३ ॥

दर्शयाञ्चक्रिरे रामं सीतां राज्ञश्च शासनात् ।

तस्या मिलीलतुर्नेत्रे लुलुठे पुष्पकोदरे ॥ ५४ ॥

दर्शयामित्यादि--तथाभूतं रामं दृष्ट्वा सीता मम विधेया स्यादित्यभिप्रा-
यवतो राज्ञो रावणस्य आज्ञया राक्षसाः अशोकवनिकातः पुष्पकारुह्य
सीतां रामं दर्शयाञ्चक्रिरे दर्शितवन्तः । 'अभिवादिदृशोरात्मनेपदं वेति वाच्यम्'

इति विकल्पेन द्विकर्मकता । तस्याः सीताया नेत्रे मिमिलतुः मिमिलिते ।
'मिमिल निमेषणे' पुष्पकोदरे पुष्पकमध्ये । मूर्छया लुलुठे लुठिता ॥५४॥

प्राणा दध्वंसिरे गात्रं तस्तम्भे च प्रिये हते ।

उच्छ्वासा चिराद् दीना रुरोदाऽसौ ररास च ॥ ५५ ॥

प्राणा इत्यादि—प्रिये रामे हते प्राणा वायवः दध्वंसिरे ध्वस्ताः, गात्रं च तस्तम्भे काष्ठवन् निश्चलमभूत् । 'श्रुभि स्काभि प्रतिबन्धे ।' चिरा-
दुच्छ्वासा उच्छ्वंसितवती, असौ लब्धसंज्ञा दीना दुःखिता रुरोद रुदितवती,
ररास च वक्ष्यमाणं च विलापं कृतवती ॥ ५५ ॥

'लौहबन्धैर्वबन्धे नु किं वज्रेण विनिर्ममे ।

अनो मे न विना रामाद् यत् पुस्फोट सहस्रधा ॥ ५६ ॥

लौहबन्धैरित्यादि—लोहस्थेमे लौहाः तैर्वन्धैर्मनो हृदयं मम बबन्धे
वद्धम् । कर्मणि लिट् । नुशब्दो वितर्के । उतै वज्रेण विनिर्ममे निर्मि-
तम् । 'माद् माने' इत्यस्मात्कर्मणि लिट् द्विर्वचने ह्रस्वन्वे 'आतो लोप इटि
च । ६।४।६४।' इत्यालोपे च रूपम् । यद्यस्मात् विना रामात् रामेण विना ।
'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् । २।३।३२।' इति पञ्चमी । न पुस्फोट
न स्फुटितं सहस्रधा । 'संख्याया त्रिवार्ये धा । ५ । ३।४२।' इति धा ॥ ५६ ॥

उत्तेरिथ समुद्रं त्वं मदर्थेऽरीञ्जिहसिथ ।

ममर्थं चाऽतिवोरां मां धिग् जीवितलघूकृताम् ॥ ५७ ॥

उत्तेरिथेत्यादि—मदर्थे मन्निमित्तं समुद्रमुत्तेरिथ उत्तीर्णांऽसि 'तृफल-
भजत्रपश्च । ६।४।१२२।' इति एत्वाभ्यासलोपौ । तथा अरीन् जिर्हिसिथ
जिहतवानासि । थलि रूपम् । यतो मदर्थे ममर्थं मरणावस्थां गतो-
ऽसि । अतोऽतिवोरामतिरोद्रां मां धिक् जीवितलघूकृतां जीवत्या-
जितमहत्वात् ॥ ५७ ॥

न जिजीवाऽसुखी तातः प्राणता रहितस्त्वया ।

श्रुतेऽपि त्वयि जीवन्त्या किं मयाऽणकभार्यया ॥ ५८ ॥

न जिजीवन्त्यादि—त्वया प्राणता जीवता सता । 'अन प्राणने' । रहितो

विमुक्तस्तातो दशरथो न जिजीव न जीवितः । त्वयि मृतेऽपि जीवन्त्या
मया न किञ्चित्प्रयोजनम् । अणकभार्यया । 'पापाणके कुत्सितैः । २।१।५४।'
इति समासः ॥ ५८ ॥

सा जुगुप्सान् प्रचक्रेऽसून् जगर्हे लक्षणानि च ।

देहभाञ्जि ततः केशान् लुलुञ्च लुलुठे मुहुः ॥ ५९ ॥

सा जुगुप्सानित्यादि—सा सीता पूर्वोक्तकारणादेव असून् प्राणान्
जुगुप्सान् प्रचक्रे निन्दितान् कृतवती । जुगुप्स्यन्त इति घञ् । तदन्तस्य
सनि रूपम् । आमि प्रत्यये तु प्रचक्र इत्यनुप्रयोगो न घटते । देहभाञ्जि
शरीरस्थानि लक्षणानि । अवैधव्यसूचकानि च जगर्हे गर्हते स्म 'गर्हे
गल्भ कुत्सने ।' मुहुः केशान् लुलुञ्च अपनीतवती, तथा लुलुठे
पतित्वा ॥ ५९ ॥

जगलौ दध्यौ वितस्तान क्षणं प्राण न विव्यथे ।

दैवं निनिन्द चक्रन्द देहे चाऽतीव मन्युना ॥ ६० ॥

जगलावित्यादि—शोकभारात् जगलौ ग्लानिं गता, दध्यौ ध्यातवती, पुनः
किं मया द्रष्टव्योऽसीति । वितस्तान पीडया शब्दं कृतवती । 'स्तन शब्दे' ।
न प्राण न मूर्च्छिता । न जिजीव निःसंज्ञत्वात् । 'अन प्राणने' । 'अत
आदेः । ७।४।७०।' इति दीर्घत्वम् । विव्यथे लब्धसंज्ञा पीडिता । 'व्यथो
लिटि । ७।४।६८।' इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणम् । दैवं निनिन्द निन्दितवती ।
दैव ! विरूपमाचरितं त्वयेति । चक्रन्द रुदिता । पुनर्मन्युना अतीव शोकेन
देहे दग्धा । कर्मणि लिट् ॥ ६० ॥

आश्वासयाञ्चकाराय त्रिजटा तां निनाय च ।

ततः प्रजागराञ्चक्रुर्वानराः सविभीषणाः ॥ ६१ ॥

आश्वासयामित्यादि—अथानन्तरं त्रिजटा रावणभगिनी तां सीता-
माश्वासयाञ्चकार आश्वासितवती । विष्णुरसौ दादशरथिः कथमस्य विरूपं
भविष्यतीति । निनाय च तस्मात्पुष्पकान्नीतवती, तत उत्तरकालं वानरा विभी-
षणेन सह प्रजागराञ्चक्रुः आलोचनां कृतवन्तः । अत्रानुप्रयोगे नात्मनेपदं
पूर्वस्यानात्मनेपदित्वात् ॥ ६१ ॥

चिचेत् रामस्तत् कृच्छ्रमोषाञ्चक्रे शुचाय सः ।

मन्युश्चाऽस्य समापिप्ये विरुराव च लक्ष्मणम् ॥ ६२ ॥

चिचेतेत्यादि—तत् कृच्छ्रं शैरबन्धदुःखं रामश्चिचेत ज्ञातवान् । 'चित्ती संज्ञाने' इत्युदात्तेत् । शुचा शोकेन ओषांचक्रे देहे । कर्मणि लिट् । 'उषाविद-जागृभ्योऽन्यतरस्याम् । १३१।३८।' इत्याम् । स च मन्युः शोकः अस्य रामस्य समापिष्ये वृद्धिं गतः । 'ओप्यायी वृद्धौ ।' तस्य लिटि 'प्यायः पी । ६।१।२८।' इति पीभावः । 'एरनेकाचः । ६।४।८२।' इति यण् । लक्ष्मणं च विरुराव शब्दितवान् वत्स ! जीवसीति ॥ ६२ ॥

समीहे मर्तुमानर्चे तेन वाचाऽखिलं बलम् ।

आपृच्छे च सुग्रीवं स्वं देशं विससर्ज च ॥ ६३ ॥

समीह इत्यादि—मर्तुं प्राणांस्त्यक्तुं समीहे इच्छति स्म । तेन रामेणाखिलं समस्तं बलं वाचा आनर्चे पूजितम् भवद्भिः साध्वनुष्ठितम् अस्मद्भाग्यमत्रापरा-ध्यतीति । कर्मणि लिट् । 'तस्मान्नुङ् द्विहलः । ७।४।७१।' इति नुङ् । सुग्रीवं चापृच्छे आपृच्छति स्म । आमन्त्रितवानित्यर्थः । एहि तावदर्शनं मे देहि परिष्वजस्वेति । 'आङिं नुप्रच्छयोरुपसङ्ख्यानम्' इति तङ् । स्वं च देशं किष्किन्धां विससर्ज प्रहितवान् ॥ ६३ ॥

आदिदेश स किष्किन्धां राघवौ नेतुमङ्गदम् ।

प्रतिजज्ञे स्वयं चैव सुग्रीवो रक्षसां वधम् ॥ ६४ ॥

आदिदेशेत्यादि—सुग्रीवो राघवौ किष्किन्धां नेतुमङ्गदमादिदेश, स्वयं च रक्षसां विनाशं प्रतिजज्ञे अहमेव व्यापादयामीति । 'सम्प्रतिभ्या-मनाध्याने । १।३।४६।' इति तङ् । सकर्मकार्थं वचनम् ॥ ६४ ॥

'नागास्त्रमिदमेतस्य विपक्षस्ताक्षर्यसंस्मृतिः ।

विभीषणादिति श्रुत्वा तं निदध्याँ रघूत्तमः ॥ ६५ ॥

नागास्त्रमित्यादि—नागास्त्रमिदं न शराः, एतस्य च विपक्षः शत्रुस्तोक्षर्य-संस्मृतिः गरुडसंस्मरणं यत्संस्मरणादेवास्त्रं शान्तिरिति । एवं विभीषणाच्छ्रुत्वा रघूत्तमो राघवस्ताक्षर्यं निदध्याँ ध्यातवान् ॥ ६५ ॥

ततो विजघटे शैलैरुद्वेलं पुण्ड्रवेऽम्बुधिः ।

वृक्षेभ्यश्चुच्युते पुष्पैर्विरेजुर्भासुरा दिशः ॥ ६६ ॥

तत इत्यादि—ततो ध्यानानन्तरं तदागमनवायुवेगाच्छैलैर्विजघटे विघटितम् । भावे लिट् । अम्बुधिरुद्वेलं वेलामतिक्रम्य पुण्ड्रवे गतः, वृक्षेभ्यः सकाशात् पुष्पैश्च्युच्युते च्युतम्, दिशश्च भासुराः सुपर्णपक्षप्रभाभिः प्रभासनशीलाः सत्यो विरेजुः शोभन्ते स्म । 'फणां च सप्तानाम् । ६।४।१२५।' इत्येत्वपक्षे रूपम् । तत्र वेत्यनुवर्तते ॥ ६६ ॥

जगाहिरेऽम्बुधिं नागा ववौ वायुर्मनोरमः ।

तेजांसि शंशमाञ्चक्रुः शरबन्धा विशिश्लिषुः ॥ ६७ ॥

जगाहिरे इत्यादि—नागा भयादम्बुधिं जगाहिरे प्रविष्टाः, वायुस्तत्प्रभवो ववौ वाति स्म, तेजांसि रत्नादीनां शंशमाञ्चक्रुः अत्यर्थं प्रशान्तानि । शमेर्यङ्लुगन्तस्य रूपम् । एवं च कृत्वा अनुप्रयोगे परस्मैपदम् । शरबन्धा विशिश्लिषुर्विश्लिष्टाः । दूरत एव तत्प्रभावात् ॥ ६७ ॥

भ्रेजिरेऽक्षतवद् योधा लेभे संज्ञां च लक्ष्मणः ।

विभीषणोऽपि वभ्राजे गरुत्मान् प्राप चान्तिकम् ॥ ६८ ॥

भ्रेजिर इत्यादि—अक्षतवत् अक्षता इव योधा भ्रेजिरे दीप्यन्ते स्म । 'फणां च सप्तानाम् । ६।४।१२५।' इत्येत्वपक्षे रूपम् । संज्ञां चेतनां लक्ष्मणो लेभे प्राप्तवान्, विभीषणोऽपि वभ्राजे संपन्ना मे मनोरथा इति मेन इत्यर्थः । अनेत्वपक्षे रूपम् । अन्तिकं च रामलक्ष्मणयोर्गरुत्मान् प्राप । गरुतः पक्षिणस्तेऽनुजीवितयास्य सन्तीति मतुप् । यवादेराकृतिगणत्वात् 'ज्ञयः । ८।२।१०।' इति वत्वं न भवति ॥ ६८ ॥

संपस्पर्शाऽथ काकुत्स्थौ जज्ञाते तौ गतव्यथौ ।

तयोरात्मानमाचख्यौ ययौ चाऽथ यथागतम् ॥ ६९ ॥

संपस्पर्शेत्यादि—अनन्तरं गरुत्मान् काकुत्स्थौ राघवौ संपस्पर्शं स्पृष्टवान्, तौ च स्पृष्टौ गतव्यथौ जज्ञाते जातौ, तयोः काकुत्स्थयोरात्मानमाचख्यौ गरुत्मानहमिति कथितवान् । 'वा लिटि । २।४।५५।' इति चक्षिङः ख्याञ् । ययौ चापि यथागतं यथा तेनागतं तथा गतवान् ॥ ६९ ॥

स्वेनुस्तिव्विपुरुद्ये मुरुच्चरुनुः पर्वतांस्तरुन् ॥

वानरा दद्रमुश्चाय सङ्ग्रामं चाशशांसिरे ॥ ७० ॥

रुरुजुरित्यादि---रुरुजुर्भगवन्तः, भोजिरे शोभिताः, बहुधा बहुप्रकारं
 क्रेणुर्गताः 'फण गतौ ।' वीराः सात्त्विका न विभयाञ्चक्रुः न विभयति स्म
 'भीहोभृदुवां श्लुवच्च ।३।१।३९।' इत्याम् । विभेतेः परस्मैपदित्वात् अनुप्रयोगे
 परस्मैपदम् । परान् शत्रून् शौर्यगुणयुक्ताः प्रयोजकाः भीषयांचक्रिरे
 भीषयन्ते स्म । अत्र 'भीस्म्योर्हेतुभये ।१।३।६८।' इति तद् अनुप्र-
 योगेऽपि ॥ ७८ ॥

रक्तं प्रचुश्चतुः क्षुण्णाः शिथियुर्बाणविक्षताः ।

अस्यतां शुशुवुर्बाणान्भुजाः साऽङ्गुष्ठमुष्टयः ॥ ७९ ॥

रक्तमित्यादि---केचित् क्षुण्णाः खण्डिताः सन्तो रक्तं प्रचुश्चतुःप्रक्ष-
 रिताः, केचित् शिथियुः । 'विभाषा श्वेः । ६।१।३०।' इत्यसम्प्रसार-
 णपक्षे रूपम् । बाणानस्यतां क्षिप्यतां योधानां भुजाः साङ्गुष्ठमुष्टयः 'अङ्गुष्ठ-
 मुष्टिसहिताः शरविक्षेताः शरभिन्नाः शुशुवुः गताः । गत्यर्थे द्रष्टव्यम् । सम्प्र-
 सारणपक्षे रूपम् ॥ ७९ ॥

रणे चिक्रीड धूम्राक्षस्तं ततर्जानिलात्मजः ।

आददे च शिलां साऽश्वं पिपेपास्य रथं तथा ॥ ८० ॥

रण इत्यादि---धूम्राक्षो, रणे चिक्रीड क्रीडति स्म, तमनिलात्मजो हनु-
 मान् ततर्जं भर्त्सितवान्, शिलांमाददे च गृहीतवान्, तथा शिलया
 अस्य धूम्राक्षस्य साश्वं रथं पिपेप चूर्णितवान् ॥ ८० ॥

पपात राक्षसो भूमौ रराट च भयङ्करम् ।

तुतोद् गदया चारिं तं दुध्रावाद्रिणा कपिः ॥ ८१ ॥

पपातेत्यादि---राक्षसो धूम्राक्षो भूमौ पपात, पतितः सन् भयंकरं
 रराट रटितवान्, ततोऽरिं हनूमन्तं गदया तुतोद् आहतवान्, तं राक्षसं
 स कपिः अद्रिणा दुध्राव व्यापादितवान् ॥ ८१ ॥

अकम्पनस्ततो योद्धुं चक्रमे रावणाज्ञया ।

स रथेनाभिदुद्राव जुयुरे चाऽतिभैरवम् ॥ ८२ ॥

अकम्पन इत्यादि---ततो धूम्राक्षविनाशानन्तरम् अकम्पनो राक्षसः
 रावणाज्ञया युव्यस्वेति योद्धुं चक्रमे इष्टवान् । 'आयादय आर्धधातुके
 वा । ३।१।३१।' इति णिङ्भावपक्षे रूपम् । सोऽकम्पनः रथेनाभि-

दुदाव अभिमुखं गतः, जुघुरे च शब्दं कृतवान्, अतिभैरवम् अतिभयानकम् । 'घुर भीमार्थशब्दयोः' इत्यनुदात्तेत् ॥ ८२ ॥

पस्पन्दे तस्य वामाक्षि सस्यमुश्चाशिवाः खगाः ।

तान्वव्राजावमत्यासौ वभासे च रणे शरैः ॥ ८३ ॥

पस्पन्द इत्यादि--तस्याकम्पनस्यानिमित्तत्वसूचकं वामाक्षि पस्पन्दे स्पन्दितम्, अशिवाश्च अशिवसूचकाः खगाः, सस्यमुः शब्दं कृतवन्तः । अनेत्वंपक्षे रूपम् । तान् खगान् अवमत्यावज्ञायासौ वव्राजं गतः, रणे शरैश्च वभासे शोभितम् ॥ ८३ ॥

खमूयुर्वसुधामूवुः सायका रज्जुवत्तताः ।

तस्माद्बलैरपत्रेपे पुप्रोथास्मै न कश्चन ॥ ८४ ॥

खमित्यादि---तेन सायका रज्जुवत्तता विस्तृताः सन्तः खमाकाशमूयुरावृतवन्तः । वसुधां च ऊवुश्छादितवन्तः । 'वेञ् तन्तुसन्ताने' तस्य लिटि वयिरादेशः । 'वश्चास्यान्यतरस्यां किति । ६।१।३९।' इति यकारस्य वकारादेशः । तस्मादिति तमकम्पनं वीक्ष्य । ल्यब्लोपे पञ्चमी । त्रेपे लज्जितम् । भावे लिट् । 'तृफलभजत्रपञ्च । ६।४।१२२ ।' इति एत्वाभ्यासलोपौ । अस्मै अकम्पनाय न कश्चित् पुप्रोथ न प्रभवति स्म । 'प्रोथृ पर्याप्तौ' इति स्वरितेत् । अत्र कर्तुः क्रियाफलायोगान्नात्मनेपदम् । 'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधांलंबपड्योगाच्च । २।३।१६।' इत्यत्र अलंशब्दस्य पर्याप्त्यर्थस्य ग्रहणात् तदर्थयोगे चतुथा ॥ ८४ ॥

स भस्मसाच्चकारारिन्दुदाव च कृतान्तवत् ।

चुक्रोध मारुतिस्तालमुच्चरन्ने च महाशिखम् ॥ ८५ ॥

स भस्मसादित्यादि---सोऽकम्पनः अरीन् भस्मसाच्चकार कात्स्न्येन भस्मभूतान् कृतवान् । कृतान्तवत् यम इव दुदाव सुष्टुःपीडितवान् । 'दुदु उपतापो' तं दृष्ट्वा मारुतिश्चुक्रोध क्रुद्धः । तालं चः वृक्षं महाशिखमत्युच्छायम् उच्चरन्ने उत्खातवान् । अत्र कतुः क्रियाफलयोगात् तङ् ॥ ८५ ॥

यमायाकम्पनं तेन निरुवाप महापशुम् ।

वभ्रज्ज निहते तस्मिञ्शोको रावणमग्निवत् ॥ ८६ ॥

यमायेत्यादि---तेन तालेन स चाकम्पनं महापशुमिव यमाय निरुवाप दत्त-

१ पक्षिणः काकगृध्रादयः । 'शिवा' इति पाठान्तरे शृगाला इत्यर्थः । २ 'कृतान्तो यमुनाभ्राता' इत्यमरः । 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ५।१।११५।' इति वतिः । एतेनास्य दानेन यमदेवताक्यागनिष्पत्तिः सूचिता ।

वान् । निष्पूर्वो वपिर्दाने वर्तते । तत्र धातोर्यजादित्वात् सम्प्रसारणं न भवति
अकिञ्चत्वात् । अभ्यासस्य लिटि भवत्येव । तास्मिन्निहते शोकोऽभिरिव रावणं
वभ्रज्ज दग्धवान् ॥ ८६ ॥

स विभ्रेष प्रचुक्षोद दन्तैरोष्ठं चखाद च ।

प्रगोपायांचकाराशु यत्नेन परितः पुरम् ॥ ८७ ॥

स विभ्रेषेत्यादि—स राजा विभ्रेष चलितः । ‘ भ्रेष चलने ’ स्वारितेत् ।
प्रचुक्षोद क्रोधालोष्टादीन् चूर्णितवान् । ओष्ठ च दन्तैश्चखाद दृष्टवान् । पुरं
लङ्कां समन्तात् यत्नेन प्रगोपायांचकार रक्षितवान् । ‘ गुपू रक्षणे ’ इत्युदात्तेत् ।
आयप्रत्ययान्तत्वादां ॥ ८७ ॥

अथ द्वाभ्यां युग्मकम् ।

प्रहस्तमर्थयाञ्चक्रे योद्धुमद्भुतविक्रमम् ।

किं विचारेण राजेन्द्र ! युद्धार्था वयमित्यसौ ॥ ८८ ॥

प्रहस्तमित्यादि—अद्भुतविक्रमं प्रहस्तं रावणो योद्धुं ‘ युद्धवस्व ’ इत्य-
र्थयांचक्रे प्रार्थितवान् । ‘ अर्थ उपयाच्चायाम् ’ इति चौरादिक आत्म-
नेपदी । वचनात् असौ प्रहस्तः प्रार्थितश्चक्राण वभाणोति ; वक्ष्यमाणेन
सम्बन्धः । हे राजेन्द्र ! युद्धार्था वयं युद्धप्रयोजनाः ततश्च किं
विचारेणेति ॥ ८८ ॥

चक्राणाऽशङ्कितो योद्धुमुत्सेहे च महारथः ।

निर्येमिरेऽस्य योद्धारश्चकल्पे चाऽश्वकुञ्जरम् ॥ ८९ ॥

चक्राणेत्यादि—उक्त्वा च स महारथो योद्धा अशङ्कितो निर्भयः सन् योद्धु-
मुत्सेहे उत्साहं कृतवान् । अस्य योद्धारो रावणेन निर्येमिरे नियमिताः ।
अनेन सह एतावद्विर्योद्धव्यामिति । कर्मणि लिट् । अश्वकुञ्जरं चकल्पे सजी-
कृतम् । पशुद्वन्द्वैकवद्भावः । ‘ कृपो रो लः । ८।२।१८। ’ ॥ ८९ ॥

युयुजुः स्यन्दनानश्वैरीजुर्देवान् पुरोहिताः ।

आनर्चुर्वाह्मिणान् सम्यगाशिषश्चाशंसिरे ॥ ९० ॥

१ ‘अथान् कुञ्जराश्चेत्यर्थः । अथाथ कुञ्जराश्चेत्येषां समाहार इति तत्र ।
‘विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यन्यन्ननपशुशकुन्यश्ववडवर्वापराधरोत्तराणाम् २।३।१२’
इति समाहारः ।

युयुजुरित्यादि—स्यन्दनान् रथान् अश्वैर्युयुजुः युञ्जन्ति स्म । पुरो-
हिताः देवानीजुः पूजितवन्तः । यजादित्वात्सम्प्रसारणम् । ब्राह्मणानान्चुः
पूजितवन्तः । ते च पूजिताः आशिपः आशशांसिरे उदितवन्तः ।
'आडः शासु इच्छायाम्' अनुदात्तेत् । शास इत्वे आड् 'आशासः कावुप-
घाया इत्वं वाच्यम्' इतीत्वे आशीः ॥ ९० ॥

ऊहिरे मूर्ध्नि सिद्धार्था गावश्चालेभिरे भटैः ।

प्रचुक्ष्णुवुर्महास्त्राणि जिज्ञासाञ्चकिरे हयान् ॥ ९१ ॥

ऊहिर इत्यादि—भटैर्योधैः सिद्धार्थाः सर्षपाः मूर्ध्नि ऊहिरे ऊढाः । गाव-
श्चालेभिरे स्पृष्टाः । कर्मणि लिट् । महास्त्राणि प्रचुक्ष्णुवुः तेजितवन्तः । तथा
तैर्योद्धुं पार्यत इति । 'क्ष्णु तेजने।' भटाः हयान् जिज्ञासाञ्चकिरे ज्ञातुमिच्छां
कृतवन्तः किमेते योद्धुं क्षमा नेति । 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः । १।३।५७।' इत्यात्मने-
पदित्वाद्नुप्रयोगेऽपि तद् ॥ ९१ ॥

अथ द्वाभ्यां युग्मम् ।

ललुः खड्गान् ममार्जुश्च ममृजुश्च परश्वधान् ।

अलञ्चक्रे समालेभे ववसे बुभुजे पपे ॥ ९२ ॥

ललुरित्यादि—खड्गान् ललुर्गृहीतवन्तः । 'ला आदाने ।' ममार्जुश्च
विशुद्धान् कृतवन्तः तथा परश्वधान् ममृजुः परशून् शोधितवन्तः । मृजेरजादौ
संक्रमे विभाषा वृद्धिः । योद्धृभिर्वक्ष्यमाणैः अलञ्चक्रे अलंकृतम् । समालेभे
समालब्धम् । ववसे आच्छादितम् । 'वस आच्छादने ।' बुभुजे भुक्तम् । पपे
पीतम् । भावे लिट् ॥ ९२ ॥

जहसे च क्षणं यानैर्निर्जग्मे योद्धृभिस्ततः ।

विप्रान् प्रहस्त आनर्च जुहाव च विभावसुम् ॥ ९३ ॥

जहस इत्यादि—क्षणं जहसे हसितम् । यानैः करणभूतैः निर्जग्मे निर्ग-
तम् । ततः प्रहस्तः विप्रान् गोसुवर्णादिदानेन आनर्च पूजितवान् । विभावसुं
चामिम् आज्यादिना जुहाव प्रीणितवान् ॥ ९३ ॥

संवर्गयाञ्चकाराऽऽप्तान् चन्दनेन लिलेप च ।

चचाम मधु माद्वीकं त्वक्त्रं चाचकचे वरम् ॥ ९४ ॥

संवर्गयामित्यादि—आप्तान् विश्वासिनः संवर्गयाञ्चकार कटकादिप्र-
दानेन संवर्गितवान् । संवर्गं करोतीति ष्यन्तस्य रूपम् । चन्दनेन

लिलेप समालब्धवान् । मृद्वीका द्राक्षा तस्याः विकारः माद्विकं मधु
चचाम । त्वक्त्रं च सन्नहनं वरं श्रेष्ठं आचकचे वद्ववान् । 'कच
बन्धने' इत्यनुदात्तेत् ॥ ९४ ॥

उष्णीषं मुमुचे चारु रथं च जुजुषे शुभम् ।

आललम्बे महास्त्राणि गन्तु प्रववृते ततः ॥ ९५ ॥

उष्णीषमित्यादि—उष्णीषं शिरस्त्राणं मुमुचे । रथं च जुजुषे । जुषितु-
दात्तेत् । महास्त्राणि आललम्बे गृहीतवान् । 'लवि अवसंसने' इत्यनुदात्तेत् ।
तत उत्तरकालं गन्तुं प्रववृते प्रवृत्तः ॥ ९५ ॥

आजघ्नुस्तूर्यजातानि तुष्टुवुश्चानुजीविनः ।

रजः प्रववृधे घोरं घोषश्च व्यानशे दिशः ॥ ९६ ॥

आजघ्नुरित्यादि—तूर्यजातानि वाद्यसमूहान् आजघ्नुः ताडितवन्तः ।
तन्नियुक्ता इत्यर्थात् । 'आडो यमहनः । १ । ३ । २८ ।' इति तद् न
भवति सकर्मकत्वात् । अनुजीविनश्च तुष्टुवुः । 'जय, जीव' इति स्तुवन्ति
स्म । पदक्षोभाद् घोरं रजः प्रववृधे वर्धते स्म । घोषश्च कलकलशब्दः दिशो
व्याप्तेश्च व्याप्तवान् ॥ ९६ ॥

तं यान्तं दुद्रुवुर्गृध्राः ऋव्यादश्च सिपेविरे ।

आववुर्वायवो घोराः, खादुल्काश्च प्रचक्षरुः ॥ ९७ ॥

तं यान्तमित्यादि—तं प्रहस्तं गृध्राः यान्तम् अशुभसूचकाः दुद्रुवुर्गतवन्तः,
ऋव्यादश्च शृगालाः सिपेविरे सेवितवन्तः, वायवो घोराः पांगुप्राहिणः आ-
ववुः समन्ताद्धान्ति स्म, उल्काश्च तदा तस्मिन् काले आकाशात्प्रचक्षरुः
पतिताः । 'क्षर संचलने' इत्यकर्मकः ॥ ९७ ॥

सस्यन्दे शोणितं व्योम रणाऽङ्गानि प्रज्ज्वलुः ।

रथाः प्रचस्वलुः साश्वा न ररंहाश्चकुञ्जरम् ॥ ९८ ॥

सस्यन्द इत्यादि—व्योम कर्तुं शोणितं सस्यन्दे सिञ्चति स्म । न्यन्दः
सकर्मकः । रणाङ्गानि खङ्गादीनि ज्ज्वलुः ज्वलन्ति स्म । साश्वाः सहायैः
रथाः प्रचस्वलुः त्वलन्ति स्म । अश्वकुञ्जरं न ररंहा न गतम् हया गजाश्च
नगन्तुं प्राभवन्नित्यर्थः ॥ ९८ ॥

प्रतोदा जगलुर्वाममानञ्चुर्यज्ञिया मृगाः ।

ददाल भूः पुपूरे द्यौः कपीनामपि निःस्वनैः ॥ ९९ ॥

प्रतोदा इत्यादि—प्रतोदाः जगलुः हस्तेभ्यो गलिताः । 'गल अदने' अने-
कार्थत्वात्पतनेऽपि । मृगाः यज्ञियाः यज्ञार्हाः कृष्णसाराः । 'यज्ञातिवग्भ्यां घ-
खवौ १५।१।७१' वाममङ्गमानञ्चुः गतवन्तः । 'अत आदेः १७।१।७०' इति
दीर्घे । 'तस्मान्नुड् द्विहलः १७।४।७१' इति नुट् । भूर्ददाल विदीर्णा । जज्वालेति
पठान्तरं चचालेत्यर्थः । कपिनिःस्वनैर्द्यौराकाशं पुपूरे पूर्णम् । दिवः
पूरणनिमित्तं यतः कपयो हर्षात्तद्विनाशसूचका एवमाचरन्ति ॥ ९९ ॥

मिमेह रक्तं हस्त्यश्वं राक्षसाश्च नितिष्ठिवुः ।

ततः शुशुभतुः सेने निर्दयं च प्रजहतुः ॥ १०० ॥

मिमेहेत्यादि—हस्त्यश्वं कर्तुं रक्तं मिमेह मूत्रितवदित्यर्थः । 'मिह सेचने १'
राक्षसाश्च स्वरक्तं नितिष्ठिवुः निरस्तवन्तः । ततो दुर्निमित्तादनन्तरं ते सेने
सन्नद्धे शुशुभतुः शोभितवत्यौ । निर्दयं प्रजहतुः प्रहृतवत्यौ ॥ १०० ॥

दिद्विषुर्दुद्युवुश्चच्छुश्चकुमुः सुपुपुर्हताः ।

चखादिरे चखादुश्च विलेपुश्च रणे भटाः ॥ १०१ ॥

दिद्विषुर्दुद्युवुश्चच्छुश्चकुमुः—रणे भटाः दिद्विषुः परस्परं द्विष्टवन्तः । 'द्विष अप्रीतौ १'
दुद्युवुः अभिमुखं गतवन्तः । 'द्यु अभिगमने १' चच्छुः छिन्नवन्तः । 'छो
छेदने १' हताश्चकुमुः मूर्च्छां गतवन्तः । सुपुपुः भूमौ पतिताः । चख्यादिनां
सम्प्रसारणम् । चखादिरे खादिताः । कर्माणि लिट् । चखादुः खादितवन्तः ।
विलेपुश्च विलापं कृतवन्तः । 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि ६।४।१२०'
इत्येत्वम् ॥ १०१ ॥

प्रहस्तस्य पुरोऽमात्यान् जिर्हिसुर्दधृपुस्तथा ।

वानराः कर्म सेनानी रक्षसां चक्षमे न तत् ॥ १०२ ॥

प्रहस्तस्येत्यादि—अमात्यान् सचिवान् प्रहस्तस्य पुरोऽग्रतः वानरा
जिर्हिसुर्दधृपुः परिभूतवन्तः । तथा दधृपुः परिभूतवन्तः । 'त्रिधृपा प्रागल्भ्ये' । तच्च
कर्म वानरैर्यत्कृतं रक्षसां सेनानीः प्रहस्तः न चक्षमे स्म ॥ १०२ ॥

ऊर्णुनावं स शस्त्रौघैर्वानराणामनीकिनीम् ।

शशास च बहून् योधान् जीवितेन विवेच च ॥ १०३ ॥

ऊर्णुनावेत्यादि—स सेनानिर्वानराणामनीकिनीः सेनाः शस्त्ररूपुनाव
छादितवान् । ऊर्णोतेर्णुवद्वादिजादेरित्याम् न भवति । शशास च योधान् ।
'शसु हिंसायाम् ।' जीवितेन च विवेच पृथक्कृतवान् । 'विचिर् पृथग्भावे' इति
रुधादौ स्वरितेत् ॥ १०३ ॥

आससञ्ज भयं तेषां दिद्युते च यथा रविः ।

नाययास द्विषद्देहैर्जगाहे च दिशो दश ॥ १०४ ॥

आससञ्जेत्यादि—तेषां योधानां युयुत्सूनां भयमाससञ्ज आलम्नम् । 'पञ्च
सङ्गे' इत्यकर्मकः । प्रहस्तश्च रविरिव दिद्युते द्योतते स्म । 'द्युतिस्वाप्योः सम्प्र-
सारणम् । ७।४।६७।' इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणम् । नाययास युध्यमानो नाय-
स्यति स्म । 'यसु प्रयत्ने ।' द्विषद्देहैश्च शत्रुकायैः करणभूतैः दश दिशो जगाहे
अवष्टब्धवान् ॥ १०४ ॥

केचित् संचुकुटुर्भाता लेंजिरेऽन्ये पराजिताः ।

संग्रामाद् वभ्रशुः केचिद् ययाचुश्चापरेऽभयम् ॥ १०५ ॥

केचिदित्यादि—केचिद्भाताः सन्तः संचुकुटुः संकुटिताः । निष्प्रयत्नाः
स्थिता इत्यर्थः । 'कुट कौटिल्ये' अन्ये पराजिताः सन्तः लेंजिरे भर्त्सिताः । प्रह-
स्तं मृगा इव कातरा यूयमिति । 'लज-लाजि भर्त्सने ।' कर्मणि लिट् । केचित्
संग्रामाद् वभ्रशुः पलायिताः 'भ्रशु भ्रंशु अवःपतने ।' अपरे चाभयं ययाचुः
याचितवन्तः ॥ १०५ ॥

एवं विजिग्ये तां सेनां प्रहस्तोऽतिदर्पं च ।

शशाम न च संक्रुद्धो निर्जुगोप निशाचरान् ॥ १०६ ॥

एवमित्यादि—एवमुक्तेन प्रकारेण प्रहस्तस्तां सेनां विजिग्ये जितवान् ।
'त्रिपराभ्यां जेः । १।३।१९।' इति तच् । 'सँल्लिटोर्जेः । ७।३।५७।' इति कुत्वम् ।
अतिदर्पं च सुष्ठुं हृष्टवान् । 'हृप हर्षविमोचनयोः' । न च शशाम न च शर्म
गतः । निशाचरान् स्वीयानमात्यान् निर्जुगोप रक्षितवान् । आयाभावपक्षे
रूपम् ॥ १०६ ॥

चुक्रुधे तत्र नीलेन तरुश्चोच्चिक्षिपे महान् ।

प्रहस्तोऽभिहतस्तेन बाणान् विससृजे बहून् ॥ १०७ ॥

चुक्रुध इत्यादि—तत्र तरिमन् संग्रामे नीलेन चुक्रुधे क्रुद्धम् । भावे लिट् । तरुश्चोच्चिक्षिपे । उत्क्षिप्तः । कर्मणि लिट् । तेन तरुणा उन्मूलितेनाभिहतः सन् प्रहस्तो बहून्बाणान् विससृजे क्षिप्तवान् । 'सृज विसर्गे' इति दैवादिकोऽनुदात्तेत् ॥ १०७ ॥

सह कपी रथाश्वांश्च रिपोस्ततर्हं शाखिना ।

धरित्रीं मुसली तेये प्रहस्तश्चिखिदे न च ॥ १०८ ॥

सह इत्यादि—कपिर्नीलो बाणान् सेहे सोढवान् । रथानश्वांश्च रिपोः प्रहस्तस्य शाखिना तरुणा ततर्हं हतवान् । 'वृह हिंसि हिंसायाम् ।' हतरथाश्चश्च प्रहस्तो मुसली गृहीतमुसलः धरित्रीं तेये गतवान् । 'अय वय—' इत्यत्र तयिरनुदात्तेत् । न च चिखिदे न खिन्नः । 'खिद दैन्ये' इत्यनुदात्तेत् ॥ १०८ ॥

संदुधुक्षे तयोः कोपः पस्फाये शस्त्रलाघवम् ।

नुनोद शाखिन नील आवत्रे मुसली तरुम् ॥ १०९ ॥

सन्दुधुक्ष इत्यादि—तयोर्नीलप्रहस्तयोः कोपः संदुधुक्षे वृद्धिं गतः । शस्त्रलाघवमस्त्रकौशलं पस्फाये वृद्धिं गतम् । नुनोद शाखिनं नीलः प्रेरितवान् । मुसली प्रहस्तः तरुमावत्रे मुसलेनावृतवान् ॥ १०९ ॥

वियत्यानभ्रतुर्भूमौ मण्डलानि विचेरतुः ।

प्रदुद्रुवतुरन्योन्यं वीरौ शश्रमतुर्न च ॥ ११० ॥

वियतीत्याद—वीरौ ता वियतिः आकाशे आनभ्रतुः गतौ । 'अभ्र वभ्र' इति गत्यर्थः । वियतोऽधिकरणत्वेन विवक्षितत्वात् द्वितीया न कृता । भूमौ च मण्डलानि तिर्यग्भ्रमणानि विचेरतुः आचरितवन्तौ । अन्योन्यं प्रदुद्रुवतुः उपतापितवन्तौ । न च शश्रमतुः न श्रान्तौ ॥ ११० ॥

समीरयाश्चकाराय राक्षसस्य कपिः शिलाम् ।

क्षतस्तया ममारासावाशिश्चाय च भूतलम् ॥ १११ ॥

समीरयामित्यादि—अथानन्तरं कपिः राक्षसस्य शिलां समीरयांचकार क्षिप्तवान् । 'ईर क्षेपे' इति चौरादिक उदात्तेत् । असौ राक्षसस्तया शिलया हतः सन् ममार मृतवान् । भूतलं च आशिश्चाय आश्रितवान् । तत्र पतित इत्यर्थः ॥ १११ ॥

तुतुषुर्वानराः सर्वे नेशुश्चित्रा निशाचराः ।

जेरुराशा दशास्यस्य सैन्यं नीलं नुनाव च ॥ ११२ ॥

तुतुषुरित्यादि—वानराः सर्वे तुतुषुः तुष्टाः । निशाचरा नेशुः पलायिताः । विचित्राः नानाप्रकाराः दशास्यस्य आशा मनोरथा जेरुः जीर्णाः । 'वा जृभ्रमुत्रसाम् । ६ । ४ । १२४ ।' इत्येत्वम् । सैन्यं च कर्तृ नीलं नुनाव स्तौति स्म ॥ ११२ ॥

यदा न फेलुः क्षणदाचराणां मनोरथा रामबलाभियोगे ।

लङ्कां तदा भेजुरुदीर्णदैन्या व्याचख्युरुच्चैश्च हतं प्रहस्तम् ॥ ११३ ॥

यदेत्यादि—क्षणदाचराणां रामबलाभियोगे मनोरथा वाञ्छितानि यदा न फेलुः न फलिताः, प्रहस्तस्य व्यापादितत्वात् । तदा लङ्कां भेजुः सेवितवन्तः । उदीर्णदैन्याः उदीर्णा महदैन्यं दीनभावो येषामिति । प्रहस्तं च हतं मृतमुच्चैराचख्युः आख्यातवन्तः । रावणायेत्यर्थात् ॥ ११३ ॥

इति श्रीजयमङ्गलसूरिविरचितया जयमङ्गलाऽऽख्यया व्याख्यया

समलंकृते श्रीभट्टिप्रणीते रामचरिते काव्ये चतुर्थे तिङन्त-

काण्डे लक्षणरूपे प्रथमः परिच्छेदः, लक्ष्यरूपे

कथानके 'शरवन्धो' नाम चतुर्दशः सर्गश्च ।

पञ्चदशः सर्गः—

इतः प्रभृति लुङ्मधिकृत्यै तद्विलसितमाह । तत्र भूतसामान्ये लुङ् । ततोऽन्यत्रापि दर्शयिष्यति—

राक्षसेन्द्रस्ततोऽभैपीदैक्षिष्ट परितः पुरम् ।

प्रातिष्ठिपञ्च बोधार्थं कुम्भकर्णस्य राक्षसान् ॥ १ ॥

राक्षसेत्यादि—ततः प्रहस्तवधश्रवणानन्तरं 'ईदृशोऽपि व्यापादितः' इति अभैपीत् । 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु ७।२।१।' इति वृद्धिः परितः समन्तात् पुरं लङ्कामैक्षिष्ट दृष्टवान् । 'किमत्र शक्यते स्थातुं न वा' इति । कुम्भकर्णस्य सुप्तस्य बोधार्थं राक्षसान् प्रातिष्ठिपत् प्रस्थापितवान् । तिष्ठतेश्चङ्परं णावुपधाह्रस्वस्यापवादः । 'तिष्ठतेरित् । ७ । ४।५ ।' इतीत्वम् । द्विर्वचनमभ्यासकार्यम् । पत्वं प्ठुत्वं च ॥ १ ॥

तेऽभ्यगुर्भवनं तस्य सुप्तं चैक्षिपताथ तम् ।

व्याहार्यस्तुमुलाञ्शब्दान्दण्डैश्चावधिषुर्द्रुतम् ॥ २ ॥

तेऽभ्यगुस्त्यादि—ते राक्षसास्तस्य कुम्भकर्णस्य भवनं गृहम् अभ्यगु-
गताः । ‘इणो गा लुङि । २।४।४५।’ इति लुङि गादेशः । ‘गातिस्थाघुपा-
भूभ्यः सिचः परस्मैपदेपु । २।४।७७।’ इति सिचो लुक् । ‘उस्यपदान्तात् । ६३।
१।९६।’ इति पररूपत्वम् । ते च सुप्तमैक्षिपत दृष्टवन्तः । अथानन्तरं प्रवो-
धार्थं तुमुलान्महतो ध्वनीन् व्याहार्युः व्याहृतवन्तः । दण्डैश्च द्रुतं शीघ्रमवधिषुः
आहृतवन्तः ॥ २ ॥

केशानलुञ्चिपुस्तस्य गजान् गात्रेष्वचिक्रमन् ।

शीतैरभ्यपिचंस्तोयैरलातैश्चाप्यदम्भिषुः ॥ ३ ॥

केशानित्यादि—तस्य केशानलुञ्चिषुः उत्पादितवन्तः । गात्रेषु गजानचि-
क्रमन् क्रमयन्ति स्म । क्रमेर्मान्तत्वान्मित्संज्ञायां ह्रस्वत्वम् । चङि सन्वद्भा-
वादभ्यासस्य ‘सन्यतः । ७।४।७९।’ इति इत्वम् । शीतैस्तोयैरभ्यपिचन् सिञ्च-
न्ति स्म । अत्र सिचिरभ्युक्षणे वर्तते । तेनोदकस्य करणत्वम् । ‘लिपिसिचि-
ह्रश्च । ३ । १ । ५३ ।’ इत्यङ् । ‘प्राक् सितादङ् व्यवायेऽपि । ८ । ३ । ६३ ।’
इति षत्वम् । अलातैरङ्गारैश्चाप्यदम्भिषुः दग्धवन्तः । अनेकार्थत्वाद्भा-
तूनाम् ॥ ३ ॥

नखैरकार्तिषुस्तीक्ष्णैरदाङ्क्षुर्दशनैस्तथा ।

शितैरतौत्सुः शूलैश्च भेरीश्चावीवदन् शुभाः ॥ ४ ॥

नखैरित्यादि—तीक्ष्णैर्नखैरकार्तिषुश्छिन्नवन्तः । तथा दशनैस्तीक्ष्णैरदाङ्क्षु-
दशन्ति स्म । दंशेरनिटो हलन्तलक्षणा वृद्धिः । ‘त्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराज-
भ्राजच्छशांपः । ८ । २ । ३६ ।’ इति षत्वम् । ‘षडोः कः सि । ८। २।४१ ।’ ॥
शितैस्तीक्ष्णैः शूलैरतौत्सुः व्यथयन्ति स्म । तुदेरनिटो हलन्तलक्षणा वृद्धिः ।
भेरीश्च शुभाः उच्चैःशब्दा अवीवदन् वादितवन्तः । ‘सन्वद्भ्युनि चङ्पर-
ऽनग्लोपे । ७।४।९३।’ इति सन्वद्भावादभ्यासस्येत्वं ‘दीर्घो लघोः । ७।४।९४।’
इति दीर्घत्वम् ॥ ४ ॥

स तान् नाजीगणत् सर्वानिच्छयांबुद्ध च स्वयम् ।

अबूबुधत कस्मान् मामप्राक्षीच्च निशाचगन् ॥ ५ ॥

स ताजित्यादि—स कुम्भकर्णः तान् सर्वान् उपद्रवान् नाजीगणत् न गण-
यति स्म न वेदितवानित्यर्थः । गणेः स्वार्थिकण्यन्तस्यादन्तस्याभ्यासस्य
‘ई च गणः । ७ । ४ । ९७ ।’ इतीत्वम् । स्वयं चात्मन इच्छयाबुद्ध बुध्णते
स्म । ‘झलो झलि । ८ । २ । २६ ।’ इति सिचो लोपः । निशाचरांश्चा-
श्राक्षीत् पृष्टवान् । हलन्तलक्षणा वृद्धिः । ‘ब्रदचभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्रा-
ञ्जच्छशां षः । ८ । २ । ३६ ।’ इति षत्वम् । ‘षढोः कः सि । ८ । २ । ४१ ।’
कस्मान्मामवबुधत यूयं प्रबोधितवन्तः । बुधेर्ण्यन्तस्य मध्यमपुरुषबहुवचने
‘णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः । ७ । ४ । १ ।’ इति ह्रस्वत्वम् । अभ्यासस्य ‘दीर्घो लघोः
। ७ । ४ । ९४ ।’ इति दीर्घत्वम् ॥ ५ ॥

तेऽभाषिषत राजा त्वां दिदृक्षुः क्षणदाचर ।

सोऽस्नासीद् व्यलिपन्मांसमप्सासीद्दारुणीमपात् ॥ ६ ॥

त इत्यादि—ते राक्षसास्तथोक्ताः सन्तः अभाषिषत भाषितवन्तः । हे
क्षणदाचर ! राजा रावणस्त्वां दिदृक्षुः द्रष्टुमेषणशील इति । ‘न लोकाव्य-
यनिष्ठाखलर्थवृत्ताम् । २ । ३ । ६९ ।’ इति पष्ठीप्रतिषेधः । स कुम्भकर्णः श्रुत्वा
अस्नासीत् स्नातवान् । ‘यमरमनमातां सकृ च । ७ । २ । ७३ ।’ इति सगिटौ ।
व्यलिपत् समालिप्तवान् । ‘लिपिसिचिह्वश्च । ३ । १ । ५३ ।’ इत्यङ् । मांसमप्सा-
सीत् ‘प्सा भक्षणे ।’ वारुणीमपात् पीतवान् । ‘गातिस्थाद्युपाभूभ्यः
सिचः परस्मैपदेषु । २ । ४ । ७७ ।’ इति सिचो लुक् ॥ ६ ॥

न्यवसिष्ट ततो द्रष्टुं रावणं प्रावृत्तद् गृहाद् ।

राजा यान्तं तमद्राक्षीदुदस्थाञ्चेपदासनात् ॥ ७ ॥

न्यवसिष्टेत्यादि—ततो रावणं द्रष्टुं न्यवसिष्ट पूर्वनिवसितं वसनं त्यक्त्वा
अन्यद्वस्त्रं परिदधाति स्मागृहात् स्वस्मात्प्रावृत्तत् प्रवृत्तः । ‘द्युद्रयो लुङि । १ । ३ । ९१ ।’
इति परस्मैपदम् । ‘पुषादिद्युतावृत्तदितः परस्मैपदेषु । ३ । १ । ५५ ।’ इति
अङ् । तमायान्तं राजाद्राक्षीत् दृष्टवान् । ‘सृजिदशोर्झल्यमकिति । ६ । १ । ५८ ।’
इत्यम् । हलन्तलक्षणा वृद्धिः । आसनाच्च ईपदुदस्थात् उत्थितः ऊर्ध्वकर्मकत्वा-
दात्मनेपदं न भवति ॥ ७ ॥

अतुषत् पीठमासन्ने निरदिक्षच्च काञ्चनम् ।

अस्मैष्ट कुम्भकर्णोऽल्पमुपाविक्षदथान्तिके ॥ ८ ॥

अनुपदित्यादि—दृष्ट्वा चातुपत् तुष्टः । पुमादित्वाद्ङ् । आसत्रे चात्मनः काञ्चनं पीठं निरदिक्षत् आदिष्टवान् । 'दिशेः' 'शल इगुपधादनिटः कसः ३।१।४५।' इति कसः । अधानन्तरं कुम्भकर्णः अस्मेष्ट ईषद्धसितवान् । स चार्थो येनायमादर इति । अन्तिके चास्य काञ्चनं पीठमध्यास्य पीठे उपावि- क्षत् उपविष्टः । पूर्ववत् कसः ॥ ८ ॥

अवादीन्मां किमित्याहो राज्ञा च प्रत्यवादि सः ।

माज्ञासीस्त्वं सुखी रामो यदकार्पात् स रक्षसाम् ॥ ९ ॥

अवादीदित्यादि—तत उपविश्य तमवादीदुक्तवान् । 'वद्व्रजहलन्तस्याचः १।७।२।३।' इति वृद्धिः । किमिति कस्मात् कारणात् मामाहः आहूत- वान् । 'लिपिसिचिह्नश्च ३।१।५३।' इत्यङ् । 'आतो लोपः १।६।४।६४।' इति लोपे आहः राज्ञा च स कुम्भकर्णः प्रत्यवादि प्रत्युक्तः । कर्माणि लुङ् । 'चिण् भावकर्मणोः १।३।१।६६।' इति चिण् । 'चिणो लुक् १।६।४।१०४।' इति तलोपः । सुखी त्वं येन रामो रक्षसां यदकार्पात् तत्त्वं मा ज्ञासीः न ज्ञातवानसि । 'यमरमनमातां सकृच १।७।२।७३।' इति सगिटौ ॥ ९ ॥

उदतारीदुदन्वन्तं पुरं नः परितोऽरुधत् ।

व्यद्योतिष्ट रणे शस्त्रैरनैपीद्राक्षसान् क्षयम् ॥ १० ॥

उदतारीदित्यादि—स हि उदन्वन्तं समुद्रमुदतारित् उत्तीर्णः । 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु १।७।२।१।' नोऽस्माकं पुरं परितः समन्तादरुधत् आवृतवान् । 'इरितो वा ३।१।५७।' इत्यङ् । रणे शस्त्रैरद्योतिष्ट द्योतितवान् । द्युता- देर्लुङीति विकल्पेन परस्मैपदविधानादात्मनेपदम् । राक्षसान् क्षयं विनाशमनै- षीत् नीतवान् ॥ १० ॥

न प्रावोचमहं किञ्चित् प्रियं यावदजी विपम् ।

वन्धुस्त्वमर्चितः स्नेहान्मा द्विपो न वधीर्मम ॥ ११ ॥

न प्रावोचमित्यादि—यावदजीविपं यावन्तं कालं जीवितः तावन्तं कालं कस्यचित्प्रियं किञ्चिन्न प्रावोचं नोक्तवानहमिति तत्र विदितमेव । किन्तु वन्धुस्त्वं स्नेहादर्चितः सन् मम संबन्धिनो द्विपः शत्रून् मा न वधीः मा न मारय किन्तु मारयेति 'भाङि लुङ् ३।३।१७५।' इति सर्वलकारापवादः । लुङ् प्रावोचमिति 'वच उम् १।७।४।२२।' ॥ ११ ॥

वीर्यं मा न ददर्शस्त्वं मा न त्रास्थाः क्षतां पुरम् ।

तवाद्राक्ष्म वयं वीर्यं त्वमजैषीः पुरा सुरान् ॥ १२ ॥

वीर्यमित्यादि—त्वं वीर्यं मा न ददर्श किन्तु दर्शय । ण्यन्तस्य चङि रूपम् । क्षतां परैरवसादितां पुरं मा न त्रास्थाः किन्तु त्रायस्व । 'त्रैङ्पालने' । न च त्वमशक्तः यतस्तव वीर्यमद्राक्ष्म दृष्टवन्तो वयम् । 'न दृशः । ३।१।४७।' इति निषेधात् कसादेशो न भवति । 'इरितो वा । ३।१।५७।' इति विकल्पेनाङ्गविधानात्तदभावपक्षे रूपम् । पुरा पूर्वं त्वं सुरान् देवानजैषीः जितवानसि ॥ १२ ॥

अवोचत्कुम्भकर्णस्तं वय मन्त्रेऽभ्यधाम यत् ।

न त्वं सर्वं तदश्रौषीः फलं तस्येदमागमत् ॥ १३ ॥

अवोचदित्यादि—इत्युक्तवन्तं तं रावणं कुम्भकर्णोऽवोचत् उक्तवान् । मन्त्रे मन्त्रणसमये 'क्रियासमारम्भगतोऽभ्युपायः' इत्यादिना यद्वयमभ्यधाम अभिहितवन्तः । धाधातोः 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु । २।४।७७।' इति सिचो लुक् । तत्सर्वं त्वं नाश्रौषीः न श्रुतवानसि । तस्याश्रवणस्येदं फलं विनाशरूपमागमत् आगतम् । गमेर्लृदित्त्वाद्ङ् ॥ १३ ॥

प्राज्ञवाक्यान्यवामंस्था मूर्खवाक्येष्ववाऽस्थियाः ।

अध्यगीष्ठाश्च शास्त्राणि प्रत्यपत्या हितं न च ॥ १४ ॥

प्राज्ञवाक्यानीत्यादि—प्राज्ञानां विभीषणादीनां वाक्यान्यवामंस्थाः अज्ञातवानसि । 'मन ज्ञाने ।' मूर्खवाक्येषु प्रहस्तादिवाक्येषु अवास्थियाः अवास्थितोऽसि । 'समवप्रविभ्यः स्थः । १।३।२२।' इति तङ् । स्थाच्चेरिच्च । १।२।१७।' त्वं च शास्त्राण्यध्यगीष्ठा अधीतवानसि । 'विभाषा लुङ् लङोः । २।४।५०।' इति इङो गाडादेशः । न च हितं प्रत्यपत्याः प्रतिपन्नवानसि । 'पद् गतौ' । 'झलो झलि । ८।२।३६।' इति सिचो लोपः ॥ १४ ॥

मूर्खास्त्वामववञ्चन्त ये विग्रहमचीकरन् ।

अभाषीन्माल्यवान्युक्तमक्षंस्थास्त्वं न तन्मदात् ॥ १५ ॥

मूर्खा इत्यादि—मूर्खाः सर्व एवैते त्वामववञ्चन्त विप्रलब्धवन्तः ।
 'वञ्चु प्रलम्भने' प्यन्तस्य 'गृधिवञ्च्योः प्रलम्भने ।१।३।६९।' इति तडि
 चडि रूपम् । ये विग्रहमचीकरन् कारितवन्तो भवन्तम् । एष मातामहो
 माल्यवान् युक्तमभाणीत् भणितवान् । 'भण शब्दे ।' 'इट ईटि
 ।८।२।२८।' इति सिचो लोपः । तत् त्वं मदान्नाक्षंस्थाः न सोढवानसि ।
 'क्षंमूपू सहने' ॥ १५ ॥

राघवस्यामुसः कान्तामाप्तैरुक्तो न चाऽर्पिपः ।

मा नानुभूः स्वकान्दोपान्मा मुहो मा रुपोऽधुना ॥ १६ ॥

राघवस्येत्यादि—प्रमादित्वमपि तेऽस्ति । यतो राघवस्य कान्ताम्
 अमुसः खण्डितवानसि । खण्डनं चास्या इदं यद्गर्त्रा वियोजनम् । 'मुस
 खण्डने ।' पुपादित्वाद्ङ् पुपादयश्च गणान्ता गृहीताः । आप्तैर्विभीषणादि-
 भिरुक्तो न चार्पिपः नार्पितवानसि कान्ताम् । अर्तेणौ 'अर्तिहीव्लीरीक्नू-
 यीक्षमाय्यातां पुङ् णौ ।७।३।३६।' इति पुकि पुगन्तगुणः । चडि 'द्विर्वचनेऽचि
 ।१।१।५९' इति स्थानिवद्भावात् 'अजादेर्द्वितीयस्य ।६।१।२।' इति पिशब्दो
 द्विरुच्यते । रेफस्य 'न न्द्राः संयोगादयः ।६।१।३।' इति प्रतिषेधः ।
 तदधुना स्वकानात्मीयान्दोपान् दुश्चरितानि मा नानुभूः अपि त्वनुभव ।
 'माडि लुङ् ।३।३।१७५।' । 'गातिस्थाधुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु ।२।४।७७।'
 इति सिचो लुक् । मा मुहः मोहं मा गमः । मा रुपः रोपं मा कर्षाः ।
 मुहिरुषिभ्यां पुपादित्वाद्ङ् ॥ १६ ॥

तस्याप्यत्यक्रमीत्कालो यत्तदाहमवादिपम् ।

अघानिपत रक्षांसि परैः कोशांस्त्वमव्ययीः ॥ १७ ॥

तस्येत्यादि—तत्तदा तस्मिन् कालेऽहमवादिपम् अभिहितवानस्मि ।
 'रामः सन्धीयताम्' इति तस्यापि सन्धेः कालोऽत्यक्रमीदतिक्रान्तः ।
 'स्तुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते ।७।२।३६।' इतीट् । मान्तत्वाद्द्विप्रतिषेधः । यतः
 परैः शत्रुभिः रक्षांस्यघानिपत हतानि । चिण्वद्भावाद्द्विवत्वे । त्वं च
 कोशमव्ययीः त्यक्तवानसि । लङ्कादाहे तस्यारक्षितत्वात् । 'व्यय वित्तसमु-
 त्सर्ग' इति चुरादौ पठ्यते । यदा 'आधृपाद्वा' इति णिञ् नास्ति
 तदा रूपम् । ह्यन्तक्षणश्चसजागृणिश्येदिताम् । ७ । २ । ५ ।' इति

वृद्धिप्रतिषेधः । 'व्यय गतौ' इत्यस्यापि रूपम् । अनेकार्थत्वाद्वातूनामु-
त्सर्जनेऽपि द्रष्टव्यम् ॥ १७ ॥

सन्धानकारणं तेजो न्यगभूतेऽकृथास्तथा ।

यत् त्वं वैराणि कोशं च सहदण्डमजिग्लपः ॥ १८ ॥

सन्धानेत्यादि—तथा त्वमकृथाः कृतवानसि । 'तनादिभ्यस्तथासोः
।२।४।७९।' इति सिचो लुक् । यथा सन्धानकारणं सन्धानहेतुकं यत्तव तेजः
प्रचण्डत्वं तत् न्यगभूत् न्यगभूतम् । 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु
।२।४।७७।' इति सिचो लुक् । कुत इत्याह । यत्त्वं वैराणि शत्रुभावान् कोशं च
सहदण्डं ससैन्यमजिग्लपः ग्लपितवानसि । ग्लायतेणौ पुकि 'ग्लान्तावनु-
वमां च' इति मित्वात् ह्रस्वत्वम् । ग्लपयतेश्चङि रूपम् । यदि हि तेजो
भवेत् सर्वं तथावस्थितमेव स्यात् ततश्च तेजसोऽभावात् कथं सन्धानं
द्वयोः परस्परानुपतापात् । यथोक्तं यावन्मात्रमुपकुर्यात् तावन्मात्रमेवास्य
प्रत्युपकुर्यात् । तेजो हि सन्धानकारणं तप्तं लोहं तप्तेन लोहेन सन्धत्
इति ॥ १८ ॥

अक्रुधच्चाभ्यघाद्वाक्यं कुम्भकर्णं दशाननः ।

किं त्वं मामजुगुप्सिष्ठा नैदिधः स्वपराक्रमम् ॥ १९ ॥

अक्रुधदित्यादि—अथैवमुक्ते दशाननः अक्रुधत् क्रुद्धवान् । पुपादित्वा-
दङ् । क्रुद्धश्च कुम्भकरणमभ्यघात् अभिहितवान् । 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः
सिचः परस्मैपदेषु ।२।४।७७।' इति सिचो लुक् । किमिति त्वं माम् अजुगुप्सिष्ठाः
निन्दितवानसि । स्वविक्रमं नैदिधः न वर्धितवानसि । एधघातोर्ष्यन्तस्य चङि
स्थानिवद्भावात् 'अजादेर्द्वितीयस्य ।६।१।२।' इति विशब्दो द्विरुच्यते ॥ १९ ॥

मोज्जिग्रहः सुनीतानि मा स्म क्रंस्था न संयुगे ।

मोपालब्धाः कृतैर्दोषैर्मा न वाक्षीर्हितं परम् ॥ २० ॥

मोज्जिग्रह इत्यादि—सुनीतानि सुनयान् मा उज्जिग्रहः मा उद्वाह्य ।
ग्रहेर्ष्यन्तस्य चङि रूपम् । संयुगे युद्धे विषयभूते मा क्रंस्था मोत्सादि
न कार्षीः अपि तूत्सहस्व । 'स्मोत्तरे लङ् च ।३।३।१७६।' इति चकाराल्लुङ्
'वृत्तिसर्गातायनेपु क्रमः ।१।३।३८।' इति क्रमेः संगं उत्साहे तङ् । दोषैः अघ-

१ सन्धिहेतुकम् । 'सन्धानं स्यादभिपद्ये तथा सङ्घटनेऽपि च ।' इति विश्वः ।
सम्, धान्, भावे व्युट् ।

त्कृतैः सोपालब्धाः सोपालभस्व । 'झलो झलि । ८।२।२६।' इति सिचो
लोपः । 'झपस्तथोर्वोऽधः । ८ । २ । ४० ।' झलां जश झशि । ८ । ४ । ५३ ।'
हितं परं कार्यस्य मा न वाक्षीः मा न वह । किन्तु वह । वहेरनिटो
द्वलन्तलक्षणा वृद्धिः, दत्वकत्वपत्वानि ॥ २० ॥

कुम्भकर्णस्ततोऽगर्जीद्भ्रटांश्चान्यान्ववीवृतत् ।

उपायंस्त महास्त्राणि निरगाच्च द्रुतं पुरः ॥ २१ ॥

कुम्भकर्ण इत्यादि—ततस्तद्वचनानन्तरं कुम्भकर्णोऽगर्जीत् गर्जितवान् ।
अन्यांश्च भटान् पृष्टतां गच्छतो न्यवीवृतत् । निवर्तितवान् वृतेश्चङ्परे
गावुपधाया 'उर्कत् । ७ । ४ । ७ ।' इत्यपवाद ऋकारदेशः । महास्त्राणि
उपायंस्त स्वीकृतवान् । औपचारिकमत्र स्वीकरणं तेन तद् । यदि
वा ज्याङ्पूर्वाद्यमेः समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे । १ । २ । ७५ ।' इति तद् ।
पुरश्च लङ्कतः द्रुतं निरगात् निर्गतः । इणो गादेशः । 'गातिस्त्रावुपाभूभ्यः
सिचः परस्मैपदेषु । २ । ४ । ७७ ।' इति सिचो लुक् ॥ २१ ॥

मूर्ध्ना दिवमिवालेखीत्वं व्यापद् वपुषोरुणा ।

पादाभ्यां क्षमामिवाभैत्सीत् दृष्ट्याधाक्षीदिव द्विपः ॥ २२ ॥

मूर्ध्नेत्यादि—निर्गच्छन् मूर्ध्ना दिवमलेखीदिव लिखितवानिव । उरुणा
मंहता वपुषा खं व्यापत् व्याप्तवान् । लृदिच्चादङ् । क्षमां पृथ्वीं पादाभ्यामभै-
त्सीदिव विदारितवानिव । द्विपः शत्रून् दृष्ट्याधाक्षीदिव भस्मसात् कृतवान-
निव 'दह भस्मीकरणे' ॥ २२ ॥

दग्धशैल इवाभासीत् प्राक्स्त क्षयमेववत् ।

प्राचकम्पदुद्वन्तं राक्षसानप्यतिव्रसत् ॥ २३ ॥

दग्धशैल इत्यादि—महत्त्वात् कृष्णत्वाच्च दग्धशैलवदभासीन् भाति स्म ।
'भा दीप्तौ' 'यमरमनमाता सक च । ७।२।८३।' इति सगिटौ । क्षयमेववत्प्रा-
क्स्त प्रस्थितः । 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् । १।३।४२।' इति तद् । प्रतिष्ठमानश्च
उद्वन्तमचकम्पत् कम्पितवान् । 'कपि चलने' । इदितो प्यन्तस्य
चङि रूपम् । राक्षसानपि अतिव्रसन् त्रासितवान् । त्रसेर्प्यन्तस्य चङि
रूपम् ॥ २३ ॥

१ अहमेव सर्वशत्रुसैन्यदलं भक्षयिष्यामि इति न मे साहाय्यापेक्षेयान्ति-
शयात् ।

सपक्षोऽद्रिरिवाचालीन्न्यश्वसीत् कल्पवायुवत् ।

अभार्षीद्धनिना लोकानभ्राजिष्ट क्षयाग्निवत् ॥ २४ ॥

सपक्ष इत्यादि—सपक्ष इवाद्रिः वाहोः पक्षानुकारित्वात् अचालीत्
चलितः । लान्तत्वात्सिचि वृद्धिः । क्रोधात्कल्पान्तवायुवन्न्यश्वसीत् निश्व-
सितवान् । 'हयन्तक्षणश्वसजागृणिक्येदिताम् । ७।२।५।' इति वृद्धिप्रतिषेधः ।
ध्वनिना लोकानभार्षीत् पूरितवान् । 'भृञ् भरणे ।' ईडन्तस्य
सिचि वृद्धिः । अभ्राजिष्ट भ्राजते स्म । क्षयाग्निवत् पिङ्गलकेश-
त्वात्, लोकविनाशहेतुत्वाच्च ॥ २४ ॥

अनंसीद्भूभरेणास्य रंहसा शाखिनोऽलुठन् ।

सिंहाः प्रादुद्भुवन् भीताः प्राक्षुभन् कुलपर्वताः ॥ २५ ॥

अनंसीदित्यादि—अस्य भरेण भूरनंसीत् नता । 'यमरमनमातां-
सक् च । ७।२।७३।' इति सगिटौ । रंहसा वेगेन शाखिनो वृक्षा
अलुठन् पतिताः । 'रुठ लुठ प्रतिवात्' । द्युतादित्वादङ् । द्युतादी-
नामनुदात्तेत्वात्तङ् । 'द्युद्भयो लुङि । १।३।९१।' इति परस्मैपदविकल्पः ।
सिंहाः भीताः सन्तः प्रादुद्भुवन् पलायिताः । 'णिश्चिद्रुभ्यः कर्त्तरि
चङ् । ३।१।४८।' इति चङ् । कुलपर्वताः प्राक्षुभन् संचलिताः । पुषादि-
द्युताद्युद्धितः परस्मैपदेषु । ३ । १ । ५५ ।' इति द्युतादित्वादङ् । पूर्ववन्नात्म-
नेपदम् ॥ २५ ॥

उत्पाताः प्रावृतंस्तस्य द्यौरशीकिष्ट शोणितम् ।

वायवोऽवासिपुर्भोमाः क्रूराश्चाकुपत द्विजाः ॥ २६ ॥

उत्पाता इत्यादि—तस्य गच्छत उत्पाताः प्रावृतन् प्रवृत्ताः । 'वृत्
वर्तने' द्युतादिः । द्यौः शोणितमशीकिष्ट सिञ्चति स्म । 'शीकृ सेचने'
अनुदात्तेत् । वायवो भीमाः प्रचण्डा अवासिपुर्वान्ति स्म । 'यमरमनमातां
सक् च । ७।२।७३।' इति सगिटौ । क्रूराश्चाकुपत द्विजाः पश्चिगो-
ऽकुपत शब्दिताः । 'कुह् शब्दे' इत्यनिट् । कुटादित्वात् सिचिः क्तिव्ये
न गुणः ॥ २६ ॥

अस्पन्दिष्टाक्षि वामं च द्यौराश्चारणित्पुः शिवाः ।

न्यपत्तन् मुसले गृध्रा दीप्तयापाति चोल्कया ॥ २७ ॥

अस्पन्दिष्टेत्यादि—वामं चास्याक्षि अस्पन्दिष्ट स्पन्दते स्म । घोराः अनिष्टशंसिन्यः शिवाः वराटिषू रटन्ति स्म । 'अतो हलादेर्लोपोः । ७ । २ । ७।' इति वृद्धिविकल्पः । गृध्रा मुसले न्यपन्नं उपविष्टवन्तः । 'पुषादिद्युतात्प्लुदितः परस्मैपदेषु । ३ । १ । ५५ ।' इति लृदित्त्वाद्ङ् । 'पतः पुम् । ७।४।१९।' इति पुमामस्य । दीप्तया उल्कया अपाति पतितम् । भावे चिणादेशः ॥ २७ ॥

आंहिष्ट तानसम्मन्य दर्पात् स प्रधनक्षितिम् ।

ततोऽनर्दीदनन्दीच्च शत्रूनाद्वास्त चाहेवे ॥ २८ ॥

आंहिष्टेत्यादि—तान् उत्पातान् कम्भकर्णोऽसम्मन्य दर्पाद्वज्ञाय प्रधनैक्षितिं युद्धभूमिमांहिष्ट गतवान् । तत उत्तरकालं अनर्दीत् गर्जितवान् 'क यास्यथेदानीम्' इति । अनन्दीच्च जयश्रियं श्लाघितवानित्यर्थः । आह्वे संग्रामे शत्रूनाद्वास्त आहूतवान् । 'भागच्छत, युध्यध्वम्' इति । 'स्पर्धायामाडः । ३ । ३ । ३१ ।' इति तङ् । 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् । ३ । १ । ५४ ।' इत्यङ्भावपक्षे रूपम् ॥ २८ ॥

प्राशीन्न चावृपत् क्रूरः क्षुच्चास्यावृधदश्नतः ।

अघाद् वसामधासीच्च रुधिरं वनवासिनाम् ॥ २९ ॥

प्राशीदित्यादि—प्राशीत् भक्षितवान् । वनवासिन इत्यर्थात् । न चासौ क्रूरः दुष्टचेता अकृपत् कृपवान् । पुषादित्त्वाद्ङ् । अश्रतोऽप्यस्य खादतोऽपि कुम्भकर्णस्य क्षुत् बुभुक्षा अवृधन् वर्धते स्म । 'वृधु वृद्धौ' द्युतादिः । वनवासिनां वानराणां वसामधात् पीतवान् । 'विभाषा प्राधेद्शाच्छासः । २।४।७८।' इति सिचो लुक्पक्षे रूपम् । रुधिरं चावासीन् । 'धेद् पाने' 'विभाषा धेद्-श्वयोः । ३ । १ । ४९ ।' इति चङ्भावपक्षे रूपम् ॥ २९ ॥

मांसेनास्वाश्वतां कुक्षी जठरं चाप्यशिशिवयत् ।

वहूनामग्लुचत् प्राणानग्लोचीच्च रणे यशः ॥ ३० ॥

१ 'युद्धमायोधने जन्यं प्रधने श्रविदारणम् ।' इत्यमरः । २ 'अभ्यामर्दसमावात-सङ्ग्रामाभ्यागनाहवाः ॥' इत्यमरः ।

मांसेनेत्यादि—वनवासिनां मांसेनास्य कुम्भकर्णस्य कुक्षी उदरपार्श्वौ
अश्वत्तां शूनौ । 'जृस्तम्भुमुचुम्बुलुचुमुचुग्लुञ्चुश्चिभ्यश्च ।३।१।५८।' इति
अङ् । 'श्वयतेरः ।७।४।१८।' इत्यत्वम् । जठरं चोदरमशिक्षियत् वृद्धम् ।
'विभाषा धेट्शब्दयोः ।३।१।४९।' इति चङ् । इयडादेशः । बहूनां
वनवासिनां प्राणानग्लुचत् हतवान् । 'ग्रुचुग्लुचुकुजुखुजुस्तेयकरणे' ।
'जृस्तम्भुमुचुम्बुलुचुमुचुग्लुञ्चुश्चिभ्यश्च । ३ । १ । ५८ ।' इत्यादिना
अङ् विकल्पनादङ्भावपक्षे रूपम् । यशश्च बहूनां रणे अग्लोचीत् अप-
नीतवान् । 'वञ्चुचञ्चु' इत्यादौ ग्लुचिर्गत्यर्थः । अङ्भावपक्षे रूपम् ॥ ३० ॥

सामर्थ्यं चापि सोऽस्तम्भीद् विक्रमं चाऽस्य नास्तभन् ।

शाखिनः केचिदध्यष्टुर्न्यमाङ्क्षुरपरेऽम्बुधौ ॥ ३१ ॥

सामर्थ्यमित्यादि—स कुम्भकर्णः केषांचिद्भ्रलवतामपि वनवासिनां
सामर्थ्यमस्तम्भीत् नियमितवान् । अङ्भावपक्षे रूपम् । विक्रमं च केचि-
दस्य नास्तभन् न नियमितवन्तः । अङ्पक्षे रूपम् । क्लित्यनुनासिकलोपः ।
केचिद्भ्रयाद् वृक्षानध्यष्टुः अधिष्ठितवन्तः । तिष्ठतेः 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः
सिचः परस्मैपदेषु २ । ४ । ७७ ।' इति सिचो लुक् । आदेशः
सकारस्य पत्वं घृत्वं च । अपरेऽम्बुधौ न्यमाङ्क्षुर्निमग्नाः । 'मस्जिनशो-
र्झलि ।७।१।६०।' इति नुम् । मस्जेरन्त्यात्पूर्वं नुमिच्छन्ति । अनुपङ्गसंयो-
गादिलोपार्थम् ॥ ३१ ॥

अन्ये त्वलङ्घिषुः शैलान् गुहास्वन्ये न्यलेषत ।

केचिदासिषत स्तब्धा भयात् केचिदघूर्णिषुः ॥ ३२ ॥

अन्ये त्वित्यादि—अन्ये शैलानलङ्घिषुः भयादारूढा इत्यर्थः । अन्ये गुहासु
न्यलेषत । 'लीङ् श्लेषणे' । कोचित् स्तब्धाः स्थाणुवदासिषत आसत ।
अपरे भयात् भीत्या अघूर्णिषुः घूर्णन्ते स्म ॥ ३२ ॥

उदतारिपुरम्भोधिं वानराः सेतुनापरे ।

अलज्जिष्ठाङ्गदस्तत्र प्रत्यवास्थित चोर्जितम् ॥ ३३ ॥

उदतारिपुरित्यादि—अपरे वानराः सेतुना अम्भोधिमुदतारिपुः उत्तीर्णाः ।
तत्र तेषु तथाभूतेष्वङ्गदोऽलज्जिष्ठ लज्जते स्म । ऊर्जितं च पराक्रमं प्रत्यवास्थित
प्रतिपन्नवान् । 'समवप्रविभ्यः स्यः ।१।३।२२।' इति तङ् । 'ह्रस्वाद्दान् ।८।
२।२७।' इति सिचो लोपः ॥ ३३ ॥

सत्त्वं समदुधुक्षच्च वानराणामयुद्धं च ।

ततः शैलानुदक्षैप्सुरुदगूरिपत द्रुमान् ॥ ३४ ॥

सत्त्वमित्यादि—वानराणां सत्त्वं समदुधुक्षत् सन्दीपितवान् । धुक्षेः सन्दी-
पनार्थात् ष्यन्ताच्चलेश्चङ् । स्वयमयुद्धं च युध्यते स्म । 'ज्ञलो ज्ञालि । ७ । २
२६।' इति सिचो लोपः । ततः सत्त्वधुक्षणानन्तरं वानराः शैलानुदक्षैप्सुः
उत्क्षिप्तवन्तः । हलन्तलक्षणा वृद्धिः । द्रुमांश्चोदगूरिपत उत्थापितवन्तः 'गूरी
उद्यमने' ॥ ३४ ॥

अनर्दिपुः कपिव्याघ्राः सम्यक् चायुत्सताहवे ।

तानमर्दादखादीच्च निरास्थच्च तलाहतान् ॥ ३५ ॥

अनर्दिपुरित्यादि—उत्क्षिप्तशैलद्रुमाः कपिव्याघ्रा अनर्दिपुः नर्दितवन्तः ।
'दृष्टोऽस्माभिः क यास्यासि' इति । सम्यक् निर्भयमाहवे अयुत्सत युध्य-
न्ते स्म । 'हलन्ताच्च । १ । २ । १८।' इति सिचः कित्त्वे गुणाभावः ।
तान् प्लवङ्गमान् युध्यमानान् कुम्भकर्णोऽमर्दात् मृदितवान् । मृदेर्लघूपध-
गुणः । अखादीच्च भक्षितवान् । हस्ततलेनाहतान् निरास्थन् इतस्ततः क्षिप्त-
वान् । 'अस्यतिवक्तिल्यातिभ्योऽङ् । ३ । १ । ५२।' इत्यङ् । 'अस्यते-
स्थुक् । ७ । ४ । १७।' ॥ ३५ ॥

प्राचुचूर्णञ्च पादाभ्यामविभीषत च द्रुतम् ।

अतर्हीञ्चैव शूलेन कुम्भकर्णः प्लवङ्गमान् ॥ ३६ ॥

प्राचुचूर्णदित्यादि—पादाभ्यां प्राचुचूर्णत् पिष्टवान् । 'चूर्णं प्रेरणे'
इति चुरादिः । एवं चूर्णयन् द्रुतमविभीषत भीषयते स्म 'भियो हेतु-
भये पक् । ७ । ३ । ४० ।' । 'भित्म्योर्हेतुभये । १ । ३ । ६८।' इति
तल् । शूलेन प्रहरणेन अतर्हीञ्च विद्धवान् । 'वृद् हिंसायाम् ।' ह्य-
न्तत्वान्न वृद्धिः ॥ ३६ ॥

अतौत्सीद्विदया गाढमपिपञ्चोपगूह्नैः ।

जानुभ्यामदमीञ्चाऽन्यान् हस्तवर्तमवीवृतत् ॥ ३७ ॥

अतौत्सीदित्यादि—कांश्चिद्द्रदया गाढमर्तौत्सीन् व्यधितवान् । उपगूह्नै-
रपिपत् चूर्णितवान् । लदित्त्वादङ् । अन्यांश्च जानुभ्यां अदमीन् शासि-
तवान् । अवष्टभ्य नियमितवानित्यर्थः । 'ह्यन्तक्षणश्चसजागृणिश्च्योदिताम्

११।२।५। इति न वृद्धिः । हस्तवर्तमवीवृत्तत् हस्ताभ्यां वर्तितवान् पिष्टवानित्यर्थः । वृतेर्ण्यन्तात् 'हस्ते वर्तिग्रहोः । ३।४।३९ ।' इति णमुल् । 'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः । ३ । ४ । ४६ ।' इति वृतेरेवानुप्रयोगः ॥ ३७ ॥

अदालिषुः शिला देहे चूर्ण्यभूवन् महाद्रुमाः ।

क्षिप्तास्तस्य न चाचेतीत्तानसौ नापि चाक्षुभत् ॥ ३८ ॥

अदालिषुरित्यादि—वानरैस्तस्य देह क्षिप्ताः शिला अदालिषुर्विशीर्णाः । 'दल विशरणे ।' भौवादिकः । लान्तत्वाद्दृद्धिः । महाद्रुमाश्चूर्ण्यभूवन्, चूर्णांभूताः । न च तान् क्षिप्तानसौ कुम्भकर्ण अचेतीत् चेति तवान् । 'चिती संज्ञाने ।' नापि चाक्षुभत् न क्षुभितः । क्षुभ संचलने' दिवादिः ॥ ३६ ॥

अद्राष्टां तं रघुव्याघ्रौ आख्यञ्चैनं विभषिणः ।

एष व्यजेष्ट देवेन्द्रं नाशङ्किष्ट विवस्वतः ॥ ३९ ॥

अद्राष्टामित्यादि—तं तादृशौ रघुव्याघ्रौ रामलक्ष्मणावद्राक्षां दृष्टवन्तौ । विभीषणश्चैनमाख्यत् कथितवान् । 'कुम्भकर्णोऽयम्' इति 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् । ३।१।५२।' इत्यङ् । प्रभावं चास्य कथयन्नाह—देवेन्द्रमेव व्यजेष्ट विजितवान् । 'विपराभ्यां जेः । १।६।१९।' इति तङ् । विवस्वतः सूर्यात् नाशङ्किष्ट न शङ्कते स्म ॥ ३८ ॥

यक्षेन्द्रशक्तिमच्छासी—नाप्रोथीदस्य कश्चन ।

कुम्भकर्णान्न भैष्टं मा युवामस्मान् नृपात्मजौ ॥ ४० ॥

यक्षत्यादि—यक्षेन्द्रस्य कुबेरस्य शक्तिं प्रहरणमच्छासीत् खण्डितवान् । 'छो छेदने ।' अस्य तु कश्चन काश्चित् नाप्रोथीत् न प्रभवति स्म । शक्त्यै प्रहरणायेत्यर्थात् । 'प्रोथृ पर्याप्तौ ।' पर्याप्तियोगे चतुर्थी न भविष्यति पर्याप्तेरविवक्षितत्वात् । अतोऽस्मादेवंविद्यात् कुम्भकर्णात् युवां नृपात्मजौ मा न भैष्टं, किन्तु विभीतम् । 'माङि लुङ् । ३।३।१७५।' मध्यमपुरुषद्विवचने रूपम् । माशब्दः प्रतिषेधे ॥ ४० ॥

ग्रन्तं मोपेक्षिपाथां च मा न कार्ष्णिमिहादरम् ।

अमुं मा न वधिष्टेति रामोऽवादीत्ततः कपीन् ॥ ४१ ॥

ग्रन्तमित्यादि—तस्मात् ग्रन्तमेनं युवां मोपेक्षिपाथां मोपेक्षकौ भूतमित्यर्थः । इह च कुम्भकर्णे आदरं मा न कार्ष्णम्, अपि तु कुरुतम् । ततो विभीषणवचनानन्तरं रामः कपीनवादीत् उक्तवान् । अमुं कुम्भकर्णं मा न वधिष्ट इति, किन्तु हतेति । ' लुङि च । २ । ४ । ४२ ' इति हनो वधादेशः ॥ ४१ ॥

ते व्यरासिपुराह्वन्त राक्षसं चाप्यपिप्लवन् ।

अवभासन् स्वकाः शक्तीर्द्रुमशैलं व्यकारिपुः ॥ ४२ ॥

त इत्यादि—ते वानराः हर्पाद् व्यरासिपुः किलकिलाशब्दं कृतवन्तः । 'अतो हलादेशोः । ७ । २ । ७ ' इति वृद्धिः । राक्षसं च कुम्भकर्णमाह्वन्त स्पर्धमाना आहूतवन्तः । 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् । ३ । १ । ५४ ' इति हेनः पक्षे अङ् । अपिप्लवन् प्लावितवन्तः । अपिः शब्दार्थः । तथा कृतवन्तः यथासौ प्लुतिं कर्तुमारब्धः । प्लवतेर्ष्यन्तस्य चङि सन्वत्कार्यामिति । 'स्रवतिशृणोतिद्रवतिप्रवतिप्लवतिच्यवतीनां वा । ७ । ४ । ८१ ' इत्यभ्यासस्येत्वम् । स्वका आत्म्याः शक्तीरवभासन् प्रकाशयन्ति स्म । भासेर्ष्यन्तस्य चङिः 'भ्राजभासभापदीपजीवमीलपीडामन्यतरस्याम् । ७ । ४ । ३ । ' इति उपधाह्रस्वविकल्पः । द्रुमाश्च शैलाश्चेति द्रुमशैलम् । 'जातिरप्राणिनाम् । २ । ४ । ६ । ' इत्येकवद्भावः । व्यकारिपुः तदुपरि क्षिप्तवन्तः । 'कृ विशेपे' लुङ् ॥ ४२ ॥

ते तं व्याशिपताक्षौत्सुः पादैर्दन्तैस्तथाच्छिदन् ।

आर्जिजच्छरभो वृक्षं नीलस्त्वादित पर्वतम् ॥ ४३ ॥

ते तमित्यादि—ते वानरास्तं राक्षसं व्याशिपत व्याप्तवन्तः । 'अशू व्याप्ती । ' पादैश्चाक्षौत्सुः पिष्टवन्तः । 'धुदिर् सम्पेपणे । ' दन्तैरच्छिदन् छिन्दन्ति स्म । 'श्रितो वा । ३ । १ । ५७ । ' इत्यङ् । शरभो नाम कपिवृक्षमार्जिजन् गृहीतुं यतते स्म । 'अर्जं प्रतिवन्ने' इति स्वार्थिकण्यन्ताच्चाङि । 'द्विर्वचनेऽपि । १ । १ । ५९ । ' इति स्थानिवद्भावान् 'अजादेद्वितीयस्य । ६ । १ । २ । ' इति द्विर्वचनम् । रेफत्स्य ' न न्द्राः संयोगादयः । ६ । १ । ३ । ' इति द्वित्वप्रतिषेधः । नीलः पर्वतमादित गृहीतवान् । 'स्थाच्वोरिच्च । १ । २ । ७ । ' ॥ ४३ ॥

ऋषभोऽद्रीनुदक्षैप्सीत्ते तैररिमतादिषुः ।

अस्फूर्जीद् गिरिशृङ्गं च व्यस्त्राक्षीद् गन्धमादनः ॥ ४४ ॥

ऋषभ इत्यादि—ऋषभो नाम कपिरद्रीनुदक्षैप्सीत् उरिक्षिप्तवान् । ते शर-
भाद्यस्तैर्वृक्षादिभिररिमतादिषुः हतवन्तः । 'तर्द हिंसायाम् ।' गन्धमाद-
नो नाम कपिरस्फूर्जीत् वज्रमिव गिरिशृङ्गं च व्यस्त्राक्षीत् विसृष्टवान् । सृजिस्तौ-
दादिक उदात्तेत् ॥ ४४ ॥

अकूर्दिष्ट व्यकारीच्च गवाक्षो भूधरान् बहून् ।

स तान्नाजीगणद् वीरः कुम्भकर्णोऽव्यथिष्ट न ॥ ४५ ॥

अकूर्दिष्टेत्यादि—गवाक्षो नाम कपिः अकूर्दिष्टं क्रीडापूर्वकं चेष्टेते स्म ।
भूधरान् महीधरांश्च व्यकारीत् विक्षिप्तवान् । वीरः कुम्भकर्णस्तान् शरभा-
दीन् नाजीगणत् न गणयामास । 'अजगणत्' इति पाठान्तरम् । तत्र चकारेणा-
त्वमप्यनुवर्तते । न चाव्यथिष्ट न व्यथितोऽभूत् ॥ ४५ ॥

अमन्थीच्च परानीकमप्लोष्ट च निरङ्कुशः ।

निहन्तुं चात्वरिष्टारीनजक्षीच्चाङ्गमागतान् ॥ ४६ ॥

अमन्थीदित्यादि—परानीकं शत्रुसैन्यममन्थीत् क्षोभितवान् 'मन्थ विलो-
डने ।' निरङ्कुशश्चाप्रतिहतशक्तिः अप्लोष्ट भ्रान्तवान् । 'प्लुङ् गतौ ।' अरौश्च
वानरान्निहन्तुमत्वरिष्ट त्वरते स्म । 'वित्वरा संप्रेम ।' अङ्गं च समीपमाग-
तानजक्षीत् भक्षितवान् । 'जक्ष भक्षहसनयोः' । इति भक्षणे जक्षिः ॥ ४६ ॥

व्यक्रुक्षद्वातरानीकं संपलायिष्ट चायति ।

हस्ताभ्यां नश्यदक्राक्षीर्द्रिमे चोपाधितानने ॥ ४७ ॥

व्यक्रुक्षदित्यादि—तस्मिन्नायत्यागच्छति सति, आङ्पूर्वस्येणः शतारि-
रूपम् । वानरानीकं व्यक्रुक्षत् विक्रोशाति स्म । 'शल इगुपवादनितः क्सः ।
३।१।४५।'संपलायिष्ट पलायते स्म । तच्च नश्यत्पलायमानं हस्ताभ्यामक्राक्षीत्
आकृष्टवान् कुम्भकर्णः । 'कृप विलेखने' । 'अनुदात्तस्य चर्तुपधत्यान्यतरस्याम्
।६।१।५९।'इत्यम् । हलन्तलक्षणा वृद्धिः । आकृष्टं चातिभीमेऽतिभयद्वरे विकृतं
आतने वक्त्रे उपाधितं न्यस्तवान् 'धाव्' । 'स्याच्चोरिच्च ।१।२।१७।' ॥ ४७ ॥

रक्तेनाचिह्निदद् भूमिं सैन्यैश्चातस्तरद्धतैः ।

नाताप्सोर्द्रक्षयन् क्रूरो नाश्रमद् व्रन् प्लवङ्गमान् ॥ ४८ ॥

रक्तेनेत्यादि—वानरानीकस्य रक्तेन भूमिमचिच्छिदन् कुदितवान् । 'छिदू
आर्द्रभावे' । तस्य ष्यन्तस्य चङि रूपम् । सैन्यैश्च हतैर्भूमिमतस्तरत्
च्छादितवान् । लृणातेर्णां चङि रूपम् । 'अत्समृद्धृत्वप्रथमदस्तृस्पशाम् ।
७।४।९५ ।' इत्यत्वम् । तांश्च भक्षयन्नपि क्रूरः नातापसीत् न वृषः । 'वृष
प्रीणने' पुपादिः 'स्पृशमृशकृपवृषपां च्लेः सिञ्वा वाच्यः' इति वार्तिकेन पक्षे
सिञ् । वृवङ्गमाञ्च वानरांश्च व्रन् हिंसन् नाश्रमत् न श्रान्तवान् ।
'श्रमु तपसि खेदे च' इति खेदे पुपादित्वादङ् ॥ ४८ ॥

न योद्धुमशकन् केचिन्नाढौकिपत केचन ।

प्राणशन्नासिकाभ्यां च वक्त्रेण च वनौकसः ॥ ४९ ॥

न योद्धुमित्यादि—तेषां मध्ये केचिद्वनौकसो वनवासिनो वानरा योद्धुं
नाशकन् न शक्ता अभवन् 'पुपादिश्रुताञ्छ्रुदितः परस्मैपदेषु । ३ । १ । ५५ ।
इत्यनेन श्रुदित्वादङ् । केचिन्नाढौकिपत न ढौकन्ते स्म । ये तु
तेन पदे न क्षिप्तास्ते नासिकाभ्यां नासिकाविवराभ्यां वक्त्रेण च प्राणशन्
प्रनष्टाः निःसृता इत्यर्थः । नशेः पुपादित्वादङ् । 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदे-
शस्य । ८।४।१४।' इति णत्वम् ॥ ४९ ॥

उदरे चाजरन्नन्ये तस्य पातालसन्निभे ।

आक्रन्दिपुः सखीनाहन् प्रपलायिपतास्विदन् ॥ ५० ॥

उदरेचेत्यादि—अन्ये च तस्योदरे पातालस्य सन्निभे सदृशे अजरन्
जीर्णाः । 'जृस्तम्भमृचुम्बुचुगुंजुगुलुचुगुलुञ्चुधिभ्यश्च । ३ । १ । ५८ ।' इत्यङ् ।
'ऋदृशोऽङि गुणः । ७ । ४ । १६ ।' आक्रन्दिपुः आक्रन्दितवन्तः । मखीन्
मित्राणि आहन् आहृतवन्तः । 'लिपिसिचित्श्च । ३ । १ । ५३ ।' इत्यङ् ।
प्रपलायिपत प्रपलयन्ते स्म । पलायमानाश्चास्विदन् प्रस्विन्ताः । पुपा-
दित्वादङ् ॥ ५० ॥

अथ दान्यां युग्मकम् ।

रक्तमश्च्योतिपुः क्षुण्णाः क्षताश्च कपयोऽनृपन् ।

उपास्यायि नृपो भग्नैरसौ सुग्रीवमैजिहत् ॥ ५१ ॥

रक्तमित्यादि—अन्ये क्षुण्णाः सन्तः रक्तमश्च्योतिपुः श्योतन्ति स्म ।
'इरितो वा । ३ । १ । ५७ ।' इत्यङ्भावपक्षे रूपम् । श्रुताश्च खण्डिता

अतृषन् तृषन्ति स्म । 'वितृषा पिपासायाम् ।' पुषादित्वादङ् । नृपो राम-
स्तैर्भ्रमैरुपास्थायि उपस्थापितः । अन्तर्भावितो ष्यर्थः । कर्मणि चिण् ।
असौ रामः सुग्रीवमैजिहत् योद्धुमीहां कारितवान् । ईहतेर्ष्यन्ताच्चडि ।
'द्विर्वचनेऽचि । १ । १ । ५९ ।' इति स्थानिवद्भावात् द्वितीयस्य द्विर्वचनम् ।
आट् । वृद्धिः । योद्धुमिति वक्ष्यमाणेन योज्यम् ॥ ५१ ॥

योद्धुं सोऽप्यरुषच्छत्रोरैरिरञ्च महाद्रुमम् ।

तं प्राप्तं प्रासहिष्टारिः शक्तिं चोप्रासुदग्रहीत् ॥ ५२ ॥

योद्धुमित्यादि—सोऽपि सुग्रीवः अरुषत् क्रुध्यति स्म । 'रुष रोषे'
पुषादिः । शत्रोश्च द्रुमैरिरत् क्षिप्तवान् । 'ईर क्षेपे' इति स्वार्थिकष्यन्तस्य
रूपम् । तं द्रुमं प्राप्तमारिः कुम्भकर्णः प्रासहिष्ट प्रसहते स्म । शक्तिं चोप्रां
प्राणहरासुदग्रहीत् उद्धूहीतवान् ॥ ५२ ॥

स तामविभ्रमद्गीमां वानरेन्द्रस्य चामुचत् ।

प्रापत्तन् मारुतिस्तत्र तां चालासीद्वियद्रताम् ॥ ५३ ॥

स तामित्यादि—तां गृहीतां शक्तिं स कुम्भकर्णः अविभ्रमत् भ्रमयति
स्म । भ्रमेर्ष्यन्ताच्चडि रूपम् । वानरेन्द्रस्य सुग्रीवस्योपरि अमुचत्
मुक्तवान् । 'पुषादिद्युताद्य्लृदितः । ३ । १ । ५५ ।' इति लृदित्त्वादङ् । तत्र
वत्स्यां मुक्तायां मारुतिर्हनुमान् प्रापत्तन् प्रत्युपस्थितः । लृदित्त्वादङ् । 'पतः
पुम् । ७।१।१९ ।' इति पुमागमः । तां च विचद्रतामलासीत् आप्तवान् ।
'ला आदाने ।' 'यमरमनमातां सकृ च । ७।२।७३ ।' इति सगिटौ ॥ ५३ ॥

अथ द्वाभ्यां युग्मकम् ।

अशोभिष्टाचखण्डञ्च शक्तिं वीरो न चायसत् ।

लौहभारसहस्रेण निर्मिता निरकारि मे ॥ ५४ ॥

अशोभिष्टत्यादि—असौ गृहीतशक्तिर्वीरः अशोभिष्ट शोभते स्म । शक्ति-
मचखण्डञ्च भग्नवान् । 'खड खडि भेदने' चौरादिकः । तां च खण्डय-
न्नायसत् नायस्यति स्म । 'यसु प्रयत्ने ।' पुषादिः । लौहभारसहस्रेण
निर्मिता घटिता मम शक्तिर्निरकारि भग्ना अनेनेति रक्षः कुम्भकर्णाऽङ्कुष-
दिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ॥ ५४ ॥

शक्तिरत्यकुपद्रक्षो गिरिं चोदखनीद्रुम् ।

व्यसृष्ट तं कपीन्द्रस्य तेनामूर्च्छीदसौ क्षतः ॥ ५५ ॥

शक्तिरित्यादि—अकुपन् कुपितः 'कुप क्रोधे' पुषादिः । गिरिं च
गुरुमुदखनन् उखातवान् । 'अतो हलादेर्लघोः । ७।२।७।' इति वृद्धप-
भावपक्षे रूपम् । कपीन्द्रस्य सुग्रीवस्योपरि तं च गिरिं व्यसृष्ट विसृष्ट-
वान् । 'मृज विसर्गं' अनुदात्तेन् । तस्माद्बलन्तादात्मनेपदे सिचः कित्त्वे
गुणाभावः । असौ कपीन्द्रत्वेन क्षतः हतः सन् अमूर्च्छीन् मोहमुपगतः ॥ ५५ ॥

अलोठिट च भूपृष्ठे शोणितं चाप्यसुस्रुवत् ।

तमादायापलायिष्ट व्यरोचिष्ट च राक्षसः ॥ ५६ ॥

अलोठितेत्यादि—मूर्च्छितश्च भूपृष्ठे अलोठिट लुठते स्म । 'लुठ लुठ प्राति-
घाते ।' इति श्रुतादिः । 'शुद्धयो लुठि । १।३।९।१।' इति परस्मैपदविकल्पेनात्मने-
पदम् । अस्य शोणितं च व्यसृगवन् लुतम् । 'णिश्चिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ् ।
३।१।४।८।' इति चङ् । तं सुग्रीवभादाय राक्षसः कुम्भकर्णः अपलायिष्ट पलायते
स्म । व्यरोचिष्ट रोचते स्म । 'रुच दीप्तौ' ॥ ५६ ॥

अथ द्वाभ्यां युग्मकम्—

अभैषुः कपयोऽन्वारत्कुम्भकर्णं मरुत्मुतः ।

शनैरवोधि सुग्रीवः सोऽदुश्चीत्कर्णनासिकम् ॥ ५७ ॥

अभैषुरित्यादि—तस्मिन्नाते कपयोऽभैषुः भीताः । मरुत्मुतः कुम्भकर्ण-
मन्वारत् अनुगतः । अर्तः 'सर्तिशास्त्वितिभ्यश्च । ३।१।५।६।' इत्यङ् । 'कृदशोऽदि-
गुणः । ७।४।१।६।' इति गुणः । सुग्रीवः शनैर्भनागवोधि लक्ष्यमंजो वभूव । 'दीप-
जनबुधपूरितायिष्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् । ३।१।६।१।' इति बुधेः कर्तरि चिष् ।
स बुद्धः कर्णनासिकम् । प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः । अस्यादुश्चीन् कृत्त्वान् ।
राक्षसस्येति वक्ष्यमाणेन सन्वन्वः ॥ ५७ ॥

राक्षसस्य न चात्रासीत् प्रनष्टुमयतिष्ट च ।

अक्रोधि कुम्भकर्णेन पेष्टुमारम्भि च भित्तौ ॥ ५८ ॥

राक्षसस्येत्यादि—राक्षसस्य कुम्भकर्णस्य सन्वन्वे स सुग्रीवो न चात्रामीन्
न त्रस्तः । राक्षसान् प्रनष्टुं पलायितुम् । मन्त्रिनशोऽङ्गि । ७।१।६।०

इति नुम् । अयतिष्ठ च यतते स्म । कुम्भकर्णेनात्मनोऽवस्थां दृष्ट्वा अक्रोधि
 क्रुद्धम् । भावे लुङ् । श्रितौ च पेष्टुं चूर्णयितुं सुग्रीव आरम्भि आरब्धः ।
 कर्मणि लुङ् । 'रभेरशव्लितोः । ७।१।६३।' इति नुम् ॥ ५८ ॥

सुग्रीवोऽस्याभ्रशद्धस्तात्समगाहिष्ट चाम्बरम् ।

तूर्णमन्वसृपद्राममाननन्दञ्च वानरान् ॥ ५९ ॥

सुग्रीव इत्यादि—अस्य कुम्भकर्णस्य हस्तात् सुग्रीवः अभ्रशत् भ्रष्टः ।
 'भ्रशु भ्रंशु अधःपतने' पुषादिः । स चाम्बरंसाकाशमगाहिष्ट आक्रान्तवान् ।
 'गाहू विलोडने' अनुदात्तत् । तूर्णं च राममन्वसृपन् अनुगतः ।
 लृदिच्वाद्ङ् । वानरांश्च कर्णनासिककर्तनेनाननन्दत् तोषितवान् । नन्दतेर्ण्य-
 न्तस्य रूपम् ॥ ५९ ॥

अतत्वरञ्च तान्योद्धुमचिचेष्टञ्च राघवौ ।

कुम्भकर्णो न्यवर्तिष्ट रणेऽयुत्सन्त वानराः ॥ ६० ॥

अतत्वरदित्यादि—तांश्च वानरान् योद्धुमतत्वरत् त्वरयति स्म । 'मा
 विलम्बञ्चम्' इति । त्वरेर्ण्यन्ताच्चङ् । 'अन् स्मृदृत्वस्प्रथमदस्तृष्पशाम् । ७।४।९५।' इति
 अभ्यासस्य अत्त्वम् । राघवौ च रामलक्ष्मणौ योद्धुमचिचेष्टन् व्यापारयति
 स्म 'विभाषा वेष्टिचेष्टयोः । ७।४।९६।' इत्यभ्यासस्यात्वपक्षे रूपम् । स
 कुम्भकर्णो योद्धुं न्यवर्तिष्ट निवृत्तः । वृतिर्द्युतादिः । 'द्युद्धयो लुङि । १।३।९१।' इत्यात्मनेपदे नाङ् ।
 वानराश्चायुत्सन्त युध्यन्ते स्म ॥ ६० ॥

अविवेष्टन्नृपादेशादारुक्षंश्चाशु राक्षमम् ।

तानधावीत्समारूढांस्तेऽप्यस्रंसिषताकुलाः ॥ ६१ ॥

अविवेष्टन्नित्यादि—वानरा राक्षसमविवेष्टन् वेष्टयन्ति स्म । नृपादेशादाशु
 राक्षसमारूक्षन् आरूढाः । रूहः 'शल इगुपवादनितः कसः । ३।१।४५।' इति
 कसः । तांश्च वानरानारूढान् कुम्भकर्णोऽधावीत् धृतवान् । 'स्वरतिमूर्ति-
 सूयतिधूञ्छ्रुदितो वा । ७।२।४४।' इतीद् । 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु । ७।२।
 १।' इति वृद्धिः । ते व्याकुलाः सन्तोऽस्रंसिपते स्रस्ताः पतिता इत्यर्थः । 'भंमु
 ध्वंसु भ्रंमु अवचंसते' द्युतादिः । परस्मैपदाभावान्नाङ् ॥ ६१ ॥

अग्रसिष्ट व्यधाविष्ट समाश्लिष्यन्न निर्दयम् ।

ते चाप्यघोरिपुर्वोरं रक्तं चावमिपुर्मुखैः ॥ ६२ ॥

अग्रसिष्टत्यादि—कुम्भकर्णः काञ्चिद्ग्रसिष्ट प्रसते स्म । काञ्चिन्निर्दयं समाश्लिष्यन् । 'श्लिष्य आलिङ्गने' । 'द्विलपः । ३ । १ । ४६ ।' इति वसः । ते चाश्लिष्टाः महाघोरं, क्षुतिकटुम् अघोरिपुः शब्दमुक्तवन्तः । 'घुर भीमार्थशब्दयोः' इति तुदादिरनुदात्तेन् । रक्तं चावमिपुः चद्रीणवन्तः ॥ ६२ ॥

स चापि रुधिरैर्मत्तः स्वेषामप्यदयिष्ट न ।

आग्रदीच्चायुरन्येषामरुद्ध च पराक्रमम् ॥ ६३ ॥

स चेत्यादि—स चापि कुम्भकर्णः रुधिरैर्मत्तः स्वेषामपि नादयिष्ट न दयां कृतवान्, क्रिमपरेषाम् । 'अर्थागर्थदयेशां कर्मणि । २ । ३ । ५२ ।' इति पर्या । अन्येषां वानराणाम् आयुर्जावितमप्रहीन् गृहीत्वान् 'ह्यन्तक्षण-धसजागृणिश्येदिताम् । ७।२।५।' इति न वृद्धिः । 'अदाहीवायुः' इति पाठान्तरम् । तत्र तथाभूतं कुम्भकर्ण दृष्टवतामन्येषामायुरदोहीव स्वयं गतमिव । 'दुहृश्च । ३।१।६३।' इति कर्मकर्तरि चिष् । पराक्रमं चान्येषामरुद्ध च आवृतवान् । रुधेः कर्माभिप्राये तद् । 'झलो झलि । ८।२।१६।' इति सिचो लोपः । 'झपस्तथोर्थोऽथः । ८ । २ । ४० ।' । 'झलां जश् झशि । ८।४।५३।' ॥ ६३ ॥

संत्रस्तानामपाहारि सत्त्वं च वनवासिनाम् ।

अच्छेदि लक्ष्मणेनास्य किरीटं कवचं तथा ॥ ६४ ॥

संत्रस्तानामित्यादि—तेन च वनवासिनां सत्त्वमपाहारि अपट्टम् । सर्वेषां व्रस्तत्वात् । कर्मणि लुङ् । तथा लक्ष्मणेन अन्य कुम्भकर्णान्य किरीटं मुकुटं तथा कवचमच्छेदि छिन्नम् । कर्मणि लुङ् ॥ ६४ ॥

अथ द्वाभ्यां युग्मम् ।

अभेदि च शरैर्देहः प्राशंसीत्तं निशाचरः ।

अस्पर्धिष्ट च रामेण तेनास्यासिष्मतेपवः ॥ ६५ ॥

अभेदीत्यादि—देहश्चास्य लक्ष्मणस्य शरैः चरमभूतैर्भेदि छिन्नः । निशा-चरश्च तं लक्ष्मणं प्राशंसीत् स्तुतवान् । 'साधु भवता युद्धम्' इति । रामेण

कथं न्वजीविषुस्ते च स चामृत महाबलः ।

अयुयुत्सिषतश्चास्य कुमारा रावणं ततः ॥ ७३ ॥

कथमित्यादि—ते अल्पाः कथं नाम अजीविषुः जीविताः । स च कुम्भः-
कर्णो महाबलः अमृत मृतः । 'म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च ।१।३।६।१' इति तड् ।
'ह्रस्वादङ्गात् ।८।२।२७।' इति सिचो लोपः । अनन्तरं कुमाराः राक्षसराजपुत्रा
देवान्तकादयो रावणं शोचन्तमाश्वास्य अपनीतशोकं कृत्वा अयुयुत्सिषत
योद्धुमिष्टवन्तः । 'हलन्ताच्च ।१।२।१०।' इति सनः क्त्विम् । 'पूर्ववत्सनः ।
१।३।६२' इति तड् ॥ ७३ ॥

देवान्तकोऽतिकायश्च त्रिशिराः स नरान्तकः ।

ते चांहिषत संग्रामं बलिनो रावणात्मजाः ॥ ७४ ॥

देवान्तक इत्यादि—ते च बलिनो रावणात्मजाः देवान्तकोऽतिकायस्त्रिशिरा
नरान्तकश्चेति चत्वारः संग्राममांहिषत गतवन्तः । 'अहि गतौ ।' ॥ ७४ ॥

युद्धोन्मत्तं च मत्तं च राजा रक्षार्थमाञ्जिहत् ।

सुतानां निरगातां तौ राक्षसौ रणपण्डितौ ॥ ७५ ॥

युद्धेत्यादि—सुतानां रक्षार्थं राजा युद्धोन्मत्तं मत्तं च राक्षसम् आञ्जिहत्
प्रस्थापितवान् । अहतेर्णौ चङ्परे द्वितीयाञ्जिषिष्टस्य हीत्यस्य द्विर्वचनम् । तौ
राक्षसौ रणपण्डितौ निरगातां निर्गतौ । 'इणो गा लुङि ।२।४।४५।' ॥ ७५ ॥

तैरजेपत सैन्यानि द्विपोऽकारिपताकुलाः ।

पर्वतानिव ते भूमावचैर्पुर्वानरोत्तमान् ॥ ७६ ॥

तैरित्यादि—तैः राक्षसैः वानराणां सैन्यानि अजेपत जितानि । कर्माणि
लुङ् । अचिष्वद्भावपक्षे रूपम् । द्विष आकुला अकारिपत । ते राक्षसा
वानरोत्तमान् वानराणां प्रधानभूतान् पर्वतानिव भूमौ अचैपुः पुञ्जीकृतवन्तः ।
'चिञ् चयने' ॥ ७६ ॥

अङ्गदेन समं योद्धुमघटिष्ट नरान्तकः ।

प्रापिपद्राक्षसः प्राप्तं सोऽस्फोटीदङ्गदोरसि ॥ ७७ ॥

अङ्गदेनेत्यादि—नरान्तको राक्षसः रावणात्मजः अङ्गदेन सह योद्धुमघः

दिष्ट वदते स्म । राक्षसो नरान्तकः । प्राप्तं कुन्तं प्रेषिषन् । 'इषु गतौ' इत्यस्य
प्यन्तस्य चङि रूपम् । स प्राप्तोऽङ्गदोरसि अस्फोटान् विशीर्षः ॥७७॥

अश्वान् वालिसुतोऽहिंसीदत्ताडञ्च मुष्टिना ।

रावणिश्चाव्यथो योद्धुमारब्ध च महीं गतः ॥ ७८ ॥

अश्वानित्यादि—वालिमुतोऽङ्गदोऽश्वान् स्थयुक्तानहिंसीत् व्यापादितवान् ।
'नृद् द्विभ्रि हिंसायाम् ।' मुष्टिना पाणिना अतताडन् आहतवान् 'तड आघाते ।'
ताडनं ताडः । 'भात्रि । ३ । ३ । १८ ।' इति चञ् । ताडं करोतीति णिच् ।
पाविष्टवदिनि त्रिलोपः । 'र्णा चङ्गुपश्या ह्रस्वः । ७ । १ । १ ।' इति प्राप्ते 'नाग्लो-
पियान्मुदिताम् । ७ । १ । २ ।' इति ह्रस्वप्रतिषेधः । स च रावणि-
रव्यथो व्यथारहितः । हताश्चाद्रथादवर्ज्य महीं गतः सन् योद्धुमारब्ध
आरभते स्मा 'स्रलो झलिटाशरङ् ।' इति सिचो लोपेः धत्ववत्त्वे च रूपम् ॥७८॥

तस्याहारिपत प्राणा मुष्टिना वालिसूनुना ।

प्रादुद्रुवंस्ततः क्रुद्धाः सर्वे रावणयोऽङ्गदम् ॥ ७९ ॥

तस्येत्यादि—तस्य प्राणाः वालिपुत्रेण अहारिपत हताः । कर्मणि लुङ् ।
निष्पद्भायः । ततोऽनन्तरं सर्वे रावणयैः रावणस्यापत्यानि देवान्तकादयः
क्रुद्धाः सन्तोऽङ्गदं प्रादुद्रुवन् । 'णित्रिद्रुभ्यः कर्त्तरि चङ् । ३ । १ । ४८ ।'
इति चङ् ॥ ७९ ॥

परिधेनेत्यादि—अथ देवान्तको वली परिधेणावधिष्ट हतवान् । 'आङ्गो
यमहनः । १ । ३ । २८ ।' इति तद् । अविवक्षितकर्मकृत्वात् 'आत्मनेपदेष्व-
न्यतरस्याम् । २।४।४४। इति हनो वधादेशः । तस्य व्रतः प्रहरतो मूर्धानं
मारुतात्मजः हनुमान् मुष्टिना अददरत् दारितवान् । 'दृ विदारणे' ष्यन्त्य
चङ्परि णौ 'अत्स्मृदृत्वरप्रथमदस्तृस्पशाम् । ७।४।९५।' इत्यभ्यासत्यात्वम् ॥ ८१ ॥

अदीदिपत् ततो वीर्यं नीलं चापीपिडच्छरैः ।

युद्धोन्मत्तस्तु नीलेन गिरिणानायि संक्षयम् ॥ ८२ ॥

अदीदिपदित्यादि—ततो देवान्तकविनाशादनन्तरं युद्धोन्मत्तो राजसुतानां
रक्षार्थं यः प्रेषितः स वीर्यमदीदिपत् । 'भ्राजभासभाषदीपजीवमील-
पीडामन्यतरस्याम् । ७।४।३।' इति ह्रस्वाभावपक्षे रूपम् । नीलं
च शरैरपीपिडत् पीडितवान् । ह्रस्वाभावपक्षे रूपम् । अपीपरदिति पाठान्तरम् ।
पूरितवानित्यर्थः । 'प पूरणे' इति चुरादिः । स तु नीलेन वानरेण संक्षयं
गिरिणा अनायि नीतः कर्मणि लुङ् ॥ ८२ ॥

अवभ्राजत् ततः शक्तिं त्रिशिराः पवनात्मजे ।

हनूमता क्षतास्तस्य रणेऽमृपत वाजिनः ॥ ८३ ॥

अवभ्राजदित्यादि—ततोऽनन्तरं त्रिशिरा राक्षसो रावणकुमारः पवनात्म-
जविषयं शक्तिं वीर्यमवभ्राजत् दीपयति स्म । ' भ्राजभासभाषदीपजीवमी-
लपीडामन्यतरस्याम् । ७।४।३।' इति ह्रस्वाभावपक्षे रूपम् । तस्य वाजिनो रथ-
युक्ता रणे हनूमता हताः सन्तः अमृपत मृताः । 'म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च ।
३ । ३।६१ ।' इति तद् ॥ ८३ ॥

अस्रसच्चाहतो मूर्ध्नि खड्गं चाजी ।

प्राणानौज्जीचं खड्गेन छिन्नैस्तेनैव र्धभिः ॥ ८४ ॥

अस्रसदित्यादि—त्रिशिराश्च हनूमता मूर्ध्नि हतः सन् रथाद्भूमौ अस्र-
सत् रथाद्भूमौ स्रस्तः । 'द्युद्धयो लुङि । १।३।९१।' इति परस्मैपदम् । मुतादित्वा-
द्ङ् । क्विति इत्यनुनासिकलोपः । स्रस्तश्च स खड्गं हस्तस्थं द्विपा हनूमता
अजीहरत् हारितवान् । तेनैव च खड्गेन छिन्नैर्मूर्धभिर्हेतुभूतैः प्राणानौज्जीच-
त्यक्तवान् । 'उञ्ज उत्सर्गे' ॥ ८४ ॥

अथ द्वाभ्यां युग्मकम् ।

मत्तेनामारि सम्प्राप्य शरभास्तां महागदाम् ।

सहस्रहरिणाक्रीडीदति कायस्ततो रणे ॥ ८५ ॥

मत्तेनेत्यादि--शरभेण वानरेणैस्तां क्षिप्तां महागदां प्राप्य मत्तेन सुतानां रक्षार्थं प्रेषितेन राक्षसेनामारि मृतम् । भावे लुङ् । ततोऽनन्तरं अतिकायो राजपुत्रो रणे अक्रीडीत् विहरति स्म । रथेनेति वक्ष्यति । सहस्रं हरैर्योऽश्वा यस्य रथस्य ॥ ८५ ॥

रथेनाविव्यथञ्चारीन् व्यचारीञ्च निरङ्कुशः ।

विभीषणेन सोऽख्यायि राघवस्य महारथः ॥ ८६ ॥

रथेनेत्यादि--अरीञ्चाविव्यथत् पीडितवान् । व्यथेर्ण्यन्तस्य चङ्ङि रूपम् । निरङ्कुशञ्चाप्रतिहतशक्तिर्व्यचारीत् भ्राम्यति स्म । रान्तत्वाद्द्विः । स विचरन्महारथः विभीषणेन राघवस्य आख्यायि कथितः । कर्मणि लुङ् ॥ ८६ ॥

अतस्तम्भदयं वज्रं स्वयम्भुवमतूषत् ।

अशिक्षिष्ट महास्त्राणि रणेऽरक्षीञ्च राक्षसान् ॥ ८७ ॥

अतस्तम्भदित्यादि--अयं स्वशक्त्या वज्रम् अतस्तम्भत् । तम्भितवान् 'स्तभि स्कभि प्रतिष्टम्भे ।' ण्यन्तस्य णिःश्रिद्रुसुभ्यः कर्त्तरि चङ् । ३ । १ । ४८ ।' इति चङ् । स्वयम्भुवमतूषत् । उभ्रेण तपसा आराधनात् तोषितवान् । 'तुष प्रीतौ' ण्यन्तः । महास्त्राणि दिव्यानि चाशिक्षिष्ट शिक्षते स्म । 'शिक्ष विद्योपादाने' रणे च राक्षसानरक्षीत् रक्षति स्म ॥ ८७ ॥

अध्यगीष्टार्थं शास्त्राणि यमस्याहोष्ट विक्रमम् ।

देवाहवेष्वदीपिष्ट नाजनिष्टास्य साध्वसम् ॥ ८८ ॥

अध्यगीष्टेत्यादि--अर्थशास्त्राणि पराभिसन्धानार्थानि अध्यगीष्ट अधीतवान् । विभाषा लुङ्लङ्ङोः । २ । १४ । ५० ।' इति इङ्ङो गाढादेशः । यमस्याप्ययं विक्रममहोष्ट अपनीतवान् । 'हुङ् अपनयने ।' अहलन्तत्वात्सिचो न कित्त्वम् । देवाहवेष्वदीपिष्ट शोभितः । अस्य च साध्वसं भयं नाजनिष्ट न जातम् । 'दोपजन्वुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् । ३ । १ । ६१ ।' इति चिष्ववद्भावपक्षे रूपम् ॥ ८८ ॥

एष रावणिरापादि वानराणां भयङ्करः ।

आह्वताऽथ स काकुत्स्थं घनुश्चाऽपुस्फुरद् गुरु ॥ ८९ ॥

१ 'असु क्षेपणे' क्तः । २ 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहाशुवाजिषु । शुकाहिकपि-भकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु ॥' इत्यमरः ।

एष इत्यादि—य एवं स रावणिः रावणात्मजः आपादि अस्माकं समी-
पमागतः । 'पद् गतौ' । 'चिण् ते पदः । ३ । १ । ६०' इति चिण् ।
यतो रावणिर्वानराणां भयङ्करः । अथ सोऽतिकायः समीपमागतः
काकुत्स्थमाहृत युद्धायाहृतवान् 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् । ३ । १ । ५४' ।
इत्यङ् । धनुश्च गुरु महदपुस्फुरत् स्फारितवान् । 'चिस्फुरोर्णौ । ६ ।
१ । ५४' इत्यात्वम् ॥ ८९ ॥

सौमित्रिः सर्पवत् सिंहमार्दिदत् तं महाऽऽह्वे ।

तौ प्रावीवृततां जेतुं शरजालान्यनेकशः ॥ ९० ॥

सौमित्रिरित्यादि—यथा सर्पः सिंहं गच्छति तद्वत्तमतिकायमार्दिदत् गत-
वान् । 'अर्द गतौ ।' अर्दनमर्दः । तत्करोतीति णिच् । तदन्ताच्चडि रूपम् ।
'अर्द हिंसायाम्' इति चौरादिको वा । तौ सौमित्र्यतिकायौ जेतुं शरजालानि
प्रावीवृततां वह्नानि प्रवर्तितवन्तौ 'उर्कत् । ७ । ४ । ७ ।' इति 'णौ
चङ्युपधाया' अपवाद ऋकारः ॥ ९० ॥

अच्छैत्तां च महाऽऽत्मानौ चिरमश्रमतां न च ।

तथा तावास्थ्यतां वाणानतानिष्टां तमो यथा ॥ ९१ ॥

अच्छैत्तामित्यादि—तौ च महात्मानौ परस्परस्य शरजालानि अच्छैत्तां
छिन्नवन्तौ । 'इरितो वा । ३ । १ । ५७' इत्यङ्भावपक्षे रूपम् । 'झलो शठि
। ८ । २ । २६' इति सिचो लोपः । चिरं चिरेणापि नाश्रमतां न श्रान्तौ ।
श्रमिः पुषादिः । तौ तथा वाणावास्थ्यतां क्षिप्तवन्तौ । 'अस्यतिवक्ति-
ख्यातिभ्योऽङ् । ३ । १ । ५२' इत्यङ् 'अस्यतेऽथुक् । ७ । ४ । १७' यथा
अन्धकारमतानिष्टां विस्तारितवन्तौ । 'अतो हलादेश्वोः । ७ । २ । ७ ।'
इति वृद्धिविकल्पः ॥ ९१ ॥

सौर्याग्नेये व्यकारिष्टामस्त्रे राक्षसलक्ष्मणौ ।

ते चोपागमतां नाशं समासाद्य परस्परम् ॥ ९२ ॥

सौर्याग्नेये इत्यादि—राक्षसः सौर्यं सूर्यदेवताकमन्त्रं व्यकारीत् विधि-
तवान् 'कृ विश्वे' । लक्ष्मणोऽप्याग्नेयम्, इत्येवं तौ व्यकारिष्टाम् । ते चाग्ने
परस्परमासाद्य प्राप्य नाशमुपागमताम् । लङित्त्वादङ् ॥ ९२ ॥

१ 'अत इञ् ४ । १ । ९५' इतीञ् । २ एतादृश उपमानोपमेयभावः 'कुमारा
विशिखा इव' इतिवत् न रमणीयः ।

अविभ्रजत् ततः शस्त्रमैषीकं राक्षसो रणे ।

तदप्यध्वसदासाद्य माहेन्द्रं लक्ष्मणेरितम् ॥ ९३ ॥

अविभ्रजदित्यादि—ततोऽनन्तरं रावणिः ऐषीकमस्त्रम् । इषीका इदम् । तत्सर्वस्त्रोतःसु प्रविशत् जीवितंमपहरति । रणे अविभ्रजत् दीपि वान् । ‘भ्राजभासभाषदीपजीवमीलपीडामन्यतरस्याम् । ७ । ४ । ३ । इत्युपधायां ह्रस्वत्वम् । तदपि अध्वसत् ध्वस्तम् । ध्वसिर्द्युतादिः लक्ष्मणेरितं लक्ष्मणप्रेरितं माहेन्द्रमस्त्रमासाद्य तद्गतरोधं कृत्वा ध्वंसय स्म ॥ ९३ ॥

ततः सौमित्रिरस्मार्षीददेविष्ट च दुर्जयम् ।

ब्रह्मास्त्रं तेन मूर्धानमदध्वंसन्नराद्विषः ॥ ९४ ॥

तत इत्यादि—अनन्तरं सौमित्रिः दुर्जयम् अनभिभवनीयं ब्रह्मास्त्रं मस्मार्षीत् स्मरति स्म । ‘सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु । ७ । २ । १ ।’ तच्च स्मरणादु स्थितम् अदेविष्ट द्योतते स्म । ‘तेव देवृ देवने’ इत्यनुदात्ते द्योतने द्रष्टव्यैः देवनस्यानेकार्थत्वात् । तेन च ब्रह्मास्त्रेण प्रयोजककर्त्रा नरद्विषो राक्षसस मूर्धानमदध्वंसत् पातितवान् सौमित्रिः । हेतुमण्यन्ताच्चङ्ङि रूपम् ॥ ९४ ॥

ततोऽक्रन्दीदशग्रीवस्तमाशिश्चसदिन्द्रजित् ।

निरयासीच्च संकुद्धः प्रार्चितच्च स्वयम्भुवम् ॥ ९५ ॥

तत इत्यादि—ततः सुतमरणानन्तरं दशग्रीवः अक्रन्दीत् रोदिति स्म तं च क्रन्दन्तमिन्द्रजिदाशिश्चसत् आश्वासितवान् । ‘मयि जीवति किं वृथ जनवद्रोदिषि’ इति । हेतुमण्यन्तस्य चाङ्ङि रूपम् । संकुद्धश्च निरयासीत् रावणगृहान्निर्गतः । ‘या प्रापणे’ । निर्गत्य च स्वगृहे स्वयम्भुवं ब्रह्मा प्रार्चित् पूजितवान् । ‘अर्चं पूजायाम्’ इति चुरादेः । ‘चङ्ङि । ६ । १ । १ ।’ इति अजादिद्विर्वचनम् ॥ ९५ ॥

अहौषीत्कृष्णवर्त्मानं समयष्टास्त्रमण्डलम् ।

सोऽलब्ध ब्रह्मणः शस्त्रं स्यन्दनं च जयावहम् ॥ ९६ ॥

अहौषीदित्यादि—कृष्णवर्त्मानमग्निमहौषीत् हव्येन प्रीणितवानित्यर्थः । अस्त्रमण्डलम् आयुधग्रामं समयष्ट पूजितवान् । स इन्द्रजित् ब्रह्मणः सकाशात्

१ प्रकृतानुगुण्यमपेक्ष्येदमुक्तम् । २ नरान्तकस्य । ३ ‘वर्हिः शुष्मा कृष्णवर्त्मानं’ इत्यमरः ।

जयावहमल्लं स्यन्दनं चालव्य लब्धवान् । 'झलो झलि । ८।२।२६।'
इति सिचो लोपः ॥ ९६ ॥

तमध्यासिष्ट दीप्राप्रममोदिष्ट च रावणिः ।

छन्नरूपस्ततोऽकर्तीदेहान् रावणविद्विषाम् ॥ ९७ ॥

तमित्यादि--तं स्यन्दनं दीप्राप्रम् उपरिभागस्य रत्नप्रत्युप्तत्वात् । अध्या-
सिष्टे अध्यासितवान् । 'अधिशोङ्स्थासां कर्म । १।४।४६।' इति कर्मसंज्ञा ।
तत्रत्यश्च रावणिरिन्द्रजित् अमोदिष्ट हृष्टवान् । ततोऽसौ छन्नरूपः
अदृश्यः सन् रावणविद्विषां वानराणां देहानकर्तीत् छिन्नवान् । 'कृती
छेदने ।' 'सेऽसिचि कृतचृतच्छृदृदृदृत्तः । ७।२।५७।' इति सिचाऽन्यत्रेडिक-
कल्पः । 'रावणिविद्विषाम्' इति पाठान्तरम् । तत्र देवान्तकादि-
विद्विषामित्यर्थः ॥ ९७ ॥

सप्तपष्टिं प्लवङ्गानां कोटीर्वाणैरसूपुत् ।

निशान्ते रावणिः क्रुद्धो राघवौ च व्यमूमुहत् ॥ ९८ ॥

सप्तपष्टिमित्यादि--वानराणां कोटीः सप्तपष्टिं वाणैरसूपुत् स्वपित-
वान् व्यापदितवानित्यर्थः । 'स्वापेच्चडि । ६।१।१८।' इति सम्प्रसारणम् ।
निशान्ते च निशावसाने रावणिः क्रुद्धः सन् राघवौ व्यमूमुहन् मोहितवान्
'मुह वैचिखे' णौ चडि रूपम् ॥ ९८ ॥

अपिस्फवत् स्वसामर्थ्यमगूहीत्सायकैर्दिशः ।

अघोरीञ्च महाघोरं गत्वा प्रैपीञ्च रावणम् ॥ ९९ ॥

अपिस्फवदित्यादि--ता मोहयित्वा आत्मीयं सामर्थ्यमपिस्फवत् वर्ध-
यति स्म । 'ईदृशस्तादृशोऽहम्' इति । 'स्फायो वः । ७।३।४१।' इति
णौ वत्वम् । दिशः सायकैरगूहीन् छादितवान् । 'नेटि । ७।१।४।' इति
वृद्धिप्रतिषेधः । ह्यन्तत्वाद्वा । महाघोरं चातिरोद्रे शब्दमघोरीन् मुक्तवान् ।
गत्वा च लङ्कां रावणं प्रैपीन् प्रेषितवान् । 'गच्छ तन् मनाद्भुतपराक्रमं द्रष्टुम्'
इति । 'इषु गतौ' ॥ ९९ ॥

१ वाणैः । 'शरे सङ्गे च सायकः ।' इत्यमरः । 'योऽन्तर्क्रमणि' 'पुल्लुवौ ३।१।
३३।' इति ष्वल् । 'शायकैः' इति पाठे तु 'शो तन्करणे' इत्यस्य स्मृत् । उभयत्र
'भ्रातो युक् चिष्कृतोः ७।३।३३।' इति युद्ध ।

अथ द्वाभ्यां युगसकम् ।

विभीषणस्ततोऽबोधि सस्फुरौ रामलक्ष्मणौ ।

अपारीत्स गृहीतोल्को हतशेषान् प्लवङ्गमान् ॥ १०० ॥

विभीषण इत्यादि--ततस्तास्मिन् काले विभीषणः रामलक्ष्मणौ सस्फुरौ चलन्तौ अबोधि बुद्धवान् जीविताविति । 'दीपजनबुधपूरिताधिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् । ३।१।६१।' इति कर्तरि चिण् । स्फुरणं स्फुरः । घञर्थे कविधानम् । यदुक्तम् 'स्थास्नागाव्यधिहिनियुध्यर्थ' इति तदुपलक्षणं न परिगणनम् । स विभीषणः अन्धकारात् गृहीतोल्कः सन् हतशेषान् प्लवङ्गमानपारीत् 'मा भैष्ट' इति प्रीणितवान् ॥ १०० ॥

मा शोचिष्ट रघुव्याघ्रौ नामृषातामिति ब्रुवन् ।

अवाबुद्ध स नीलादीन् निहतान् कपियूथपान् ॥ १०१ ॥

मा शोचिष्टेत्यादि--यूयं मा शोचिष्ट शोकं मा कुरुत । 'माङि लुङ् । ३।१।७५।' यस्माद्रघुव्याघ्रौ नामृषातां न मृतौ इत्येवं ब्रुवन् अपारीदिति योज्यम् । ये च निहतास्तानीलादीन् कपियूथपान् स विभीषणः परिभ्रमन् अवाबुद्ध अवबुद्धवान् । एते हता इति । 'दीपजनबुधपूरिताधिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् । ३।१।६१।' इति चिणो विकल्पितत्वादभावपक्षे रूपम् ॥ १०१ ॥

तत्रैषज्जाम्बवान् प्राणदिदमीलीञ्च लोचने ।

पौलस्त्यं चागदीत् कच्चिदजीवीन् मारुतात्मजः ॥ १०२ ॥

तत्रेत्यादि--तत्र तेषु जाम्बवान् ईर्षन्मनाक् प्राणीत् उच्छ्वसिति स्म । 'अन प्राणने ।' 'अनितेः । ८।४।१९।' इति णत्वम् । लोचने च उदमीलीत् उन्मीलितवान् । 'मील क्ष्मील निमेषणे' । पौलस्त्यं विभीषणञ्चागदीत् गदितवान् । 'गद् व्यक्तायां वाचि' 'अतो हलादेर्लघोः । ७।२।७।' इत्यवृद्धौ रूपम् । कच्चित् किं हनुमान् अजीवीत् जीवितवान् । न मृत इति भावः ॥ १०२ ॥

तस्य क्षेमे महाराज ! नामृषमह्यखिला वयम् ।

पौलस्त्योऽशिश्रवत्तं च जीवन्तं पवनात्मजम् ॥ १०३ ॥

तस्येत्यादि—तस्य हनुमतः क्षेमे जीवितत्वे सति हे महाराज ! अखिलाः सर्वे एव वयं नामृषमहिं न मृता इति । ‘आशंसायां भूतवच्च ।३।३।१३२।’ इति लुङ् । एवमुक्तः पौलस्त्यो विभीषणः जीवन्तं पवनात्मजं हनुमन्तं तमशिश्रवत् श्रावितवान् शृणोतेर्ष्यन्ताच्चडि सन्वद्भावे अभ्यासेवर्गस्य ‘स्रवतिशृणोतिद्रवतिप्रवतिप्लवतिच्यवतीनां वा । ७ । ४ । ८१ ।’ इतीत्वपक्षे रूपम् ॥ १०३ ॥

अथ द्वाभ्यां युगमकम्—

आयिष्ट मारुतिस्तत्र तौ चाप्यहृषतां ततः ।

प्राहैष्टां हिमवत्पृष्ठे सर्वौषधिगिरिं ततः ॥ १०४ ॥

आयिष्टेत्यादि—तत्र पौलस्त्येन विभीषणेन । आहूतो मारुतिरायिष्ट आगतवान् । ‘अय गतौ’ आङ्पूर्वः । ततोऽनन्तरं तौ जाम्बवद्विभीषणौ अहृषतां हृष्टवन्तौ । ‘हृष तुष्टौ’ पुषादिः । ततस्तौ हृष्टौ हनुमन्तमिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । प्राहैष्टां प्रहितवन्तौ । ‘सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु । ७ । २ । १ ।’ ‘इ गतौ’ । हिमवत्पृष्ठे हिमवतः पृष्ठे । सर्वौषधिगिरिम् । सर्वा ओषधयो यस्मिन्निति ॥ १०४ ॥

तौ हनूमन्तमानेतुमोषधीं मृतजीविनीम् ।

सन्धानकरणीं चान्यां विशल्यकरणीं तथा ॥ १०५ ॥

तावित्यादि—या मृतं जीवयति या च क्षतस्य सन्धानं करोति तथा विशल्यं च यां करोति । ‘कृत्यल्युटो बहुलम् । ३ । ३ । १३३ ।’ तामोषधी-मानेतुं प्राहैष्टामिति योज्यम् । ‘ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम् । ६ । ३ । १३२ ।’ इति दीर्घत्वम् ॥ १०५ ॥

प्रोदपाति नभस्तेन स च प्रापि महागिरिः ।

यस्मिन्नज्वलिषू रात्रौ महौषध्यः सहस्रशः ॥ १०६ ॥

प्रोदपातीत्यादि—तेन हनूमता नभः प्रोदपाति उत्पतितम् । स च महा-गिरिस्तेन प्रापि प्राप्तः । कर्मणि लुङ् । यस्मिन् गिरौ महौषध्यः सहस्रशोऽनेकधा रात्रावज्वलिषुः दीप्यन्ते स्म । ‘अतो ल्रान्तस्य । ७ । २ । २ ।’ इति वृद्धिः ॥ १०६ ॥

निरचायि यदा भेदो नौषधीनां हनूमता ।

सर्वे एव समाहारि तदा शैलः सहौषधिः ॥ १०७ ॥

निरचायीत्यादि—यदा हनूमता ओषधीनां भेदो न निरचायि विशेषतो न
निश्चितः तदा सर्व एव शैलः सहोपधिरोषधिसहितः समाहारि समानीतः ॥ १०७ ॥

प्राणिषुर्निहताः केचित् केचित्तु प्रोदमीलिषुः ।

तमोऽन्येऽहासिषुर्योधा व्यजृम्भिषत चापरे ॥ १०८ ॥

प्राणिषुरित्यादि—यदा ओषधिसन्निधात् ते निहताः केचिद्योधाः प्राणिषुः
रच्छसितवन्तः । केचित्तु प्रोदमीलिषुः उन्मीलितलोचना वभूवुः । अन्ये
तमो मोहमहासिषुः त्यक्तवन्तः । ‘यमरमनमातां सक च । ८ । २ । ७३ ।’
इति सगिटौ । तथान्येऽहासिषुरिति पाठान्तरम् । ते तथाभूतमात्मानं
दृष्ट्वा सविलासं हसितवन्तः । अपरे व्यजृम्भिषत जृम्भिकां कृतवन्तः ।
‘जृम्भि—जभी गात्रविनामे’ इत्यात्मनेपदी ॥ १०८ ॥

अजिघ्रपंस्तथैवाऽन्यानोषधीरालिपंस्तथा ।

एवं तेऽचेतिषुः सर्वे वीर्यं चाधिषताधिकम् ॥ १०९ ॥

अजिघ्रपन्त्रित्यादि—तथान्यान् लब्धसंज्ञानोषधीरजिघ्रपन् घ्रापितवन्तः ।
नासिकयाभ्यवहारितवन्त इत्यर्थः । ‘गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्मा-
कर्मकाणामणि कर्ता स णौ । १ । ४ । ५२ ।’ इति प्रत्यवसाने कर्मसंज्ञा ।
‘जिघ्रतेर्वा । ७ । ४ । ६ ।’ इति णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः । ७ । ४ । १ ।’ इत्य-
कारः । तथालिपन् लिप्तवन्तः अन्यानोषधीभिरित्यर्थात् । ‘लिपिसिचि-
ह्रश्च । ३ । १ । ५३ ।’ इत्यङ् । एवमनेन प्रकारेण सर्वेऽचेतिषुः संज्ञां लब्ध-
वन्तः । ‘चिती संज्ञाने ।’ अधिकं च वीर्यमोपधिवलादधिपत दधति स्म ।
‘स्थाच्चोरिच्च । १ । ४ । १७ ।’ इतीत्वम् ॥ १०९ ॥

अजिह्वदत्स काकुत्स्थौ शेषांश्चाजीजिवत् कपीन् ।

हनूमानथ ते लङ्कामग्निनादीदिपन् द्रुतम् ॥ ११० ॥

अजिह्वददित्यादि—एवं च सति हनूमान् काकुत्स्थावजिह्वदत् हादितवान् ।
‘हादो सुखे’ ण्यन्तः । शेषांश्च कपीन्जीजिवत् जीवयति स्म । अथ ते
जीविताः सन्तः लङ्कां द्रुतमदीदिपन् दीपितवन्तः । ‘भ्राजभासभाषदीपजीवमी-
लपीडाऽमन्यतरस्याम् । ७ । ४ । ३ ।’ इति ह्रस्वपक्षे रूपम् ॥ ११० ॥

१ ‘परौ भुवोऽवज्ञाने’ इत्येतच्छास्त्रघटकावज्ञानपदसामर्थ्यकल्पितेन ‘धातू-
नामने स्मार्थत्वात्’ इति दचनेन प्रकृते ‘घ्रा’ धातोः प्रत्यवसानार्थत्वमादाय अस्य शास्त्र-
स्य प्रवृत्तिः ।

समनात्सीत्ततः सैन्यममार्जीद्भल्लतोमरम् ।

अमार्क्षीच्चासिपत्रादीनवभासत्परश्वधान् ॥ १११ ॥

समनात्सीदित्यादि-ततः सैन्यं समनात्सीत् सन्नद्धम् । 'नहो धः । ८।२।३४।' इति धत्वम् । हलन्तलक्षणा वृद्धिः । भल्लतोमरममार्जीत् शोधितवान् । मृजेरुदित्वादिद् पक्षे रूपम् । असिपत्रादीनमार्क्षीत् । इडभावे रूपम् उभयत्रापि 'मृजेवृद्धिः । ७।२।११४।' परश्वधानवभासत् दीपितवान् 'भ्राजभासभाषदीपजीवमीलपीडामन्यतरस्याम् । ७।४।३।' इति ह्रस्वपक्षे रूपम् अभासीच्चेति पाठान्तरम् । तत्रान्तर्भावितो प्यर्थः ॥ १११ ॥

कुम्भकर्णसुतौ तत्र समनद्धां महावलौ ।

निकुम्भश्चैव कुम्भश्च प्रापतां तौ प्लवङ्गमान् ॥ ११२ ॥

कुम्भकर्णेत्यादि-कुम्भश्चैव निकुम्भश्च कुम्भकर्णस्य सुतौ महावलौ तः सैन्येसमनद्धां सन्नद्धौ । तौ च प्लवङ्गमान् प्रापतां प्राप्तवन्तौ । लृदित्त्वा दङ् ॥ ११२ ॥

अगोपिष्ठां पुरीं लङ्गामगौप्तां रक्षसां बलम् ।

अत्याक्तामायुधानीकमनैष्ठां च क्षयं द्विषः ॥ ११३ ॥

अगोपिष्ठामित्यादि-लङ्गां च पुरीम् अगोपिष्ठां रक्षितवन्तौ । गुपेरुदित्त्वादिद्पक्षे रूपम् । अगौप्तामितिडभावपक्षे रूपम् । हलन्तलक्षणा वृद्धिः । 'झल्ले झलि । ८।२।२६।' इति सिचो लोपः । आयुधानीकम् आयुधसमूहमत्याक्तां त्यक्तवन्तौ विसृष्टवन्तौ । 'त्यज हानौ' । पूर्ववद्धृद्धिः सिचं लापः । शकृन् क्षयमनैष्ठां नीतवन्तौ । 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदे । ७।२।१।' इति वृद्धिः ॥ ११३ ॥

अकोकूयिष्ट तत्सैन्यं प्रपलायिष्ट चाकुलम् ।

अच्युतच्च क्षतं रक्तं हतं चाध्यशयिष्ट गाम् ॥ ११४ ॥

अकोकूयिष्टेत्यादि-तत् सैन्यं प्लवङ्गमानां भयादकोकूयिष्ट भृशं शब्दकृतवत् । 'कुङ् शब्दे' इत्यस्मात् यङ्यभ्यासस्य 'न क्वतेर्यङि । ७।४।६३।' इति कुङश्चुत्वप्रतिषेधः । ततो यङन्ताल्लङ् । प्रपलायिष्ट पलायते स्म ।

१ 'अनीकोऽस्त्री रणे सैन्ये' इति मेदिन्याद्युक्त्यानीकशब्दस्य समूहावाचित्वेऽपि लक्षणया प्रकृतोऽर्थः समर्थनीयः । प्रयोजनं तु लक्षणाया भयातिशयद्योतनरूपमेव ।

अनादेरङ्गस्य । 'आडजादीनाम् । ६।४ । ७२ ।' इत्याट् प्रपरयोरनङ्गत्वाच्च ।
 'उपसर्गस्यायतौ । ८।२।१९।' इति लत्वम् । क्षतं च खण्डितं च सत्
 रक्तमच्युतत् क्षरति स्म । 'इरितो वा । ३।१।५७।' इत्यङ् । हतं च निहतं
 सत् गामध्यशयिष्ठ भूमौ पतितम् । 'अधिशीड्स्थासां कर्म । १।४।४६।'
 इति कर्मसंज्ञा ॥ ११४ ॥

अङ्गदेनाहसातां तौ युध्यकम्पनकम्पनौ ।

अभ्यार्दीद्वालिनः पुत्रं प्रजङ्घोऽपि समत्सरः ॥ ११५ ॥

अङ्गदेनेत्यादि-अकम्पनः कम्पनश्च तौ । ज्येष्ठत्वात् पूर्वनिपातः । युधि
 संग्रामे अङ्गदेन अहसाताम् । कर्मणि लुङ् । 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् ।
 २।४।४४।' इति वधादेशाभावपक्षे रूपम् । प्रजङ्घो नाम राक्षसः सम-
 त्सरः सक्रोधः वालिनः पुत्रमभ्यार्दीत् प्रहृतवान् । 'अर्दं हिंसा-
 याम्' ॥ ११५ ॥

तस्याप्यवेभिदिष्टासौ मूर्धानं मुष्टिनाङ्गदः ।

अहार्षीच्च शिरः क्षिप्रं यूपाक्षस्य निराकुलः ॥ ११६ ॥

तस्यत्यादि-तस्य प्रजङ्गस्थापि मूर्धानंमसावङ्गदो मुष्टिनावेभिदिष्ट अत्यर्थं
 भिन्नवान् । भिदर्थेडन्तस्य 'यस्य हलः । ६।४।४९।' 'अतो लोपः । ६।४।४८।'
 इति यलोपे रूपम् । निराकुलश्च नाम वानरः यूपाक्षस्य राक्षसस्य शिरः क्षिप्र-
 महार्षीत् छिन्नवान् ॥ ११६ ॥

शरीरं लोहिताक्षस्य न्यभाङ्गीद्विविदस्तदा !

कुम्भः कुम्भस्ततोऽभैत्सीन्मैन्दं सद्विविदं शरैः ॥ ११७ ॥

शरीरमित्यादि-द्विविदो नाम वानरो लोहिताक्षस्य शरीरं न्यभाङ्गीत्
 चर्णितवान् । 'भञ्जो आमर्दने' ततोऽनन्तरं कुम्भः कुम्भकर्णसुतः मैन्दं वानरं
 सद्विविदं द्विविदेन सह शरैरभैत्सीत् भिन्नवान् ॥ ११७ ॥

अथ युग्मकम् ।

आघूर्णिष्टां क्षतौ, क्षमां च तावाशिश्रियतामुभौ ।

मातुलौ विह्वलौ दृष्ट्वा कुम्भं वालिसुतो नगैः ॥ ११८ ॥

आघूर्णिष्टामित्यादि-तामुभौ क्षतौ आघूर्णिष्टां चक्रवद् भ्रान्तौ ।
 क्षमां भूतलं चाशिश्रियताम् आश्रितवन्तौ । भूमौ पतितावित्यर्थः । 'णिश्रिदुच्युभ्यः

कर्तारि चङ् ।३।१।४८।' इति चङ्। तौ च ताराभ्रातृत्वात् मातुलौ विह्वलौ दृष्ट्वा
वालिसुतो अङ्गदः नगैर्वृक्षैः कुम्भं प्रौर्णावीदिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः॥११८॥

प्रौर्णावीच्छरवर्षेण तानपौहीन्निशाचरः ।

वानरानैजिहद्रामस्तूर्णं रक्षितुमङ्गदम् ॥ ११९ ॥

प्रौर्णावीदित्यादि--प्रौर्णावीत् छादितवानित्यर्थः । 'विभाषोणोः । १ । २ ।
३ ।' इत्याङित्वपक्षे रूपम् । स च निशाचरस्तान्नगान् शरवर्षेणापौहीत्
निरस्तवान् । 'उपसर्गादस्यत्यूहोर्वा वचनम्' इत्यात्मनेपदविकल्पः ।
रामश्च तद्वनुष्कौशलं दृष्ट्वा अङ्गदं रक्षितुं तूर्णं वानरानैजिहत् व्यापारितवान् ।
ईहतिर्ण्यन्तः ॥ ११९ ॥

द्रुतमत्रास्त सुग्रीवो भ्रातृव्यं शत्रुसङ्कटात् ।

मुष्टिना कौम्भकर्णं च क्रुद्धः प्राणैरतित्यजत् ॥ १२० ॥

द्रुतमित्यादि--सुग्रीवस्तस्माच्छत्रुसङ्कटात् भ्रातृव्यं भ्रातुरपत्यम् । 'भ्रातु-
व्यञ्च । ४ । १ । १४४ ।' द्रुतमत्रास्त रक्षितवात् । अग्रतो भूत्वा । 'त्रैङ्
पालने ।' कौम्भकर्णं कुम्भकर्णपुत्रं कुम्भं क्रुद्धः सन् मुष्टिना प्राणैरतित्यजत्
त्याजितवान् । त्यजिर्ण्यन्तः ॥ १२० ॥

निकुम्भो वानरेन्द्रस्य प्राहैषीत्परिधं ततः ।

हनूमांश्चापतन्तं तमभाङ्गीद्भोगिभीषणम् ॥ १२१ ॥

निकुम्भ इत्यादि--ततो भ्रातृवधात् निकुम्भो वानरस्य सुग्रीवस्य परिधं
प्राहैषीत् प्रहितवान् । 'हि गतौ ।' परिधंमापतन्तं निकुम्भात् । भोगिभीषणम्
अहिवत् भीषणम् हनूमानभाङ्क्षीत् भग्नवान् ॥ १२१ ॥

प्रौर्णुवीत्तेजसारातिमरासीच्च भयङ्करम् ।

ग्रीवां चास्य तथाक्राक्षीदजिजीवद्यथा न तम् ॥ १२२ ॥

प्रौर्णुवीदित्यादि--परिधं च हनूमान् तेजसा प्रौर्णुवीत् अभिभूतवान् ।
ङित्वाद्बृद्धिगुणपक्षे रूपम् । भयंकरं चारासीत् शब्दितवान् । अस्य निकुम्भ-
स्य च ग्रीवां तथाक्राक्षीत् आकृष्टवान् । अमागमपक्षे रूपम् । यथा तं नाजिजी-
वत् न जीवति स्म । ग्रीवामाकृष्यैव व्यापादितवानित्यर्थः । 'भ्राजभासमाप-
दीपजीवमीलपीडामन्यतरस्याम् ।३।२।१७७।' इत्यह्रस्वपक्षः ॥ १२२ ॥

समगत कपिसैन्यं सम्मदेनातिमात्रं

विट्पहरिणनाथः सिद्धिमौहिष्ट नित्याम् ।

नृपतिमतिररंस्त प्राप्तकामेव हर्षात्

रजनिचरपतीनां सन्ततोऽतायि शोकः ॥ १२३ ॥

इति श्रीमहावैयाकरणभट्टिप्रणीते रामचरिते काव्ये

तिङ्काण्डे लुङ्खिलसितो नाम

षड्चदशः सर्गः । ॥ १५ ॥

समगतेत्यादि—प्रधानयोधा निहता इति सम्मदेन हर्षेणातिमात्रमत्यर्थं
समगत संगतं कपिसैन्यम् । 'समो गम्यच्छिभ्याम् ।१।३।१५।' इति तङ् ।
'वा गमः ।१।२।१३।' इति सिचः कित्त्वेऽनुचासिकलोपः । 'ह्रस्वादङ्गान्
।८।२। २७ ।' इति सिचो लोपः । विट्पहरिणनाथः शाखामृगाणां
नाथः नित्यां सिद्धिमवश्यं भाविनीमौहिष्ट तर्कितवान् । नृपतिमतिः राम-
स्य बुद्धिः प्राप्तकामेव संपन्नेच्छेव रावणवधसीतालाभयोः सिद्धिरूपत्वात् ।
हर्षादरंस्त रमते स्म । रजनिचरपतीनां मेघनादादीनां शोकः सन्ततो-
विच्छिन्नः अतायि वर्धते स्म । 'दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम्
।३।१।६।१।' इति कर्तरि चिण् ॥ १२३ ॥

इति श्रीजयमङ्गलासूरिविरचितया जयमङ्गलाख्यया व्याख्यया समलंकृते

श्रीभट्टिकाव्ये चतुर्थे तिङन्तकाण्डे लक्षणरूपे द्वितीयः परिच्छेदः,

लक्ष्यरूप कथानके 'कुम्भकर्णवधो' नाम

षड्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

१ 'मुत्प्रातिः प्रमदो हर्षप्रमोदामोदसम्मदाः ।' इत्यमरः । २ अत्र 'ननमयययुतेयं
मालिनी भोगिल्लोकैः ।' इति मालिनी छन्दः । उत्प्रेक्षा समासोक्तिश्चालङ्कारौ ।

षोडशः सर्गः ।

इतः प्रभृति लटमधिकृत्य विलसितमाह तत्र 'लट् शेषे च । ३ । ३ । १३।' इति लट् । ततोऽन्यत्रापि दर्शयिष्यति ।

ततः प्ररुदितो राजा रक्षसां हतवान्धवः ।

किंकरिष्यामि राज्येन सीतया किं करिष्यते ॥ १ ॥

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं रक्षसां राजा रावणः हतवान्धवः व्यापादित-
भ्रातृत्वात् शोकाभिभूतः सन् प्ररुदितः क्रन्दितुमारब्धः । 'किं करिष्यामि'
इत्यादिना । 'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च । ३।४।७१।' अतिकाये वीरे हते किं
करिष्यामि राज्येन, न किञ्चित् । 'ऋद्धनोः स्ये । ८ । २ । ७०।' इतीट् ।
सीतया च किं करिष्यते, न किञ्चित् ॥ १ ॥

अतिकाये हते वीरे प्रोत्साहिष्ये न जीवितुम् ।

हेपयिष्यति कः शत्रून्, केन जायिष्यते यमः ॥ २ ॥

अतीत्यादि—वीरे अतिकाये हते जीवितुमेव नोत्सहे किमन्यत्कर्तुम् ।
शक्तः पलायनेन कः हेपयिष्यति । 'अर्तिह्रीब्लरीक्यूक्षिमाय्यातां पुङ्णौ । ७।
२ । ३६ ।' इति णौ पुगन्तगुणः । केन यमः जायिष्यते । 'जि जये' । कर्मणि
लट् । 'स्यसिच्सीयुट्तासिपु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्जनप्रहृदशां वा चिष्वदिट् च । ६।
४ । ६२ ।' इति चिष्वदिट् च ॥ २ ॥

अतिकायाद्विना पाशं को वा छेत्स्यति वारुणम् ।

रावणं मंस्यते को वा स्वयम्भूः कस्य तोक्ष्यति ॥ ३ ॥

अतीत्यादि—'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयान्यतरस्याम् । २ । ३ । ३२ ।' इति
पञ्चमी । अतिकायाद्विना वारुणं पाशं को वा छेत्स्यति द्विधा करिष्यति ।
को वा रावणं मंस्यते पूजयिष्यति । स्वयंभूर्ब्रह्मा कस्य तोक्ष्यति प्रीतिं जनयिष्यति ।
'तुष प्रीतौ' । 'षढोः कः सि । ८।१।४१।' ॥ ३ ॥

श्लाधिष्ये केन को बन्धून् नेष्यत्युन्नतिमुन्नतः ।

कः प्रेष्यति पितृन् काले कृत्वा कथिष्यते न कः ॥ ४ ॥

श्लाधिष्य इत्यादि—केनाहं श्लाधिष्ये श्लाघां करिष्यामि 'समेदशः पुत्रः'
इति । कः स्वगुणैरुन्नतः सन् बन्धूनुन्नतिं परां कोटिं नेष्यति । काले

पितृक्रियोचिते कः पितृन् प्रेष्यति तर्पयिष्यति । 'प्रीञ् तर्पणे' । कृत्वा कंचित्कार्यम् । को न कथिष्यते कथनां न करिष्यति । 'अहमेवंविधः' इति । अतिकायाद्विनेति सर्वत्र योज्यम् ॥ ४ ॥

उद्यंस्यति हरिर्वज्रं विचरिष्यति निर्भयः ।

भोक्ष्यते यज्ञभागांश्च शूरमानं च वक्ष्यति ॥ ५ ॥

उद्यंस्यतीत्यादि—तथा हरिरिन्द्रः हन्तुं वज्रमुद्यंस्यति उद्धारयिष्यति । इत्पूर्वाद्यमे रूपम् । निर्भयश्चेतस्ततो विचरिष्यति । यज्ञभागांश्चात्मीयात् भोक्ष्यते भक्षयिष्यति । 'मुजोऽनवने । १।३।६६।' इति तद् । शूरमानं च शूरोऽस्मि' इति वक्ष्यति धारयिष्यति । वहेः 'हो ढः । ८।२।३१।' । 'पढोः ङः सि । ८।२।४१।' इति कः ॥ ५ ॥

रविस्तप्स्यति निःशङ्कं वास्यत्यनियतं मरुत् ।

निर्वत्स्यत्यृतुसङ्घातः स्वेच्छयेन्दुरुदेष्यति ॥ ६ ॥

रविरित्यादि—रविः निःशङ्कं शङ्कां विना तप्स्यति द्योतिष्यते । मरुच्चा-
नेयतं स्वच्छन्दो वास्यति संचरिष्यति । 'वा गतिगन्धनयोः' । ऋतुसंघातः
। डूतवः निर्वत्स्यति सर्वदा न भविष्यति । 'वृद्धयः स्यसनोः । १।३।९२।' इति विकल्पः । 'न वृद्धयश्चतुर्भ्यः । ७।२।५९।' इतीट्प्रतिषेधः । स्वेच्छयेन्दु-
देष्यति सदा पूर्णमण्डलो नोद्गभिष्यति । 'इण् गतौ' ॥ ६ ॥

तीव्रं स्यन्दिष्यते मेघैरुग्रं वर्तिष्यते यमः ।

अतिकायस्य मरणे किं करिष्यन्ति नान्यथा ॥ ७ ॥

तीव्रमित्यादि—मेघैस्तीव्रम् अतिशयेन स्यन्दिष्यते पूर्वं रजःप्रशमनमात्रं
ष्टम् । भावे लट् । 'न वृद्धयश्चतुर्भ्यः । ७।२।५९।' इतीट्प्रतिषेधो न भवति,
त्र परस्मैपदग्रहणमनुवर्तते । यमः उग्रं वर्तिष्यते रौद्रं चरिष्यति । आत्मनेपदे
ट्प्रतिषेधः । अतिकायस्य मरणे सति इन्द्रादयः किमन्यथा विपर्ययं न
रिष्यन्ति किन्तु करिष्यन्तीति भावः । 'किं भविष्यति नान्यथा' इति
। ७ ॥

उन्मीलिष्यति चक्षुर्मे वृथा यद् विनयागतम् ।

आज्ञालाभोन्मुखं नम्रं न द्रक्ष्यति नरान्तकम् ॥ ८ ॥

उन्मीलिष्यतीत्यादि—मे मम चक्षुर्वृथा निष्फलमुन्मीलिष्यति । यद्य-
स्मात् विनयागतं विनीतम् । आज्ञालाभोन्मुखम् । नम्रं नमनशीलम् । नरान्तकं
पुत्रं न द्रक्ष्यति ॥ ८ ॥

धिङ् मां त्रिशिरसा नाहं सन्दर्शिष्येऽद्य यत् पुनः ।

घानिष्यन्ते द्विषः केन तस्मिन्पञ्चत्वमागते ॥ ९ ॥

धिङ् मामित्यादि—हतवान्धवं मां रावणं धिक् । यत् त्रिशिरसा अद्य पुनरपि
नाहं सन्दर्शिष्ये न दृष्टो भविष्यामि । कर्मणि लट् चिण्वदिट् च । तस्मिन्
त्रिशिरसि पञ्चत्वमागते मृते द्विषः शत्रवः केन घानिष्यन्ते । अत्रापि
चिण्वदिट् च ॥ ९ ॥

शत्रुभिर्निहते मत्ते द्रव्येऽहं संयुगे सुखम् ।

युद्धोन्मत्ताद्विना शत्रून् समास्कन्त्यति को रणे ॥ १० ॥

शत्रुभिरित्यादि—मत्ते मत्तनाम्नि शत्रुभिर्निहते । तैरेव शत्रुभिः संयुगे
सङ्ग्रामे सुखमहं द्रव्ये द्रष्टव्योऽस्मि पूर्वं भयादृष्टः । अचिण्वद्भावपक्षे रूपम् ।
तस्य च भ्रातुर्युद्धोन्मत्ताद्विना रणे शत्रून् कः समास्कन्त्यति अभियास्यति ।
'स्कन्दिर् गतिशोषणयोः' । 'खरि च । ८।४।५५।' इति चर्त्वम् ॥ १० ॥

आह्वस्यते विशङ्को मां योत्स्यमानः शतक्रतुः ।

प्रकल्पस्यति च तस्यार्थो निकुम्भे दुर्हणे हते ॥ ११ ॥

आह्वस्यत इत्यादि—शतक्रतुरिन्द्रः योत्स्यमानः युद्धं करिष्यन् विशङ्को
निर्भयः मां युद्धायाह्वस्यते । 'स्पर्धायामाङ्कः । १।३।३१।' इत्यात्मनेपदम् ।
निकुम्भे दुर्हणे दुःखेन हन्यत इति । 'ईषद्दुःसुषुकृच्छ्राकृच्छ्राथेषु खल
। ३।३।१२६।' इति खल । तस्मिन् हते तस्य शतक्रतोरर्थः निष्कण्टकराज्य-
लक्षणः प्रकल्पस्यते ॥ ११ ॥

कलिष्यते हरेः प्रीतिर्लङ्का चोपहनिष्यते ।

देवान्तक त्वया त्यक्तो रिपोर्यास्यामि वश्यताम् ॥ १२ ॥

कलिष्यत इत्यादि—शत्रुभिः कुम्भं च निपातितं श्रुत्वा हरेरिन्द्रस्य
प्रीतिः कलिष्यते भविष्यति । 'लुटि च कल्पः । १।३।९३।' इति चकारात्स्य-

१ 'नमिकम्पिस्मयजसकमहिंसदीपो रः । ३ । २ । १६७ ।' इति रः । २ पञ्चतां
कालधर्मम् । यत्तुक्तं मेदिनीकरणे 'पञ्चता पञ्चभावे स्यान्मरणेऽपि च योषिति ।' इति,
तत् पञ्चतेति निर्देशाभिप्रायेणैव, नत्वजहलिङ्गत्वद्योतनार्थम् ।

अमर्ष इत्यादि—अमर्षः क्रोधः पर उत्कृष्टः मम यद्राघवः सीतां कामयि-
ष्यते । कमोर्णिङन्तात् 'अनवक्लृप्त्यमर्षयोरकिंवृत्तेऽपि । ३ । ३ । १४५ ।'
इति अमर्षे क्रोधे लट् अन्यच्च च्युतराज्यात्तस्मात् रामादसौ सीता किं किल
नाम सुखमवाप्स्यति तत्र सम्भावयामि । 'किंकिलास्त्यर्थेषु लट् । ३ । ३ । १४६ ।'
इति अनवक्लृप्तावसम्भावनायां लट् ॥ २१ ॥

मारयिष्यामि वैदेहीं खादयिष्यामि राक्षसैः ।

भूमौ वा निखनिष्यामि विध्वंसस्यास्य कारणम् ॥ २२ ॥

मारयिष्यामीत्यादि—अथवा अस्य सर्वस्य विध्वंसस्य विनाशस्य कारणं
वैदेहीं मारयिष्यामि व्यापादयिष्यामि । एतैर्वा राक्षसैः खादयिष्यामि भोज-
यिष्यामि । 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ । १ । ४
। ५२ ।' इति प्रत्यवसानार्थे कर्मसंज्ञायां प्राप्तायाम् 'आदिखाद्योर्न' इति प्रतिषेधात्
कर्तृसंज्ञैव भवति । भूमौ वा निखनिष्यामि ॥ २२ ॥

नानुरोत्स्ये जगल्लक्ष्मीं घटिष्ये जीवितुं न वा ।

न रंस्ये विषयैः शून्ये भवने बान्धवैरहम् ॥ २३ ॥

नानुरोत्स्य इत्यादि—जगल्लक्ष्मीं नानुरोत्स्ये न कामयिष्ये । अनुपूर्वो रुधिः
कामे । जीवितुं वा न घटिष्ये प्रयत्नं न करिष्यामि । तस्माद्भवने बान्धवैः शून्ये
विषयैः शब्दादिभिर्न रंस्ये न क्रीडां करिष्ये ॥ २३ ॥

मोदिष्ये कस्य सौख्येऽहं को मे मोदिष्यते सुखे ।

आदेयाः किंकृते भोगाः कुम्भकर्णं त्वया विना ॥ २४ ॥

मोदिष्ये इत्यादि—हे कुम्भकर्ण ! त्वया विना कस्य सौख्ये अहं मोदिष्ये
हर्षिष्ये न कस्यचित् । मम वा सुखे सति कां मोदिष्यते हृष्टो भविष्यति
न कश्चिदपि । किंकृते किंनिमित्तं परभोगा आदेयाः आदातव्याः ॥ २४ ॥
तदेव दर्शयन्नाह—

याः सुहृत्सु विपन्नेषु मामुपैष्यन्ति सम्पदः ।

ताः किं मन्युक्षयाभोगा न विपत्सु विपत्तयः ॥ २५ ॥

या इत्यादि—सुहृत्सु स्निग्धेषु विपत्रेषु याः सम्पदा विभूतयः मामुपैज-
न्ति निष्पत्स्यन्ते ताः मन्युक्षयाभोगाः शोकैः खण्डिताभोगाः किं विपत्सु न
विपत्तयः क्षतक्षारसंस्थानीया भवन्तीति ॥ २५ ॥

विनङ्क्ष्यति पुरी क्षिप्रं तूर्णमेष्यन्ति वानराः ।

असन्धित्सोस्तवेत्येतद्विभीषणसुभाषितम् ॥ २६ ॥

विनङ्क्ष्यतीत्यादि—असन्धित्सोः रामेण सन्धानमनिच्छोः क्षिप्रमेषा पुरी
लङ्का विनङ्क्ष्यति । 'मस्तिज्जशोर्झलि ।७।१।६०।' इति जुम् । ततः तूर्णं वान-
रास्तां समेष्यन्ति । उभयत्रापि 'क्षिप्रवचने लट् । ३ । ३ । १३३ ।' । तदे-
तद्विभीषणभाषितं सर्वमुपपन्नम् । धर्मं निर्णयि तेनोक्तं 'सन्धानमेवास्तु परैः'
इत्यादिना ॥ २६ ॥

अर्थेन सम्भृता राज्ञा न भाषिष्यामहे वयम् ।

संयोत्स्यामह इत्येतप्रहस्तेन च भाषितम् ॥ २७ ॥

अर्थेनेत्यादि—राज्ञा वयमर्थेन भृताः ततो न भाषिष्यामहे किमत्र युक्त-
मिति एतत्प्रहस्तेन भाषितं तच्च तथैव सम्पादितम् । स्मशब्दोऽत्र निपातः ।
यद्यपीदृशं मन्त्रनिर्णये प्रहस्तेन नोक्तं 'सन्धानमेवास्तु परैः' इत्यादिना, तथापि
विभीषणवचनादनुमीयते तेनाप्ययमर्थोऽभ्युपगत इति रावण एवमाह ।
तथा च विभीषणवचनं 'युद्धाय राज्ञा सुभृतैः' इत्यादि ॥ २७ ॥

मानुषो नाम पत्काषी राजानं पुरुषाशिनाम् ।

योधयिष्यति संग्रामे दिव्यास्त्ररथदुर्जयम् ॥ २८ ॥

मानुष इत्यादि—मामेवं दुर्जयं मानुषो नाम पत्काषी पादाभ्यां गमन-
शीलः पदातिः सन् । 'हिमकाषिहतिषु च । ६ । ३ । ५४ ।' इति पादस्य पदा-
देशः । पुरुषाशिनां रक्षसां राजानं दिव्यास्त्ररथतया दुर्जयं दुरभिभवतीयं
योधयिष्यति ॥ २८ ॥

एवं बहुधा विलप्य जातामर्षः पुनराह—

सन्नत्स्याम्यथवा योद्धुं न कोप्ये सत्त्वहीनवत् ।

अद्य तप्स्यन्ति मांसादा भूः पास्यत्यरिशोणितम् ॥ २९ ॥

सन्नत्स्यामीत्यादि—सत्त्वहीनवत् सत्त्वेन हीन इव न कोप्ये न रोदिमि
'कु शब्दे' । योद्धुं सन्नत्स्यामि सन्नाहं करिष्येऽहमिति अत्र किंवृत्ते-

ऽप्यमर्षे लिङपवादो लट् । 'नहो धः । ८ । २ । ३४ ।' 'खरि च । ८ । ४ । ५५ ।' इति चर्त्वम् । ततश्चाद्यास्मिन्नहनि मांसादाः ऋव्यादाः तस्पर्शन्ति वृत्ता भविष्यन्ति । 'अदोऽनन्ने । ३ । २ । ६८ ।' इति व्रिटि प्राप्ते वासरूपविधिना अणपि भवति । भूश्च हतानामरीणां शोणितं पास्यति । 'शेषे लट्, । ३ । ३ । १५१ ।' ॥ २९ ॥

आकक्ष्यामि यशः शत्रून्पनेष्यामि कर्मणा ।

अनुभाविष्यते शोको मैथिल्याद्य पतिक्षयात् ॥ ३० ॥

आकक्ष्यामीत्यादि—सर्वयोद्धृणां यश आकक्ष्यामि आहरिष्यामि । शत्रूँश्च कर्मणा युद्धख्येनापनेष्यामि न्यूनयिष्यामि । अद्य पतिक्षयात्पतिविनाशात् शोको मैथिल्या सीतया अनुभाविष्यते संवेदयिष्यते । कर्मणि लट्, चिष्वदिट् ॥ ३० ॥

मन्तूयिष्यति यक्षेन्द्रो वल्गूयिष्यति नो यमः ।

ग्लास्यन्त्यपतिपुत्राश्च वने वानरयोषितः ॥ ३१ ॥

मन्तूयिष्यतीत्यादि—यक्षेन्द्रो धनदः दाशरथिं राममापन्नं विपन्नं श्रुत्वा मन्तूयिष्यति दुर्मना भविष्यति । यमश्च न वल्गूयिष्यति हृष्टमना भविष्यति । मन्तुवल्गुशब्दाभ्याम् 'कण्ड्वादिभ्यो यक् । ३ । १ । २७ ।' तदन्तात् लट् । वने वानरयोषितः अपतिपुत्राः सत्यः ग्लास्यन्ति ग्लानिं यास्यन्ति ॥ ३१ ॥

सुखं स्वप्स्यन्ति रक्षांसि भ्रमिष्यन्ति च निर्भयम् ।

न विक्रोक्ष्यन्ति राक्षस्यो नराश्चात्स्यन्ति हर्षिताः ॥ ३२ ॥

सुखमित्यादि—रक्षांसि चैतानि सुखं स्वप्स्यन्ति निर्भयं च भ्रमिष्यन्ति । राक्षस्यश्च न विक्रोक्ष्यन्ति न क्रन्दिष्यन्ति । 'कुश आह्वाने रोदने च' । हर्षिताश्च सत्यो नरानत्स्यन्ति भक्षयिष्यन्ति ॥ ३२ ॥

अथ युग्मकम् ।

प्राङ् मुहूर्तात् प्रभातेऽहं भविष्यामि ध्रुवं सुखी ।

आगामिनि ततः काले यो द्वितीयः क्षणोऽपरः ॥ ३३ ॥

१ यद्यपि मन्तुशब्दो न शोक्परः, 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमरोक्त्या 'मन्तुः पुंस्यपराधेऽपि मनुष्येऽपि प्रजापतौ ।' इति मेदिन्युक्त्या चापराधपर एव, तथाऽपि लक्षणया विभाव्यः एवं वल्गुशब्दोऽपि ।

प्रागित्यादि—योऽयमागामी प्रभातकालः सुहूर्तद्वयसम्मितः तस्मिन्स्त-
स्येति षष्ठीसप्तम्योरभेदात् । यो द्वितीयो सुहूर्तः तस्मात् प्राक् प्रथमे
सुहूर्ते अहमवश्यं सुखी भविष्यामि, तदानीं हतशत्रुत्वात् । ततः प्रभा-
तादागामी यः कालः क्षणद्वादशसंमितः तस्मिन्नागामिनि काले यो
द्वितीयः तस्माद्यदपरः क्षणः पूर्वः तत्रेति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ॥ ३३ ॥

तत्र जेतुं गमिष्यामि त्रिदशेन्द्रं सहामरम् ।

ततः परेण भूयोऽपि लङ्कामेष्याम्यमत्सरः ॥ ३४ ॥

तत्रेत्यादि—तत्र क्षणे त्रिदशेन्द्रं सहामरं देवैः सहितं जेतुं द्रुतं गमि-
ष्यामि । प्राङ् सुहूर्तात् सुखीभविष्यामि । क्षणाद्यदपरं तत्र जेतुं गमि-
ष्यामीति 'कालविभागे चानहोरात्राणाम् ।३।३।१३७।' इति अनद्यतनवत्
प्रत्ययप्रतिषेधे लृट् । तत्र हि 'नानद्यतनवत् क्रियाप्रबन्धसामीप्ययोः ।३।३।
१३५।' इति 'भविष्यति मर्यादावचनेऽवरस्मिन् ।३।३।१३६।' इति चानुवर्तते ।
तत्र जेतुं कालमर्यादाविभागे सति योऽवर आद्यप्रविभागः तत्र भविष्यति
काले अनद्यतनवत्प्रत्ययविधिर्न भवति । ततो लट्प्रतिषेधाल्लृडेव भवति ।
ततः परेणेति यस्मिन्नागामिनि काले शक्रं जेतुं गमिष्यामि तत्र द्वितीयो
यः क्षणस्तस्मात् 'परेणोपरिष्ठात् शक्रं जित्वा भूयोऽपि लङ्कामेष्यामि ।
आङ्पूर्वस्येणो रूपम् । अमत्सरो विगतक्रोधः सन् । 'परस्मिन् विभाषा
।३।३।१३८।' इत्यनेन विभाषा लुट्प्रतिषेधाल्लृट् । तत्र हि कालविभागे
सति भविष्यति काले परस्मिन् विभाषा अनद्यतनवत्प्रत्ययविधिर्न
भवतीत्युक्तम् ॥ ३४ ॥

तमेवंवादिनं मूढमिन्द्रजित् समुपागतः ।

युयुत्सिष्येऽहमित्येवं वदन् रिपुभयंकरः ॥ ३५ ॥

तमित्यादि—तं रावणं मूढत्वादेवंवादिनम् एवंभाषणशीलम् इन्द्रजित् रिपूणां
भयंकरः समुपागतः । युयुत्सिष्येऽहं योद्धुमिच्छां करिष्यामीति ब्रुवन् ॥३५॥

केन सह योद्धुमिच्छामीति चेदाह—

नाभिज्ञा ते महाराज जेष्यावः शक्रपालितम् ।

दृप्तदेवगणाकीर्णमावां सह सुरालयम् ॥ ३६ ॥

१ 'ते तु सुहूर्ते द्वादशाक्षियाम् ।' इत्यमरः । एवं च क्षणद्वयसंमित इति
व्याख्यानान्तरं तु न साम्प्रतम् । २ देवराजम् ।

नाभिज्ञेत्यादि—हे महाराज ! ते तव नाभिज्ञा न स्मृतिः । सुरालयं
क्रेण पालितं दृष्टैश्च देवगणैराकीर्णं व्याप्तम् । आवां द्वावपि सह संभूय-
ष्यावः जितवन्तौ । ‘अभिज्ञावचने लृट् । ३।२।११२।’ तत्र ‘भूतानद्य-
ने’ इति वर्तते ॥ ३६ ॥

नाभिज्ञा ते सयक्षेन्द्रं भङ्क्ष्यावो यद्यमं बलात् ।

रत्नानि चाहरिष्यावः प्राप्स्यावश्च पुरीमिमाम् ॥ ३७ ॥

नाभिज्ञेत्यादि—न सेत्यभिज्ञास्ति । सयक्षेन्द्रं धनदसहितं यमं बलात्
मिथ्येन आवां भङ्क्ष्यावः भग्नवन्तौ । रत्नानि च ताभ्यां बलादाहरि-
ष्यावः । इमां च पुरीं लङ्कां प्राप्स्यावः । ‘विभाषा साकाङ्क्षे । ३।२।११४।’
ते लृट् । लक्ष्यलक्षणयोः सम्बन्धे प्रयोक्तुराकाङ्क्षा । तत्र भञ्जनं लक्षणं
नाद्याहरणं च लक्ष्यम् ॥ ३७ ॥

एष पेक्ष्याम्यरीन् भूयो न शोचिष्यसि रावण ।

जगद्रक्ष्यसि नीराममवगाहिष्यसे दिशः ॥ ३८ ॥

एष इत्यादि—एषोऽहं भूयः पुनररीन् शत्रून् पेक्ष्यामि चूर्णयिष्यामि ।
वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा । ३ । ३ । १३१।’ इत्यनेन सामीप्ये वर्तमानिक-
त्ययस्य विकल्पेन विधानाल्लृडेव भवति । येन हे रावण न शोचिष्यसि
पोकं न करिष्यसि । भविष्यति लृट् । जगत् नीरामं रामरहितं द्रक्ष्यसि ।
दिशश्च सर्वा अवगाहिष्यसे व्याप्स्यसि ॥ ३८ ॥

सहभृत्यः सुरावासे भयं भूयो विधास्यसि ।

प्रणंस्यत्यद्य देवेन्द्रस्त्वां वक्ष्यति स सन्नतिम् ॥ ३९ ॥

सहेत्यादि—भृत्यैः सह सुरावासे स्वर्गे भूयो भयं विधास्यसि करि-
ष्यसि । देवेन्द्रश्च त्वां प्रणंस्यति ‘त्वदीयोऽहम्’ इति निवेदयिष्यति ।
वक्ष्यति च सन्नतिं भणिष्यति च नमस्कारम् ॥ ३९ ॥

भेष्यते मुनिभिस्त्वत्तस्त्वमधिष्ठास्यसि द्विपः ।

ज्ञास्येऽहमद्य सङ्ग्रामे समस्तैः शूरमानिभिः ॥ ४० ॥

भेष्यते इत्यादि—मुनिभिस्त्वत्तो भेष्यते भीतैर्भवितव्यम् । भावे लृट् ।
त्वमधिष्ठास्यसि द्विपः शत्रून् परिभविष्यसि । ‘अधिशीङ्स्थासां कर्म

‘११।४।४६।’ इति कर्मसंज्ञा । यादृशश्चाहं तादृशः संग्रामे ज्ञास्ये ज्ञातो भविष्यामि । कर्मणि लृट् । कैः समस्तैः शूरमानिभिः वयं शूरा इत्यात्मानं मन्यमानैः । ‘आत्ममाने स्वश्च १३।२।८३।’ ॥ ४० ॥

ज्ञायिष्यन्ते मया चाद्य वीरम्मन्या द्विषद्रणाः ।

गृहिष्यामि क्षितिं कृत्तैरद्य गात्रैर्वनौकसाम् ॥ ४१ ॥

ज्ञायिष्यन्त इत्यादि—एते च द्विषां गणाः शत्रुसङ्घा वीरम्मन्याः अद्य मया ज्ञायिष्यन्ते परिच्छेत्स्यन्ते यादृशा इति । कर्मणि लृट् । चिष्वदिट् । वनौकसां वनवासिनां कपीनां गात्रैः शरीरैः कृत्तैः छिन्नैरद्य क्षितिं गृहिष्यामि ॥ ४१ ॥

आरोक्ष्यामि युगान्तवारिदघटासङ्घट्टधीरध्वनिं

निर्यास्यन् रथमुच्छ्रितध्वजधनुःखङ्गप्रभाभासुरम् ।

श्रोष्यस्यद्य विकीर्णवृक्णाविमुखव्यापन्नशत्रौ रणे

वृत्ताञ्छोणितशोणभीषणमुखान् क्रव्याशिनः क्रोशतः ॥ ४२ ॥

इति भट्टिप्रणीते रामचरितकाव्ये तिङन्तकाण्डे

लृट् विलसितो नाम षोडशः सर्गः ॥

आरोक्ष्यामीत्यादि—अतोऽहं रथमारोक्ष्यामि निर्वास्यन् इतो निर्गच्छन् । आरोक्ष्यामीति क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे निर्यास्यन्निति ‘लृट् शेषे च । ३ । ३ । १३ ।’ इति चकारालृट् । कीदृशं रथम् । युगान्ते प्रलयकाले या वारिदघटास्तासां यः संघट्टः परस्परसंमर्दः तस्येव धीरो गर्भीरो ध्वनिर्यस्य रथस्य । उच्छ्रिता ध्वजाः धनूपि च यत्र । खङ्गप्रभाभिश्च भासनशीलो यः । पश्चाद्विशेषणसमासः । उच्छ्रितानां वा ध्वजादीनां प्रभाभिर्भासुर इति योज्यम् । विकीर्णा इतस्ततो विकीर्णाः वृक्णाः छिन्नाः छिन्नमस्तकाः विमुखाः पराङ्मुखा व्यापन्ना मृताः शत्रवो यस्मिन् रणे क्रव्याशिनः मांसभक्षिणः शृगालादीन् क्रोशतः फूत्कुर्वतः अद्य श्रोष्यसि । कीदृशान् । वृत्तान् शोणितमांसोपभोगान् । शोणितेन शोणानि रक्तवर्णानि तत

एव भीषणानि भयंकराणि मुखानि येषामिति । वृश्चरोदितो निष्ठानत्वस्या-
सिद्धत्वात् चोः कुत्वे वृक्णे इति ॥ ४२ ॥

इति श्रीजयमङ्गलसूरिविरचितया जयमङ्गलाख्यया व्यख्यया
समलंकृते श्रीभट्टिप्रणीते रामचरिते काव्ये चतुर्थे तिङन्त-
काण्डे लक्षणरूपे तृतीयः परिच्छेदः, लक्ष्यरूपे
कथानके ' रावण-विलापो ' नाम
षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः ।

इतः प्रभृति लङ्मधिकृत्य विलसितमाह—तत्र भूतानद्यतने लङ् ततो-
ऽन्यत्र दर्शयिष्यति—

आशासत ततः शान्तिमस्नुरग्नीनहावयन् ।

विप्रानवाचयन् योधाः प्राक्कुर्वन् मङ्गलानि च ॥ १ ॥

आशासतेत्यादि—ततः प्रतिज्ञानन्तरं योधाः इन्द्रजित्सम्बन्धिन इत्य-
र्थात् । उपद्रवपरिहारार्थं शान्तिमाशासत अभीष्टवन्तः । 'आङः शासु
इच्छायाम्' इत्यनुदात्तेत् । 'आत्मनेपदेष्वनतः । ७ । १ । ५ ।' इत्य-
दादेशः । शान्तिं च दर्शयन्नाह—अस्तुः स्नाताः । 'ष्णा शोचे ।' आत
इत्यधिकृत्य । 'लङः शाकटायनस्यैव । ३ । ४ । १११ ।' इति ज्ञेजुम् । उस्त्य-
पदान्तात् । ६ । १ । ९६ ।' इति पररूपम् । अग्नीनहावयन् अग्निकर्म कारिवत्त-
न्तः । विप्रानवाचयन् स्वस्तिवाचनं कारितवन्तः । मङ्गलानि मङ्गलयुक्तानि
अर्शआदित्वादच् । कर्माणि कृतवन्तः ॥ १ ॥

अपूजयन् कुलज्येष्ठानुपागूहन्त वालकान् ।

स्त्रीः समावर्धयन् सास्त्राः कार्याणि प्रादिशंस्तथा ॥ २ ॥

अपूजयन्नित्यादि—कुलज्येष्ठान् वृद्धानपूजयन् पूजितवन्तः पादपतना-
दिना । वालकानुपागूहन्त आश्लिष्टवन्तः । गतानां किं भविष्यतीति सास्त्राः
स्त्रीः योपितः । 'वाऽमृशसोः । ६ । ४ । ८० ।' इतीयङ्भावपक्षे
रूपम् । समावर्धयन् ताम्बूलादिना संवर्धितवन्तः । 'प्रातिपदिकाद्वात्वर्थे
चहुलमिष्टवच्च' इति णिच् । तथा कार्याणि गृहकार्याणि प्रादिशन्निर्दिष्टवन्तः ।
इदमिदं कार्यम् इति ॥ २ ॥

आच्छादयन् व्यलिम्पंश्च प्राश्नन्नय सुरामिपम् ।

प्रापिवन् मधु माध्वीकं भक्ष्यांश्चादन् यथेप्सितान् ॥ ३ ॥

आच्छादयन्नित्यादि—आच्छादयन् वस्त्राणि पिनद्धवन्तः । 'छद् संव-
रणे' चुरादिः । व्यलिम्पंश्च समालिप्तवन्तः । 'लिप उपदेहे' । 'शे मुचा-
दीनाम् । ७ । १ । ५९ ।' इति नुम् । 'नश्छव्यप्रशान् । ८ । ३ । ७ ।' इति
स्त्वम् । पूर्वस्यानुनासिकः । अथानन्तरं सुराभिषं प्राशन् अभ्यवहृतवन्तः ।
मधुमाध्वकिं मध्वासैवं प्रापिवन् सुष्ठु पीतवन्तः । भक्ष्यांश्च खण्डपायसादीन्
यथेपिसतानाद् भक्षितवन्तः । अडित्यनुवृत्तौ 'अदः सर्वेषाम् । ७ । ३ । १०० ।'-
इत्यडागमः ॥ ३ ॥

न्यश्यन् शस्त्राण्यभीष्टानि समनह्यंश्च वर्माभिः ।

अध्यासत सुयानानि द्विषद्भ्यश्चाऽशपंस्तथा ॥ ४ ॥

न्यश्यन्नित्यादि—अभीष्टानि यथानुभावितानि शस्त्राणि न्यश्यन् तेजित-
वन्तः । 'शो तनूकरणे' । 'ओतः श्यनि । ७ । ३ । ७१ ।' इत्योकार
लोपः । वर्माभिश्च कवचैः समनह्यन् संनद्धाः । शरीराण्यावृतवन्त इत्यर्थः ।
सुयानानि शोभनयानानि अध्यासत आरूढाः । 'अधिशीङ्स्थासां कर्म । १ । ४ ।
४६ ।' इति कर्मसंज्ञा । तथा द्विषद्भ्योऽशपन् आक्रुष्टवन्तः 'पापाः क यास्यथ'
इति । 'श्लाघहनुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः । १ । ४ । ३४ ।' इति सम्प्रदानसंज्ञा ॥ ४ ॥

अपूजयंश्चतुर्वक्त्रं विप्रानार्चंस्तथाऽस्तुवन् ।

समालिपत शक्रारिर्यानिं चाऽभ्यलषद्भ्रमम् ॥ ५ ॥

अपूजयन्नित्यादि—चतुर्वक्त्रं ब्रह्माणमपूजयन् अर्चितवन्तः । विप्रानार्चन्
दाननमस्कारादिना पूजितवन्तः । तथा अस्तुवन् परस्परं स्तुतवन्तः । शक्रा-
रिश्च इन्द्रजित् समालिपत समालिप्तवान् । यानं वरमुत्कृष्टमभ्यलषत् अभी-
ष्टवान् । 'वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुल्लमुत्रसित्नुटिलषः । ३ । १ । ७० ।' इति श्यनो
विकल्पितत्वात् पक्षे शप् ॥ ५ ॥

आमुञ्चद् वर्म रत्नाढ्यमवध्नात् खड्गमुज्ज्वलम् ।

अध्यास्त स्यन्दनं घोरं प्रावर्तत ततः पुरः ॥ ६ ॥

आमुञ्चदित्यादि—रत्नाढ्यं रत्नप्रत्युत्तं वर्म कवचमामुञ्चत् शरीरं आमु-
क्तवान् पिनद्धवानित्यर्थः । खड्गं चोज्ज्वलमवध्नात् कक्षपार्श्वार्थितं कृत-
वान् । घोरं भीषणं स्यन्दनमध्यास्त आरूढः । ततोऽनन्तरं पुरः पुरतः प्राव-
र्तत प्रवृत्तः ॥ ६ ॥

आघ्नन् भेरीर्महास्वानाः कम्बूश्चाप्यधमञ् शुभान् ।

अताडयन् मृदङ्गांश्च पेराश्चापूरयन् कलाः ॥ ७ ॥

आघ्नन्नित्यादि—तस्मात् प्रवृत्ताः महास्वाना महान्तः स्वाना नादा महान्नादाः । 'स्वनहसोर्वा । ३।३।६२।' इत्यवभावपक्षे 'भावे । ३।३।१८' इति घञ् । भेरीः आघ्नन् ताडितवन्तः । वादका इत्यर्थात् । शुभान् सुस्वरान् कम्बून् हलानधमन् शब्दितवन्तः । 'पात्राध्मास्थान्नादाण्ट्श्यर्तिसर्तिशदसदां पिवजिधमतिष्ठमनयच्छपश्यर्च्छौशीयसीदाः । ७।३।७८।' इति धमादेशः । मृदङ्गांश्चाताडयन् आहतवन्तः । 'तड आघाते' इति चुरादिः । पेराः खरमुखाकारान् पायविशेषान् कलाः श्रुतिमधुरस्वराः अपूरयन् ॥ ७ ॥

अस्तुवन् बन्दिनः शब्दानन्योन्यं चोदभावयन् ।

अनदन् सिंहनादांश्च प्राद्रेकत ह्यद्विपम् ॥ ८ ॥

अस्तुवन्नित्यादि—बन्दिनः स्तुतिपाठका अस्तुवन् 'जय जीव' इत्यादिनास्तुतिं कृतवन्तः । अन्योन्यं अन्यस्य अन्यस्य च शब्दान् सांग्रामिकनामानि उदभावयन् उद्घाटितवन्तः सैनिका इत्यर्थात् । सिंहनादांश्चानदन् शब्दितवन्तः । ह्यद्विपं 'विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्यश्ववडवपूर्वापराधरोत्तरानाम् । २।४।१२०।' इति पशुद्वन्द्वस्य विभाषैकवद्भावः । प्राद्रेकत शब्दितवत् । द्रेक शब्दोत्साहे' इत्यनुदात्तेत् ॥ ८ ॥

अनिमित्तान्यथापश्यन्नस्फुटद्रविमण्डलम् ।

औक्षञ्शोणितमम्भोदा वायवोऽवान् सुदुःसहाः ॥ ९ ॥

अनिमित्तानीत्यादि—अनिमित्तानि कतिसतनिमित्तानि । नञ्त्र कुत्सायाम् । गच्छन्तोऽपश्यन् दृष्टवन्तः । तानि दर्शयति—रविमण्डलमस्फुटत् स्फुटितम्, अम्भोदाः शोणितमौक्षन् वृष्टाः । 'उक्ष सेचने' । वायवः सुदुःसहाः प्रचण्डा अवान् वान्ति स्म । शाकटायनमतादन्यत्र उसादेशः ॥ ९ ॥

आर्च्छन् वामं मृगाः कृष्णाः शस्त्राणां व्यस्मरन् भटाः ।

रक्तं न्यष्ठीवदक्लाम्यदखिद्यद्राजिकुञ्जरम् ॥ १० ॥

१ 'स्वाननिर्घोपनिर्हादनादनिस्वाननिःस्वनाः ।' इत्यमरः । २ 'तत्सादृश्यं तदन्वत्वं तदल्पत्वं विरोधिता । अप्राशस्त्यमभावश्च नञ्ार्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥' इति नञोऽप्राशस्त्यार्थकत्वात् ।

आच्छन्नित्यादि—निर्गच्छतां वामपार्श्वे कृष्णमृगां आच्छन् गताः ।
अतः 'पात्राध्मास्थान्नादान्दृश्यतिर्सतिशदसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्य-
च्छधौशीयसीदाः । ७ । ३ । ७८ ।' इति ऋच्छादेशः । 'ऋच्छ गतौ' इत्यस्य वा
रूपम् । भटाश्च शस्त्राणां व्यस्मरन् विस्मृतवन्तः 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि ।
२ । ३ । ५२ ।' इति कर्मणि षष्ठी । वाजिकुञ्जरमस्त्रिमश्रान्तमपि
रक्तं न्यष्ठावित् । 'ष्विवु निरसने' इति भौवादिकस्य ग्रहणम् 'ष्विवुल्लमुचमां
शिति । ७ । ३ । ७५ ।' इति दीर्घः । अङ्गाम्यत् छान्तम् अस्त्रिद्यत् खिन्नं च ॥ १० ॥

न तानगणयन् सर्वानास्कन्दंश्च रिपून् द्विषः ।

अच्छिन्दन्नसिभिस्तीक्ष्णैरभिन्दंस्तोमरैस्तथा ॥ ११ ॥

न तानित्यादि—तान् सर्वानशुभान्नागणयन् नाहतवन्तः । किमेतैरिति ।
अपि तु रिपूनास्कन्दन् अभिगतवन्तः । द्विषो राक्षसास्तीक्ष्णैरसिभिररीन-
च्छिन्दन् छिन्नवन्तः । तथा तोमरैस्तीक्ष्णैरभिन्दन् विदारितवन्तः ॥ ११ ॥

न्यकृन्तंश्चक्रधाराभिरतुदन् शक्तिभिर्दृढम् ।

भल्लैरविध्यच्चुग्राग्रैरतृंहंस्तोमरैरलम् ॥ १२ ॥

न्यकृन्तन्नित्यादि—चक्रधाराभिः न्यकृन्तन् छिन्नवन्तः । 'शे मुचादीनाम्' ।
७ । १ । ५९ । इति मुचादित्वान्नुम् । शक्तिभिश्च दृढमत्यर्थमतुदन्
व्यथितवन्तः । भल्लैरविध्यन् ताडितवन्तः । 'ग्रह्णिज्यावयिव्यधिवष्टिविचति-
चृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां डिति च । ६ । १ । १६ ।' इति सम्प्रसारणम् ।
उग्राग्रैस्तीक्ष्णाग्रैस्तोमरैरलं पर्याप्तमतृंहन् हतवन्तः । 'तृह हिंसायाम् ।'
'रुधादिभ्यः श्रम् । ३ । १ । ७८ ।' इति रुधादित्वात् श्रम् । 'शसोरल्लोपः ६ । ४ । २३ ।'
इति अल्लोपे अनुस्वारः ॥ १२ ॥

आस्यन् प्लवङ्गमा वृक्षानधुन्वन् भूधरैर्भृशम् ।

अहिंसन् मुष्टिभिः क्रोधाददशन् दशनैरपि ॥ १३ ॥

आस्यन्नित्यादि—प्लवङ्गमा अपि वृक्षानास्यन् क्षिप्तवन्तः । 'असु क्षेपणे' ।
तथा भूधरैः पर्वतैर्भृशमधुन्वन् हतवन्तः । 'अधूर्वन्' इति पाठान्तरम् । तत्र
'उपधायां च । ८ । २ । २८ ।' इति दीर्घः । क्रोधान्मुष्टिभिरहिंसन् ताडितवन्तः ।
दशनैर्दन्तैरदशन् खादितवन्तः । 'दंशसञ्जस्वञां शपि । ६ । ४ । २५ ।'
इत्यनुनासिकलोपः ॥ १३ ॥

प्रादुन्वञ्जानुभिस्तूर्णमतुदंस्तलकूर्परैः ।

प्राहिण्वन्नरिमुक्तानि शस्त्राणि विविधानि च ॥ १४ ॥

प्रादुन्वन्नित्यादि—जानुभिस्तूर्णं प्रादुन्वन् पीडितवन्तः 'दुदु उपतापे ।'
स्वादिः । तलकूर्परैः हस्ततलैः कफोणिभिश्चातुदन् व्यथितवन्तः । अरिभिर्मु-
क्तानि विविधानि यानि शस्त्राणि तानि प्राहिण्वन् प्रहितवन्तः ॥ १४ ॥

अतृणेच्छक्रजिच्छत्रूनभ्राम्यच्च समन्ततः ।

अध्वनच्च महाघोरं न च कश्चन नादुनोत् ॥ १५ ॥

अतृणेडित्यादि—ततः शक्रजिदिन्द्रजित् शत्रूनतृणेद् हिंसितवान् । वृहेः
अम् । तस्य 'तृणह इम् । ७।३।९२।' हल्ङ्यादिलोपः । हकारस्य ढत्वजश्त्व-
चत्वानि । समन्ततश्चाभ्राम्यत् भ्रान्तवान् । महाघोरं च भीषणं स्वनम्
अध्वनन् नदितवान् । न च कंचन नादुनोत् कंचिदपि न नोपतापित्वान्
अपि तु सर्वानपि पीडितवानित्यर्थः ॥ १५ ॥

नाजानन्सन्दधानं तं धनुर्नैक्षन्त विभ्रतम् ।

नेपूनचेतन्नस्यन्तं हतास्तेनाविदुर्द्विपः ॥ १६ ॥

नाजानन्नित्यादि—धनुषि शरं सन्दधानमारोपयन्तमिन्द्रजितं नाजानन्
न ज्ञातवन्तः । धनुर्विभ्रतं नैक्षन्त धनुर्धारयन्तं न दृष्टवन्तः । इपून्
शरानस्यन्तं क्षिप्यन्तं नाचेतन् हस्तलाघवान् न ज्ञातवन्तः । 'चिती सञ्ज्ञाने' ।
'डमो ह्रस्वादचि डमुण् नित्यम् । ८।३।३२।' इति डमुट् । तेन हताः
सन्तो द्विपः अविदुः ज्ञातवन्तः पूर्वोक्तम् । 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च । ३।४।१००।' इति ज्ञेजुष् ॥ १६ ॥

अशृण्वन्नन्यतः शब्दं प्रपलायन्त चान्यतः ।

आक्रन्दमन्यतोऽकुर्वंस्तेनाहन्यन्त चान्यतः ॥ १७ ॥

अशृण्वन्नित्यादि—अन्यतः अन्यस्मिन् प्रदेशे केचिद् द्विपः शब्दमशृ-
ण्वन् । 'श्रुवः शृ च । ३।१।७४।' इति शृभावः श्नुप्रत्ययश्च । अन्यत्र स्थिताः
प्रपलायन्त पलायिताः । अन्यतोऽन्यत्र प्रदेशे स्थिताः आक्रन्दम् अकुर्वन्
रोदनं कृतवन्तः । अन्यतोऽन्यत्र तेनेन्द्रजिता अहन्यन्त व्यापादिताः ।
कर्मणि लङ् । सर्वत्राद्यादित्वात्तसिः ॥ १७ ॥

प्रालोठन्त व्यभिद्यन्त परितो रक्तमस्रवन् ।

पर्यश्राम्यन्नतृष्यंश्च क्षतास्तेनास्त्रियन्त च ॥ १८ ॥

१ 'कफोणिः कूर्परोऽरत्नेः पृष्टम् ।' इति नाममाला । अस्य 'कूर्पी' इति भाषायां
प्रसिद्धिः । २ प्रकोष्ठैरिति पाठान्तरे तु कूर्परस्ये प्रकोष्ठवाचित्वे प्रमाणं सृग्यम् ।

प्रालोठन्तेत्यादि---तेन क्षताः सन्तः केचिद्भूमौ प्रालोठन्त । 'लुठ
लोठने ।' भुवीतस्ततो व्यभिद्यन्त व्यनीयन्त, हताः सन्त इतस्ततो नीताः ।
कर्मणि लङ् । परितः समन्ताद्रक्तमस्रवन् मुक्तवन्तः । पर्यश्राम्यन् खिन्नाः ।
अवृष्यन् पिपासिताः 'दिवादिभ्यः श्यन् । ३।१।६९।' इति श्यन् । केचिदभ्रियन्ता
'भ्रियतेर्लुङ् लुङोश्च । १।३।६१।' इति तङ् ॥ १८ ॥

सौमित्रिराकुलस्तस्मिन्ब्रह्मास्त्रं सर्वरक्षसाम् ।

निधनायाजुहूषत्तं व्यष्टभ्राद्रघुनन्दनः ॥ १९ ॥

सौमित्रिरित्यादि---तास्मिन् इन्द्रजितिं तथाभूते सति सौमित्रिराकुलो
व्यस्तचित्तः सर्वरक्षसां निधनाय ब्रह्मास्त्रमाजुहूषत् आह्वातुमैच्छत् ।
'अभ्यस्तस्य च । ६।१।३३।' इति अभ्यस्ताकारस्य ह्यतेः प्रागेव द्विर्वचनात्
सम्प्रसारणम् । तं च सौमित्रिं रघुनन्दनो रामः व्यष्टभ्रात् निवारितवान् ।
'मा भूद्विभीषणस्यापि नाशः' इति । 'स्तम्भुस्तुम्भुस्कम्भुस्कुम्भुस्कुम्भ्यः
श्नुश्च । ३।१।८२।' इति श्राप्रत्ययः । 'प्राक्सितादङ् व्यवायेऽपि । ८।३।६७ ।
इति मूर्धन्यः ॥ १९ ॥

ततो मायामयीं सीतां घ्नन् खड्गेन वियद्गतः ।

अदृश्यतेन्द्रजिद्वाक्यमवदत्तं मरुत्सुतः ॥ २० ॥

तत इत्यादि---ततोऽनन्तरम् इन्द्रजित् वियद्गतः आकाशगतः सीतां
मायामयीं मायानिर्मितां खड्गेन घ्नन् व्यापादयन्नदृश्यत दृष्टः । कर्मणि लङ् ।
तथाभूतं राक्षसं मरुत्सुतो हनूमान् वाक्यमवदत् भाषितवान् ॥ २० ॥

मापराध्नोदियं किञ्चिदभ्रश्यत्पत्युरन्तिकत् ।

सीतां राक्षस मा स्मैनां निगृह्णाः पाप दुःखिताम् ॥ २१ ॥

मापराध्नोदित्यादि---हे पाप राक्षस ! सीता पत्युरन्तिकोदभ्रश्यत्
अपगता । इयं भवतो नापराध्नोत् नापराद्धा । 'राध साध संसिद्धौ ।' इति
स्वादौ । तस्मादेनां दुःखितां मा स्म निगृह्णाः मा वधीः । 'स्मोत्तरे लङ् च
। ३।३।१७६।' इति वर्तमाने लङ् ॥ २१ ॥

पीडाकरममित्राणां कर्तव्यमिति शक्रजित् ।

अब्रवीत्खड्गकृष्टश्च तस्या मूर्धानमच्छिनत् ॥ २२ ॥

पीडाकरमित्यादि-----इयमपराद्धा भवतु न वा सर्वथा यदमित्राणां पीडा-
करं तदवश्यं कर्तव्यमिति शक्रजिदन्नवीत् उक्तवान् । खङ्गकृष्टश्च कृष्टः खङ्गो
येन । 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः' । तस्या भूर्धानमच्छिनत्
छिन्नवान् । तिपो हल्लङ्यादिलोपः । दकारस्य चर्त्वम् ॥ २२ ॥

यत्कृतेऽरीन्व्यगृह्णीम समुद्रमतराम च ।

सा हतेति वदन्नाममुपातिष्ठन्मरुत्सुतः ॥ २३ ॥

यत्कृत इत्यादि-यस्याः कृते यन्निमित्तम् अरीन् परान् अशोकवनि-
कास्थितान् व्यगृह्णीम विगृहीतवन्तः । 'नित्यं छितः १३।४।९९' इति लङ्छि
उत्तमस्य लोपः । समुद्रं चातराम तीर्णवन्तः । 'अतो दीर्घो यन्वि
।७।३।१०।१' इति दीर्घः । सा सीता हतेति वदन्मरुत्सुतः राममुपातिष्ठत्
ढौकितवान् । अत्र यमुना गङ्गामुपतिष्ठत इत्येवं सङ्गतिकरणम् [उप-
श्लेषो] नास्तीति 'उपादेवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्' इति
तङ् न भवति ॥ २३ ॥

ततः प्रामुह्यतां वीरौ राघवावरुतां तथा ।

उष्णं च प्राणितां दीर्घमुच्चैर्व्याक्रोशतां तथा ॥ २४ ॥

तत इत्यादि-ततो हनूमद्वचनानन्तरं राघवौ वीरौ प्रामुह्यतां प्रकर्षेण
मोहं गतौ । तथाऽहतां क्रन्दितवन्तौ । 'रु शब्दे ।' 'उतो वृद्धिर्लुकि
हलि ।७ । ३ । ८९ ।' इति न भवति । पित्वाभावात् । तथा दीर्घ-
मुष्णं च प्राणितां निश्चसितवन्तौ 'अन प्राणने ।' 'रुदादिभ्यः सार्वधा-
तुके ।७।२।७६।' इतीट् । तथा उच्चैर्व्याक्रोशतां 'हा सीते' इति आहूत-
वन्तौ ॥ २४ ॥

तावभाषत पौलस्त्यो मा स्म प्ररुदितं युवाम् ।

ध्रुवं स मोहयित्वास्मान्पापोऽगच्छन्निकुम्भिलाम् ॥ २५ ॥

तावित्यादि-पौलस्त्यो विभीषण आगत्य तौ तथाभूतावभाषत उक्तवान् ।
युवां मा स्म प्ररुदितं मा रोदिष्टम् । 'स्मोत्तरे लङ् च ।३।३।१७६।' इति
लङ् । यतो ध्रुवमवश्यं स इन्द्रजिन् पापः पाप्मा । अर्शआदित्वाद्च् ।
अस्मान् मोहयित्वा मायया विमोह्य । मुहुरेकर्मकत्वाद् 'गतिवुद्धिप्रत्यव-

सनार्थशब्दकर्मार्कर्मकाणामणि कर्त्ता स णौ । १ । ४ । ५२ ।' इति कर्मसंज्ञा ।
निकुम्भिलामग्निगृहमगच्छत् गतवान् । तत्र भूतानद्यतन एव लङ् ॥ २५ ॥

मा स्म तिष्ठत तत्रस्थो वध्योऽसावहुतानलः ।

अस्त्रे ब्रह्मशिरस्युग्रे स्यन्दने चानुपार्जिते ॥ २६ ॥

मा स्मेत्यादि-मा स्म तिष्ठत मा विलम्बध्वं, गच्छत । 'स्मोत्तरे
लङ् च । ४ । ३ । १७६ ।' यतस्तत्रस्थो निकुम्भिलास्थोऽसावहुतानलः अकू-
ताभिकार्यो वध्यः हन्तुं शक्यः । 'शाके लिङ् च । ३ । ३ । १७२' इति चकारात्
'कृत्यांश्च' इति वचनात् 'हनो वा यद्वधश्च वक्तव्यः' इति वार्तिकेन यत् ।
कथमहुतानलो वध्य इति चेत् अस्त्रे ब्रह्मशिरसि ब्रह्मशिरोनाम्नि उग्रे दुष्प्रयोगे
स्यन्दने च अनुपार्जितेऽप्राप्ते साति ॥ २६ ॥

कथमुभयं तेनोपार्ज्यत इत्याह ।

ब्रह्माऽदधाद्धं तस्य तस्मिन्कर्मण्यसंस्थिते ।

प्रायच्छदाज्ञां सौमित्रैर्यूथपानां च राघवः ॥ २७ ॥

ब्रह्मेत्यादि-यतस्तस्यां निकुम्भिलायां कर्मण्यसंस्थिते असमाप्ते ब्रह्मा वधं
तस्यादधात् धारितवान् । उक्तवानित्यर्थः । श्लौ द्विर्वचनम् । एवं विभीषण-
वचः श्रुत्वा राघवः सौमित्रैर्यूथपानां च गन्तुमाज्ञां प्रायच्छत् दत्तवान् । 'दाणू
दाने' । 'पाघ्राध्मास्थान्नादाणूद्दृश्यार्तिसार्तिशदसदां पिवजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छ-
पश्यल्लघौशीयसीदाः । ७ । ३ । ७८ ।' इति यच्छादेशः ॥ २७ ॥

तां प्रत्यैच्छन्सुसम्प्रीतास्ततस्ते सविभीषणाः ।

निकुम्भिलां समभ्यायन्न्यरुध्यन्त च राक्षसैः ॥ २८ ॥

तामित्यादि-ततस्ते सविभीषणाः सुसंप्रीतास्तामाज्ञां प्रत्यैच्छन् प्रतीष्ट-
वन्तः प्रतिगृहीतवन्तः । 'इपु इच्छायाम्' । 'इपुगमियमां लः । ७ । ३ । ७७ ।' ते
च निकुम्भिलां समभ्यायन् समभिगताः । 'इण् गतौ ।' तत्र च ये
दिक्पालांः राक्षसाः तैर्न्यरुध्यन्त रुद्धाः प्रवेष्टुं पन्थानं न लब्धवन्तः । कर्मणि
लङ् ॥ २८ ॥

दिक्पालैः कदनं तत्र सेने प्राकुरुतां महत् ।

ऐतां रक्षांसि निर्जित्य द्रुतं पौलस्त्यलक्ष्मणौ ॥ २९ ॥

१ लङ्कायाःपश्चिमभागस्थायां तदाख्यायां गुहायां दुर्गायां वा । २ यद्यपि सम्पूर्वः
स्यातिर्विनाशार्थोऽनुमन्यते, तथापि निष्ठायां प्रयोगोऽपि न दुष्टः, प्रयोगवाहुल्यात् ।

दिकपालैरित्यादि—तत्र निकुम्भिलोद्देशे उभे अपि सेने महद्विपुलं कदने
विनाशनं युद्धं वा प्राकुरुतां कृतवन्तौ । तानि रक्षांसि निर्जित्य पौलस्त्य-
लक्ष्मणौ विभीषणो लक्ष्मणश्च द्रुतं शीघ्रमैतां गतवन्तौ । 'इणू गतौ ।' आद्.
वृद्धिः ॥ २९ ॥

तत्रेन्द्रजितमैक्षेतां कृतधिष्ण्यं समाहितम् ।

सोऽजुहोत्कृष्णवर्त्मानमामनन्मन्त्रमुत्तमम् ॥ ३० ॥

तत्रेत्यादि—तत्र निकुम्भिलायां तावैक्षेतां दृष्टवन्तौ । इन्द्रजितं कृतधिष्ण्यं
कृताग्न्यगारम् । समाहितं एकाग्रमानसम् । स इन्द्रजित् कृष्णवर्त्मानमजुहोत्
हुतवान् । मन्त्रमुत्तममामनन् आवर्तयन् । 'न्ना अभ्यासे ।' शतारं 'पात्रा-
ध्मास्थान्नादाण्ड्यर्तिसर्तिसददां पिवन् ७ । ३ । ७८ ।' इत्यादिना मना-
देशः ॥ ३० ॥

अध्यायच्छक्रजिद्ब्रह्म समाधेरचलन्न च ।

तमाह्वयत सौमित्रिरगर्जच्च भयङ्करम् ॥ ३१ ॥

अध्यायदित्यादि—शक्रजिदिन्द्रजित्परं ब्रह्माध्यायत् चिन्तितवान् । 'ध्यै
चिन्तायाम्' आत्वं शिति । न च समाधेश्चिन्तवृत्तिनिरोधाद्चलत् चलितवान्
तं तथाभूतमिन्द्रजितं सौमित्रिर्युद्धायाह्वयत आहूतवान् । भयंकरं चागर्जत्
शब्दितवान् ॥ ३१ ॥

अकुप्यदिन्द्रजित्तत्र पितृव्यं चागदद्वचः ।

त्वमत्राजायथा देह इहापुष्यत्सुरामिपैः ॥ ३२ ॥

अकुप्यदित्यादि—तत्र तस्मिन्नाह्वानं गर्जितं च कृतवति सति अकुप्यत् क्रुद्धः ।
'कुप क्रोधे' दैवादिकः । पितृव्यं च पितृभ्रातरं विभीषणम् । पितृशब्दाद्
भ्रातरि 'पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः ४ । २ । ३६' इति व्यन्निपातितः ।
वचो वक्ष्यमाणमगदन् उक्तवान् । अत्रास्मिन् राक्षसकुले त्वमजायथाः
जातोऽसि । 'जनी प्रादुर्भावे ।' दैवादिकोऽनुदात्तेत् । इह च देहः सुरामिपैर-
पुष्यद् वृद्धिं गतः । पुपिदैवादिकः । अत एव 'दिवादिभ्यः श्यन् । ३ ।
१ । ६९ ।' इति श्यन् । देहमपुष्य इति पाठान्तरम् । तत्र देहं पोषितवानसि
अन्तर्भावितप्यर्थो द्रष्टव्यः ॥ ३२ ॥

इहाजीव इहैव त्वं क्रूरमारभथाः कथम् ।

नापश्यः पाणिमार्द्रं त्वं बन्धुत्वं नाप्यपैक्षथाः ॥ ३३ ॥

इहेत्यादि---इहाजीवः जीवितोऽसि कथमिहैव त्वं क्रूरं कर्म आर-
भथाः आरब्धवानसि । मार्द्रं पाणिं च नापश्यस्त्वं न दृष्टवानसि ।
यावता कालेन भुक्त्वा, पाणिः शुष्यति तावन्तमपि कालं नापेक्षितवा-
नसीत्यर्थः । आत्मां तावदेतत् । बन्धुत्वमपि एकगोत्रत्वमपि नापैक्षथाः ॥३३॥

अधर्मान्नात्रसः पापं लोकवादान्न चाविभेः ।

धर्मदूषणं नूनं त्वं नाजाना नाशृणोरिदम् ॥ ३४ ॥

अधर्मादित्यादि---हे पापं ! अधर्मादपि नात्रसः न त्रस्तोऽसि ।

‘त्रसी उद्वेगे’ दिवादौ । ‘वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुकुमुत्रसिन्नुटिलषः । ३ ।
१ । ७० ।’ इति पक्षे शप् । लोकवादात् जनापवादात् न चाविभेः न
भीतोऽसि । श्रौ द्विर्वचनम् । धातोर्गुणः । ‘भोत्रार्थानां भयहेतुः । १ । ४ ।
२५ ।’ इत्यपादानसंज्ञा । हे धर्मदूषण ! धर्मस्य दूषणं धर्मोच्छेदक ! अति-
विपरिते स्थितत्वात् । ‘दुष वैकृत्ये’ । ‘दोषो णौ । ६ । ४ । ९० ।’ इत्युप-
धाया ऊत्वम् । दूषयतीति दूषणः । ‘कृत्यल्युटो वहलम् । ३ । ३ । ११३ ।’
इति कर्तरि ल्युट् । न तु नन्द्यादिपाठे ल्युः । तत्र हि ‘नदिवाशिमादिदू-
षिसाधिपचिशोधिरोचिभ्यो ण्यन्तेभ्यः पूजायाम्’ इत्युक्तम् । न ‘चात्र पूजा
गम्यत इति । नूनम् अवश्यं त्वं नाजानाः स्वयमिदं न ज्ञातवानसि ।
‘ज्ञा अवबोधने ।’ इत्यादानुदात्ते । ‘ज्ञानोर्जा । ७ । ३ । ७९ ।’ ‘इदमन्य-
त्ताऽपि नाशृणोः द्विषद्भ्यो न श्रुतवानसि । ‘श्रुवः शृ च । ३ । १ । १७४ ।’
इति शृ, इत्यादेशः, ततः श्नुः ॥ ३४ ॥

किं तदित्याह--

निराकृत्य यथा बन्धूल्लघुत्वं यात्यसंशयम् ।

पितृव्येण ततो दाक्यमभ्यधीयत शक्रजित् ॥ ३५ ॥

निराकृत्येत्यादि---यथा बन्धून् निराकृत्य परित्यज्य लघुत्वम् लघुतां
यात्यसंशयमसन्देहम् । ततः पुत्रोक्तेरनन्तरं पितृव्येण विभीषणेन
‘शक्रजिद्दाक्यमभ्यधीयत अभिहितः । कर्मणि लङ् । ‘धुमास्थागापाजहातिसां
हलि । ६ । ४ । ६६ ।’ इतीत्वम् ॥ ३५ ॥

१ अत्र ‘अर्षभादिभ्योऽच् ५ । २ । १२७’ इत्यच् । २ धर्मं दूषयतीति
व्युत्पत्तिभ्रमनिरासार्थमिदं पृथङ् निर्दिष्टं, नह्यत्र नन्द्यादिवाल्ल्युः, तत्रास्याप्रहणान् ।

मिथ्या मा स्म व्यतिक्रामो मच्छीलं मा न बुध्यथाः ।

सत्यं समभवं वंशे पापानां रक्षसामहम् ॥ ३६ ॥

मिथ्येत्यादि—मिथ्या मृषा मा स्म व्यतिक्रामः मा परिभूः । 'क्रमः परस्मैपदेषु । ७ । ३ । ७६ ।' इति दीर्घः । मच्छीलं मत्स्वभावं मा न बुध्यथाः' मा न बुद्धास्त्वम् अपि तु ज्ञातवानसि । 'स्मोत्तरे लङ् च । ३ । ३ । १७६ । पापानां रक्षसां वंशेऽहं सत्यं समभवं सम्भूत इति ॥ ३६ ॥

न त्वजायत मे शीलं तादृग्यादृक्पितुस्तव ।

क्षयावहेषु दोषेषु वार्यमाणो मयारमत ॥ ३७ ॥

न त्वित्यादि—यद्यप्यहं राक्षसकुले जातस्तथापि तव पितुर्यादृक् शीलं स्वभावस्तादृक् मे न त्वजायत नैवाभूत् । यतोऽसौ क्षयमावहन्तीति क्षयावहाः । पचादित्वादच् । तेषु दोषेषु परस्त्रीहरणादिषु मया वार्यमाणोऽपि । दशग्रीव इति संबन्धः । आरमत रतिं कृतवान् । 'व्याङ्परिभ्योरमः । १ । ३ । ८३ ।' इति परस्मैपदम् ॥ ३७ ॥

दशग्रीवोऽहमेतस्मादत्यजं न तु विद्विषन् ।

परस्वान्यार्जयन्नारीरन्यदीयाः परामृशत् ॥ ३८ ॥

दशग्रीव इत्यादि—एतस्मात्कारणादहं रावणमत्यजं त्यक्तवानस्मि न पुनर्द्विषन् अमित्रीभवन् दशग्रीवो रावणः । 'द्विषोऽमित्रे । ३ । २ । १३१ ।' इति शत्रुप्रत्ययः । तान् दोषानाह—परस्वानि परवित्तानि आर्जयत् अन्यैर्प्राहितवान् । 'अजं सज अर्जने' इति भ्वादेशे हेतुमणिच् । 'अर्ज प्रतियत्ने' इति चौरादिकस्य वा रूपम् । अन्यदीयाः नारीश्च परामृशत् स्पृष्टवान् । 'मृश आमर्शने' इति तुदादाबुदात्तेत् ॥ ३८ ॥

व्यजिघृक्षत्सुरान्नित्यं प्रामाद्यद्गुणिनां हिते ।

आशङ्कत सुहृद्भूतवृद्धान्वहमन्यत ॥ ३९ ॥

व्यजिघृक्षदित्यादि—सुरान् नित्यं व्यजिघृक्षत् विप्रहीतुमैच्छत् तैः साकं वृथैवं कलहं युद्धं वा कर्तुम् आवर्त्ततेति भावः । गुणिनां माल्यवत्प्रभृतीनां यदुक्तं हितं तस्मिन् विषये प्रामाद्यत् प्रमादं गतः । 'मदी ह्यं' ।

१ यद्यपि धनदस्य यो वंशः स एव रावणादीनामपीति न तथाश्चे वंशदोषः सुषचः, किंतु मातापितृदोष एव, प्रकृते च मातृदोष एवापराधहेतुः, अन्यथा कुक्षर-स्यापि तथात्वापत्तेः । इति सम्मान्येदं समर्थनीयम् ।

‘शमामष्टानां दीर्घः श्यनि ।७।३।७४।’ इति दीर्घः । सुहृदो बन्धुश्च
सुहृद्वन्धून् आशङ्कत विकल्पितवान् । अवृद्धान् अविदुषो मूढान् प्रहस्ता-
दीन् बह्वमन्यत श्लाघितवान् ॥ ३९ ॥

दोषैररमतैभिस्ते पितात्यज्यत धैर्मया ।

ततोऽरुष्यदनर्दच्च द्विविंशतिभिरेव च ॥ ४० ॥

दोषैरित्यादि--एभिर्दोषैस्तव पिता रावणः अरमत क्रीडितवान् ।
यैर्दोषैर्मया अत्यज्यत । कर्मणि लङ् । ततः पितुर्दोषप्रकाशनवचनादन-
न्तरम् । रावणिरिति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । अरुष्यत् रुष्टः । ‘रुष रुष्टौ’
अनर्दच्च विस्फूर्जितवाञ्छ ॥ ४० ॥

शरैरताडयद्वन्धुं पञ्चविंशतिभिर्नृपम् ।

रावणिस्तस्य सौमित्रिरमभ्राञ्चतुरो हयान् ॥ ४१ ॥

शरैरित्यादि--वन्धुं विभीषणं द्विविंशतिभिः शरैरताडयत् । चत्वारिंशते-
त्यर्थः । द्वे विंशती येषां शराणामिति बहुव्रीहिः । एवं च ‘द्वष्टनः
संख्यायामबहुव्रीह्यशतियोः ।६।३।४७।’ इत्यात्वं न । तथा पञ्चविंशतिभिः
शरैर्नृपं लक्ष्मणम् अताडयत् । शतेनेत्यर्थः । द्वौ च विंशतिश्च पञ्चविंशति-
श्चेत्यस्मिन् व्याख्याने द्वाविंशत्या पञ्चविंशत्येति च प्राप्नोति । सौमित्रिस्तु
लक्ष्मणः पुनः तस्य रावणे रावणपुत्रस्येन्द्रजितश्चतुरो हयान् बाणैरमभ्रात् ।
‘मथे विलोडने’ इति क्र्यादौ ॥ ४१ ॥

सारथिं चाऽलुनाद्वाणैरभनकस्यन्दनं तथा ।

सौमित्रिमकिरद्वाणः परितो रावणिस्ततः ॥ ४२ ॥

सारथिमित्यादि--तस्य रावणेः सारथिं चालुनात् छिन्नवान् । ‘प्वादीनां
ह्रस्वः ।७।३।८०।’ तथा स्यन्दनं रथम् अभनक् भग्नवान् । ‘भञ्जो आमर्दने’ इति
रुधादिः । ततोऽनन्तरं रावणिः इन्द्रजित् सौमित्रिं सुमित्रानन्दनं लक्ष्मणं परितः
समन्तात् बाणैरकिरत् छादितवान् ॥ ४२ ॥

तावस्फावयतां शक्तीर्वाणांश्चाकिरतां मुहुः ।

वारुणं लक्ष्मणोऽक्षिप्यदक्षिपद्रौद्रमिन्द्रजित् ॥ ४३ ॥

तावित्यादि--ताविन्द्रजिलक्ष्मणौ । शक्तिं सामर्थ्यमस्फावयतां वर्धितवन्तौ
स्वस्वपराक्रममतिशयेन दर्शितवन्तावित्यर्थः । ‘स्फायो वः ।७।३।४१।’ वाणांश्च

मुहुराकीरतां विक्षिप्तवन्तौ । स्वस्वपराक्रमममतिशयेनदर्शितवन्तावित्यर्थः ।
वारुणमन्त्रं लक्ष्मणोऽक्षिप्यत् । देवादिकस्य रूपम् । इन्द्राजिद्रौद्रं पाशुमतमाक्षि-
पत् क्षिप्तवान् । तौदादिकस्य रूपम् ॥ ४३ ॥

ते परस्परमासाद्य शस्त्रे नाशमगच्छताम् ।

आसुरं राक्षसः शस्त्रं ततो घोरं व्यसर्जयत् ॥ ४४ ॥

ते परस्परमित्यादि—ते शस्त्रे परस्परमासाद्य प्राप्य नाशमगच्छतां नाशं
गते । ततस्तन्नाशादनन्तरं राक्षसो रावणिरिन्द्राजित् आसुरम् असुरदैवतं
शस्त्रं घोरं भीषणं व्यसर्जयत् क्षिप्तवान् ॥ ४४ ॥

तस्मान्निरपतद्भूरि शिलाशूलेष्टिमुद्गरम् ।

माहेश्वरेण सौमित्रिरस्तभ्रात्तत्सुदुर्जयम् ॥ ४५ ॥

तस्मादित्यादि—तस्मात् क्षिप्त्वादासुरादन्नात् शिलाशूलेष्टिमुद्गरं निरपतत् ।
इष्टिः प्रहरणविशेषः । तच्चासुरं सुदुर्जयं सौमित्रिलक्ष्मणो माहेश्वरेण अस्त-
भ्रात् स्तम्भितवान् । 'स्तम्भुस्तुम्भुस्कम्भुस्कुम्भुस्कुम्भुः शुभ्र ॥३१॥८२॥'
इति चकारात् भ्रा ॥ ४५ ॥

ततो रौद्रसमायुक्तं माहेन्द्रं लक्ष्मणोऽस्मरत् ।

तेनागम्यत घोरेण शिरश्चाहियत द्विपः ॥ ४६ ॥

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं रौद्रसमायुक्तं रौद्राद्यैः सहितं माहेन्द्र-
मन्त्रं रौद्रं माहेन्द्रं चाब्रमित्यर्थः लक्ष्मणोऽस्मरत् चिन्तितवान् । तेन स्मरणादेव
आगम्यत आगतम् । भावे लङ् । तस्य द्विपः शत्रोः शिरश्चाहियत छिन्नम् ।
कर्मणि लङ् ॥ ४६ ॥

अतुष्यन्नमराः सर्वे प्राहृष्यन्कापियूथपाः ।

पर्यष्वजत सौमित्रिं मूर्ध्न्यजिघ्रञ्च राघवः ॥ ४७ ॥

अतुष्यन्नित्यादि—तस्मिन् मृते अमरा देवाः अतुष्यन् तुष्टाः । कपियू-
थपाः कपिवर्याः प्राहृष्यन् प्रहृष्टाः । राघवश्च सौमित्रिं पर्यष्वजत आश्लिष्ट-
वान् । 'दंशसञ्जस्वञ्जां शपि ॥६॥४१२५॥' इत्यनुनासिकलोपः । 'प्राक् सिता-
दङ्ग्यवायेऽपि । ८ । ३ । ६३ ।' इति वचनात् परिनिविभ्यः
सेवसितसयासिवुसहसुट्स्तुस्वञ्चाम् ८ । ३ । ७० ।' इति पत्वम् । मूर्ध्न्य-जिघ्रञ्च
आघ्रातवान् ॥ ४७ ॥

अरोदीद्राक्षसानीकमरोदन्नृभुजां पतिः ।

मैथिल्यै चाशपद्धन्तुं तां प्राक्रमत चातुरः ॥ ४८ ॥

अरोदीदित्यादि--राक्षसानीकं राक्षससैन्यमरोदीत् रुदितम् । 'रुदश्च पञ्चभ्यः । ७ । ३ । ९८।' इतीट् । नृभुजां पतिः रावणः अरोदीत् रुदितः । 'अङ् गार्ग्यगालवयोः । ७ । ३ । ९९।' इत्यङागमः । मैथिल्यै सीतायै चाशपत् आक्रुष्टवान् । सर्वदोषस्य मूलमिति । 'श्लाघद्भुङ्स्थाशपां ज्ञीप्यमानः । १।४।३।४।' इति कर्माणि सम्प्रदानसंज्ञा । तां च हन्तुम् आतुरो मन्युक्षतः शोकपीडित इति यावत् प्राक्रमत प्रारब्धवान् । 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् । १। ३ । ४२।' इति तङ् ॥ ४८ ॥

अयुक्तमिदमित्यन्ये तमाप्ताः प्रत्यवारयन् ।

न्यरुन्धंश्चास्य पन्थानं बन्धुता शुचमारुणत् ॥ ४९ ॥

अयुक्तमित्यादि---अन्ये आप्ताः राक्षसाः अयुक्तमेतदिति मन्यमानाः तं तथाविधं प्रत्यवारयन् आवार्यं स्थिताः । 'धृञ् आवरणे' चुरादिः । पन्थानं मार्गं न्यरुन्धंश्च हस्तपादादिग्रहणेन रुद्धवन्तः । बन्धुता बन्धुसमूहः । अस्य रावणस्येन्द्रजिन्मरणजन्यं शुचं शोकमारुणत् अपनीतवती । हलङ्घ्यादिलोपः' धकारस्य जश्त्वम् ॥ ४९ ॥

आस्फायतास्य वीरत्वममर्षश्चाप्यतायत ।

रावणस्य ततः सैन्यं समस्तमयुयुत्सयत् ॥ ५० ॥

आस्फायतेत्यादि--अथ निरुद्धशोकस्य रावणस्य वीरत्वं शौर्यम् आस्फायत वृद्धिं गतम् । अमर्षश्च क्रोधः अतायत विस्तारं गतः । ततः स रावणः समस्तं सैन्यम् अयुयुत्सयत् युयुत्समानं प्रयोजितवान् ॥ ५० ॥

अग्नीनवरिवस्यंश्च ते ऽनमस्यंश्च शङ्करम् ।

द्विजानप्रीणयञ् शान्त्यै यातुधाना भवद्भियः ॥ ५१ ॥

अग्नीनित्यादि--ते यातुधानाः भवद्भियः भवन्ति उत्पद्यमाना भियो भीतियो येषां ते । अग्नीनवरिवस्यन् परिचारितवन्तः । 'नमोवरिवश्चित्रङ्कः क्यच् । ३ । १ । १९।' इति वरिवसः परिचर्यायामिति क्यच् । तदन्ताल्लङ् । शङ्करं च महादेवं च अनमस्यन् पूजितवन्तः । अत्र नमसः पूजायां पूर्ववत् क्यच् । द्विजांश्च शान्त्यै शान्त्यर्थमप्रीणयन् प्रीणितवन्तः । 'धृञ्प्रीञोर्नुगक्त्वव्यः' इति प्रीञो नुक् ॥ ५१ ॥

१ बन्धुनां समूह इति बन्धुता, 'ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् ४।२।४३।' इति । तल् । 'ज्ञातेयं बन्धुता तेषां क्रमाद्भावसमूहयोः।' इत्यमरः ।

परितः पर्यवाद्यायुराज्यगन्धिर्मनोरमः ।

अश्रूयत सपुण्याहः स्वस्तिघोषः समुच्चरन् ॥ ५२ ॥

परित इत्यादि—अग्निस्तर्पणांदाज्यगन्धिः आर्यस्य गन्धो यस्मिन्वायौ
वोयुर्मनोरमः सर्ववेश्मसु पर्यवात् परितो वाति स्म । स्वस्तिघोषश्च
सपुण्याहः पुण्याहशब्देन सह समुच्चरन्नश्रूयत श्रूयते स्म । कर्मणि
ङ् ॥ ५२ ॥

योद्धारोऽविभरुः शान्त्यै साक्षतं वारि मूर्धभिः ।

रत्नानि चाद्दुर्गाश्च समवाञ्छन्नाशिपः ॥ ५३ ॥

योद्धार इत्यादि—योद्धारः शान्त्यै शान्त्यर्थं साक्षतम् अक्षततण्डुलैर्युक्तं
प्रलाजं च वारि जलं मूर्धभिरविभरुः दधति स्म । 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च ।
३ । ४ । १०९ ।' इति झेर्जुम् 'भृवामित् । ७ । ४ । ७६ ।' इतीत्वम् ।
रत्नानि गाश्चाद्दुः दत्तवन्तः । आशिपश्च तेभ्यः समवाञ्छन् काङ्क्षितवन्तः
'वाञ्छि इच्छायाम्' ॥ ५३ ॥

अदिहंश्चन्दनैः शुभ्रैर्विचित्रं समवस्त्रयन् ।

अधारयन् स्रजः कान्ता वर्म चान्येऽदधुर्द्रुतम् ॥ ५४ ॥

अदिहन्नित्यादि—शुभ्रैः शुक्लवर्णैश्चन्दनैः गात्राणि अदिहन् लिप्तवन्तः ।
'दिह उपचये' । विचित्रं शोभनं समवस्त्रयन् आच्छादितवन्तः । 'मुण्डभिश्च-
श्लक्ष्णलवणत्रतवस्त्रहलकलकृततृस्तेभ्यो णिच् । ३ । १ । २१ ।' इति
'वस्त्रात्समाच्छादने' णिच् । कान्ताः शुभ्राः स्रजः अधारयन् धारितवन्तः ।
'धृञ् धारणे' । अप्यन्तस्य प्रयोग एव नास्ति । अन्ये च वर्म कवचम् ।
जातावेकवचनम् । तेन कर्माणीत्यर्थः । द्रुतमदधुः धारितवन्तः ॥ ५४ ॥

समक्ष्णुवत शस्त्राणि प्रामृजन् खड्गसंहतीः ।

गजादीनि समारोहन् प्रातिष्ठन्ताथ सत्वराः ॥ ५५ ॥

समक्ष्णुवतेत्यादि—शस्त्राणि समक्ष्णुवत । 'क्ष्णु तेजने' 'समः क्ष्णुवः ।
१ । ३ । ६५ ।' इति तङ् । खड्गसंहतीः प्रामृजन् शोधितवन्तः । मृजेरजादौ
विभाषा वृद्धिः । गजादीनि रथानानि समारोहन् आरूढाः । गजादिष्विति
पाठान्तरम् । तत्राधिकरणत्वं विवक्षितम् । अथानन्तरमारूढाः सत्वराः
प्रातिष्ठन्त प्रस्थिताः । 'समवप्रविभ्यः त्यः । १ । ३ । २२ ।' इति तङ् ॥ ५५ ॥

अपूरयन्नभः शब्दो बलसंवर्तसम्भवः ।

अपूर्यन्त च दिग्भागास्तुमुलैस्तूर्यनिस्वनैः ॥ ५६ ॥

अपूरयदित्यादि—बलानां सेनानां संवर्तः एकीभावः तस्मात्सम्भवो यस्य स शब्दः नभ आकाशमपूरयत् पूरितवान् । तुमुलैस्तूर्यनिस्वनैः महद्भिर्वाद्यानां घोषैर्दिग्भागा अपूर्यन्त पूर्णाः कर्मणि लङ् ॥ ५६ ॥

असीद्वारेषु सङ्घट्टो रथाश्वद्विपरक्षसाम् ।

सुमहाननिमित्तैश्च समभूयत भीषणैः ॥ ५७ ॥

आसीदित्यादि—रथादीनां निर्गच्छतां लङ्काद्वारेषु संघट्टः सुमहानासीत् । जनभूयस्तया संघर्षोऽभूत् । 'अस्तिस्त्रिचोऽपृक्ते । ७ । ३ । १६ ।' इतीट् । अनिमित्तैः भीषणैर्भयङ्करैर्महद्भिः समभूयत क्षयकरैर्निमित्तैर्भूतम् । भावे लङ् ॥ ५७ ॥

कपयोऽविभयुस्तस्मिन्नभञ्जंश्च महाद्रुमान् ।

प्रोदखायन् गिरींस्तूर्णमगृह्णंश्च महाशिलाः ॥ ५८ ॥

कपय इत्यादि—तस्मिन्निर्गते कपयोऽविभयुः भीतवन्तः । महाद्रुमांश्च योद्धुमभञ्जन् भग्नवन्तः । गिरीन् प्रोदखायन् उखातवन्तः 'खै खदने ।' शिति आत्वं न भवति । महाशिला अगृह्णन् गृहीतवन्तः ॥ ५८ ॥

ततः समभवद्युद्धं प्राहरन्कपिराक्षसाः ।

अन्योन्येनाभ्यभूयन्त विमर्दमसहन्त च ॥ ५९ ॥

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं युद्धं समभवत् प्रवृत्तम् । कपिराक्षसाः प्राहरन् प्रहृतवन्तः । अन्योन्येनाभ्यभूयन्त कपयो राक्षसैः राक्षसाश्च कपिभिरिति । कर्मणि लङ् । विमर्दमसहन्त च सोढवन्तः ॥ ५९ ॥

प्रावर्धत रजो भौमं तद्व्याश्रुत दिशो दश ।

परात्मीयविवेकं च प्रामुष्णात्कपिरक्षसाम् ॥ ६० ॥

प्रावर्धतेत्यादि—बलद्वयप्रक्षोभात् भौमं रजः प्रावर्धत प्रवृद्धम् । तद्रजो दश दिशो व्याश्रुत व्याप्तौ । कपिरक्षसां मध्ये अयं परोऽयं चात्मीय इति यो विवेकस्तं च प्रामुष्णात् अपनीतवन् । 'मुप स्तेये' क्रयादिः ॥ ६० ॥

ततोऽद्विषुर्निरालोके स्वेभ्योऽन्येभ्यश्च राक्षसाः ।

अद्विषन्वानराश्चैव वानेरभ्योऽपि निर्दयाः ॥ ६१ ॥

तत इत्यादि---ततोऽनन्तरं निरालोके समरे राक्षसः स्वैभ्योऽन्येभ्य-
ञ्चाद्विपुः कुञ्चन्ति स्म । वानरा अपि वानरेभ्योऽद्विपन् निर्दयाः सन्तः । अपि-
शब्दान् राक्षसेभ्योऽपि । 'द्विपश्च । ३ । ४ । ११२ ।' इत्यनेन शाकटायनमते
ज्ञेयुः ॥ ६१ ॥

अधुरंस्ते महाघोरमश्च्योतन्नथ शोणितम् ।

समपद्यत रक्तेन समन्तात्तेन कर्दमः ॥ ६२ ॥

अधुरन्नित्यादि---अथानन्तरं ते हताः राक्षसा वानरा अधुरन् घोरं
रौद्रं शब्दितवन्तः । 'धुर भीतार्भश्चन्दनोः ।' शोभितं चाश्चोतन् क्षरन्ति स्म ।
तेन च रक्तेन रक्तानुतेन समन्तत्सर्वत्रः कर्दमः समपद्यत सन्वत्रः ।
कर्मणि लङ् ॥ ६२ ॥

गम्भीराः प्रावहन्नयः समजायन्त च हृदाः ।

वृद्धं च तद्रजोऽशाम्यत्समवेद्यन्त च द्विपः ॥ ६३ ॥

गम्भीरा इत्यादि---तेन रक्तेन वर्षिष्णुना वयमानेन गम्भीरा अंगाधः ।
नयः प्रावहन् प्रवृत्ताः । हृदाः शलाकाः समजायन्त संजाताः । तत्र भीमं रजः
प्रवृद्धमशान्यन् शान्तम्, उद्गमाभावान् । उपन्नस्य च पतनान् रजःशननान् ।
द्विपश्च शत्रवः पुनः परस्परं ह्यं परं च समवेद्यन्त संवेद्यन्ते स्म विज्ञा-
वन्त इति भावः । 'विद् चेतनान्यानानिशासेपु' इति चौरादिकः । कर्मणि
लङ् ॥ ६३ ॥

ततोऽचित्रीयतास्त्रिविधनुश्चाधूनयन्महत् ।

रामः समीहितं तस्य नाचेतन्स्वे न चापरे ॥ ६४ ॥

तत इत्यादि---ततोऽनन्तरं रामः अर्धार्धैरचित्रीयत आश्चर्याभूतः ।
'नमोवरिवश्चित्रङ्गः क्यच् । ३ । १ । १९ ।' इति चित्रङ्गः क्यच् ।
छित्त्वात्तङ् । धनुश्च महद्धूनयन् । 'धूव् श्रीचोर्नुग्क्व्यः' । तस्य रामस्य
समीहितमभिप्रेतं न ह्ये आत्मीयाः वानराः न च अपरे परकीया नाचेतन्
न ज्ञातवन्तः ॥ ६४ ॥

छिन्नानैक्षन्त भिन्नांश्च समन्ताद्रामसायकैः ।

कुष्टं हाहेति चाशृण्वन्न च रामं न्यरूपयन् ॥ ६५ ॥

छिन्नानित्यादि--रामसायकैश्छिन्नान् भिन्नांश्च समन्तादैक्षन्त ।
हाहेति च क्रुष्टं शब्दमन्योन्यस्य चाशृण्वन् । नच नैव रामं न्यरूपयन्
राम इति च न निश्चितवन्तः । 'रूप व्याक्रियायाम्' इति चौरादिकः ॥ ६५ ॥

अभिनच्छत्रुसङ्घातानक्षुण्णद्वाजिकुञ्जरम् ।

अपिनट् च रथानीकं न चाज्ञायत संचरन् ॥ ६६ ॥

अभिनदित्यादि--शत्रुसङ्घातानभिनत् भिन्नवान् । वाजिकुञ्जरमक्षुण्णत् स-
म्पिष्टवान् 'क्षुदिर् सम्पेषणे' रथानीकं रथसमूहमपिनट् पिष्टवान् 'पिष्ट् संचूर्णने'
एते सर्वेऽपि धातवो रौधादिकाः । न च संचरन् रामः अज्ञायत न ज्ञातः । स्वैः
परैर्वेत्यर्थात् । कर्मणि लङ् ॥ ६६ ॥

दश दन्तिसहस्राणि रथिनां च महात्मनाम् ।

चतुर्दश सहस्राणि सारोहाणां च वाजिनाम् ॥ ६७ ॥

लक्षे च द्वे पदातीनां राघवेण धनुर्भृता ।

अनीयन्ताष्टमे भागे दिवसस्य परिक्षयम् ॥ ६८ ॥

दशेत्यादि--अनेन राघवेण धनुर्भृता दिवसस्याष्टमे भागे अर्धप्रहरे
दश दन्तिनां सहस्राणि रथिनां च महात्मनां चतुर्दश सहस्राणि ।
सारोहाणां च वाजिनां तावन्त्येव । पदातीनाम् द्वे लक्षे परिक्षयं विनाश-
मनीयन्त नीताः । कर्माणि लङ् । अनीयतेति पाठान्तरं तत्र सर्वमेतदनीय-
तेति योज्यम् ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

यमलोकमिवाग्रश्राद्रुद्राक्रीडमिवाकरोत् ।

शैलैरिवाचिनोद्भूमिं बृहद्भि राक्षसैर्हतैः ॥ ६९ ॥

यमलोकमित्यादि--स राघवः तैः राक्षसैः बृहद्भिः यमलोकमिवाग्र-
शात् सन्दर्भितवान् । 'ग्रन्थ ग्रन्थ सन्दर्भे' इति त्रयादिः । रुद्राक्रीडमिव
रुद्रस्य क्रीडास्थानं श्मशानमिवाकरोत् । भूमिं शैलैरिवाचिनोत् छादि-
तवान् ॥ ६९ ॥

अस्तुवन्देवगन्धर्वा व्यस्मयन्त प्लवङ्गमाः ।

कपीन्द्रेऽतन्यत प्रीतिः पौलस्त्योऽमन्यताद्भुतम् ॥ ७० ॥

अस्तुवान्नित्यादि—तमद्भुतकर्मकारिणं रामं देवा अस्तुवन् स्तुवन्ति स्म ।
 पुत्रवङ्गमाः हनूमत्प्रभृतयः कपयः व्यस्मयन्त विस्मिताः । डिङ्त्वात्तङ् । कपीन्द्रे
 सुप्रीवे प्रीतिरतन्यत तन्यते स्म । कर्मकर्तरि लङ् । पौलस्त्यो विभीषणो-
 ऽद्भुतम् आश्चर्यममन्यत ज्ञातवान् ॥ ७० ॥

राक्षस्यः प्रारुदन्नुच्चैः प्राजुगुप्सन्त रावणम् ।

अमुह्यद्बालवृद्धं च समरौदितरो जनः ॥ ७१ ॥

राक्षस्य इत्यादि—राक्षस्यो भर्त्रादिवधदुःखिता उच्चैः प्रारुदन् रुदितवत्यः ।
 'रुदादिभ्यः सार्वधातुको।७।२।७६।' इतीद् न भवति अहलादित्वान् । रावणं प्राजु-
 गुप्सन्त निन्दितवत्यः । एतद्दुर्नयात् सर्वमिति । बाला वृद्धाश्च तद्वयम् अमु-
 ह्यत् भयान्मोहं गतम् । इतरो जनः राक्षसीबालवृद्धेभ्योऽन्यः समरौत् आकृष्ट-
 वान् । रोदनं कृतवानित्यर्थः । 'रु शब्दे' 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि ।७ ।
 ३।८९।१॥७१ ॥

सर्वतश्चाभयं प्राप्नोन्नैच्छन्नृभ्यस्तु रावणः ।

फलं तस्येदमभ्यायादुरुक्तस्येति चाब्रुवन् ॥ ७२ ॥

सर्वत इत्यादि—सर्वतो देवादिभ्यः अभयं रावणः प्राप्नोत् प्राप्तवान् ।
 यतो 'ब्रह्मणि वरं दातुमुद्यते देवादीनामवधो भूयासम्' इत्युक्तवान् ।
 नृभ्यस्तु सकाशादभयं नैच्छन्नेष्टवान्, 'के देवादिवीरविजेतुः मम पुरस्तात्
 मानुषाः' इति तस्य दुरुक्तस्य फलमभ्यायात् उपागतम् । इत्येवमपरे अब्रुवन्
 उक्तवन्तः ॥ ७२ ॥

ततोऽधावन् महाघोरं रथमास्थाय रावणः ।

अक्ष्मायत मही गृध्राः समारार्यन्त भीषणाः ॥ ७३ ॥

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं महाघोरम् अतिभयङ्करम् रथमास्थायारुह्य रावणः
 योद्धुं वेगेनाधावत् । तस्य च धावतो मही अक्ष्मायतकम्पिता । 'क्ष्मार्यः
 विधूनने' । गृध्राश्च भीषणाः समारार्यन्त अत्यर्थं गतवन्तः । 'सूचिसूत्रिमूढ्यटय-
 त्थ्यशूर्णोतिभ्यो यङ् वाच्यः' इत्यथ्यत्थ्यशूर्णोतीनां ग्रहणं यङ्विधावनेकाजहला-
 द्यर्थमित्युपसंख्यानात् अतैर्यङ् । 'गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः ।७।४।२९ ।' इत्याधिकृत्य
 'यङ् च ।७।४।३०।' इति गुणः ॥ ७३ ॥

मेघाः सविद्युतोऽवर्षेश्वलक्रोपं च शोणितम् ।

अवान् भीमा नभस्वन्तः प्रारुवन्नशिवाः शिवाः ॥ ७४ ॥

मेघा इत्यादि--सविधुतो मेघाश्चेलकनोपं शोणितं रक्तम् अवर्षन् वर्षितव-
न्तः । यावता रक्तेन चेलं वासः कनोपयते सिच्यते तावत्प्रमाणं वृष्टवन्तः ।
'कनूयी शब्दे' इत्यस्य ष्यन्तस्य । 'अर्तिह्रीव्लीरीकनूयीक्ष्माय्यातां पुङ्णौ
।७।३।३६।' इति पुकि यलोपः । 'चैले कनोपेः । ३।४।३३' इति णमुल्ल ।
भीमाः नभस्वन्तः वायवः अवान् वान्ति स्म । 'लडः शाकटायनस्यैवं । ३। ४।
३११।' इति नियमादन्यमते झेर्जुसू न भवति । शिवाः शृगाल्यः अशिवाः
अनिष्टशंसिन्यः प्रारुवन् शब्दितवत्यः ॥ ७४ ॥

आटाट्यतावमत्यासौ दुर्निमित्तानि संयुगे ।

अधुनोद्धनुरस्त्रौघैः प्रौणोन्नूयत विद्विषः ॥ ७५ ॥

आटाट्यतेत्यादि--असौ रावणः दुर्निमित्तान्यवमत्य युद्धार्थमाटाट्यत अत्य-
र्थमाटत् । 'सूचिसूत्रिमूच्यट्यर्त्यशूणोतिभ्यो यङ् वाच्यः' इति यङ् । सङ्गैर्युगे युद्धे
धनुरधुनोत् कम्पितवान् । अस्त्रौघैर्विद्विषः शत्रून् प्रौणोन्नूयत भृशं छादितवान् ।
'ऊर्णुञ्ज आच्छादने' । ऊर्णोतेर्णुवद्वावात् 'सूचिसूत्रिमूच्यट्यर्त्यशूणोतिभ्यो
यङ् वाच्यः' इति वार्तिकेन यङ् । 'अजादोर्द्वितीयस्य । ६।१।२।' इति द्विर्वचने
'न न्द्राः संयोगादयः । ६।१।३।' इति रेफो न द्विस्त्यये । नुशब्दस्य द्विर्वचनम् ।
'गुणो यङ्लुकोः । ७।४।८२।' इति गुणः । 'अकृतसार्वधातुकयोर्दीर्घः । ७।४।२५।' इति दीर्घः ॥ ७५ ॥

अथ युगमकम् ।

व्यनाशयंस्ततः शत्रून् सुग्रीवास्ता महीभृतः ।

ततो व्यरसदग्लायदध्यशेत महीतलम् ॥ ७६ ॥

व्यनाशयन्नित्यादि--ततोऽनन्तरं सुग्रीवास्ताः सुग्रीवेण अस्ताः क्षिप्त्वा
महीं पृथ्वीं विभ्रति धारयन्तीति महभृतः पर्वताः शत्रुसैन्यं व्यनाशयन् मारि-
तवन्तः । ततो मांसादां मांसभक्षकाणां रक्षसां बलं सुग्रीवेण बाधितं पीडितमित्यु-
त्तरश्लोकेन संबन्धः । व्यरसत् आक्रन्दितवत् । अग्लायत् ग्लानिं गतम् ।
युद्धोत्साहं त्यक्तवन्त इति भावः । महीतलमध्यशेत महीतले पतितम् । 'शीङः
सार्वधातुके गुणः । ७।४।२१।' इति गुणः ॥ ७६ ॥

अश्च्योतद्रुधिरं तोयमलपञ्चातिविद्वलम् ।

अशीयत नृमांसादां बलं सुग्रीवबाधितम् ॥ ७७ ॥

१ 'नभस्वद्वातपवनपवमानप्रभञ्जनाः' इत्यमरः । २ 'शिवा गौरिकेरवयोः'
इत्यमरः । ३ सम्प्रहाराभिसम्प्रातकलिसंस्फोटसंयुगाः ।' इत्यमरः ।

अश्च्योतदित्यादि—रुधिरम् अश्च्योतत् अस्त्रवत् । विह्वलं च सत् तोयमल-
पत् अभिलषितवत् । 'वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्कुमुत्रसिष्टुटिलपः । ३ । १ । ७० ' इति
विकल्पेन शप् । अशीयत च अवसन्नम् । 'शदेः शितः । १ । ३ । ६० ।' इति तङ् ।
'पाघ्राध्मास्थाम्रादाण्दृश्यर्तिसार्तिशदसदां पिवजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यर्च्छधौ-
शीयसीदाः । ७ । ३ । ७८ ।' इति शीयादेशः । मांसमदन्तीति । 'अदोऽनन्ने
। ३ । २ । ६८ ।' इति विट् ॥ ७७ ॥

विरूपाक्षस्ततोऽक्रीडत् सङ्ग्रामे मत्तहस्तिना ।

मुष्टिनादालयत् तस्य मूर्धानं वानराधिपः ॥ ७८ ॥

विरूपाक्ष इत्यादि—ततो विरूपाक्षो नाम राक्षसः मत्तहस्तिना मत्तहस्ति-
सदृशेन सुग्रीवेण वानरेण सङ्ग्रामे अक्रीडत् भ्रान्तवान् । तस्य विरूपाक्षस्य
मूर्धानं वानराधिपः सुग्रीवः मुष्टिना अदालयत् दलितवान् । 'दल विदारणे'
चुरादिः ॥ ७८ ॥

अचूर्णयच्च यूपाक्षं शिलया तदनन्तरम् ।

संकुद्धो मुष्टिनातुभ्रादङ्गदोऽलं महोदरम् ॥ ७९ ॥

अचूर्णयदित्यादि---तदनन्तरं वानराधिपः सुग्रीवः यूपाक्षं नाम राक्षसं
शिलया अचूर्णयत् चूर्णितवान् । 'सत्यापपासरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्व-
चवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच् । ३ । १ । २५ ' इति णिच् । अङ्गदोऽपि संकुद्धः मुष्टिना
महोदरम् अलं पर्याप्तमतुभ्रात् व्यापादितवान् । 'णभ तुभ हिंसायाम् ।'
ऋयादिः ॥ ७९ ॥

ततोऽकुष्णादशग्रीवः क्रुद्धः प्राणान् वनौकसाम् ।

अगोपायच्च रक्षांसि दिशश्चारीनभाजयत् ॥ ८० ॥

तत इत्यादि---ततो दशग्रीवः क्रुद्धः वनौकसां वानराणां प्राणानकु-
ष्णात् कुष्टवान् । 'कुष निष्कर्षे' । रक्षांसि च राक्षसांश्चागोपायत् रक्षि-
तवान् । 'गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आंयः । ३ । १ । २८ ।' इत्यायप्रत्ययः ।
अरीश्च शत्रूश्च दिशोऽभाजयत् प्रहितवान् ॥ ८० ॥

आलोकयत्सकाकुत्स्थमधृष्णोद्धोरमध्वनत् ।

धनुरभ्रमयद्गीममभीषयत विद्विषः ॥ ८१ ॥

आलोकयदित्यादि—स दशग्रीवः काकुत्स्थमालोकयत् दृष्टवान् । घोरं घोरदर्शनमधृष्णोत् धृष्टवान् । ‘विधृषा प्रागल्भ्ये’ इति स्वादिः । ताननुसरन् घोरमध्वनत् ध्वनितवान् । रामं मारयामीति भीमं धनुरभ्रमयत् भ्रमितवान् । ‘मितां ह्रस्वः । ६।४।९२।’ मान्तत्वान्मित्वम् । ये विद्विषो वानरा न पलायिताः तानभीषयत् त्रासितवान् । ‘भियो हेतुभये षुक् । ७।३।४०।’ ‘भीस्व्योर्हेतुभये । १।३।६८।’ इति तङ् ॥ ८१ ॥

आस्कन्दलक्ष्मणं बाणैरत्यक्रामच्च तं द्रुतम् ।

राममभ्यद्रवजिष्णुरस्कुनञ्चेषुवृष्टिभिः ॥ ८२ ॥

आस्कन्ददित्यादि—जिष्णुर्जयशीलो दशग्रीवः लक्ष्मणं बाणैरास्कन्दत् बाधितवान् । ‘स्कन्दर् गतिशोषणयोः’ । तं च लक्ष्मणं द्रुतमत्यक्रामत् आक्रान्तवान् । शिति दीर्घः । अतिक्रम्य च राममभ्यद्रवत् अभिमुखं गतवान् । ‘द्रु गतौ’ । इषुवृष्टिभिर्वाणानां सातत्येन प्रपातैः अस्कृनात् छादितवान् । ‘स्कुञ् आवरणे’ ‘स्तम्भुस्तुम्भुस्कुम्भुस्कुम्भुस्कुञ्भ्यः श्नुश्च । ३।१। ८२।’ इति चकारात् आ ॥ ८२ ॥

अपौहद्वाणवर्षं तद्गल्लै रामो निराकुलः ।

प्रत्यस्कुनोदशग्रीवं शरैराशीविषोपमैः ॥ ८३ ॥

अपौहदित्यादि—तद्वाणवर्षं रामो निराकुलः सन् भ्रैरपौहत् अपनी- तवान् । ‘उपसर्गादस्यत्यूहोर्वा’ इति पक्षे तिप् । दशग्रीवं शरैः वाणैराशीविषो- पमैः दुःसहत्वात्प्रत्यस्कुनोत् । प्रतीपं छादितवान् । अत्र श्नुप्रत्ययः ॥ ८३ ॥

मण्डलान्यटतां चित्रमच्छितां शस्त्रसंहतीः ।

जगद्व्यस्मापयेतां तौ न च वीरावसीदताम् ॥ ८४ ॥

मण्डलानीत्यादि—चित्रमाश्चर्यं मण्डलान्याटतां चक्रवद् भ्रान्तौ । शस्त्र- संहतीः अच्छितां च्छिन्नवन्तौ । जगत् व्यस्मापयेतां विस्मापितवन्तौ । ‘नित्यं स्मयतेः । ६।१।५७।’ इत्यात्वम् । न च तौ वीरौ असीदताम् अवसन्नौ । ‘पात्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यतिर्सतिशदसदां पिवजिप्रधमतिप्रमनयच्छ- पश्यच्छौशीयसीदाः । ७।३।७८।’ इति सीदादेशः ॥ ८४ ॥

१ वृषभरूपधारिण इन्द्रस्य ककुदि स्थाित्वा दैत्यान् शाशादिर्जवानेति ककुत्स्थस्य तस्य वंशभवं राममित्यर्थः । एवमभिधानेनास्य परम्पराप्राप्तमपि प्रभूतप्रभावं सूचितम् ।

व्योम प्राचिनुतां बाणैः क्षमामक्षमापयतां गतैः ।

अभित्तां तूर्णमन्योन्यं शिक्षाश्चातनुतां मुहुः ॥ ८५ ॥

व्योमेत्यादि—बाणैर्व्योमं प्राचिनुतां छादितवन्तौ । क्षमां पृथिवीं
अक्षमापयतां कम्पितवन्तौ । 'क्षमायी विधूनने' । 'अतिहीन्योरीक्नूयी-
क्षमाय्यातां पुङ्गौ । ७ । ३ । ३६ ।' इति पुक् । अन्योन्यमभित्तां विदारित-
वन्तौ । 'श्नसोरलोपः । ६ । ४ । १११ ।' चत्वेन च तकारः । तूर्ण
झटिति शिक्षाः धनुषि कौशलानि मुहुर्वारंवारमतनुतां विस्तारितवन्तौ ॥ ८५ ॥

समाधत्तासुरं शस्त्रं राक्षसः क्रूरविक्रमः ।

तदक्षरन्महासर्पान्व्याघ्रसिंहांश्च भीषणान् ॥ ८६ ॥

समाधत्तेत्यादि—राक्षसः असुरं शस्त्रं समाधत्त धनुष्यारोपितवान् ।
श्लौ द्विर्वचनमभ्यासकार्यम् । 'श्नाभ्यस्तयोरातः । ६ । ४ । १२ ।' इत्याकार-
लोपः । 'दधस्तथोश्च । ८ । २ । ३८ ।' इति भष्भावः । 'झषस्तथोर्धोऽधः
। ८ । २ । ४० ।' इति प्रतिषेधात् तकारस्य धत्वं न भवति । तत्संहितं सर्पा-
दीन् अक्षरत् मुक्तवत् ॥ ८६ ॥

न्यषेधत्पावकास्त्रेण रामस्तद्राक्षसस्ततः ।

अदीव्यद्रौद्रमत्युग्रं मुसलाद्यगलत्ततः ॥ ८७ ॥

न्यषेधदित्यादि—तदासुरं शस्त्रं रामः पावकास्त्रेण आग्नेयास्त्रेषु न्यषेधत्
निषिद्धवान् । ततो राक्षसो रौद्रमस्त्रमत्युग्रमदीव्यत् क्षिप्तवान् । अत्र
'दिवु क्रोडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु' इति ।
दिविर्गतौ वर्तते । ततो रौद्रात् क्षिप्तात् मुसलादिप्रहरणमगलत् निर्गतवत् ।
'गल अदने' अनेकार्थत्वाद्घातूनां गलित् निर्गमे वर्तते ॥ ८७ ॥

गान्धर्वेण न्यविध्यत्क्षितीन्द्रोऽथ नराशनः ।

सर्वमर्मसु काकुत्स्थमौम्भतीक्ष्णैः शिलीमुखैः ॥ ८८ ॥

गान्धर्वेणेत्यादि—क्षितीन्द्रो रामः तद्रौद्रमस्त्रं गान्धर्वेणास्त्रेण न्यवि-
ध्यत् ताडितवान् । अथ नराशनोनाम राक्षसः शिलीमुखैर्बाणैः सर्वमर्मसु
काकुत्स्थमौम्भत् पूरितवान् । 'उम्भ पूरणे' तुदादौ ॥ ८८ ॥

ततस्त्रिशिरसं तस्य प्रावृश्चल्लक्ष्मणो ध्वजम् ।

अमभ्रात्सारथिं चाशु भूरिभिश्चातुदच्छरैः ॥ ८९ ॥

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं लक्ष्मणस्तस्य रावणस्य ध्वजं त्रिशिरसं त्रिशूलाग्रं प्रावृश्चत् छिन्नवान् । 'ओत्रश्चूच्छेदने' तुदादौ । सारथिं चामभ्रात् ध्वस्तवान् । 'मन्थ विलोडने' क्रयादिः । भूरिभिश्च प्रभूतैः शरैरतुदत् व्यथितवान् ॥ ८९ ॥

अश्वान्विभीषणोऽतुभ्रात्स्यन्दनं चाक्षिणोद्भुतम् ।

नाक्षुभ्राद्राक्षसो भ्रातुः शक्तिं चोदवृहद्गुरुम् ॥ ९० ॥

अश्वानित्यादि—विभीषणश्चाश्वानतुभ्रात् हतवान् । 'णभ तुभ हिंसायाम्' स्यन्दनं चाक्षिणोत् भग्नवान् । 'क्षिणु हिंसायाम्' तनादौ । राक्षस रावणः नाक्षुभ्रात् न क्षोभं गतः । 'क्षुभ सञ्चलने' क्रयादौ गृह्यते न दिवादौ । भ्रातुर्विभीषणस्य कृते गुरुं महतीं शक्तिमुदवृहत् उद्यतवान् । 'वृहू उद्यमने' तुदादौ । गुरुमिति 'वोतो गुणवचनात् । ४ । १ । ४४ ।' इति विकल्पेन ङीप् ॥ ९० ॥

तामापतन्तीं सौमित्रिस्त्रिधाऽकृन्तच्छिलीमुखैः ।

अशब्दायन्त पश्यन्तस्ततः क्रुद्धो निशाचरः ॥ ९१ ॥

तामित्यादि—तस्योपरि शक्तिमापतन्तीं सौमित्रिः शिलीमुखैस्त्रिधा त्रिप्रकारम् अकृन्तत् छिन्नवान् । 'कृती छेदने' तुदादौ । यत्र प्रेक्षकाः पश्यन्तः ते अशब्दायन्त शब्दं कृतवन्तः । 'वीर लक्ष्मण ! साधु कृतम्' इति । 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेवेभ्यःकरणे । ३ । १ । २७ ।' इति करोत्यर्थे क्यङ् । ततोऽनन्तरं निशाचरो रावणः क्रुद्धः क्रोधं कृतवान् ॥ ९१ ॥

क्रुद्धो निशाचरः किं कृतवानित्याह—

अष्टघण्टां महाशक्तिमुदयच्छन्महत्तराम् ।

रामानुजं तयाविध्यत्स महीं व्यसुराश्रयत् ॥ ९२ ॥

अष्टेत्यादि—अष्टौ घण्टा यस्यां महाशक्तौ तां शक्तिं प्रभावेण महत्तराम् अतिशयेन महाप्रमाणाम् उदयच्छत् उद्यतवान् । 'समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्ये । १ । ३ । ७५ ।' इति तङ् न भवति अकर्त्रभिप्रायत्वात् । तथा च करणभूतया

रामानुजं लक्ष्मणमविध्यत् विद्ववान् । राममनुजातवानिति । 'अनौ कर्मणि
। ३ । २ । १०० ।' इति डः । स च लक्ष्मणो विद्वः व्यसुः विगतप्राण
इव महीमाश्रयत् आश्रितवान् । भुवि पतित इत्यर्थः ॥ ९२ ॥

राघवस्याभृशायन्त सायकास्तैरुपद्रुतः ।

ततस्तूर्णं दशग्रीवो रणक्षमां पर्यशेषयत् ॥ ९३ ॥

राघवस्येत्यादि—तस्मिन् पतिते राघवस्य सम्बन्धिनो वाणाः अभृशा-
यन्त अभृशा भृशा अभवन् शीघ्रगतयो जाता इत्यर्थः । ततस्तैरुपद्रुतौ
दशग्रीवः तूष्णीं भूत्वा रणक्षमां रणभूमिं पर्यशेषयत् त्यक्तवान् । 'शिप अस-
वोपयोगे' चुरादिः ॥ ९३ ॥

सस्फुरस्योदकर्षञ्च सौमित्रेः शक्तिमग्रजः ।

असिञ्चदोषधीस्ता याः समानीता हनूमता ॥ ९४ ॥

सस्फुरस्येत्यादि—अग्रजश्च ज्येष्ठो भ्राता रामः सौमित्रेः लक्ष्मणस्य
सस्फुरस्य उच्छ्वसतः शक्त्याहततया मूर्च्छितत्वेऽप्यानीगर्तप्राणत्वात् हृदयलग्नां
वक्षसि प्रविष्टामुदकर्षत् उत्कृष्टवान् । याश्च हनूमताष्वध्यः समानीतास्ता
असिञ्चत् व्रणदेशेषु क्षारितवान् ॥ ९४ ॥

उदजीवत्सुमित्राभूर्भ्राताऽऽश्लिष्यत्तमायतम् ।

सम्यङ् मूर्धन्युपाशिङ्घत्पृच्छञ्चनिरामयम् ॥ ९५ ॥

उदजीवदित्यादि—ततः सुमित्राभूर्लक्ष्मणः उदजीवत् प्रत्युज्जीवितवान् ।
त च जीवितं भ्राता रामः आयतं दीर्घकालमाश्लिष्यत् आलिङ्गितवान् ।
मूर्धनि च सम्यगुपाशिङ्घत् आत्रातवान् । 'शिधि आत्राणे' । निरामयं
च कुशलमपृच्छत् पृष्टवान् । 'किं व्यपगता पीडा' इति ॥ ९५ ॥

ततः प्रोदसहन्सर्वे योद्धुमभ्यद्रवत्परान् ।

अकृच्छ्रायत च प्राप्नो रथेनान्येन रावणः ॥ ९६ ॥

तत इत्यादि—पुनः सर्व एव रामादयो योद्धुं प्रोदसहन् प्रोत्साहितवन्तः ।
'सह मर्षणे' इति चौरादिकः परस्मैपदी । 'आ घृषाद्वा' इति णिञ् न
भवाति । न तु भौवादिकः । तस्यात्मनेपदित्वात् । रावणश्चान्येन रथेन प्राप्तः

१ अयं लक्ष्योऽर्थः । वस्तुतो यथोक्ताया व्यसुताया आसन्नत्वात् । २ पीडितः
३ सुमित्राया भवतीति यथोक्तः । किर । ४ मस्तके । मस्तकाघ्राणं हि
वात्सल्यातिशयेनेति शिष्टाचारः ।

सन् परानुत्सहतोऽभ्यद्रवत् अभिमुखं गतवान् । अकृच्छ्रायत च कृच्छ्राय
पापाय कर्मणे क्रामितवान् । 'सत्रकक्षकष्टकृच्छ्रगहनेभ्यः कण्वचिकीर्षायांमिति
वक्तव्यम्' इति वयङ् । कण्वचिकीर्षा पापचिकीर्षा ॥ ९६ ॥

भूमिष्ठस्यासमं युद्धं रथस्थेनेति मातलिः ।

आहरद्रथमत्युग्रं सशस्त्रं मघवाज्ञया ॥ ९७ ॥

भूमिष्ठस्येत्यादि—भूमिष्ठस्य रामस्य । 'अम्बाम्बगोभूमिसव्यापद्वित्रि-
कुशेकुशङ्कवङ्गुमञ्जुपुञ्जिपरमेवर्हिर्दिव्यग्निभ्यः स्थः । ८।३।९७' इति मूर्धन्यः ।
रथस्थेन रावणेन सह युद्धमसममतुल्यमयुक्तमिति निरूपितवतो मघ-
वतः इन्द्रस्य आज्ञया मातलिः सशस्त्रं रथमत्युग्रमाहरत् आनीत-
वान् ॥ ९७ ॥

सोऽध्यष्ठीयत रामेण शस्त्रं पाशुपतं ततः ।

निरास्यत दशास्यस्तच्छक्रास्त्रेनाजयन्नृपः ॥ ९८ ॥

सोऽध्यष्ठीयतेत्यादि—स रथो रामेणाध्यष्ठीयत अध्यापितः कर्मणि लङ् ।
'धुमाश्यागापाजहातिसां हलि । ६।४। ६६ ।' इतीवम् । 'उपसर्गात्
सुनोतिसुवतिस्यतिस्तोतिस्तोभतिस्थासेनयसेधासिचसञ्जस्वञ्जाम् । ८।३।६५।'
इति षत्वमङ्गव्यत्रायेऽपि । ततोऽनन्तरं दशास्यः पाशुपतमस्त्रं निरास्यत क्षिप्त-
वान् । 'उपसर्गादस्यत्यूहोर्वा वचनम्' इति तङ् । तत्पाशुपतं नृपो रामः शक्रा-
स्त्रेणाजयत् जितवान् ॥ ९८ ॥

ततः शतसहस्रेण रामः प्रौर्णोन्निशाचरम् ।

वाणानामक्षिणोद्दुर्यान् सारथिं चादुनोद्द्रुतम् ॥ ९९ ॥

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं रामः निशाचरं रावणं वाणानां शतसहस्रेण
लक्षेण प्रौर्णोत् छादितवान् । 'गुणोऽष्टके । ७।३।९१।' इति गुणः । द्रुतं धुर्यान्-
श्वान् । 'धुरो यङ्हकौ । ४।४।७७।' इति यत् । आक्षिणोत् हतवान् । सारथिं
चादुनोत् उपतापितवान् ॥ ९९ ॥

१ 'इन्द्रो मरुत्वान् मघवा' इत्यमरः । २ 'धूर्वहे' धुर्यधौरेयधुरीणाः सधुरन्धराः ।
इत्यमरः ।

अदृश्यन्तानिमित्तानि प्राह्वलत् क्षितिमण्डलम् ।

रावणः प्राहिणोच्छूलं शक्तिं चैन्द्रीं महीपतिः ॥ १०० ॥

अदृश्यन्तेत्यादि—रावणस्यानिमित्तानि अदृश्यन्त दृष्टानि । कर्मणि लङ् ।
क्षितिमण्डलं प्राह्वलत् । चलितम् । 'ह्वल चलने ।' रावणश्चानिमित्तानि
दृष्ट्वा ब्रह्मदत्तशूलं प्राहिणोत् क्षिप्तवान् । महीपतिः स राम ऐन्द्रीं शक्तिं प्राहि-
णोत् । 'हि गतौ' स्वादिः ॥ १०० ॥

ताभ्यामन्योन्यमासाद्य समवाप्यत संशमः ।

लक्षेण पत्रिणां वक्षः क्रुद्धो रामस्य राक्षसः ॥ १०१ ॥

ताभ्यामित्यादि—ताभ्यां शूलशक्तिभ्यामन्योन्यमासाद्य संश्लिष्य संशमः
संशमनम् । ध्वि 'नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचामेः । ७।३।३४।' इति वृद्धिप्रतिषेधः ।
समवाप्यत प्राप्तः । कर्मणि लङ् । अनन्तरं क्रुद्धो राक्षसः पत्रिणां शराणां
लक्षेण शतसहस्रेण रामस्य वक्षः अस्तृणादिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । छादि-
तवान् । प्वादीनां ह्रस्वः । ७।३।८० ।' १०१ ॥

अस्तृणादधिकं रामस्ततोऽदेवत सायकैः ।

अक्लाम्यद्रावणस्तस्य सूतो रथमनाशयत् ॥ १०२ ॥

अस्तृणादित्यादि—ततोऽनन्तरं रामो राक्षसादधिकम् अदेवत क्रीडितवान् ।
'तेवृ देवृ देवने' इति भ्वादावनुदात्तेत् । स तथा देवमानेनाहतो रावणः
अक्लाम्यत् ग्लानिमुपगतः । तस्य तथाभूतस्य रावणस्य सूतः सारधिः
स्वामिजीवितेच्छया रथमनाशयत् दूरम् अपनीतवान् ॥ १०२ ॥

राक्षसोऽतर्जयत् सूतं पुनश्चाढौकयद्रथम् ।

निरास्येतामुभौ बाणानुभौ धुर्यानविध्यताम् ॥ १०३ ॥

राक्षस इत्यादि—राक्षसो रावणः सूतमतर्जयत् भर्त्सितवान् । 'हा
पाप ! किं शत्रुसमीपाद्रथं पराङ्मुखयसि' इति । इत्थं संतर्जितः सूतः पुना-
रथमढौकयत् ढौकितवान् । रामसमीपमित्यर्थात् । उभौ रामरावणौ बाणा-
न्निरास्येतां क्षिप्तवन्तौ । 'उपसर्गादस्यःस्यूहोर्वा' इति तङ् । धुर्यानश्चानविध्यतां
ताडितवन्तौ ॥ १०३ ॥

उभावकृन्ततां केतूनव्यथेतामुभौ न तौ ।

अदीप्येतामुभौ धृष्णू प्रायुजातां च नैपुणम् ॥ १०४ ॥

उभावित्यादि—तावुभौ रामरावणौ केतून् ध्वजानकृन्ततां छिन्नवन्तौ ।
तावुभौ नाव्यथेतां न व्यथितवन्तौ । उभावदीप्येतां शोभितवन्तौ । धृष्णू
च प्रगल्भौ नैपुणं कौशलं प्रायुञ्जातां प्रयुक्तवन्तौ ॥ १०४ ॥

उभौ मायां व्यतायेतां वीरौ नाश्राम्यतामुभौ ।

मण्डलानि विचित्राणि क्षिप्रमाक्रामतामुभौ ॥ १०५ ॥

उभौ प्रायामित्यादि—तावुभौ मायां व्यतायेतां विस्तारितवन्तौ 'तृ प्लवन-
सन्तरणयोः' भ्वाद्दौ । उभौ वीरौ नाश्राम्यतां न श्रान्तौ । युध्यमानौ
च तावुभौ मण्डलानि विचित्राणि मतिर्वचित्र्यात् क्षिप्रमाक्रामतां भ्रान्तौ ।
'वा भ्राशश्लाशभ्रमुक्रमुहुमुत्रसिन्नुटिलषः । ३।१ । ७०।' इति शप् ॥ १०५ ॥

न चोभावप्यलक्ष्येतां यन्तारावाहतामुभौ ।

स्यन्दनौ समपृच्येतामुभयोर्दीप्तिवाजिनौ ॥ १०६ ॥

न चेत्यादि—तावुभौ नाप्यलक्ष्येतां प्रेक्षकैर्न ज्ञातौ । 'अयं रामः अयं च
रावणः' इति । कर्मणि लङ् । यन्तारौ सूतौ । कर्मपदमेतत् । उभौ परस्परस्या-
हतामाहतवन्तौ । 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि ङ्किति
। ६ । ४ । ३७ ।' इत्यनुनासिकलोपः । स्यन्दनौ रथौ उभयोः रामराव-
णयोः दीप्तिवाजिनौ चामरादिमण्डनात् दीप्ता उज्ज्वला वाजिनो ह्याः ययोः
तयोः स्यन्दनौ रथौ समपृच्येतां संपृक्तौ । 'पृची सम्पके ।' कर्मणि
लङ् ॥ १०६ ॥

ततो मायामयान्मूर्ध्नो राक्षसोऽप्रथयद्रणे ।

रामेणैकशतं तेषां प्रावृश्च्यत शिलीमुखैः ॥ १०७ ॥

तत इत्यादि—ततोऽनन्तरं राक्षसो रावणो मायामयान् मायास्वभाव-
न्मूर्ध्नः शिरांसि अप्रथयत् प्रदर्शितवान् । 'प्रथ प्रख्याने' इति घटादौ । तेषां च
शिरसाम् एकशतम् एकाधिकं शतं रामेण शिलीमुखैः शरैः प्रावृश्च्यत छिन्नम् ।
कर्मणि लङ् ॥ १०७ ॥

समक्षुभ्रघ्नदन्वन्तः प्राकम्पन्त महीभृतः ।

सन्त्राप्तमविभः शक्रः प्रैङ्गच्च क्षुभिता क्षितिः ॥ १०८ ॥

१ 'ग्रहभेदे ध्वजे केतुः' इत्यमरः । बहुवचनमविवाक्षितम् । यद्वा वारंवार-
मिति द्योतयितुर्भेदम् । वस्तुतस्तु रामस्य केतुं ताडितवान्, रावणस्य तु केतुं
वारंवारं छिन्नवानिति ।

समक्षुभ्रन्नित्यादि—छिन्नानां च पततां क्षोभादुद्वन्तः सागराः समक्षु-
भ्रन् सञ्चलिताः । 'क्षुभ सञ्चलने' इति ऋथादिः । महीभृतः पर्वताः प्राकम्पन्त
कम्पिताः । शक्र इन्द्रः संत्रासमविभः भृतवान् । पततां शिरसां पुनः
पुनरुदयात् । मायया विमोह्यायं राममजैषीदिति । विभर्तैः श्लौ द्विर्वचनम् ।
भृन्वामित् । ७ । ४ । ७६ । धातोरुणः । लोपविसर्जनीयौ । प्रैङ्ङत् क्षुभितश्च
स शक्रः । 'उखवखिवखवखिमखमाखि' इत्यादाविखिरिति पठ्यते । क्षितिश्च
क्षुभिता चलिता ॥ १०८ ॥

ततो मातलिना शस्त्रमस्मर्यत महीपतेः ।

वधाय रावणस्योग्रं स्वयम्भूर्यदकल्पयत् ॥ १०९ ॥

तत इत्यादि—रावणस्य वधाय स्वयम्भूर्यदस्त्रमकल्पयत् कल्पितवान् ।
कृपेणो गुणः 'कृपो रो लः । ८ । २ । १८ ।' तदस्त्रं मातलिना अस्मर्यत स्मारितम् ।
स्मरतेर्ण्यन्तात् कर्मणि लङ् । भित्त्वाद्भ्रस्वत्वम् । महीपतेरिति शेषे षष्ठी ॥ १०९ ॥
कीदृशं तदित्याह—

नभस्वान्यस्य वाजेषु फले तिग्मांशुपावकौ ।

गुरुत्वं मेरुसङ्काशं देहः सूक्ष्मो वियन्मयः ॥ ११० ॥

नभस्वानित्यादि—यस्य शस्त्रस्य वाजेषु पक्षेपुं नभस्वान् वायुः सन्निहितः ।
फले शल्ये तिग्मांशुरादित्यः पावकश्च । यस्य गुरुत्वं मेरुवत् मेरोरिव । 'दृढत्वं
मेरुसङ्काशम्' इति पाठान्तरम् । तत्र मेरुस्थगौरवसदृशमित्यर्थः । सूक्ष्मो देहो
दिव्यचक्षुर्गम्यः वियन्मय आकाशस्वभावः ॥ ११० ॥

राजितं गारुडैः पक्षैर्विश्वेषां धाम तेजसाम् ।

स्मृतं तद्रावणं भित्त्वा सुघोरं भुव्यशाययत् ॥ ११२ ॥

राजितमित्यादि—गारुडैः पक्षै राजितं शोभितम् । तेजसां विश्वेषाम्
अनेकप्रकाराणां धाम स्थानम् । तदस्त्रं रामेण स्मृतं स्मृतिमागत्य सुघोरं
रावणं भित्त्वा भुवि अशाययत् शायितवत् । रावणस्योदरं भित्त्वा भूमौ
पातितवदित्यर्थः ॥ १११ ॥

१ 'पक्षो वाजस्त्रिपूत्तरे' इत्यमरः । २ 'तत्र तस्येव ५।१।११२' इति वतिः ।
३ अयं लक्षयोऽर्थः । यद्वा विश्वशब्दः सर्वतेजस्विपरः तेन तस्य तस्य तेजस्विनो
यत्तेजस्तस्य ।

आवघ्नन्कापिवदनानि सम्प्रसादं

प्राशंसत्सुरसामितिर्नृपं जितारिम् ।

अन्येषां विगतपरिप्लवा दिगन्ताः

पौलस्त्योऽजुषत शुचं विपन्नबन्धुः ॥ ११२ ॥

इति श्रीमहावैयाकरणभट्टिकविप्रणीते रामचरिते

काव्ये तिङन्तकाण्डे लङ्गविलसितो

नाम सप्तदशः सर्गः ॥

आवघ्नन्नित्यादि—तस्मिन् हते कपिवदनानि कर्तृभूतानि प्रतोषात् सम्प्रसादमावघ्नन् सेवितवन्ति । सुरसामितिः सुराणां समितिः सभा, सङ्घो वा नृपं जितारिं प्राशंसत् स्तुतवती । अन्येषाम् अन्यजनानां दिगन्ताः रावणवधाद्विगतपरिप्लवा निरुपद्रवा जाता इत्यर्थात् । पौलस्त्यो विभीषणः विपन्नबन्धुः मृतभ्रातृकः शुचं शोकमजुषत् सेवितवान् । जुपिस्तु-दादावनुदात्तेर् ॥ ११२ ॥

इति श्रीजयदेवापरनामधेयश्रीजयमङ्गलसूरिविरचितया जयमङ्गला-

ख्यया व्याख्यया समलंकृते श्रीरामचरितापरपर्याये भट्टिकाव्ये

चतुर्थे तिङन्तकाण्डे लक्षणरूपे चतुर्थः परिच्छेदः,

लक्ष्यरूपे कथानके 'रावणवधो' नाम

सप्तदशः सर्गश्च ।

अष्टादशः सर्गः ।

इतः प्रभृति लटमाधिकृत्य लङ्गविलसितमाह—तत्र वर्तमाने लट् ततो-
ऽन्यत्रापि दर्शयिष्यति—

व्यश्रुते स्म ततः शोको नाभिसम्बन्धसम्भवः ।

विभीषणमसावुच्चै रोदिति स्म दशाननम् ॥ १ ॥

व्यश्रुत इत्यादि—ततो वधादनन्तरं शोको विभीषणं व्यश्रुते स्म व्याप्त-
वान् । 'लट् स्मे ।३।२।११८।' इति भूतानद्यतनपरोक्षे लट् । नाभिसम्बन्धेन
एकोदरसम्बन्धेन सम्भवो यस्य शोकस्य । असौ प्रवृद्धशोको विभीषणः उच्चै-
र्महता शब्देन दशाननं नामप्राहं रोदिति स्म रुदितवान् ॥ १ ॥

१ 'सङ्घे सभायां समितिः' इत्यमरः । २ अत्र 'प्रहर्षिणी' वृत्तं
तलक्षणं च यथोक्तं छन्दोऽनुशासने 'त्रौ त्रौ गः प्रहर्षिणी गैः ।' इति ।

तदेव दर्शयन्नाह--

भूमौ शेते दशग्रीवो महार्हशयनोचितः ।

नेक्षते विह्वलं मां च न मे वाचं प्रयच्छति ॥ २ ॥

भूमावित्यादि—महार्हशयने उचितो यः स भूमौ शेते । शोकाद्विह्वलं च मां नेक्षते । मे वाचं प्रतिवचनं न प्रयच्छति न ददाति । 'दाण् दाने ।' 'पात्राधमास्थान्नादान्दृश्यति सर्तिशदसदां पिवजिब्रधमतिप्रमनयच्छपश्यच्छ'—धौशीयसीदाः । ७ । ३ । ७८ ।' इति यच्छादेशः ॥ २ ॥

विपाकोऽयं दशग्रीव संदृष्टोऽनागतो मया ।

त्वं तेनाऽभिहितः पथ्यं किं कोपं न नियच्छसि ॥ ३ ॥

विपाक इत्यादि—हे दशग्रीव ! अयं विपाको मरणलक्षणं फलम् अनागतो भविष्यन्नेव मया संदृष्टः सम्यगुपलब्धः । इदानीं पश्यसि तेन कारणेन त्वमभिहितोऽसि 'सीतां मुञ्च' इति । अतः किमिति कोपं न नियच्छसि । नापनयासि । नास्त्येव मम दोषः । निपूर्वो यमिरपनयने वर्तते ॥ ३ ॥

भजन्ति विपदस्तूर्णमतिक्रामन्ति सम्पदः ।

तान्मदान्नावतिष्ठन्ते ये मते न्यायवादिनाम् ॥ ४ ॥

भजन्तीत्यादि—अन्यच्च ये स्वामिनो मदादवलेपात् मदोद्रेकात् न्यायवादिनां माल्यवत्प्रभृतीनां राक्षसानां मते नावातिष्ठन्ते राज्यकार्यभारं नानुष्ठातुं प्रवर्तन्ते । 'समवप्रविभ्यः स्थः । १ । ३ । २२ ।' इति तङ् । ते पुरुषाः विपदस्तूर्णं भजन्ति अवसादं सेवन्ते । भजिरुभयपदी । सम्पदश्चातिक्रामन्ति त्यजन्ति ॥ ४ ॥

अपथ्यमायतौ लोभादामनन्त्यनुजीविनः ।

प्रियं शृणोति यस्तेभ्यस्तमृच्छन्ति न सम्पदः ॥ ५ ॥

अपथ्यमित्यादि—प्रायेण ह्यनुजीविनः प्रहस्तादिसदृशाः आयतावागाभिनि काले वृद्धावस्त्रायामपथ्यमनिष्टं फलं लोभेन तृष्णया वा प्रियमामनन्ति उपदिशन्ति 'साधु इदम्' इति । तेभ्यो यः शृणोति तं सम्पदो न ऋच्छन्ति । अर्तेः । ऋच्छादेशः ॥ ५ ॥

प्राज्ञास्तेजस्विनः सम्यक् पश्यन्ति च वदन्ति च ।

तेऽवज्ञाता महाराज क्लाम्यन्ति विरमन्ति च ॥ ६ ॥

प्राज्ञा इत्यादि—ये प्राज्ञाः बुद्धिमन्तः तेजस्विनः अस्माद्धिधाः सम्यगाविपरीतं शास्त्रचक्षुषा शास्त्रोपदेशजन्यबोधद्वारा पश्यन्ति वदन्ति च सम्यक् । हे महाराज ! अवज्ञातास्ते तिरस्कृताः क्लाम्यन्ति स्वयं खिद्यन्ते तादृशेभ्यो विरमन्ति च विमुखा भवन्ति । 'तदवज्ञानफलमेतत्' इति भावः ॥ ६

लेढि भेषजवान्नित्यं यः पथ्यानि कटून्यपि ।

तदर्थं सेवते चाप्तान् कदाचिन्न स सीदति ॥ ७ ॥

लेढीत्यादि—यस्तु स्वामी आदौ कटून्यपि पथ्यानि परिणामसुखानि भेषजवदौषधानीव नित्यं लेढि श्रोत्रेन्द्रियेण सहर्षमनुभवति तदर्थं चाप्तानविसंवादिनः सेवते स कदाचिन्नावसीदति, इह च परत्र चावसन्नो न भवति ॥७॥

सर्वस्य जायते मानः स्वहिताच्च प्रमाद्यति ।

वृद्धौ भजति चापथ्यं नरो येन विनश्यति ॥ ८ ॥

सर्वस्येत्यादि—प्रायेण वृद्धौ सत्यां सर्वो जनो मानी सञ्जायते वृद्धेश्चित्तविकारित्वात् । स्वहिताच्च प्रमाद्यति हिताद्भ्रष्टो भवति । अपथ्यमहितं च भजति सेवते । येनासेवितेन पथ्येन नरो विनश्यति ॥ ८ ॥

द्वेष्टि प्रायो गुणेभ्यो यन्न च स्निह्यति कस्यचित् ।

वैरायते महद्भिश्च शीयते वृद्धिमानपि ॥ ९ ॥

द्वेष्टीत्यादि—यद्यस्माद्बुद्धौ सत्यां प्रायेण गुणेभ्यः वृद्धसेवित्वादिभ्यः प्रभुद्वेष्टि । 'क्रुधद्बुहेर्ष्याऽसूयाऽर्थानां यं प्रति कोपः । १ । ४ । ३७।' इति सम्प्रदानसंज्ञा । न च कस्यचित् स्निह्यति प्रीयते । महद्भिश्च सह वैरायते वैरं करोति 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेवेभ्यः करणे । ३ । १ । १७।' इति क्यङ् । तस्मात्कारणात् वृद्धिमानपि शीयते विनश्यति । शदेः शिति शीयादेशः । 'शदेः शितः । १ । ३ । ६० ।' इति तङ् ॥ ९ ॥

समाश्वसिमि केनाहं कथं प्राणिमि दुर्गतः ।

लोकत्रयपतिभ्राता यस्य मे स्वपिति क्षितौ ॥ १० ॥

समाश्वसिमोत्यादि—यस्य मम भ्राता लोकत्रयपतिः त्रिलोकीविजेतृत्वात् क्षितौ भूतले स्वपिति सोऽहं केनोपायेन समाश्वसिमि शोकं त्यजामि । 'रुदादिभ्यः सार्वधातुको ७ । २ । ७६।' इतीट् । दुर्गतो दुःखितः कथं केन प्रकारेण प्राणिमि जीवामि ॥ १० ॥

अहो जागर्ति कृच्छ्रेषु दैवं यद्वलभिज्जितः ।

लुठयन्ति भूमौ क्लिद्यन्ति बान्धवा मे स्वपन्ति च ॥ ११ ॥

अहोइत्यादि—अहो इति विस्मये । कृच्छ्रेषु दुःखेषु दैवं जागर्ति अव-
हितामित्यर्थः । नित्यं दुःखोत्पादनात् । यद्यस्मात्कारणादपरमपि मम बान्धवाः
चलभिज्जितः बलं भिनत्तीति बलभिदिन्द्रः तं जयन्तीति किप् । भूमौ
लुठयन्ति । 'रूठ लुठ लोटने' दिवादौ । तथा क्लिद्यन्ति पूयन्ति । स्वपन्ति दीर्घ-
निद्रां प्रवेशिताः ॥ ११ ॥

शिवाः कुष्णन्ति मांसानि भूमिः पिबति शोणितम् ।

दशग्रीवसनाभीनां समदन्त्यामिषं खगाः ॥ १२ ॥

शिवा इत्यादि—दशग्रीवसनाभीनां दशग्रीवेण तुल्यगोत्राणाम् । 'ज्योति-
र्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु । ६ । ३ । ८५।' इति
समानस्य सभावः । मांसानि शिवाः शृगालाः कुष्णन्ति । 'कुष निष्कर्षे' ।
भूमिः शोणितं पिबति । खगाः पक्षिणः आमिषं मांसं शोणितव्यतिरिक्तं वसा-
मज्जादिकं वा समदन्ति भक्षयन्ति ॥ १२ ॥

येन पूतक्रतोमूर्ध्नि स्थायते स्म महाऽऽहवे ।

तस्यापीन्द्रजितो देवाद्धौङ्गैः शिरसि लीयते ॥ १३ ॥

येनेत्यादि—येनेन्द्रजिता पूतक्रतोऽरिन्द्रस्य महाहवे महासमरे मूर्ध्नि अग्रतः
स्थायते स्म स्थितम् । 'अपरोक्षे च । ३।२।११९।' इति लट् । विभीषणस्य
ह्यपरोक्षभूतानघतनत्वादर्थस्य । तस्यापीन्द्रजितः शिरसि देवादामाद्धेतुभूतात्
ध्वाङ्क्षैः काकैर्लीयते । वर्तमान एव भावे लट् ॥ १३ ॥

स्वर्भानुर्भास्करं ग्रस्तं निष्ठीवति कृताह्निकः ।

अभ्युपैति पुनर्भूतिं रामग्रस्तो न कश्चन ॥ १४ ॥

स्वर्भानुरित्यादि—स्वर्भानुः राहुः भास्करं ग्रस्तं ग्रासीकृतं कृताह्निकः
कृताहारः निष्ठीवति स्वमुखान्निरस्यति । रामग्रस्तो रामाभिभूतः
कश्चन कश्चिदपि पुनर्भूतिं नाभ्युपैति न प्राप्नोति । 'एत्येधत्यूहसु-

१ 'सपिण्डास्तु सनाभयः ।' इत्यमरः । २ 'शिवा गौरीफेरवयोः ।' इत्यमरः । ३ 'पल्लं
क्रव्यमामिषम् ।' इत्यमरः । ४ अयं तु लक्ष्योऽर्थः । ५ 'तमस्तु राहुः स्वर्भानुः ।'
इत्यमरः । ६ पुनरभ्युदयं पुनर्जन्मेति तु ध्वन्यते । पुनर्भवन्नं विजयित्वेन गर्भ-
गतत्वेन वा रामग्रासोत्तरं सम्भवनमिति पुनः 'भूसत्तायाम्' 'स्त्रियां क्तिन्'
३।३।९४।' इति क्तिन् । एवं च रामस्य परब्रह्मत्वं सूचितम् ।

६।१।८९।' इति वृद्धिः । अभ्यमीति पाठान्तरमयुक्तं छान्दसत्वात् ।
यतः 'अमो बहुलं छन्दसि' हलादावनन्तरे सार्वधातुके । 'तुरुस्तुशम्यमः
सार्वधातुके । ७।३।९५।' इतीद् ॥ १४ ॥

त्वमजानन्निदं राजन्नीडिषे स्म स्वविक्रमम् ।

दातुं नेच्छसि सीतां स्म विषयाणां च नेशिषे ॥ १५ ॥

त्वमित्यादि—हे राजन् ! त्वमिदं यथोदितमजानन् स्वविक्रममीडिषे स्म
स्तुतवानसि । 'ईड्जनोर्ध्वे च । ७।२।७८।' इति चकारात् सेशब्दस्या-
पीद् । एवं च कृत्वा त्वं सीतां दातुं नेच्छसि स्म नेष्टवानसि, विषयाणां
शब्दादीनां नेशिषे स्म विषयान्न जितवानसि । 'ईशः से । ७।२।७८।' इतीद् ।
'अधीगर्थदयेशां कर्मणि । २।३।५२।' इति कर्मणि षष्ठी ।
सर्वत्र 'अपरोक्षे च । ३।२।११९।' इति लट् ॥ १५ ॥

मन्त्रे जातु वदन्त्यज्ञास्त्वं तानप्यनुमन्यसे ;

कथं नाम भवांस्तत्र नावैति हितमात्मनः ॥ १६ ॥

मन्त्र इत्यादि—मन्त्रविषये कर्त्तव्यावधारणविषये अपण्डिताः मूर्खाः
सन्तः जातु कदाचिदपि वदन्ति गर्हितमेतत् । तानपि त्वमनुमन्यसे अनुमत-
वान् । इदमप्यतिगर्हितम् । 'गर्हायां लडपिजात्वोः । ३।३।१४२।' इति
अपिजात्वोरुषपदयोः कालसामान्ये लट् । कथमेतत् न्याय्यं
यत्तत्र भगवान् रावणः विद्वानपि नात्मनो हितमवैति न विदितवान् ।
'विभाषा कथमि लिङ् च । ३।३।१४३।' इति कथं शब्द उपपदे चकारात्
गर्हायां लट् तत्र भवानिति 'इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते । ५।३।१४।' इति भवदादि-
योगे प्रथमान्तात् त्रलप्रत्ययः ॥ १६ ॥

अपृष्टो नु ब्रवीति त्वां मन्त्रे मातामहो हितम् ।

न करोमीति पौलस्त्य ! तदा मोहाच्चमुक्तवान् ॥ १७ ॥

अपृष्ट इत्यादि—किमस्मिन् काले युज्यत इति मन्त्रे मातामहो माल्यवान्
अपृष्टः सन् हितं नु ब्रवीति । हे पौलस्त्य ! त्वं पुनर्हितमकार्षीरिति माल्य-
वता पृष्टं तदा तस्मिन् काले न करोमीति मोहाद्ज्ञानादुक्तवान् । अत्र
नुशब्दे नशब्दे चोपपदे 'ननौ पृष्टप्रतिवचने । ३।२।१२०।' इति भूते धात्वर्थं
'नन्वोर्विभाषा । ३।२।१२१।' इति विभाषा लट् ॥ १७ ॥

त्वं स्म वेत्थ महाराज । यत् स्माह न विभीषणः ।

पुरा त्यजति यत् क्रुद्धो मां निराकृत्य संसदि ॥ १८ ॥

त्वमित्यादि—हे महाराज ! विभीषणो यदाह स्म उक्तवान् तत्त्वं न वेत्थ स्म न विदितवानसि । किमेतेन हितमुक्तं न वेति । उभयत्र 'अपरोक्षे च ।३।२।११९।' इति लट् । तत्र पूर्वस्मिन् 'विदो लटो वा ।३।४।८३।' इति सिपस्थादेशः । अपरस्य 'ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः । ३ । ४ । ८४ ।' इति तिपो णलादेशः । यद्यस्मात्त्वं क्रुद्धः सन् मां संसदि सभायां निराकृत्य पादप्रहारेण पुरा पूर्वं त्यजसि त्यक्तवानसि । 'पुरि लुङ् चात्मे ।३।२।१२२।' इति चकारालट् ॥ १८ ॥

हविर्जाक्षिति निःशङ्को मखेषु मघवानसौ ।

प्रवाति स्वेच्छया वायुरुद्रच्छति च भास्करः ॥ १९ ॥

हविरित्यादि—असौ मघवान् इन्द्रः मखेषु यज्ञेषु हविराज्यादिकमधुना जाक्षिति भक्षयति । 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' । ७।२।७६।' इतीट् । वायुश्च स्वेच्छया प्रवाति गच्छति । 'पवते' इति पाठान्तरं पवित्रीकरोतीत्यर्थः । भास्करश्च यथेष्टमुद्रच्छति उदेति ॥ १९ ॥

धनानामीशते यक्षा यमो दाम्यति राक्षसान् ।

तनोति वरुणः पाशमिन्दुनोदीयतेऽधुना ॥ २० ॥

धनानामित्यादि—यक्षाः कुबेरादयः धनानामीशते प्रभवन्ते 'स्वाम्यं लभन्ते' इत्यर्थः । 'ईश ऐश्वर्ये ।' यमोऽपि राक्षसान् दाम्यति वशीकरोति । वरुणः पाशं तनोति विस्तारयति । इन्दुनोदीयतेऽधुना । भावे लट् । अधुनेति सर्वत्र योज्यम् । अणुनेति पाठान्तरं 'असम्पूर्णत्वात्' ॥ २० ॥

शाम्यत्यृतुसमाहारस्तपस्यन्ति वनौकसः ।

नो नमस्यन्ति ते बन्धून् वरिवस्यन्ति नामराः ॥ २१ ॥

शाम्यतीत्यादि—ऋतूनां समाहारः सम्भूयावस्थानं शाम्यति अपैति ।

१ 'इन्द्रो मरुत्वान् मघवा' इत्यमरः । २ एतेन 'रावणस्य' 'भीपाऽस्माद्वातः पवते' इत्यादिश्रुत्युक्तस्य परमात्मन इव महत्त्वं सम्भावितम् । एतस्य हि इच्छानुवर्तिनः सर्वेऽपीन्द्रादयः आसन्निति तथोक्तिः । ३ एवमादिवचनं 'रावणस्य' सर्वजेतृत्वं सर्वत्रासकत्वं सर्वेश्वरत्वं च सूचयत् सर्वाभिलषितं मरणं सम्भावयति ।

वनौकसो वनवासिनो मुनयः तपस्यन्ति । तपश्चरन्ति । 'कर्मणो रोमन्थतपो-
भ्यां वर्तिचरोः । ३।१।१५।' इति क्यङ् । तपसः परस्मैपदं च । ते त्वद्वन्धूनमरा
लो नमस्यन्ति न प्रणमन्ति । न वरिवस्यन्ति । नाप्रातिषेधेन परिचरन्ति । 'नमो
वरिवश्चित्रङ्ः क्यच । ३।१।१९।' ॥ २१ ॥

श्रीर्निष्कुष्यति लङ्कायां विरज्यन्ति समृद्धयः ।

न वेद तन्न यस्यास्ति मृते त्वयि विपर्ययः ॥ २२ ॥

श्रीरित्यादि---लङ्कायां पुर्याम् अधुना श्रीर्निष्कुष्यति अतिक्रुद्धयति । 'कुप
रोषे' 'कुषिरजोः प्राचां श्यन् परस्मैपदं च । ३।१।१०।' तत एव समृद्धयश्च
विरज्यन्ति लङ्कातोऽपयान्ति । सर्वथा तद्वस्तु न वेद न वेद्मि । 'विदो लटो वा
। ३।४।८३।' इति मिपो णल् । यस्य त्वयि मृते न विपर्ययः नान्यथाभावः किंतु
सर्वमेव विपरीतमिति तत्त्वम् ॥ २२ ॥

शक्ति संस्वजते शक्रो गोपायति हरिः श्रियम् ।

देववन्द्यः प्रमोदन्ते चित्रीयन्ते घनोदयाः ॥ २३ ॥

शक्तिमित्यादि—शक्रः शक्तिं प्रहरणमधुना संस्वजते गृह्णाति ।
'दंशसञ्जस्वञ्जां शपि । ६।४।२५।' इत्यनुनासिकलोपः । हरिर्विष्णुः
श्रियं गोपायति आत्मन्येव कृत्वा रक्षति । देववन्द्यः प्रमोदन्ते दृष्यन्ति ।
घनोदया मेघानां गगनेऽवस्थानानि चित्रीयन्ते नानारूपेणाद्भुतयन्ते । मृते
द्वयीति सर्वत्र योज्यम् ॥ २३ ॥

अथ त्रिभिर्विशेषकम्—

विभ्रत्यस्त्राणि सामर्षा रणकाम्यन्ति चामराः ।

चकासति च मांसाऽदां तथा रन्ध्रेषु जाग्रति ॥ २४ ॥

विभ्रतीत्यादि—अमरा देवाः सामर्षाः सकोपाः अस्त्राणि विभ्रति
घारयन्ति । रणकाम्यन्ति च आत्मनो रणमिच्छन्ति । आत्मेच्छायां
'काम्यञ्च । ३।१।९।' इति काम्यच् । चकासति च दीप्यन्ते च ।
'जक्षित्यादित्वादभ्यस्तसंज्ञायां शेरदादेशः । तथा मांसादां राक्षसानाम् ।
'अदोऽनन्ने । ३।२।६८।' इति विट् । रन्ध्रेषु व्यसनेषु जाग्रति साव-
धाना भवन्ति ॥ २४ ॥

चञ्चूर्यन्तेऽभितो लङ्कामस्मांश्चाप्यतिशेरेते ।

भूमयन्ति स्वसामर्थ्यं कीर्तिं नः कनयन्ति च ॥ २५ ॥

चञ्चूर्यन्त इत्यादि—लङ्कामभितः बाह्यतोऽभ्यन्तरतश्च । 'पर्यभिभ्यां च । ५।३।९।' इति सर्वोभयार्थे तसिः । चञ्चूर्यन्ते गर्हितं चरन्ति । 'लुप-सदचरजपजभद्ददशगृभ्यो भावगर्हायाम् । १।३।१।२।४।' इति भावगर्हायां यङ् । 'चरफलोश्च । ७।४।८।७।' इत्यभ्यासस्य नुक् । 'उत्परस्यातः । ७।४-१।८।८।' इत्युत्वम् । अस्मांश्चापि अतिशेरेते अतिशयिता भवन्ति च । स्वसा-मर्थ्यं भूमयन्ति वर्धयन्ति । वहूनां भाव इति 'पृथ्वादिभ्य इमनिजू वा । ५।१।१।२।२।' । 'वहोर्लोपो भू च वहोः । ६।४।१।५।८।' इति वहोर्भूरा-देशः । इमनिजादिलोपश्च । भूमानं कुर्वन्तीति णिचि णाविष्ठवत्प्रातिपदि-कस्येतीष्ठवद्भावात् टिलोपयणादिपरलोपः । विन्मतोर्लुगर्थामिति वचनाद्वा टिलोपः । किंच नोऽस्माकं कीर्तिं कनयन्ति अल्पां कुर्वन्ति । अमरा इति श्रौज्यम् । अल्पां कुर्वन्तीति णिचि णाविष्ठवद्भावाद् 'युवाल्पयोः कनन्यत्-रस्याम् । ५।३।६।४।' इति कनादेशः ॥ २५ ॥

दिशो व्यश्नुवते दृप्तास्त्वत्कृतां जहति स्थितिम् ।

क्षोदयन्ति च नः क्षुद्रा हसन्ति त्वां विपद्गतम् ॥ २६ ॥

दिश इत्यादि—दृप्ताः सन्तः दिशो व्यश्नुवते व्याप्नुवन्ति । स्थितिं व्यवस्थां त्वत्कृताम् । 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च । ७।२।९।८।' इति त्वदादेशः । जहति त्यजन्ति । 'ओहाक् त्यागे' लट् । विपद्गतं च त्वां हसन्ति । क्षुद्राः अल्पकायाः क्षोदयन्तीव क्षुद्रमिवाचक्षत इति । भुवने यो हि न्यक्कृतत्रि-लोकः स कथं क्षुद्र उच्यते । 'स्थूलदूरयुवह्रस्वाक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्व-स्य च गुणः । ६।४।१।५।६।' इति गौ यणादिपरलोपः पूर्वस्य च गुणः ॥ २६ ॥

शमं शमं नभस्वन्तः पुनन्ति परितो जगत् ।

उज्जिहीषे महाराज त्वं प्रशान्तो न किं पुनः ॥ २७ ॥

शममित्यादि—नभस्वन्तो वायवः शमं शमं शान्त्वा शान्त्वा । 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च । ३।४।२।२।' इति णमुलि 'नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः । ७।३।३।४।' इति वृद्धिप्रतिषेधः । आभीक्ष्ण्ये द्वे भवतः । परितः सर्वतो जगत् पुनन्ति पवित्रयन्ति । प्रशान्ता अपि पुनर्भूत्वा पुनरुद्भूय जगत्

पुनन्ति । हे महाराज ! त्वं पुनः प्रशान्तोऽपि किं नोत्तिहीषे नोत्तिष्ठासि ।
 'ओहाङ् गतौ' इत्यभ्यासस्य 'भृवामित् । ७ । ४ । ७६ ।' इति इत्वम् ।
 'ई हल्यघोः । ६ । १ । १३ ।' इतीत्वम् ॥ २७ ॥

प्रोणोति शोकाश्चित्तं मे सत्त्वं संशाम्यतीव मे ।

प्रमाष्टि दुःखमालोकं मुञ्चाम्यूर्जं त्वया विना ॥ २८ ॥

प्रोणोतीत्यादि--हे महाराज ! त्वया विना शोको मम चित्तं
 प्रोणोति आच्छादयति । सत्त्वम् अवष्टम्भः संशाम्यतीव अपगच्छतीव ।
 मां त्यजतीत्यर्थः । दुःखं च कर्तुं आलोकं प्रज्ञानं प्रमाष्टि अपनयति ।
 अतस्त्वया विना ऊर्जं बलं मुञ्चामि । अलसो भवामीत्यर्थः ॥ २८ ॥

के न संविद्रते नान्यस्त्वत्तो बान्धववत्सलः ।

विरौमि शून्ये प्रोणोमि कथं मन्युसमुद्भवम् ॥ २९ ॥

केनेत्यादि--त्वत्तोऽन्यो बान्धववत्सलो नेति के न संविद्रते न जा-
 नते । 'समो गम्युच्छिभ्याम् । १ । ३ । २९ ।' इति तङ् । 'वेत्तेर्विभाषा । ७ । १ ।
 ७ ।' इति रुड् । किंतु सर्व एव संविद्रत इति भावः । बन्धुरेव बान्धवः ।
 'प्रज्ञादिभ्यश्च । ५ । ४ । ३८ ।' इति स्वार्थेऽण् । अतोऽहं शून्ये बन्धु-
 विराहिते समये देशे वा विरौमि फूत्करोमि । कथं केन प्रकारेण मन्युस-
 मुद्भवं शोकोत्पादं प्रोणोमि आच्छादयामि ॥ २९ ॥

रोदिम्यनाथमात्मानं बन्धुना रहितस्त्वया ।

प्रमाणं नोपकाराणामवगच्छामि यस्य ते ॥ ३० ॥

रोदिमीत्यादि--त्वया बन्धुना रहितत्वादनाथोऽस्मीति आत्मानमेव
 रोदिमि न त्वां कृतकार्यम् । यस्य ते उपकाराणां प्रमाणमियत्तां
 नावगच्छामि ॥ ३० ॥

नेदानीं शक्रयक्षेन्द्रौ विभीतो न दरिद्रितः ।

न गर्वं जहितो दृप्तौ न क्लिश्नातो दशानन ! ॥ ३१ ॥

नेदानीमित्यादि--इदानीं त्वय्येवंभूते शक्रयक्षेन्द्रौ इन्द्रः कुबेरश्च न
 विभीतः न भयं कुरुतः । 'भियोऽन्यतरस्याम् । ६ । ४ । ११५ ।' इति

१ 'पृथग्बिनानानाभिस्तुतायान्वतरस्याम् २ । ३ । ३२' इति तृतीया । २ 'मन्युशोभौ-
 तु शुक् स्त्रियाम्' इत्यमरः । ३ अस्मिन् काले इत्यर्थः । 'दानीं च ५ । ३ । १८' इति साधु ।

इत्वाभावपक्षे रूपम् । न दारिद्रितः दारेद्रौ न भवतः । 'इदरिद्रस्य । ६ । ४ । ११४ ।' इति हलादौ क्किति साविधातुक इत् । द्रप्तौ न गर्व जहितः परित्यजतः 'जहातेश्च । ६ । ४ । ११६ ।' इतीत्वम् । न क्लिञ्जीतः क्लेशं नानुभवतः । 'ई हत्यघोः । ६ । ४ । ११३ ।' इतीत्वम् ॥ ३१ ॥

त्वयापि नाम रहिताः कार्याणि तनुमो वयम् ।

कुर्मश्च जीविते बुद्धिं धिक् तृष्णां कृतनाशिनीम् ॥ ३२ ॥

त्वयेत्यादि—यद्वयं त्वया विना कार्याणि राज्याङ्गानि तनुमः प्रसारयिष्यामः । जीविते च बुद्धिं कुर्मः । तदिमां कार्ये जीविते च तृष्णां कृतनाशिनीं परकृतोपकारादिविस्मारिकां धिक् । 'गर्हायां लडपिजात्वोः । ३ । ३ । १४२ ।' इति भविष्यति लट् ॥ ३२ ॥

तृणेह्नि देहमात्मीयं त्वं वाचं न ददासि चेत् ।

द्राघयन्ति हि मे शोकं स्मर्यमाणा गुणास्तव ॥ ३३ ॥

तृणेह्नीत्यादि—मम प्रतिवचनं न ददासि चेत् यदि त्वं तर्हि आत्मीयं देहं तृणेह्नि हन्मि । 'तृणह इम् । ७ । ३ । ९२ ।' हि यस्मात् स्मर्यमाणास्तव गुणाः मम शोकं द्राघयन्ति दीर्घं कुर्वन्ति । णाविष्ठवद्भावेन 'प्रियस्थिरस्फिरोरुवहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर्षेहिगर्वाधिर्त्रद्राघिवृन्दाः । ६ । ४ । १५७ ।' इति दीर्घशब्दस्य द्राघादेशः ॥ ३३ ॥

उन्मुच्य स्रजमात्मीयां मां स्रजयति को हसन् ।

नेदयत्यासनं को मे को हि मे वदति प्रियम् ॥ ३४ ॥

उन्मुच्येत्यादि—आत्मीयां स्रजं मालामुन्मुच्यापनीय देहात् हसन् परितोषात् को मां स्रजयति स्रग्विणं करोति । णाविष्ठवद्भावात् 'विन्मतोर्लुक् । ५ । ३ । ६५ ।' इति विनो लुक् । 'प्रकृत्यैकाच् । ६ । ४ । १६३ ।' इति टिलोपाभावः । को वा ममासनं नेदयति अन्तिकं करोति । अत्रापि णौ इष्ठवद्भावात् 'अन्तिकवाढयोर्नेदसाधौ । ५ । ३ । ६३ ।' इति अन्तिकशब्दस्य नेदादेशः । कर्हि कदा को मे प्रियं वदति वदिष्यति । 'विभाषा कदाकर्होः । ३ । ३ । ५ ।' इति भविष्यति लट् ॥ ३४ ॥

न गच्छामि पुरा लङ्कामायुर्यावद् दधाम्यहम् ।

'कदा भवति मे प्रीतिस्त्वां पश्यामि न चेदहम् ॥ ३५ ॥

न गच्छामीत्यादि—यावद्दहमायुर्दधामि धारयिष्यामि जीविष्यामीति भावः । 'यावत्पुरानिपातयोर्लट् । ३ । ३ । ४ ।' इति भविष्यति लट् । पुराशब्दोऽत्र भविष्यदास्सत्तिमाह । प्रीतिर्हि लङ्काप्रवेश इति दर्शयन्नाह—चेद्व्यहं त्वां जीवन्तं न पश्यामि । वर्तमाने लट् । कदा कस्मिन् काले मे मम प्रीतिर्भवति भविष्यति । 'विभाषा कदाकह्योः । ३ । ३ । ५ ।' इति भविष्यति लट् ॥ ३५ ॥

ऊर्ध्वं म्रिये मुहूर्ताद्धि विह्वलः क्षतवान्धवः ।

मन्त्रे स्म हितमाख्यामि न करोमि तवाप्रियम् ॥ ३६ ॥

ऊर्ध्वमित्यादि—मुहूर्तादूर्ध्वम् उपरि अहं म्रिये मरिष्यामि । क्षतवान्धवः विनष्टवन्धुजनः । अत एव विह्वलः सन् । अनेन मरणस्य निमित्तभूतं प्राप्तकालं लोडर्थं दर्शयति । तेन 'लिङ् चोर्ध्वमौहूर्तिके । ३ । ३ । ९ ।' इति लोडर्थलक्षणे भविष्यति लट् । लोटश्च प्रैषादिकः । 'म्रियतेर्लुङ् लोटश्च । १ । ३ । ६ ।' इति चकारात् शितश्चात्मनेपदम् । अन्यच्च मन्त्रे मन्त्रविषये हितमाख्यामि स्म आख्यातवानहम् । 'अपरोक्षे च । ३ । २ । ११ ।' इति लट् । ममाप्रियं मा कार्षीरिति पृष्टः सन्नहं न करोमि तवाप्रियमिति न कृतवानस्मि । 'नन्वोर्विभाषा । ३ । २ । १२ ।' इति पृष्टप्रतिवचने लट् ॥ ३६ ॥

अथ युग्मकम् ।

अन्तःपुराणि पौलस्त्यं पौराश्च भृशदुःखिताः ।

संश्रुत्य स्माभिधावन्ति हतं रामेण संयुगे ॥ ३७ ॥

अन्तःपुराणीत्यादि—अनन्तरं पौलस्त्यं रावणं रामेण हतं संश्रुत्य श्रुत्वा अन्तःपुराणि अन्तःपुरवर्तीनि कलत्राणि पौराश्च लङ्कापुरवास्तव्या अन्येऽवशिष्टा राक्षसाश्च । पुर्याम्भवा इति तथोक्ताः दुःखिताः अभिधावन्ति स्म दौकन्ते स्म । 'लट् स्मे । ३ । २ । ११८ ।' इति भूतानद्यतनपरोक्षे लट् ॥ ३७ ॥

मूर्धजान् स्म विलुञ्चन्ति क्रोशन्ति स्मातिविह्वलम् ।

अर्धायन्त्युपकाराणां मुहुर्भर्तुः प्रमन्यु च ॥ ३८ ॥

मूर्धजानित्यादि—मूर्धजान् केशान्विलुञ्चन्ति स्म अपनयन्ति स्म । अतिविह्वलम् अतिवैकल्यं गुणप्रधानो निर्देशः । क्रोशन्ति स्म फूत्कारं कुर्वन्ति स्म । अन्तःपुराणीत्यर्थः । भर्तुश्चोपकाराणां मुहुर्धीयन्ति स्म । 'इक् स्मरणे ।'

‘अधीगर्थददेशां कर्मणि । २ । ३ । ५२ ।’ इति कर्मणि षष्ठी । प्रमन्यु चेति क्रियाविशेषणं प्रकृष्टशोकमित्यर्थः । ‘प्रमन्यवः’ इति पाठान्तरं प्रकृष्टशोका इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

रावणस्य नमन्ति स्म पौराः सास्त्रा रुदन्ति च ।

भाषते स्म ततो रामो वचः पौलस्त्यमाकुलम् ॥ ३९ ॥

रावणस्येत्यादि--पौराश्च रावणस्य नमन्ति स्म नमस्यन्ति स्म । पादावित्यर्थात् तत्सम्बन्धित्वात् । सास्त्राश्च सन्तः रुदन्ति स्म । ततोऽनन्तरं रामः पौलस्त्यं विभीषणम् आकुलं वचो भाषते स्म उक्तवान् ॥ ३९ ॥

दातुः स्थातुर्द्विषां मूर्ध्नि यष्टुस्तर्पयितुः पितृन् ।

युद्धाभग्नाविपन्नस्य किं दशास्यस्य शोचसि ॥ ४० ॥

दातुस्त्यादि---दशास्यो दाता, द्विषां मूर्ध्नि स्थातो, यष्टा यज्ञानां पितृन् तर्पयिता । ‘तृप तृप्तौ’ चुरादिः । युधि देवादीनां संग्रामे-ऽभग्नः अविपन्नः । तस्यैवंविधस्य किं शोचसि शोच्यमेव नास्ति । वर्तमाने लट् ॥ ४० ॥

बोभवीति न सम्मोहो व्यसने स्मर्भवाद्दशाम् ।

किं न पश्यसि सर्वोऽयं जनस्त्वामवलम्बते ॥ ४१ ॥

बोभवीतीत्यादि--भवाद्दशां युष्माद्विधानां व्यसने दुःखे सम्मोहः अज्ञानं न बोभवीति अत्यर्थं न भवति । यद्भ्रूलुकि रूपम् । एवं च सति स्वार्थो न हीयते । यतः किं न पश्यसि अयं सर्वो जनः त्वामवलम्बते ‘त्वमेव स्वामी’ इति प्रतीक्षते ॥ ४१ ॥

त्वमर्हसि भ्रातुरनन्तराणि कर्तुं जनस्यास्य च शोकभङ्गम् ।

धुर्ये विपन्ने त्वयि राज्यभारो मज्जत्यनूढः क्षणदाचरेन्द्र ॥ ४२ ॥

इति महावैयाकरणश्रीभट्टिप्रणीतरामचरित-

काव्ये तिङन्तकाण्डे लङ्कविलसितो

नामाष्टादशः सर्गः ।

त्वमर्हसीत्यादि—तस्मात् भ्रातुरनन्तराप्यग्निसात्कारादीनि कर्तुं त्वमर्हसि युज्यसे । अस्य च जनस्य शोकभङ्गं शोकापनयनं कर्तुं च । अन्यथा त्वयि धुर्ये धुरं वहति विपन्ने विनष्टे सति हे क्षणदाचरेन्द्र ! निशाचराणामिन्द्र इवेन्द्रस्तत्सम्बुद्धौ राज्यभारः अनूढः अन्यैरनधिष्ठितः सन् मज्जति अधो याति शत्रुभिर्विनश्यति । तस्मात् त्वया समाहितेन राज्यभारो वोढव्यं इति ॥ ४२ ॥

इति श्रीजटेश्वरापरपर्यायजयमङ्गलसूरिविरचितया जय-
मङ्गलाख्यया व्याख्यया समलङ्कृते श्रीभाट्टप्रणीते राम-
चरिते काव्ये चतुर्थे तिङ्तकाण्डे लक्षणरूपे
पञ्चमः परिच्छेदः, लक्ष्यरूपे कथा-
नके 'विभीषण-प्रलापो' नाम
अष्टादशः सर्गश्च ।
ऊनविंशः सर्गः ।

इतः प्रभृति लिङ्मधिकृत्य विलसितमाह—तत्र विध्यादिषु लिङ् । ततो-
चत्रापि दर्शयिष्यति—

अपमन्युस्ततो वाक्यं पौलस्त्यो राममुक्तवान् ।

अशोच्योऽपि ब्रजन्नस्तं सनाभिर्दुनुयान्न किम् ॥ १ ॥

अपमन्युरित्यादि—ततोऽनन्तरं पौलस्त्यो विभीषणः अपमन्युः अप-
गतो मन्युर्यस्य शोको स गृहीतकिञ्चिद्धैर्य इति भावः । प्रादिभ्यो धातुजस्य
बहुव्रीहिर्वा चोत्तरपदलोपश्च । रामं वाक्यमुक्तवान् । देव ! किमेव-
मभिधत्से अशोच्य इति । यतः सनाभिः सगोत्रोऽस्तं ब्रजन् विनाशं
गच्छन्नशोच्योऽपि सन् किं न दुनुयाद्वियोगन अवश्यतया किं नोपता-
पयेत् । निमन्त्रणे नियोगकरणे लिङ् ॥ १ ॥

तं नो देवा विधेयासुर्येन रावणवद् वयम् ।

सपत्नांश्चाधिजीयास्म सङ्ग्रामे च मृपीमहि ॥ २ ॥

तं न इत्यादि—युष्मद्वचनादात्मा मया स्थिरीकृतः किन्त्विदमाशंसे ।
तमुपायं नोऽस्माकं देवा विधेयासुः । 'युमास्थागापाजहातिसां हलि । ६।
४।६६।' इत्यनुवृत्तौ 'एलिङ् । ६।४।६७।' इत्येकारादेशः । येनोपाय्येन

रावणवत् सपत्नान् वयमधिजीयास्म । 'उपसर्गेण धात्वर्थो वलादन्यः प्रतीयते' इति सकर्मकता । संग्रामे च मृषीमहि । लिङ्श्चेति । लिङः कित्त्वान्न गुणः । आर्धधातुकत्वान्न सलोपः । सर्वत्रैवाशिपि लिङ् ॥ २ ॥

क्रियेरंश्च दशास्येन यथान्येनापि नः कुले ।

देवद्व्यञ्चो नराहारा न्यञ्चश्च द्विषतां गणाः ॥ ३ ॥

क्रियेरन्नित्यादि—यथा दशास्येन रावणेन नराहाराः राक्षसाः देवद्व्यञ्चः देवैः सहाञ्चन्तो गच्छन्तः क्रियेरन् कृताः। 'विष्वग्देवयोश्च टेरद्रव्यञ्चतावप्रत्यये । ६ । ३ । ९२ ।' इति टेरद्व्यादेशः । द्विषतां च गणाः न्यञ्चः नीचैरञ्चन्तः कृताः तिरस्कृताः । तथा नोऽस्माकं कुले अन्येन क्रियेरंश्च । आशंसायां कर्मणि लिङ् । कृषीरन्निति वा पाठः । आशिपि कर्मणि लिङ् ॥ ३ ॥

स एव धारयेत् प्राणानीदृशे बन्धुविप्लवे ।

भवेदाश्वासको यस्य सुहृच्छक्तो भवादृशः ॥ ४ ॥

स एवेत्यादि—ईदृशे बन्धुविप्लवे बन्धुविनाशेऽपि स एव प्राणान् धारयेत् नियोगतो विभ्रयात् । निमन्त्रणे नियोगकरणे लिङ् । यस्य भवादृशः सुहृन्मित्रं शक्त आश्वासकः सान्त्वयिता भवेत् । सम्भावनायां लिङ् ॥ ४ ॥

म्रियेयोर्ध्वं मुहूर्ताद्धि न स्थास्त्वं यदि मे गतिः ।

आशंसा नहि नः प्रेते जीवेम दशमूर्धनि ॥ ५ ॥

म्रियेयेत्यादि—यदि मे मम गतिः शरणं त्वं न स्याः न भवेः । लिङ् । तदा यस्मिन्मुहूर्ते रावणोऽपि नष्टः तस्मान्मुहूर्तार्द्ध्वं म्रियेय । नियोगतः प्राप्तकालः । प्राणांस्त्यक्तवान् इम् । अत्र प्राप्तकाले गम्यमाने 'लिङ् चोर्ध्वमौहूर्तिके । ३ । ३।१६४ ।' इति लिङ् । तत्र हि प्रैपादयोऽनुवर्तन्ते । 'म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च । १ । ३ । ६१ ।' इति तङ् । ततः सार्वधातुकत्वात् शः । हि यस्मात्त्रोऽस्माकं नेयमाशंसा यद्दशमूर्धनि दशानने प्रेते मृते त्वयि वाऽशरणे जीवेम प्राणान् धारयिष्याम इति । अत्राशंसावचनस्योपपत्त्वात् लिङ् ॥ ५ ॥

प्रकुर्याम वयं देशे गह्वीं तत्र कथ रतिम् ।

यत्र विंशतिहस्तस्य न सोदर्यस्य सम्भवः ॥ ६ ॥

प्रकुर्यामित्यादि—यत्र देशे सोदर्यस्य भ्रातुर्विंशतिहस्तस्य न सम्भवोऽस्ति तत्र कथं वयं गहर्णा निन्द्यां रतिं प्रकुर्यामि करिष्यामः । नैवेत्यर्थः । अत्र गहर्णाभित्यधिकृत्य 'विभाषा कथामि लिङ् च ।३।३।१४३।' इति कथमित्युपपदे भविष्यति लिङ् ॥ ६ ॥

आमन्त्रयेत तान् प्रह्वान् मन्त्रिणोऽथ विभीषणः ।

गच्छेत त्वरितं लङ्कां राजवेश्म विशेत च ॥ ७ ॥

आमन्त्रयेतेत्यादि—अथानन्तरं विभीषणः सैदासे सभायां यैर्मन्त्रिभिः सह उत्थितः तान्मन्त्रिणः प्रह्वानामन्त्रयेत कर्मसु नियोगतः संहितवानित्यर्थः । निमन्त्रणे नियोगकरणे लिङ् । तदेव दर्शयति । लङ्कां त्वरितं च्युयं गच्छेत यात । गताश्च राजवेश्म विशेत अत्र विधौ प्रेषणे लिङ् । स हि सर्वलकाराणामपवादः ॥ ७ ॥

आददीध्वं महार्हाणि तत्र वासांसि सत्वराः ।

उद्धुनीयात सत्कतून् निर्हरेताग्र्यचन्दनम् ॥ ८ ॥

आददीध्वमित्यादि—तत्र राजवेश्मनि वासांसि महार्हाणि योग्यानि । महार्हाणीति पाठे तु महामूल्यानीत्यर्थः । सत्वरा आददीध्वं गृह्णीत । 'आभ्यस्तयोरातः । ६ । ४ । ११२ ।' इत्याकारलोपः । सत्केतून् शोभनध्वजान् उद्धुनीयात ऊर्ध्वीकरिष्यथ । 'प्वादीनां ह्रस्वः । ७।३।८०।' 'ई हल्यवोः । ६ । ४ । ११३ ।' अग्र्यचन्दनं सच्चन्दनकाष्ठानि निर्हरेत निर्गमयत ॥ ८ ॥

मुञ्चेताकाशधूपांश्च ग्रथीयात स्रजः शुभाः ।

आनयेतामितं दारु कपूरागुरुकङ्कुमम् ॥ ९ ॥

मुञ्चेतेत्यादि—धूपघटिकाभिराकाशधूपांश्च मुञ्चेत प्रवर्तयेत । स्रजः पुष्पमालाः शुभाः ग्रथीयात गुम्फिष्यथ । 'श्रन्थ ग्रन्थ सन्दर्भे' इति त्रयादिः । दारु काष्ठम् अमितं प्रभूतं कपूरागुरुकङ्कुमं च आनयेत । सर्वत्र विधौ लिङ् ॥ ९ ॥

उद्घेरन् यज्ञपात्राणि हियेत च विभावसुः ।

भ्रियेत चाज्यमृत्विग्भिः कल्पयेत च समित्कुशम् ॥ १० ॥

१ 'आस्थानी क्लीवमास्थानं स्त्रीनपुंसकयोः सदः ।' इत्यमरः । २ महती अहो

पूजा, प्रशंसा येषां तानि । 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः । ३ । ४ । ३३।'

इति दीर्घः । ३ महान् अघो मूल्यं येषां तानि । 'मूल्ये पूजाविधावर्धः' इत्यमरः ।-

उत्थेरन्नित्यादि—यज्ञपात्राणि सुगादीनि उत्थेरन् आनीयन्ताम् । विभार्व-
सुश्राग्निः ह्रियेत । ऋत्विग्भिः आज्यमपि ध्रियेत । समित्कुशं कल्पयेत् च
कल्प्यम् । सर्वत्र विधौ कर्मणि लिङ् ॥ १० ॥

स्नानीयैः स्नापयेताशु रम्यैर्लिम्पेत वर्णकैः ।

अलङ्कुर्यात् रत्नैश्च रावणाहैर्दशाननम् ॥ ११ ॥

स्नानीयैरित्यादि—यथा स्वविहितं च कृत्वा रम्यैः स्नानीयै-
र्दशाननं राक्षसाधिपं स्नापयेत् स्नापयिष्यथ । 'ग्लास्नावनुवमां च' इति
विकल्पेन मित्वम् । तत्र 'ज्वलह्वलनमामनुपसर्गाद्वा' इति वाग्रहणमनु-
वर्तते । वर्णकैश्चन्दनादिभिः रम्यैर्लिम्पेत विलेप्स्यथ । रत्नैश्च रावणाहैर्नित्य-
नैमित्तिकैरलङ्कुर्यात् अलङ्करिष्यथ ॥ ११ ॥

वासयेत् सुवासोभ्यां मेध्याभ्यां राक्षसाधिपम् ।

ऋत्विक् स्रग्विणमादध्यात् प्राङ्मूर्धानं मृगाजिने ॥ १२ ॥

वासयेतेत्यादि—सुवासोभ्यां मेध्याभ्यां पूताभ्यां वासयेत् च आच्छादयि-
ष्यथ । ऋत्विक् यज्वा स्रग्विणं कृत्वा मालाभूषितं कृत्वा मृगाजिने प्राङ्मूर्धानं
प्राच्यां मूर्धा यस्य पूर्वशिरसमादध्यात् स्थापयेत् ॥ १२ ॥

यज्ञपात्राणि गात्रेषु चिनुयाच्च यथाविधि ।

जुहुयाच्च हविर्वह्नौ गायेयुः साम सामगाः ॥ १३ ॥

यज्ञपात्राणीत्यादि—स एव यथाविधि यथाक्रमं यथाशास्त्रं वा यज्ञस्य
पात्राणि सुगादीनि गात्रेषु चिनुयात् । हविराज्यं वह्नौ जुहुयात् । निक्षि-
पेत् । सामगाः छन्दोगाः साम तदाख्यं वेदं गायेयुश्च । 'आतोऽनुपसर्गे कः
१३।२।३' इति कः । सर्वत्र विधौ लिङ् ॥ १३ ॥

गत्वाथ ते पुरीं लङ्कां कृत्वा सर्वं यथोदितम् ।

समीपेऽन्त्याहुतेः साक्षाः प्रोक्तवन्तो विभीषणम् ॥ १४ ॥

गत्वेत्यादि—अथानन्तरं ते मन्त्रिणः लङ्कापुरीं गत्वा यथोदितं यथाशास्त्रम्
सर्वकर्म च कृत्वा । अन्त्याहुतेर्मृताहुतेः अनन्तरं तस्य समीपे साक्षाः
सबाष्पाः विभीषणं प्रोक्तवन्तः ऊचुः ॥ १४ ॥

१ यथाकथितम् । उद्यते स्मेत्यादितम् । 'वद् व्यक्तायां वाचि' क्तः, सम्प्रसारण-
म् । उदितमनतिक्रम्येति यथोदितम् । 'यथाऽसादृश्ये २।१।७' इति समासः ।

प्रकुर्यामित्यादि—यत्र देशे सोदर्यस्य भ्रातुर्विंशतिहस्तस्य न सम्भवोऽस्ति तत्र कथं वयं गह्वीं निन्द्यां रतिं प्रकुर्याम करिष्यामः । नैवेत्यर्थः । अत्र गह्वीयामित्यधिकृत्य 'विभाषा कथामि लिङ् च । ३।३।१४३।' इति कथमित्युपपदे भविष्यति लिङ् ॥ ६ ॥

आमन्त्रयेत तान् प्रह्वान् मन्त्रिणोऽथ विभीषणः ।

गच्छेत त्वरितं लङ्कां राजवेश्म विशेत च ॥ ७ ॥

आमन्त्रयेतेत्यादि—अथानन्तरं विभीषणः सैदासि सभायां यैर्मन्त्रिभिः सह उत्थितः तान्मन्त्रिणः प्रह्वानामन्त्रयेत कर्मसु नियोगतः संहितवानित्यर्थः । निमन्त्रणे नियोगकरणे लिङ् । तदेव दर्शयति । लङ्कां त्वरितं यूयं गच्छेत यात । गताश्च राजवेश्म विशेत अत्र विधौ प्रेषणे लिङ् । स हि सर्वलकाराणामपवादः ॥ ७ ॥

आददीध्वं महार्हाणि तत्र वासांसि सत्वराः ।

उद्धुनीयात सत्केतून् निर्हरेताग्र्यचन्दनम् ॥ ८ ॥

आददीध्वमित्यादि—तत्र राजवेश्मानि वासांसि महार्हाणि योग्यानि । महार्हाणीति पाठे तु महामूल्यानीत्यर्थः । सत्वरा आददीध्वं गृहीत । 'आभ्यस्तयो-
रातः । ६ । ४ । ११२ ।' इत्याकारलोपः । सत्केतून् शोभनध्वजान् उद्धुनीयात ऊर्ध्वाकरिष्यथ । 'ध्वादीनां ह्रस्वः । ७।३।८०।' 'ई हल्यघोः । ६ । ४ । ११३ ।' अग्र्यचन्दनं सच्चन्दनकाष्ठानि निर्हरेत निर्गमयत ॥ ८ ॥

मुञ्चेताकाशधूपांश्च ग्रथीयात स्रजः शुभाः ।

आनयेतामितं दारु कपूरागुरुकङ्कुमम् ॥ ९ ॥

मुञ्चेतेत्यादि—धूपघटिकाभिराकाशधूपांश्च मुञ्चेत प्रवर्तयेत । स्रजः पुष्पमालाः शुभाः ग्रथीयात गुम्फिष्यथ । 'श्रन्थ ग्रन्थ सन्दर्भे' इति त्रयादिः । दारु काष्ठम् अमितं प्रभूतं कपूरागुरुकङ्कुमं च आनयेत । सर्वत्र त्रिधौ लिङ् ॥ ९ ॥

उह्येरन् यज्ञपात्राणि हियेत च विभावसुः ।

भ्रियेत चाज्यमृत्विग्भिः कल्पयेत च समित्कुशम् ॥ १० ॥

१ 'आस्थानी क्लीबमास्थानं स्त्रीनपुंसकयोः सदः ।' इत्यमरः । २ महती अर्हा पूजा, प्रशंसा येषां तानि । 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः । ३ । ४ । १६१।' इति दीर्घः । ३ महान् अर्घो मूल्यं येषां तानि । 'मूल्ये पूजाविधावर्धः' इत्यमरः ।

उत्थेरन्नित्यादि—यज्ञपात्राणि स्रुगादीनि उत्थेरन् आनीयन्ताम् । विभार्व-
सुश्रामिः हियेत । ऋत्विग्भिः आज्यमपि भ्रियेत । सामित्कुशं कल्पयेत् च
कल्प्यम् । सर्वत्र विधौ कर्मणि लिङ् ॥ १० ॥

स्नानीयैः स्नापयेताशु रम्यैर्लिम्पेत वर्णकैः ।

अलङ्कुर्यात् रत्नैश्च रावणाहैर्दशाननम् ॥ ११ ॥

स्नानीयैरित्यादि—यथा स्वाविहितं च कृत्वा रम्यैः स्नानीयै-
र्दशाननं राक्षसाधिपं स्नापयेत् स्नापयिष्यथ । ‘ग्लास्तावनुवमां च’ इति
विकल्पेन मित्त्वम् । तत्र ‘ज्वलह्वलनमामनुपसर्गाद्वा’ इति वाग्रहणमनु-
वर्तते । वर्णकैश्चन्दनादिभिः रम्यैर्लिम्पेत विलेप्यथ । रत्नैश्च रावणाहैर्नित्य-
नैमित्तिकैरलङ्कुर्यात् अलङ्करिष्यथ ॥ ११ ॥

वासयेत् सुवासोभ्यां मेध्याभ्यां राक्षसाधिपम् ।

ऋत्विक् स्वग्विणमादध्यात् प्राङ्मूर्धानं मृगाजिने ॥ १२ ॥

वासयेतेत्यादि—सुवासोभ्यां मेध्याभ्यां पूताभ्यां वासयेत् च आच्छादयि-
ष्यथ । ऋत्विक् यज्वा स्वग्विणं कृत्वा मालाभूषितं कृत्वा मृगाजिने प्राङ्मूर्धानं
प्राच्यां मूर्धा यस्य पूर्वशिरसमादध्यात् स्थापयेत् ॥ १२ ॥

यज्ञपात्राणि गात्रेषु चिनुयाच्च यथाविधि ।

जुहुयाच्च हविर्वह्नौ गायेयुः साम सामगाः ॥ १३ ॥

यज्ञपात्राणीत्यादि—स एव यथाविधि यथाक्रमं यथाशास्त्रं वा यज्ञस्य
पात्राणि स्रुगादीनि गात्रेषु चिनुयात् । हविराज्यं वह्नौ जुहुयात् । निक्षि-
पेत् । सामगाः छन्दोगाः साम तदाख्यं वेदं गायेयुश्च । ‘आतोऽनुपसर्गे कः
।३।२।३।’ इति कः । सर्वत्र विधौ लिङ् ॥ १३ ॥

गत्वाथ ते पुरीं लङ्कां कृत्वा सर्वं यथोदितम् ।

समीपेऽन्त्याहुतेः सास्त्राः प्रोक्तवन्तो विभीषणम् ॥ १४ ॥

गत्वेत्यादि—अथानन्तरं ते मन्त्रिणः लङ्कापुरीं गत्वा यथोदितं यथाशास्त्रम्
सर्वकर्म च कृत्वा । अन्त्याहुतेर्मृताहुतेः अनन्तरं तस्य समीपे सास्त्राः
सबाष्पाः विभीषणं प्रोक्तवन्तः ऊचुः ॥ १४ ॥

१ यथाकथितम् । उद्यते स्मेत्युदितम् । ‘वद व्यक्तायां वाचि’ क्तः, सम्प्रसारण-
म् । उदितमनतिक्रम्येति यथोदितम् । ‘यथाऽसादृश्ये २।१।७’ इति समासः ६

कृतं सर्वं यथोद्दिष्टं कर्तुं वह्नियजलक्रियाम् ।

प्रयतेथा महाराज सह सर्वैः स्वबन्धुभिः ॥ १५ ॥

कृतमित्यादि—यथोद्दिष्टं यथाविहितं सर्वमस्माभिः कृतम् । त्वमिदानीं भ्रातुर्वह्निक्रियां जलक्रियां च कर्तुं स्वबन्धुभिः सर्वैः सह प्रयतेथाः । प्रार्थनायां लिङ् ॥ १४ ॥

अज्ञवन्नोत्सहेथास्त्वं धेया धीरत्वमच्युतम् ।

स्थेयाः कार्येषु बन्धूनां हेयाः शोकोद्भवं तमः ॥ १६ ॥

अज्ञवदित्यादि—शोकादप्रवर्तमानं पुनराहुः । अज्ञवत् किं नोत्सहेथाः किमवसीदसि गहितमेतत् । 'किंवृत्ते लिङ् लटौ । ३।३।१४४।' इति गर्हायां लिङ् । इयं चास्माकमाशंसा । यत्तु धीरत्वं धैर्यम् अच्युतम् अक्षतञ्ज्ञानम् । धेयाः धास्यसि । बन्धूनां च कार्येषु स्थेयाः स्थास्यसि । शोकोद्भवं च तमोऽज्ञानं हेयास्त्यक्ष्यसि । सर्वत्राशिपि लिङ् । आर्धधातुकत्वात् । 'एलिङि ६ । ४ ६७' इत्यसंयोगादेरेत्वम् ॥ १६ ॥

नावकल्पमिदं ग्लायेद्यत्कृच्छ्रेषु भवानपि ।

न पृथग्जनवज्जातु प्रमृह्येत् पण्डितो जनः ॥ १७ ॥

नावकल्पमित्यादि—अन्यच्च नावकल्पमिदं न सम्भाव्यमेतत् येन कृच्छ्रेषु दुःखेषु भवानपि ग्लायेत ग्लानिं याति । अनवकल्पतौ असम्भावनायां 'अनवकल्पत्यमर्षयोरकिंवृत्तेऽपि । ३ । ३ । १ ४५ ।' इति लिङ् । सार्वधातुकत्वात् 'वान्यस्य संयोगादेः । ६।४।६८।' इत्येत्वं न विकल्प्यते । यस्मात् पण्डितो जनः पृथग्जनवत् अपण्डितवत् जातु कदाचिदपि न प्रमृह्येत् न मोहं यातीति सम्भावयामः । 'जातुयदोर्लिङ् । ३ । ३ । १४७ ।' इत्यनवकल्पतौ लिङ् ॥ १७ ॥

यच्च यत्र भवांस्तिष्ठेत्तत्रान्यो रावणस्य नः ।

यच्च यत्र भवान् सीदेन्महद्भिस्तद्विगर्हितम् ॥ १८ ॥

यच्चेत्यादि—यत्र देशे काले वा भवांस्तिष्ठेत् तत्र यच्च अन्यो रावणस्य कस्तिष्ठेत् अवस्थानं कः करिष्यति । नैतत्सम्भावयामः तस्य तत्र न्यूनत्वात् । अन्यस्मिन्नवकल्पिः यच्छब्देनोपपदेन योगात् 'यच्चयत्रयोः । ३ । ३ १४८।' इति

इत्यनवकलृप्तौ भविष्यति लिङ् । यच्चेति निपातसमुदायो यच्छब्दस्यार्थे वर्तते । किञ्च यत्र देशे काले वा यच्च भवान् सीदेत् अवसादं करोतीति महद्भिः पण्डितैः विगर्हितं निन्दितम् । 'गर्हायां च । ३ । ३ । १४९' इति सवलकाराणामपवादो लिङ् । 'यच्चयत्रयोः' इत्यनुवर्तते । अनवकलृप्ताविति निवृत्तम् ॥ १८ ॥

आश्चर्यं यच्च यत्र त्वां प्रब्रूयाम वयं हितम् ।

आपि साक्षात् प्रशिष्यास्त्वं कृच्छ्रेष्विन्द्रपुरोहितम् ॥ १९ ॥

आश्चर्यमित्यादि—यत्र देशे काले वा यच्च यद्वयमपि त्वां हितं प्रब्रूयाम तदाश्चर्यं विचित्रमतेत् । 'चित्रीकरणे च । ३ । ३ । १५०' इति लिङ् । 'यच्चयत्रयोः । ३ । ३ । १४८' इति वर्तते । त्वामित्यकथितं कर्म । अतस्त्वं कृच्छ्रेषु व्यसनेषु साक्षादिन्द्रपुरोहितं बृहस्पतिं प्रशिष्याः वाढं शिक्षयसि । 'उत्ताप्योः समर्थयोर्लिङ् । ३ । ३ । १५२' अपिशब्दस्योपपदत्वात् समर्थत्वं चानयोर्वाढमित्येतस्मिन् अर्थे । 'शास इद्ङ्हलोः । ६ । ४ । ३४' 'शासिवसिघसीनां च । ८ । ३ । ६०' इति षत्वम् ॥ १९ ॥

कामो जनस्य जह्यास्त्वं प्रमादं नर्ऋताऽधिप ।

उत द्विषोऽनुशोचेयुर्विप्लवे किमु बान्धवाः ॥ २० ॥

काम इत्यादि—हे नैर्ऋताधिप रक्षसां नाथ ! त्वं प्रमादं जह्याः त्यज । अस्य जनस्य पौरस्य काम इच्छा । 'कामप्रवेदनेऽकच्चिति । ३ । ३ । १५३' इति लिङ् । कच्चिच्छब्दस्याप्रयोगात् । कामप्रवेदने च जनाभिन्यायप्रकाशनम् । अन्यच्च अस्मिन् विप्लवे विनाशे द्विषः शत्रवोऽपि उत अनुशोचेयुः अनुशोचन्ति किमु बान्धवाः । 'उत्ताप्योः समर्थयोर्लिङ् । ३ । ३ । १५२' ॥ २० ॥

स भवान् भ्रातृवद्रक्षेद्यथावदाखिलं जनम् ।

न भवान् सम्प्रमुह्येच्चेदाश्वस्युश्च निशाचराः ॥ २१ ॥

स इत्यादि—चेद्यदि भवान्न सम्प्रमुह्येत् मोहं न गच्छेत् तदा स भवान् भ्रातृवत् यथा भ्रात्रा जनो रक्ष्यते तद्वत् अखिलं जनं यथावत् सम्यक् रक्षेत् । एते च निशाचरा आश्वस्युराश्वासं गच्छेयुः । हेतुहेतुमतालङ् । ३ । ३ । १५६' अत्र प्रमोहो हेतुः जनरक्षणं निशाचराश्वासनं च हेतुमत् । श्वसेरदादित्वाच्छपो लुक् । आश्वसेयुरिति पाठान्तरम् ॥ २१ ॥

ततः स गतवान् कर्तुं भ्रातुरग्निजलक्रियाम् ।

प्रोक्तवान् कृतकर्तव्यं वचो रामोऽथ राक्षसम् ॥ २२ ॥

तत इत्यादि—ततो वचनानन्तरं भ्रातुरग्निक्रियां जलक्रियां च कर्तुं गतवान् । अथ कृतकर्तव्यं राक्षसं रामः वचः प्रोक्तवान् ॥ २२ ॥

अम्भांसि रुक्मकुम्भेन सिञ्चन् मूर्ध्नि समाधिमान् ।

त्वं राजा रक्षसां लङ्कामवेक्षेथा विभीषण ॥ २३ ॥

अम्भांसीत्यादि—रुक्मकुम्भे स्वर्णकलशेनाम्भांसि जलानि मूर्ध्नि सिञ्चन् पातयन् । रामः प्रोक्तवानिति पूर्वेणान्वयः । हे विभीषण ! समाधिमान् ध्यानवान् त्वमद्यप्रभृति रक्षसां राजा लङ्कामवेक्षेथाः कार्याकार्यनिरूपणेन द्रक्ष्यसि ॥ २३ ॥

क्रुद्धाननुनयेः सम्यग्धनेर्लुब्धानुपार्जयेः ।

मानिनो मानयेः काले त्रस्तान् पौलस्त्य सान्त्वयेः ॥ २४ ॥

क्रुद्धानित्यादि—हे पौलस्त्य ! क्रुद्धाननुनयेः प्रसादयिष्यसि । ये लुब्धान् स्तान् धनेनोपार्जयेः दानेन ग्रहीष्यसि । मानिनः सत्कारोचिते काले मानयेः पूजयिष्यसि । त्रस्तान् भीतान् सान्त्वयेः समाश्वासयिष्यसि । सर्वत्र निमन्त्रणे नियोगकरणे प्रार्थनायां वा लिङ् ॥ २४ ॥

इच्छा मे परमानन्देः कथं त्वं वृत्रशत्रुवत् ।

इच्छेद्वि सुहृदं सर्वो वृद्धिसंस्थं यतः सुहृत् ॥ २५ ॥

इच्छेत्यादि—इयं च मे इच्छा महती । यत्त्वं वृत्रशत्रुवदिन्द्र इव कथमानन्देः मुदितो भविष्यसि । 'इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ ।३।३।१५७।' इति लिङ् । इच्छार्थस्य धातोरुपपदत्वात् । यतः सर्व एव सुहृत् सुहृदं वृद्धिसंस्थम् उदयस्थमिच्छेत् इच्छति । 'इच्छार्थेभ्यो विभाषा वर्तमाने ।३।३।१६०।' इति लिङ् ॥ २५ ॥

वर्धिषीष्ठाः स्वजातेषु वध्यास्त्वं रिपुसंहतीः ।

भूयास्त्वं गुणिनां मान्यस्तेषां स्थेया व्यवस्थितौ ॥ २६ ॥

वर्धिषीष्ठा इत्यादि—स्वजातेषु स्वजातिषु राक्षसेषु मध्ये त्वं वर्धिषीष्ठाः वृद्धिमान् भविष्यसि । आशिषि लिङ् । एवं वक्ष्यमाणेष्वपि सर्वत्र । रिपुसं-

हतीः शत्रुसमूहान् वध्याः विनाशयिष्यसि । 'हनो वध लिङि । २।४।४२'
भूयाश्च गुणिनां मान्यः । श्रुतशीलवतां मानार्हश्च भविष्यसि । तेषां च
गुणिनां व्यवस्थितौ चिरकालं स्थेयाः स्थास्यसि ॥ २६ ॥

धेयास्त्वं सुहृदां प्रीतिं वन्दिषीष्टा दिवौकसः ।

सोमं पेयश्च हेयाश्च हिंसा हानिकरीः क्रियाः ॥ २७ ॥

धेया इत्यादि—त्वं सुहृदां मित्राणाम् 'सुहृदुर्हृदौ मित्रामित्रयोः । ५।४।
१५।' इति साधुः । प्रीतिं धेयाः जनयिष्यसि । दिवौकसो द्यूरोको येषां तान्
देवान्वन्दिषीष्टाः प्रणंस्यसि । सोमं सुधारसं पेयाः पास्यसि । तथा हिंसाः
परोपघातिकाः हानिकरीः अपचयहेतुकाः क्रियाः हेयाः त्यक्ष्यसि ॥ २७ ॥

अवसेयाश्च कार्याणि धर्मेण पुरवासिनाम् ।

अनुरागं क्रिया राजन् सदा सर्वगतं जने ॥ २८ ॥

अवसेया इत्यादि—पुनः पुरवासिनां लङ्कापुरीनिवासिनां कार्याणि
धर्मेणावसेयाः समाप्स्यसि । 'पोऽन्तकर्मणि' । हे राजन् ! अत्र जने अनु-
रागं सर्वगतं सर्वव्यापिनं क्रियाः करिष्यसि ॥ २८ ॥

घानिषीष्ट त्वया मन्युर्ग्राहिषीष्ट समुन्नतिः ।

रक्षोभिर्दर्शिषीष्टास्त्वं द्रक्षीरन् भवता च ते ॥ २९ ॥

घानिषीष्टेत्यादि—मन्युः क्रोधः त्वया घानिषीष्ट हनिष्यते । चिष्वद्भावो
वृद्धिर्घत्वं च । समुन्नतिरभ्युच्चयः ग्राहिषीष्ट ग्रहीष्यते । रक्षोभिर्दर्शनपरैर्द-
र्शिषीष्टाः द्रक्ष्यसे । ते च राक्षसाः भवता दर्शनपरेण च द्रक्षीरन् । अचि-
ष्वद्भावपक्षः ॥ २९ ॥

मन्युं वध्या भटवधकृतं बालवृद्धस्य राजन् !

शास्त्राभिज्ञाः सदसि सुधियः सन्निधिं ते क्रियासुः ।

संरंसीष्टाः सुरमुनिगते वर्त्मनि प्राज्यधर्मे

सम्भुत्सीष्टाः सुनयनयनैर्विद्विषामीहितानि ॥ ३० ॥

इति महावैयाकरण-श्रीभट्टिप्रणीते रामचरिते

काव्ये तिङन्तकाण्डे लिङ्-विलसितो

नामैकोनविंशतितमः सर्गः ॥

१ यद्यपि विपूर्वस्यैव दधातेः प्रकृतोऽर्थः, तथाऽपि धातूनामनेकार्थत्वा-
दिदं समाधेयम् ।

मन्युमित्यादि—अन्यच्च हे राजन् ! बालानां वृद्धानां च । 'सर्वो द्वन्द्वो द्विभापैकवद्भवति' इति बालाश्च वृद्धाश्चेति बालवृद्धम् । तस्य मन्युं शोकम् । भटवधकृतं भटानां पितृपुत्रादीनां च यो वधः तत्कृतम् । तज्जनितम् । वध्याः प्रियवचनार्थप्रदानादिभिरपनेष्यासि । शास्त्राभिज्ञाः शास्त्रार्थकुशलाः ते तव सदसि सभायां सन्निधिं क्रियासुः सन्निहिता भवन्तिवत्यर्थः । सुरैर्मुनिभिश्च गते सेविते वर्त्मनि मार्गे प्राज्यधर्मे भूरिपुण्ये संरसीष्ठाः रंस्यसे । द्विपां शत्रूणां ईहितानि चेष्टितानि मुनयनयनैः शोभना ये नयाः तैरेव नयनैश्चक्षुर्भिरिवावस्थितैः सम्भुत्सीष्ठाः जानीथाः ज्ञास्यसि । 'बुध अवगमने' एकाचो वशो भू ॥ ३० ॥

इति जयदेवाद्यपरपर्याय-श्रीजयमङ्गलसूरिविरचितया श्रीजयमङ्गलाख्यया व्याख्यया समलङ्कृते श्रीभट्टिप्रणीते रामचरिते काव्ये चतुर्थे तिङन्तकाण्डे लक्षणरूपे षष्ठः परिच्छेदः, लक्ष्यरूपे कथानके 'विभीषणाभिषेको' नाम एकोनविंशतितमः सर्गः ॥ १९ ॥

विंशः सर्गः ।

इतः प्रभृति लोटमधिकृत्य ताद्विलसितमाह—तत्र 'लोट् च' इति वचनाद्विध्यादिष्वर्थेषु लोट् । ततोऽन्यत्रापि दर्शयिष्यति—

समुपेत्य ततः सीतामुक्तवान् पवनात्मजः ।

दिष्ट्या वर्धस्व वैदेहि हतस्त्रैलोक्यकण्टकः ॥ १ ॥

समुपेत्येत्यादि—ततोऽनन्तरं पवनात्मजः रामाज्ञया सीतां समुपेत्य समुपागम्योक्तवान् । हे वैदेहि ! रावणस्त्रैलोक्यस्य प्रतोदकत्वात् कण्टको हतस्तेन दिष्ट्या प्रियवचनेन वर्धस्व वियोगतो वर्त्स्यसीति । निमन्त्रणे लोट् ॥ १ ॥

अनुजानीहि हन्यन्तां मथैताः क्षुद्रमानसाः ।

रक्षिकास्तव राक्षस्यो गृहाणैतासु मत्सरम् ॥ २ ॥

अनुजानीहीत्यादि—अनुजानीहि अनुज्ञां प्रयच्छ । प्रार्थनायां लोट् । येन मयैता राक्षस्यस्तव रक्षिकाः क्षुद्रमानसाः पापाशयाः हन्यन्तां विनाश्यन्ताम् । अत्र विधौ कर्मणि लोट् । तस्मादेतासु मत्सरं गृहाण जनय । प्रार्थनायां लोट् । येन गृहीतक्रोधा मामनुज्ञास्यसि ॥ २ ॥

तृणहानि दुराचारा घोररूपाशयक्रियाः ।

हिंसा भवतु ते बुद्धिरेतासु कुरु निष्ठुरम् ॥ ३ ॥

तृणहानीत्यादि—एता दुराचाराः घोररूपाशयक्रियाः क्रूराणि आकाराभिप्रायानुष्ठानानि यासां तास्तृणहानि हनिष्यामि । तदेतासु हिंस्र्य हिंसनशीला तव बुद्धिर्भवतु । निष्ठुरं च नैष्ठुर्यं कुरु । भावप्रधानो निर्देशः ॥ ३ ॥

पश्चिमं करवामैतत् प्रियं देवि वयं तव ।

ततः प्रोक्तवती सीता वानरं करुणाशया ॥ ४ ॥

पश्चिममित्यादि—हे देवि ! किमत्र विचारितेन तव पश्चिममन्त्यं प्रियम् एतद्वयं करवाम करिष्यामः । 'अस्मदो द्वयोश्च ।१।२।५९' इत्येकत्वे बहुवचनम् । ततोऽनन्तरं सीता करुणाशया सती वानरं प्रोक्तवती ॥ ४ ॥

उपशाम्यतु ते बुद्धिः पिण्डनिर्वेशकारिषु ।

लघुसत्त्वेषु दोषोऽयं यत्कृतो निहतोऽसकौ ॥ ५ ॥

उपेत्यादि—लघुसत्त्वेषु स्त्रीजनेषु पिण्डनिर्वेशकारिषु पिण्डस्य प्रासस्य निर्वेशो निष्कयः तत्कारिषु ते बुद्धिरुपशाम्यतु सकरुणा भवतु । सर्वत्र विधौ लोट् । किमिति चेत् यत्कृतो यज्जनितोऽयं दोषः ममैताभिः कृतः । असकौ असौ रावणो निहतो व्यापादितः । कुत्सायाम् 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टः ।५।३।७१' इति अकच् ॥ ५ ॥

नहि प्रेष्यवधं घोरं करवाण्यस्तु ते मतिः ।

एधि कार्यकरस्त्वं मे गत्वा प्रवद राव्वम् ॥ ६ ॥

नहीत्यादि—अन्यच्च नहि नैव घोरं प्रेष्यवधं करवाणि करिष्यामीतीत्यम् मतिस्तवाप्यस्तु । 'आशिषि लिङ्लोटौ ।३।३।१७३' इति लोट् । अतस्त्वं कार्यकरः कार्यकरणे अनुकूलः । आनुलोम्ये टः । एधि भव । 'असोरल्लोपः ।६।४।१११' । 'ध्वसोरेद्वावभ्यासलोपश्च ।६।४।११९' एत्वस्य समानाश्रयत्वाद-

सिद्धत्वे 'हुङ्गलभ्यो हेर्धिः । ६ । ४ । १०१ ।' कार्यमाह । गत्वा प्रवद राघवं
ममादेशाद् ब्रूहि ॥ ६ ॥

किं मया वक्तव्यमिति चेत्तदाह—

दिदृक्षुर्मैथिली राम पश्यतु त्वाऽविलम्बितम् ।

तथेति स प्रतिज्ञाय गत्वा राघवमुक्तवान् ॥ ७ ॥

दिदृक्षुरित्यादि—हे राम ! द्रष्टुमिच्छुर्मैथिली सीता अविलम्बितं द्रुतं
त्वा त्वां पश्यतु । सर्वत्र प्रार्थनायां लोष्ट । स प्रवनात्मजो हनुमान्
प्रतिज्ञाय यथाज्ञापयसीति तथेति स्वीकृत्य गत्वा राघवमुक्तवान् ॥ ७ ॥

किमित्याह—

उत्सुकाऽऽनीयतां देवीं काकुत्स्थकुलनन्दन ।

क्ष्मां लिखित्वा विनिश्चस्य स्वरालोक्य विभीषणम् ॥ ८ ॥

उत्सुकेत्यादि—हे काकुत्स्थकुलनन्दन ! उत्सुका देवी आनीयतामिति ।
प्रार्थनायां कर्मणि लोष्ट । एवमुक्ते रावणवधे महति प्रयोसे कृतेऽपि जनवाद्-
भयात् न तथा सह मया वासः कार्य इत्यभिप्रायेण । राघवः क्ष्मामङ्गुष्ठेन
लिखित्वा विनिश्चस्य स्वरालोक्य आकाशं दृष्ट्वा । स्वर्तित्यन्वयम् । विभी-
षणमुक्तवानिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ॥ ८ ॥

उक्तवान् राघवः सीतामानयालङ्कृतमिति ।

गत्वा प्रणम्य तेनोक्ता मैथिली मधुरं वचः ॥ ९ ॥

उक्तवानित्यादि—सीतामलङ्कृतामानयेति राघवो राम उक्तवान् । विधौ
लोष्ट । इत्येवं रामेणाज्ञायां दत्तायां तेन विभीषेणन गत्वा सीतासमीपं
प्राप्त्यं प्रणम्य तां मैथिलीं पुनः प्रणिपत्य च मैथिल्युक्ता मधुरं वचः ॥ ९ ॥

जहीहि शोकं वैदेहि प्रीतये धेहि मानसम् ।

रावणे जहिहि द्वेषं जहाहि प्रमदावनम् ॥ १० ॥

जहीहीत्यादि—शोकं पतिवियोगजं जहीहि परित्यज । जहातेश्च । ६।४।
३१६। इत्यन्यतरस्यामित्त्वमीत्वं च 'आ च हौ । ६।४।११७।' इत्याकार इति
रूपत्रयम् । प्रीतये प्रीत्यर्थं शरीरप्रसाधनद्वारा स्वप्रसादनायेत्यर्थः । पुनर्मानसं
चित्तम् धेहि घटयत्व 'ध्वसारेद्भावभ्यासलोश्च । ६।४।११९।' रावणे
रावणविषये द्वेषं जहिहि तस्य विनष्टत्वात् 'मरणान्तानि वैराणि' इति हि

स्थितिः, प्रमदावनम् अशोकवनिकां जहाहि । पत्युरन्तिकं याहीत्यर्थः ।
सर्वत्र विधौ लोट् ॥ १० ॥

अथ युग्मकम् ।

स्नाह्यनुलिम्प धूपाय निवस्स्वाविध्य च स्रजम् ।

रत्नान्यामुञ्च संदीप्ते हरिर्जुहुधि पावके ॥ ११ ॥

अद्धि त्वं पञ्चगव्यं च छिन्धि संरोधजं तमः ।

आरोह शिविकां हैमीं द्विषां जहि मनोरथान् ॥ १२ ॥

स्नाहीत्यादि—स्नाहि स्नानं कुरु । ततः कायशुद्धयर्थं सदनपहतं पञ्च-
गव्यमद्धि भक्षय । 'हुङ्गल्भ्यो हेधिः । ६।४।१०।१।' गोरेतानि गव्यानि ।
सर्वत्र गोरजादिप्रत्ययप्रसङ्गे यत् । पञ्च गव्यानि समाहृतानीति पात्रादि-
दर्शनान्न डीप् । ततः पवित्रीकृतकाया, सन्दीप्ते पावकेऽग्नौ हविर्घृतं
जुहुधि । ततः स्वामिनं रामं गन्तुमनुष्ठितदेवकार्यां सती त्वमालिम्प चन्दना-
दिनां शरीरं समालभस्व । ततो निवस्स्व आच्छादय । 'वस आच्छादने'
अदादित्वाच्छपो लुक् । धातुसकारस्य परगमनम् । ततो धूपाय धूपि-
त्तमात्मानं कुरु । धूपेरायप्रत्ययः । आविध्य च स्रजं मालां शिरस्याक्षिप ।
'व्यध ताडने' श्यानि 'ग्रहिज्यावायिव्याधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छति-
भृज्जतीनां डिति च । ६।१।१६।' इति सम्प्रसारणम् । रत्नान्यामुञ्च विन्यस्ये-
त्ययमर्थवशात् क्रियाक्रमो द्रष्टव्यः । यथा देवदत्तं भोजय स्नापय उद्वर्त-
येति । किं च संरोधजम् अस्वतन्त्रीकरणजं तमः शोकं छिन्धि अपनय ।
हैमीं शिविकां सौवर्णयानमारोह अधितिष्ठ । सर्वत्र भर्तुर्नियोगकरणे लोट् ।
वामारूढा द्विषां मनोरथान् हृदये स्थितानभिप्रायान् जहि नाशय । हौ-
परतो 'हन्तेर्जः । ६।४।३६' ॥ ११ ॥ १२ ॥

तृणेहु त्वद्विमोगोत्थां राजन्यानां पतिः शुचम् ।

भवतादाधियुक्ता त्वमत ऊर्ध्वं स्ववेश्मनि ॥ १३ ॥

तृणेद्वित्यादि—गतायां त्वयि राजन्यानां क्षत्रियाणां पती रामः शुचं
शोकं त्वद्वियोगोत्थां त्वद्वियोगप्रभवाम् । 'सुपि स्थः । ३।२।४।' इति कः ।
'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य । ८।४।६।' इति पूर्वसवर्णः । तृणेहु दिनस्तु । अतः

अस्मात्कालादूर्ध्वं कालं स्ववेश्मनि अयोध्यायाम् अधियुक्ता त्वं भवतात् भूयाः ।
‘तुह्योस्तातङ्काशिष्यन्तरस्याम् ॥७॥१३५॥’ इति तातङ् ॥ १३ ॥

दीक्षस्व सह रामेण त्वरितं तुरगाध्वरे ।

दृश्यस्व पत्या प्रीतेन प्रीत्या प्रेक्षस्व राघवम् ॥ १४ ॥

दीक्षस्वेत्यादि—तुरगाध्वरे तुरगसाध्येऽध्वरे । शाकपार्थिवादित्वान्म-
ध्यमपदलोपः । अश्वमेधे रामेण सह त्वरितं शीघ्रं दीक्षस्व दीक्षिता भूयाः
भव । आशिषि ‘अशिषि लिङ्लोटौ ॥३॥१७३॥’ इति लोट् । प्रीतेन पत्या
दृश्यस्व दृष्टा भव । इह कर्मणि लोट् । प्रीता च सती राघवं रामं त्वं
प्रेक्षस्व पश्य इहाप्याशिषि लोट् ॥ १४ ॥

अयं नियोगः पत्युस्ते कार्या नात्र विचारणा ।

भूषयाऽङ्गं प्रमाणं चेद्रामं गन्तुं यतस्व च ॥ १५ ॥

अयमित्यादि—तव पत्युः रामस्यायं नियोगः आज्ञा यत्कृतः स्नानादि-
व्यापारः । अत्रास्मिन्ननुष्ठेये वस्तुनि विचारणा न कार्या किमेवं न वेति ।
संशयो न विधेयः । एतत्प्रमाणं चेत् भूषयाऽङ्गं स्नानादिपूर्वकमवयवमलङ्कुरु ।
रामं गन्तुं यतस्व चेष्टस्व ॥ १५ ॥

मुदा संयुहि काकुत्स्थं स्वयं चाप्नुहि सम्मदम् ।

उषेहूर्ध्वं मुहूर्तात्त्वं देवि राघवसन्निधिम् ॥ १६ ॥

मुदेत्यादि—गत्वा च काकुत्स्थं मुदा हर्षेण संयुहि मिश्रय । ‘युमिश्रणामि-
श्रणयोः’ तत्र गमनेन स्वयं च सम्मदं हर्षं प्राप्नुहि ‘प्रमदसंमदौ हर्षे ॥३॥३॥
६८॥’ सर्वत्र प्रार्थनायां लोट् । हे देवि ! अस्मान्मुहूर्तादूर्ध्वं राघवस-
न्निधिम् । राघवः सन्निधीयते यस्मिन् प्रदेशे इति ‘कर्मण्यधिकरणे च ॥३॥३॥
९३॥’ इति किप्रत्ययः । तं त्वमुपेहि गच्छ ॥ १६ ॥

ऊर्ध्वं मुहूर्ताद्द्वोऽङ्गं स्वामिनी स्म भव क्षितेः ।

राजपत्नीनियोगस्थमनुशाधि पुरीजनम् ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वमित्यादि—तथा अहः मुहूर्तादूर्ध्वं क्षितेः स्वामिनी भव स्म । अङ्गेति
सम्बोधनपदम् । अत्र ‘स्मे लोट् ॥३॥३॥१६५॥’ इत्यनेन प्रैषे लोट् । तत्र हि
‘प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च ॥३॥३॥१६३॥’ इति ‘और्ध्वमौहूर्तिके’

१ निजप्रासाद इति भावः । २ ‘अङ्गं प्रतीकोऽवयवोऽपवनः’ इत्यमरः ।
३ ‘प्रमोदामोदसम्मदाः’ इत्यमरः ।

इति च वर्तते । प्राप्तकालतायां लोट् । राघवसन्निधिं गन्तुं क्षितेः स्वामिनी भवितुं प्राप्तकाला देवी । अन्यथा कालातिक्रमे मयि विरक्तेति रामो विरज्यते । अन्यच्च इयमस्माकमाशंसा । त्वं राजपत्नीनियोगस्थं महादेव्याज्ञाकरणतत्परं पुरीस्थमयोध्यावस्थितं जनम् अनुशाधि विधेयीकुरु । 'आशिषि लिङ्लोटौ । ३ । ३ । ११३ ।' इति आशिषि लोट् । 'शा हौ । ६ । ४ । ३५ ।' इति शादेशः । तस्य समानाश्रयत्वादसिद्धत्वे 'हुञ्जलभ्यो हर्षिः । ६ । ४ । १०१' ॥ १७ ॥

उत्तिष्ठस्व मते पत्युर्यतस्वालङ्कृतौ तथा ।

प्रतिष्ठस्व च तं द्रष्टुं द्रष्टव्यं त्वं महीपतिम् ॥ १८ ॥

उत्तिष्ठस्वेत्यादि—तस्मात्प्रार्थयेऽहं पत्युर्मते अभिप्राये मत्समीपमागन्तव्यमिति उत्तिष्ठस्व तदर्थं घटस्व । 'उदोऽनूर्ध्वकर्मणि । १ । ३ । २४ ।' इति तङ् । तथा अलङ्कृतौ अलङ्करणे यतस्व यन्नं कुरु । लज्जया कदाचिन्नोत्सहेतेति पुनःपुनरभिधानम् अविरुद्धम् । यथा स्नाहीत्यादि भूषयाङ्गमिति मन्यते तेन वारद्वयमुक्तमेवम् अलङ्कृत्य त्वं महीपतिं द्रष्टव्यं दर्शनाहम् । 'अहं कृत्यनृचश्च । ३ । ३ । १६९ ।' इति अवश्यद्रष्टव्ये वा आवश्यकं 'कृत्याश्च । ३ । ३ । १७१ ।' इति संद्रष्टुं प्रतिष्ठम्ब गच्छ । प्रार्थनायां लोट् । 'समवप्रविभ्यः स्थः । १ । ३ । २२ ।' इति तङ् ॥ १८ ॥

अनुष्ठाय यथादिष्टं नियोगं जनकात्मजा ।

समारूढवती यानं पट्टांशुकवृत्तानना ॥ १९ ॥

अनुष्ठायेत्यादि—श्लोकत्रयम् एवमुक्त्वा भर्तुर्यथोदिष्टं नियोगं स्नानादिकमनुष्ठाय कृत्वा जनकात्मजा मां कश्चिन्माद्राक्षीदिति पट्टांशुकवृत्तानना यानं शिबिकामारूढवती पत्युरन्तिकं च गत्वा यानादवतीर्थेत्यर्थात् ॥ १९ ॥

लज्जानता विसंयोगदुःखस्मरणविह्वला ।

सास्त्रा गत्वान्तिकं पत्युर्दीना रुदितवत्यसौ ॥ २० ॥

लज्जानतेत्यादि—लज्जया आनता अधोमुखी विसंयोगदुःखस्य पूर्वानुभूतस्य स्मरणेन विह्वला शोकाकुला सास्त्रा अश्रुपूर्णनयना दीना सा पत्युरन्तिकं रामस्य समीपं गत्वा सीता रुदितवती दुःखं प्रकटितवती ॥ २० ॥

१ स्वमस्या अस्तीति तयोक्त्वा, अधिष्ठात्रीत्यर्थः । स्वामिद्वैश्वर्ये । ५ । २ । १२६ ।
इति साधुः ।

प्राप्तचारित्र्यसन्देहस्ततस्तामुक्तवान् नृपः ।

इच्छा मे नाददे सीति त्वामहं गम्यतामतः ॥ २१ ॥

प्राप्तेत्यादि—ततोऽनन्तरं नृपो रामः 'रावणः किमस्यां खण्डितचारित्र्य-
लो न वा' इति प्राप्तचारित्र्यसन्देहस्तामुक्तवान् । किमित्याह—हे सीते !
मे ममेयमिच्छा यत्त्वामहं नाददे न गृह्णामि । 'इच्छार्थेषु लिङ्छोटौ
। ३ । ३ । १५७ ।' इति लोट् । अतोऽनिच्छातः कारणाद्यथेष्टं गम्य-
ताम् ॥ २१ ॥

किमिति नेच्छति चेदाह—

रावणाङ्कपरिक्षिष्टा त्वं हल्लेखकरी मम ।

मर्ति बधान सुग्रीवे राक्षसेन्द्रं गृहाण वा ॥ २२ ॥

रावणेत्यादि—रावणाङ्कपरिक्षिष्टा हरणसमये रावणोत्सङ्गे स्थिता सती
परिक्षिष्टा परिमृदितवती त्वं मम हल्लेखकरी चेतःपीडनशीला । 'कृन्नो
हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु । ३ । २ । २० ।' इति टः । 'हृदयस्य हल्लेखयदुण्-
लासेषु । ६ । ३ । ५० ।' इति हृदादेशः । कमहं शरणं यास्यासीति
चेदाह—सुग्रीवे मर्ति बधान वध्नीयाः उत्पादय, राक्षसेन्द्रं विभीषणं वा
अनुगृहाण स्वीकुरु ॥ २२ ॥

अशान भरताद् भोगान् लक्ष्मणं प्रवृणीष्व वा ।

कामाद् वा याहि मुच्यन्तामाशा रामनिबन्धनाः ॥ २३ ॥

अशानेत्यादि—भरताद्वा भोगान्शान भुङ्क्ष्व । सर्वत्र 'हलः अः
शानञ्ज्ञौ । ३ । १ । ८३ ।' इति शानच् । लक्ष्मणं प्रवृणीष्व वा अङ्गी-
कुरु । 'वृष् वरणे' इत्यस्य रूपम् । 'प्वादीनां ह्रस्वः । ७ । ३ । ८० ।'
स्वेच्छया वा याहि भवत्यै यत्र रोचते तत्र गम्यताम् । रामनिबन्धनाः पुन-
रपि रामो मे पतिर्भूयादित्याशाः मुच्यन्तां त्यज्यन्ताम् ॥ २३ ॥

किमिति चेदाह—

क्व च ख्यातो रघोर्वेशः क्व त्वं परगृहोषिता ।

अन्यस्मै हृदयं देहि नाऽनभीष्टे घटामहै ॥ २४ ॥

क्व चेत्यादि—परिशुद्धत्वात्सर्वत्र ख्यातः लोके विदितो रघोर्वेशः क्व ।
क्व च त्वं परगृहोषिता जातकलङ्कत्वात् । द्वयमप्येतदूरं भिन्नम् । सर्वत्र

विधौ घटधातौ लोट् । अतोऽन्यस्मै हृदयं देहि चित्तं परस्मै देहि परस्मिन्
यस्मिन् कस्मिन्श्चिदभिमतोऽनुरक्ता भवेति भावः । वयम् अनभिमते विषये न
घटामहे । निमन्त्रणे लोट् ॥ २४ ॥

यथेष्टं चर वैदेहि ! पन्थानः सन्तु ते शिवाः ।

कामास्तेऽन्यत्र तायन्तां विशङ्कां त्यज मद्गताम् ॥ २५ ॥

यथेष्टमित्यादि—यथेष्टं चर यथेष्टचारिणी भव । अत्र विधौ लोट् । तत्र
च यथेष्टं चरन्त्यास्तव पन्थानो मार्गाः शिवाः निर्विघ्नाः सन्तु भूयासुः । अत्र
आशिषि लोट् । किं च कामा अभिलाषास्तवान्यत्र तायन्तां स्फीता भवन्तु ।
अत्राप्याशिषि लोट् । यथेष्टचारित्वात्किमर्थं करिष्यतीति मद्गतां विशङ्कां भयं
त्यज त्यक्ष्यसि । अत्र विधौ लोट् ॥ २५ ॥

ततः प्रगदिता वाक्यं मैथिलाभिजना नृपम् ।

स्त्रीसामान्येन सम्भूता शङ्का मयि विमुच्यताम् ॥ २६ ॥

तत इत्यादि—ततस्तद्वचनानन्तरं पतिवचनोत्तरमित्यर्थः मैथिलाभिजनां
मैथिलवंशोद्भवा सीता नृपं वाक्यं प्रगदिता गदितुं प्रवृत्ता । 'आदिकर्मणि कं
कर्त्तरि च । ३ । ४ । ७१ ।' इत्यारम्भे द्योत्ये कः । स्त्रीसामान्येन स्त्रीति कृत्वा
या तव मयि शङ्का इयं सती न वेति सा विमुच्यताम् । मिथ्यात्वात् । अत्र
प्रार्थनायां लोट् ॥ २६ ॥

दैवाद्विभीहि काकुत्स्थ जिह्वीहि त्वं तथा जनात् ।

मिथ्या मामभिसङ्क्रुध्यन्नवशां शत्रुणा हताम् ॥ २७ ॥

दैवादित्यादि—अन्यत्र हे काकुत्स्थ राम ! अवशां परार्थिनां शत्रुणा
हताम् । मिथ्या अभिसङ्क्रुध्यन् अलीकेन । 'क्रुध-द्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म । १ ।
४ । ३८ ।' इति कर्मसंज्ञा । देवात् अनिष्टफलात् विभीहि भीतो भव । हेर-
पित्त्वात्किन्त्वे गुणो न भवति । इतश्च जनादिमं जनं वीक्ष्य जिह्वीहि लज्जस्य
'ल्यङ्लोपे कर्मण्यधिकरणे च' इति पञ्चमी । विधौ लोट् ॥ २७ ॥

त्वय्यसंक्रान्तायां मम कीदृशं भयं लज्जा चेति चेत्तदाह—

चेतसस्त्वयि वृत्तिर्मे शरीरं रक्षसा हतम् ।

विदां कुर्वन्तु सम्यञ्चो देवाः सत्यमिदं वचः ॥ २८ ॥

१ 'लोट् च' ३।३।१६२ इति शास्त्रेण । २ मैथिलोऽभिजनः कुलं यस्याः । 'सां कुले-
ऽप्यभिजनो जन्मभूम्यामपि' इत्यमरः । ३ न वशः इच्छा, स्वाभिप्रायानुकूल्य
प्रवृत्तिर्यस्याः सा । 'वशः कान्तौ' इत्यमरः ।

चेतस इत्यादि-मे मम सीतायाश्चेतसो वृत्तिरात्मव्यापारः त्वयि भर्तृरितिष्ठति अनन्यमनस्कत्वात् । रक्षसा रावणेन हृताया मम न सर्वं हृतम् अपि तु शरीरमेकं हृतम् । नैवेदं मिथ्या । तथाहि हे महाभूताधिष्ठानाः सम्यञ्चः । सर्वत्र वर्तमानाः अञ्चन्तीति क्विप् । अञ्चतावप्रत्यये 'समः समि । ६ । ३ । ९३ ।' इति सम्यादेशः । एते मदर्थिताः मम वचः सत्यं विदांकुर्वन्तु अवगच्छन्तु । ज्ञानन्तु । अत्र प्रार्थनायां लोट् । विदांकुर्वन्त्विति निपातनम् ॥ २८ ॥

प्रत्येकं प्रार्थनामाह—

त्वं पुनीहि पुनीहीति पुनन् वायो जगन्नयम् ।

चरन् देहेषु भूतानां विद्धि मे बुद्धिविप्लवम् ॥ २९ ॥

त्वं पुनीहीत्यादि—हे वायो ! पुनीहि पुनीहीति जगन्नयं त्रिलोकं ।

पुनः पुनामि भृशं वा पुनामीत्यभिप्रायः । त्वं जगन्नयं पुनन् भूतानां देहेषु चरन् मम बुद्धिविप्लवं बुद्धेरन्यथात्वं विद्धि अवगच्छ । अत्र प्रार्थनायां लोट् । पूर्वत्र 'क्रियासमभिहारे लोट् लोटो स्वौ वाहि च तध्वमोः । ३।४। २।' इति लोट् । तस्य परस्मैपदसम्बन्धी हिरादेशः । क्रियासमभिहारे द्विर्वचनम् । पुनन्निति यथाविध्यनुप्रयोगः । पूर्वस्मिन्नित्यनेन पुनातेरनुप्रयोगः । तत्र हि क्रियासमुच्चयाभावात् ॥ २९ ॥

खमट द्यामटाटोर्वीमित्यटन्त्योऽतिपावनाः ।

यूयमापो विजानीत मनोवृत्तिं शुभां मम ॥ ३० ॥

खमित्यादि—यूयमापोऽतिपावनाः अतिपवित्राः खमट द्यामट उर्वीमट इति वयमन्तरिक्षमटाम देवलोकमटाम भूलोकमटाम इत्येवमभिप्रायः । सर्व-ज्जाटन्त्यो मम शुभां चित्तवृत्तिं विजानीतेति । अत्र प्रार्थनायां लोट् । पूर्वत्र आकाशादिकोरकभेदात् अनेकाटनक्रियासमुच्चयः । ततश्च 'समुच्चयेऽन्य-तरस्याम् । ३ । ४ । ३ ।' इति लोट् । अटेति समुच्चये सामान्यवचनस्येत्यनु-प्रयोगः । आकाशाद्युपगामिनीनामटनक्रियायाः सामान्याया अनुप्रयो-गात् ॥ ३० ॥

जगन्ति धत्स्व धत्स्वेति दधती त्वं वसुन्धरे ।

अवेहि मम चारित्रं नक्तंदिवमविच्युतम् ॥ ३१ ॥

जगन्तीत्यादि—त्वं वसुन्धरे ! धत्स्व धत्स्वेति अहं पुनः पुनर्दधे भृशं वा दध इति एवमभिप्राया जगन्ति दधती मम चारित्रं नक्तंदिवमविच्युतं

अस्वलितमवेहि जानीहि । अत्र प्रार्थनायां लोट् । पूर्वत्र क्रियासमभिहारे तस्य चात्मनेपदसम्बन्धिनः स्वादेशः ॥ ३१ ॥

रसान् संहर दीप्यस्व ध्वान्तं जहि नभो भ्रम !

इतीहमानस्तिग्मांशो वृत्तं ज्ञातुं घटस्व मे ॥ ३२ ॥

रसानित्यादि—हे तिग्मांशो ! त्वमपि अहं रसान् भौमान् संहर संहरामीति । दीप्यस्व दीप्ये । ध्वान्तं जहि हन्मि । नभो भ्रम भ्रमामीत्येवमभिप्रायः । ईहमानः जगत्यर्थक्रियासु चेष्टमानः । मम वृत्तं चारित्रं ज्ञातुं घटस्व यतस्व । अत्र प्रार्थनायां लोट् । पूर्वत्र 'समुच्चयेऽन्यतरस्याम् । ३ । ४ । ३ ।' इति तस्य च यथायोगं हिस्वादेशः । ईहमान इति 'समुच्चये सामान्यवचनस्य । ३ । ४ । ५ ।' इत्यनुप्रयोगः । संहरेत्यादीनामीहतेः सामान्यवचनप्रयोगात् ॥ ३२ ॥

स्वर्गे विद्यस्व भुव्यास्व भुजङ्गनिलये भव ।

एवं वसन् ममाकाश संबुध्यस्व कृताकृतम् ॥ ३३ ॥

स्वर्ग इत्यादि—स्वं चाकाश ! स्वर्गे विद्यस्व अहं विद्ये । भुवि आस्व आसे । भुजङ्गनिलये पाताले भव भवामीत्येवमभिप्रायः सर्वत्र वसन् तिष्ठन् मम कृताकृतं युक्तायुक्तं बुध्यस्व अवगच्छ । अत्र प्रार्थनायां लोट् । पूर्वत्र 'समुच्चयेऽन्यतरस्याम् । ३ । ४ । ३ ।' इति तस्य च यथायोगं हिस्वादेशः । वसन्निति 'समुच्चये सामान्यवचनस्य ३ । ४ । ५ ।' इत्यनुप्रयोगः । विद्यमानादीनां वसतः सामान्यवचनस्यानुप्रयोगात् ॥ ३३ ॥

एवं प्रथिव्यादीनि महाभूतानि कथयित्वा लक्षणमाह—

चितां कुरु च सौमित्रे व्यसनस्यास्य भेषजम् ।

रामस्तुष्यतु मे वाद्य पापां प्लुष्णातु वानलः ॥ ३४ ॥

चित्तामित्यादि—हे सौमित्रे ! व्यसनस्यास्य मिथ्याद्रूपणस्य भेषजं प्रतिक्रियां चितां कुरु । अत्र विधौ लोट् । मम अप्रौ विशुद्धाया रामो नियोगतस्तुष्यतु । अनलां वा मां पापां नियोगतः प्लुष्णातु दहतु । दहन् मर्त्यलोकान्मोचयत्वित्यर्थः । 'लोट् च ३ । ३ । १६२ ।' इति निमन्त्रणे लोट् । 'प्लुष प्रुप स्नेहनमोचनपूरणेपु' इति त्रयादिः, मोचने द्रष्टव्यः' अनेकार्थत्वाद्वाहे ॥ ३४ ॥

राघवस्य मतेनाथ लक्ष्मणेनाचितां चिताम् ।

दृष्ट्वा प्रदक्षिणीकृत्य रामं प्रगदिता वचः ॥ ३५ ॥

राघवस्येत्यादि--अथ राघवस्य मतेनानुज्ञातेन 'क्तस्य च वर्तमाने ।३।३।६७' इति षष्ठी । 'मतिबुद्धिपूजाऽर्थेभ्यश्च । ३।२ । १८८।' इति वर्तमाने क्तः । तस्य वा मतेनानुज्ञया चितामाचितां रचितां दृष्ट्वा प्रदक्षिणीकृत्य सीता रामं प्रगदिता वचो गदितुं प्रवृत्ता ॥ ३५ ॥

प्रवपाणि वपुर्वह्नौ रामाहं शङ्किता त्वया ।

सर्वे विदन्तु शृण्वन्तु भवन्तः सप्तवङ्गमाः ॥ ३६ ॥

प्रवपाणीत्यादि--येऽत्र सन्निहिता देवादयः ते सर्वे सप्तवङ्गमा वानरैः सह भवन्तः विदन्तु चेतसा जानन्तु । शृण्वन्तु श्रोत्रविषयीकुर्वन्तु मद्बचनम् । हे राम ! त्वया दुष्टेति शङ्किता अहं वह्नौ वपुः शरीरं प्रवपाणि नियोगतः प्रक्षिपाणि । 'लोट् च ।३।१६२।' इति निमन्त्रणे लोट् । 'आनि लोट् । ८।४।१६' इति णत्वम् ॥ ३६ ॥

मां दुष्टां ज्वलितवपुः प्लुषाण वद्वे संरक्ष क्षतमलिनां सुहृद्यथा वा ।

एषाहं ऋतुपु वसोर्यथाज्यधारा त्वां प्राप्ता विधिवदुदीर्णदीप्तिमालम् ॥ ३७ ॥

इति महावैयाकरणश्रीभट्टिप्रणीते रामचरिते तिङन्त-

काण्डे लोट्प्रदर्शनो नाम विंशतितमः सर्गः ॥ २० ॥

मामित्यादि--हे वह्ने ! यद्यहं दुष्टा तदा ज्वलितवपुः ज्वलितशरीरः सन् । मित्त्वाभावपक्षे रूपम् । प्लुषाण देहं मर्त्यलोकात् मोचय । यथा वा क्षतमलिनां विशुद्धां सुहृदिव संरक्ष वा । आमन्त्रणे कामचारकरणे लोट् । एषाहं त्वां विधिवत् शास्त्रानुसारं सम्यक् प्राप्ता ऋतुपु वसोः राज्ञः आज्यधारेव । उदीर्णदीप्तिमालम् उद्गतज्वालासमूहं त्वांमिति ॥ ३७ ॥

इति श्रीजटेश्वरापरामिवेय-श्रीजयमङ्गलसूरिविरचितया जयमङ्गला-

ख्यया व्याख्यया समलंकृते श्रीभट्टिप्रणीते रामचरिते काव्ये

चतुर्थे तिङन्त-काण्डे लक्षणरूपे सप्तमः परिच्छेदः,

लक्ष्यरूपे कथानके 'सीताप्रत्याख्यानं' नाम

विंशतितमः सर्गश्च ॥ २० ॥

एकविंशः सर्गः ।

इतः प्रभृति लृङ्माधिकृत्य विलसितमाह—तत्र लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ भविष्यति भूते च । हेतुहेतुमतोर्लिङ्गित्येवमादिकं लिङ्गे निमित्तं क्रियातिपत्तिश्च । कुतश्चिद्गुण्यात् क्रियाया अनिष्पत्तिः क्रियातिपत्तिः । वैगुण्यं च विधुरप्रत्ययोपनिपातात् सामग्र्यभावाच्च द्रष्टव्यम् ।

समुत्क्षिप्य ततो वह्निर्मैथिलीं राममुक्तवान् ।

काकुत्स्थ दयितां साध्वीं त्वमाशङ्किष्यथाः कथम् ॥ १ ॥

समुत्क्षिप्येत्यादि—ततोऽनन्तरं मैथिलीं समुत्क्षिप्य हस्ताभ्यामाकाशे धृत्वा वह्निर्देहवान् राममुक्तवान् । हे काकुत्स्थ ! साध्वीं पतिव्रतामपि दयिताम् असाध्वीति त्वं यदाशङ्किष्यथाः शङ्कितवानसि तत्कथं गर्हितमेतत् न युक्तमाशङ्कितुमित्यर्थः । ‘विभाषा कथमि लिङ् च । ३।३।१४३ ।’ इति । अत्र कथंशब्दो गर्हायां च लिङ्गे निमित्तम् । यतस्तत्र गर्हायामित्यनुवर्तते । तस्मिन् लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ लृङ् भविष्यतीत्याधिक्रियते । अत्रासाधुत्व-क्रियायाः तद्विरुद्धसाधुत्वाभियोगोपनिपातादतिपत्तिर्गम्यते ॥ १ ॥

तदेव साधुत्वं दर्शयति—

नाभविष्यदियं शुद्धा यद्यपास्यमहं ततः ।

न चैनां यक्षपातो मे धर्मादन्यत्र राघव ॥ २ ॥

नेत्यादि—यद्यहमेनां नैवापास्यं नैव रक्षितवान् ततोऽरक्षणादियं शुद्धा नाभविष्यत्, न भूता । येनैव मया रक्षिता तेनैवेयं शुद्धेति भावः । ‘हेतुहेतुमतोर्लिङ् । ३।३। १५६ ।’ इत्यतः हेतुहेतुमांश्च लिङ्गे निमित्तम् । तत्र पालनस्य परिशुद्धेश्च हेतुहेतुमत्त्वे लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ सत्यां भूते नित्यं लृङ् । तत्र ‘वोताप्योः । ३।३।१४१।’ इति विकल्पेनाधिक्रियते । अत्रापालनोपनिपातादतिपत्तिर्गम्यते । तदतिपाताद्धेतुमतोऽपि पक्षपातात् त्वयैवमाचरितमिति चेदाह । हे राघव ! धर्मादन्यत्र अधर्मं न मे पक्षपातोऽनुरागः ॥ २ ॥

इदानीं सीतारावणयोरेच्छेदितमासीत् तच्चानेनावधार्यं प्रकाशयन्नाह—

अपि तत्ररिपुः सीतां नार्थयिष्यत दुर्मतिः ।

क्रूरं जात्वदिष्यच्च जात्वस्तोष्यच्छिष्यं स्वकाम् ॥ ३ ॥

अपीत्यादि—तत्ररिपुः स भवान् रिपुः स रावणः । भवच्छब्दोऽर्था-
 द्भ्रम्यते, तेन 'इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते । ५।३।१४।' इति ब्रह्म । अपि बाह
 नार्थयिष्यत दुर्मतिरदुष्टचेता अभविष्यत् तदा सीतां बाहं नार्थयिष्यत ।
 भार्या मम भवेति न प्रार्थितवान् । 'उताप्योः समर्थयोर्लिङ् । ३ । ३ । १५२'
 इति । अत्रापिशब्दो बाहार्थः लिङ्निमित्तं तस्मिन् लिङ्निमित्ते क्रियाति-
 पत्तौ सत्यां भूते नित्यं लङ् । तत्र 'वोताप्योः । ३ । ३ । १४१ ।' इति अनुव-
 र्त्ते । अत्रार्थनक्रियायाः तद्विरुद्धदुर्मतित्वोपनिपातादतिपत्तिर्गम्यते । अर्थन-
 मर्थः याचनम् । तत्करोतीति णिच् । नाहमवकल्पयामि यद्यदुर्मतिरभविष्यत्
 क्रूरं परुषं जातु कदाचित् नावदिष्यत् नोक्तवान् । श्रियं विभूति
 स्वकानात्मीयान् ईदृशी मे विभूतिरिति नास्तोष्यत् न स्तुत-
 वांश्च । 'जातुयदोर्लिङ् । ३ । ३ । १४७ ।' इत्यत्र जातुशब्दोऽनवक्लृप्तिश्च
 लिङो निमित्तं तत्र । 'अनवक्लृप्त्यमर्षयोरकिंवृत्तेऽपि । ३ । ३ । १४५।' इति
 वर्तते । अत्र क्रूराभिधानक्रियाया विभूत्याः स्तवनक्रियायाश्च तद्विरुद्धदु-
 र्मतित्वोपनिपातादतिपत्तिः । केचित् 'लडपिजात्वोः' इत्येतदुदाहरन्ति तद-
 युक्तं तस्यालिङ्निमित्तत्वात् ॥ ३ ॥

सङ्कल्पं नाकरिष्यच्च तत्रेयं शुद्धमानसा

सत्यामर्षमवाप्स्यस्त्वं राम सीतानिवन्धनम् ॥ ४ ॥

सङ्कल्पमित्यादि—तत्रेयं शुभमानसेति नाहमवकल्पयामि यदीयं शुद्ध-
 मानसा नाभविष्यत् । तत्र तस्मिन् रावणे इत्थं प्रीयमाणेऽपि सङ्कल्पमभि-
 प्रायस्करिष्यत् कृतवती स्यात् न च कृतवती शुद्धमानसत्वात् । सत्यामर्षमवा-
 प्स्यस्त्वमिति हे राम ! यद्यशुद्धमानसा अभविष्यत् तदा सीतानिवन्धनं
 सीताहेतुकम् अमर्षं क्रोधं सत्यसंभूतमवाप्स्यस्त्वं प्राप्तः स्याः नतु सत्यं
 यतः शुद्धमानसा । 'अनवक्लृप्त्यमर्षयोरकिंवृत्तेऽपि । ३ । ३ । १४५ ।'
 इत्यत्र अनवक्लृप्त्यमर्षयोर्लिङ्निमित्तं तस्मिन् लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ
 भूते वा लङ् । तत्र 'वोताप्योः । ३ । ३ । १४१ ।' इत्य-
 धिक्रियते । अत्र सङ्कल्पक्रियायाः सत्यामर्षक्रियायाश्च तद्विरुद्धशुद्धमा-
 नसत्वोपनिपातादतिपत्तिः ॥ ४ ॥

अन्यथास्मिन्वस्तुनि नाहमेवैकः प्रमाणं भवानपि प्रमाणमेवेति दर्शयन्नाह-

त्वयाद्द्रक्ष्यत किं नास्याः शीलं संवसता चिरम् ।

अदर्शिष्यन्त वा चेषाः कालेन बहुना न किम् ॥ ५ ॥

त्वयेत्यादि—किं नाम तच्छीलं तच्चरित्रं यदस्याः शलिं चिरं कालं संवसता एकत्र सहवासं कुर्वता त्वया नाद्रक्ष्यत नोपलब्धमेव चेतो धर्मत्वात् नोपलब्धमिति चेत् किं वा नाम चेष्टाः शीलनिबन्धनाः क्रियाः बहुनापि कालेन त्वया नादर्शिष्यन्त न दृष्टा अभूवन् । अपि तु दृष्टा एव । 'किंवृत्ते लङ्कटौ ॥३॥३१४४॥' इति किंशब्दो विभक्त्यन्तो गर्हा च लिङ्निमित्तं तत्र गर्हायामित्येतदनुवर्तते तस्मिन् लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ भूते लङ् । कर्मण्येव चिष्वदिट् । अत्र शीलानुपलब्धिक्रियायाश्च तद्विरुद्धचिरवासोपनिपातादंतिपात्तिर्गम्यते । तथाहि 'शीलं संवसता ज्ञेयं तच्च कालेन भूयसा' इति ॥ ५ ॥

यावज्जीवमशोचिष्यो नाहास्यश्चेदिदं तमः ।

भानुरप्यपतिष्यत् क्षमामक्षोभिष्यत चेदियम् ॥ ६ ॥

यावदित्यादि—अन्यच्च लोकस्याज्ञानमूलं परगृहोषितेत्येतावतैवापरिशुद्धेत्यज्ञानमुत्पन्नमिदं तमः अज्ञानं यदि त्वं नाहास्यः न त्यक्ष्यसि तदास्या वैलक्ष्येण मरणादवश्यं यावज्जीवमशोचिष्यः शोकमेष्यसि । अतो मयाभिधीयमानः स्वयं च विमृशन् परिशुद्धा हीयमित्यवेहि येन न शोचिष्यसि । अत्र भविष्यदज्ञानात्यागो हेतुः । यावज्जीवशोचनं हेतुमत् । तयोर्हेतुमत्त्वे लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ सत्यां भविष्यति नित्यं लङ् । अत्राज्ञानत्यागक्रियायास्तद्विरुद्धोपदेशकत्वमर्पितज्ञानोत्पादानिपातादतिपात्तिर्गम्यते । अन्यच्च अभूतवस्तुत्पादकसूचक उत्पातो भवति न च तथाभूतोऽस्तीति दर्शयन्नाह । यदीयमक्षोभिष्यत् दुष्टचित्ताभूत् तदा भानुरपि क्षमां पृथ्वीमपतिष्यत् गतोऽभूत् । अत्रापि क्षोभो हेतुः भानुपवनं हेतुमत् तयोर्हेतुमत्त्वे लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ सत्यां भूते लङ् । अत्र क्षोभक्रियायास्तद्विरुद्धाक्षोभोपनिपातादतिपात्तिः ॥ ६ ॥

अन्यच्च सत्येन सवित्रा लोकपाला अदुष्टचित्तेषु संनिधीयन्ते इति दर्शयन्नाह—

समपत्स्यत राजेन्द्र खैणं यद्यत्र चापलम् ।

लोकपाला इहायास्यंस्ततो नामी कलिद्रुहः ॥ ७ ॥

समेत्यादि—स्त्रीणामिदं खैणं चापलं चारित्र्यबन्धनं तदत्र सीतायां हे राजेन्द्र ! समपत्स्यत संपन्नमभूत् । ततः कारणादमी लोकपालाः एव मादयो मूर्तिमन्तः कलिद्रुहः पापस्य द्रोणवारः इह नायास्यन् नागता अभूवन् । चापलमत्र

अपीत्यादि—तत्ररिपुः स भवान् रिपुः स रावणः । भवच्छब्दोऽर्थाद्भ्रम्यते, तेन 'इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते ।५।३।१४।' इति त्रल । अपि बाढ नार्थाधिष्यत् दुर्मतिरदुष्टचेता अभविष्यत् तदा सीतां बाढं नार्थाधिष्यत् । भार्या मम भवेति न प्रार्थितवान् । 'उताप्योः समर्थयोर्लिङ् । ३ । ३ । १५२' इति । अत्रापिशब्दो बाढार्थः लिङ्निमित्तं तस्मिन् लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ सत्यां भूते नित्यं लङ् । तत्र 'वोताप्योः । ३ । ३ । १४१ ।' इति अनुवर्तते । अत्रार्थनक्रियायाः तद्विरुद्धदुर्मतित्वोपनिपातादतिपत्तिर्गम्यते । अर्थनमर्थः याचनम् । तत्करोतीति णिच् । नाहमवकल्पयामि यद्यदुर्मतिरभविष्यत् क्रूरं परुषं जातु कदाचित् नावदिष्यत् नोक्तवान् । श्रियं विभूर्ति स्वकानात्मीयान् ईदृशी मे विभूतिरिति नास्तोष्यत् न स्तुतवांश्च । 'जातुयदोर्लिङ् । ३ । ३ । १४७ ।' इत्यत्र जातुशब्दोऽनवक्लप्तिश्च लिङो निमित्तं तत्र । 'अनवक्लप्यमर्षयोरकिंवृत्तेऽपि । ३ । ३ । १४५ ।' इति वर्तते । अत्र क्रूराभिधानक्रियाया विभूत्याः स्तवनक्रियायाश्च तद्विरुद्धदुर्मतित्वोपनिपातादतिपत्तिः । केचित् 'लङपिजात्वोः' इत्येतदुदाहरन्ति तद्युक्तं तस्यालिङ्निमित्तत्वात् ॥ ३ ॥

सङ्कल्पं नाकरिष्यच्च तत्रेयं शुद्धमानसा

सत्यामर्षमवाप्स्यस्त्वं राम सीतानिबन्धनम् ॥ ४ ॥

सङ्कल्पमित्यादि—तत्रेयं शुभमानसेति नाहमवकल्पयामि यदीयं शुद्धमानसा नाभविष्यत् । तत्र तस्मिन् रावणे इत्थं प्रीयमाणेऽपि सङ्कल्पमभिप्रायःकरिष्यत् कृतवती स्यात् न च कृतवती शुद्धमानसत्वात् । सत्यामर्षमवाप्स्यस्त्वमिति हे राम ! यद्यशुद्धमानसा अभविष्यत् तदा सीतानिबन्धनं सीताहेतुकम् अमर्षं क्रोधं सत्यसंभूतमवाप्स्यस्त्वं प्राप्तः स्याः नतु सत्यं यतः शुद्धमानसा । 'अनवक्लप्यमर्षयोरकिंवृत्तेऽपि । ३ । ३ । १४५ ।' इत्यत्र अनवक्लप्यमर्षयोर्लिङ्निमित्तं तस्मिन् लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ भूते वा लङ् । तत्र 'वोताप्योः । ३ । ३ । १४१ ।' इत्यधिक्रियते । अत्र सङ्कल्पक्रियायाः सत्यामर्षक्रियायाश्च तद्विरुद्धशुद्धमानसत्वोपनिपातादतिपत्तिः ॥ ४ ॥

अन्यथास्मिन्वस्तुनि नाहमेवैकः प्रमाणं भवानापि प्रमाणमेवेति दर्शयन्नाह-
त्वयाद्रक्ष्यत किं नास्याः शीलं संवसता चिरम् ।

अदर्शिष्यन्त वा चेष्टाः कालेन बहुना न किम् ॥ ५ ॥

त्वयेत्यादि—किं नाम तच्छीलं तच्चरित्रं यदस्याः शीलं चिरं कालं संवसता एकत्र सहवासं कुर्वता त्वया नाद्रक्ष्यत नोपलब्धमेव चेतोधर्मत्वान्नोपलब्धमिति चेत् किं वा नाम चेष्टाः शीलनिबन्धनाः क्रियाः बहुनापि कालेन त्वया नादर्शिष्यन्त न दृष्टा अभूवन् । अपि तु दृष्टा एव । 'किंवृत्ते लङ्कटौ ।३।३।१४४।' इति किंशब्दो विभक्त्यन्तो गर्हा च लिङ्निमित्तं तत्र गर्हायामित्येतदनुवर्तते तस्मिन् लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ भूते लङ् । कर्मण्येव चिष्वदिट् । अत्र शीलानुपलब्धिक्रियायाश्च तद्विरुद्धचिरवासोपनिपातादांतिपात्तिर्गम्यते । तथाहि 'शीलं संवसता ज्ञेयं तच्च कालेन भूयसा' इति ॥ ५ ॥

यावज्जीवमशोचिष्यो नाहास्यश्चेदिदं तमः ।

भानुरप्यपतिष्यत् क्षमामक्षोभिष्यत चेदियम् ॥ ६ ॥

यावदित्यादि—अन्यच्च लोकस्याज्ञानमूलं परगृहोषितेत्येतावतैवापरिशुद्धेत्यज्ञानमुपपन्नमिदं तमः अज्ञानं यदि त्वं नाहास्यः न त्यक्ष्यासि तदास्या वैलक्षण्येन मरणादवश्यं यावज्जीवमशोचिष्यः शोकमेप्यसि । अतो मयाभिधीयमानः स्वयं च विमृशन् परिशुद्धा हीयमित्यवेहि येन न शोचिष्यासि । अत्र भविष्यदज्ञानात्यागो हेतुः । यावज्जीवशोचनं हेतुमत् । तयोर्हेतुमत्त्वे लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ सत्यां भविष्यति नित्यं लङ् । अत्राज्ञानत्यागक्रियायास्तद्विरुद्धोपदेशकत्वमर्षितज्ञानोत्पादानिपातादतिपात्तिर्गम्यते । अन्यच्च अभूतवस्तुत्पादकसूचक उत्पातो भवति न च तथाभूतोऽस्तीति दर्शयन्नाह । यदीयमक्षोभिष्यत् दुष्टचित्ताभूत् तदा भानुरपि क्षमां पृथ्वीमपतिष्यत् गतोऽभूत् । अत्रापि क्षोभो हेतुः भानुपवनं हेतुमत् । तयोर्हेतुहेतुमत्त्वे लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ सत्यां भूते लङ् । अत्र क्षोभक्रियायास्तद्विरुद्धाक्षोभोपनिपातादतिपात्तिः ॥ ६ ॥

अन्यच्च सत्येन सवित्रा लोकपाला अदुष्टचित्तेषु संनिधीयन्ते इति दर्शयन्नाह—

समपत्स्यत राजेन्द्रं स्त्रैणं यद्यत्र चापलम् ।

लोकपाला इहायास्यंस्ततो नामी कलिद्रुहः ॥ ७ ॥

समेत्यादि—स्त्रीणामिदं स्त्रैणं चापलं चारित्र्यबन्धनं तदत्र सीतायां हे राजेन्द्र ! समपत्स्यत संपन्नमभूत् । ततः कारणादमी लोकपालाः एव मादयो मूर्तिमन्तः कलिद्रुहः पापस्य द्रोघारः इह नायास्यन् नागता अभूवन् । चापलमत्र

हेतुः । लोकपालागमनं हेतुमत् । ततो हेतुहेतुमत्त्वे लिङ्निमित्ते क्रिया-
ऽतिपत्तौ सत्यां भूते लङ् । अत्र चापलाचरणक्रियायास्ताद्विरुद्धाचापलोप-
निपातादतिपात्तिः ॥ ७ ॥

अन्यच्च योपित्सामान्येन नेयं द्रष्टव्येति दर्शयन्नाह—

आश्चर्यं यच्च यत्र स्त्री कृच्छ्रेऽवत्स्यन् मते तव ।

त्रासादस्यां विपन्नायां किं किमालप्स्यथाः फलम् ॥ ८ ॥

आश्चर्यमित्यादि—यच्च यत्र या भवति स्त्री यत्तव कृच्छ्रे मते सङ्घटे-
ऽभिप्राये अवत्स्यत् प्रवृत्तिमती तदाश्चर्यं चित्रमेव वर्तते । नान्येति भावः ।
'चित्रीकरणे च । ३ । ३ । १५० ।' इत्यत्र 'यच्चयत्रयोः । ६ । ३ । १४८।'
इत्यनुवर्तते । यच्चयत्रशब्द उपपदे गम्यमानं चित्रीकरणं लिङ्निमित्तं तस्मिन्
लिङ्निमित्ते क्रियाऽतिपत्तौ सत्यां भूते लङ् । अत्र कृच्छ्राभिप्रायानुवर्तन-
क्रियायास्तस्यां योषिदनुवर्तनं सामग्र्यभावाद्गम्यते । अन्यच्च स्वभावत एव
योषित् कातरां भवति, ततश्च परगृहावस्थित्या दुष्टेति क्रोधादहमवक्षिंसेति
त्रासादस्यां विपन्नायां प्रच्छन्नविषयं गतायां सत्यां किं किमालप्स्यथाः फलं
नाहमवकल्पयामि । किं नाम तत्र फलं यदाप्स्यसि नैवेत्यर्थः । 'अनव-
कल्पस्यमर्षयोरकिंवृत्तेऽपि । ३ । ३ । १४५ ।' इत्यत्रापिशब्दात् किंवृत्तमनवकल्-
प्तिश्च लिङ्गे निमित्तं तस्मिन् लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ सत्यां भविष्यति
लङ् । अत्र फलप्राप्तिक्रियायास्तद्वदन्यसामग्र्यभावात् गम्यते। 'किंकिलाल्पस्यथाः
फलम्' इति पाठान्तरं तद्युक्तं 'किंकिलास्त्यर्थेषु । ३ । ३ । १४६ ।' इत्येतस्य
लिङ्निमित्तत्वाभावात् ॥ ८ ॥

अथवा नाहं दुष्टेत्यवगच्छन्त्या योषितस्त्रास एव नास्ति येन गर्हितं मरणमाच-
रेदिति दर्शयन्नाह—

यत्र यच्चामरिष्यत्स्त्री साध्वसादोषवर्जिता ।

तदसूयारतौ लोके तस्या वाच्यास्पदं मृषा ॥ ९ ॥

यत्रेत्यादि—गर्हितमेतत् यच्च यत्र या भवति स्त्री दोषवर्जिता शुद्धचरि-
त्रापि साध्वसात् पतित्रासादमरिष्यत् मृताभूत् नैवेत्यर्थः । अदृष्टायाः
साध्वसाभावात् । गर्हायामित्यत्र यच्चयत्रशब्द उपपदं गर्हा च लिङ्निमित्तं
तस्मिन् लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ सत्यां भूते वा लङ् । अत्र मरणक्रिया-

यास्तद्विरुद्धसाध्वसे परनिपातादतिपत्तिर्गम्यते । यदि हि त्रासात् म्रियेत दोष एव स्यादित्याह । तन्मरणं लोकेऽस्मिन्नसूयारतौ सत्स्वपि गुणेषु दोषा-
विष्करणपरे तस्या अदुष्टाया योषितः वाच्यास्पदं वचनीयाश्रयं मृषा अलीक-
मेव दुष्टैवेयम् । मृषा अलीकमेव येन प्रच्छन्नमृतेति । यदि मरणम-
करिष्यत् मृषावचनीयास्पदमभविष्यत् इति क्रियातिपत्तौ योज्यम् ।
अन्यथा वाक्यमिदमशरीरकं स्यात् इदमवगच्छन्त्यानया प्रच्छन्नमरणं
नानुष्ठितम् ॥ ९ ॥

अमंस्यत भवान् यद्वत्तथैव च पिता तव ।

नागमिष्यद्विमानस्थः साक्षाद्दशरथो नृपः ॥ १० ॥

अमंस्यतेत्यादि—यद्वद्यथा भवानमंस्यत दुष्टेति ज्ञातवान् तथैतद्यदि
नान्यथा तदा तव पिता दशरथः साक्षात्प्रत्यक्षो विमानस्थः सन् नाग-
मिष्यत् नागतवान् स्यात् । अत्र दुष्टताभवनं हेतुः दशरथागमनं च
हेतुमत् । तयोर्हेतुहेतुमत्त्वे लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ सत्यां भूते
लृङ् । अत्र दुष्टताभवनक्रियायास्तद्विरुद्धादुष्टत्वोपनिपाताद-
तिपत्तिः ॥ १० ॥

नाकल्पस्यत्सन्निधिं स्थाणुः शूली वृषभवाहनः ।

अन्वभाविष्यतान्येन मैथिली चेत् पतिव्रता ॥ ११ ॥

नाकल्पस्यदित्यादि—मैथिली पतिव्रता सती चेद्यदि त्वत्तोऽन्येनान्वभा-
विष्यत परिभुक्ताभूत् । चिण्वदिद् । तदायं स्थाणुर्महादेवः शूली वृषभवाहनः
व्यक्तचिह्नः सन् सन्निधिं सन्निधानं नाकल्पस्यत् न कृतवान् स्यात् । 'तासि
च क्लृपः । ७।२।६०।' इति चकारात् स्ये च परस्मैपदे लृङ् । अन्यानुभवनं
हेतुः । स्थाण्वागमनं हेतुमत् । पूर्ववत् क्रियातिपत्तौ लृङ् । अत्रान्यानुभवन-
क्रियायास्तद्विरुद्धानन्यानुभवनोपनिपातादतिपत्तिः ॥ ११ ॥

आनन्दयिष्यदागम्य कथं त्वामरविन्दसत् ।

राजेन्द्र विश्वसूर्धाता चारित्र्ये सीतया क्षते ॥ १२ ॥

आनन्दयिष्यदित्यादि—हे राजेन्द्र ! सीतया चारित्र्ये क्षते कुत्सिते कृते
सति एष धाता ब्रह्मा विश्वसूः सर्वस्य जगतः स्रष्टा भरविन्दसत् कमलासनः

१ भये । 'भीतिर्भीः साध्वसं भयम् ।' इत्यमरः । २ वृषभेण धर्मेण तद्रूपेण
नन्दीश्वरेण गच्छत इति तथोक्त इति केचित् । ३ प्रत्यक्षभूतः ।

सन् आगम्य त्वां कथमानन्दयिष्यत् दर्शनाशीर्वादादिभिरानन्दितवान्
गर्हितमेतत् । युक्तमागत्यानन्दयितुमित्यर्थः । ' विभाषा कथमि लिङ् च
। ३ । ३ । १४३ ।' इति कथंशब्दो गर्हा च लिङ्निमित्तं तस्मिन्
क्रियातिपत्तौ भूते लङ् । अत्रानन्दनक्रियायास्तद्विरुद्धचारिष्यक्षतोपनिपाताद-
तिपत्तिः ॥ १२ ॥

प्रणमन् ब्रह्मणा प्रोक्तो राजकाधिपतिस्ततः ।

नाशोत्स्यन्मैथिली लोके नाचरिष्यदिदं यदि ॥ १३ ॥

प्रणमन्नित्यादि—ततोऽनन्तरं राजकाधिपतिः राजसमूहानां पातिः । राजकं
राजसमूहः । 'गोत्रोऽक्षोऽद्वोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याजाद्वुञ् । ४।२ ।
२९।' इति वुञ् । रामः प्रणमन् ब्रह्मणमित्यर्थात् । ब्रह्मणा प्रोक्तः मैथिली यदि
इदं वह्निप्रवेशनं नाचरिष्यत् नानुष्ठितवती तदा लोके दुराराधे नाशोत्स्यत्
न शुद्धाभूत् किन्तु शुद्धा । 'शुध शौचे' दिवादिः । अत्राग्निप्रवेशाचरणं
हेतुः अशोधनं च हेतुमत् । तयोर्हेतुहेतुमत्त्वे लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ
भूते लङ् । अत्रामिप्रवेशाचरणक्रियायास्तद्विरुद्धाचरणोपनिपाताद-
तिपत्तिः ॥ १३ ॥

नामोक्ष्याम वयं शङ्कामिहाधास्यन्न चेद्भवान् ।

किंवा चित्रमिदं युक्तं भवान् यदकरिष्यत ॥ १४ ॥

नेत्यादि—चेद्यदि भवानिह सीतां नाधास्यत् न रोपितवान् । अन्तर्भावि-
तोऽत्र प्यथेः । तदा वयं किं शुद्धा नेति शङ्कां नामोक्ष्याम न मुक्तवन्तः ।
अस्मिन् वस्तुनि अग्निप्रमाणत्वेन लोको गृहीयादित्येवमुक्तवान् । अन्यथा
ब्रह्मणः सर्ववेदित्वात् कथं शङ्का स्यात् । अत्राधानं हेतुः शङ्काल्यागश्च हेतु-
मान् । अस्मिन् लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ भूते लङ् । अत्रानाधानक्रियाया-
स्तद्विरुद्धाधानोपनिपातादतिपत्तिर्गम्यते । अथवा नाहमवकल्पयामि यदीदं पर-
गृहोषिताया अग्निप्रवेशशोधनं युक्तं न्याय्यम् तत् भवान् किं चित्रमकरि-
ष्यत् विस्मयनीयं कृतवान् । एवं राज्ञः लोकस्य व्यवस्थार्थं विशेषे प्रवर्तनात्
'अनवकल्पत्यमर्षयोरकिंवृत्तेऽपि । ३ । ३ । १४५ ।' इत्यत्रापिशब्दात् किंवृत्त-
मनवकल्पिष्यत् लिङ्निमित्तं तस्मिन् लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ भूते लङ् ।
अत्र चित्रीकरणक्रियाया अतिपत्तिस्तद्विरुद्धस्याचित्रीकरणस्योपनिपातादति-
पत्तिर्गम्यते । यदि भवान् परीक्ष्य सीतायाः परिग्रहणमकरिष्यत् लोकोऽपि
तथाकरिष्यत् ॥ १४ ॥

प्रधानानुयायित्वाल्लोकस्येति दर्शयन्नाह—

प्रावर्तिष्यन्त चेष्टाश्चेदयाथातथ्यवत्त्व ।

अनुशास्ये त्वया लोके रामावर्त्येस्तरां ततः ॥ १५ ॥

प्रावर्तिष्यन्तेत्यादि—चेद्यदि तव लोकव्यवस्थाकारिणश्चेष्टाः कर्माणि अया-
थातथ्यवत् यथा अज्ञाना असमीक्ष्यकारितया प्रवर्तन्ते तद्वत्प्रावर्तिष्यन्त-
तथा प्रवर्तनात् त्वया अनुशास्ये व्यवस्थायां स्थाप्ये लोके हे राम ! ताश्चेष्टा-
अवर्त्येस्तराम् अतिशयेन प्रावर्तिष्यन्त न च तव प्रवृत्ताः । अत्र रामचेष्टा-
प्रवर्तनं हेतुः लोकचेष्टाप्रवर्तनं च हेतुमत् । तस्मिन् लिङ्निमित्ते क्रियातिपत्तौ
भूते भविष्यति लङ् । अत्रापि परीक्ष्य स्वीकरणलक्षणक्रियायास्तद्विरुद्धपरी-
क्षितोपादानानतिपत्तिः । अयाथातथ्यवदिति वतिप्रत्ययान्तं क्रियाविशे-
षणम् । 'यथातथायथापुरयोः पर्यायेण । ७।३।३१।' इति नञः पर्यायेण वृद्धिः ।
प्रावर्त्येस्तरामिति 'तिङ्श्च । ५।३।५६।' इत्यातिशयिकस्तरः । 'किमेत्तिङ्व्ययवा-
दाम्बद्रव्यप्रकर्षे ५।४।११।' इत्याम् । 'नश्छव्यप्रशान् । ८ । ३ । ७ ।' इति रूढं-
पूर्वस्यानुस्वारः ॥ १५ ॥

प्रणमन्तं ततो राममुक्तवानिति शङ्करः ।

किं नारायणमात्मानं नाभोत्स्यत भवानजम् ॥ १६ ॥

प्रणमन्तमित्यादि—ततो ब्रह्मवचनानन्तरं शङ्करो महादेवः वक्ष्यमाणम्
वचनं राममुक्तवान् । प्रणमन्तं तमेव राममित्यर्थात् । किन्नाम तत् यथा
आत्मानम् नारायणमर्जं नित्यं अस्मिन् प्रादुर्भावे भवान्नाभोत्स्यत न बुद्ध-
वान् । अपि तु तथाविधं कर्म कुर्वन् ज्ञातवानेव । अत्र नारायणानवबोध-
क्रियायाः तद्विरुद्धबोधनोपनिपातादतिपत्तिः ॥ १६ ॥

तदेव दर्शयन्नाह—

कोऽन्योऽकर्त्स्यदिह प्राणान् दृप्तानां च सुरद्विषाम् ।

को वा विश्वजनीनेषु कर्मसु प्राघटिष्यत ॥ १७ ॥

क इत्यादि—यदि नारायणो न भवान् तदा तस्मादन्यः को नाम सुर-
द्विषां राक्षसानां दृप्तानां प्राणानकर्त्स्यत् छिन्नवान् । 'कृती च्छेदने' । नैव ।
विश्वजनीनेषु सर्वलोकहितेषु कर्मसु अनुग्रहलक्षणेषु को नाम प्राघटिष्यत
चेष्टितवान् । अत्राच्छेदनक्रियाया अवघटनक्रियायाश्च तद्विरुद्धच्छेदनघटनो-

प्रनिपातादतिपत्तिः । सर्वत्र 'किंवृत्ते लुङ्लटौ ।३।३।१४४।' इति क्रियातिपत्तौ भूते गर्हायां लङ् ॥ १७ ॥

दैत्यक्षये महाराज ! यच्च यत्राघटिष्यथाः ।

समाप्तिं जातु तत्रापि किं नानेष्यस्त्वमीहितम् ॥ १८ ॥

दैत्यक्षय इत्यादि-हे महाराज ! नैवेदमवकल्पयामि दैत्यक्षयनिमित्तम् यच्च यत्र त्वमघटिष्यथाः यां पुनरात्मनो घटनां करिष्यसि किन्तु पुनः प्रादुर्भावे घटिष्यसे । तत्रापि प्रादुर्भावत्वमीहितं चेष्टितं जातु कदाचित् समाप्तिं सिद्धिं ज्ञानेष्यः किं न नेष्यसि । 'जातुयदोर्लिङ् ।३।३।१४७।' इति जातुयच्छब्दौ अनेवक्लृप्तिश्च लिङ्निमित्तं तस्मिन् क्रियातिपत्तौ भविष्यति नित्यं लङ् । अत्राघटनक्रियायाश्चातिपत्तिः ज्ञानेनोपलब्धभविष्यत्प्रादुर्भावसमाप्तिनयनयोस्तद्विरुद्धयोरुपनिपातात् ॥ १८ ॥

तातं प्रसाद्य कैकेय्या भरताय प्रपीडितम् ।

सहस्रचक्षुषं रामो निनंसुः परिदृष्टवान् ॥ १९ ॥

तातमित्यादि-तातं दशरथं कैकेय्या प्रपीडितं सन्तापितं भरताय भरतार्थं राज्येऽभिषिच्यतामिति प्रसाद्य प्रसन्नं कृत्वा तद्विषये चित्तकालुष्यं त्याजयित्वा रामः सहस्रचक्षुषम् इन्द्रं परिदृष्टवान् संदृष्टवान् । निनंसुः चन्तुमिच्छुः ॥ १९ ॥

प्रेता वरेण शक्रस्य प्राणन्तः कपयस्ततः ।

संजाताः फलिनान्म्ररोचिष्णुद्रुमसद्रवः ॥ २० ॥

प्रेता इत्यादि-ततः प्रणामानन्तरं शक्रस्य प्रसन्नस्य वरेण कपयः संग्रामे प्रेताः संग्रामे मृताः प्राणन्तो जीवन्तः संजाताः संवृत्ताः । कीदृशा इत्याह-फलिनाः फलवन्तः 'फलवर्हाभ्यामिनञ्' अत एव आनम्राः नमनशीलाः रोचिष्णवः दीपनशीलाः ये द्रुमास्तेषु सद्रवः सदनशीलाः । 'दाधेदृसिशदसदो' : । ३।२।१५९।' इति सदे रुः ॥ २० ॥

भ्रमरकुल कुलोल्बणसुगन्धिपुष्पतरु-

स्तरुणमधूकसम्भवपिशङ्गिततुङ्गशिखः ।

शिखरशिलान्तरालपरिकल्पजलापसरः ।

सरसफलश्रियं स विततानसुवेलगिरिः ॥ २१ ॥

भ्रमरेत्यादि---वरेण च सुवेलगिरिः सरसाम् अभिनवां फलश्रियं विभूर्तिं विततान विस्तृतवान् । भ्रमरकुलैराकुला व्याप्ता उत्वणाः सुगन्धयश्च सपुष्पास्तरवो यत्र गिरौ । तरुणानाम् अभिनवानां मधूकानां यः सम्भवः तेन पिशाङ्गितास्तुङ्गाः शिखाः शिखराणि यत्र । शिखरशिलानामन्तरालेषु परिकल्पिता जलापसरा जलधारा यत्र । जलमपसरत्येभ्य इति 'ऋदोरप्' । ३।३।५७। ॥२१॥

संवाद्भिः सकुसुमरेणुभिः समीरैरानम्रैर्वहुफलधारिभिर्वनान्तैः ।

श्च्योतद्भिर्मधुपटलैश्च वानराणामाप्यानो रिपुवधसम्भवः प्रमोदः ॥ २२ ॥

संवाद्भिरित्यादि---सम्भवत्यस्मादिति सम्भवः । रिपुवधः सम्भवो यस्य प्रमोदस्य स वानराणामाप्यानः वृद्ध गतः । व्यवस्थिताविभाषाविज्ञानात् सोपसर्गस्य ष्यायतेः पीभावो न भवति । 'ओदितश्च । ८।२।४५ ।' इति निष्ठानन्त्वम् । कैराप्यानः समीरैः सकुसुमरेणुभिः संवाद्भिः वहद्भिः । वनान्तैः फलभरधारिभिः अत एवानम्रैः । मधुकरपटलैः श्च्योतद्भिः मध्वित्यर्थान् ॥ २२ ॥

आयान्त्यः स्वफलभरेण भङ्गुरत्वं

भृङ्गालीनिचयचिता लतास्तरुणाम् ।

सामोदाः क्षितितलसंस्थितावलोप्या

भोक्तृणां श्रममुदयं न नीतवत्यः ॥ २३ ॥

इति भट्टिकाव्यांपरनामधेये रामचरितकाव्ये तिङन्तकाण्डे
लङ्प्रदर्शनो नाम एकविंशतितमः सर्गः ॥

आयान्त्य इत्यादि---तरुणां लताः स्वफलभरेण भङ्गुरत्वं सुभेद्यत्वमाया-
न्त्यः गच्छन्त्यः । सामोदाः अतएव भृङ्गालीनिचयचिताः । क्षितितलसं-
स्थितैरेव अवलोपुं शक्याः । भोक्तृणां कर्पानां श्रमं चित्तकायक्लेशम् उदयम् वृद्धिं

१ अत्र नर्दटकं छन्दः । 'यदि भवतो नजौ भजजला गुरु नर्दटकम् ।'
इति वृत्तरत्नाकरोक्तेः । २ अत्राग्रिमे च पद्ये ग्रहर्षिणी वृत्तम् । तलक्षणं चोक्तं प्राक् ।

चन्दनद्रुमसंच्छन्ना निराकृतहिमश्रथाः ।

दर्शितारस्त्वया ताश्च मलयोपत्यकाः शुभाः ॥ ४ ॥

चन्दनेत्यादि—ताश्च पूर्वं दृष्टा मलयोपत्यकाः मलयासन्नाः भुवः शुभाः चन्दनद्रुमसंच्छन्नत्वात् । निराकृतहिमश्रथाः तिरस्कृतचन्द्राः । त्वया दर्शितारः श्वो द्रष्टव्याः । कर्मणि लुट् । चिण्वदिट् चेतिसकारलोपः । हिमं श्रथाति मुञ्चतीति हिमश्रथः चन्द्रः । 'श्रन्थ सेचनप्रतिहर्षयोः' इति कर्मण्यण् 'अवोदैधौञ्चप्रश्रथहिमश्रथाः । ६ । ४ । ६९ ।' इत्यनुनासिकलोपो निपात्यते ॥ ४ ॥

प्रतन्व्यः कोमला विन्ध्ये सहितारः स्यदं न ते ।

लताः स्तबकशालिन्यो मधुलेहिकुलाकुलाः ॥ ५ ॥

प्रतन्व्य इत्यादि—विन्ध्ये लताः स्तबकशालिन्यः सकुसुमस्तवकोपेताः मधुलेहिकुलाकुलाः भ्रमरकुलसङ्कुलाः प्रतनुत्वात् । कोमलत्वाच्च । गच्छतस्ते तव स्यदं जवं न सहितारः न सहिष्यन्ते । 'स्यदो जवे । ६ । ४ । २८ ।' इत्यनुनासिकलोपो निपात्यते ॥ ५ ॥

द्रष्टासि प्रीतिमानारात्सखिभिः सह सेविताम् ।

सपक्षपातं किष्किन्धां पूर्वक्रीडां स्मरन्मुहुः ॥ ६ ॥

द्रष्टासीत्यादि—किष्किन्धां च आरात् नातिदूरे द्रष्टासि । प्रीतिमान् जातप्रीतिः सन् सखिभिर्मित्रैः सह सेविताम् अनुभूताम् । एवं च कृत्वा पूर्वक्रीडां स्मरन् मुहुः । ज्ञेयत्वेनाविवक्षितत्वात् षष्ठी न भवति । सपक्षपातं सानुरागमिति क्रियाविशेषणम् ॥ ६ ॥

त्वया सन्दर्शितारौ ते माल्यबद्दण्डकावने ।

उपद्रुतश्चिरं द्वन्द्वैर्ययोः क्लिशितवानहम् ॥ ७ ॥

त्वयेत्यादि—माल्यवान् पर्वतः दण्डकावनं दण्डकोतिनाम्ना प्रसिद्धमरण्यं ते त्वया सन्दर्शितारौ । सम् 'दृशिर् प्रेक्षणे' कर्मणि लुट् । ययोर्माल्यबद्दण्डकावन्तयोः व्यवस्थितैः द्वन्द्वैः सीताया विवियोगजन्यैर्दुःखैश्चिरं चिरात् उपद्रुतः अभिभूतः सन् अहं रामः क्लिशितवान् पीडामनुभूतवानिति

तमसाया महानीलपाषाणसदृशत्विवः ।

वनान्तान्बहु मन्तासे नागराक्रीडसाक्षिणः ॥ १२ ॥

तमसाया इत्यादि—तमसा एतन्नाम्न्याः नद्याश्च वनान्तान् वनोपक-
ण्ठान् महान् असौ नीलमणिः, स एव पाषाणस्तस्य सदृशी त्विट् कान्तिः
अतिश्यामत्वात् येषां ते नगरे भवा इति नागराः तेषाम् आक्रीडः क्रीडा,
तस्य साक्षिणः साक्षिभूतास्तान् । बहु अत्यन्तम् मन्तासे श्लाघितासे ॥ १२ ॥

नगरस्त्रीस्तनन्यस्तधौतकुङ्कुमपिञ्जराम् ।

विलोक्य सरयूं रम्यां गन्तायोध्या त्वया पुरी ॥ १३ ॥

नगरेत्यादि—नगरवासिन्यः स्त्रिय इति नगरस्त्रियः अयोध्यावनिताः
तासां स्तनेषु यत् पूर्वं न्यस्तं पश्चाद्धौतं कुङ्कुमं तेन पिञ्जरां कपिश-
वर्णाम् अत एव रम्यां रमणीयाम् सरयूं विलोक्य अयोध्या पुरी त्वया
गन्ता गन्तव्या ॥ १३ ॥

आनन्दितारस्त्वां दृष्ट्वा प्रष्टारश्चावयोः शिवम् ।

मातरः सह मैथिल्या तोष्टा च भरतः परम् ॥ १४ ॥

आनन्दितार इत्यादि—अयोध्यायां नगर्यां च त्वां दृष्ट्वा मातरः कौसल्या-
सुमित्राकैकेय्यः आनन्दितारः आनन्दिष्यन्ति । आवयोरामलक्ष्मणयोः सह
मैथिल्या जनकनन्दिन्या सीतया शिवं कल्याणं प्रष्टारः प्रश्नं करिष्यन्ति
भरतश्च श्रुत्वा परम् अत्यर्थं तोष्टा प्रीतिं कर्ता । आमन्त्रितार इति पाठान्तरम् ।
तत्रानित्यण्यन्ता इति दर्शनं तेषां णिञ् न भवति।अन्यथा 'णेरनिति ६।४।१५१३-
इति णिचो लोपो न प्राप्नोति । ततश्च आमन्त्रयितार इतिः स्यात् । अथवा आ-
मन्त्रणम् आमन्त्रः इति घञन्तात् आचारे 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विप् वा वक्तव्यः'
इति क्विप् । तदन्तात्तासेरिट् 'अतो लोपः । ६।४।४८।' इत्यतो लोपे च रूपम् ॥
'सहमैथिल्योः' इति पाठान्तरम् । तत्रापि बहुव्रीहौ 'नघृतश्च । ५ । ४ । १५३।'
इति कप् न भवति समासान्तविधिरनित्य इति कृत्वा ॥ १४ ॥

आख्यातासि हतं शत्रुमभिषिक्तं विभीषणम् ।

सुग्रीवं चार्जितं मित्रं सर्वाश्चागामुकान् द्रुतम् ॥ १५ ॥

तमसाया महानीलपाषाणसदृशत्विषः ।

वनान्तान्बहु मन्तासे नागराक्रीडसाक्षिणः ॥ १२ ॥

तमसाया इत्यादि—तमसा एतन्नाम्न्याः नद्याश्च वनान्तान् वनोपक-
ण्ठान् महान् असौ नीलमणिः, स एव पाषाणस्तस्य सदृशी त्विट् कान्तिः
अतिशयामत्वात् येषां ते नगरे भवा इति नागराः तेषाम् आक्रीडः क्रीडा,
तस्य साक्षिणः साक्षिभूतास्तान् । बहु अत्यन्तम् मन्तासे श्लाघितासे ॥ १२ ॥

नगरस्त्रीस्तनन्यस्तघौतकुङ्कुमपिञ्जराम् ।

विलोक्य सरयूं रम्यां गन्तायोध्या त्वया पुरी ॥ १३ ॥

नगरेत्यादि—नगरवासिन्यः स्त्रिय इति नगरस्त्रियः अयोध्यावानिताः
तासां स्तनेषु यत् पूर्वं न्यस्तं पश्चाद्धौतं कुङ्कुमं तेन पिञ्जरां कपिश-
वर्णाम् अत एव रम्यां रमणीयाम् सरयूं विलोक्य अयोध्या पुरी त्वया
गन्ता गन्तव्या ॥ १३ ॥

आनन्दितारस्त्वां दृष्ट्वा प्रष्टारश्चावयोः शिवम् ।

मातरः सह मैथिल्या तोष्टा च भरतः परम् ॥ १४ ॥

आनन्दितार इत्यादि—अयोध्यायां नगर्यां च त्वां दृष्ट्वा मातरः कौसल्या-
सुमित्राकैकेय्यः आनन्दितारः आनन्दिष्यन्ति । आवयोरामलक्ष्मणयोः सह
मैथिल्या जनकनन्दिन्या सीतया शिवं कल्याणं प्रष्टारः प्रश्नं करिष्यन्ति
भरतश्च श्रुत्वा परम् अत्यर्थं तोष्टा प्रीतिं कर्ता । आमन्त्रितार इति पाठान्तरम् ।
तत्रानित्यण्यन्ता इति दर्शनं तेषां णिञ् न भवति। अन्यथा 'णेरनिटि ६।४।१५।१३-
इति णिचो लोपो न प्राप्नोति । ततश्च आमन्त्रयितार इतिः स्यात् । अथवा आ-
मन्त्रणम् आमन्त्रः इति घञन्तात् आचारे 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विप् वा वक्तव्यः'
इति क्विप् । तदन्तात्तासेरिट् 'अतो लोपः ६।४।४८।' इत्यतो लोपे च रूपम् ।
'सहमैथिल्योः' इति पाठान्तरम् । तत्रापि बहुव्रीहौ 'नघृतश्च १।५।४।१५३।'
इति कप् न भवति समासान्तविधिरनित्य इति कृत्वा ॥ १४ ॥

आख्यातासि हतं शत्रुमभिषिक्तं विभीषणम् ।

सुग्रीवं चार्जितं मित्रं सर्वाश्चागामुकान् द्रुतम् ॥ १५ ॥

नमत्यन्तं गामीत्यस्मिन्नर्थे 'अवारपारात्यन्तानुक्रामं गामी । ५ । २ । ११ ।'
इति खः । प्राप्तास्थः लब्धासाथे ॥ १९ ॥

नैवं विरहदुःखेन वयं व्याधानितास्महे ।

श्रमोऽनुभविता नैवं भवद्भ्यां च वियोगजः ॥ २० ॥

एवं युवां मम प्रीत्यै कल्पास्थः कपिराक्षसा ।

गन्तुं प्रयतितासाथे प्रातः सह मया यदि ॥ २१ ॥

नैवमित्यादि श्लोकद्वयम्—हे कपिराक्षसौ ! प्रातर्मया सह गन्तुं यः
प्रयतितासाथे यत्नं कर्तव्यः एवं सति युष्मद्विरहदुःखेन वयं न व्याधा-
नितास्महे न पीडिता भवितास्मः । कर्मणि लुट् । चिण्वदिट् । 'सं-
योजितास्महे' इति पाठान्तरम् । न संयोजिता भवितास्मः । युज्ये-
न्तस्य चिण्वदिट् । इटोऽसिद्धत्वात् 'णेरनिटि । ६ । ४ । ५१ ।' इति णि-
लोपः । भवद्भ्यां च वियोगजः श्रमः खेदो नानुभविता । अत्रापि चिण्व-
दिट् । एवं मम प्रीत्यै युवां कल्पास्थः सम्पादितास्थः । 'लुटि च क्लृपः
। १ । ३ । ९३ ।' इति तङ्भावपक्षः 'तासि च क्लृपः । ७ । २ । ६० ।' इतीट्प्रति-
षेधः । क्लृपि सम्पद्यमाने चतुर्थी ॥ २० ॥ २१ ॥

उक्तवन्तौ ततो रामं वचः पौलस्त्यवानरौ ।

अनुग्रहोऽयं काकुत्स्थ गन्तास्वो यत् त्वया सह ॥ २२ ॥

उक्तवन्तावित्यादि---ततोऽनन्तरं पौलस्त्यवानरौ विभीषणसुग्रीवौ रामं
वच उक्तवन्तौ । हे काकुत्स्थ ! त्वया सह यदावां गन्तास्वः गमिष्यावः अयम-
नुग्रहः प्रसाद इति ॥ २२ ॥

अनुमन्तास्वहे नारां भवन्तं विरहं त्वया ।

अपि प्राप्य सुरेन्द्रत्वं किं नु प्रत्तं त्वयाऽऽस्पदम् ॥ २३ ॥

अनुमन्तास्वहे इत्यादि---किं च सुरेन्द्रत्वं देवेन्द्रत्वं प्राप्तावप्यावां त्वया
सह भवन्तमुत्पद्यमानं विरहं वियोगं नानुमन्तास्महे किं पुनस्त्वया प्रत्तं
दत्तम् । 'अच उपसर्गात्तः । ७ । ४ । ४७ ।' आस्पदं राज्यं प्राप्तवन्तौ । अत्र सुतरा-
मेव त्वया सह वियोगो न युज्यते । भवन्तं विरहमिति वर्तमानकालः नानुम-
न्तास्वहे इति भविष्यत्कालेन सम्बध्यमानः साधुर्भवति 'धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः
। ३ । ४ । १ ।' इति । एतावच्छुद्धिलसितम् ॥ २३ ॥

शिञ्जानेत्यादि—सुतनु ! एते वनान्ताः पुर्यां दृश्यन्ते शिञ्जानैः कूजद्भिः
 अमरकुलैः आकुलाग्राणि पुष्पाणि येषां वनान्तानाम् । प्रविलीयतेऽस्मिन्निति
 प्रविलयः । ‘एरच् ।३।३।५६।’ इत्यच् । ‘निमिमीलियां खलचोरात्त्वं नेति
 वाच्यम् ।’ इति वार्तिकेन ‘विभाषा लीयतेः ।६।१।५१।’ इत्यात्वं न भवति ।
 शीताम्भसः प्रविलयः कुल्या तेन यः संप्लवः स्नापना तेनामिलीनाः
 कुल्यया सिच्यमानमूलत्वात् । अत एव नयनमनोरमाः रमयतीति
 कर्तर्यच् । पश्चात् षष्ठीसमासः । एवं च पुरीजनानामयोध्यानिवा-
 सिनाम् उपभोग्याः ॥ २७ ॥

स्थानं नः पूर्वजानामियमधिकमसौ प्रेयसी पूरयोध्या
 दूरादालोक्यते या हुतविविधहविःप्रीणिताऽशेषदेवा ॥
 सोऽयं देशो रुदन्तं पुरजनमखिलं यत्र हित्वा प्रयाता
 आवां सीते वनान्तं सह धृतधृतिना लक्ष्मणेन क्षपान्ते ॥ २८ ॥

स्थानं न इत्यादि—हे सीते ! असौ पुरी नोऽस्माकं पूर्वजानां स्थानम-
 विकम् अयोध्या पूः अतएव च प्रेयसी प्रियतमा । दूरादालोक्यते
 उच्चप्रासादयोगात् । या हुतैर्विविधैर्हविर्भिराज्यादिभिः प्रीणिताशेषदेवा ।
 यत्र देशे पुरजनमखिलं समस्तं रुदन्तं क्षपान्ते उषसि हित्वा त्यक्त्वा
 छलेन आवां वनान्तं प्रयातौ सोऽयं देशः सह लक्ष्मणेन धृतधृतिना
 धृतसौमनस्येन ॥ २८ ॥

तूर्याणामथ निःस्वनेन सकलं लोकं समापूरयन्

विक्रान्तैः करिणां गिरीन्द्रसदृशां क्ष्मां कम्पयन् सर्वतः ।

सानन्दाश्रुविलोचनः प्रकृतिभिः साध सहान्तःपुरः

सम्प्राप्तो भरतः समारुतिरलं नम्रः समं मातृभिः ॥ २९ ॥

तूर्याणामित्यादि—अथानन्तरं भरतो हनूमतः समुपलब्धरामवृत्तान्तत्वात्
 सानन्दाश्रुविलोचनः सानन्दाश्रुणी विलोचने यस्य तथाभूतः प्रकृतिभिः अमा-
 त्यादिभिः सार्धम् । सहान्तःपुरः अन्तःपुरेण समम् । मातृभिः कौसल्यादिभिः

१ अत्र स्रग्धरा वृत्तम् ‘अत्रैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्’
 इति वृत्तरत्नाकरोक्तेः ।

शिञ्जानेत्यादि—सुतनु ! एते वनान्ताः पुर्या दृश्यन्ते शिञ्जानैः कूजद्भिः
 भ्रमरकुलैः आकुलाग्राणि पुष्पाणि येषां वनान्तानाम् । प्रविलीयतेऽस्मिन्निति
 प्रविलयः । ‘एरच् ।३।३।५६।’ इत्यच् । ‘निमिमीलियां खलचोरात्त्वं नेति
 वाच्यम् ।’ इति वार्तिकेन ‘विभाषा लीयतेः ।६।१।५१।’ इत्यात्वं न भवति ।
 शीताम्भसः प्रविलयः कुल्या तेन यः संप्लवः स्नापना तेनाभिलीनाः
 कुल्यया सिच्यमानमूलत्वात् । अत एव नयनमनोरमाः रमयतीति
 कर्तर्यच् । पश्चात् षष्ठीसमासः । एवं च पुरीजनानामयोध्यानिवा-
 सिनाम् उपभोग्याः ॥ २७ ॥

स्थानं नः पूर्वजानामियमधिकमसौ प्रेयसी पूरयोध्या
 दूरादालोक्यते या हुतविविधहविःप्रीणिताऽशेषदेवा ॥
 सोऽयं देशो रुदन्तं पुरजनमखिलं यत्र हित्वा प्रयाता
 आवां सीते वनान्तं सह धृतधृतिना लक्ष्मणेन क्षपान्ते ॥ २८ ॥

स्थानं न इत्यादि—हे सीते ! असौ पुरी नोऽस्माकं पूर्वजानां स्थानम-
 विकम् अयोध्या पूः अतएव च प्रेयसी प्रियतमा । दूरादालोक्यते
 उच्चप्रासादयोगात् । या हुतैर्विविधैर्हविर्भिराज्यादिभिः प्रीणिताशेषदेवा ।
 यत्र देशे पुरजनमखिलं समस्तं रुदन्तं क्षपान्ते उषसि हित्वा त्यक्त्वा
 ललेन आवां वनान्तं प्रयातौ सोऽयं देशः सह लक्ष्मणेन धृतधृतिना
 धृतसौमनस्येन ॥ २८ ॥

तूर्याणामथ निःस्वनेन सकलं लोकं समापूरयन्

विक्रान्तैः करिणां गिरीन्द्रसदृशां क्षमां कम्पयन् सर्वतः ।

सानन्दाश्रुविलोचनः प्रकृतिभिः साध सहान्तःपुरः

सम्प्राप्तो भरतः समारुतिरलं नम्रः समं मातृभिः ॥ २९ ॥

तूर्याणामित्यादि—अथानन्तरं भरतो हनूमतः समुपलब्धरामवृत्तान्तत्वात्
 सानन्दाश्रुविलोचनः सानन्दाश्रुणी विलोचने यस्य तथाभूतः प्रकृतिभिः अमा-
 त्यादिभिः सार्धम् । सहान्तःपुरः अन्तःपुरेण समम् । मातृभिः कौसल्यादिभिः

१ अत्र लघ्वरा वृत्तम् ‘अत्रैर्यानां त्रयेण त्रिसुनियतियुता लघ्वरा कीर्तितेयम्’
 इति वृत्तरत्नाकरोक्तेः ।

काव्यग्रन्थाः ।



| नाम | की. | रु. | आ. |
|--|-----|-----|----|
| अमरुशतक-शृङ्गार और वेदान्तपरक काव्य दो टीका सहित. | ०- | १० | |
| अश्वघाटीकाव्य-भाषाटीकासमेत.... .. | ०- | ४ | |
| ऋतुसंहारकाव्य-कालिदासकृत और चोरकविकृत चौरपञ्चा- शिकाकाव्य । इसमें पङ्कतुवर्णनादि राजकुमार बाबू देवनन्दनसिंहकृत छन्दोबद्ध भाषाटीका है. | ०- | १० | |
| कामाक्षीस्तुतिशतक-मूककविविरचित | ०- | ४ | |
| कलिविडम्बन-भाषाटीकासमेत तथा कलिप्रभावटीकासमेत । इसमें-कलियुगके प्रभावका वर्णन है. | ०- | ४ | |
| किरातार्जुनीयकाव्य-सटीक । ग्लेज कागजका दाम ... तथा रफ कागजका. | २- | ८ | |
| कुमारसम्भव-महाकवि कालिदासकृत और मलिनाथकृत संजीवनीटीकासमेत । इसमें-पार्वतीजीकी उत्पत्ति, ब्रह्मा- जीकी तारकासुरसे कुशित देवोंको शिक्षा, मदनदहन, रति- विलाप, पार्वतीके तपका उदय, पार्वतीका शिवजीसे विवाह करनेके निमित्त हिमवान्के पास सप्तऋषियोंको भेजकर विवाहका निश्चय, और शिव-पार्वतीजीका विवाह विधि- पूर्वक वर्णित है. | १- | १२ | |
| कृष्णलीलामृतकाव्य. | ०- | ५ | |
| कृष्णकर्णामृतकाव्य-(बड़ा ही भक्तिमय है) | ०- | १० | |
| कार्ष्णिगण्ठाभरण-कार्ष्णिगोपालदासविरचित । नरोत्तमी- यटीका तथा अमरेश्वरीय टिप्पणीसहित । इसमें भुजङ्गप्रयात, रत्नदशक, तोटकरत्नदशक . आदि दश दशक हैं और | | | |